ॐ

परमात्मने नमः

श्री सीमन्धर-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन साहित्य स्मृति संचय, पुष्प नं.

समयसार सिद्धि

भाग-९

परम पूज्य श्रीमद् भगवत् कुन्दकुन्दाचार्यदेव द्वारा रचित
परमागम श्री समयसार पर
परम उपकारी पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के
उन्नीसवीं बार के धारावाहिक शब्दशः प्रवचन
(गाथा २८८ से ३०७ तथा कलश १८० से २०३)
प्रवचन क्रमांक ३५७ से ३९६

: हिन्दी अनुवाद :
पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन
बिजौलियाँ, जिला-भीलवाड़ा (राज.)

: प्रकाशक :
श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट
302, कृष्णकुंज, प्लॉट नं. 30, नवयुग सी.एच.एस. लि.
वी. एल. मेहता मार्ग, विलेपार्ले (वेस्ट), मुम्बई-400 056
फोन : (022) 26130820

: सह-प्रकाशक :
श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट
सोनगढ़ (सौराष्ट्र) - 364250
फोन : 02846-244334

प्रथम संस्करण : 1000 प्रतियाँ

ISBN No. :

न्यौछावर राशि : 20 रुपये मात्र

प्राप्ति स्थान :

1. **श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट,**
   सोनगढ़ (सौराष्ट्र) - 364250, फोन : 02846-244334
2. **श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट**
   302, कृष्णकुंज, प्लॉट नं. 30, वी. एल. महेता मार्ग, विलेपार्ले (वेस्ट),
   मुम्बई-400056, फोन (022) 26130820 Email - vitragva@vsnl.com
3. **श्री आदिनाथ-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट (मंगलायतन)**
   अलीगढ़-आगरा मार्ग, सासनी-204216 (उ.प्र.)
4. **पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट,**
   ए-4, बापूनगर, जयपुर, राजस्थान-302015, फोन : (0141) 2707458
5. **पूज्य श्री कानजीस्वामी स्मारक ट्रस्ट,**
   कहान नगर, लाम रोड, देवलाली-422401, फोन : (0253) 2491044
6. **श्री परमागम प्रकाशन समिति**
   श्री परमागम श्रावक ट्रस्ट, सिद्धक्षेत्र, सोनागिरजी, दतिया (म.प्र.)
7. **श्री सीमन्धर-कुन्दकुन्द-कहान आध्यात्मिक ट्रस्ट**
   योगी निकेतन प्लाट, 'स्वरुचि' सवाणी होलनी शेरीमां, निर्मला कोन्वेन्ट रोड
   राजकोट-360007 फोन : (0281) 2477728, मो. 09374100508

टाईप-सेटिंग : **विवेक कम्प्यूटर्स,** अलीगढ़

मुद्रक :

प्रकाशकीय

मंगलं भगवान वीरो मंगलं गौतमो गणी।
मंगलं कुन्दकुन्दार्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम्॥

महाविदेहक्षेत्र में विराजमान त्रिलोकनाथ वीतराग-सर्वज्ञ परम देवादिदेव श्री सीमन्धर भगवान की दिव्यदेशना का अपूर्व संचय करके भरतक्षेत्र में लानेवाले, सीमन्धर लघुनन्दन, ज्ञान साम्राज्य के सम्राट, भरतक्षेत्र के कलिकालसर्वज्ञ, शुद्धात्मा में निरन्तर केलि करनेवाले, चलते-फिरते सिद्ध - ऐसे आचार्यश्री कुन्दकुन्ददेव हुए, जो संवत् 49 में सदेह महाविदेहक्षेत्र में गये और आठ दिन वहाँ रहे थे। महाविदेहक्षेत्र में त्रिलोकनाथ सर्वज्ञदेव के श्रीमुख से प्रवाहित श्रुतामृतरूपी ज्ञानसरिता का तथा श्रुतकेवलियों के साथ हुई आध्यात्मिक सूक्ष्म चर्चाओं का अमूल्य भण्डार लेकर भरतक्षेत्र में पधारकर पंच परमागम आदि आध्यात्मिक शास्त्रों की रचना की। उनमें से एक श्री समयसारजी, द्वितीय श्रुतस्कन्ध का सर्वोत्कृष्ट अध्यात्म शास्त्र है। जिसमें श्री कुन्दकुन्दाचार्यदेव ने 415 मार्मिक गाथाओं की रचना की है। यह शास्त्र सूक्ष्म दृष्टिप्रधान ग्रन्थाधिराज है।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य के पश्चात् एक हजार वर्ष बाद अध्यात्म के प्रवाह की परिपाटी में इस अध्यात्म के अमूल्य खजाने के गहन रहस्य को स्वानुभवगत करके श्री कुन्दकुन्ददेव के ज्ञानहृदय को खोलनेवाले श्रीमद् अमृतचन्द्राचार्यदेव ने सिद्धपद-साधक मुनिसम्पदा को आत्मसात करके, निजस्वरूप के अलौकिक अनुभव से, सिद्धान्त शिरोमणि शास्त्र समयसार की 415 गाथाओं की टीका करने का सौभाग्य प्राप्त किया है। उन्होंने श्रीसमयसारजी में निहित सूक्ष्म और गम्भीर रहस्य को, अपूर्व शैली से आत्मख्याति नामक टीका बनाकर, स्पष्ट किया है; साथ ही 278 मंगल कलश तथा परिशिष्ट की रचना भी की है।

इस शास्त्र का भावार्थ जयपुर निवासी सूक्ष्म ज्ञानोपयोगी पण्डित श्री जयचन्दजी छाबड़ा ने किया है।

वर्तमान इस काल में मोक्षमार्ग प्राय: लुप्त हो गया था, सर्वत्र मिथ्यात्व का घोर अन्धकार छाया हुआ था, जैनदर्शन के मूलभूत सिद्धान्त का अभ्यास छूट गया था, परमागम विद्यमान होने पर भी उनके गूढ़ रहस्यों को समझानेवाला कोई नहीं था - ऐसे विषम काल में जैनशासन के गगन

मण्डल में एक महाप्रतापी वीर पुरुष, अध्यात्ममूर्ति, अध्यात्मदृष्टा, आत्मज्ञ सन्त, अध्यात्म युगपुरुष, निष्कारण करुणाशील, भवोदधि तारणहार, भावी तीर्थाधिनाथ परमपूज्य सद्गुरुदेव श्री कानजीस्वामी का उदय हुआ। जिन्होंने इन आचार्यों के ज्ञानहृदय में संचित गूढ़ रहस्यों को अपने ज्ञान-वैभव द्वारा रसपान करके आचार्यों की महा सूक्ष्म गाथाओं में विद्यमान अर्थ गाम्भीर्य को स्वयं के ज्ञान प्रवाह द्वारा सरल सुगम भाषा में चरम सीमा तक मूर्तिवन्त किया।

मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान के घोर तिमिर को नष्ट करने के लिए एक तेजस्वी अध्यात्म दीपक का स्वर्णमय उदय हुआ, जिसने अपनी दिव्यामृत चैतन्य रसीली वाणी द्वारा अध्यात्म सिन्धु के अस्खलित सातिशय शुद्ध प्रवाह को आगे बढ़ाया। आपश्री जैनदर्शन के मूलभूत सिद्धान्तों को अति स्पष्टरूप से, अति दृढ़तापूर्वक भवताप विनाशक और परम शान्ति प्रदायक प्रवचन गंगा द्वारा फैलाते रहे; विरोधियों के विरोध का भी, जंगल में विचरते केशरी सिंह की तरह, अध्यात्म के केशरी सिंह बनकर निडररूप से, तथापि निष्कारण करुणावन्त भाव से झेलते रहे। विरोधियों को भी 'भगवान आत्मा' है - ऐसी दृष्टि से देखकर जगत् के जीवों के समक्ष अध्यात्म के सूक्ष्म न्यायों को प्रकाशित करते रहे।

श्री समयसारजी शास्त्र, पूज्य गुरुदेवश्री के कर-कमल में विक्रम संवत् 1978 के फाल्गुन माह में आया था। इस समयसारजी शास्त्र के हाथ में आते ही कुशल झवेरी की पारखी नजर समयसार के सूक्ष्म भावों पर पड़ी और सहज ही अन्तर की गहराई में से भावनाशील कोमल हृदय बोल उठा - 'अरे! यह तो अशरीरी होने का शास्त्र है।' अनादि का अप्रतिबुद्ध जीव प्रतिबुद्ध कैसे हो? - उसका सम्पूर्ण रहस्य और शुद्धात्मा का सम्पूर्ण वैभव इस परमागम में भरा है।

इस शास्त्र का रहस्य वास्तव में तो अध्यात्म युगपुरुष पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के हाथ में यह शास्त्र आने के पश्चात् ही चरम सीमा से प्रकाशित और प्रदर्शित हुआ है। पैंतालीस वर्ष तक स्वर्णपुरी / सोनगढ़ में अध्यात्म की मूसलधार वर्षा हुई है जो सर्व विदित है। पूज्य गुरुदेवश्री ने विक्रम संवत् 1978 से 1991 - इस तरह तेरह वर्षों तक गूढ़ मन्थन करके जिनवाणी का सम्पूर्ण निचोड़ इस शास्त्र में से ढूँढ़ निकाला और फरमाया है कि —

- समयसार तो द्वितीय श्रुतस्कन्ध का सर्वोत्कृष्ट / सर्वोच्च आगमों का भी आगम है।
- समयसार तो सिद्धान्त शिरोमणि, अद्वितीय अजोड़ चक्षु और अन्धे की आँख है।
- समयसार तो संसार विष-वृक्ष को छेदने का अमोघ शस्त्र है।
- समयसार तो कुन्दकुन्दाचार्य से कोई ऐसा शास्त्र बन गया; जगत् का भाग्य कि ऐसी चीज भरतक्षेत्र में रह गयी। धन्य काल!

- समयसार की प्रत्येक गाथा और आत्मख्याति टीका ने आत्मा को अन्दर से डुला दिया है। समयसार की आत्मख्याति जैसी टीका दिगम्बर में भी दूसरी किसी शास्त्र में नहीं है। इसके एक-एक पद में इतनी गम्भीरता (कि) खोलते-खोलते पार न आये - ऐसी बात अन्दर है।
- समयसार तो सत्य का उद्घाटक है ! भारत का महारत्न है !! समयसार.... जिसके थोड़े शब्दों में भावों की अद्भुत और अगाध गम्भीरता भरी है !
- समयसार तो भरतक्षेत्र का प्रवचन का सर्वोत्कृष्ट बादशाह है, यह सार शास्त्र कहलाता है।
- समयसार तो जगत् का भाग्य.... समयसाररूपी भेंट जगत् को दिया, स्वीकार नाथ ! अब स्वीकार ! भेंट भी दे वह भी नहीं स्वीकारे ?
- समयसार तो वैराग्य प्रेरक परमात्मस्वरूप को बतलानेवाली वीतरागी वीणा है।
- समयसार में तो अमृतचन्द्राचार्य ने अकेला अमृत बहाया है, अमृत बरसाया है।
- समयसार एक बार सुनकर ऐसा नहीं मान लेना कि हमने सुना है, ऐसा नहीं बापू ! यह तो प्र... वचनसार है अर्थात् आत्मसार है, बारम्बार सुनना।
- समयसार भरतक्षेत्र की अन्तिम में अन्तिम और उत्कृष्टतम सत् को प्रसिद्ध करनेवाली चीज है। भरतक्षेत्र में साक्षात् केवलज्ञान सूर्य है। समयसार ने केवली का विरह भुलाया है।
- समयसार की मूलभूत एक-एक गाथा में गजब गम्भीरता ! पार न पड़े ऐसी चीज है। एक-एक गाथा में हीरा-मोती जड़े हैं।
- समयसार में तो सिद्ध की भनकार सुनायी देती है। यह तो शाश्वत् अस्तित्व की दृष्टि करानेवाला परम हितार्थ शास्त्र है। समयसार तो साक्षात् परमात्मा की दिव्यध्वनि / तीन लोक के नाथ की यह दिव्यध्वनि है।

ऐसे अपूर्व समयसार में से पूज्य गुरुदेवश्री ने अपने निज समयसाररूपी शुद्धात्मा का अनुभव करके फरमाया कि आत्मा आनन्द का पर्वत है; ज्ञायक तो मीठा समुद्र / आनन्द का गंज और सुख का समुद्र है। न्यायों का न्यायाधीश है, धर्म का धोध ऐसा धर्मी है, ध्रुव प्रवाह है, ज्ञान की धारा है, तीन लोक का नाथ चैतन्यवृक्ष-अमृत फल है, वास्तविक वस्तु है। सदा विकल्प से विराम ही ऐसी निर्विकल्प जिसकी महिमा है - ऐसा ध्रुवधाम ध्रुव की धखती धगश है। भगवान आत्मा चिन्तामणि रत्न, कल्पवृक्ष और कामधेनु है, चैतन्य चमत्कारी वस्तु है, अनन्त गुणों का गोदाम, शक्तियों का संग्रहालय और स्वभाव का सागर है।

सनातन दिगम्बर मुनियों ने परमात्मा की वाणी का प्रवाह जीवन्त रखा है। जैनधर्म सम्प्रदाय-बाड़ा-गच्छ नहीं; अपितु वस्तु के स्वरूप को जैनधर्म कहते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री ने शास्त्र का अर्थ करने की जो पाँच प्रकार की पद्धति — शब्दार्थ, नयार्थ, मतार्थ, आगमार्थ, और भावार्थ है, उसे अपनाकर कहाँ, किस अपेक्षा से कथन किया जाता है - उसका यथार्थ ज्ञान अपने को-मुमुक्षु समुदाय को कराया है। इस प्रवचन गंगा से बहुत से आत्मार्थी अपने निजस्वरूप को प्राप्त करने का पुरुषार्थ करते हैं, बहुत से स्वरूप के निकट आये हैं और इस वाणी के भाव ग्रहण करके बहुत से आत्मार्थी अवश्य आत्मदर्शन को प्राप्त होंगे ही - यह सुनिश्चित है।

पूज्य गुरुदेवश्री समयसार में फरमाते हैं कि समयसार दो जगह है - एक अपना शुद्धात्मा है वह समयसार है और दूसरा उत्कृष्ट निमित्तरूप समयसारजी शास्त्र है। इस शास्त्र में अपना निज समयसाररूपी शुद्धात्मा बतलाया गया है। प्रत्येक गाथा का अर्थ करते हुए पूज्य गुरुदेवश्री ऐसे भावविभोर हो जाते हैं कि उसमें से निकलना उन्हें सुहाता नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री फरमाते हैं कि पंचम काल के अन्त तक जो कोई जीव सम्यग्दर्शन प्राप्त करेगा, उसे यह वीतराग की वाणी निमित्त होगी, यह सीधी सीमन्धर भगवान की वाणी है, इसमें एक अक्षर फिरे तो सब फिर जायेगा।

पूज्य बहिनश्री चम्पाबेन, अपने वचनामृत में पूज्य गुरुदेवश्री के सम्बन्ध में फरमाती हैं कि पूज्य गुरुदेवश्री का द्रव्य तो अलौकिक और मंगल है; उनका श्रुतज्ञान और वाणी आश्चर्यकारक है। आपश्री मंगलमूर्ति, भवोदधि तारणहार और महिमावन्त गुणों से भरपूर हैं। उन्होंने चारों ओर से मुक्ति का मार्ग प्रकाशित किया है, उनका अपार उपकार है, वह कैसे भूला जाये? पूज्य गुरुदेवश्री को तीर्थंकर जैसा उदय वर्तता है। पूज्य गुरुदेवश्री ने अन्तर से मार्ग प्राप्त किया, दूसरों को मार्ग बतलाया; इसलिए उनकी महिमा आज तो गायी जाती है परन्तु हजारों वर्षों तक गायी जाएगी।

पूज्य निहालचन्दजी सोगानी, जिनको पूज्य गुरुदेवश्री का एक ही प्रवचन सुनते हुए भव के अभावरूप सम्यग्दर्शन की प्राप्ति सोनगढ़ / स्वर्णपुरी में हुई - वे फरमाते हैं कि पूज्य गुरुदेव के एक घण्टे के प्रवचन में पूरी-पूरी बात आ जाती है। सभी बात का स्पष्टीकरण पूज्य गुरुदेवश्री ने तैयार करके दिया है; इस कारण कोई बात का विचार नहीं करना पड़ता, वरना तो साधक हो तो भी सब तैयारी करनी पड़ती है।

पूज्य गुरुदेवश्री ने सभा में समयसार उन्नीस बार पढ़ा और एकान्त में तो सैंकड़ों बार पढ़ा है, तो उन्हें इसमें कितना माल दिखता होगा! कभी डेढ़ वर्ष, कभी दो वर्ष, कभी ढाई वर्ष; इस प्रकार

उन्नीस बार पैंतालीस वर्षों में सार्वजनिक पढ़ा है। ये प्रवचन पूज्य गुरुदेवश्री की पैंतालीस वर्ष की सोनगढ़ / स्वर्णपुरी में हुई साधना के निचोड़रूप मक्खन है। जैसे-जैसे ज्ञानी की ज्ञानस्थिरता वृद्धिगत होती जाती है, वैसे-वैसे एक ही गाथा पर बारम्बार प्रवचन किये जायें तो भी नये-नये भाव आते हैं; इसलिए प्रस्तुत प्रवचन प्रकाशित किये जा रहे हैं।

इस समयसार सिद्धि, भाग-9, ग्रन्थ में अपूर्व, अनुपम श्री समयसारजी शास्त्र के मोक्ष अधिकार की गाथा 288 से 307 तथा सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार की गाथा 308 से 331 तक, और इनमें समागत कलश 180 से 203 पर पूज्य गुरुदेवश्री के उन्नीसवीं बार के धारावाही प्रवचन नम्बर 357 से 396 प्रकाशित किये जा रहे हैं।

प्रवचन-प्रकाशन से पूर्व सम्पूर्ण प्रवचनों को सी.डी. से शब्दशः लिख लिया जाता है; तत्पश्चात् आवश्यकतानुसार वाक्य पूर्ति हेतु कोष्ठक भरा जाता है। प्रकाशन से पूर्व फिर से मिलान किया जाता है। गुजराती भाषा में इस कार्य में श्री चेतनभाई मेहता, राजकोट का उल्लेखनीय सहयोग रहा है।

सम्पूर्ण प्रवचनों को हिन्दी भाषा में व्यवस्थितरूप से प्रस्तुत करने का कार्य पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन, बिजौलियाँ (राजस्थान) ने किया है। तदर्थ संस्था सभी सहयोगियों का सहृदय आभार व्यक्त करती है।

ग्रन्थ के मूल अंश को बोल्ड टाईप में दिया गया है।

प्रस्तुत प्रवचन — ग्रन्थ के टाईप सेटिंग के लिए श्री विवेककुमार पाल, विवेक कम्प्यूटर्स, अलीगढ़ तथा ग्रन्थ के सुन्दर मुद्रण कार्य के लिए श्री दिनेश जैन, देशना कम्प्यूटर, जयपुर के प्रति आभार व्यक्त करते हैं।

अन्ततः समयसारस्वरूप निज शुद्धात्मा के आश्रयपूर्वक सभी जीव परम शान्ति को प्राप्त हों - इसी भावना के साथ.....

निवेदक

ट्रस्टीगण, श्री कुन्दकुन्द-कहान पारमार्थिक ट्रस्ट, मुम्बई

एवं

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़

श्री समयसारजी-स्तुति

(हरिगीत)

संसारी जीवनां भावमरणो टाळवा करुणा करी,
सरिता वहावी सुधा तणी प्रभु वीर! ते संजीवनी;
शोषाती देखी सरितने करुणाभीना हृदये करी,
मुनिकुंद संजीवनी समयप्राभृत तणे भाजन भरी।

(अनुष्टुप)

कुन्दकुन्द रच्युं शास्त्र, साथिया अमृते पूर्या,
ग्रंथाधिराज! तारामां भावो ब्रह्मांडना भर्या।

(शिखरिणी)

अहो! वाणी तारी प्रशमरस-भावे नीतरती,
मुमुक्षुने पाती अमृतरस अंजलि भरी भरी;
अनादिनी मूर्छा विष तणी त्वराथी ऊतरती,
विभावेथी थंभी स्वरूप भणी दोड़े परिणति।

(शार्दूलविक्रीड़ित)

तुं छे निश्चयग्रंथ भंग सघळा व्यवहारना भेदवा,
तुं प्रज्ञाछीणी ज्ञान ने उदयनी संधि सहु छेदवा;
साथीसाधकनो, तुं भानु जगनो, संदेश महावीरनो,
विसामो भवक्लांतना हृदयनो, तुं पंथ मुक्ति तणो।

(वसंततिलका)

सुण्ये तने रसनिबंध शिथिल थाय,
जाण्ये तने हृदय ज्ञानी तणां जणाय;
तुं रुचतां जगतनी रुचि आळसे सौ,
तुं रीझतां सकलज्ञायकदेव रीझे।

(अनुष्टुप)

बनावुं पत्र कुंदननां, रत्नोना अक्षरो लखी;
तथापि कुंदसूत्रोनां अंकाये मूल्य ना कदी।




श्री सद्गुरुदेव-स्तुति

(हरिगीत)

संसारसागर तारवा जिनवाणी छे नौका भली,
ज्ञानी सुकानी मळ्या विना ए नाव पण तारे नहीं;
आ काळमां शुद्धात्मज्ञानी सुकानी बहु बहु दोह्यलो,
मुज पुण्यराशि फळ्यो अहो! गुरु कहान तुं नाविक मळ्यो।

(अनुष्टुप)

अहो! भक्त चिदात्माना, सीमंधर-वीर-कुंदना।
बाह्यांतर विभवो तारा, तारे नाव मुमुक्षुनां।

(शिखरिणी)

सदा दृष्टि तारी विमळ निज चैतन्य नीरखे,
अने ज्ञप्तिमांही दरव-गुण-पर्याय विलसे;
निजालंबीभावे परिणति स्वरूपे जई भळे,
निमित्तो वहेवारो चिद्घन विषे कांई न मळे।

(शार्दूलविक्रीडित)

हैयु 'सत सत, ज्ञान ज्ञान' धबके ने वज्रवाणी छूटे,
जे वज्रे सुमुमुक्षु सत्त्व झळके; परद्रव्य नातो तूटे;
- रागद्वेष रुचे न, जंप न वळे भावेंद्रिमां-अंशमां,
टंकोत्कीर्ण अकंप ज्ञान महिमा हृदये रहे सर्वदा।

(वसंततिलका)

नित्ये सुधाझरण चंद्र! तने नमुं हुं,
करुणा अकारण समुद्र! तने नमुं हुं;
हे ज्ञानपोषक सुमेघ! तने नमुं हुं,
आ दासना जीवनशिल्पी! तने नमुं हुं।

(स्त्रग्धरा)

ऊंडी ऊंडी, ऊंडेथी सुखनिधि सतना वायु नित्ये वहंती,
वाणी चिन्मूर्ति! तारी उर-अनुभवना सूक्ष्म भावे भरेली;
भावो ऊंडा विचारी, अभिनव महिमा चित्तमां लावी लावी,
खोयेलुं रत्न पामुं, - मनरथ मननो; पूरजो शक्तिशाळी!




अध्यात्मयुगसृष्टा पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

(संक्षिप्त जीवनवृत्त)

भारतदेश के सौराष्ट्र प्रान्त में, बलभीपुर के समीप समागत 'उमराला' गाँव में स्थानकवासी सम्प्रदाय के दशाश्रीमाली वणिक परिवार के श्रेष्ठीवर्य श्री मोतीचन्दभाई के घर, माता उजमबा की कूख से विक्रम संवत् 1946 के वैशाख शुक्ल दूज, रविवार (दिनाङ्क 21 अप्रैल 1890 - ईस्वी) प्रातःकाल इन बाल महात्मा का जन्म हुआ।

जिस समय यह बाल महात्मा इस वसुधा पर पधारे, उस समय जैन समाज का जीवन अन्ध-विश्वास, रूढ़ि, अन्धश्रद्धा, पाखण्ड, और शुष्क क्रियाकाण्ड में फँस रहा था। जहाँ कहीं भी आध्यात्मिक चिन्तन चलता था, उस चिन्तन में अध्यात्म होता ही नहीं था। ऐसे इस अन्धकारमय कलिकाल में तेजस्वी कहानसूर्य का उदय हुआ।

पिताश्री ने सात वर्ष की लघुवय में लौकिक शिक्षा हेतु विद्यालय में प्रवेश दिलाया। प्रत्येक वस्तु के ह्रार्द तक पहुँचने की तेजस्वी बुद्धि, प्रतिभा, मधुरभाषी, शान्तस्वभावी, सौम्य गम्भीर मुखमुद्रा, तथा स्वयं कुछ करने के स्वभाववाले होने से बाल 'कानजी' शिक्षकों तथा विद्यार्थियों में लोकप्रिय हो गये। विद्यालय और जैन पाठशाला के अभ्यास में प्रायः प्रथम नम्बर आता था, किन्तु विद्यालय की लौकिक शिक्षा से उन्हें सन्तोष नहीं होता था। अन्दर ही अन्दर ऐसा लगता था कि मैं जिसकी खोज में हूँ, वह यह नहीं है।

तेरह वर्ष की उम्र में छह कक्षा उत्तीर्ण होने के पश्चात्, पिताजी के साथ उनके व्यवसाय के कारण पालेज जाना हुआ, और चार वर्ष बाद पिताजी के स्वर्गवास के कारण, सत्रह वर्ष की उम्र में भागीदार के साथ व्यवसायिक प्रवृत्ति में जुड़ना हुआ।

व्यवसाय की प्रवृत्ति के समय भी आप अप्रमाणिकता से अत्यन्त दूर थे, सत्यनिष्ठा, नैतिज्ञता, निखालिसता और निर्दोषता से सुगन्धित आपका व्यावहारिक जीवन था। साथ ही आन्तरिक व्यापार और झुकाव तो सतत् सत्य की शोध में ही संलग्न था। दुकान पर भी धार्मिक पुस्तकें पढ़ते थे। वैरागी चित्तवाले कहानकुँवर कभी रात्रि को रामलीला या नाटक देखने जाते तो उसमें से वैराग्यरस का घोलन करते थे। जिसके फलस्वरूप पहली बार सत्रह वर्ष की उम्र में पूर्व की आराधना के संस्कार और मङ्गलमय उज्ज्वल भविष्य की अभिव्यक्ति करता हुआ, बारह लाईन का काव्य इस प्रकार रच जाता है —

शिवरमणी रमनार तूं, तूं ही देवनो देव।

उन्नीस वर्ष की उम्र से तो रात्रि का आहार, जल, तथा अचार का त्याग कर दिया था।

सत्य की शोध के लिए दीक्षा लेने के भाव से 22 वर्ष की युवा अवस्था में दुकान का परित्याग करके, गुरु के समक्ष आजीवन ब्रह्मचर्य व्रत अंगीकार कर लिया और 24 वर्ष की उम्र में (अगहन शुक्ल 9, संवत् 1970) के दिन छोटे से उमराला गाँव में 2000 साधर्मियों के विशाल जनसमुदाय की उपस्थिति में स्थानकवासी सम्प्रदाय की दीक्षा अंगीकार कर ली। दीक्षा के समय हाथी पर चढ़ते हुए धोती फट जाने

से तीक्ष्ण बुद्धि के धारक - इन महापुरुष को शंका हो गयी कि कुछ गलत हो रहा है परन्तु सत्य क्या है ? यह तो मुझे ही शोधना पड़ेगा।

दीक्षा के बाद सत्य के शोधक इन महात्मा ने स्थानकवासी और श्वेताम्बर सम्प्रदाय के समस्त आगमों का गहन अभ्यास मात्र चार वर्ष में पूर्ण कर लिया। सम्प्रदाय में बड़ी चर्चा चलती थी, कि कर्म है तो विकार होता है न ? यद्यपि गुरुदेवश्री को अभी दिगम्बर शास्त्र प्राप्त नहीं हुए थे, तथापि पूर्व संस्कार के बल से वे दृढ़तापूर्वक सिंह गर्जना करते हैं — **जीव स्वयं से स्वतन्त्ररूप से विकार करता है; कर्म से नहीं अथवा पर से नहीं। जीव अपने उल्टे पुरुषार्थ से विकार करता है और सुल्टे पुरुषार्थ से उसका नाश करता है।**

विक्रम संवत् 1978 में महावीर प्रभु के शासन-उद्धार का और हजारों मुमुक्षुओं के महान पुण्योदय का सूचक एक मङ्गलकारी पवित्र प्रसंग बना —

32 वर्ष की उम्र में, विधि के किसी धन्य पल में श्रीमद्भगवत् कुन्दकन्दाचार्यदेव रचित 'समयसार' नामक महान परमागम, एक सेठ द्वारा महाराजश्री के हस्तकमल में आया, इन पवित्र पुरुष के अन्तर में से सहज ही उद्गार निकले — **'सेठ! यह तो अशरीरी होने का शास्त्र है।'** इसका अध्ययन और चिन्तवन करने से अन्तर में आनन्द और उल्लास प्रगट होता है। इन महापुरुष के अन्तरंग जीवन में भी परम पवित्र परिवर्तन हुआ। भूली पड़ी परिणति ने निज घर देखा। तत्पश्चात् श्री प्रवचनसार, अष्टपाहुड़, मोक्षमार्गप्रकाशक, द्रव्यसंग्रह, सम्यग्ज्ञानदीपिका इत्यादि दिगम्बर शास्त्रों के अभ्यास से आपको नि:शंक निर्णय हो गया कि दिगम्बर जैनधर्म ही मूलमार्ग है और वही सच्चा धर्म है। इस कारण आपकी अन्तरंग श्रद्धा कुछ और बाहर में वेष कुछ — यह स्थिति आपको असह्य हो गयी। अत: अन्तरंग में अत्यन्त मनोमन्थन के पश्चात् सम्प्रदाय के परित्याग का निर्णय लिया।

परिवर्तन के लिये योग्य स्थान की खोज करते-करते सोनगढ़ आकर वहाँ 'स्टार ऑफ इण्डिया' नामक एकान्त मकान में महावीर प्रभु के जन्मदिवस, चैत्र शुक्ल 13, संवत् 1991 (दिनांक 16 अप्रैल 1935) के दिन दोपहर सवा बजे सम्प्रदाय का चिह्न मुँह पट्टी का त्याग कर दिया और स्वयं घोषित किया कि **अब मैं स्थानकवासी साधु नहीं; मैं सनातन दिगम्बर जैनधर्म का श्रावक हूँ।** सिंह-समान वृत्ति के धारक इन महापुरुष ने 45 वर्ष की उम्र में महावीर्य उछाल कर यह अद्भुत पराक्रमी कार्य किया।

स्टार ऑफ इण्डिया में निवास करते हुए मात्र तीन वर्ष के दौरान ही जिज्ञासु भक्तजनों का प्रवाह दिन-प्रतिदिन बढ़ता ही गया, जिसके कारण यह मकान एकदम छोटा पड़ने लगा; अत: भक्तों ने इन परम प्रतापी सत् पुरुष के निवास और प्रवचन का स्थल **'श्री जैन स्वाध्याय मन्दिर'** का निर्माण कराया। गुरुदेवश्री ने वैशाख कृष्ण 8, संवत् 1994 (दिनांक 22 मई 1938) के दिन इस निवासस्थान में मंगल पदार्पण किया। यह स्वाध्याय मन्दिर, जीवनपर्यन्त इन महापुरुष की आत्मसाधना और वीरशासन की प्रभावना का केन्द्र बन गया।

दिगम्बर धर्म के चारों अनुयोगों के छोटे बड़े 183 ग्रन्थों का गहनता से अध्ययन किया, उनमें से

मुख्य 38 ग्रन्थों पर सभा में प्रवचन किये। जिनमें श्री समयसार ग्रन्थ पर 19 बार की गयी अध्यात्म वर्षा विशेष उल्लेखनीय है। प्रवचनसार, अष्टपाहुड़, परमात्मप्रकाश, नियमसार, पंचास्तिकायसंग्रह, समयसार कलश-टीका इत्यादि ग्रन्थों पर भी बहुत बार प्रवचन किये हैं।

दिव्यध्वनि का रहस्य समझानेवाले और कुन्दकुन्दादि आचार्यों के गहन शास्त्रों के रहस्योद्घाटक इन महापुरुष की भवताप विनाशक अमृतवाणी को ईस्वी सन् 1960 से नियमितरूप से टेप में उत्कीर्ण कर लिया गया, जिसके प्रताप से आज अपने पास नौ हजार से अधिक प्रवचन सुरक्षित उपलब्ध हैं। यह मङ्गल गुरुवाणी, देश-विदेश के समस्त मुमुक्षु मण्डलों में तथा लाखों जिज्ञासु मुमुक्षुओं के घर-घर में गुंजायमान हो रही है। इससे इतना तो निश्चित है कि भरतक्षेत्र के भव्यजीवों को पञ्चम काल के अन्त तक यह दिव्यवाणी ही भव के अभाव में प्रबल निमित्त होगी।

इन महापुरुष का धर्म सन्देश, समग्र भारतवर्ष के मुमुक्षुओं को नियमित उपलब्ध होता रहे, तदर्थ सर्व प्रथम विक्रम संवत् 2000 के माघ माह से (दिसम्बर 1943 से) **आत्मधर्म** नामक मासिक आध्यात्मिक पत्रिका का प्रकाशन सोनगढ़ से मुरब्बी श्री रामजीभाई माणिकचन्द दोशी के सम्पादकत्व में प्रारम्भ हुआ, जो वर्तमान में भी गुजराती एवं हिन्दी भाषा में नियमित प्रकाशित हो रहा है। पूज्य गुरुदेवश्री के दैनिक प्रवचनों को प्रसिद्धि करता दैनिक पत्र **श्री सद्गुरु प्रवचनप्रसाद** ईस्वी सन् 1950 सितम्बर माह से नवम्बर 1956 तक प्रकाशित हुआ। स्वानुभवविभूषित चैतन्यविहारी इन महापुरुष की मङ्गल-वाणी को पढ़कर और सुनकर हजारों स्थानकवासी श्वेताम्बर तथा अन्य कौम के भव्य जीव भी तत्त्व की समझपूर्वक सच्चे दिगम्बर जैनधर्म के अनुयायी हुए। अरे! मूल दिगम्बर जैन भी सच्चे अर्थ में दिगम्बर जैन बने।

श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ द्वारा दिगम्बर आचार्यों और मान्यवर, पण्डितवर्यों के ग्रन्थों तथा पूज्य गुरुदेवश्री के उन ग्रन्थों पर हुए प्रवचन-ग्रन्थों का प्रकाशन कार्य विक्रम संवत् 1999 (ईस्वी सन् 1943 से) शुरु हुआ। इस सत्साहित्य द्वारा वीतरागी तत्त्वज्ञान की देश-विदेश में अपूर्व प्रभावना हुई, जो आज भी अविरलरूप से चल रही है। परमागमों का गहन रहस्य समझाकर कृपालु कहान गुरुदेव ने अपने पर करुणा बरसायी है। तत्त्वजिज्ञासु जीवों के लिये यह एक महान आधार है और दिगम्बर जैन साहित्य की यह एक अमूल्य सम्पत्ति है।

ईस्वीं सन् 1962 के दशलक्षण पर्व से भारत भर में अनेक स्थानों पर पूज्य गुरुदेवश्री द्वारा प्रवाहित तत्त्वज्ञान के प्रचार के लिए प्रवचनकार भेजना प्रारम्भ हुआ। इस प्रवृत्ति से भारत भर के समस्त दिगम्बर जैन समाज में अभूतपूर्व आध्यात्मिक जागृति उत्पन्न हुई। आज भी देश-विदेश में दशलक्षण पर्व में सैकड़ों प्रवचनकार विद्वान इस वीतरागी तत्त्वज्ञान का डंका बजा रहे हैं।

बालकों में तत्त्वज्ञान के संस्कारों का अभिसिंचन हो, तदर्थ सोनगढ़ में विक्रम संवत् 1997 (ईस्वीं सन् 1941) के मई महीने के ग्रीष्मकालीन अवकाश में बीस दिवसीय धार्मिक शिक्षण वर्ग प्रारम्भ हुआ, बड़े लोगों के लिये प्रौढ़ शिक्षण वर्ग विक्रम संवत् 2003 के श्रावण महीने से शुरु किया गया।

सोनगढ़ में विक्रम संवत् 1997 - फाल्गुन शुक्ल दूज के दिन नूतन दिगम्बर जिनमन्दिर में

कहानगुरु के मङ्गल हस्त से श्री सीमन्धर आदि भगवन्तों की पंच कल्याणक विधिपूर्वक प्रतिष्ठा हुई। उस समय सौराष्ट्र में मुश्किल से चार-पाँच दिगम्बर मन्दिर थे और दिगम्बर जैन तो भाग्य से ही दृष्टिगोचर होते थे। जिनमन्दिर निर्माण के बाद दोपहरकालीन प्रवचन के पश्चात् जिनमन्दिर में नित्यप्रति भक्ति का क्रम प्रारम्भ हुआ, जिसमें जिनवर भक्त गुरुराज हमेशा उपस्थित रहते थे, और कभी-कभी अतिभाववाही भक्ति भी कराते थे। इस प्रकार गुरुदेवश्री का जीवन निश्चय-व्यवहार की अपूर्व सन्धियुक्त था।

ईस्वी सन् 1941 से ईस्वीं सन् 1980 तक सौराष्ट्र-गुजरात के उपरान्त समग्र भारतदेश के अनेक शहरों में तथा नैरोबी में कुल 66 दिगम्बर जिनमन्दिरों की मङ्गल प्रतिष्ठा इन वीतराग-मार्ग प्रभावक सत्पुरुष के पावन कर-कमलों से हुई।

जन्म-मरण से रहित होने का सन्देश निरन्तर सुनानेवाले इन चैतन्यविहारी पुरुष की मङ्गलकारी जन्म-जयन्ती 59 वें वर्ष से सोनगढ़ में मनाना शुरु हुआ। तत्पश्चात् अनेकों मुमुक्षु मण्डलों द्वारा और अन्तिम 91 वें जन्मोत्सव तक भव्य रीति से मनाये गये। 75 वीं हीरक जयन्ती के अवसर पर समग्र भारत की जैन समाज द्वारा चाँदी जड़ित एक आठ सौ पृष्ठीय अभिनन्दन ग्रन्थ, भारत सरकार के तत्कालीन गृहमन्त्री श्री लालबहादुर शास्त्री द्वारा मुम्बई में देशभर के हजारों भक्तों की उपस्थिति में पूज्यश्री को अर्पित किया गया।

श्री सम्मेदशिखरजी की यात्रा के निमित्त समग्र उत्तर और पूर्व भारत में मङ्गल विहार ईस्वी सन् 1957 और ईस्वी सन् 1967 में ऐसे दो बार हुआ। इसी प्रकार समग्र दक्षिण और मध्यभारत में ईस्वी सन् 1959 और ईस्वी सन् 1964 में ऐसे दो बार विहार हुआ। इस मङ्गल तीर्थयात्रा के विहार दौरान लाखों जिज्ञासुओं ने इन सिद्धपद के साधक सन्त के दर्शन किये, तथा भवान्तकारी अमृतमय वाणी सुनकर अनेक भव्य जीवों के जीवन की दिशा आत्मसन्मुख हो गयी। इन सन्त पुरुष को अनेक स्थानों से अस्सी से अधिक अभिनन्दन पत्र अर्पण किये गये हैं।

श्री महावीर प्रभु के निर्वाण के पश्चात् यह अविच्छिन्न पैंतालीस वर्ष का समय (वीर संवत् 2461 से 2507 अर्थात् ईस्वी सन् 1935 से 1980) वीतरागमार्ग की प्रभावना का स्वर्णकाल था। जो कोई मुमुक्षु, अध्यात्म तीर्थधाम स्वर्णपुरी / सोनगढ़ जाते, उन्हें वहाँ तो चतुर्थ काल का ही अनुभव होता था।

विक्रम संवत् 2037, कार्तिक कृष्ण 7, दिनांक 28 नवम्बर 1980 शुक्रवार के दिन ये प्रबल पुरुषार्थी आत्मज्ञ सन्त पुरुष — देह का, बीमारी का और मुमुक्षु समाज का भी लक्ष्य छोड़कर अपने ज्ञायक भगवान के अन्तरध्यान में एकाग्र हुए, अतीन्द्रिय आनन्दकन्द निज परमात्मतत्त्व में लीन हुए। सायंकाल आकाश का सूर्य अस्त हुआ, तब सर्वज्ञपद के साधक सन्त ने मुक्तिपुरी के पन्थ में यहाँ भरतक्षेत्र से स्वर्गपुरी में प्रयाण किया। वीरशासन को प्राणवन्त करके अध्यात्म युग सृजक बनकर प्रस्थान किया।

पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी इस युग का एक महान और असाधारण व्यक्तित्व थे, उनके बहुमुखी व्यक्तित्व की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उन्होंने सत्य से अत्यन्त दूर जन्म लेकर स्वयंबुद्ध की तरह स्वयं सत्य का अनुसन्धान किया और अपने प्रचण्ड पुरुषार्थ से जीवन में उसे आत्मसात किया।

इन विदेही दशावन्त महापुरुष का अन्तर जितना उज्ज्वल है, उतना ही बाह्य भी पवित्र है; ऐसा

पवित्रता और पुण्य का संयोग इस कलिकाल में भाग्य से ही दृष्टिगोचर होता है। आपश्री की अत्यन्त नियमित दिनचर्या, सात्विक और परिमित आहार, आगम सम्मत्त संभाषण, करुण और सुकोमल हृदय, आपके विरल व्यक्तित्व के अभिन्न अवयव हैं। शुद्धात्मतत्त्व का निरन्तर चिन्तवन और स्वाध्याय ही आपका जीवन था। जैन श्रावक के पवित्र आचार के प्रति आप सदैव सतर्क और सावधान थे। जगत् की प्रशंसा और निन्दा से अप्रभावित रहकर, मात्र अपनी साधना में ही तत्पर रहे। आप भावलिंगी मुनियों के परम उपासक थे।

आचार्य भगवन्तों ने जो मुक्ति का मार्ग प्रकाशित किया है, उसे इन रत्नत्रय विभूषित सन्त पुरुष ने अपने शुद्धात्मतत्त्व की अनुभूति के आधार से सातिशय ज्ञान और वाणी द्वारा युक्ति और न्याय से सर्व प्रकार से स्पष्ट समझाया है। द्रव्य की स्वतन्त्रता, द्रव्य-गुण-पर्याय, उपादान-निमित्त, निश्चय-व्यवहार, क्रमबद्धपर्याय, कारणशुद्धपर्याय, आत्मा का शुद्धस्वरूप, सम्यग्दर्शन, और उसका विषय, सम्यग्ज्ञान और ज्ञान की स्व-पर प्रकाशकता, तथा सम्यक्चारित्र का स्वरूप इत्यादि समस्त ही आपश्री के परम प्रताप से इस काल में सत्यरूप से प्रसिद्धि में आये हैं। आज देश-विदेश में लाखों जीव, मोक्षमार्ग को समझने का प्रयत्न कर रहे हैं - यह आपश्री का ही प्रभाव है।

समग्र जीवन के दौरान इन गुणवन्ता ज्ञानी पुरुष ने बहुत ही अल्प लिखा है क्योंकि आपको तो तीर्थङ्कर की वाणी जैसा योग था, आपकी अमृतमय मङ्गलवाणी का प्रभाव ही ऐसा था कि सुननेवाला उसका रसपान करते हुए थकता ही नहीं। दिव्य भावश्रुतज्ञानधारी इस पुराण पुरुष ने स्वयं ही परमागम के यह सारभूत सिद्धान्त लिखाये हैं :—

1. एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का स्पर्श नहीं करता।
2. प्रत्येक द्रव्य की प्रत्येक पर्याय क्रमबद्ध ही होती है।
3. उत्पाद, उत्पाद से है; व्यय या ध्रुव से नहीं।
4. उत्पाद, अपने षट्कारक के परिणमन से होता है।
5. पर्याय के और ध्रुव के प्रदेश भिन्न हैं।
6. भावशक्ति के कारण पर्याय होती ही है, करनी नहीं पड़ती।
7. भूतार्थ के आश्रय से सम्यग्दर्शन होता है।
8. चारों अनुयोगों का तात्पर्य वीतरागता है।
9. स्वद्रव्य में भी द्रव्य-गुण-पर्याय का भेद करना, वह अन्यवशपना है।
10. ध्रुव का अवलम्बन है परन्तु वेदन नहीं; और पर्याय का वेदन है, अवलम्बन नहीं।

इन अध्यात्मयुगसृष्टा महापुरुष द्वारा प्रकाशित स्वानुभूति का पावन पथ जगत में सदा जयवन्त वर्तो!

तीर्थङ्कर श्री महावीर भगवान की दिव्यध्वनि का रहस्य समझानेवाले शासन स्तम्भ श्री कहानगुरुदेव त्रिकाल जयवन्त वर्तो!!

सत्पुरुषों का प्रभावना उदय जयवन्त वर्तो!!!

❖ ❖ ❖

अनुक्रमणिका

प्रवचन नं.	तारीख	गाथा/कलश नं.	पृष्ठ क्रं.
३५७	०१-१२-१९७९	गाथा-२८८ से २९२, कलश-१८०	००२
३५८	०२-१२-१९७९	गाथा-२८८ से २९२	०१७
३५९	०४-१२-१९७९	गाथा-२९३-२९४	०३४
३६०	०२-१२-१९७९	गाथा-२९४	०५०
३६१	०६-१२-१९७९	गाथा-२९४	०६२
३६२	०७-१२-१९७९	गाथा-२९४, कलश-१८१	०७५
३६३	०८-१२-१९७९	गाथा-२९५, कलश-१८१	०९०
३६४	०९-१२-१९७९	गाथा-२९५ - २९६	१०५
३६५	१०-१२-१९७९	गाथा-२९७	१२२
३६६	१२-१२-१९७९	गाथा-२९७, कलश-१८२	१३५
३६७	१३-१२-१९७९	गाथा-२९८ से २९९, कलश-१८२	१४८
३६८	१४-१२-१९७९	गाथा-२९८ से २९९	१६६
३६९	१५-१२-१९७९	गाथा-२९८ से २९९	१७९
३७०	१६-१२-१९७९	कलश-१८३, १८४	१९७
३७१	१७-१२-१९७९	गाथा-३००, कलश-१८४	२१३
३७२	१८-१२-१९७९	गाथा-३०१ से ३०३, कलश-१८५, १८६	२२९
३७३	२०-१२-१९७९	गाथा-३०१ से ३०५	२४६
३७४	२१-१२-१९७९	गाथा-३०४ से ३०७, कलश-१८७	२६१
३७५	२२-१२-१९७९	गाथा-३०६ से ३०७	२८१
३७६	२३-१२-१९७९	गाथा-३०४ से ३०७, कलश-१८८, १८९	२९७
३७७	२४-१२-१९७९	कलश-१८९ से १९१	३१५

प्रवचन नं.	तारीख	गाथा/कलश नं.	पृष्ठ क्रं.
३७८	२५-१२-१९७९	कलश-१९२, १९३	३३४
३७९	२७-१२-१९७९	गाथा-३०८ से ३११, कलश-१९४	३५२
३८०	२८-१२-१९७९	गाथा-३०८ से ३११	३७२
३८१	०१-०२-१९८०	गाथा-३०८ से ३११, कलश-१९३, १९४	३८९
३८२	०२-०२-१९८०	गाथा-३०८ से ३११	४००
३८३	०३-०२-१९८०	गाथा-३०८ से ३११	४१४
३८४	०४-०२-१९८०	गाथा-३०८ से ३१३, कलश-१९५	४२६
३८५	०५-०२-१९८०	गाथा-३१२ से ३१५	४४२
३८६	०६-०२-१९८०	गाथा-३१४ से ३१६, कलश-१९६	४५९
३८७	०७-०२-१९८०	गाथा-३१६ से ३१७, कलश-१९७	४७५
३८९	१९-०५-१९८०	गाथा-३१७ से ३१८	४९०
३९०	२०-०५-१९८०	गाथा-३१८, कलश-१९८	५०५
३९१	२१-०५-१९८०	गाथा-३१९ से ३२०	५२२
३८८	०८-०२-१९८०	गाथा-३२०	५३९
३९२	२३-०५-१९८०	गाथा-३२०, कलश-१९९	५५३
३९३	२४-०५-१९८०	गाथा-३२१ से ३२३, कलश-१९९	५६९
३९४	२६-०५-१९८०	गाथा-३२४ से ३२७, कलश-२००	५८९
३९५	२७-०५-१९८०	गाथा-३२८ से ३२९, कलश-२०१, २०२	६०८
३९६	२९-०५-१९८०	गाथा-३२८ से ३४४, कलश-२०३	६३०

ॐ

श्री परमात्मने नमः

श्रीमद् भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेव प्रणीत श्री समयसार परमागम पर

अध्यात्मयुगपुरुष पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के प्रवचन

समयसार सिद्धि

(भाग - ९)

—८—

मोक्ष अधिकार

कलश–१८०

अथ प्रविशति मोक्षः।

(शिखरिणी)

द्विधाकृत्य प्रज्ञाक्रकचदलनाद्बन्धपुरुषौ,
नयन्मोक्षं साक्षात्पुरुषमुपलम्भैकनियतम्।
इदानीमुन्मज्जत्सहज–परमानन्द–सरसं,
परं पूर्णं ज्ञानं कृतसकलकृत्यं विजयते॥१८०॥

(दोहा)

कर्मबन्ध सब काटि के, पहुँचे मोक्ष सुथान।
नमूं सिद्ध परमातमा, करूँ ध्यान अमलान॥

प्रथम टीकाकार आचार्यदेव कहते हैं कि 'अब मोक्ष प्रवेश करता है।'

जैसे नृत्यमंच पर स्वाँग प्रवेश करता है, उसी प्रकार यहाँ मोक्षतत्त्व का स्वाँग प्रवेश करता है। वहाँ ज्ञान सर्व स्वाँग का ज्ञाता है, इसलिए अधिकार के प्रारम्भ में आचार्यदेव सम्यग्ज्ञान की महिमा के रूप में मंगलाचरण कहते हैं:-

श्लोकार्थ : [इदानीम्] अब (बन्ध पदार्थ के पश्चात्), [प्रज्ञा-क्रकच-दलनात् बन्ध-पुरुषौ द्विधाकृत्य] प्रज्ञारूपी करवत से विदारण द्वारा बन्ध और पुरुष को द्विधा (भिन्न-भिन्न-दो) करके, [पुरुषम् उपलम्भ-एक-नियतम्] पुरुष को-कि जो पुरुष मात्र *अनुभूति के द्वारा ही निश्चित है। उसे [साक्षात् मोक्षं नयम्] साक्षात् मोक्ष प्राप्त कराता हुआ, [पूर्णं ज्ञानं विजयते] पूर्ण ज्ञान जयवन्त प्रवर्तता है। वह ज्ञान [उन्मज्जत्-सहज-परम-आनन्द-सरसं] प्रगट होनेवाले सहज परमानन्द के द्वारा सरस अर्थात् रसयुक्त है, [परं] उत्कृष्ट है, और [कृत-सकल-कृत्यं] जिसने करनेयोग्य समस्त कार्य कर लिये हैं (-जिसे कुछ भी करना शेष नहीं है) ऐसा है।

भावार्थ : ज्ञान बन्ध और पुरुष को पृथक् करके, पुरुष को मोक्ष पहुँचाता हुआ, अपना सम्पूर्ण स्वरूप प्रगट करके जयवन्त प्रवर्तता है। इस प्रकार ज्ञान की सर्वोत्कृष्टता का कथन ही मंगल वचन है।।१८०।।

प्रवचन नं. ३५७, कलश - १८०, गाथा-२८८ से २९० शनिवार, मगसिर शुक्ल १३
दिनाङ्क - ०१-१२-१९७९

समयसार, मोक्ष अधिकार। टीकाकार, स्वयं हिन्दी टीकाकार जरा मांगलिक करते हैं।

कर्मबन्ध सब काटि के, पहुँचे मोक्ष सुथान।
नमूं सिद्ध परमातमा, करूँ ध्यान अमलान।।

कर्मबन्ध सब काटि के,... सिद्ध भगवान अनन्त हुए। उन्होंने कर्मबन्धन को काटा। निमित्त से कथन है न? **पहुँचे मोक्ष सुथान।** अपनी परमानन्दरूपी दशा, आत्मा के अतीन्द्रिय आनन्द का लाभ—ऐसा जो मोक्ष, ऐसे सुथान को प्राप्त हुए। **नमूं सिद्ध परमातमा,...** ऐसे सिद्धपरमात्मा को मैं नमस्कार करता हूँ। **ध्यान अमलान।**

---

* जितना स्वरूप-अनुभवन है इतना ही आत्मा है।

मलिनरहित ध्यान से मैं नमस्कार करता हूँ। ज्ञानानन्दस्वभाव में एकाग्रता से वहाँ मैं ध्यान करता हूँ।

अब **प्रथम टीकाकार आचार्यदेव कहते हैं कि 'अब मोक्ष प्रवेश करता है।' जैसे नृत्यमंच पर स्वाँग प्रवेश करता है, उसी प्रकार यहाँ मोक्ष तत्त्व का स्वाँग...** यह भी पर्याय है न? अर्थात् एक स्वाँग है, आत्मा का एक स्वाँग है। जैसे आस्रव-संवर-निर्जरा स्वाँग है, वैसे यह भी एक भेष है। वस्तु त्रिकाल है। **मोक्षतत्त्व का स्वाँग प्रवेश करता है। वहाँ ज्ञान सर्व स्वाँग का ज्ञाता है,...** सर्व स्वाँग को। मोक्ष स्वाँग का क्या, सभी स्वांगों को (जाननेवाला है)। **इसलिए अधिकार के प्रारम्भ में आचार्यदेव सम्यग्ज्ञान की महिमा के रूप में मंगलाचरण कहते हैं:-** सम्यग्ज्ञान की महिमारूप मंगल करते हैं। १८० (कलश)

द्विधाकृत्य प्रज्ञाक्रकचदलनाद्बन्धपुरुषौ,
नयन्मोक्षं साक्षात्पुरुषमुपलम्भैकनियतम्।
इदानीमुन्मज्जत्सहज-परमानन्द-सरसं,
परं पूर्णं ज्ञानं कृतसकलकृत्यं विजयते ॥१८०॥

आहाहा! पूर्ण, पूर्ण का मांगलिक करते हैं, **अब (बन्ध पदार्थ के पश्चात्),...प्रज्ञा-क्रकच-दलनात् बन्ध-पुरुषौ द्विधाकृत्य...** साथ ही विधि भी रखी है कि मोक्ष कैसे होता है? कि **प्रज्ञारूपी करवत से...** राग और आत्मा के स्वभाव के बीच प्रज्ञारूपी करवत डालना। लकड़ी में जैसे करवत से दो टुकड़े करते हैं, वैसे यह **द्विधाकृत्य... विदारण द्वारा बन्ध और पुरुष को द्विधा (भिन्न-भिन्न-दो) करके,...** आहाहा! यह क्रिया, मोक्ष होने की यह क्रिया है।

प्रज्ञारूपी चक्र द्वारा, करवत द्वारा राग और स्वभाव को भिन्न करना, यह उसका उपाय और उसका फल मोक्ष है। इसमें व्यवहार की तो बात भी नहीं आयी। व्यवहार है, व्यवहार है, कहा। बन्ध है, कहा न? बन्ध है, भावबन्ध है। राग-द्वेष आदि भावबन्ध है, उसे और स्वभाव को प्रज्ञारूपी करवत द्वारा भिन्न करके। अब यह कठिन पड़ता है, इसलिए लोग क्रिया पर चढ़ गये हैं।

अन्तर में अनन्त गुण सम्पन्न परमात्मा विराजमान है। राग-विकार-विकल्प, वह कृत्रिम एक समय की उपाधि है, उपाधि है। उस उपाधि और स्वभाव के बीच सन्धि है, साँध है, दरार है; एक नहीं है। इसलिए उसके अन्दर प्रज्ञा-चक्र द्वारा, प्रज्ञा-करवत द्वारा दो को भिन्न करना। आहाहा! मोक्ष का यह मार्ग कि राग के प्रति का लक्ष्य छोड़कर स्वभाव पर दृष्टि करना, वह राग और स्वभाव के बीच की करवत—प्रज्ञाछैनी है, उसके द्वारा मोक्ष होता है। आहाहा! इसमें कोई व्रत, तप, अपवास, दान, दया, भक्ति और पूजा (कुछ नहीं आया)।

यह तो कहा न? भावपाहुड़ में ८३ गाथा में। कुन्दकुन्दाचार्य ने भावपाहुड़ ८३ गाथा (में कहा है कि) यह व्रत, भक्ति, पूजा, वैयावृत्य, दया, दान यह कोई जैनधर्म नहीं है। ऐसा कहा है। ले! है? अष्टपाहुड़ यहाँ है या नहीं? भावपाहुड़, यह निकला परन्तु ७०वीं गाथा। वह कितने में कही? ८३, ८३ (गाथा)

पूयादिसु वयसहियं पुण्णं हि जिणेहिं सासणे भणियं।
मोहक्खोहविहीणो परिणामो अप्पाणो धम्मो।।८३।।

जैनशासन में अनन्त तीर्थंकरों ने, अनन्त केवलियों ने **इस प्रकार कहा है कि पूजा आदिक में और व्रतसहित होना है, वह तो 'पुण्य' ही है...** व्रत और पूजा, वह पुण्य है, पुण्य है; धर्म नहीं। आहाहा! **मोह के क्षोभ से रहित...** मोह-क्षोभ से रहित। यह क्षोभ कहते हैं। कहते हैं कि व्रत, पूजा.... सब लेंगे। यहाँ देखो!

लौकिक जन तथा अन्यमती कई कहते हैं कि पूजा आदिक शुभक्रियाओं में और व्रतक्रियासहित है, वह जिनधर्म है, परन्तु ऐसा नहीं है। जिनमत में जिनभगवान ने इस प्रकार कहा है कि पूजादिक में और व्रतसहित होना है, वह तो 'पुण्य' है, इसमें पूजा और आदि शब्द से भक्ति, वन्दना, वैयावृत्त्य आदिक... सब पुण्य है। आहाहा! करने का यह, अब ये तो कहते हैं, पुण्य है। और यह उपदेश चलता है। '**पूयादिसु**' का अर्थ किया। '**पूजादिसु**' है न? आदि। '**पूजादिसु**' में यह सब आया। भक्ति भी आयी, वन्दना आयी, वैयावृत्य **यह तो देव-गुरु-शास्त्र के लिये...** वे परद्रव्य, देव-शास्त्र-गुरु परद्रव्य है। उनके निमित्त के लक्ष्य से यह है; इसलिए यह पुण्य है; धर्म नहीं। आहाहा! ८३वीं गाथा में है।

मुमुक्षु : इतनी सब पूजा की, वह पानी में गयी ?

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, नहीं; पानी में नहीं गयी, पुण्य बँधा। पुण्य बँधा है, भव मिला है भटकने का। व्यर्थ में नहीं गया। भव मिला है भटकने का। भव मिलता है-इससे संसार मिलता है। मोक्ष नहीं होता, धर्म नहीं होता। आहाहा!

मुमुक्षु : करना या नहीं करना ?

पूज्य गुरुदेवश्री : करने की बात कहाँ है ? यहाँ तो आत्मा को उससे भिन्न करके (भिन्न) करना। यह न कर सके, तब तक ऐसा विकल्प हो, परन्तु वह विकल्प पुण्यबन्ध का कारण है; धर्म नहीं। आहाहा! करनेयोग्य नहीं, करने लायक नहीं। वस्तु के स्वरूप की ओर ढलते हुए, पूर्ण न ढले, तब ऐसे विकल्प हों, परन्तु है वह पुण्यबन्ध का कारण। है ?

पूजा, भक्ति, वन्दन, वैयावृत्य आदि, यह तो देव-शास्त्र-गुरु के (लिये होते हैं) और **और उपवास आदिक व्रत हैं, उपवास आदिक व्रत हैं, वह शुभक्रिया है, इनमें आत्मा का रागसहित शुभपरिणाम है, उससे पुण्यकर्म होता है...** पुण्य है। जैनशासन में उसे पुण्य कहा है। जैनशासन में अनन्त तीर्थंकरों, अनन्त केवलियों ने उसे धर्म नहीं कहा। कहो, यशपालजी! यह सब लेकर तो ये बैठे हैं, धर्म है। दो-चार प्रतिमा लेना और सम्यग्दर्शन नहीं। व्रत ले लो, प्रतिमा ले लो, पूजा करो, भक्ति करो, वन्दन (करो)... आहाहा! **उपवास आदिक व्रत हैं, वह शुभक्रिया है, इनमें आत्मा का रागसहित शुभपरिणाम है, उससे पुण्यकर्म होता है; इसलिए इनको पुण्य कहते हैं। इसका फल स्वर्गादिक भोगों की प्राप्ति है।** स्वर्गादि भव मिले, मोक्ष नहीं मिलता। स्वर्ग में से निकलकर वापस मोक्ष हो, ऐसा भी नहीं। वह तो भटकने का रास्ता है। आहाहा!..

यह यहाँ कहा, **प्रज्ञारूपी करवत से विदारण द्वारा बन्ध और पुरुष को द्विधा (भिन्न-भिन्न-दो) करके,...** आहाहा! यह तो शान्ति का काम है, बापू! कोई यह व्रत कर डालना, अपवास कर डालना, यह यहाँ वस्तु नहीं है। आत्मा अन्दर आनन्दस्वरूप, प्रज्ञा प्रकाश का पुंज (है), प्रज्ञा प्रकाश का पुंज (है), उसकी ओर ढलकर, राग से विमुख होकर, दो के बीच भेद करके स्वरूप में एकाग्रता करना, वह मोक्ष का उपाय है। आहाहा!

इससे इसका अर्थ ऐसा नहीं है, कि शुभ छोड़कर अशुभ करना। ऐसा अर्थ नहीं है, परन्तु वह शुभ है, वह पुण्यबन्ध संसार है। उसे छोड़कर अन्दर में जाना, शुद्धस्वरूप में जाना, वह अधिक (करना है) यह अधिकार समयसार में आता है न कि भाई! ऐसा कहा, इसलिए यह लोग नीचे-नीचे क्यों उतरते हैं? हमने शुभ को बन्ध का कारण कहा, उसे छोड़कर अशुभ में क्यों जाते हैं? शुभ छोड़कर शुद्धता-अन्तर में क्यों नहीं जाते? ऊर्ध्व, ऊर्ध्व शब्द है न वहाँ? ऊर्ध्व-ऊर्ध्व क्यों नहीं जाते? आहा! बहुत कठिन काम है। वह जैनधर्म ही नहीं है। पूजा, भक्ति, दया, दान, व्रत, अपवास, वह जैनशासन / धर्म ही नहीं है। यहाँ तो सब कहे 'दया धर्म की बेलडी दया धर्म की खान।' यह और यहाँ कहे कि भगवान की भक्ति और पूजा करते-करते कल्याण होगा। बन्ध करते-करते अबन्ध होगा। ऐसा जैनशासन में कहा नहीं है। लोगों ने कल्पित करके ऐसा मार्ग चलाया है। आहा! है?

बन्ध और पुरुष को... पुरुष अर्थात् आत्मा; बन्ध अर्थात् राग। पूजा, भक्ति आदि का राग भावबन्ध। उसे और आत्मा को... आहाहा! द्विधा करके—दोनों को पृथक् करके। आहाहा! ऐसी बात है। तब कितने ही ऐसा कहते हैं कि परन्तु अभी निचली श्रेणी की लौकिक नीति के सुधार तो करने दो, नैतिक जीवन तो करने दो। सीधे यह (करना)? बापू! ऐसा अनन्त बार किया है। नैतिक जीवन अनन्त बार किया है। जैन के साधुरूप से -द्रव्यलिंगी भी अनन्त बार हुआ है, परन्तु राग और आत्मा भिन्न है—ऐसा भान, समकित कभी नहीं किया। भव का अभाव करना हो तो यह है, बाकी तो सब संसार है। नीति का सुधार और बाहर का करना और वह करना और....

यहाँ तो पुरुष और बन्ध को द्विधा कहकर पुरुष को '**उपलम्भ-एक-नियतम्**' यह पुरुष अर्थात् आत्मा, आत्मा को पुरुष कहा है। आत्मा को **कि जो पुरुष मात्र अनुभूति के द्वारा ही निश्चित है।** आहाहा! जितना स्वरूप अनुभवन है, जितना अनुभव में आता है, उतना आत्मा है। है आत्मा द्रव्य पूरा, वह अनुभव में आवे आनन्द का, उतना आत्मा गिनना। राग का अनुभव, वह संसार है। आहाहा!

इसमें विवाद लेते हैं (कि) व्यवहार साधन है और जयसेनाचार्य ने व्यवहार साधन कहा है, निश्चय साध्य है, व्यवहार कारण है। यह तो कल आया था न? कथनमात्र कारण है। कहनेमात्र कारण है; कारण है नहीं। आहाहा! ऐसा व्यवहार तो अनन्त बार किया।

बन्ध और आत्मा को द्विधा करके आत्मा को—पुरुष को अनुभूति द्वारा निश्चित है। 'मात्र' शब्द लिया है। आत्मा मात्र अनुभूति द्वारा ही प्राप्त हो, ऐसा है। कोई राग की क्रिया और दया, दान, व्रत के विकल्प से प्राप्त हो, ऐसा आत्मा है ही नहीं। आहाहा! है या नहीं इसमें? क्या कहा यह?

पुरुष अर्थात् आत्मा को **मात्र अनुभूति के द्वारा ही...** अनुभूति द्वारा ही। आहाहा! भगवान आनन्दस्वरूप है, उसकी अनुभूतिमात्र। मात्र ही कहा, अर्थात् दूसरी कोई चीज़ उसे साधन नहीं है। आहाहा! अनुभूतिमात्र ही **द्वारा ही...** वापस द्वारा। 'ही' कहा है, एकान्त कहा है। कथंचित् अनुभूति द्वारा कथंचित् व्यवहार द्वारा—ऐसा नहीं कहा। स्याद्वादमार्ग है, अनेकान्त है। कथंचित् निश्चय से और कथंचित् व्यवहार से, यह अनेकान्त नहीं है, यह तो फुदड़ीवाद है। अनेकान्त तो यह है कि अकेली अनुभूतिमात्र से है; व्यवहार से नहीं, इसका नाम अनेकान्त है। आहाहा! बात में बहुत अन्तर। है अन्दर देखो।

जो पुरुष मात्र अनुभूति के द्वारा ही... जितना स्वरूप अनुभवन है, उतना अनुभव करके। '**पुरुषम् उपलम्भ**' आहाहा! उसे—आत्मा को प्राप्त करना। **उसे 'साक्षात् मोक्षं नयम्' साक्षात् मोक्ष प्राप्त कराता हुआ,... 'नयम्'** अर्थात् प्राप्त कराता। आहाहा! राग से भिन्न पड़कर अकेले अनुभूतिमात्र से ही आत्मा '**साक्षात् मोक्षं नयम्**' मोक्ष को प्राप्त करता है। इसके अतिरिक्त दूसरी कोई विधि नहीं है। आहाहा!

पुरानी रूढ़ि के लोग सुननेवाले हों, उन्हें ऐसा लगता है कि यह तो, आहा! यह कहाँ से ऐसा निकाला? मार्ग ऐसा है, भाई! अनन्त काल से ऐसे शुभाशुभभाव अनन्त बार किये, अनन्त बार किये, अनन्त बार उसके (फल में) स्वर्ग-नरक मिले। भवभ्रमण का अभाव नहीं हुआ। भवभ्रमण टलने का (नहीं हुआ)। भवभ्रमण... जिसे अभी भव प्रिय लगता है, भव टालना अभी ठीक नहीं पड़ता, उसे तो यही रस लगता है। परन्तु यह भव है, वह कलंक है। चैतन्यमूर्ति आनन्द का कन्द हीरा, उसे यह मैल, माँस और हड्डियों का शरीर, उसमें रहना कलंक है। मर गये हुए गधे के चमड़े में मेसूर (पाक) लपेटा, उसकी अपेक्षा भी यह भगवान आत्मा सच्चिदानन्द प्रभु अनाकुल आनन्द और अनाकुल शान्ति और वीतराग की मूर्ति है। उसे इस माँस और हड्डियों में शामिल रखना, (वह) कलंक है। आहहा! ऐसी बातें हैं।

'पूर्णं ज्ञानं विजयते' अनुभूतिमात्र से ही आत्मा को मोक्ष प्राप्त कराता हुआ और वह ज्ञान **पूर्ण ज्ञान जयवन्त प्रवर्तता है।** वह ज्ञान पूर्ण हुआ। ज्ञान अर्थात् पूरा आत्मा। जो राग से भिन्न पड़कर आत्मा की अनुभूति से, आत्मा की अनुभूति से, आत्मा के अनुभव से जो मोक्ष प्राप्त हुआ, वह मोक्ष जयवन्त—वर्तता है। ऐसा का ऐसा सदा सादि-अनन्त रहता है। आहाहा! उसे भव नहीं करना पड़ता अथवा बहुत काल रहने के बाद भव करना पड़े या दुनिया में पाप बढ़े तो अवतार करके आना पड़े, ऐसा नहीं है। आहाहा!

पूर्ण ज्ञान जयवन्त प्रवर्तता है। आहाहा! ऐसा जो आत्मा का पूर्ण ज्ञान प्रगट हुआ, जैसा पूर्ण स्वरूप है, वैसा अनुभूति से पूर्ण स्वरूप पर्याय में प्रगट हुआ, वह प्रगट हुआ, वह जयवन्त वर्तता है। आहाहा! कैसा है वह ज्ञान? **वह ज्ञान 'उन्मज्जत्-सहज-परम-आनन्द-सरसं' प्रगट होनेवाले सहज परमानन्द के द्वारा... 'उन्मज्जत्'** है न? **'उन्मज्जत्'** प्रगट हुआ। **'उन्मज्जत्'** बाहर आया ऐसे। **प्रगट होनेवाले...** अन्दर में शक्तिरूप आनन्द, ज्ञान और शान्ति थी, शक्तिरूप तो प्रभु परमात्मा ही है, शक्तिरूप था, वह प्रगटरूप हुआ। आहाहा!

प्रगट होनेवाले सहज परमानन्द के द्वारा... स्वाभाविक आनन्दसहित ज्ञान प्रगट हुआ। मोक्ष में अतीन्द्रिय आनन्द फल है, अतीन्द्रिय आनन्द का फल मोक्ष में है। अनुभूति करने पर, पृथक् पड़ने पर, मोक्ष होने पर अनुभूति जिसका फल है, अनन्त आनन्द का फल जिसका है। आहाहा! ऐसा मोक्ष का अधिकार है, भाई! आहाहा! **सहज परमानन्द के द्वारा सरस अर्थात् रसयुक्त है, उत्कृष्ट है,...** जो ज्ञान आनन्दसहित उत्कृष्ट प्रकट हुआ है। अब उससे ऊँची चीज़ कोई है नहीं। आहाहा! मांगलिक किया है। **'कृत-सकल-कृत्यं' जिसने करनेयोग्य समस्त कार्य कर लिये हैं...** जो कुछ करनेयोग्य था पूर्णानन्द की पर्याय, पूर्णज्ञान की पर्याय, वह हो गयी है। अब, करनेयोग्य था, वह सब किया है। वह कृतकृत्य है। कृतकृत्य। कुछ कार्य करना बाकी नहीं है। आहाहा!

पहले तो मोक्षतत्त्व कहना किसे? है तो पर्याय, पर्याय में जो अनन्त आनन्द, अनन्त ज्ञान, अनन्त शान्ति, अनन्त वीतरागता और कृतकृत्य—कुछ बाकी नहीं करनेयोग्य, ऐसी तो जिनकी पर्याय है, उसके द्रव्य-गुण की तो बातें क्या करना? आहाहा! उसके द्रव्य और गुण तो त्रिकाली शक्ति के सामर्थ्य से भरपूर है। आहाहा! उसमें कुछ कम-ज्यादा नहीं होता।

करनेयोग्य समस्त कार्य... सभी कार्य, ऐसा। करनेयोग्य क्या कार्य थे? दूसरे के करनेयोग्य कार्य थे इसके? दूसरों का उद्धार करने के, दूसरों को मोक्षमार्ग बताने के—ये कार्य थे इसके? आहाहा! करनेयोग्य तो अनुभूति करके पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना, वह करनेयोग्य था। आहाहा! अन्तर आनन्दस्वरूप भगवान अतीन्द्रिय आनन्द से भरपूर है। उसकी एकाग्रता से करनेयोग्य जो मोक्ष, वह किया। वही करनेयोग्य है, करनेयोग्य वह था, वह किया। बाकी क्या करनेयोग्य यह दया, दान और सुधारा-बधारा और सबको सुधारना, सबको एक करना... आहाहा! यह सब अलग-अलग भाग पड़े हैं, उन्हें एक करना, ऐसा करना-वैसा करना, यह कुछ करनेयोग्य था नहीं। आहाहा! ऐसा अर्थ निकला या नहीं? ऐसा कुछ करनेयोग्य नहीं था; करनेयोग्य यह था। अनुभूति से पूर्ण आनन्द की प्राप्ति करनेयोग्य थी, वह की। अब करने का कुछ बाकी रहा नहीं। आहाहा!

यह लौकिक के साथ कठिन पड़ता है, वाद-विवाद में चढ़ते हैं (कहते हैं)- एकान्त है, इसमें एकान्त है। व्यवहार से भी होता है, निश्चय से भी होता है, निमित्त से भी होता है, उपादान से भी होता है, इसका नाम अनेकान्त है। एकान्त है, सोनगढ़ का एकान्त है—ऐसा (वे) कहते हैं। सोनगढ़ का कहते हैं या यह भगवान का है? आहाहा!

यहाँ तो करनेयोग्य जो कहते हैं, करनेयोग्य था, वह अर्थात् क्या?—कि करनेयोग्य तो यह ही था। प्रत्येक को करनेयोग्य यह है। राग से भिन्न पड़कर अनुभूति द्वारा, आत्मा की अनुभूति द्वारा पूर्ण मोक्ष की पर्याय आनन्दसहित प्रगट करनी है। फिर कुछ करने का बाकी नहीं रहता। यही करनेयोग्य है, बाकी दूसरा कुछ करनेयोग्य नहीं है। आहाहा! यह सब मण्डलियाँ और दया मण्डली होती है न? दान मण्डली। दान का अधिपति प्रमुख होकर दान उगाहे, पैसा उगाहे। दया मण्डल (चलावे)। अमुक का शिक्षा मण्डल, अमुक की दुनिया की नीति नैतिक सिखावे। यहाँ तो सब निषेध करते हैं। करनेयोग्य तो यह एक है। आहाहा!

अरे! ऐसा मनुष्यभव अनन्त काल में मिला, बिखर जाएगा, भाई! परमाणु नहीं रहेंगे। बिखर जाएँगे। अकेला चला जाएगा। भाव विपरीत किये होंगे, पर में कर्ताबुद्धि के और राग का अभिमान और राग से कल्याण होता है और व्यवहार करते-करते निश्चय होता

है (तो) ऐसे मिथ्यात्व भाव से चार गतियों में भटकेगा। आहाहा! कठिन काम है, वीतरागमार्ग कठिन है।

कहते हैं, करनेयोग्य होवे तो यह एक है, ऐसा कहते हैं। दूसरा कुछ करनेयोग्य नहीं है। आहाहा! है न? '**कृत-सकल-कृत्यं**' करनेयोग्य, इस व्याख्या में ऐसा कहा है कि करनेयोग्य तो यह एक ही है। अनुभूति ही करनेयोग्य है। वह पूर्णदशा कर ली, बस! आहाहा! मांगलिक किया है।

मुमुक्षु : मंगल वचन लिखा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : मंगल वचन है, मंगल वचन। आहाहा! हे आत्मा! राग के भावबन्धन से छूटकर अनुभूतिमात्र आत्मा का अनुभव करके पूर्ण मोक्ष के अनन्त आनन्द के लाभरूप मोक्ष को प्राप्त करनेयोग्य है। वह करनेयोग्य है। आहाहा! बाकी कुछ करनेयोग्य नहीं है। आहाहा! कृतकृत्य कहकर गजब काम किया है। '**कृत-सकल-कृत्यं**' करनेयोग्य सब किया। आहाहा! करनेयोग्य था यह, यह सब किया। दूसरा एक भी करनेयोग्य (नहीं है)। आहाहा! शब्दों में गम्भीरता (बहुत है)। यही करनेयोग्य है। आहाहा! बाकी तो हड्डियाँ, चमड़ा पड़ा रहेगा, बापू! श्मशान में सुलगेगा, यहाँ से चला जाएगा। आहाहा! ये पाप के अभिमान, पुण्य के अभिमान, पुण्य के फल के अभिमान, राग के आचरण के अभिमान—इतने व्रत किये और इतने अपवास किये, इतने दान किये, करोड़ के दान किये और दो करोड़ के दान किये। बापू! यह सब क्या है? भाई! आहाहा! इतना पढ़ा, इतनों को समझाया, इतने मुझसे समझे। यहाँ कहते हैं करनेयोग्य होवे तो यह एक है, बापू! आहाहा! गजब किया है न! आचार्यों की दशा, कथन की पद्धति गजब है!

अनुभूति—प्रज्ञाछैनी द्वारा राग के भाव को, भले पुण्य का, दया-दान का, व्रत का (भाव हो) परन्तु वह राग बन्धन है। उस बन्धन से भिन्न पड़कर, आत्मा में ज्ञान को बढ़ाकर अनुभूति से पूर्ण स्वरूप आत्मलाभ ले। वह करनेयोग्य है। आहाहा! अब इन सबको पुस्तक देना और पुस्तक लेना और देना, यह सब करनेयोग्य नहीं? शास्त्रज्ञान भी करनेयोग्य नहीं? कहते हैं, वह विकल्प है, भाई! आहाहा! गजब बात है।

भगवान अन्दर अतीन्द्रिय आनन्द का नाथ, अतीन्द्रिय ज्ञान का सागर, अतीन्द्रिय पूर्ण

पुरुषार्थ का पिण्ड, उसे पूर्ण पुरुषार्थ की पर्याय प्रगट करना और अनन्त लाभ की पर्याय को प्राप्त करना (और) उस अनुभूति से (प्राप्त करना), ऐसे दो कारण रखे। अमुक से होगा, व्यवहार से होगा—ऐसा नहीं। अनुभूति से ही मात्र यह करनेयोग्य है। वह यह किया। आहाहा! कितना समाहित किया है! आहाहा!

आचार्यों ने गजब काम किया है। परमेश्वर जैसा काम किया है। आहा! उन्होंने कुछ किया नहीं। वे तो कहते हैं, हमने कुछ नहीं किया, हमने तो अपनी अनुभूति से मोक्ष किया है। आहाहा! हमने तो टीका भी बनायी नहीं और शास्त्र भी बनाये नहीं। आहाहा! ज्ञानस्वरूप भगवान क्या करे? आत्मा तो ज्ञान और आनन्दमूर्ति प्रभु है। वह क्या करे? जो होता है, उसे अपने में रहकर जाने, ऐसा कहना व्यवहार है। आहाहा! उसके बदले होता है, उसमें मेरा हाथ है, पर के कार्य होते हैं, उसमें मेरा कुछ अधिकार-चतुराई है, मैं उसका अधिकारी हूँ। आहाहा! मण्डल का नायक हूँ, सब मण्डल को व्यवस्थित रीति से चलाते हैं।

यहाँ तो गजब काम किया है। अनुभूति से आनन्द के रससहित ज्ञान जो पूर्ण प्रगटे, वह करनेयोग्य था, वह किया, बापू! आहाहा! दूसरी बात याद की नहीं। थोड़ों को समझाना, ऐसा करना, वैसा करना (-यह कुछ नहीं)। मोक्षमार्गप्रकाशक में कहा है न? भगवान ने भी उपदेश किया है, तो हम उपदेश का उपदेश करते हैं। व्यवहार आवे, तब बात करे उपदेश। आठवें अध्याय में (आता है)। उपदेश। आहाहा! भाई! कौन उपदेश करे? आहाहा! कौन उपदेश सुने? यह पूर्णानन्द का नाथ कहाँ न्यून है (कि) यह सुनकर वह प्रगटे! आहा! वह कहाँ पूर्ण में कम है कि दूसरे को समझावे तो इसे कुछ लाभ हो। आहाहा! ऐसा है।

(-जिसे कुछ भी करना शेष नहीं है)... है न कोष्ठक में? **(-जिसे कुछ भी करना शेष नहीं है) ऐसा है।** आहाहा! वस्तु के प्रति महामांगलिक किया। जीव को करनेयोग्य होवे तो अपना अनुभूति का हित, अनुभूति से मोक्ष प्राप्त होता है, वह करनेयोग्य है। आहाहा! बाकी सब बातें उड़ा दी है। व्यवहार की बातें आवे, तब आवे, कहा जाए, इससे उस व्यवहार से इस आत्मा को लाभ हो (-ऐसा नहीं है)। आहाहा! अमृतचन्द्राचार्य

टीका करते हुए तो ऐसा बोलते हैं, टीका शब्दों से बनी है, बापू! मैं तो मेरे स्वरूप में हूँ, मैं तो मेरे ज्ञान में हूँ, मैं कहीं विकल्प मं आया नहीं, मैं शब्द में आया नहीं, तो आये बिना मुझसे बने किस प्रकार? उसके कारण से टीका बन गयी है। आहाहा! मेरा कार्य नहीं। समयसार जैसी टीका अमृतचन्द्राचार्य यह कहते हैं कि मुझसे नहीं बनी। आहाहा! उसमें और वे कलशकार ऐसा कहते हैं कि निर्मान से ऐसा कहते हैं। परन्तु यह कहते हैं, वह निर्मान से तो है, परन्तु यह करना है ही नहीं, यह कार्य ही उनका नहीं है। आहाहा! कार्य ही आत्मा अनुभूतिस्वरूप है, उसे अनुभूति से, राग और पुण्य के परिणाम से भिन्न करके पवित्रता का अनुभव करना। वह अनुभव करते-करते जो अनन्त-अनन्त लाभ मोक्ष का हो, उसे फिर कुछ करने का बाकी नहीं रहता। आहाहा! ऐसी बात की है।

भावार्थ :- ज्ञान बन्ध और पुरुष को पृथक् करके,... ज्ञान है, वह बन्ध है, उसे कहीं भिन्न कर सकता है? रागस्वरूप पुण्य-पाप स्वयं बन्द करके शुद्धोपयोग कर सकता है? ज्ञान भिन्न कर सकता है। आहाहा! जो आत्मा का ज्ञान है, वह ज्ञान मैं और राग मैं नहीं, वह ज्ञान भिन्न कर सकता है। आहाहा! किसी भी चीज़ को ज्ञान भिन्न कर सकता है? गेहूँ और कंकर होवे तो भी ज्ञान जानता है न? गेहूँ-कंकर जानते हैं? ऐसा ज्ञान जानता है कि मैं ज्ञान हूँ; राग, वह मेरा स्वरूप नहीं है। आहाहा!

ज्ञान बन्ध और पुण्य को भिन्न करे। यह आत्मज्ञान, ज्ञान का पिण्ड आत्मा, चैतन्य प्रकाश का पुंज प्रभु, चैतन्य प्रकाश का सूर्य प्रभु... आहाहा! वह प्रकाश करते... करते... करते... राग को घटाकर पूर्ण वीतराग हो जाता है। आहाहा! ऐसा उसका प्रत्येक भगवान आत्मा का ऐसा स्वरूप ही है। अपने स्वरूप को पूर्ण प्राप्त कर सके, ऐसी ताकतवाला ही वह है और पूर्ण होओ—ऐसी आचार्य भी भावना करते हैं। पूर्ण होओ, भाई! रहने दो इसमें। आहाहा! संसार की कोई स्थिति अनुमोदन योग्य नहीं है। आहाहा!

अन्तर में राग और आत्मा को भिन्न करनेवाला तो ज्ञान है। राग भिन्न करनेवाला है? ज्ञान, जाननहार प्रकाशस्वरूप है, वह राग को भिन्न करके **पुरुष को मोक्ष पहुँचाता हुआ,...** पुरुष अर्थात् आत्मा। यह ज्ञान है, वह राग को भिन्न करके आत्मा को मोक्ष प्राप्त कराता है, वह ज्ञान। आहाहा! व्रत, तप, भक्ति और पूजा वह कोई मोक्ष प्राप्त नहीं कराते।

वह तो सब राग है और राग की क्रिया बन्ध का कारण है। आहाहा! कठिन बात, भाई! कठिन मार्ग, भाई!

अनन्त... अनन्त... अनन्त काल गया, अनन्त-अनन्त काल गया, कहीं आदि नहीं होती। आहाहा! ऐसे भूतकाल देखो तो भवरहित काल गया है कभी? भूतकाल देखो तो भव बिना का काल गया है कभी? भव... भव... भव... भव... भव... भव... भव... भव... भव... आहाहा! नरक के, तिर्यंच के, देव के, मनुष्य के, निर्धन के ऐसे भव, भव... भव... भव... भव... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... किये। जिसका अन्त नहीं। आहाहा!

उस **पुरुष को मोक्ष पहुँचाता हुआ (ज्ञान) अपना सम्पूर्ण स्वरूप प्रगट करके...** आत्मा ज्ञानानन्द सच्चिदानन्दस्वरूप शक्ति और स्वभावरूप से पूर्ण है, सत्तारूप से पूर्ण है। वह सत्ता कहो, शक्ति कहो, स्वभाव कहो। वह पूर्ण ज्ञानानन्दस्वरूप भगवान आत्मा है। उसे पूर्ण रीति से प्रगट करके... आहाहा! **जयवन्त प्रवर्तता है।** पूर्ण रीति से प्रगट करके मोक्षदशा जयवन्त वर्तती है। वह पर्याय प्रगटी, सो प्रगटी, अब फिर वापस नहीं पड़ती। आहाहा! जयवन्त वर्तती है। मांगलिक बहुत किया, उत्तम मांगलिक किया सब। आहाहा!

इस प्रकार ज्ञान की सर्वोत्कृष्टता का कथन... ऐसे आत्मा का सर्वोत्कृष्टपना (कहना)। भगवान आत्मा सभी चीज़ों का जाननेवाला है। चीज़ है, वह जानती नहीं। शरीर है, वह जानता नहीं। यह तो मिट्टी है। वाणी मिट्टी जानती नहीं। जाननेवाला तो ज्ञान भगवान है। जिसमें ज्ञात होता है, वह आत्मा है। ऐसा सर्वोत्कृष्ट स्वरूप, वह आत्मा है। आहाहा! आहाहा! **ज्ञान की सर्वोत्कृष्टता का कथन ही मंगल वचन है।** आहाहा! यह मांगलिक है। पूर्ण ज्ञान आत्मा प्रगट हो गया। अपना अनुभव करके, ज्ञान का अनुभव करके ज्ञान पूर्ण हुआ, वह जयवन्त प्रवर्तता है, यही मांगलिक है। यह मोक्ष अधिकार की शुरुआत का मांगलिक किया।

गाथा - २८८-२९०

जह णाम को वि पुरिसो बंधणयम्हि चिरकालपडिबद्धो।
तिव्वं मंद-सहावं कालं च वियाणदे तस्स॥२८८॥

जइ ण वि कुणदि च्छेदं ण मुच्चदे तेण बंधण-वसो सं।
कालेण उ बहुगेण वि ण सो णरो पावदि विमोक्खं॥२८९॥

इय कम्म-बंधणाणं पदेस-ठिइ-पयडि-मेव-मणुभागं।
जाणंतो वि ण मुच्चदि मुच्चदि सो चेव जदि सुद्धो॥२९०॥

यथा नाम कश्चित्पुरुषो बन्धनके चिरकालप्रतिबद्धः।
तीव्र-मन्द-स्वभावं कालं च विजानाति तस्य॥२८८॥

यदि नापि करोति छेदं न मुच्यते तेन बन्धनवशः सन्।
कालेन तु बहुकेनापि न स नरः प्राप्नोति विमोक्षम्॥२८९॥

इति कर्मबन्धनानां प्रदेशस्थितिप्रकृतिमेवमनुभागम्।
जानन्नपि न मुच्यते मुच्यते स चैव यदि शुद्धः॥२९०॥

आत्मबन्धयोर्द्विधाकरणं मोक्षः। बन्धस्वरूपज्ञानमात्रं तद्धेतुरित्येके, तदसत्; न कर्मबद्धस्य बन्धस्वरूपज्ञानमात्रं मोक्षहेतुः, अहेतुत्वात्, निगडादिबद्धस्य बन्धस्वरूपज्ञान-मात्रवत्।

एतेन कर्मबन्धप्रपञ्चरचनापरिज्ञानमात्रसन्तुष्टा उत्थाप्यन्ते॥२८८-२९०॥

अब, मोक्ष की प्राप्ति कैसे होती है, सो कहते हैं। उसमें प्रथम तो, यह कहते हैं कि, जो जीव बन्ध का छेद नहीं करता किन्तु मात्र बन्ध के स्वरूप को जानने से ही सन्तुष्ट है, वह मोक्ष प्राप्त नहीं करता-

ज्यों पुरुष कोई बन्धनों, प्रतिबद्ध है चिरकाल का।
वो तीव्र-मंद स्वभाव त्यों ही काल जाने बंध का॥२८८॥

पर जो करें नहिं छेद तो छूटे न, बन्धनवश रहे।
अरु काल बहुतहि जाय तो भी मुक्त वो नर नहिं बने।।२८९।।

त्यों कर्म बन्धन के प्रकृति प्रदेश, स्थिति, अनुभाग को।
जाने भले छूटे न जीव, जो शुद्ध तो ही मुक्त हो।।२९०।।

गाथार्थ : [यथा नाम] जैसे [बन्धन के] बन्धन में [चिरकालप्रतिबद्धः] बहुत समय से बँधा हुआ [कश्चित् पुरुषः] कोई पुरुष [तस्य] उस बन्धन के [तीव्रमंदस्वभावं] तीव्र-मन्द स्वभाव को [कालं च] और काल को (अर्थात् यह बन्धन इतने काल से है, इस प्रकार) [विजानाति] जानता है, [यदि] किन्तु यदि [न अपि छेदं करोति] उस बन्धन को स्वयं नहीं काटता [तेन न मुच्यते] तो वह उससे मुक्त नहीं होता [तु] और [बन्धनवशः सन्] बन्धनवश रहता हुआ [बहुकेन अपि कालेन] बहुत काल में भी [सः नरः] वह पुरुष [विमोक्षम् न प्राप्नोति] बन्धन से छूटनेरूप मुक्ति को प्राप्त नहीं करता; [इति] इसी प्रकार जीव [कर्मबन्धनानां] कर्म-बन्धनों के [प्रदेशस्थितिप्रकृतिम् एवम् अनुभागम्] प्रदेश, स्थिति, प्रकृति और अनुभाग को [जानन् अपि] जानता हुआ भी [न मुच्यते] (कर्मबन्ध से) नहीं छूटता, [च यदि सः एव शुद्धः] किन्तु यदि वह स्वयं (रागादि को दूर करके) शुद्ध होता है [मुच्यते] तभी छूटता है-मुक्त होता है।

टीका : आत्मा और बन्ध को द्विधाकरण (अर्थात् आत्मा और बन्ध को अलग अलग कर देना), सो मोक्ष है। कितने ही लोग कहते हैं कि 'बन्ध के स्वरूप का ज्ञानमात्र मोक्ष का कारण है (अर्थात् बन्ध के स्वरूप को जाननेमात्र से ही मोक्ष होता है), किन्तु यह असत् है; कर्म से बँधे हुए (जीव) को बन्ध के स्वरूप का ज्ञानमात्र मोक्ष का कारण नहीं है, क्योंकि जैसे बेड़ी आदि से बँधे हुए (जीव) को बन्ध के स्वरूप का ज्ञानमात्र बन्ध से मुक्त होने का कारण नहीं है। उसी प्रकार कर्म से बँधे हुए (जीव) को कर्मबन्ध के स्वरूप का ज्ञानमात्र कर्मबन्ध से मुक्त होने का कारण नहीं है। इस कथन से, उनका उत्थापन (खण्डन) किया गया है, जो कर्मबन्ध के प्रपंच का (विस्तार की) रचना के ज्ञानमात्र से सन्तुष्ट हो रहे हैं।

भावार्थ : कोई अन्यमती यह मानते हैं कि बन्ध के स्वरूप को जान लेने से ही मोक्ष हो जाता है। उनकी इस मान्यता का इस कथन से निराकरण कर दिया गया है। जाननेमात्र से ही बन्ध नहीं कट जाता, किन्तु वह काटने से ही कटता है।

गाथा - २८८ से २९० पर प्रवचन

अब, मोक्ष की प्राप्ति कैसे होती है... मोक्ष की प्राप्ति की विशेष (बात करते हैं)। पहले संक्षिप्त कहा, अब उसका विस्तार करते हैं। **उसमें प्रथम तो, जो जीव बन्ध का छेद नहीं करता...** अन्दर राग, पुण्य-पाप, दया, दान, व्रत के भाव हों, उन्हें छेदता नहीं; उनकी चिन्ता किया करे, उनकी विचारणा किया करे, उसमें रुक जाए, उसे धर्म नहीं होता। आहाहा! **उसमें प्रथम तो, जो जीव बन्ध का छेद नहीं करता...** कहते हैं, भाषा तो ऐसी कहते हैं कि कदाचित् शास्त्र जाने, परन्तु बन्ध को छेद नहीं करता, उसे कुछ हो, ऐसा नहीं है। शास्त्र में से जाने, क्योंकि अनन्त भव हुए। मनुष्यपने के हुए, शास्त्रज्ञान किया, ग्यारह अंग किये, नौ पूर्व किये, बड़ा राजा हुआ, सेठ हुआ, गरीब हुआ, रंक हुआ, भिखारी हुआ, कौआ हुआ, कुत्ता हुआ, नारकी हुआ। आहाहा! ऐसे अनन्त-अनन्त भव किये। उसमें मनुष्यरूप से ज्ञान किया हो। आहाहा!

वह मात्र **बन्ध का छेद नहीं करता किन्तु मात्र बन्ध के स्वरूप को जानने से ही...** बन्ध को जाने, कर्म की प्रकृति ऐसी है और एक सौ अड़तालीस (प्रकृति) ऐसी है और उसकी सत्ता इतनी है और स्थिति इतनी है और अनुभाग इतना है और उसमें इस गुणस्थान में इतना बन्ध पड़ता है और इतनी टलती है। उसमें तुझे क्या हुआ? आहाहा! श्वेताम्बर में यह श्लोक आता है 'बंधण छेदिदा।' बन्धन को छेदना, यह उपादेय बात आती है। 'सूयगडांग' की पहली गाथा है। पहला पद भूल गये, नहीं तो सब कण्ठस्थ था। 'बंधने परिपारिणो' सूयगडांग की पहली गाथा है। बन्धन को जानना। परन्तु जानना, परन्तु उसमें बन्धन का छेदन किस प्रकार हो? यह जाना कि यह चीज़ जहर है। लो! जहर खाता हो और जाना हो, (पश्चात्) खावे तो वह जाना है ही कहाँ? ऐसे जानने में आया, तथापि अपना माने (तो वह) जहर खाता है। जानने में आया कि यह चीज़ है, यह चीज़ है और यह चीज़ भिन्न-भिन्न है।

प्रथम तो जो जीव बन्ध का छेद नहीं करता किन्तु मात्र बन्ध के स्वरूप को जानने से ही सन्तुष्ट है, वह मोक्ष प्राप्त नहीं करता-... आहाहा! बन्ध को जाननेमात्र से कहीं मोक्ष प्राप्त नहीं करता। अबन्धस्वरूप भगवान आत्मा को जानने से मोक्ष होता है।

श्वेताम्बर में यह बात अधिक आती है। 'सूयगडांग' की पहली गाथा है। भूल गये। 'बंधने परिपारिणा।' मुखाग्र था। भूल जाते हैं। कर्म की प्रकृति और यह बन्धन और यह... यह और यह... यह और कर्म का बहुत अनुभाग और स्थिति तथा पहले गुणस्थान में इतनी प्रकृति बँधती है और इतना रस पड़ता है और इतनी स्थिति होती है और दूसरी इतनी होती है और तीसरी इतनी थी और चौथी इतनी (होती है), परन्तु उस बन्ध के जानने से उसमें आत्मा को क्या? छेदन किये बिना? बन्ध को भिन्न किये बिना लाभ कहाँ आया? बन्ध को जानने में लाभ क्या हुआ तुझे? यह बात **बन्ध के स्वरूप को जानने से ही सन्तुष्ट है, वह मोक्ष प्राप्त नहीं करता-यह कहते हैं।** गाथा है अब, वह बाद में कही जाएगी।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ३५८, गाथा-२८८ से २९२, रविवार, मगसिर शुक्ल १४
दिनाङ्क - ०२-१२-१९७९

समयसार, मोक्ष अधिकार। पहली गाथाएँ है न?

जह णाम को वि पुरिसो बंधणयम्हि चिरकालपडिबद्धो।
तिव्वं मंद-सहावं कालं च वियाणदे तस्स॥२८८॥

जइ ण वि कुणदि च्छेदं ण मुच्चदे तेण बंधण-वसो सं।
कालेण उ बहुगेण वि ण सो णरो पावदि विमोक्खं॥२८९॥

इय कम्म-बंधणाणं पदेस-ठिइ-पयडि-मेव-मणुभागं।
जाणंतो वि ण मुच्चदि मुच्चदि सो चेव जदि सुद्धो॥२९०॥

नीचे (हरिगीत)।

ज्यों पुरुष कोई बन्धनों, प्रतिबद्ध है चिरकाल का।
वो तीव्र-मंद स्वभाव त्यों ही काल जाने बंध का॥२८८॥

पर जो करें नहिं छेद तो छूटे न, बन्धनवश रहे।
अरु काल बहुतहि जाय तो भी मुक्त वो नर नहिं बने॥२८९॥

त्यों कर्म बन्धन के प्रकृति प्रदेश, स्थिति, अनुभाग को।
जाने भले छूटे न जीव, जो शुद्ध तो ही मुक्त हो।।२९०।।

टीका :– आत्मा और बन्ध को द्विधाकरण... आत्मा और बन्धन-राग, इनका दो का भिन्नपना करना, वह मोक्ष है। श्वेताम्बर में 'सूयगडांग' में पहली गाथा है। कल याद नहीं आयी थी। सवेरे याद आयी। 'बुजेजतिबुटीजा' ऐसा है। 'बुजेजतिबुटीजा' बन्धन को जान तो कर्म से छूटेगा। इस बात का यहाँ निषेध करते हैं। कल याद नहीं आया था। फिर पहली लाईन आज सवेरे याद आयी। 'बुजेजतिबुटीजा' यदि बन्धन को जानेगा तो कर्म से छूटेगा। यहाँ कहते हैं बन्धन को लाख-करोड़ जान, परन्तु छेदे नहीं तो टूटेगा नहीं। आहाहा!

द्विधाकरण कहा न? आत्मा और बन्ध का द्विधाकरण (अर्थात्) दोनों को भिन्न करना करे नहीं तो तब तक उसका मोक्ष नहीं होता। चाहे उतनी प्रकृति, प्रदेश, स्थिति, अनुभाग कर्म के जाने, उससे क्या जाना? आत्मा और बन्ध की द्विधा करना, दो करना, भिन्न करना, **सो मोक्ष है।** और **बन्ध के स्वरूप का ज्ञानमात्र...** अकेले बन्ध के स्वरूप का ज्ञानमात्र **मोक्ष का कारण है (अर्थात् बन्ध के स्वरूप को जाननेमात्र से ही मोक्ष होता है), (ऐसा) कितने ही लोग कहते हैं...** यह बात ली है। उसमें श्वेताम्बर में और विशेष बात है, बन्ध को जान, बसि। तो मुक्ति होगी। जानने से मुक्ति होगी या बन्ध को छेदने से (मुक्ति) होगी? आहाहा! शुद्ध, शुद्ध लिया है न? चैतन्य शुद्ध रागरहित पवित्रता का पिण्ड प्रभु, ऐसा शुद्धस्वरूप का अनुभव कर तो मुक्त होगा। बाकी अकेले कर्म की प्रकृति, प्रदेश, स्थिति, अनुभाग चाहे जितने जाने, इससे मुक्ति है नहीं। वह तो सब बन्ध का कारण है।

इसलिए कहते हैं, कितने ही लोग ऐसा कहते हैं, **यह असत् है; कर्म से बँधे हुए (जीव) को बन्ध के स्वरूप का ज्ञानमात्र मोक्ष का कारण नहीं है, क्योंकि जैसे बेड़ी आदि से बँधे हुए (जीव) को बन्ध के स्वरूप का ज्ञानमात्र बन्ध से मुक्त होने का कारण नहीं है।** बेड़ी डाली हो, (उसका) यहाँ ज्ञान हुआ कि बेड़ी है, इससे कहीं बेड़ी छूट जाता है? मुझे बेड़ी डाली है, यह बेड़ी है – ऐसा जाना, इससे कहीं छूटता नहीं। **क्योंकि जैसे बेड़ी आदि से बँधे हुए (जीव) को बन्ध के स्वरूप का ज्ञानमात्र...**

बन्ध के स्वरूप का मात्र जानना। **बन्ध से मुक्त होने का कारण नहीं है। उसी प्रकार कर्म से बँधे हुए (जीव) को कर्मबन्ध के स्वरूप का ज्ञानमात्र कर्मबन्ध से मुक्त होने का कारण नहीं है।** कर्म ऐसे हैं और प्रकृति ऐसी है और स्थिति ऐसी है। श्वेताम्बर में यह बहुत है। एक साधु बहुत (जानकार) था, कर्म का अभ्यास बहुत। वहाँ गये थे? रतनचन्दजी के पास। दिगम्बर नहीं? उनके पास वे पढ़ने गये थे और कर्मप्रकृति का बहुत (ज्ञान था)। परन्तु उससे क्या हुआ?

जाननेवाले को जाना नहीं, जाननेवाले चैतन्य आनन्दस्वरूप के ज्ञान और भान बिना बन्धन से तीन काल में छूटा नहीं जाता। आहाहा! चाहे जितने कर्म प्रकृति के भंगभेद, अंक चाहे जो सीखा हो, उससे बन्धन नहीं छूटता। बेड़ी का दृष्टान्त दिया न? जिस कारण से? **जो कर्मबन्ध के प्रपंच का (विस्तार की)...** कर्म का बहुत विस्तार समझे। ऐसी प्रकृति और ऐसी स्थिति और रस तथा पहले गुणस्थान में ऐसा है और दूसरे में सत्ता ऐसी है और तीसरे में सत्ता ऐसी है और चौथे में ऐसी है। इससे क्या? इस **(विस्तार की) रचना के ज्ञानमात्र से सन्तुष्ट हो रहे हैं। उनका उत्थापन (खण्डन) किया गया है।** आहाहा!

कुन्दकुन्दाचार्य के समय तो श्वेताम्बर निकल गये थे न? और उनका कथन विशेष कर्म के ऊपर था। कर्म को जानना, उसे जानना, इसे जानना। कर्म को जानने में क्या हुआ? कर्म तो जड़ है। उस कर्म से भिन्न करना। भिन्न करना कब हो? कि आत्मा का ज्ञान करे और पश्चात् राग से भिन्न पड़ने का ज्ञान करे तो अन्दर ज्ञान होता है। यह राग है और इतनी प्रकृति है और यह प्रदेश है, (इसके ज्ञान से क्या हुआ)?

मुमुक्षु : पूरा करणानुयोग उड़ा दिया।

पूज्य गुरुदेवश्री : उड़ाया नहीं। इन चारों अनुयोगों का ज्ञान हो। परन्तु कर्म ओर राग से भिन्न पड़े, तब मुक्ति होती है। आज यह आया है। चार अनुयोगों का ज्ञान चाहिए, चारों ही अनुयोगों का (ज्ञान चाहिए)। ज्ञान, वह अलग वस्तु है। उसे जानना करना भले जाने। परन्तु मूल बन्धन को छेदने की क्रिया बिना (वह जानना किस काम का)? उस बन्धन को कब छेदे? कि अखण्ड अभेद चैतन्य ज्ञान, आनन्द लक्षणवाला और यह रागादि दुःख और बन्धन का कारण है, ऐसे भिन्न जाने तो छेदे, तो भिन्न पड़े। आहाहा! कठिन काम है।

एक जगह रहे, एक स्थल में रहे, एक क्षेत्र में रहे, साथ के साथ रहे। कर्म और आत्मा जहाँ जाए, वहाँ इकट्ठे (रहें)। आहाहा! इसलिए कहा न कि, उसे जो छेदता है, वह अपने बन्धन को मारता है, बन्धु को मारता है, बन्धु, साथ में रहनेवाले बेचारे को मारता है। परमात्मप्रकाश में कहा है। यहाँ तो कहते हैं जीव और आत्मा एक ही वस्तु है। आत्मा-कर्म, इन्हें भिन्न पाड़ने की क्रिया बिना उसकी मुक्ति नहीं होगी। दोनों को जाननेमात्र से नहीं होगी। आहाहा! यह कहा।

भावार्थ :- कोई अन्यमती यह मानते हैं कि बन्ध के स्वरूप को जान लेने से ही मोक्ष हो जाता है। है यह विशेष। **उनकी इस मान्यता का इस कथन से निराकरण कर दिया गया है। जाननेमात्र से ही बन्ध नहीं कट जाता,...** बेड़ी में पकड़ाया है - (ऐसा) जाना, उसमें बेड़ी छूट जाती है? **किन्तु वह (बन्ध) काटने से ही कटता है।** बन्ध को जानने से कटता नहीं। आहा! हंसराजभाई को कर्म का अभ्यास था। अमरेलीवाले हंसराज नहीं? रामजी हंसराज। उन्हें प्रकृति का अभ्यास था, बातें किया करे। इसका ऐसा है और इसका ऐसा है और इसका ऐसा है। तत्त्व की कुछ खबर नहीं होती। आहाहा!

इसका विशेष ज्ञान न भी हो। आत्मा सच्चिदानन्द प्रभु अनाकुल-आनन्दस्वरूप सदा सर्वदा जिसका एक ही लक्षण आनन्द है; ऐसे आनन्द को पकड़े बिना बन्धन से नहीं छूटा जाता। उस आनन्द को पहले सम्यग्दर्शन में कपड़ना, पश्चात् आनन्द में स्थिर होना और स्थिरता विशेष बढ़ना। परन्तु वह आनन्दस्वरूप है, वह अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप आत्मा है। बाकी सब भाव, शुभाशुभभाव दुःखरूप है। वे दुःखरूपभाव और आनन्दरूपभाव दोनों को द्विधा करना, पृथक् पाड़ना, वह मुक्ति का—छेदने का उपाय है। आहाहा! क्रियाकाण्ड करे, वह तो राग है। उससे पृथक् पाड़ना, वह मोक्ष का कारण है। राग, वह मोक्ष का कारण नहीं है। **जाननेमात्र से ही बन्ध नहीं कट जाता, किन्तु वह (बन्ध) काटने से ही कटता है।** लो!

गाथा - २९१

जह बंधे चिंतंतो बंधण-बद्धो ण पावदि विमोक्खं।
तह बंधे चिंतंतो जीवो वि ण पावदि विमोक्खं ।।२९१।।

यथा बन्धान्श्चिन्तयन् बन्धनबद्धो न प्राप्नोति विमोक्षम्।
तथा बन्धान्श्चिन्तयन् जीवोऽपि न प्राप्नोति विमोक्षम्।।२९१।।

बन्धचिन्ताप्रबन्धो मोक्षहेतुरित्यन्ये, तदप्यसत्; न कर्मबद्धस्य बन्धचिन्ताप्रबन्धो मोक्षहेतुः, अहेतुत्वात्, निगडादिबद्धस्य बन्धचिन्ताप्रबन्धवत्। एतेन कर्मबन्धविषयचिन्ता-प्रबन्धात्मकविशुद्ध-धर्मध्यानान्धबुद्धयो बोध्यन्ते।।२९१।।

अब यह कहते हैं कि बन्ध का विचार करते रहने से भी बन्ध नहीं कटता:-

जो बंधनों से बद्ध वो नहिं बन्धचिंता से छुटे।
त्यों जीव भी इन बन्ध को चिंता करे से नहिं छुटे।।२९१।।

गाथार्थ : [यथा] जैसे [बन्धनबद्धः] बन्धनों से बँधा हुआ पुरुष [बंधान् चिंतयन्] बन्धों का विचार करने से [विमोक्षम् न प्राप्नोति] मुक्ति को प्राप्त नहीं करता (अर्थात् बन्ध से नहीं छूटता), [तथा] इसी प्रकार [जीवः अपि] जीव भी [बंधान् चिंतयन्] बन्धों का विचार करने से [विमोक्षम् न प्राप्नोति] मोक्ष को प्राप्त नहीं करता।

टीका : अन्य कितने ही लोग यह कहते हैं कि 'बन्ध सम्बन्धी विचार शृंखला मोक्ष का कारण है' किन्तु यह भी असत् है; कर्म से बँधे हुए (जीव) को बन्ध सम्बन्धी विचार की शृंखला मोक्ष का कारण नहीं है, क्योंकि जैसे बेड़ी आदि से बँधे हुए (पुरुष) को उस बन्ध सम्बन्धी विचार शृंखला (विचार की परम्परा) बन्ध से छूटने का कारण नहीं है, उसी प्रकार कर्म से बँधे हुए (पुरुष) की कर्मबन्ध सम्बन्धी विचार शृंखला कर्मबन्ध से मुक्त होने का कारण नहीं है। इस (कथन) से, कर्मबन्ध सम्बन्धी विचार शृंखलात्मक विशुद्ध (शुभ) धर्मध्यान से जिनकी बुद्धि अन्ध है, उन्हें समझाया जाता है।

भावार्थ : कर्मबन्ध की चिन्ता में मन लगा रहे तो भी मोक्ष नहीं होता। यह तो धर्मध्यानरूप शुभपरिणाम है। जो केवल (मात्र) शुभ परिणाम से ही मोक्ष मानते हैं, उन्हें यहाँ उपदेश दिया गया है कि-शुभपरिणाम से मोक्ष नहीं होता।

गाथा - २९१ पर प्रवचन

बन्ध का विचार करते रहने से... अब विचार करना, लो! बन्ध की चिन्ता करते रहने से कहीं बन्ध कटेगा? **भी बन्ध नहीं कटता, अब यह कहते हैं–**

जह बंधे चिंतंतो बंधण–बद्धो ण पावदि विमोक्खं।
तह बंधे चिंतंतो जीवो वि ण पावदि विमोक्खं ।।२९१।।

जो बंधनों से बद्ध वो नहिं बन्धचिंता से छुटे।
त्यों जीव भी इन बन्ध को चिंता करे से नहिं छुटे।।२९१।।

टीका :– अन्य कितने ही लोग यह कहते हैं कि 'बन्ध सम्बन्धी विचार शृंखला मोक्ष का कारण है'... ऐसा कहे, बन्ध का जानना; यह तो मात्र बन्ध के विचार में रहना, कर्म के विचार में, कर्म के विचार में (रहना), ऐसा। 'बन्ध के' सम्बन्धी विचार का... आहाहा! विचार शृंखला-विचार की परम्परा, **अन्य कितने ही लोग यह कहते हैं कि 'मोक्ष का कारण है' किन्तु यह भी असत् है;...** आहाहा! **कर्म से बँधे हुए (जीव) को बन्ध सम्बन्धी विचार की शृंखला मोक्ष का कारण नहीं है,...** बन्ध का जानपना तो कारण नहीं, परन्तु बन्ध का बारम्बार... बारम्बार... बारम्बार... विचार किया करना, वह तो विकल्प है। वह कहीं मोक्ष का कारण नहीं है। कल एक लेख आया है, 'चारों अनुयोगों का ज्ञान करना।' समय होवे तो चारों अनुयोगों का ज्ञान करना बराबर है।

मुमुक्षु : द्रव्यानुयोग का ज्ञान तो पहले में पहले करना चाहिए।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, द्रव्यानुयोग का ज्ञान करे तो उस दृष्टि से दूसरे अनुयोगों की पद्धति क्या है, वह समझ में आये। मोक्षमार्गप्रकाशक में कहा है कि द्रव्यदृष्टि, द्रव्यानुयोग की दृष्टि यदि मिले तो उस दृष्टि से फिर दूसरे अनुयोग पढ़े तो उसमें किस दृष्टि से कहा गया है, वह समझ में आये। परन्तु मूल दृष्टि नहीं और अपने आप (पढ़े) तो अपनी कल्पना से माने। मोक्षमार्गप्रकाशक में है। मूल बात तो वहाँ द्रव्यानुप्रेक्षा में है। मुख्य बात है, उसका अभी ज्ञान नहीं और वह दृष्टि क्या है, उसकी खबर नहीं। यह दृष्टि किये बिना दूसरे अनुयोग पढ़े तो दृष्टि की खतोनी किये बिना दूसरी जगह खतोनी कर डाले। द्रव्यानुयोग की दृष्टि मिले

होवे तो सबका सार वापस अभेद सामान्य पर (दृष्टि) करने का है। चाहे जितनी बात और विचार और बात आवे, लाख बात आवे, सब बात आवे, भले आवे परन्तु उसका सार अभेद चैतन्यस्वरूप जिसमें... आया न? नियमसार में नहीं कहा? 'विपरीत, विपरीत... विपरीत के परिहार के लिये'—यह नियमसार में आया है। वहाँ फिर नीचे अर्थ किया है—विपरीत और भेद, दोनों के नाश के (लिये)। भेद भी नाश (करनेयोग्य है)। भेद भी विकल्प है। भले जाने; जाने, तो भी वापस अन्तिम योगफल क्या? एकरूप स्व का, चैतन्य का आश्रय लेकर दृष्टि करके, फिर स्वरूप में स्थिर हो, वह मोक्ष का कारण है। बाकी लाख बात की बात चाहे जितनी हो। चार अनुयोग में बहुत प्रकार होते हैं, कर्म में भी बहुत प्रकार की बातें हैं।

यहाँ कहते हैं कि यह कर्म का विचार किया करना, विचार की शृंखला, वह मुक्ति का कारण है। है न? तो वह भी असत् है, झूठी बात है, कहते हैं। **कर्म से बँधे हुए (जीव) को बन्ध सम्बन्धी विचार की शृंखला मोक्ष का कारण नहीं है,...** बेड़ी का दृष्टान्त दिया था न पहले? बेड़ी बँधे हुए को बेड़ी के ज्ञान से बेड़ी छूटती नहीं है। ऐसे ही बेड़ी का विचार किया करने से कहीं बेड़ी नहीं छूटती। आहाहा! **क्योंकि जैसे बेड़ी आदि से बँधे हुए (पुरुष) को उस बन्ध सम्बन्धी विचार शृंखला (विचार की परम्परा) बन्ध से छूटने का कारण नहीं है...** बेड़ी का विचार करे कि यह बेड़ी ऐसी है और यह बेड़ी ऐसी है और यह बेड़ी ऐसी है। आहाहा! इससे क्या? **उसी प्रकार कर्म से बँधे हुए (पुरुष) की कर्मबन्ध सम्बन्धी विचार शृंखला...** विचार की परम्परा। उसका ही विचार किया करे (कि) यह सत्ता और यह उदय और इतनी उदीरणा, इस गुणस्थान में इतनी उदीरणा और इस गुणस्थान में इतनी सत्ता और इस गुणस्थान में इतना उदय और... यह सब जानने की बात विचार किया करे, इससे कर्मबन्धन से नहीं छूटता।

उसी प्रकार कर्म से बँधे हुए (पुरुष) की कर्मबन्ध सम्बन्धी विचार शृंखला कर्मबन्ध से मुक्त होने का कारण नहीं है। इस (कथन) से, कर्मबन्ध सम्बन्धी विचार शृंखलात्मक विशुद्ध (शुभ) धर्मध्यान से... शुभ कहा न? व्यवहार। देखो! धर्मध्यान कहा, व्यवहार। निश्चयधर्मध्यान तो आत्मा के आश्रय से होता है। यह तो

विकल्प है, उसे व्यवहार का आरोप करके बात की है। यह चिपटता है कि देखो! शुभ को भी व्यवहार धर्मध्यान कहा है। विशुद्ध (-शुभ), विशुद्ध धर्मध्यान द्वारा, ऐसा। विशुद्ध का अर्थ यहाँ शुभ है। क्योंकि विशुद्ध के बहुत अर्थ होते हैं न? विशुद्ध का अर्थ शुद्ध होता है, पवित्रता होता है। इस जगह विशुद्ध का अर्थ शुभ है।

इस (शुभ) धर्मध्यान से जिनकी बुद्धि अन्ध है,... आहाहा! वह विचार के शुभभाव में ही अटक गया है। वह अन्ध है। आहाहा! है? उसे आत्मा क्या है, इसकी खबर नहीं है। मूल चीज़ की खबर बिना कर्म की विचारणा में चाहे जितना जाए, गहरा उतरे परन्तु वह अन्ध है, अन्धा है। आत्मा को जाना नहीं; इसलिए अन्धा है। आत्मा को जाना होवे और फिर दूसरा ज्ञान भले थोड़ा हो, तो भी वह सूझता है। आहाहा! विशेष ज्ञान न भी हो।

शिवभूति अनगार (उन्हें) मातुष-मारुष इतने शब्द भी याद नहीं रहते थे। मातुष मारुष—राग करना नहीं, द्वेष करना नहीं। ये शब्द भी याद नहीं रहते थे। भाव अन्दर था। आत्मा से भिन्न भाव का भान था। आहाहा! कहो! माषतुष। मारुष-मातुष। मारुष अर्थात् किसी के साथ द्वेष करना नहीं, किसी के साथ राग करना नहीं। इतने शब्द थे, वे भी याद नहीं रहे। उसमें फिर एक महिला उड़द की दाल के छिलके ऐसे निकालती (थी)। उसमें एक महिमा ने पूछा कि क्या करती हो बहिन? कि माषतुष भिन्न करते हैं। मास अर्थात् उड़द और तुष अर्थात् छिलका। अब यह सुनकर अन्दर केवलज्ञान हो गया। आहाहा! मुनि तो थे, भावमुनि थे। धारणा में जानपना नहीं था। बाकी अन्तर में, पाँच समिति, गुप्ति का सम्यग्ज्ञान था। द्रव्यश्रुत नहीं था। आहाहा! द्रव्यश्रुत में मातुष और मारुष ये शब्द भी याद नहीं रहते थे, परन्तु अन्दर में (याद नहीं रहता था)। महिला ने पूछा, क्या करती हो बहिन? कि माष अर्थात् उड़द और छिलका भिन्न करते हैं। माषतुष। उसमें अन्दर में उतर गये। अहो! चैतन्यमूर्ति माष उड़द है और पुण्य-पाप के विकल्प, वे स्वयं छिलके हैं। और अन्दर में उतर गये, केवल (ज्ञान) को प्राप्त हुए। आती है न बात? कहो, अब उन्हें कुछ दूसरा जानपना नहीं था। करणानुयोग का (जानपना) नहीं था। आहाहा! सम्यग्ज्ञान था। आत्मा को राग से भिन्न जाना था, परन्तु अभी भिन्न करके पूर्ण करना, वह नहीं था। उसमें जब यह शब्द सुना—मारुष-मातुष, ओहो! यह तो माष-उड़द (और) तुष-छिलका। उड़द की

दाल करते हैं न ? धुली दाल, धुली सफेद छिलका निकालकर; उसी प्रकार यह दया, दान आदि के विकल्प सब छिलके हैं। भगवान अन्दर चिदानन्द, वह निर्मल कस वस्तु है, ऐसा अन्तर में भान था। उसमें अन्दर उतर गये, केवल(ज्ञान) हो गया। आहाहा!

कहो, चार अनुयोगों का ज्ञान भी नहीं था, इतने शब्दों का ज्ञान नहीं था। कल किसी का बड़ा लेख आया है। चार अनुयोगों का ज्ञान करना और एकान्त से आत्मा-आत्मा करते हों और द्रव्यानुयोग का (ज्ञान) करते हों तो उसे एकान्त है। सबका करना चाहिए। अरे! तू सुन न, भाई! आहाहा! शक्ति होवे तो करे, समय होवे (तो) जानपना-स्वाध्याय (करे), परन्तु करना तो यह है। आहाहा! चाहे जितना जाना हो, परन्तु जानकर करना क्या ? यह आया था न ? व्यवहारनय में आया था न कल ? नहीं ? करने का था, वह किया, कृतकृत्य हो गया। करने का था, वह किया; इसलिए कृतकृत्य हो गया। करने का था क्या ?-कि राग से भिन्न पड़कर स्वरूप में स्थिर होना, वह करने का था। आहाहा! बड़ी विद्वता और सभा रंजन करना न आवे, आहाहा! उसके साथ कुछ सम्बन्ध नहीं है। आहाहा!

अन्तर का भगवान, जैसे नारियल में गोला भिन्न (होता है), नारियल में जैसे भिन्न (गोला है), वैसे आत्मा राग के भाव से अत्यन्त भिन्न गोला पृथक् पड़ा है। आहाहा! ऐसा जहाँ भान और अनुभव हुआ, उसे दूसरा ज्ञान विशेष न हो, करणानुयोग का क्या, (परन्तु) द्रव्यानुयोग का विशेष (ज्ञान) न हो। आहाहा! एक आत्मा स्वरूप, मुझे और विकल्प को भी सम्बन्ध नहीं है, शुभाशुभराग और विकल्प का भी सम्बन्ध नहीं है-ऐसा मेरा भाव अन्दर चैतन्य भिन्न है, ऐसा भान करके स्थिर हो, (उसमें) सब आ गया। यह करने का था, वह किया (तो) वह कृतकृत्य हो गया, कृतकृत्य हो गया अर्थात् करने का था, वह उसने किया। बड़ी-बड़ी बातें करे और... आहाहा! बहुत सूक्ष्म बात, भाई! बाहर के जानपने में अभिमान हो जाए, अभिमान। हम जानते हैं, यह ऐसा जानते है, कर्म को जानते हैं और कथानुयोग को जानते हैं और गणितानुयोग को जानते हैं। अरे! बापू! हो। भगवान आत्मा को जानकर स्थिर होना, यह एक ही बात है। इसमें कोई दूसरी आवश्यकता नहीं है। आहाहा!

चैतन्यस्वरूप, आनन्दस्वरूप गोला भिन्न है। जिसे राग के छोटे में छोटा विकल्प

(आवे), उसे और इसे कोई सम्बन्ध नहीं है, उसे यह स्पर्श नहीं करता। आहाहा! ऐसा गोला पृथक् पड़ा है। ऐसा भान करे, उसने सब किया। उससे भिन्न होकर केवल (ज्ञान) को प्राप्त हुए, उसे कृत्य हो गया, सब किया। करने का था, वह किया। कृतकृत्य कहा न? कृतकृत्य—कार्य करने का था, वह किया। आहा! क्या करने का था? यह। वस्तु भगवान आत्मा पूर्णानन्दस्वरूप शुद्ध परमपारिणामिक निरंजन निज परमात्मतत्त्व को पकड़ा और उसमें स्थिर होना, यह करने का था। आहाहा! बारह अंग पढ़े या ग्यारह अंग पढ़े या पाँच समिति-गुप्ति पढ़े। पढ़-पढ़कर करने का तो यह है। यह नहीं किया तो कुछ नहीं किया। आहाहा! अब वे इस जानपने में ठहराते हैं। कल बहुत बात आयी है एक पुस्तक में कि चार अनुयोग पढ़ना, वाँचना। एकान्त द्रव्यानुयोग का नहीं। आत्मा.. आत्मा नहीं करो।

शिवभूति (मुनि को) तो आत्मा का भान (था)। इसके अतिरिक्त द्रव्यश्रुत की धारणा भी नहीं थी। मारुष और मातुष इतने शब्द भी याद नहीं रहते थे। आहाहा! माल जो था, वह साथ में रहता था। अतीन्द्रिय आनन्द जिसका एक लक्षण है, ऐसा आया था न कल? अतीन्द्रिय आनन्द जिसका एक लक्षण है। अतीन्द्रिय आनन्द जो सर्वार्थसिद्धि में भी नहीं है। आत्मज्ञान है, उतना आनन्द है। राग है, उसमें वह आनन्द नहीं। ऐसा अतीन्द्रिय आनन्द एकरूप लक्षण जिसका। आहाहा! उसमें दुःख, राग अर्थात् दुःख, विकल्प अर्थात् दुःख (नहीं है)। पठन के नाम से भी व्यभिचारिणी बुद्धि होती है। आहाहा!

एक ओर व्यभिचारिणी (कहे), शास्त्र में बुद्धि रोके, (उसे) व्यभिचारिणी कहा है। एक ओर जानने की शक्ति होवे तो मूल मुद्दा रखकर जाने, मूल मुद्दे को भूले नहीं। मूल मुद्दे को अधिकता दे, बाहर के जानने को अधिकता दे नहीं, अधिकपना दे नहीं और अधिकपना दे तो अपना अधिकपना चला जाता है। आहाहा! वस्तु ऐसी है। अकेला प्रभु, जिसे एक विकल्प की भी आवश्यकता नहीं। आहाहा! दूसरे धारणा के ज्ञान की तो आवश्यकता नहीं, परन्तु जिसे गुण-गुणी के भेद का विकल्प हो, उसकी भी उसे आवश्यकता नहीं है। ऐसा जो अभेद भगवान, उसे राग से भिन्न पाड़कर अनुभव करना और फिर स्थिर होकर मोक्ष लेना, यह करने का कर्तव्य है। आहाहा! बाकी फिर अनेक प्रकार से होता है, वह कहेंगे।

(शुभ) धर्मध्यान से... है ? विशुद्ध का अर्थ किया। नहीं तो विशुद्ध का अर्थ तो शुद्ध भी होता है। पवित्रता भी होता है। परन्तु यहाँ विशुद्ध अर्थात् शुभ; शुभ अर्थात् चिन्ता, राग। रागरूपी **धर्मध्यान से जिनकी बुद्धि अन्ध है,...** यहाँ तो कहते हैं। आहाहा! इस विकल्प की बुद्धि में ही रुक गये हैं, इसमें ही अन्ध हो गये हैं। देखनेवाले का जानता नहीं, नहीं देखनेवाले में—अन्ध में रुक गया। आहाहा! विकल्पमात्र अन्ध-अज्ञान हैं। उसमें ज्ञान का अंश नहीं है। अज्ञान अर्थात् विपरीत नहीं; ज्ञान का अंश नहीं। इसलिए उसके साथ ज्ञान को कोई सम्बन्ध नहीं।

ज्ञानस्वरूप भगवान, आनन्दस्वरूपी। ज्ञान और आनन्द उसके दो मुख्य लक्षण हैं। इसके अतिरिक्त जो चीज़ विकल्प आदि बिलकुल परचीज़ है। आहा! उसमें जो रुकते हैं, कर्मप्रकृति और उसके विचार और उसकी धारणा में (रुकते हैं), वे अन्ध हैं। आहाहा! **उन्हें समझाया जाता है।** अन्धे हैं, उन्हें समझाया जाता है कि तू चिन्ता क्यों करता है, शुभभाव, उसमें तुझे कुछ कल्याण हो, ऐसा नहीं है। कर्म की प्रकृति और रस और... आहा! कर्म की बात बड़ी (विस्तृत) है न ? पहले गुणस्थान में इतनी प्रकृतियाँ सत्ता में होती हैं, उदय में इतनी होती है, किसी को सत्ता में १४८ हो, किसी को समकित नहीं हुआ हो, उसे थोड़ी हो, उसे उदय में थोड़ी हो, सत्ता में अधिक हो और उदय में थोड़ी हो। आहाहा! उसे इतना बन्धन होता है। सत्ता, उदय और बन्धन एक-एक गुणस्थान में (ले), ऐसे चौदह गुणस्थान में बात लेता है। जानने की बात आती है, जानने की... परन्तु समय न हो तो करने का तो यह है। कर-करके करने का तो यहाँ है। आहाहा!

ऐसे अन्ध को समझाते हैं—ऐसा कहते हैं। राग में ही अन्ध हो गये हैं। चिन्ता, शुभभाव, हमारे शुभभाव तो है न ? कर्म की विचारणा में हम रुकते हैं न! हम कहाँ संसार की—स्त्री-पुत्र की चिन्ता में कहाँ रुके हैं ? ऐसा। वह वहाँ रुके है, या यहाँ रुके है, सब एक जाति है। आहाहा! बहुत कठिन काम। शुभ और अशुभ, दोनों बन्ध का कारण है और जाति एक है—राग। आहाहा! प्रभु अन्दर वीतरागस्वरूप अत्यन्त भिन्न जाति है। उसकी दृष्टि का अनुभव और स्थिरता, वह करने का मुख्य है। किया उसने सब किया। वह किया नहीं, उसने कुछ नहीं किया। आहाहा!

विशुद्ध (शुभ) धर्मध्यान से जिनकी बुद्धि अन्ध है, उन्हें समझाया जाता है। उन्हें समझाया जाता है। लो! एक ओर समाधिशतक में ऐसा कहते हैं कि जो अज्ञानी है, वे दूसरे समझावें तो भी नहीं समझते, अपने आप नहीं समझे और दूसरा समझावे तो भी नहीं समझते। आता है न? समाधिशतक। आहाहा! जिसकी समझ उल्टी है, वह तो दूसरे से भी समझेगा नहीं और स्वयं से समझेगा नहीं। यहाँ तो उपदेश की शैली चलती है। वहाँ ऐसा भी कहने में आता है कि ऐसे अन्धों को अन्धबुद्धि छुड़ाने के लिये समझाया जाता है। किसी को ऐसा लगे कि यह विरुद्ध है। समाधिशतक ऐसा कहे कि दूसरे को समझाने का विकल्प है, वह उन्माद है, उन्माद है। आहाहा! यहाँ कहते हैं, दूसरे को समझाया जाता है। हेतु में अन्तर है, भाई!

भावार्थ :- कर्मबन्ध की चिन्ता में मन लगा रहे... कर्म बन्धन की चिन्ता में मन लगा रहे, **तो भी मोक्ष नहीं होता।** वहीं का वहीं मन लगा रहे, दूसरे विचार आवे ही नहीं और कर्मबन्धन की चिन्ता में ही रुका रहे तो भी उसे मुक्ति और धर्म नहीं होता। **यह तो धर्मध्यानरूप शुभपरिणाम है।** व्यवहार धर्मध्यान, हों! वह धर्मध्यानरूप शुभपरिणाम है। इसलिए धर्मध्यान तो कहा, तब धर्मध्यान है न? वह तो व्यवहार धर्मध्यान है। अर्थात् 'नहीं है' उसे कहा है। व्यवहारधर्म अर्थात् धर्म नहीं है, उसे जानने, ज्ञान कराने के लिये कहा है। आहाहा! **जो केवल (मात्र) शुभ परिणाम से ही मोक्ष मानते हैं,...** शुभ परिणाम से मोक्ष मानता है। बस! कर्म के विचार करना, उसके विचार करना, उसके विचार करना।

मुमुक्षु : श्रीमद् में आता है कि 'कर विचार तो पाम।'

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो वह आत्मा के विचार करे तो पाम, वहाँ आत्मा की बात है। आत्मा आनन्दस्वरूप है, अकेला ज्ञानस्वरूप है। कर विचार—उसका ज्ञान कर तो पा। उसका ज्ञान। विचार अर्थात् ज्ञान। आहाहा! 'पाम'—ऐसा कहा है न? 'कर विचार तो पाम' वहाँ विचार अर्थात् विकल्प नहीं। अन्दर स्वरूप का विचार कर, अन्दर ज्ञान में असंख्यात प्रदेशी अनन्त गुण का धनी अनन्त काल से गरीबी में भटकता है, दीनरूप से भटकता है, दीन होकर माँगता है, यह दो... यह दो... यह दो...। भरा है, उसमें से लेता नहीं। जो जिसमें

नहीं है, उसे माँगता है। आहाहा! भगवान अनन्त गुण से भरा है, प्रभु! भरपूर पूर्ण परमात्मा है। उसमें से लेता नहीं और बाहर की वस्तु जिसमें है नहीं, जिसमें तू है नहीं, उसे माँगा करता है। आहाहा! बहुत सूक्ष्म पड़ता है। मार्ग ऐसा सूक्ष्म है।

केवल (मात्र) शुभ परिणाम से ही मोक्ष मानते हैं,... उसमें और कोई कहे, केवल नहीं। भले अकेला शुद्ध और फिर शुभ दोनों से मोक्ष होता है। वह ऐसा कहा जाता है। जहाँ निश्चयमोक्षमार्ग है, वहाँ व्यवहार शुभ परिणाम को व्यवहार से मोक्षमार्ग कहा जाता है। केवल शुद्धता के भान बिना, शुद्धता, स्वभाव की शुद्धता बिना अकेले शुभ परिणाम से ही मोक्ष मानता है अर्थात् कि द्रव्य पर तो जरा भी लक्ष्य करता ही नहीं और परद्रव्य के ओर के झुकाव में ही अकेला सब काल गँवाता है। आहाहा! भरपूर भरा हुआ भगवान, अनन्त गुण का भरपूर भगवान, उसके सन्मुख देखता नहीं। जिसमें कुछ नहीं है और उसमें तू भी नहीं है और तुझमें नहीं है, उसके परिणाम में मोक्ष मानता है। **उन्हें यहाँ उपदेश दिया गया है कि–शुभपरिणाम से मोक्ष नहीं होता।** लो!

गाथा - २९२

कस्तर्हि मोक्षहेतुरिति चेत् -

जह बंधे छेत्तूण य बंधण-बद्धो दु पावदि विमोक्खं।
तह बंधे छेत्तूण य जीवो संपावदि विमोक्खं॥२९२॥

यथा बन्धान्श्छित्वा च बन्धनबद्धस्तु प्राप्नोति विमोक्षम्।
तथा बन्धान्श्छित्वा च जीवः सम्प्राप्नोति विमोक्षम्॥२९२॥

कर्मबद्धस्य बन्धच्छेदो मोक्षहेतुः, हेतुत्वात्, निगडादिबद्धस्य बन्धच्छे-दवत्। एतेन उभयेऽपि पूर्वे आत्मबन्धयोर्द्विधाकरणे व्यापार्येते॥२९२॥

"(यदि बन्ध के स्वरूप के ज्ञानमात्र से भी मोक्ष नहीं होता और बन्ध के विचार करने से भी मोक्ष नहीं होता), तब फिर मोक्ष का कारण क्या है?" ऐसा प्रश्न होने पर अब मोक्ष का उपाय बताते हैं:-

जो बन्धनों से बद्ध वो नर बन्धछेदन से छुटे।
त्यों जीव भी इन बन्धनों का छेद कर मुक्ती वरे॥२९२॥

गाथार्थ : [यथा च] जैसे [बंधनबद्धः तु] बन्धनबद्ध पुरुष [बंधान् छित्वा] बन्धनों को छेद कर [विमोक्षम् प्राप्नोति] मुक्ति को प्राप्त हो जाता है, [तथा च] इसी प्रकार [जीवः] जीव [बंधान् छित्वा] बन्धों को छेदकर [विमोक्षम् संप्राप्नोति] मोक्ष को प्राप्त करता है।

टीका : कर्म से बँधे हुए (पुरुष) को बन्ध का छेद मोक्ष का कारण है, क्योंकि जैसे बेड़ी आदि से बद्ध को बन्ध का छेद बन्ध से छूटने का कारण है। उसी प्रकार कर्म से बँधे हुए को कर्मबन्ध का छेद कर्मबन्ध से छूटने का कारण है। इस (कथन) से, पूर्वकथित दोनों को (जो बन्ध के स्वरूप के ज्ञानमात्र से सन्तुष्ट हैं तथा जो बन्ध का विचार किया करते हैं उनको) आत्मा और बन्ध के द्विधाकरण में व्यापार कराया जाता है (अर्थात् आत्मा और बन्ध को भिन्न-भिन्न करने के प्रति लगाया जाता है-उद्यम कराया जाता है)।

गाथा - २९२ पर प्रवचन

"**(यदि बन्ध के स्वरूप के ज्ञानमात्र से भी मोक्ष नहीं होता...)** बन्ध के स्वरूप में ज्ञान (मात्र से भी मोक्ष नहीं होता)। पहली तीन गाथाएँ आयी न? बन्ध के स्वरूप के ज्ञानमात्र से भी मोक्ष नहीं होता। आहा! **(और बन्ध के विचार करने से भी मोक्ष नहीं होता)**... उसी का उसी में विचार किया करे, परन्तु उसमें मोक्ष नहीं है। आहाहा! यहाँ मोक्ष अधिकार है न? **तब फिर मोक्ष का कारण क्या है?" ऐसा प्रश्न होने पर**... ऐसा यह सुनकर जिसे जिज्ञासा हुई है कि बन्ध के ज्ञान से मुक्ति नहीं है, बन्ध के विचारपने से भी मुक्ति नहीं है, तब अब मुक्ति होती किस प्रकार है? ऐसी जिसे अन्तर में समझने की जिज्ञासा—धगश है, उसे यह उत्तर दिया जाता है। आहाहा! **अब मोक्ष का उपाय बताते हैं:-**

जह बंधे छेत्तूण य बंधण-बद्धो दु पावदि विमोक्खं।
तह बंधे छेत्तूण य जीवो संपावदि विमोक्खं॥२९२॥

जो बन्धनों से बद्ध वो नर बन्धछेदन से छुटे।
त्यों जीव भी इन बन्धनों का छेद कर मुक्ती वरे॥२९२॥

'बन्ध छेदन में छूटे', यहाँ वजन है। बन्ध का नाश करने से होता है। बन्ध का विचार करने से, बन्ध का ज्ञान करने से नहीं। बन्ध को छेदने से होता है। आहाहा! अर्थात् शुद्धस्वरूप चैतन्य है, उसमें अन्दर समाने से मुक्ति होती है। कहीं बन्धन के ज्ञान से नहीं और बन्धन के विचार से नहीं। स्वरूप के ज्ञान से और स्वरूप के विचार से। विचार अर्थात् एकाग्रता, उससे होती है। आहाहा!

टीका :- कर्म से बँधे हुए (पुरुष) को बन्ध का छेद मोक्ष का कारण है,... अस्ति से (बात) ली है। **कर्म से बँधे हुए (पुरुष) को बन्ध का छेद मोक्ष का कारण है, क्योंकि जैसे बेड़ी आदि से बद्ध को बन्ध का छेद बन्ध से छूटने का कारण है।** बेड़ी का ज्ञान करने से नहीं और बेड़ी की चिन्ता करने से नहीं, परन्तु बेड़ी को छेदने से (मुक्ति) होती है। आहाहा! **कर्म से बँधे हुए (पुरुष) को बन्ध का छेद**... बन्ध का छेद। आहाहा! मोक्ष का उपाय है।

क्योंकि जैसे बेड़ी आदि से बद्ध को बन्ध का छेद बन्ध से छूटने का कारण है। उसी प्रकार कर्म से बँधे हुए को कर्म बन्ध का छेद कर्मबन्ध से छूटने का कारण है। आहा! **इस (कथन) से, पूर्वकथित दोनों को (जो बन्ध के स्वरूप के ज्ञानमात्र से सन्तुष्ट हैं तथा जो बन्ध का विचार किया करते हैं उनको)...** बन्धन का ज्ञान किया अर्थात् जाने, हुआ... ओहो! इसका ऐसा है और इसका ऐसा है और इसका ऐसा है।

आत्मा और बन्ध के द्विधाकरण में... आहाहा! उसका ज्ञान और मात्र विचार, दो नहीं। उसका **द्विधाकरण में व्यापार कराया जाता है...** कराया जाता है, लो! यह करना। आत्मा और बन्ध के द्विधा—दोनों को भिन्न कराने का व्यापार कराया जाता है। आहाहा! **(अर्थात् आत्मा और बन्ध को भिन्न-भिन्न करने के प्रति लगाया जाता है-उद्यम कराया जाता है)।** बन्ध का ज्ञान और बन्ध का विचार करना छोड़कर बन्ध को छेदने में या छोड़ने में। वहाँ जोड़ा जाता है। **उद्यम कराया जाता है।** इतने शब्द प्रयोग किये हैं।

आत्मा और बन्ध को भिन्न-भिन्न करने के प्रति लगाया जाता है... पाठ में आया था न, अभ्यास कराने, व्यापार कराने में आता है। इसकी व्याख्या की, कि आत्मा और बन्ध को भिन्न करने में एक तो यह कि **भिन्न-भिन्न करने के प्रति लगाया जाता है-उद्यम कराया जाता है।** भिन्न करने का उद्यम। उसका ज्ञान और विचार नहीं। उन्हें भिन्न करने का उद्यम। आहाहा! आत्मा की ओर का झुकाव और राग से भिन्न, इस प्रकार भिन्न करने में, उन्हें भिन्न लगाने में, पृथक् जोड़ने में, उद्यम कराया जाता है।

'मात्र यही (बन्धच्छेद ही) मोक्ष का कारण क्यों है?' अब शिष्य को शंका थी कि एकान्त यह, एकान्त यह एक ही बात? कोई दूसरी बात है या नहीं? अनेक, अनेक-अनेक है या नहीं? अनेकान्त है या नहीं? आहाहा! **'मात्र यही (बन्ध ही)** आहाहा! है न? ऊपर शिष्य का प्रश्न है। ऊपर संस्कृत है। **'किमयमेव मोक्षहेतु'** यही मोक्ष का एकान्त हेतु? यह तो एकान्त हो गया। एक ही कारण मोक्ष का हेतु? दो कारण है या नहीं कुछ? मोक्ष के मार्ग दो है न? दो नही, मोक्ष का मार्ग दो नहीं, मार्ग एक है। दो तो कथन करने में आया है। आरोप से कथन है, दो मोक्ष के मार्ग है नहीं। इसलिए शिष्य को प्रश्न हुआ कि यह मात्र यह 'ही'? एक ही? बन्ध का छेद ही मोक्ष का कारण एक ही कैसे है? दो कारण कहीं आये है न, बहुत जगह? **ऐसा प्रश्न होने पर...** इसका उत्तर कहेंगे....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

गाथा-२९३

किमयमेव मोक्षहेतुरिति चेत् -

बंधाणं च सहावं वियाणिदुं अप्पणो सहावं च।
बंधेसु जो विरज्जदि सो कम्म-विमोक्खणं कुणदि।।२९३।।

बन्धानां च स्वभावं विज्ञायात्मनः स्वभावं च।
बन्धेषु यो विरज्यते स कर्म-विमोक्षणं करोति।।२९३।।

य एव निर्विकारचैतन्यचमत्कारमात्रमात्मस्वभावं तद्विकारकारकं बन्धानां च स्वभावं विज्ञाय, बन्धेभ्यो विरमति, स एव सकलकर्ममोक्षं कुर्यात्। एतेनात्मबन्धयोर्द्विधा-करणस्य मोक्षहेतुत्वं नियम्यते।।२९३।।

'मात्र यही (बन्धच्छेद ही) मोक्ष का कारण क्यों है?' ऐसा प्रश्न होने पर अब उसका उत्तर देते हैं-

रे जानकर बन्धन स्वभाव, स्वभाव जान जु आत्म का।
जो बन्ध में हि विरक्त होवें, कर्म मोक्ष करे अहा।।२९३।।

गाथार्थ : [बन्धानां स्वभावं च] बन्धों के स्वभाव को [आत्मनः स्वभावं च] और आत्मा के स्वभाव को [विज्ञाय] जानकर [बंधेषु] बन्धों के प्रति [यः] जो [विरज्यते] विरक्त होता है, [सः] वह [कर्मविमोक्षणं करोति] कर्मों से मुक्त होता है।

टीका : जो, निर्विकार चैतन्यचमत्कारमात्र आत्मस्वभाव को और उस (आत्मा) के विकार करनेवाले बन्ध के स्वभाव को जानकर, बन्धों से विरक्त होता है, वही समस्त कर्मों से मुक्त होता है। इस (कथन) से ऐसा नियम किया जाता है कि आत्मा और बन्ध का द्विधाकरण (पृथक्करण) ही मोक्ष का कारण है। (अर्थात् आत्मा और बन्ध को भिन्न-भिन्न करना ही मोक्ष का कारण है, ऐसा निर्णीत किया जाता है।)

प्रवचन नं. ३५९, गाथा-२९३, २९४ मंगलवार, मगसिर कृष्णा १
दिनाङ्क ०४-१२-१९७९,

समयसार, २९३, गाथा २९३ है न? उसका उपोद्घात है न? शिष्य का प्रश्न है, **'मात्र यही (बन्धच्छेद ही) मोक्ष का कारण क्यों है?'** क्या कहा? कि यह आत्मा और रागादि जो बन्ध का कारण; रागादि बन्ध का कारण (और) आत्मा ज्ञानस्वरूप, दो का द्विधाकरण / भिन्नता करना, वह मोक्ष का कारण है। (ऐसा कहा) तो शिष्य का प्रश्न है कि मात्र यही मोक्ष का कारण? दूसरा कोई नहीं? राग चाहे तो दया, दान और व्रत, भक्ति का राग हो, तो राग बन्ध का कारण है और उससे भिन्न ज्ञानस्वभावी आत्मा है। दोनों को भिन्न करना, यही मात्र बन्धच्छेद का कारण है? यह शिष्य का प्रश्न है। यही बन्ध के छेदने का कारण है? दूसरा कोई कारण नहीं? **ऐसा प्रश्न होने पर अब उसका उत्तर देते हैं**–२९३ (गाथा)।

बंधाणं च सहावं वियाणिदुं अप्पणो सहावं च।
बंधेसु जो विरज्जदि सो कम्म-विमोक्खणं कुणदि।।२९३।।

रे जानकर बन्धन स्वभाव, स्वभाव जान जु आत्म का।
जो बन्ध में हि विरक्त होवें, कर्म मोक्ष करे अहा।।२९३।।

टीका : जो, निर्विकार चैतन्यचमत्कारमात्र आत्मस्वभाव... आत्मा तो निर्विकार चैतन्यस्वभावमात्र है। वह कोई राग, दया, दान, व्रत, भक्ति आदि राग है, उस रागस्वरूप नहीं है। राग तो बन्ध का कारण है। आहाहा! **निर्विकार चैतन्यचमत्कारमात्र...** चमत्कार अर्थात् स्व और पर को अपने में रहकर जाने, ऐसा चैतन्यचमत्कारमात्र आत्मा, उस **आत्मस्वभाव को और उस (आत्मा) के विकार करनेवाले बन्ध के स्वभाव को...** यह पुण्य और पाप के भाव आत्मा को विकार करनेवाले हैं। आहाहा! ये कहीं मोक्ष का कारण नहीं हैं। व्यवहार, दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम आते हैं, परन्तु वह बन्ध का कारण है। वह कहीं मोक्ष का कारण नहीं है। आहाहा!

उस **बन्ध के स्वभाव को जानकर,...** आत्मा का स्वभाव चैतन्यचमत्कार और बन्ध का स्वभाव राग, द्वेष, पुण्य-पाप विकल्प है, इन दोनों का भिन्न स्वभाव जानकर

बन्धों से विरक्त होता है,... जानकर विरक्त होता है। आत्मा चैतन्यस्वरूप जाननस्वभाव है; राग अचेतन अन्धकारस्वरूप बन्धस्वरूप, दोनों को भिन्न जानकर, बन्ध से विरक्त होता है। आहाहा! ऐसी बात है।

व्यवहाररत्नत्रय है, वह भी बन्ध का कारण है, राग है। आत्मा चैतन्यचमत्कारमात्र है, उसमें राग नहीं है। उस राग से अपना चैतन्यचमत्कार भिन्न जानकर, बन्ध से विरक्त होना। आहाहा! भाषा बहुत संक्षिप्त परन्तु भाव (बहुत गहरे हैं)। कहते हैं न कि भाई! ऐसा व्यवहार करो, व्यवहार करते-करते निश्चय होगा। भगवान इनकार करते हैं कि ऐसी बात नहीं है। व्यवहार बन्ध का कारण है। उस बन्ध के कारण का छेद करना और फिर बन्ध से विरक्त होना, यह मोक्ष का कारण है। आहाहा! है?

निर्विकार चैतन्यचमत्कारमात्र आत्मस्वभाव को... आत्मस्वभाव यह— निर्विकार चैतन्यचमत्कार; और आत्मा के **विकार करनेवाले...** ये पुण्य और पाप के भाव शुभ-अशुभभाव आत्मा के विकार करनेवाले हैं। मोक्ष करने में सहायता करनेवाले नहीं। मोक्षमार्ग में सहायता करनेवाले नहीं; विकार करनेवाले हैं। आहाहा! **विकार करनेवाले बन्ध के स्वभाव को जानकर, बन्धों से विरक्त होता है,...** यह बन्ध अर्थात् रागभाव, चाहे तो व्यवहार का राग हो, दया, दान, व्रत, भक्ति, काम, क्रोध, देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति, वह भी राग है। राग, आत्मा को विकार करनेवाला है। राग, आत्मा को शान्ति और सम्यग्दर्शन प्रगट करनेवाला नहीं। आहाहा! राग तो विकार करनेवाला है, तो विकार करनेवाले से विरक्त हो। उससे अन्दर विरक्त हो, उस ओर का लक्ष्य छोड़ दे और चैतन्यचमत्कार स्वभाव है, वहाँ दृष्टि लगा दे। आहाहा! ऐसा मार्ग है।

वही समस्त कर्मों से मुक्त होता है। कौन? चैतन्यचमत्कार आत्मा का स्वभाव जानकर, राग को बन्ध का कारण और विकार का कारण जानकर, राग को विकार का कारण जानकर विरक्त होता है, राग से भिन्न होता है, वह मुक्ति प्राप्त करता है। है? **वही समस्त कर्मों से मुक्त होता है।** आहाहा! ऐसी स्पष्ट बात है। इसमें थोड़ा व्यवहार दया, दान, व्रत, भक्ति पूजा यात्रा का भाव धर्म में मदद करेगा, ऐसा नहीं है। वह तो विकार करनेवाला है। राग तो विकार (करनेवाला है)। आता है; जानना कि विकार करनेवाला है परन्तु उससे विरक्त होना, वह सर्व कर्मों से मुक्त होने का उपाय है। उससे विरक्त होना, वह

पूर्ण कर्म से मुक्त होने का उपाय है। आहाहा! कठिन काम है। अपूर्व बात है न!

अनन्त काल में कभी किया नहीं। अनन्त काल। 'मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रीवक उपजायो, पै (निज) आतमज्ञान बिना सुख लेश न पायो।' मुनिव्रत धारण किया, अट्ठाईस मूलगुण पालन किये, पंच महाव्रत पालन किये, नग्नपना लिया, हजारों रानियाँ छोड़कर जंगल में रहा। 'मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रीवक उपजायो' स्वर्ग में गया, परन्तु 'आतमज्ञान बिन' राग से भिन्न आत्मा के अनुभव बिना 'लेश सुख न पायो' यह पंच महाव्रत के परिणाम और अट्ठाईस मूलगुण के भाव, वह सब राग दुःखरूप है। आहाहा! कठिन बात है।

मुमुक्षु : कल तो इन्हें विषकुम्भ कहा था।

पूज्य गुरुदेवश्री : जहर कहा, जहर कहा, दुःख कहा। आहाहा! बन्ध का कारण कहा, बन्ध का स्वरूप कहा, बन्धस्वरूप ही कहा। बन्ध का लक्षण क्या? कहा न?— कि रागादि बन्ध का लक्षण; आत्मा का चैतन्यलक्षण। दोनों भिन्न-भिन्न आ गये। आहाहा! काम, कठिन काम। कठिन का अर्थ (कि) यह अपूर्व बात है। पूर्व में कभी नहीं की। अनन्त काल—अनन्त काल व्यतीत हो गया। पंच महाव्रत अनन्त बार लिये। दीक्षा ली, नग्न मुनि हुआ, दिगम्बर हुआ, अट्ठाईस मूलगुण पालन किये परन्तु वह तो सब राग है। राग से स्वर्ग मिलता है। कर्म से मुक्ति नहीं (मिलती)। कर्म से तो मुक्ति यह राग, बन्ध का कारण जानकर—चाहे तो वह व्यवहाररत्नत्रय का राग हो, देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति, देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा का राग, बन्ध का कारण जानकर विरक्त होना, यह एक मुक्ति होने का कारण है। यह आया न?

वही समस्त कर्मों से मुक्त होता है। है या नहीं अन्दर? आहाहा! **समस्त कर्मों से मुक्त होता है।** आहाहा! **वही... इस (कथन) से ऐसा नियम किया जाता है कि आत्मा और बन्ध का द्विधाकरण (पृथक्करण) ही मोक्ष का कारण है।** राग मोक्ष का कारण नहीं, मोक्ष के मार्ग में सहायक नहीं। राग और आत्मा का द्विधाकरण-भिन्नता करना, भेद करना। आहाहा! व्यवहाररत्नत्रय का राग, उससे भी भिन्नता करना, क्योंकि वह राग है। निश्चयरत्नत्रय है, वह चैतन्यचमत्कार परिणति निर्मल है। व्यवहार, वह राग है। राग से विरक्त होकर... आहाहा! कर्म से मुक्त होना, यह एक ही उपाय है। ऐसा नियम किया जाता है।

आत्मा और बन्ध का द्विधाकरण... पृथक्करण। आत्मा और राग का पृथक्करण-भिन्नता। आहाहा! अन्दर चैतन्यस्वरूप आनन्दस्वरूप, ज्ञानस्वरूप आत्मा है और राग बन्धस्वरूप है, इन दो का द्विधाकरण-दोनों को पृथक् करना। व्यवहार से निश्चय होता है, ऐसी बात यहाँ नहीं की है। यह द्विधाकरण-पृथक्करण ही। है? 'ही' शब्द है। **आत्मा और बन्ध का द्विधाकरण (पृथक्करण) ही...** आत्मा आनन्द और ज्ञानस्वरूप चैतन्य है और राग, वह विकारस्वरूप है, दो को भिन्न करना ही, दोनों को पृथक् करना 'ही'। एकान्त किया। आहाहा!

मोक्ष का कारण है। भिन्न-पृथक् करना, वह मोक्ष का कारण है। साथ में लेकर व्यवहार मोक्ष का कारण है, ऐसा नहीं है। आहाहा! कठिन काम है। अभी तो लोगों को पसन्द पड़े, ऐसी बातें करके प्रसन्न-प्रसन्न रखे। व्यवहार ऐसा होता है, व्यवहार करते-करते होता है, पहले राग की मन्दता होती है, दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा यह करते-करते निश्चय होगा, ऐसी प्ररूपणा करते हैं। वह प्ररूपणा जैनशासन से अत्यन्त विरुद्ध है। आहाहा! सुननेवाले को खबर नहीं होती और सिर पर कहनेवाला हो, उसे जी... हाँ... करे।

यहाँ तो कहते हैं कि राग, चाहे तो भगवान के प्रति भक्ति का राग (होवे) या पंच महाव्रत के विकल्प का राग (होवे), राग और आत्मा का द्विधाकरण-पृथक् करना, वह एक ही मुक्ति का उपाय है, ऐसा नियम है। यह ऐसा नियम है। दूसरा नियम करने जाए तो नियम बने, ऐसा नहीं है, यह कहते हैं। आहाहा! है न इसमें? है या नहीं? **ऐसा नियम किया जाता है... आत्मा और बन्ध का द्विधाकरण (पृथक्करण) ही मोक्ष का कारण है।** आहाहा!

(आत्मा और बन्ध को भिन्न-भिन्न करना ही मोक्ष का कारण है, ऐसा निर्णीत किया जाता है।) आहाहा! पहले तो सम्यग्दर्शन में, अनुभव में यह निर्णय करना कि राग और आत्मा को भिन्न करना, यही मुक्ति की शुरुआत-उपाय है और पूर्ण होने का भी एक यही उपाय है। विरक्त होना, यह एक ही उपाय है। रक्त होना, (यह उपाय नहीं है)। दया, दान, व्रत, भक्ति का राग आवे, परन्तु उसमें रक्त होना, वह बन्ध का कारण है। विरक्त होना, वह मुक्ति का कारण है। आहाहा! ऐसा कठिन लगता है।

गाथा-२९४

केनात्मबन्धौ द्विधा क्रियेते इति चेत् -

जीवो बंधो य तहा छिज्जंति सलक्खणेहिं णियएहिं।
पण्णा-छेदणएण दु छिण्णा णाणत्त-मावण्णा ।।२९४।।

जीवो बन्धश्च तथा छिद्येते स्वलक्षणाभ्यां नियताभ्याम्।
प्रज्ञा-छेदनकेन तु छिन्नौ नानात्व-मापन्नो ।।२९४।।

आत्मबन्धयोर्द्विधाकरणे कार्ये कर्तुरात्मनः करणमीमान्सायां, निश्चयतः स्वतो भिन्नकरणा-सम्भवात् भगवती प्रज्ञैव छेदनात्मकं करणम्। तया हि तौ छिन्नौ नानात्वमवश्यमेवापद्येते; ततः प्रज्ञयैवात्मबन्धयोर्द्विधाकरणम्।

ननु कथमात्मबन्धौ चेत्यचेतकभावेनात्यन्तप्रत्यासत्तेरेकीभूतौ भेदविज्ञानाभावादेक-चेतकवद्व्य-वह्नियमाणौ प्रज्ञया छेत्तुं शक्येते ?

नियतस्वलक्षणसूक्ष्मान्तःसन्धिसावधाननिपातनादिति बुध्येमहि।

आत्मनो हि समस्तशेषद्रव्यासाधारणत्वाच्चैतन्यं स्वलक्षणम्। तत्तु प्रवर्तमानं यद्यदभिव्याप्य प्रवर्तते निवर्तमानं च यद्यदुपादाय निवर्तते तत्तत्समस्तमपि सहप्रवृत्तं क्रमप्रवृत्तं वा पर्यायजातमात्मेति लक्षणीयः, तदेकलक्षणलक्ष्यत्वात्; समस्तसहक्रमप्रवृत्ता-नन्तपर्यायाविनाभावित्वाच्चैतन्यस्य चिन्मात्र एवात्मा निश्चेतव्यः, इति यावत्।

बन्धस्य तु आत्मद्रव्यासाधारणा रागादयः स्वलक्षणम्। न च रागादय आत्मद्रव्य-साधारणतां बिभ्राणाः प्रतिभासन्ते, नित्यमेव चैतन्यचमत्कारादतिरिक्तत्वेन प्रतिभासमानत्वात्।

न च यावदेव समस्तस्वपर्यायव्यापि चैतन्यं प्रतिभाति तावन्त एव रागादयः प्रतिभान्ति, रागादीनन्तरेणापि चैतन्यस्यात्मलाभसम्भावनात्। यत्तु रागादीनां चैतन्येन सहैवोत्प्लवनं तच्चेत्यचेतक-भावप्रत्यासत्तेरेव, नैकद्रव्यत्वात्; चेत्यमानस्तु रागादिरात्मनः, प्रदीप्यमानो घटादिः प्रदीपस्य प्रदीपकतामिव, चेतकतामेव प्रथयेत्, न पुनः रागादिताम्। एवमपि तयोरत्यन्तप्रत्यासत्त्या भेदसम्भावनाभावादनादिरस्त्ये-कत्वव्यामोहः, स तु प्रज्ञयैव छिद्यत एव ।।२९४।।

'आत्मा और बन्ध किस (साधन) के द्वारा द्विधा (अलग) किये जाते हैं?' ऐसा प्रश्न होने पर उत्तर देते हैं-

छेदन करो जीव बन्ध का तुम नियत निज निज चिह्न से।
प्रज्ञा-छैनी से छेदते दोनों पृथक् हो जाय हैं।।२९४।।

गाथार्थ : [जीवः च तथा बंधः] जीव तथा बन्ध [नियताभ्याम् स्वलक्षणाभ्यां] नियत स्वलक्षणों से (अपने-अपने निश्चित लक्षणों से) [छिद्येते] छेदे जाते हैं; [प्रज्ञाछेदनकेन] प्रज्ञारूपी छैनी के द्वारा [छिन्नौ तु] छेदे जाने पर [नानात्वम् आपन्नौ] वे नानापन को प्राप्त होते हैं अर्थात् अलग हो जाते हैं।

टीका : आत्मा और बन्ध के द्विधा करनेरूप कार्य में कर्ता जो आत्मा उसके *करण सम्बन्धी +मीमांसा करने पर, निश्चयतः (निश्चयनय से) अपने से भिन्न करण का अभाव होने से भगवती प्रज्ञा ही (ज्ञानस्वरूप बुद्धि ही) छेदनात्मक (छेदन के स्वभाववाला) करण है। उस प्रज्ञा के द्वारा उनका छेद करने पर वे अवश्य ही नानात्व को प्राप्त होते हैं; इसलिए प्रज्ञा द्वारा ही आत्मा और बन्ध का द्विधा किया जाता है (अर्थात् प्रज्ञारूपी करण द्वारा ही आत्मा और बन्ध जुदे किये जाते हैं)।

(यहाँ प्रश्न होता है कि-) आत्मा और बन्ध जो कि **चेत्यचेतकभाव के द्वारा अत्यन्त निकटता के कारण (-एक जैसे) हो रहे हैं, और भेदविज्ञान के अभाव के कारण, मानो वे एक चेतक ही हों, ऐसा जिनका व्यवहार किया जाता है, (अर्थात् जिन्हें एक आत्मा के रूप में ही व्यवहार में माना जाता है), उन्हें प्रज्ञा के द्वारा वास्तव में कैसे छेदा जा सकता है?

(इसका समाधान करते हुए आचार्यदेव कहते हैं-) आत्मा और बन्ध के नियत स्वलक्षणों की सूक्ष्म अन्तःसन्धि में (अन्तरंग की सन्धि में) प्रज्ञाछैनी को सावधान होकर पटकने से (डालने से, मारने से) उनको छेदा जा सकता है-अर्थात् उन्हें अलग किया जा सकता है; ऐसा हम जानते हैं।

आत्मा का स्वलक्षण चैतन्य है, क्योंकि वह समस्त शेष द्रव्यों से असाधारण है,

* करण=साधन; करण नाम का कारक। +मीमांसा=गहरी विचारणा; तपास, समालोचना।
** आत्मा चेतक है और बन्ध चेत्य है; वे दोनों अज्ञानदशा में एक से अनुभव में आते हैं।

(वह अन्य द्रव्यों में नहीं है)। वह (चैतन्य) प्रवर्तमान होता हुआ जिस-जिस पर्याय को व्याप्त होकर प्रवर्तता है और निवर्तमान होता हुआ जिस-जिस पर्याय को ग्रहण करके निवर्तता है, वे समस्त सहवर्ती या क्रमवर्ती पर्यायें आत्मा हैं; इस प्रकार लक्षित करना (लक्षण से पहचानना) चाहिए (अर्थात् जिन जिन गुण-पर्यायों में चैतन्यलक्षण व्याप्त होता है, वे सब गुण-पर्यायें आत्मा हैं; ऐसा जानना चाहिए) क्योंकि आत्मा उसी एक लक्षण से लक्ष्य है (अर्थात् चैतन्यलक्षण से ही पहिचाना जाता है)। और समस्त सहवर्ती तथा क्रमवर्ती अनन्त पर्यायों के साथ चैतन्य का अविनाभावी भाव होने से चिन्मात्र ही आत्मा है, ऐसा निश्चय करना चाहिए। इतना आत्मा के स्वलक्षण के सम्बन्ध में है।

(अब बन्ध के स्वलक्षण के सम्बन्ध में कहते हैं:-) बन्ध का स्वलक्षण तो आत्मद्रव्य से असाधारण ऐसे रागादि हैं। यह रागादिक, आत्मद्रव्य के साथ साधारणता धारण करते हुए प्रतिभासित नहीं होते, क्योंकि वे सदा चैतन्यचमत्कार से भिन्नरूप प्रतिभासित होते हैं। और जितना, चैतन्य आत्मा की समस्त पर्यायों में व्याप्त होता हुआ प्रतिभासित होता है, उतने ही, रागादिक प्रतिभासित नहीं होते, क्योंकि रागादि के बिना भी चैतन्य का आत्मलाभ सम्भव है (अर्थात् जहाँ रागादि न हों, वहाँ भी चैतन्य होता है)। और जो, रागादि की चैतन्य के साथ ही उत्पत्ति होती है, वह चेत्यचेतकभाव (ज्ञेयज्ञायकभाव) की अति निकटता के कारण ही है, एकद्रव्यत्व के कारण नहीं; जैसे (दीपक के द्वारा) प्रकाशित किया जानेवाला घटादिक (पदार्थ) दीपक के प्रकाशकत्व को ही प्रगट करते हैं-घटत्वादि को नहीं, इस प्रकार (आत्मा के द्वारा) चेतित होनेवाले रागादिक (अर्थात् ज्ञान में ज्ञेयरूप से ज्ञात होनेवाले रागादि भाव) आत्मा के चेतकत्व को ही प्रगट करते हैं-रागादिकत्व को नहीं।

ऐसा होने पर भी उन दोनों (आत्मा और बन्ध) की अत्यन्त निकटता के कारण भेद सम्भावना का अभाव होने से अर्थात् भेद दिखायी न देने से (अज्ञानी को) अनादि काल से एकत्व का व्यामोह (भ्रम) है; वह व्यामोह प्रज्ञा द्वारा ही अवश्य छेदा जाता है।

भावार्थ : आत्मा और बन्ध दोनों को लक्षणभेद से पहचानकर बुद्धिरूपी छैनी से छेदकर भिन्न-भिन्न करना चाहिए।

आत्मा तो अमूर्तिक है और बन्ध सूक्ष्म पुद्गलपरमाणुओं का स्कन्ध है, इसलिए छद्मस्थ के ज्ञान में दोनों भिन्न प्रतीत नहीं होते; मात्र एक स्कन्ध ही दिखायी देता है

(अर्थात् दोनों एक पिण्डरूप दिखायी देते हैं); इसलिए अनादि अज्ञान है। श्रीगुरुओं का उपदेश प्राप्त करके उनके लक्षण भिन्न-भिन्न अनुभव करके जानना चाहिए कि चैतन्यमात्र तो आत्मा का लक्षण है और रागादिक बन्ध का लक्षण है, तथापि वे मात्र ज्ञेयज्ञायकभाव की अति निकटता से वे एक जैसे ही दिखायी देते हैं। इसलिए तीक्ष्ण बुद्धिरूपी छैनी को-जो कि उन्हें भेदकर भिन्न करने का शस्त्र है उसे-उनकी सूक्ष्मसन्धि को ढूंढ़कर उसमें सावधान (निष्प्रमाद) होकर पटकना चाहिए। उसके पड़ते ही दोनों भिन्न-भिन्न दिखायी देने लगते हैं। और ऐसा होने पर, आत्मा को ज्ञानभाव में ही और बन्ध को अज्ञानभाव में रखना चाहिए। इस प्रकार दोनों को भिन्न करना चाहिए।

गाथा - २९४ पर प्रवचन

शिष्य प्रश्न करता है '**आत्मा और बन्ध किस (साधन) के द्वारा द्विधा (अलग) किये जाते हैं?**' साधन क्या? भिन्न करने का साधन क्या? राग चाहे तो व्यवहाररत्नत्रय, देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा का राग, पंच महाव्रत का राग, शास्त्र पठन का राग और भगवान चैतन्यचमत्कार को द्विधा करना, यह उपाय है। परन्तु उसका साधन क्या? ऐसा कहते हैं, ऐसा पूछते हैं। दोनों को पृथक् करने का करण... करण... कर्ता का करण-साधन क्या? है? '**आत्मा और बन्ध किस (साधन) के द्वारा द्विधा (अलग) किये जाते हैं?' ऐसा प्रश्न होने पर...** ऐसा जिसको प्रश्न होता है। अन्तर में ऐसी जिज्ञासा होती है कि आत्मा को राग से भिन्न करने का साधन क्या? ऐसा प्रश्न जिसके हृदय में उत्पन्न होता है, उसे यह उत्तर दिया जाता है। अब यह गाथा जो कहने में आती है, उसके उत्तरस्वरूप है। जिसे अन्तर में प्रश्न उठा हो, (उसे उत्तर दिया जाता है)।

'**आत्मा और बन्ध किस (साधन) के द्वारा द्विधा (अलग) किये जाते हैं?**' **(अर्थात् किस साधन द्वारा अलग किये जा सकते हैं?)** साधन क्या? करण क्या? **ऐसा प्रश्न होने पर...** ऐसा प्रश्न होने पर, जिसे ऐसी जिज्ञासा होती है, उसे यह उत्तर दिया जाता है। बड़ी गाथा है। २९४

जीवो बंधो य तहा छिज्जंति सलक्खणेहिं णियएहिं।
पण्णा-छेदणएण दु छिण्णा णाणत्त-मावण्णा।।२९४।।

छेदन करो जीव बन्ध का तुम नियत निज निज चिह्न से।
प्रज्ञा-छैनी से छेदते दोनों पृथक् हो जाय हैं।।२९४।।

आहाहा! **आत्मा और बन्ध के द्विधा करनेरूप कार्य में कर्ता...** तो आत्मा है। कर्ता तो आत्मा है न? राग से आत्मा चैतन्यस्वरूप को भिन्न करने में कर्ता तो आत्मा है। **उसके करण सम्बन्धी मीमांसा करने पर,...** अब कर्ता, राग से आत्मा को भिन्न करनेवाला कर्ता आत्मा है परन्तु भिन्न करने में साधन क्या? उस साधन की विचारणा किये जाने पर... है? **करण= साधन; करण नाम का कारक। मीमांसा=गहरी विचारणा; तपास समालोचना।** गहरी विचारणा। गहरी विचारणा करते हैं कि राग और आत्मा के द्विधाकरण में साधन क्या? ऐसा प्रश्न होने पर गहरी विचारणा किये जाने पर, गहरी विचारणा किये जाने पर क्या मिलता है? कहते हैं।

निश्चयतः (निश्चयनय से) अपने से भिन्न करण का अभाव होने से... आत्मा राग से भिन्न किये जाने पर निश्चय से उसका साधन आत्मा से भिन्न नहीं है। राग से भिन्न करने में आत्मा कर्ता है, राग से भिन्न करने में आत्मा कर्ता है तो कर्ता से करण भिन्न नहीं है। आत्मा से उसका करण-साधन भिन्न नहीं है। आहाहा! व्यवहार, राग मन्द करना, शुभ-मन्द (राग) करना, वह साधन है—ऐसा नहीं कहा। वह साधन-बाधन कहा नहीं। व्यवहार साधन, निश्चय साध्य—ऐसा तो यहाँ कहा नहीं। किसी जगह कहा हो, वह दूसरी बात है। वह तो ज्ञान करने की बात है। पूर्वापर विरोध (बात) होती है? यहाँ तो निषेध करते हैं।

आत्मा और बन्ध के द्विधा करनेरूप कार्य में कर्ता जो आत्मा... करनेवाला तो आत्मा है। **उसके करण सम्बन्धी मीमांसा करने पर, निश्चयतः (निश्चयनय से) अपने से भिन्न करण का अभाव होने से...** आत्मा कर्ता, राग की क्रिया के परिणाम से भिन्न करने का करण **भगवती प्रज्ञा ही (ज्ञानस्वरूप बुद्धि ही) छेदनात्मक (छेदन के स्वभाववाला) करण है।** राग से भिन्न करने में ज्ञान-प्रज्ञाछैनी, प्रज्ञाछैनी साधन है। आहाहा! ऐसी बातें।

राग, पुण्य-पाप का राग विकार करनेवाला (और) भगवान आत्मा निर्विकारी, उन्हें

भिन्न करने में कर्ता आत्मा, राग से भिन्न करने में कर्ता आत्मा है, तो कर्ता का साधन-करण कौन ? साधन भगवती प्रज्ञा। वह कर्ता से अभिन्न है। वह आत्मा के साथ करण है। करण साधन, दूसरा कोई साधन है नहीं। राग से भिन्न करने में राग साधन नहीं। व्यवहाररत्नत्रय से आत्मा को भिन्न करने में व्यवहाररत्नत्रय जरा भी साधन नहीं, ऐसा कहते हैं। आहाहा! अभी तो व्यवहार.. व्यवहार.. चलता है। व्यवहार करो, व्यवहार करो, व्यवहार से निश्चय होगा। ऐसी बातें (करते हैं)। यहाँ भगवान इनकार करते हैं।

कर्ता भगवान चैतन्यस्वरूप; राग बन्धन स्वरूप, इन (दो) को पृथक् करने में कर्ता आत्मा और करण भी आत्मा है। आत्मा की प्रज्ञाछैनी, वह करण है। राग से भिन्न करने में, राग आत्मा में नहीं—ऐसी प्रज्ञाछैनी-ज्ञान की छैनी, राग और आत्मा के बीच प्रज्ञाछैनी, उस सन्धि में प्रज्ञाछैनी मारना, वह करण है। आहाहा! यह सब दूसरे साधन कहाँ गये ? यह सब मन्दिर बनाना, यात्रा करना, सम्मेदशिखर, गिरनार और शत्रुंजय... गजरथ निकालना, रथयात्रा निकालना, यह सब कहाँ गया ? यह तो उसके कारण से होता है, यह कहीं साधन-फाधन है नहीं। आहाहा! बहुत कठिन काम।

मुमुक्षु : आपने स्पष्ट कर दिया।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो अपूर्व बात है।

दो बातें ली हैं न ? कि जितना पुण्य और पाप का राग है, वह विकार करनेवाला है। यह बात ली है। चाहे तो दया, दान, भक्ति, व्रत, पूजा आदि भगवान की भक्ति या पंच णमोकार का स्मरण (करना), परन्तु वह विकार है, राग है, वह विकार करनेवाला है। आहाहा! और भगवान आत्मा तो चैतन्यचमत्कार निर्विकारी चैतन्यचमत्कार है। स्वयं अपने में रहकर अपने को और पर को जाने, ऐसा चैतन्यचमत्कार है। राग करे, ऐसा उसका स्वरूप है ही नहीं। आहाहा! ऐसी बात है।

कर्ता-करनेवाला, यह पुण्य के परिणाम से भिन्न करनेवाला, बन्ध से विरक्त होनेवाला कर्ता आत्मा है। करण ज्या ? करण, वह आत्मा की प्रज्ञाछैनी। आहाहा! आत्मा समुच्चय (कहकर) कर्ता पूरा लिया। यह प्रज्ञाछैनी वर्तमान (ली है)। राग और आत्मा के बीच की प्रज्ञाछैनी। दो के बीच में सन्धि में छैनी मारना, वह ज्ञान। आहाहा! ऐसा काम है। कठिन लगे, फिर कहे, व्यवहार का कुछ न कुछ प्रतिशत तो है न!

मुमुक्षुः बन्ध का शत-प्रतिशत।

पूज्य गुरुदेवश्री : बन्ध का कहा न? विकार करनेवाले का प्रतिशत सोलह के सोलह आना है। व्यवहार विकार करनेवाला है। उससे भिन्न करने का कर्ता आत्मा है और करण प्रज्ञाछैनी है। वर्तमान ज्ञान की दशा राग से भिन्न करने की प्रज्ञाछैनी है। आहाहा! है या नहीं अन्दर?

मुमुक्षु : प्रज्ञा ही।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह ही है, एक ही साधन है। देखो न! आहाहा!

अपने से भिन्न करण का अभाव होने से भगवती प्रज्ञा ही... 'ही' कहा है न? भगवती प्रज्ञा है पर्याय। वर्तमान राग से भिन्न करने की ज्ञान की पर्याय। वह भगवती प्रज्ञा ही। एक ही बात 'ही'। आहाहा! **भगवती प्रज्ञा ही (ज्ञानस्वरूप बुद्धि ही)...** ज्ञान की पर्याय को आत्मा की ओर झुकाना, राग की ओर से छोड़ना, यह एक प्रज्ञा ही साधन है। आहाहा! बाह्यलक्ष्यी जो राग है, उससे लक्ष्य छोड़कर स्वरूप ज्ञान चैतन्यमूर्ति प्रभु की ओर लक्ष्य करना, वह वर्तमान ज्ञान की पर्याय छैनी का काम है। यह राग का काम नहीं है, यह द्रव्य का काम नहीं है। द्रव्य कर्ता है, द्रव्य तो ध्रुव है। वह वर्तमान ज्ञान की पर्याय है, वह करण है। जो वर्तमान प्रज्ञाछैनी है, वह करण-साधन है। आहाहा!

कथंचित् स्याद्वाद करो, अनेकान्त करो कि ऐसा भी होता है और ऐसा भी होता है, ऐसा भी होता है और ऐसा भी होता है। यह स्याद्वाद नहीं है। इससे ही होता है और अन्य से नहीं होता, इसका नाम स्याद्वाद और अनेकान्त है। आहाहा! लोगों को कठिन (लगता है)। अभी संसार के काम से निवृत्त नहीं होता, उसमें फिर यह भक्ति-वक्ति के परिणाम को भी बन्ध का कारण (कहे)। आहाहा! आते हैं, होते हैं, सम्यग्दृष्टि को भी वे भाव आते हैं परन्तु उनसे भिन्न पड़ना, यह साधन है। यह (राग) स्वयं साधन नहीं है। आहाहा! प्रज्ञाछैनी द्वारा पृथक् पड़ना, यह साधन है। आहाहा! अधिक सभा (भरे), वह व्यवहार की बातें करे। ऐसा करे, ऐसे पालन किये जाएँ, ऐसे दया पालना, भगवान की भक्ति करना, भगवान का स्मरण करने में कहाँ नुकसान है? भगवान का स्मरण करना। परन्तु स्मरण करना, वह स्वयं विकल्प है, राग है। आत्मा का स्वद्रव्य सन्मुख छोड़कर, परद्रव्य सन्मुख

होना, चाहे तो तीन लोक के नाथ हों और उनकी वाणी हो, उसके सन्मुख होने से राग ही होता है। आहाहा! ऐसा काम कठिन है, भाई!

यहाँ यह कहते हैं, एक ही प्रज्ञाछैनी, **भगवती प्रज्ञा ही...** 'ही' कहा न? एकान्त कहा न? कथंचित् प्रज्ञाछैनी और कथंचित् राग, मन्दराग साधन, मन्दराग कथंचित् साधन और कथंचित् राग से भिन्न पड़ने की प्रज्ञा साधन, ऐसा कहा नहीं। मन्दराग व्यवहार साधन... व्यवहार साधन... व्यवहार साधन-ऐसा नहीं कहा। आहाहा! **भगवती प्रज्ञा ही...** प्रज्ञा ही। प्रज्ञा ही **छेदनात्मक (छेदन के स्वभाववाला) करण है।** राग से भिन्न करने में ज्ञान की प्रज्ञाछैनी, वह एक ही करण है। एक साधन यह है, दूसरा कोई साधन नहीं। आहाहा! बाहर की व्यवहार की बातें करे तो लोग बहुत प्रसन्न होते हैं, खुशी होते हैं। ऐसा करना, भक्ति करना, प्रभु की पूजा (करना)। धीरे-धीरे राग मन्द होते-होते समकित हो जाएगा, समकित होने पर फिर चारित्र होगा, फिर मुक्ति होगी। यह सब बातें असत्य है। आहाहा!

पहले से ही राग से बिल्कुल अंश भी लाभ नहीं। इस राग से भिन्न करना, इसमें लाभ है। राग को साथ में रखना, इसमें लाभ नहीं, ऐसा है। इसलिए शब्द लिया न? भगवती प्रज्ञा.. आहाहा! वह छेदनस्वरूप, छेदनस्वभाववाला करण है। आहाहा! दूसरे प्रकार से कहें तो स्वभावसन्मुख होना, इससे—विभाव से विमुख हो जाना, वह एक ही साधन है। आहाहा! पर्याय में स्वभावसन्मुख होना और राग से विमुख होना। यह विमुख होना, वह भी अपेक्षा से है। ऐसे स्वभाव चैतन्यस्वरूप है, आनन्दकन्द सच्चिदानन्द प्रभु की ओर झुकाव करना, उस ओर ढलना, वही राग से पृथक् पड़ने का उपाय है। आहाहा! दूसरा कोई करण—उपाय है नहीं।

करणानुयोग के शास्त्र भरे हैं, चरणानुयोग के शास्त्र हैं, चरणानुयोग में है, ऐसा करना, ऐसा करना, बाहर व्रत ऐसे, पंच महाव्रत ऐसे - सब नहीं आता? वह सब विकल्प आते हैं, उनका ज्ञान कराया है। जब तक पूर्ण वीतराग न हो, तब तक स्वभाव की दृष्टि होने पर भी स्वभावसन्मुख होने पर भी पूर्ण सन्मुख जब तक नहीं, तब तक बीच में ऐसे विकल्प होते हैं, आते हैं। उनका ज्ञान कराया है। आहाहा! व्यवहार से आदरणीय भी उसमें कहा

जाता है। इसका अर्थ कि निश्चय से वह आदरणीय है नहीं। आहाहा! जाननेयोग्य है, व्यवहार आवे, होवे, परन्तु जाननेयोग्य है। बाकी तो छेदनेयोग्य है। जानकर छेदनेयोग्य है, पृथक् करनेयोग्य है, इकट्ठा रखने योग्य नहीं। आहाहा! ऐसा कठिन काम, लो! सम्मेदशिखर की यात्रा करे तो कल्याण होगा या नहीं?

मुमुक्षु : अन्दर में सम्मेदशिखर की यात्रा करे तो होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह सम्मेदशिखर यहाँ (अन्दर) है। बाहर सम्मेदशिखर (की यात्रा का भाव) तो शुभभाव है। वह भक्ति और यात्रा, वह तो सब शुभ-पुण्यभाव बन्ध का कारण है। उस बन्ध को छेदना, वह मुक्ति का कारण है। वह बन्धभाव मुक्ति का कारण नहीं है। ऐसा कठिन काम है। आहाहा!

(छेदन के स्वभाववाला) करण है। देखा? छेदन के स्वभाववाला। राग को भिन्न करने के स्वभाववाला करण तो प्रज्ञाछैनी है। वह इसका स्वभाव है, प्रज्ञाछैनी का स्वभाव है; राग इसका स्वभाव नहीं। आहाहा! **उस प्रज्ञा के द्वारा उनका छेद करने पर...** ज्ञान की पर्याय अन्तर में झुकाने से और राग से विमुख होने से। **उनका छेद करने पर वे अवश्य ही नानात्व को प्राप्त होते हैं;...** अवश्य पृथक्पना, नानापन अर्थात् पृथक्पना (होता है)। अनेक हैं, वे अनेक हो जाते हैं। आत्मा, आत्मारूप से रहता है; राग, रागरूप हो जाता है। राग और आत्मा एकरूप नहीं होते। आहाहा! अधिकार तो बहुत अच्छा आया है।

अवश्य ही नानात्व को प्राप्त होते हैं;... अर्थात् दोनों अत्यन्त भिन्न पड़ जाते हैं। राग और आत्मा अत्यन्त भिन्न अनेकपने को प्राप्त होते हैं। नाना अर्थात् अनेक। राग, रागरूप; आत्मा, आत्मारूप (हो जाते हैं)। प्रज्ञाछैनी से आत्मा को राग से भिन्न करने पर राग, रागरूप से; आत्मा, आत्मारूप से अनेकपने, अनेकरूप हो जाते हैं। एकरूप जो भाव थे, वे अनेकरूप हो जाते हैं। आहाहा! ऐसा कठिन मार्ग। लोगों को फुरसत नहीं मिलती।

एक तो सत्य सुनने को नहीं मिलता। व्यवहार... व्यवहार... व्यवहार करो, व्यवहार करो, व्यवहार करो, बस! यह सुनने को मिलता है। उसमें रचकर मर जाता है, हो गया। जिन्दगी पूरी होकर चला जाता है। आहाहा! ऐसा व्यवहार तो अनन्त बार जैन मुनि हुआ,

दिगम्बर मुनि (हुआ), पंच महाव्रत (पालन किये)। 'मुनिव्रत धार अनन्त बार, ग्रीवक उपजायो।' ऐसा मुनि अनन्त बार हुआ। नग्न मुनि, अट्ठाईस मूलगुण पालन किये, पंच महाव्रत पालन किये परन्तु वह धर्म है—ऐसा मानकर किया, वह मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! राग से भिन्न मेरी चीज़ अत्यन्त भिन्न है, उसका ज्ञान किया नहीं। इसलिए इसे सुख प्राप्त नहीं हुआ। पाँच महाव्रत और अट्ठाईस मूलगुण में भी दुःख मिला, दुःख। पंच महाव्रत के परिणाम, वे आस्रव हैं और आस्रव है, वह दुःख है। आया या नहीं उसमें? 'लेश सुख न पायो'। 'मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रीवक उपजायो, पै निज आतमज्ञान बिना सुख लेश न पायो।' एक जरा आत्मा का सुख मिला नहीं। दुःख है, अकेला दुःख। आहाहा! पंच महाव्रत के परिणाम, वे दुःख हैं, लोगों को कठिन पड़ता है। बारह व्रत के परिणाम दुःख। भक्ति के परिणाम, भगवान की भक्ति के परिणाम, भगवान के स्मरण के परिणाम, पूजा, भक्ति के परिणाम, वह दुःख है। राग है न? वह दुःख है। आहाहा! कठिन बात है।

इसलिए प्रज्ञा द्वारा ही... जब ऐसा कहा न? **प्रज्ञा के द्वारा उनका छेद करने पर वे अवश्य ही नानात्व को...** जरूर, अवश्य ही, जरूर पृथक्पने को प्राप्त होते हैं। दोनों एक रहते नहीं। ज्ञानछैनी मारकर भिन्न पड़ने से एक नहीं रहते। आहाहा! **इसलिए प्रज्ञा द्वारा ही आत्मा...** ज्ञान की पर्याय द्वारा अन्तर्मुख होकर **बन्ध का द्विधा किया जाता है...** आहाहा! बन्ध को द्विधा (पृथक्) करना होता है। आहाहा! आत्मा और बन्ध को द्विधा प्रज्ञा द्वारा ही, ऐसा आया न? **प्रज्ञा द्वारा ही आत्मा और बन्ध का द्विधा किया जाता है (अर्थात् प्रज्ञारूपी करण द्वारा ही आत्मा और बन्ध जुदे किये जाते हैं)।** आहाहा! ऐसा हम जानते हैं, यह नीचे कहेंगे, नीचे कहेंगे। तीसरे पेराग्राफ में है। **(उनको छेदा जा सकता है-) अर्थात् उन्हें अलग किया जा सकता है; ऐसा हम जानते हैं।** आहाहा!

(यहाँ प्रश्न होता है कि-) आत्मा और बन्ध जो कि चेत्यचेतकभाव के द्वारा अत्यन्त निकटता के कारण (-एक जैसे) हो रहे हैं,... क्या कहते हैं? आत्मा चेतक है, जाननेवाला है। बन्ध, वह चेत्य है—जाननेयोग्य है। रागादिभाव आते हैं, वे ज्ञात होनेयोग्य है। आहाहा! वह जाना हुआ प्रयोजनवान आया। आत्मा जाननेवाला है और बन्ध

चेत्य है। आत्मा चेतक है। है न? नीचे है। आत्मा चेतक है। चेतनेवाला, जाननेवाला है और बन्ध चेत्य है—जाननेयोग्य है। दोनों अज्ञानदशा में वे एकरूप अनुभव में आते हैं। क्या कहते हैं?

राग है, वह चेत्य है—जाननेयोग्य है और आत्मा ज्ञानस्वरूप है। इस प्रकार दोनों भिन्न चीज़ है परन्तु भेदज्ञान के अभाव के कारण दोनों एक दिखायी देते हैं। राग और आत्मा एक लगते हैं। चेत्य और चेतक। जाननेयोग्य और जाननेवाला दोनों एक लगते हैं। आहाहा! गाथा बहुत (अच्छी आयी)। चेत्य-चेतक। आहाहा! आत्मा चैतन्यस्वरूप चेतक और दया, दान, व्रत, भक्ति आदि के भाव, वे चेत्य हैं, जाननेयोग्य हैं, जाननेयोग्य हैं। परन्तु भेदज्ञान के अभाव से चेतक और चेत्य दोनों एक दिखायी देते हैं। जाननेयोग्य चीज़ और जाननेवाला है भिन्न, तथापि अज्ञान के कारण से दोनों एक दिखायी देते हैं। जाननेवाली (ज्ञात होनेयोग्य) चीज़ और जाननेवाला दोनों एक लगते हैं। आहाहा!

व्यवहाररत्नत्रय, वह चेत्य है—जाननेयोग्य है और आत्मा चेतक है—जाननेवाला है। (राग) जाननेयोग्य है, यह (आत्मा) जाननेवाला है। चेत्य-चेतक ऐसे एक साथ रहते हैं। निकट है और भिन्न पाड़ने की भेदज्ञान शक्ति नहीं है, इसलिए दोनों एक लगते हैं। आत्मा और राग एक है। जाननेयोग्य और जाननेवाला एक लगते हैं। आहाहा! जाननेवाला आत्मा और जाननेयोग्य राग दोनों अज्ञानभाव से एक लगते हैं। हैं दोनों भिन्न। आहाहा!

चेत्यचेतकभाव के द्वारा... आहाहा! **अत्यन्त निकटता के कारण...** बहुत निकट है, क्योंकि इसके प्रदेश में है। पर्याय में राग है। आहाहा! पर्याय में राग और पर्याय (में) ज्ञान, तथापि वह ज्ञान की पर्याय इस ओर न ढलकर, ज्ञात होनेयोग्य है, उसे जानने में रुकने से वह जाननेवाला और जानने में आनेयोग्य को एक मानकर-चेत्यचेतक को एकरूप मानता है। व्यवहार है, वह चेत्य है—ज्ञात होनेयोग्य है। आत्मा चेतक-जाननेवाला है; दोनों एक नहीं है। आहाहा! ऐसा सब सूक्ष्म। मार्ग ऐसा है, भाई! है इसमें? है या नहीं?

चेत्यचेतकभाव के द्वारा अत्यन्त निकटता के कारण (-एक जैसे) हो रहे हैं,... एक जैसे हो रहे हैं, एक हुए नहीं। एक जैसे हुए दिखते हैं। एक हुए नहीं। जाननेवाला चैतन्य और राग ज्ञात होने योग्य एक जैसे दिखते हैं, एक हुए नहीं। एक हैं नहीं।

जितना व्यवहाररत्नत्रय का राग और भगवान चैतन्य दोनों एक जैसे दिखते हैं, एक हैं नहीं। आहाहा! **और भेदविज्ञान के अभाव के कारण,...** राग और आत्मा भिन्न है—ऐसे भेदविज्ञान के अभाव के कारण, दोनों के भेदविज्ञान के अभाव के कारण। आहाहा! **मानो वे एक चेतक ही हों, ऐसा जिनका व्यवहार किया जाता है,...** अर्थात् मानो कि यह राग (होता है, वह) मैं आत्मा ही हूँ। राग-पुण्यादि है, वह आत्मा ही है, भिन्न चीज़ है नहीं—ऐसा अज्ञानी को भासित होता है। आहाहा! बहुत सूक्ष्म बात आयी। **ऐसा जिनका व्यवहार किया जाता है,...** ज्ञात होनेयोग्य और जाननेवाला मानो एक है—ऐसा व्यवहार किया जाता है। ऐसा **व्यवहार किया जाता है,...** आहाहा! **(अर्थात् जिन्हें एक आत्मा के रूप में ही व्यवहार में माना जाता है)** मानो राग आत्मा ही है, राग दया, दान के विकल्प, वह आत्मा ही है। वहाँ नजर है न? नजर वहाँ है। **(व्यवहार में माना जाता है) उन्हें...** आहाहा! **प्रज्ञा के द्वारा वास्तव में कैसे छेदा जा सकता है?** एक जैसे दिखते हैं, उन्हें कैसे छेदा जा सकता है? कहते हैं। और निकट है। राग है, वहाँ ज्ञान है तथा ज्ञान है, वहाँ राग है। एक जैसे दिखते हैं। चेत्य और चेतक भिन्न है, तथापि चेत्य, चेतक जैसा दिखता है। यह मेरा है, ऐसा दिखता है। ऐसा है (तो उन्हें) **प्रज्ञा के द्वारा वास्तव में कैसे छेदा जा सकता है?** उन्हें प्रज्ञा द्वारा भिन्न कैसे किया जा सकता है? ऐसा शिष्य का प्रश्न है, उसका उत्तर विशेष कहेंगे....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ३६०, गाथा-२९४　　बुधवार, मगसिर कृष्ण २, दिनाङ्क ०५-१२-१९७९

समयसार, २९४ (गाथा)। शिष्य का प्रश्न है कि आत्मा और बन्ध दोनों अन्दर एक जैसे दिखायी देते हैं। बन्ध है, वह चेत्य है-जाननेयोग्य है और चेतन, वह जाननेवाला है, तथापि निकटपने के कारण चेत्य और चेतक एक जैसे दिखायी देते हैं तो उन्हें पृथक् कैसे करना? ऐसा प्रश्न है। है न? एक चेतक ही हो, ऐसा जिनका व्यवहार दिखता है। **उन्हें प्रज्ञा के द्वारा वास्तव में कैसे छेदा जा सकता है?** पहले प्रश्न समझ में आता है?

यह आत्मा जो है, वह तो चेतक-जाननेवाला... जाननेवाला... जाननेवाला... जाननेवाला है और बन्ध, वह रागादि है, वे चेत्य हैं अर्थात् जाननेयोग्य हैं। वे जाननेवाले नहीं, जाननेवाले नहीं; जाननेयोग्य हैं और जिनकी बहुत निकटता के कारण चेत्यचेतक मानो दोनों जाननेवाले ही हों, ऐसा दिखायी देता है। पहले प्रश्न (समझ में आता है)? बहुत सूक्ष्म बात है, भाई! ये दोनों चीज़ अन्दर पृथक् है, ऐसे पृथक् किस प्रकार करना? एक जैसा दिखायी दे, उसे भिन्न किस प्रकार करना? क्योंकि अत्यन्त निकटपने चेत्य और चेतक साथ में ही है। जाननेवाला चैतन्य और जाननेयोग्य पुण्य, पाप, दया, दान, राग-द्वेष, विकार परिणाम वे साथ के साथ ही हैं। जिस समय ज्ञान की पर्याय उत्पन्न होती है, उसी समय रागादि उत्पन्न होते हैं। काल एक है, निकट है। जाननेवाला और जाननेयोग्य दोनों भिन्न हैं तो उन्हें भिन्न किस प्रकार करना? इकट्ठे दिखते हैं न! समझ में आया? कठिन काम है।

शरीर, वाणी, मन की बात नहीं। शरीर, वाणी, मन, पैसा, लक्ष्मी, स्त्री, कुटुम्ब, यह तो पर है। यह तो आत्मा की पर्याय में (भी) नहीं। वे तो पर हैं, वे तो आत्मा में हैं ही नहीं। आत्मा की पर्याय में राग और द्वेष, पुण्य और पाप, दया और दान, व्रत और भक्ति, काम और क्रोध, ऐसे परिणाम उसकी पर्याय में उत्पन्न होते हैं परन्तु हैं वे जाननेयोग्य। जाननेवाला नहीं। जाननेवाला तो चेतक है। वह चेतक जाननेवाला और ज्ञात होने योग्य, इनकी निकटता के कारण दोनों मानो चेतक ही हों, दोनों आत्मा हों, ऐसा लगता है। समझ में आया? ऐसी सूक्ष्म बातें हैं। अब उन्हें भिन्न कैसे करना? भिन्न हैं, उन्हें भिन्न कैसे करना, यह कहीं प्रश्न नहीं है। शरीर, वाणी, कर्म, स्त्री, कुटुम्ब, परिवार, लक्ष्मी वह तो पर है। पर हैं, वे तो भिन्न ही हैं। वे तेरे द्रव्य-गुण में तो नहीं परन्तु तेरी पर्याय में भी वह चीज़ नहीं है। आहाहा!

तेरी पर्याय जो वर्तमान अवस्था है, उसमें ज्ञात होनेयोग्य विकार की उत्पत्ति होती है और जाननेवाला चैतन्य है, इतना निकट सम्बन्ध है। इससे जाननेवाला और जाननेयोग्य दो भिन्न हैं, वैसे ज्ञात नहीं होते। दोनों एक हैं, चेतक है, चेतक है, ऐसे दोनों जाननेवाले हैं, ज्ञात होनेयोग्य और जाननेवाला ऐसा नहीं, दोनों जाननेवाले हैं- ऐसा दिखायी देता है। समझ में आया? आहाहा! धर्म का सूक्ष्मरूप अभी स्थूलरूप कर डाला। सब उल्टा, उल्टा और इस प्रकार धर्म को समझना।

(इसका समाधान करते हुए आचार्यदेव कहते हैं-) है? कि **आत्मा और बन्ध के नियत स्वलक्षणों की...** कहते हैं, भले निकट-नजदीक है। आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप है, जाननेवाला-देखनेवाला आनन्द है और राग, दया, दान, काम, क्रोधादि, वह विकार है। दोनों के **आत्मा और बन्ध के नियत स्वलक्षण...** दोनों के स्वलक्षण भिन्न हैं। एक जैसा दिखायी देने पर भी दोनों के लक्षण भिन्न हैं। रागादि का लक्षण भिन्न है, चैतन्य का लक्षण भिन्न है। आहाहा! अब ऐसी बातें। **आत्मा और बन्ध के नियत...** निश्चय। वास्तव में दोनों के स्वलक्षण... **सूक्ष्म अन्तःसन्धि में...** सूक्ष्म अन्तःसन्धि में। जाननेवाला और राग, दया, दान, काम, क्रोधादि ज्ञात होनेयोग्य, इन दोनों के बीच सूक्ष्म सन्धि है। दोनों एक नहीं हैं। दोनों के बीच सांध-दरार है। आहाहा! अब ऐसा मार्ग।

सूक्ष्म अन्तःसन्धि... अन्तरंग की सन्धि में **प्रज्ञाछैनी को सावधान होकर...** जाननेवाली जो पर्याय है, उस प्रज्ञाछैनी को राग और ज्ञान के बीच मारने से दोनों भिन्न पड़ जाते हैं। क्योंकि दोनों एक नहीं हैं। दोनों की जाति एक नहीं है, दोनों के लक्षण एक नहीं हैं, दोनों का स्वरूप एक नहीं है। दोनों का स्वरूप, दोनों के लक्षण, दोनों के भाव, दोनों अलग प्रकार है। आहाहा! विकार जो है, वह परदिशा की ओर के झुकाव से होता है और ज्ञान है, वह अन्तर में से होता है। इस प्रकार अन्तर सूक्ष्म अन्तःसन्धि—अन्तरंग की सांध में। दोनों के स्वलक्षण जानकर; आत्मा का लक्षण ज्ञान और बन्ध का लक्षण राग—ऐसे दोनों के स्वलक्षण भिन्न जानकर। आहाहा! **प्रज्ञाछैनी को सावधान होकर...** पटकना। अर्थात् ज्ञान की पर्याय जो परसन्मुख झुकी हुई है, उस ज्ञान की पर्याय को स्वसन्मुख झुकाना। यह दोनों के बीच में सन्धि करने का-सांध करने का उपाय है। आहाहा!

आत्मा चैतन्यमूर्ति है, उसकी वर्तमान जो ज्ञान की दशा है, वह दशा अनादि से राग

के सन्मुख झुकी हुई है। (ध्येय) जो जिसका लक्ष्य नहीं, जिसका लक्षण नहीं, ऐसे राग की ओर पर्याय ढली हुई है। इसलिए जिसका लक्षण ज्ञान है, लक्ष्य आत्मा है। उस ज्ञान के लक्षण द्वारा लक्ष्य की ओर ले जाना। आहाहा! ऐसी सूक्ष्म बात है। धर्म सूक्ष्म है, भाई! वर्तमान में तो सब गड़बड़ी चली है। बाहर से यह करो, व्रत करो और तप करो, अपवास करो... यह सब क्रियाकाण्ड है, वह तो राग है, वह तो जाननेयोग्य है। वह कहीं वस्तु नहीं है। वह आत्मा की चीज़ नहीं है, वह आत्मा का लक्षण नहीं है।

आत्मा स्वलक्षण अर्थात् ज्ञान द्वारा ज्ञात होता है; बन्ध, राग द्वारा ज्ञात होता है। दोनों को जानकर ज्ञान की पर्याय को दोनों के बीच पटकना, अर्थात्? ज्ञान की पर्याय को स्वसन्मुख झुकाना, यह दो के बीच पटकना, ऐसा कहा जाता है। आहाहा! समझ में आया? ऐसा वीतराग का मार्ग है। लोगों ने बाहर से कर डाला कि दया पालो, व्रत करो, भक्ति करो, अपवास करो। अरे! यह सब तो अभव्य भी अनन्त बार करता है। अनन्त बार किया, यह कहीं जन्म-मरण मिटने का उपाय नहीं है। यह तो जन्म-मरण होने का उपाय है। संसार, घोर संसार नहीं कहा? आहाहा!

जो शुभभाव है, वह चेत्य है—ज्ञात होने योग्य है, घोर संसार है, दुःखरूप है। भगवान आत्मा घोर ज्ञानस्वरूप है, सुखरूप है। आहाहा! और वह ज्ञान के लक्षण से जाना जा सकता है, ऐसा दोनों में अन्तर है। ऐसा सूक्ष्म है। धीरे-धीरे समझना, बापू! वीतरागमार्ग अचिन्त्य, अलौकिक और अपूर्व है। पूर्व में कभी किया नहीं, ऐसी वह चीज़ है। अपूर्व—पूर्व में कभी अनन्त-अनन्त काल के परिभ्रमण में एक सेकेण्ड भी (धर्म) किया नहीं। दोनों को भिन्न करने की क्रिया एक सेकेण्ड नहीं की। भिन्न करने की क्रिया करे तो इसकी मुक्ति हुए बिना नहीं रहे। पश्चात् भवभ्रमण रहे नहीं। एकाध-दो भव हों परन्तु फिर भवभ्रमण नहीं रहता। आहाहा! दूसरे कोई क्रियाकाण्ड के कारण भवभ्रमण बन्द हो जाए, (ऐसा नहीं है)। यह क्रियाकाण्ड स्वयं भवभ्रमण है। क्रियाकाण्ड जो है, वह स्वयं संसार है, घोर संसार है। आहाहा! दया, दान, भक्ति, व्रत, तप, यह जो विकल्प-राग उठता है, वह घोर संसार है क्योंकि इससे गति मिलती है, चार गति भटकने की (मिलती है)। उसमें से जन्म-मरण का अन्त नहीं आता। आहाहा!

इसलिए ज्ञात होनेयोग्य जो राग है और जाननेवाला जो है, उस जाननेवाले को ज्ञात

होनेयोग्य चीज़ की ओर से झुकाकर, वापस विमुख करके उस पर्याय को जाननेयोग्य (आत्मा) है, उसमें झुकाना। जाननेयोग्य है, वहाँ झुकी हुई है, उसे उस ज्ञान की पर्याय की अवस्था को, पर्याय अर्थात् अवस्था। कितनों ने तो पर्याय नहीं सुना होगा। उसकी अवस्था जो वर्तमान दशा, वह दशा राग पर झुकी हुई है। चेत्य पर चेतक झुका हुआ है, उस चेतक को चेतक की ओर झुकाना। आहाहा! यह दोनों को भिन्न करने का उपाय है। यह धर्म है, यह मुक्ति का उपाय है। कहो, यशपालजी! ऐसी बातें बहुत सूक्ष्म। बाहर में ही बाहर में बाहर की प्रवृत्ति (करे), त्याग देखे, वस्त्र छोड़े, नग्न हो, (उसमें) धर्म मान लेते हैं। आहाहा!

मुमुक्षु : कषाय पतला करे तो अन्तर्मुख हुआ जाए न?

पूज्य गुरुदेवश्री : बिल्कुल झूठ बात है। संसार पतला करे, तब संसार से रहित हुआ जाए न? जहर पतला करे, तब अमृत की ओर जाया जाए न? आहाहा! कठिन बात है।

चैतन्य भगवान अन्दर विराजमान है, चमत्कारिक चीज़ है, उसकी तो इसे कीमत ही नहीं है और यह राग तथा मन्द-तीव्रता की कीमत है। यह कहा नहीं? यह कहा नहीं था? (प्रवचनसार) ७७ गाथा। शुभ और अशुभ दोनों भाव में कुछ अन्तर माने, वह घोर हिंडति संसार। हिंडति संसार, घोर संसार में भटकेगा। वीतराग को जगत की क्या पड़ी है? आहाहा! पुण्य और पाप के भाव में विशेष नहीं है, दोनों में कुछ अन्तर नहीं है, दोनों बन्ध के कारण हैं, दोनों संसार है, दोनों जहर है, दोनों अमृत से विरुद्ध भाव है। उनमें एक को ठीक मानना और एक को अठीक मानना; पुण्य ठीक है और पाप अठीक है, (ऐसा जो मानता है, उसे) भगवान कुन्दकुन्दाचार्यदेव कहते हैं कि '**हिंडदि घोरमपारं संसारं मोहसंछण्णे**' '**हिंडदि घोरमपारं संसारं मोहसंछण्णे**' वह मिथ्यात्व से ढँक गया है। पुण्य-पाप से रहित भगवान है, उसे वह नहीं जानता। शुभ-अशुभभाव से अन्दर भगवान भिन्न है, उसे नहीं जानता। यह पुण्य को ठीक और पाप को अठीक मानता है। दोनों में अन्तर मानता है, दोनों में विशेषता मानता है, दोनों में कुछ अन्तर है—शुभभाव और अशुभभाव दोनों में कुछ अन्तर है, ऐसा मानता है। वह घोर संसार में भटकेगा। दोनों जहर है, दोनों राग है, दोनों संसार है, दोनों दुःख है, दोनों आकुलता है, दोनों परजन्यभाव है, दोनों की दिशा परसन्मुख झुकती है। स्वसन्मुख की दिशा नहीं है। आहाहा!

आत्मा और बन्ध के नियत... निश्चय, सच्चे स्वलक्षण, सच्चा स्वलक्षण। राग का सच्चा स्वलक्षण बन्ध; आत्मा का सच्चा लक्षण ज्ञान। इन दोनों के सच्चे लक्षण जानकर। आहाहा! **सूक्ष्म अन्तःसन्धि...** आहाहा! दोनों भिन्न पड़ जाते हैं, इसलिए दोनों के बीच सांध है, दोनों एक हुए नहीं हैं। द्रव्यस्वरूप जो चैतन्यद्रव्य वस्तु है, वह ज्ञात होनेयोग्य जो राग, दया, दान आदि उसरूप हुई नहीं; (एक) माना है। आहाहा! ऐसा उपदेश कभी सुना नहीं हो, उसे ऐसा लगता है कि परन्तु यह क्या है? यह जैन की बात होगी? यह वीतराग की बात होगी? कहाँ की होगी यह? भाई! तूने वीतराग मार्ग सुना नहीं, भाई! आहाहा!

जैन परमेश्वर त्रिलोकनाथ वीतरागदेव परम देवाधिदेव ऐसा फरमाते हैं, वैसा सन्त फरमाते हैं। आहाहा! प्रभु! तू जाननेवाला है न! जाननेवाले में कुछ कमी—न्यूनता नहीं है। जाननेवाला परिपूर्ण भरा है न! आहाहा! और जाननेवाले के सामने राग जाननेयोग्य है न, वह भी क्षणिक है। जाननेयोग्य है, वह क्षणिक है। वह जाननेयोग्य ज्ञात हो और खिर जाता है। आहाहा! जाननेवाला जानकर टिका रहता है। जाननेवाला जानकर स्थिर रहता है। रागादि ज्ञात होते हैं, वे जाननेयोग्य ज्ञात होकर खिर जाते हैं। आहाहा! वह तेरी चीज़ नहीं है। आहाहा! सूक्ष्म पड़े, भाई! दूसरा क्या हो? मार्ग तो यह है। लोगों ने दूसरा कर डाला है न, इसलिए यह फिर सोनगढ़ ने नयी लप कहाँ से निकाली?—ऐसा कितने ही कहते हैं। आहाहा! एकान्त है, एकान्त है - ऐसा कहते हैं। बात सत्य है। सत्य, प्रभु! तेरी बात सत्य है। एकान्त है। आत्मा की ओर की वाणी, आत्मा की ओर का भाव एकान्त है। आहाहा!

प्रज्ञाछैनी अर्थात्? कि ज्ञान की दशा को राग की ओर अनादि से झुकी हुई है; जिसकी है, उस ओर झुकी नहीं है। जिसमें जो नहीं है, जिसकी नहीं है, उसे जाननेयोग्य में रुक गयी है। उसे-अपनी पर्याय को अपने में झुका। आहाहा! जाननेवाले को जाननेवाले में झुका, वह प्रज्ञाछैनी है। आहाहा! भाषा संक्षिप्त है परन्तु पूरा मार्ग समाहित कर दिया है। पूरा मोक्ष का मार्ग यह है, धर्म यह है।

राग, दया, दान, चाहे तो भगवान की भक्ति का विकल्प हो या गुण-गुणी भेद का विकल्प (हो), वह एक ओर संसार (है और) एक ओर मुक्तस्वरूप प्रभु है। आत्मा, वह त्रिकाल मुक्तस्वरूप है; राग, वह बन्धस्वरूप है। दोनों के स्वलक्षण जानकर राग की ओर से ज्ञान की पर्याय को, जिसकी है उसकी ओर झुकाकर, उसने बन्ध और आत्मा के बीच

छैनी मारी है। (यह) प्रज्ञाछैनी। आहाहा! भाषा तो सादी आयी है, परन्तु अब मार्ग तो ऐसा है, भाई! पाँच-पच्चीस हजार रुपये दान में दें, उसमें से कहीं मोक्ष होगा या नहीं?

मुमुक्षु : तब तो पैसेवाले का मोक्ष हो, दूसरे तो भटक मरें।

पूज्य गुरुदेवश्री : पैसा खोजना पड़े, वापस पैसा लेना-देना, वह उपाधि... आहाहा! जो जिसमें नहीं, उसे लेना-देना, वह आत्मा का अधिकार है? आहाहा! भगवान आत्मा में वह पैसा है नहीं, पैसा पैसे में है। अभी यह जाननेयोग्य राग है, वह तो अभी आत्मा की पर्याय में है। पैसा तो आत्मा की पर्याय में भी नहीं है। उसके द्रव्य-गुण में तो नहीं, उसकी विचार की धारा में पैसा नहीं है। पैसा पैसे में-जड़ में है। आहाहा! यह हो गया मालिक अभी। पैसा जहाँ पाँच-पचास लाख और करोड़-दो करोड़-पाँच करोड़ हो वहाँ... आहाहा! बड़े-बड़े सुने नहीं? शान्तिलाल खुशाल। दो अरब चालीस करोड़। गोवा... गोवा! अपने दशाश्रीमाली बनिया, पाणसणा का। क्षण में मर गया। ममता.. ममता..। साहूजी शान्तिलाल, साहू शान्तिप्रसाद, दिल्ली, चालीस करोड़। गुजर गये। कुछ नहीं ले गये। इन चिमनभाई के सेठ वैष्णव है, पचास करोड़ है। अभी मुम्बई में आया था। पचास करोड़ धूल है न! पचास करोड़ में से दस करोड़ दे तो कुछ धर्म होगा? कुछ उद्धार होगा या नहीं? तब अब नहीं देना न? देना, नहीं देने का प्रश्न कहाँ है? लोभ घटावे, पुण्य हो। लोभ घटावे तो पुण्य हो, परन्तु पुण्य है, वह संसार है, उससे धर्म की सहायता मिलती है, (ऐसा नहीं है)। धर्मधुरन्धर (कहलाये)। आहाहा!

अभी एक मन्दिरमार्गी साधु आया था न? कहा, नाम क्या? (तो कहा), धर्मधुरन्धर, धर्मधुरन्धर विजय। आचार्यपदवी में है, जवान है, यहाँ आया था। अरे! किसे धर्मधुरन्धर कहना? बापू! आहाहा! अभी तो समकित का ठिकाना नहीं, उसे धर्मधुरन्धर (कहते हैं)।

मुमुक्षु : अभी गृहीतमिथ्यात्व का ही अभाव हुआ नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : क्या हो? भाई! अलग हो जाए। पूरी दुनिया से अनमेल हो जाए, पृथक् पड़े, तब तो यह जँचे ऐसा है। कहीं मिलावट रखकर मिलान रखे तो मिले, ऐसा नहीं है। यह तो मोक्षमार्गप्रकाशक में कहा नहीं? वह याद आया था। वहाँ अभी हुकमीचन्दजी, शान्तिसागर को आचार्यपद मिला है न? वहाँ हुकमीचन्दजी गये थे न? लाखों लोगों में भाषण दिया। हस्तिनापुर। सब अनुकूल। दूसरे एक जयसागर हैं, वे तो यहाँ आये थे। सब

अनुकूल, कोई प्रतिकूल विरोध नहीं। बात एक है, मार्ग यह ही है, ऐसा। उन्हें आचार्यपदवी दी शान्तिसागर को, हुकमीचन्दजी को नारियल मिला।

मोक्षमार्गप्रकाशक शास्त्र में आता है न ? अपनी अपेक्षा क्रिया में अधिक हो, हो भले मिथ्यात्वी, परन्तु उसे व्यवहारसहित भक्ति करे। है न ? है ? क्या ? मोक्षमार्गप्रकाशक में। मोक्षमार्गप्रकाशक में है। परन्तु व्यवहार निखालिश चाहिए न ? यह तो उनके लिये बनाया हुआ आहार ले, चौका करके ले, वह व्यवहार भी कहाँ है ? इस प्रकार दूसरे प्रकार से अनुकूल। जो कहे वह बात सत्य है, सोनगढ़ कहे वह बात सत्य है, मार्ग यह है, ऐसा कहे। और भाई हुकमीचन्दजी कहे, उसका अनुमोदन करे। लाखों लोग इकट्ठे हुए थे। हुकमचन्द को स्वयं को नारियल दिया स्वयं ने... थी। दूसरे प्रकार से व्यवहार ठीक परन्तु आहार-पानी चौका करके लेते हैं। बाहर का दूसरा व्यवहार भले ठीक हो, प्ररूपणा ठीक हो, यह ठीक हो परन्तु वह ठीक न हो, उसका क्या ? चौका करके आहार ले, उसका तो व्यवहार का भी ठिकाना नहीं है। बहुत लोग, बहुत लोगों ने उनका सुना-हुकमीचन्दजी का सुना और सब साधु... अनुकूल - यहाँ तो इनकार करते हैं। उनके लिये बनाया हुआ आहार ले, व्यवहार में अन्तर है। निश्चय में भले अन्तर हो, व्यवहार सही हो तो मोक्षमार्गप्रकाशक में आता है। ऐसा कि समकिती हो, वह मिथ्यादृष्टि को भी चरण लगता है, परन्तु उसका बाहर का व्यवहार ऊँचा हो। जैसे निर्धन व्यक्ति, एक पैसेवाला हो और बड़ा कहलाये, ऐसा। दृष्टान्त दिया है न उसमें—मोक्षमार्गप्रकाशक में ? यह तो बड़ा अन्तर है, दूसरा तो ठीक। यह बात तो ठीक। अनुकूल है, प्रतिकूल-विरोध नहीं करते, परन्तु अभी आहार में भारी कठिनाई है। यहाँ तो अपने यह आया, अधःकर्मी-उद्देशिक छोड़े नहीं, उसे त्याग नहीं है। आया या नहीं ? चाहे जो हो। अधःकर्मी, उद्देशिक का त्याग नहीं, उसे उस प्रकार के प्रत्याख्यान नहीं है। हो गया। आहाहा! ऐसी बात भारी कठिन, भाई! एक ओर हाँ किया और वह सही होवे तो। भले व्यवहार, अन्दर में मिथ्यात्व दिखायी दे, गहरे-गहरे विचारने पर, परन्तु व्यवहार सही होवे...

यहाँ तो कहते हैं कि व्यवहार है, वह राग है। उसे प्रज्ञाछैनी द्वारा छेदना अर्थात् कि प्रज्ञाछैनी को उस ओर से हटाना अर्थात् कि पर्यायबुद्धि छोड़ना। इसका अर्थ यह है। ज्ञान की पर्याय जो राग के ऊपर है, वह पर्यायबुद्धि है। उस पर्याय को द्रव्यसन्मुख झुकाना, वह

राग और आत्मा के बीच छैनी है, उसे प्रज्ञाछैनी कहा जाता है। है ? **प्रज्ञाछैनी को सावधान होकर...** सावधान होकर। आहाहा! अन्दर में कितनी धीरज चाहिए! सावधान।

ज्ञानस्वरूप आत्मा, रागरूप बन्ध, दोनों (के बीच) अन्तर करना, ज्ञान को वहाँ से दूर करना, आत्मा की ओर झुकाना, वह प्रज्ञाछैनी। आहाहा! उस प्रज्ञाछैनी द्वारा सावधान होकर पटकने से, (अर्थात्) डालने से उन्हें छेदा जा सकता है। आहाहा! आचार्य महाराज स्वयं कहते हैं, अमृतचन्द्राचार्य स्वयं कहते हैं। कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं। आहाहा! नानात्व को प्राप्त हो जाते हैं, पाठ है। कुन्दकुन्दाचार्य का शब्द है। दोनों भिन्न पड़ जाते हैं। अमृतचन्द्राचार्य ने अर्थ किया कि **अलग किया जा सकता है; ऐसा हम जानते हैं।** आहाहा! ज्ञानस्वभाव भगवान को राग से विमुख करके स्वभावसन्मुख झुकाना, ऐसी प्रज्ञाछैनी मारना। उससे भिन्न पड़ सकते हैं, ऐसा हम जानते हैं, कहते हैं। आहाहा! अब ऐसी बात। व्रत करना, अपवास करना, आम्बेलु करना, ओली... ओली.. ओली (करना)।

मुमुक्षु : विचारा आया ही करे, सन्धि दिखायी नहीं दे तो क्या करना ?

पूज्य गुरुदेवश्री : आया करे, यह स्वयं भिन्न नहीं करता, इसलिए आया करते हैं। अपने आप कहीं आया नहीं करते। उल्टे पुरुषार्थ से आया ही करता है। पुरुषार्थ वहाँ हो, वहाँ तक झुका ही करे। झुकाता नहीं, इसलिए आया करता है। आहाहा! ऐसी सूक्ष्म बात है। स्वरूप सूक्ष्म है, परन्तु मार्ग यह है। इस मार्ग के बिना छुटकारा नहीं है। दूसरे चाहे जिस प्रकार से मनावे और माने, इससे कहीं मार्ग नहीं निकलता। आहाहा!

ऐसा हम जानते हैं। ठीक। कितने ही ऐसा कहते हैं कि निश्चय समकित ज्ञात नहीं होता। अभी ऐसा कहते हैं। व्यवहार ज्ञात होता है, इसलिए व्यवहार करो। निश्चय भगवान केवली जाने। आहाहा! ज्ञानमति ऐसा कहती हैं कि हम भव्य हैं या अभव्य ? काललब्धि पकी है या नहीं पकी ?—यह तो केवली जाने। यहाँ आचार्य कहते हैं कि हम जानते हैं। आहाहा! बहुत अन्तर, बहुत अन्तर। पूरा फेरफार है।

राग और ज्ञान दोनों भिन्न हैं। एक सुखरूप और एक दुःखरूप है। एक आकुलतारूप और एक अनाकुलतारूप है। आहाहा! एक अचेतन और एक चेतन है। शुभ-अशुभभाव अचेतन है, उसमें चेतन का अंश नहीं। चेतन का अंश जो है, उसे द्रव्यसन्मुख झुका। उस

राग में चेतन का अंश नहीं है। आहाहा! परसन्मुख झुकी हुई वृत्तियाँ जो है, उनमें ज्ञान का अंश नहीं है, इसलिए उनकी (ओर से) विमुख हो। आहाहा! आज तो यह मुद्दे की बात है।

अब लक्षण की बात करते हैं। ऊपर ऐसा कहा न? **आत्मा और बन्ध के नियत स्वलक्षण...** दोनों के निश्चयलक्षण क्या? उससे जानकर भिन्न कर। अब लक्षण की बात करते हैं। लक्षण क्या? **आत्मा का स्वलक्षण चैतन्य है,...** आहाहा! जो कायम है। जाननेवाला... जाननेवाला... जाननेवाला... जाननेवाला... जाननेवाला... यह उसका लक्षण है। अस्तित्व और अरूपीपना, यह कहीं उसका मुख्य लक्षण नहीं। (यथार्थ) लक्षण यह है क्योंकि अस्तित्व और अमूर्तपना तो दूसरे द्रव्यों में भी है। **आत्मा का स्वलक्षण चैतन्य है,...** वह तो जाननेवाला-देखनेवाला, जाननेवाला-देखनेवाला, जाननेवाला-देखनेवाला चैतन्य लक्षण है। आहाहा!

क्योंकि वह समस्त शेष द्रव्यों से असाधारण है, (वह अन्य द्रव्यों में नहीं है)। जानना, वह अन्य द्रव्यों में नहीं है। भले दूसरे आत्मा में है, परन्तु यह जानना, वह उस द्रव्य में नहीं है। जड़ में तो नहीं परन्तु यह जानना जो है, जो राग से विमुख हो—ऐसा ज्ञान, वह चेतन, वह यह जाति है, यह वहाँ नहीं है। वहाँ उसकी अलग है। आहाहा! **समस्त शेष द्रव्यों से असाधारण है, (वह अन्य द्रव्यों में नहीं है)।** अन्य द्रव्यों में वह नहीं है।

वह (चैतन्य)... अब लक्षण को स्पष्ट करते हैं। चैतन्य लक्षण अर्थात् क्या? उसे स्पष्ट करते हैं कि चैतन्य लक्षण, वह आत्मा। **वह (चैतन्य) प्रवर्तमान होता हुआ...** गुण... गुण लिया। चैतन्य का गुण। **(चैतन्य) प्रवर्तमान होता हुआ जिस-जिस पर्याय को व्याप्त होकर प्रवर्तता है...** पर्याय शब्द से यहाँ गुण (लेना)। जिस-जिस गुण को व्याप्त होकर प्रवर्तता है। यह गुण है, यह गुण, सहवर्ती गुण। आहाहा! **वह (चैतन्य) प्रवर्तमान होता हुआ...** जिस-जिस भेद को। यह गुण-भेद है न? चैतन्य में यह गुण है, उसे व्याप्त कर प्रवर्तता है। चैतन्यद्रव्य जो है, वह गुण को व्याप्त कर प्रवर्तता है। कायम (ऐसे प्रवर्तता है)। आहाहा!

जिस-जिस पर्याय को व्याप्त होकर प्रवर्तता है... गुण.. गुण। स्वद्रव्य। चैतन्यद्रव्य जिस-जिस पर्याय को व्याप्त कर प्रवर्तता है अर्थात् गुण। **और निवर्तमान होता हुआ जिस-जिस पर्याय को ग्रहण करके...** जिस-जिस नयी पर्याय को ग्रहण करके

पुरानी पर्याय से निवर्तमान होता है। आहाहा! थोड़े में बहुत भरा है। **निवर्तमान होता हुआ...** पर्याय बदलती है, चैतन्य की पर्याय तो बदलती है। राग है, वह जाननेयोग्य है और जाननेवाला (स्वयं है), परन्तु जाननेवाले की पर्याय फिरती है, बदलती है, पलटती है। उस जाननेयोग्य में जानता नहीं। अभी यह, हों! बाकी वास्तव में पर्याय को पर्याय जानती है। आहाहा!

निवर्तमान होता हुआ जिस-जिस पर्याय को ग्रहण करके निवर्तता है, वे समस्त सहवर्ती... उस पर्याय को प्रवर्तमान होता हुआ कहा, वह सहवर्ती, साथ में रहनेवाले गुण। चेतनद्रव्य, उन चैतन्यगुण में साथ रहता हुआ प्रवर्तता है। कायम रहनेवाला है। आहाहा! द्रव्य-गुण को तीन डाला। चैतन्यद्रव्य, वह चैतन्य गुण जो स्वभाव सहवर्ती में व्याप्त होकर प्रवर्तता है। आहाहा! **वे समस्त सहवर्ती या क्रमवर्ती पर्यायें...** जिन-जिन पर्यायों को ग्रहण करके निवर्तमान होता है, नयी पर्याय को ग्रहण करके निवर्तमान होता है। आहाहा! निवर्तमान होकर ग्रहण करता है, ऐसा नहीं लिया। समझ में आया? नयी पर्याय को ग्रहण करके निवर्तमान होता है। वापस अस्ति रखनी है। पर्यायरहित नहीं रहता। छोड़कर ग्रहण करता है, (ऐसा होवे तो) वहाँ पर्याय का अस्तित्व नहीं रहता। यहाँ पर्याय का अस्तित्व पर्याय में है, उसे ग्रहण करता है, नयी पर्याय उत्पन्न करता है और पुरानी से निवर्तमान होता है, समय एक है। आहाहा! ऐसा सूक्ष्म आया। उसे संयोग कहा न, संयोग। पंचास्तिकाय (में कहा है।) जो पर्याय उत्पन्न होती है, वह संयोग है; व्यय होती है, वह वियोग है। आहाहा! चेतनद्रव्य के साथ गुण तो सदा साथ है। चेतन के साथ चैतन्यपने का गुण सदा साथ ही प्रवर्तमान ही है और पर्याय है, उस नयी पर्याय को ग्रहण करता, नयी पर्याय को ग्रहण करती निवर्तमान होती है। नयी की अस्ति पर्याय तो रखती है। आहाहा! पहले पर्याय को अस्तिपने रखकर ग्रहण कर निवर्तमान होता है। नयी पर्याय को ग्रहण करता हुआ पुरानी पर्याय से निवर्तमान होता है। आहाहा!

वे समस्त सहवर्ती या क्रमवर्ती पर्यायें आत्मा हैं... वे सहवर्ती गुण चैतन्य के साथ शाश्वत् रहनेवाले, सह—साथ में रहनेवाले गुण और क्रम-क्रम से निवर्तन उपजाकर उपजते हुए छोड़े, वह पर्याय, वह सब आत्मा है। यह सहवर्ती और क्रमवर्ती पर्यायें आत्मा हैं। दोनों आत्मा है। आहाहा! वह राग (आत्मा) नहीं है। यह आत्मा का लक्षण कहना है

न ? आत्मा चैतन्यगुण जो त्रिकाल सहवर्ती है, उसे व्याप्तकर प्रवर्तमान होता है। आहाहा! और नयी पर्याय को उत्पन्न करके निवर्तमान होता है। ग्रहण करके निवर्तमान होता है। वे सभी सहवर्ती और क्रमवर्ती पर्यायें आत्मा है। यह लक्षण कहा। आत्मा का यह लक्षण बाँधा। आहाहा! अब ऐसी धर्म की सूक्ष्म बातें! लोगों को बाहर से धर्म मान लेना है। जिसमें आत्मा की निर्मल पर्याय या गुण भी नहीं और उसे धर्म मानना! आहाहा!

वह सब आत्मा ही है। उसी एक लक्षण से लक्ष्य है। वही आत्मा वही एक लक्षण। लक्षण एक है। ज्ञानलक्षण से लक्ष्य (होता है)। चैतन्यलक्षण से ही चेतन पहिचाना जाता है, दूसरा कोई उसमें लक्षण नहीं है।

और समस्त सहवर्ती तथा क्रमवर्ती अनन्त पर्यायों के साथ... आहाहा! समस्त सहवर्ती गुण और क्रमवर्ती पर्यायें। क्रमवर्ती पर्यायें अर्थात् भेद लिये। सहवर्ती भी पर्याय ली है (क्योंकि) भेद है न ? सहवर्ती, क्रमवर्ती अनन्त पर्यायें। **चैतन्य का अविनाभावी भाव होने से...** आत्मा का अनन्त गुण और अनन्त पर्याय के साथ अविनाभाव है। उसके बिना चेतन नहीं होता और चेतन के बिना वे नहीं होते। चेतन के बिना चैतन्य का सहवर्ती गुण और पर्यायें नहीं होते तथा गुण और पर्यायों के बिना चेतन नहीं होता। यह अविनाभाव (कहा जाता है)।

साथ चैतन्य का अविनाभावी भाव होने से चिन्मात्र ही आत्मा है... ज्ञान —जाननस्वभाव, जाननस्वभावमात्र आत्मा है। वह किसी का कुछ करनेवाला, किसी से कुछ लेनेवाला आत्मा नहीं है। आत्मा बोलनेवाला और आत्मा चलनेवाला, वह आत्मा नहीं है। राग, वह आत्मा नहीं, तब फिर बोलने का कहाँ से (आत्मा होगा) ? आहाहा! **चिन्मात्र ही आत्मा है, ऐसा निश्चय करना चाहिए।** ऐसा निर्णय करना चाहिए। **इतना आत्मा के स्वलक्षण के सम्बन्ध में है।** इतना आत्मा के स्वलक्षण के सम्बन्ध में कहा।

अब बन्ध का लक्षण (कहते हैं)। **(अब बन्ध के स्वलक्षण के सम्बन्ध में कहते हैं:-) बन्ध का स्वलक्षण तो आत्मद्रव्य से असाधारण ऐसे रागादि हैं।** यहाँ रागादि लिये, विकार लिया, परिणाम लिये। भावार्थ में जरा कर्म रजकण लेंगे। **बन्ध का स्वलक्षण तो आत्मद्रव्य से असाधारण...** आत्मद्रव्य में बिल्कुल नहीं। आत्मद्रव्य में गुण या पर्याय में बिल्कुल नहीं, ऐसा असाधारण राग, पुण्य, दया, दान, काम, क्रोधभाव,

वह बन्ध का लक्षण है। आहाहा! बन्ध के लक्षण से अबन्ध संवर और निर्जरा हो, ऐसा कहने में आता है। बन्ध से संवर-निर्जरा हो। यहाँ कहते हैं, बन्ध से बन्ध होता है। संवर-निर्जरा तो आत्मा के स्वभाव के आश्रय से होते हैं। आहाहा! परन्तु शुभभाव पतला पड़े, उसमें अशुभ की निर्जरा होती है न? परन्तु अशुभ की निर्जरा हो, उसमें क्या हुआ? सभी अशुभ की कहीं निर्जरा होती है? थोड़ी होती है। शुभ बन्धन साथ में है। वह तो बन्धन ही है। शुभभाव तो संसार का कारण कहा है।

यह रागादिक आत्म द्रव्य के साथ साधारणता धारण करते हुए प्रतिभासित नहीं होते,... आत्मा के साथ राग-द्वेष साथ में दिखायी नहीं देते। जहाँ-जहाँ आत्मा, वहाँ-वहाँ राग—ऐसा दिखायी नहीं देता। जहाँ-जहाँ आत्मा, वहाँ-वहाँ ज्ञान—ऐसा दिखायी देता है। आहाहा! **क्योंकि वे सदा चैतन्यचमत्कार से...** पुण्य और पाप के भाव दया, दान, व्रत, भक्ति आदि के भाव **सदा चैतन्यचमत्कार से भिन्नरूप प्रतिभासित होते हैं।** चैतन्य के चमत्कार से भिन्न भासित होते हैं। आहाहा!

यह शुभभाव आत्मा से भिन्न भासित होता है। (शिष्य) कहता था, चेत्यचेतक के कारण-निकटपने के कारण एक जैसे भासित होते हैं। ऐसा कहा था न? राग चेत्य है और आत्मा चेतक है। इससे मानो एक हों, निकट हों, ऐसा दिखता था, परन्तु एक है नहीं। आत्मा और राग दोनों चीज़ें अत्यन्त भिन्न है। उनके लक्षण अत्यन्त भिन्न है।

चैतन्य आत्मा की समस्त पर्यायों में व्याप्त होता हुआ प्रतिभासित होता है,... जानना-देखना—ऐसा चैतन्य, वह आत्मा के प्रत्येक समय में प्रतिभासित होता है। **उतने ही, रागादिक प्रतिभासित नहीं होते,...** उतने कहीं राग-द्वेष (प्रतिभासित नहीं होते)। जहाँ-जहाँ आत्मा, वहाँ राग-द्वेष दिखायी नहीं देते। सिद्ध हुए, केवली हुए, वहाँ राग दिखायी नहीं देता। आहाहा! **क्योंकि रागादि के बिना भी चैतन्य का आत्मलाभ सम्भव है...** राग-द्वेष के बिना भी अकेला भगवान आत्मा रहता है। दया, दान, व्रत, भक्ति, काम, क्रोध के परिणाम रहित आत्मा है। उनके बिना भी अकेला आत्मा... है न? **आत्मलाभ सम्भव है (अर्थात् जहाँ रागादि न हों, वहाँ भी चैतन्य होता है)।** परन्तु साथ में कैसे उपजते हैं? इसकी व्याख्या विशेष आयेगी.....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ३६१, गाथा-२९४ गुरुवार, मगसिर कृष्ण ३, दिनाङ्क ०६-१२-१९७९,

समयसार २९४ गाथा है। पाँचवाँ पैराग्राफ चलता है न? यहाँ आया **क्योंकि रागादि के बिना भी चैतन्य का आत्मलाभ सम्भव है...** क्या कहते हैं? राग न हो तो भी आत्मा तो अकेला रह सकता है। इसलिए राग, वह कहीं आत्मा का स्वरूप नहीं है। राग के बिना अकेला आत्मा का, मोक्ष का लाभ मिल सकता है। राग कहीं आत्मा की चीज़ नहीं है।

अब कहते हैं, ऐसे राग साथ में उत्पन्न होता है न? **रागादि की चैतन्य के साथ ही...** जहाँ ज्ञान उत्पन्न होता है, उसी काल में राग उत्पन्न होता है। एक समय में साथ में है। राग-द्वेष का **चैतन्य के साथ ही...** सूक्ष्म बात है, भाई! यहाँ तो जितना व्यवहार दया, दान, भक्ति, व्रत, आदि के परिणाम, वे सब राग हैं। वे आत्मा में जाननेयोग्य हैं, वे आत्मा की चीज़ नहीं हैं। उनसे आत्मा को जरा भी लाभ नहीं। क्यों? कि **रागादि की चैतन्य के साथ ही उत्पत्ति होती है...** है?

आत्मा ज्ञानस्वरूप वस्तु है, उस ज्ञान की उत्पत्ति होती है, उसी समय में राग-द्वेष आदि दया, दान, व्रत का विकल्प उत्पन्न होता है। समय तो एक ही है। **वह चेत्यचेतकभाव (ज्ञेयज्ञायकभाव) की अति निकटता के कारण ही है,...** ऐसा कैसे है? एकसाथ दोनों उपजते हैं? ज्ञान, आत्मा ज्ञानस्वरूप है। वह ज्ञान की पर्याय उपजे और साथ में राग की उपजे - ऐसा कैसे? वह अतिनिकटता के कारण और चेत्यचेतकपने के कारण। अर्थात्? राग है, वह ज्ञात होने योग्य है, आत्मा जाननेवाला है। आत्मा चेतक है, राग चेत्य है। ज्ञात होनेयोग्य है—ऐसा सम्बन्ध होने से नजदीकपना लगता है; इसलिए राग और आत्मा मानो एक हो - ऐसा लगता है। आहाहा! कठिन काम। जितना व्यवहार का राग—दया, दान, व्रत, भक्ति, तप, पूजा, यह सब राग, आत्मा की दशा; आत्मा तो ज्ञानस्वरूप आनन्दस्वरूप है, जिस समय में ज्ञान उत्पन्न होता है, उसी समय में राग भी साथ में उत्पन्न होता है। एक साथ उत्पन्न होता है - उसका कारण? कि वह तो चेत्य-चेतकपने के कारण है। यह राग है, वह ज्ञात होने योग्य है और आत्मा जाननेवाला है। दोनों एक नहीं हैं। आहाहा! जिसे दुनिया अभी व्यवहार साधन कहकर धर्म कहती हैं। दया पालो, व्रत करो,

अपवास करो, तप करो, भक्ति करो, पूजा करो – ऐसा कहकर लोग धर्म कहते हैं। उसे यहाँ भगवान, राग कहकर आत्मा में जाननेयोग्य ऐसी दूसरी चीज़ है, वह आत्मा की चीज़ नहीं। आत्मा चेतक है-जाननेवाला है और राग ज्ञात होनेयोग्य दूसरी चीज़ अलग है, दोनों होकर एक चीज़ नहीं है। आहाहा! ऐसा कठिन काम।

यह व्रत, तप, भक्ति, पूजा, दान और दया ऐसा जो भाव आता है, कहते हैं कि वह राग है। तब होता क्यों है ? कि चेत्यचेतकपने के कारण। वह ज्ञेय है और यह ज्ञायक है। राग है, वह ज्ञात होनेयोग्य है और आत्मा जाननेवाला है। उसके कारण निकट से देखने में आता है। अज्ञानी को दोनों एक जैसे लगते हैं। अज्ञानी को राग की क्रिया से आत्मा को लाभ होता है – ऐसा जानता है। आहाहा! बहुत कठिन काम, कहते हैं। जिसे लोग धर्म मानें, उसे यहाँ कहते हैं कि विकार है। वह तो एक जाननेयोग्य चीज़ है। वह व्यवहार जाना हुआ प्रयोजनवान है, इस बात को यहाँ सिद्ध किया। व्यवहार आता है, होता है परन्तु जाना हुआ प्रयोजनवान है। आहाहा! है ?

इस चेत्य और चेतकपने की। चेतक अर्थात् ज्ञायक, चेत्य अर्थात् ज्ञेय तथा चेतक अर्थात् ज्ञायक। है ? चेत्यचेतक—चेत्य अर्थात् ज्ञेय, ज्ञात होनेयोग्य और चेतन अर्थात् जाननेवाला – चेतक। इन दोनों की **अति निकटता के कारण ही है,...** दोनों एक समय में और एक क्षेत्र में हैं। यह क्या कहा ? आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप है और यह राग उत्पन्न होता है, वह विकार बन्ध लक्षण है, वह बन्ध का लक्षण है। आत्मा का ज्ञान लक्षण है। दोनों लक्षण भिन्न होने से दोनों चीज़ भिन्न है, तथापि निकटपना और एक क्षेत्र में और एक काल में है। जाननेवाला और ज्ञात होनेयोग्य एक समय में होने से अज्ञानी को, वह राग मेरी चीज़ है अथवा राग से मुझे लाभ होगा—ऐसा अज्ञानी को, भेदज्ञान नहीं है, इसलिए ऐसा मानता है। आहाहा! ऐसी बात है। इन पुराने लोगों को क्या, झवेरचन्दभाई ने सुना होगा सब, यह सुना होगा (कि) व्रत पालना, तप करना, और यह करना और वहाँ आंकड़िया में क्या होता है वहाँ ? वह यहाँ कहते हैं व्रत, तप, उपवास, भक्ति और भगवान का स्मरण करना, यह सब राग है। राग है, वह चेत्य है अर्थात् ज्ञेय है और आत्मा चेतक है अर्थात् वह उन्हें जाननेवाला ज्ञायक है। दोनों भिन्न चीज़ है। आहाहा! ऐसा कब सुनने को (मिले) ? समझे नहीं और जन्म-मरण से छूटे नहीं। आहाहा! है ?

एक लाईन में कितना समा दिया, देखा! आहा! यह राग और द्वेष का **चैतन्य के साथ ही...** आत्मा के ज्ञान की दशा के साथ ही **उत्पत्ति होती है...** क्षेत्र एक है, काल एक है, भाव भिन्न है। भगवान आत्मा चैतन्य / जाननस्वभाव है और ये दया, दान, व्रत, रागादि के परिणाम वे, चेत्य अर्थात् जाननेयोग्य है, वे ज्ञेय है। आत्मा ज्ञायक है, वे ज्ञेय है। ज्ञेय और ज्ञायक दोनों एक नहीं परन्तु साथ में एक साथ में उत्पन्न होते हैं, इससे अज्ञानी को भ्रम उत्पन्न होता है कि राग भी मेरी चीज़ है और उस राग को करने से मुझे कुछ लाभ होगा —ऐसा अज्ञानी अनादि से मिथ्याश्रद्धा में मान रहा है। कहो, यशपालजी! यह तो सब व्यवहार उड़ जाता है। आहाहा! उड़ नहीं जाता, रहता है। है तो सही, नहीं तो फिर जाननेयोग्य कहा किसे? जाननेयोग्य, व्यवहार जाननेयोग्य है परन्तु जाननेवाला उससे भिन्न चीज़ है। आहा! जाननेवाले से वह भिन्न चीज़ है और राग से जाननेवाला (राग और जाननेवाला) भिन्न चीज़ है। दो चीज़ें अत्यन्त भिन्न हैं।

ज्ञायक चैतन्य तो ज्ञायक है। शरीर और वाणी की बात तो यहाँ नहीं ली। वह परवस्तु तो अत्यन्त भिन्न है। स्त्री, कुटुम्ब, परिवार, धन्धा-व्यापार की तो बात नहीं ली है, वह परवस्तु तो अत्यन्त भिन्न है। उसे तो आत्मा कुछ माने कि मैं करूँ तो भी कर नहीं सकता। यह माने तो करे, मान्यता कर सकता है। राग मेरा है—ऐसी मान्यता कर सकता है परन्तु परचीज़ मेरी है—ऐसा करे तो वह परचीज़ इसकी नहीं होती। यह राग (को) भी माने (कि) मेरा है—ऐसा माने परन्तु राग इसका नहीं होता, किन्तु मान सकता है। आहाहा! ऐसा सूक्ष्म काम है।

रागादिक... रागादि अर्थात् द्वेषादि रति, अरति, विषय-वासना, भक्ति आदि के भाव, वे सब रागादि में जाते हैं। वे **चैतन्य के साथ ही... चैतन्य के साथ ही...** चैतन्य के साथ ही, साथ, एकसाथ उत्पन्न **उत्पत्ति होती है, वह चेत्यचेतकभाव (ज्ञेयज्ञायकभाव) की...** चेत्य अर्थात् ज्ञेय और चेतक अर्थात् ज्ञायक। चेत्य अर्थात् विकार और चेतक अर्थात् निर्विकारी चेतन। इन दोनों को जाननेवाला और ज्ञात होने योग्य इतना सम्बन्ध है, बाकी दूसरा सम्बन्ध उन्हें कुछ है नहीं। आहाहा! व्यवहार करते-करते निश्चय होता है—ऐसा किसी प्रकार इसमें सम्बन्ध है नहीं। आहाहा! हाँ, व्यवहार है, व्यवहार आता है, होता है,

चीज़ है परन्तु वह चेतक को जाननेयोग्य है। आहाहा! और वह क्यों ऐसा होता है? एक साथ उत्पत्ति है इसलिए। ज्ञान की पर्याय उत्पन्न हो और उसी काल में तथा उसी क्षेत्र में राग की उत्पत्ति हो। भाव अलग, भाव अलग, हों! आहाहा! अब ऐसी सूक्ष्म बात! भगवान का स्मरण करना, णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं! कहते हैं कि ये स्मरण करना, वह राग है। राग है, वह चेत्य है, चेत्य है अर्थात् ज्ञेय है, ज्ञेय है अर्थात् ज्ञायक से भिन्न है। जाननेवाले आत्मा से वह चीज़ भिन्न है और जानने में आनेयोग्य चीज़ से ज्ञायकभाव भिन्न है। आहाहा!

ऐसे **चेत्यचेतकभाव (ज्ञेयज्ञायकभाव) की अति निकटता के कारण ही है,...** बहुत नजदीक है। एक साथ उत्पन्न होते हैं, इसलिए लोगों को भ्रम पड़ता है कि दया, दान, व्रत का विकल्प जो उत्पन्न होता है, वह जीव का है-ऐसा भ्रम उत्पन्न होता है। आहाहा! जो कुछ कर सकता वह कर सके, वह कहते हैं कि यह तू नहीं, तू तो ज्ञायक चेतनस्वरूप है, जाननेवाला देखनेवाला है। इसके अतिरिक्त अधिक जो अन्दर डाला कि राग का कर्ता हूँ तो मर गया, मिथ्यात्व होगा। तूने चेतन को मार डाला। आहा! भयंकर भावमरण खड़ा किया। यह राग की क्रिया मेरी है और राग से मुझे लाभ होता है-उसमें राग से भिन्न चेतन है, उसे उसने नष्ट कर दिया। वह चेतन नहीं परन्तु ऐसा कि रागवाला वह चेतन है। आहाहा! ऐसा कठिन है। युवकों को भी यह तो कठिन पड़े ऐसा है। पुराने आग्रह न हों तो युवक शीघ्र पकड़े और वृद्ध को तो पुराने आग्रह हों तो छोड़ना कठिन पड़े।

एक लाईन में कितना डाला है! जितने विकल्प उठें, चाहे तो परमेष्ठी का स्मरण, पंच परमेष्ठी का स्मरण, नवकार (गिने), वह क्या कहते हैं? आनुपूर्वी! आनुपूर्वी नहीं? णमो अरिहंताणं, णमो आइरियाणं। उलट-पुलट (बोलने का) बराबर ध्यान रखकर पढ़े। (वह) राग है, कहते हैं। वह राग है, वह आत्मा की जाति नहीं है, वह आत्मा और राग भिन्न है और इसलिए वह राग जाननेयोग्य में ज्ञात होता है और आत्मा उसका जाननेवाला है-ऐसा ज्ञात होता है। आहाहा!

इसमें बड़ी गड़बड़ (चलती है) राग ऐसा हो, व्यवहार से ऐसा हो, व्यवहार से यह हो, व्यवहार से निश्चय हो, व्यवहार करते-करते निश्चय हो, आहाहा! छोड़कर, यह भी एक अपेक्षा से कथन है। बाकी तो ज्ञायकस्वरूप में एकाग्र होता है, इसलिए राग उत्पन्न नहीं

होता, वह राग को छोड़ता है - ऐसा कहने में आता है। आहाहा! कोई कहे, ऐसा कहाँ से निकाला? वीतरागमार्ग में है यह? यह किसमें है यह? यह किसकी पुस्तक है? यह समयसार है। दो हजार वर्ष पहले बनाया हुआ। कुन्दकुन्दाचार्य ने बनाया है। वे तीर्थंकर के पास गये थे। सीमन्धर भगवान बिराजमान हैं, महाविदेह में बिराजमान हैं प्रभु, अभी बिराजते हैं। आहा! उनके पास गये थे, आठ दिन रहे थे और आकर यह शास्त्र बनाया। आहाहा! इसकी टीका करनेवाले अमृतचन्द्राचार्य भले भगवान के पास नहीं गये थे परन्तु इस भगवान के पास अन्दर गये थे। आहाहा! गजब बात! एक लाईन में कितना भरा है!

एक तो एक बात है कि रागादि एक बात। दूसरा चेतन, दो बात। तीसरा साथ ही उत्पन्न होते हैं, तीन बात। एक साथ ही उत्पन्न होते हैं, तीन बात। यह चेत्यचेतकपने के कारण। ऐसा कैसे है? कि वह तो ज्ञात होनेयोग्य है और आत्मा जाननेवाला है। उसके कारण नजदीक से एक समय में उत्पन्न होते हैं। आहाहा! दूसरे प्रकार से (कहें तो) जो राग जिस समय में उत्पन्न होता है, उसी समय में उस राग का ज्ञान स्वयं से ही उत्पन्न होता है। क्या कहा यह? राग जो कोई दया, दान, भक्ति आदि का विकल्प उत्पन्न हो, उसी समय में उस राग की अस्ति है, इसलिए उसका ज्ञान होता है-ऐसा नहीं है। वह ज्ञानगुण की पर्याय ही स्वयं स्व-पर प्रकाशकरूप से उस समय में प्रगट होती है। इसलिए उसे जाननेवाला कहकर राग को ज्ञात होनेयोग्य कहने में आया है। आहाहा!

वास्तव में तो आत्मा ही स्वयं अपनी पर्याय को जानता है। जाननेवाले का कर्ता स्वयं आत्मा है, यह भी व्यवहार है। पर्याय पर्याय की कर्ता है, वह राग के कारण नहीं, द्रव्य-गुण के कारण नहीं। जानने की पर्याय, जानने की कर्ताकर्म से स्वयं स्वतन्त्ररूप से होती है। उसके साथ राग को मिलाना, शामिल करना और राग मेरा है—ऐसा मानना, वह मिथ्यात्व अर्थात् आत्मा के स्वरूप की हिंसा है। आत्मा के स्वरूप की हिंसा है। अरर! ऐसी बातें अब।

अब कहते हैं, पहले निषेध किया कि वह **अति निकटता के कारण ही है, एकद्रव्यत्व के कारण नहीं;**... क्या कहा यह? जाननेवाला चेतन भगवान और दया, दान के विकल्प जो राग है, दोनों एक द्रव्य नहीं, द्रव्य दोनों भिन्न हैं। आहाहा! दो पदार्थ भिन्न हैं, दो तत्त्व भिन्न हैं। वह (राग) आस्रवतत्त्व, पुण्यतत्त्व, पापतत्त्व है; यह आत्मतत्त्व है,

दोनों तत्त्व भिन्न चीज़ है, एक वस्तु नहीं। नव तत्त्व में भी ऐसा आता है या नहीं? दया, दान, व्रत के परिणाम, वह पुण्यतत्त्व है। हिंसा, झूठ, चोरी, धन्धा-व्यापार का परिणाम, वह पापतत्त्व है। भगवान तो इन पुण्य-पाप तत्त्व से भिन्न ज्ञायकतत्त्व है। इसलिए दो तत्त्व अत्यन्त भिन्न हैं अर्थात् ये साथ में उत्पन्न होते हैं, वह एक द्रव्यत्व के कारण नहीं। एक साथ में, एक काल में, एक क्षेत्र में ज्ञान उत्पन्न हो और राग उत्पन्न हो, वह एक द्रव्यत्व के कारण नहीं, एक वस्तुत्व के कारण नहीं, दो होकर एक पदार्थपने के कारण नहीं। आहाहा! है?

जैसे... आहाहा! **(दीपक के द्वारा) प्रकाशित किया जानेवाला...** अब बहुत सूक्ष्म बात आयेगी। आहाहा! दीपक द्वारा **प्रकाशित किया जानेवाला घटादिक...** घड़ा, रथ, पानी आदि चाहे जो चीज़ हो वह। **(दीपक के द्वारा) प्रकाशित किया जानेवाला घटादिक (पदार्थ) दीपक के प्रकाशकत्व को ही प्रगट करते हैं...** आहाहा! वह दीपकपने को ही प्रसिद्ध करते हैं, वे घट-पट को प्रसिद्ध नहीं करते। घट-पट तो घट-पट में रहे। घड़ा आदि प्रसिद्ध नहीं करते क्योंकि वे तो उनमें रहे। उन सम्बन्धी का यहाँ ज्ञान अपना है, उसे प्रसिद्ध करता है क्योंकि वह अपने में रहा है। आहाहा!

फिर से, दीपक है, वह दूसरी चीज़ को प्रकाशित करता है - ऐसा नहीं है। वह अपनी प्रकाश की चीज़ को ही प्रकाशित करता है। दीपक का स्वभाव ही स्व-पर को प्रकाशित करने का है। स्वयं उसके कारण प्रकाशित होता है। वह दूसरी चीज़ को प्रकाशित करता है - ऐसा नहीं है। आहाहा! बहुत सूक्ष्म आया। अब सिद्धान्त आयेगा। यह तो दृष्टान्त आया।

इस प्रकार (आत्मा के द्वारा) चेतित होनेवाले... आत्मा द्वारा जानने में आनेवाले जो रागादि, दया, दान, व्रत, भक्ति, काम, क्रोध के परिणाम जानने में आने पर, वे **रागादिक (अर्थात् ज्ञान में ज्ञेयरूप से ज्ञात होनेवाले रागादि भाव) आत्मा के चेतकत्व को ही प्रगट करते हैं...** यह क्या कहते हैं? आहाहा! आत्मा अपने को जानता है और रागादि हों, उन्हें जानता है। वह जानने को-जानने की पर्याय को प्रकाशित करता है; पर को नहीं, रागादि को नहीं। सूक्ष्म बात है। आहाहा!

दीपक दूसरी चीज़ को प्रकाशित नहीं करता, क्योंकि दूसरी चीज़ में वह प्रविष्ट नहीं

होता। वह अपनी चीज़ में रहकर प्रकाशित करता है अर्थात् वह तो दीपक के प्रकाश को प्रकाशित करता है। आहाहा! इसी प्रकार आत्मा राग, दया, दान, काम, क्रोध के परिणाम में प्रवेश कर नहीं जानता, उनमें तन्मय होकर नहीं जानता। तन्मय तो अपनी पर्याय में होकर जानता है; इसलिए वह प्रकाशित करता है, वह अपनी ज्ञान की पर्याय को प्रकाशित करता है, रागादि को प्रकाशित नहीं करता। आहाहा! ऐसा सूक्ष्म है। कहाँ ले गये?

आत्मा का स्वभाव स्वतः स्वयं स्व-पर प्रकाशक होने से पर के कारण पर को प्रकाशित करता है - ऐसा नहीं है। पर के कारण पर को प्रकाशित करता है - ऐसा नहीं है। पर को और अपने को प्रकाशित करता है, वह स्वयं को प्रकाशित करता है, अपनी पर्याय को प्रकाशित करता है। वह पर चीज़ को प्रकाशित नहीं करता। आहाहा! समझ में आया इसमें कुछ? बहुत सूक्ष्म है, बापू!

जैसे (दीपक के द्वारा) प्रकाशित किया जानेवाला... घड़ा, मकान कोई भी चीज़ सामने हो वह। दीपक के सामने एक सर्प हो, उसे प्रकाशता है, उस सर्प को प्रकाशित नहीं करता। उस सर्प सम्बन्धी अपना प्रकाश-जो दीपक का प्रकाश है, उसे प्रकाशित करता है क्योंकि सर्प के साथ दीपक के प्रकाश का तन्मयपना नहीं है। आहाहा!

इसी प्रकार आत्मा ज्ञानानन्दप्रभु राग, दया, दान, व्रत, भक्ति, काम परिणाम हों, उन्हें प्रकाशित नहीं करता। पहले कहा था कि उन्हें जानता है, जाननेयोग्य है और यह जाननेवाला है। ऐसा कहकर अब कहते हैं कि वह जाननेयोग्य है, यह भी व्यवहार से कहा था, बाकी उन्हें प्रकाशित नहीं करता; अपनी पर्याय में द्विरूपता को प्रकाशित करता है। अपने को प्रकाशित करता है और राग को प्रकाशित करता है, इस द्विरूपता को प्रकाशित करता है, वह अपना प्रकाश है। आहाहा! ऐसी बात है। सूक्ष्म पड़े ऐसा है। मार्ग तो यह है, भाई! अभी तो सब गड़बड़ चली है। धर्म के नाम से घोटाला-गड़बड़ बाहर से चलायी। आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं, प्रभु! एक बात सुन। तू एक चैतन्य है या नहीं? है तो तेरा स्वभाव जानना है या नहीं? वह जानना है तो जानना स्व-पर प्रकाशकरूप से है या अकेले स्व-रूप से ही है? जब स्व-पर प्रकाशकरूप से जानना है तो वह पर को प्रकाशित करता है या अपने को प्रकाशित करता है? स्व-पर प्रकाशकपना अपने को प्रकाशित करता है।

आहाहा! ऐसा सूक्ष्म। कहाँ ले गये? राग का कर्ता नहीं। ज्ञानस्वरूपी प्रभु, चैतन्यप्रभु आत्मा इन दया, दान, राग का कर्ता तो नहीं परन्तु इसका जाननेवाला भी नहीं। आहाहा! यहाँ ले गये। जाननेवाला कहा था, वह इसके जानने में वे आते हैं, इसलिए (कहा था) परन्तु वास्तव में तो वह अपने ज्ञान को प्रकाशित करता है। स्व-पर प्रकाशक अपनी शक्ति है, उसे विस्तरित करता है, इन रागादि को विस्तारता नहीं। चैतन्य का स्व-पर प्रकाशक विस्तार अपने ज्ञान को विस्तारता है, परवस्तु / ज्ञेय को विस्तारता नहीं। आहाहा! ऐसा सूक्ष्म है।

यह किस प्रकार का धर्म? ऐसा वीतराग का जैनधर्म होगा? इच्छामि पडिक्कमणां.. इरिया विहिया.. उसमें आवे मिच्छामि दुक्कडम.. तो समझ में भी आवे। तस्सुतरि करणेण, पायश्चित करणेण, अप्पाणं बोसरे.. अन्त में आता है अप्पाणं वोसरे। अप्पाणं कौन? और वोसरे कौन? इसका भी पता नहीं होता। आहाहा!

यहाँ आत्मा के गुण की मर्यादा ली है। इस आत्मा के गुण की मर्यादा चैतन्य की स्व-परप्रकाशक की है। वह पर को प्रकाशित करता है—ऐसा प्रसिद्ध नहीं करता परन्तु पर सम्बन्धी अपना जो पर प्रकाशक स्वभाव है, वह स्व-पर प्रकाशक है, उसे प्रकाशित करता है। आहाहा! ऐसा अब सुनना मुश्किल पड़ता है, यह बैठाना कठिन (पड़ता है)।

पहले तो यह लिया कि राग-पुण्य और पाप का भाव हो, वह चैत्य है - ज्ञात होने योग्य है, बस! इतना कहा। आत्मा जाननेवाला है, इतना कहा। वह एक काल में और एक क्षेत्र में एक साथ उत्पन्न होते हैं, तथापि दोनों भिन्न चीज़ है। वह ज्ञात होनेयोग्य चीज़ है, वह जाननेयोग्य है। अब यहाँ तो कहते हैं कि यह ज्ञात होनेयोग्य चीज़ है, वह बात कही थी परन्तु वह इसके प्रकाश में प्रकाशित होती है, वह अपना प्रकाश है, उस चीज़ को प्रकाशित नहीं करता, वह अपना चैतन्य का स्व-पर प्रकाशक (स्वभाव है), उसे प्रकाशित करता है। आहाहा! ऐसी बातें हैं। थोड़ा सूक्ष्म पड़ता है परन्तु समझनेयोग्य यह है। बाहर की बातें सुन-सुनकर तो बहुत वर्ष व्यतीत किये। आहाहा!

सत्य बात परमेश्वर त्रिलोकनाथ (यहाँ कहते हैं कि) ज्ञानस्वरूपी आत्मा, ज्ञानस्वरूपी आत्मा वह ज्ञान, ज्ञेय में कहाँ तन्मय होता है? ज्ञेय सम्बन्धी का जो ज्ञान अपना है, उसमें वह तन्मय है; इसलिए वह स्वयं अपने ज्ञान के स्व-पर प्रकाश को विस्तारता है,

विस्तरता है, पर का विस्तार नहीं करता। आहाहा! अब इसे ऐसा समझने के लिये समय कब प्राप्त करना। आहाहा!

चैतन्यद्रव्य भगवानस्वरूप चैतन्य प्रकाश है, चैतन्य चमत्कारी वस्तु है, चैतन्य चमत्कारी वस्तु है। चमत्कारी अर्थात् अपने में रहकर अनन्त को प्रकाशित करती है, तथापि अनन्त को प्रकाशित करती है-ऐसा कहना वह अपेक्षा है। अनन्त को अपने भाव को प्रकाशित करता है अनन्त को। अपनी पर्याय में अनन्त ज्ञात हो, उस अनन्त को प्रकाशित करता है। आहाहा! समझ में आया इसमें? कठिन काम है, बापू! यह कहीं कलकत्ते-फलकत्ते में मिले ऐसा नहीं है। दिल्ली और कलकत्ते में सर्वत्र धूल मिले, ऐसा है वहाँ। आहाहा!

प्रभु! तू कितना है? कहाँ हो? कि ज्ञात हो, ऐसे पदार्थ में मैं नहीं। ज्ञात हो, ऐसे पदार्थ में मैं नहीं। कहाँ हो? मैं तो मेरे स्व-पर प्रकाशक की पर्याय में हूँ। आहाहा! गजब है न! ऐसी शैली सन्तों ने जगत को सादी भाषा में, संक्षिप्त भाषा में, सादी भाषा में चैतन्यचमत्कार को ऐसे सामने रखा है, सामने (रखा है)। यह सब ज्ञात होता है? कि नहीं। ज्ञान की पर्याय में यह सब (ज्ञात होता है)? यहाँ तो सूक्ष्मरूप से अन्दर का राग लिया है। यह सब ज्ञात होता है ज्ञान में?-कि नहीं। यह चैतन्य का स्वभाव है कि प्रकाशित करना। उसके अस्तित्व में रहकर प्रकाशित करता है, वह अपने ज्ञान को प्रकाशित करता है। इन चीज़ों में वह ज्ञान नहीं जाता, तथा उस चीज़ के कारण यहाँ ज्ञान का प्रकाश नहीं होता। उस चीज़ के कारण यहाँ प्रकाश नहीं होता, यह प्रकाश वहाँ नहीं जाता तथा यह प्रकाश... आहाहा! अनन्त है, इसलिए अनन्त को पहुँच जाये तो अनन्त को जाने, अनन्त को पहुँच जाये तो अनन्त को जाने, तीन काल को पहुँच जाये तो तीन काल को जाने... आहाहा! ऐसा नहीं है। समझ में आया? यह तो मन्त्र है, भाई! यह अपने अनन्तभाव जानने का जो स्वभाव है, उस स्वभाव में अनन्त ज्ञात होते हैं। उस स्वभाव में अनन्त ज्ञात होते हैं, वह अपनी पर्याय ज्ञात होती है, पर नहीं। पर को तो स्पर्श भी नहीं करता। आहाहा! ऐसा स्वरूप है। ऐसा सुना था या नहीं? आहाहा!

जन्म-मरण कर-करके, बापू! चौरासी के अवतार (में) अनन्त भव कर-करके मर गया है (तो भी) थका नहीं, थका नहीं, विमुख नहीं होता, वहाँ बाहर ही बाहर की

नजरें। आहाहा! अभी तो बाहर करने की नज़र, एक बात। फिर बाहर को जानने की नज़र, दो बात। आहाहा! फिर मुझमें ज्ञात होता है, यह वह ज्ञात होता है, यह तीसरी बात। अब यहाँ कहते हैं कि मुझमें ज्ञात होता है, वह मैं ज्ञात होता हूँ, यह चौथी बात। आहाहा! भाषा तो सादी है। भाव समझ में आवें ऐसे हैं या नहीं? यशपालजी! भाषा तो (सादी है)। ऐसा मार्ग है, बापू! आहाहा! अरे! यह मनुष्य देह तो चली जायेगी, मनुष्य देह की राख हो जायेगी। यह तो राख है, मिट्टी, धूल, राख है। श्मशान में राख इतनी भी नहीं होगी। इतनी होकर हवा आयेगी तो (उड़ जायेगी)।

रजकण तारा रखण शे अने जेम रखडती रेत,
पछी नरतन पामीश क्यां? पछी नरतन पामीश क्यां?
चेत चेत चेत नर चेत!

प्रभु! तुझे करने का यह है, भाई! ऐसा काल आया है। आहा! अब फिर कहाँ जायेगा? बापू! कहाँ जाकर क्या करेगा तू? यदि मनुष्यपना हारकर कहीं ढोर में चला गया (तो) अनन्त काल में वापस मनुष्यपना मिलना मुश्किल। ढोर मरकर माँस खाकर जाये नरक में। आहाहा! वह निकलकर सिंह हो और मरकर वापस वहाँ जाये और ऐसे भव अनन्त किये, बापू! मूल चीज़ को (पकड़े नहीं और कहे) हमें समझ में नहीं आता, हमें सूक्ष्म पड़े, हमने ऐसा करके, ऐसा करके निकाल दिया और जगत की चीज़ जो वास्तव में जाननेयोग्य नहीं उसमें गहरा उतर गया, गहरा। आहाहा!

मुमुक्षु : वह सरल पड़ता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : सरल मानता है, सरल कुछ नहीं पड़ता। सरल तो यहाँ है। जाननेवाला भगवान स्वयं क्षण-क्षण में स्वयं, अपने और पर को अपने कारण से स्वयं प्रकाशित करता है। आहाहा!

स्व-परप्रकाशक शक्ति हमारी, ताते वचन भेद भ्रम भारी,
ज्ञेय शक्ति द्विधा प्रकाशी, निजरूपा पररूपा भासी। (समयसार नाटक)

ज्ञेय दो हैं परन्तु वास्तव में तो ज्ञेय वह भासता है। चैतन्य ज्ञेय है, उस चैतन्य ज्ञेय में प्रकाश है और उस प्रकाश से स्वयं प्रकाशित होता है। पर से प्रकाशित है? पर से प्रकाशित

है ? आहाहा ! इसका अस्तित्व ही इतना बड़ा है कि अपने में रहकर, पर को स्पर्श किये बिना, पर का अस्तित्व है, इसलिए अपने को जानता है, इतना सब—ऐसा भी नहीं। अपने अस्तित्व की सत्ता ही इतनी है कि पर अनन्त हैं, उन्हें स्पर्श किये बिना स्व-पर प्रकाशक को प्रकाशित करता है। उस परपदार्थ को प्रकाशित नहीं करता, स्व को प्रकाशित करता है। आहाहा ! ऐसी वस्तु है। इतनी लाईन में बहुत भरा है ! बहुत भरा है ! यहाँ से उठाकर आज का पैराग्राफ ही पूरा सरस है। आहाहा !

यह हुआ न ? **रागादि की चैतन्य के साथ ही उत्पत्ति होती है, वह चेत्यचेतकभाव (ज्ञेयज्ञायकभाव) की अति निकटता के कारण...** निकटता के कारण; एकपने के कारण नहीं। आहाहा ! एक द्रव्यपने के कारण नहीं। आहा ! **जैसे (दीपक के द्वारा) प्रकाशित किया जानेवाला...** घड़ा, सर्प, बिच्छु.. आहाहा ! दीपक के प्रकाश में ज्ञात हो कि यह सर्प है, बिच्छु है; तथापि उस दीपक के प्रकाश को प्रकाशित करता है, सर्प को नहीं। प्रकाश को प्रकाशित करता है कि इसी और इसी के दो के प्रकाश को प्रसिद्ध करता है। इसी प्रकार भगवान आत्मा... आहाहा ! **चेतित होनेवाले रागादिक (अर्थात् ज्ञान में ज्ञेयरूप से ज्ञात होनेवाले रागादि भाव) आत्मा के चेतकत्व को ही प्रगट करते हैं...** आहाहा ! रागादि हैं, उन्हें जाननेवाला चैतन्य है - ऐसा प्रकाशित करते हैं। आहाहा ! राग तो अन्धा है, राग में कहाँ जानने की शक्ति है ? यह जानने की शक्ति है, उसे प्रसिद्ध करता है। इस राग को प्रसिद्ध ज्ञान नहीं करता। आहाहा ! ऐसा है। कान में पड़ना कठिन। कहाँ का कहाँ जाना ? कहाँ भटका, कहाँ भ्रमा ! आहाहा !

आत्मा के चेतकत्व को ही... भाषा देखी ? क्या कहते हैं यह ? रागादि को नहीं। **आत्मा के चेतकत्व को ही प्रगट करते हैं-रागादिकत्व को नहीं।** आहाहा ! गजब काम किया है न ! ऐसी-ऐसी बात कहीं नहीं है। दिगम्बर सम्प्रदाय के अतिरिक्त और इस समयसार के अतिरिक्त कहीं बात नहीं। आहाहा ! कहते हैं कि आत्मा के चेतकपने को ही प्रसिद्ध करते हैं। 'ही' शब्द है न ? सामनेवाले को - ऐसा नहीं। आहाहा ! यह तो चैतन्य का स्व-पर प्रकाशकपना विशाल है, विशाल है, उसकी सत्ता ही विशाल है। उस विशालता को ही प्रसिद्ध करता है। विशालता में विशाल वस्तु प्रसिद्ध करता है - ऐसा नहीं। आहाहा ! सुननेयोग्य यह बात है। आहाहा !

ऐसा होने पर भी... है तो ऐसा। आत्मा के प्रकाश में आत्मा का प्रकाश ही प्रसिद्ध करता है, रागादि को नहीं। आहाहा! वे नजदीक में नजदीक एक समय में और एक क्षेत्र में उत्पन्न होते हैं। आहाहा! उन्हें भी प्रसिद्ध नहीं करता। अपनी प्रकाश की द्विरूपता, उसे और अपने को प्रकाशित करे—ऐसी अपनी शक्ति को प्रकाशित करता है। आहाहा! चेतकत्व को ही प्रगट करते हैं... शब्द रखा है, देखा? यहाँ एकान्त किया। पर को प्रसिद्ध नहीं करता है, अपने को ही प्रसिद्ध करता है। आहाहा! सन्तों की शैली जो बात करे, उस बात को ऐसे सिद्ध (करते हैं)। स्वयं चेतकपने को ही प्रसिद्ध करता है... ज्ञात हो, उसे नहीं, वह ज्ञात नहीं होता। उस सम्बन्धी का ज्ञान यहाँ ज्ञात होता है, उस सम्बन्धी का यहाँ ज्ञान अपना-अपने से हुआ है, वह ज्ञात होता है। आहाहा! ऐसी बात! 'ही' शब्द पड़ा है न? आत्मा के चेतकत्व को ही प्रगट करते हैं—रागादिक को नहीं। अरे! पर को तो नहीं परन्तु एक क्षेत्र और एक काल में उत्पन्न हो, उसे भी नहीं। आहाहा!

(यह) तीन लोक के नाथ की वाणी है। मुनि, भगवान की वाणी कह रहे हैं। आहाहा! तीन लोक का नाथ बिराजता है। एक साथ में उत्पन्न होते हैं, उसे भी (प्रसिद्ध नहीं करता)। दूसरी चीज़ तो एक साथ उत्पन्न नहीं होती, दूसरी चीज़ परन्तु ये राग-द्वेष, दया, दान एक समय में ज्ञान और राग एक साथ उत्पन्न होते हैं, उन्हें भी ज्ञान प्रसिद्ध नहीं करता; ज्ञान, ज्ञान को प्रसिद्ध करता है। आहाहा! पर तो पर रह गया। यह तो राग तो एक क्षेत्र और एक काल में उत्पन्न होता है। अन्य तो परक्षेत्र और उनका काल पर है, सब परवस्तु-शरीर, वाणी, मन, कर्म, स्त्री, कुटुम्ब, परिवार, पूरी दुनिया धन्धा, वह तो पर रहा, उसकी तो यहाँ कोई बात ही नहीं है। आहाहा!

एक साथ में उत्पन्न हों, उन्हें भी प्रकाशित करता है-ऐसा कहना, कहते हैं वह व्यवहार कहा। वास्तव में अपने प्रकाश को प्रकाशित करता है। आहाहा! चैतन्य की स्व-पर प्रकाशित करने की शक्ति है, उसे प्रकाशित करता है; पर को प्रकाशित करता है - ऐसा नहीं, पर का जाहिर करता है - ऐसा नहीं। अपनी स्व-पर प्रकाशक (शक्ति है), उसे प्रसिद्ध करता है। आज का जरा सूक्ष्म है। आहाहा! कहो, देवीलालजी! ऐसी बातें हैं।

ऐसा होने पर भी... है तो ऐसा, कहते हैं। एक साथ में उत्पन्न हो, उस चीज़ को भी जानता है - ऐसा कहना, वह व्यवहार है; अपने को प्रकाशित करता है, वह निश्चय

है। आहाहा! जो चीज़ परक्षेत्र में, परकाल और परभाव से है, उसकी बात तो यहाँ कुछ की ही नहीं। आहाहा! **ऐसा होने पर भी उन दोनों (–आत्मा और बन्ध) की अत्यन्त निकटता के कारण...** अत्यन्त निकट है। एक समय में साथ में और क्षेत्र में साथ में। आहाहा! **भेदसम्भावना का अभाव होने से...** अज्ञानी को भेदज्ञान का अभाव होने से। आहाहा!

ऐसा होने पर भी... ऐसा कहा, देखा? वस्तु तो ऐसी है, वस्तु की स्थिति तो इस प्रकार से है। **ऐसा होने पर भी उन दोनों (–आत्मा और बन्ध) की अत्यन्त निकटता के कारण भेदसम्भावना का अभाव होने से...** राग और आत्मा अत्यन्त भिन्न है। आहाहा! ये दया, दान, भक्ति, व्रत का विकल्प जो राग है, इनसे भगवान आत्मा अत्यन्त भिन्न है। अरे रे! कैसे बैठे? अभी शरीर से भिन्न बैठना कठिन पड़ता है। इस शरीर से भिन्न, यह तो अत्यन्त भिन्न चीज़ है। यह तो मिट्टी है और (स्वयं) चैतन्य है। यहाँ तो एक साथ में उत्पन्न होते हैं—ऐसे राग और द्वेष, दया और दान, व्रत और भक्ति—ऐसा विकारभाव, उसे नहीं जानकर अपने को जानता है—ऐसा ही स्वरूप है, ऐसा ही स्वरूप है। **ऐसा होने पर भी...** ऐसा कहा न? ऐसा स्वरूप है, ऐसा। यह स्वरूप तो ऐसा है। **ऐसा होने पर भी...** – ऐसा कहा न?

उन दोनों (–आत्मा और बन्ध) की अत्यन्त निकटता के कारण भेदसम्भावना का अभाव होने से अर्थात् भेद दिखाई न देने से... अन्दर दया, दान के परिणाम राग है, विकार है और भगवान आत्मा भिन्न है। आहाहा! वह पर को भी प्रकाशित नहीं करता, अपने को प्रकाशित करता है। ऐसा होने पर भी, ऐसा होने पर भी, वस्तु की मर्यादा ऐसी होने पर भी... आहाहा! वस्तु की स्थिति ऐसी होने पर भी **भेदसम्भावना का अभाव होने से...** भेदज्ञान के अभाव के कारण। **भेद दिखाई न देने से...** राग और आत्मा अज्ञानी को भिन्न दिखायी नहीं देते। शरीर और वाणी, ये तो जड़, मिट्टी, धूल हैं। स्त्री-पुत्र-पैसा तो कहीं... कहीं... धूल बाहर रह गयी। आहाहा!

ऐसा होने पर भी... अर्थात् समझ में आया? है तो ऐसा कि आत्मा अपने को प्रकाशित करता है। है तो ऐसा। ऐसा होने पर भी, अत्यन्त निकट राग, दया, दान, व्रत का विकल्प जो उठता है, वह अत्यन्त निकटता के कारण भेद का अभाव होने से भिन्नता **भेद**

दिखाई न देने से (अज्ञानी को) अनादिकाल से एकत्व का व्यामोह (भ्रम) है;... अनादि से। राग मेरा है और राग मेरा कर्तव्य है, यह अनादि का अज्ञानी को भ्रमणा और मिथ्याभ्रम है। **वह व्यामोह...** इस प्रकार होने पर भी, उस व्यामोह (को) तोड़ने की एक ही विधि है। **प्रज्ञा द्वारा ही...** देखा? **द्वारा ही...** और वह भी एक ही **प्रज्ञा द्वारा ही अवश्य छेदा जाता है।** इस ज्ञान की पर्याय को स्वसन्मुख झुकाने से उनसे भिन्न पड़ जाता है। राग और ज्ञान की पर्याय दोनों प्रज्ञा के द्वारा अत्यन्त भिन्न पड़ते हैं, दूसरा कोई उपाय है नहीं। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ३६२, श्लोक - १८१, गाथा - २९४ शुक्रवार, मगसिर कृष्ण ५
दिनाङ्क - ०७-१२-१९७९

समयसार, ४१३ पृष्ठ हिन्दी है। हिन्दी। अन्तिम भावार्थ है। अन्तिम लाईन है न? अन्तिम, अन्तिम। **आत्मा और बन्ध दोनों को...** सूक्ष्म बात है। आत्मा और बन्धन, **दोनों को लक्षणभेद से पहचान कर...** दोनों के लक्षण भिन्न-भिन्न जानकर **बुद्धिरूपी छैनी...** प्रज्ञारूपी छैनी-सम्यग्ज्ञानरूपी अनुभव। राग से भिन्न अपना ज्ञानस्वभाव है, उसका अनुभव-यह छैनी। अपने अनुभव से छेदकर **भिन्न-भिन्न करना चाहिए।** इसका नाम सम्यग्दर्शन और इसका नाम धर्म कहते हैं।

जिनेश्वरदेव परमेश्वर त्रिलोकनाथ परमात्मा के श्रीमुख से यह बात आती है कि आत्मा का लक्षण जानकर कि यह तो ज्ञानलक्षणवाला आत्मा है और बन्धन का लक्षण राग है। चाहे तो शुभराग हो या अशुभराग हो। दोनों राग बन्धन का लक्षण है। दोनों के लक्षण भेद जानकर दोनों को भिन्न करके, दोनों को पृथक् करके अपने आत्मा के अनुभव में आना, इसका नाम सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और धर्म की शुरुआत है। आहाहा! ऐसी बात है। यह आया न? इस ओर (आया है)।

आत्मा तो अमूर्तिक है... भगवान आत्मा में तो रंग, गन्ध, रस, स्पर्श है नहीं। वह अमूर्तिक आत्मा है। उसमें शरीर नहीं, वाणी नहीं, मन नहीं, कर्म नहीं, पुण्य नहीं, पाप

नहीं, रंग नहीं, राग नहीं। वह ऐसी चीज़ अन्दर आत्मा अमूर्तिक है। **और बन्ध सूक्ष्म पुद्गलपरमाणुओं का स्कन्ध है...** यहाँ परमाणु की बात ली है परन्तु मूल तो राग की (बात) है। **इसलिए छद्मस्थ के ज्ञान में दोनों भिन्न...** छद्मस्थ को अल्प ज्ञान में (नहीं आते)। आत्मा ज्ञानस्वरूप है और रागस्वरूप, वह बन्धस्वरूप है, ऐसे भिन्न जानने में नहीं आते। आहाहा!

अनादि काल से अनन्त-अनन्त काल से चौरासी के अवतार में भटकते हुए चैतन्यमूर्ति ज्ञानस्वरूप है, वह तो जानना-देखना स्वभाव है और यह दया, दान, व्रत, काम, क्रोध भाव, वह राग है। वह राग बन्धभाव है। वह बन्ध का लक्षण है। अतः बन्ध के लक्षण को और आत्मा के लक्षण को दोनों के लक्षण भिन्न जानकर बन्ध के लक्षण से अपना स्वरूप भिन्न जानना, अपने स्वरूप भिन्न अनुभव करना चाहिए। यह शुभ-अशुभभाव तो विकार है। इनसे (भिन्न) अपने आत्मा का अनुभव करना, इसका नाम पर से छेद करने की बात है। आहाहा! बहुत सूक्ष्म बात! है?

अज्ञानी छद्मस्थ को आत्मा अमूर्तिक है और पुद्गल, वह राग-द्वेष आदि, परमाणु आदि हैं, इन दोनों की अज्ञानी को भिन्नता भासित नहीं होती। **मात्र एक स्कन्ध ही दिखायी देता है...** एक ही पिण्ड दिखायी देता है। आत्मा और राग एक ही है, ऐसा दिखायी देता है। (वास्तव में तो) राग तो विकार है। चाहे तो दया, दान, व्रत का विकल्प / राग हो, वह विकार है। राग और भगवान आत्मा दोनों के लक्षण अत्यन्त भिन्न हैं। दोनों की भिन्नता अज्ञानी को नहीं ज्ञात होने से **एक स्कन्ध ही दिखायी देता है...** दोनों एकरूप हैं, ऐसा अनादि से मानता है, भिन्न जानता नहीं क्योंकि **(दोनों एक पिण्डरूप दिखायी देते हैं); इसलिए अनादि अज्ञान है।** यह तो अनादि अज्ञान है। आहाहा!

राग चाहे तो शुभराग हो या अशुभ हो, वह तो बन्ध का लक्षण है और भगवान आत्मा का लक्षण तो ज्ञान और आनन्द है। उस आनन्द और ज्ञान के लक्षण का अनुभव करके राग के लक्षण को भिन्न करना और अपने अनुभव में आना, यह दोनों को भिन्न करने की क्रिया है। आहाहा! क्या करना? बाहर की जो क्रिया है, उसमें तो शुभभाव है। भक्ति, पूजा, दान, दया, व्रत, भक्ति, यह सब शुभराग है; यह कहीं धर्म नहीं है। आहाहा! यह राग, बन्ध

लक्षण है और आत्मा ज्ञानलक्षण है। दोनों के भिन्न लक्षण जानकर ज्ञान का अनुभव करना और राग को छोड़ना, यह धर्म की क्रिया कही जाती है। आहाहा! ऐसी सूक्ष्म बात है। लोगों को अभी स्थूल बात की खबर नहीं। बाहर की बात में मान बैठते हैं।

इसलिए अनादि अज्ञान है। किसलिए? कि राग है, वह सूक्ष्म है। यह राग-शुभराग हो या अशुभराग हो। दया, दान, व्रत, भक्ति का राग हो या हिंसा, झूठ, चोरी का राग हो, दोनों राग सूक्ष्म है, परसन्मुख का झुकाव है, उस ओर का झुकाव है तथा आत्मा तो ज्ञानस्वरूप, आनन्दस्वरूप अन्तर में झुकाव है। ऐसे दोनों के लक्षण भिन्न जानकर अपने को राग से भिन्न करना, इसका नाम प्रथम धार्मिक सम्यग्दर्शन की क्रिया है। आहाहा! यह सम्यग्दर्शन की क्रिया बिना सब रागादि है, वह बन्ध का कारण है। उनमें कुछ धर्म-बर्म है नहीं। सूक्ष्म बात है, बहुत सूक्ष्म बात है।

श्रीगुरुओं का उपदेश प्राप्त करके... क्या कहते हैं? श्रीगुरु का उपदेश यह है कि राग से भिन्न तेरी चीज़ है, उसे पहिचान। राग—दया, दान, व्रत, भक्ति का राग आता है, वह राग है, वह बन्धलक्षण है, उससे तेरी चीज़ अन्दर भिन्न है। ऐसा गुरुओं का कुन्दकुन्दाचार्य, अमृतचन्द्राचार्य दिगम्बर आचार्यों का यह उपदेश है। आहाहा! यह राग बन्ध का लक्षण जानकर, राग से भिन्न अपने ज्ञान का अनुभव करना, यह राग से भिन्न करने की कला है। आहाहा! समझ में आया?

श्रीगुरुओं का उपदेश प्राप्त करके उनके लक्षण भिन्न-भिन्न अनुभव करके... उनके लक्षण भिन्न-भिन्न अनुभव करके जानना चाहिए। यह राग है, वह बन्धलक्षण है और आत्मा है, वह ज्ञानलक्षण है। यह जानना-देखना (होता है), वह आत्मा है और राग उत्पन्न होता है, वह सब बन्धलक्षण है। श्रीगुरु का उपदेश पाकर दोनों के भिन्न-भिन्न लक्षण जानकर। है?

चैतन्यमात्र तो आत्मा का लक्षण है और रागादिक बन्ध का लक्षण है,... आहाहा! आत्मा, वह जानन-देखन-आनन्द, यह उसका स्वरूप है और ये दया, दान, व्रत, भक्ति, काम, क्रोध के भाव, वह बन्ध का लक्षण है, राग है, वह तो राग है। आहाहा! श्रीगुरुओं का उपदेश यह है कि दोनों को भिन्न कर तो तेरा कल्याण होगा; नहीं तो कल्याण

होगा नहीं। आहाहा! ऐसी बात! निवृत्ति-फुरसत नहीं मिलती। जो बाहर शरीर, वाणी, मन तो भिन्न है। यह तो जड़ है, मिट्टी-धूल है। वाणी मिट्टी है, मन भी यहाँ एक परमाणु / मिट्टी है। यह बाहर की सब चीजें तो मिट्टी, पर है। पैसा, लक्ष्मी, इज्जत तो जड़ है। उनसे तो आत्मा भिन्न है, उनके साथ तो कुछ सम्बन्ध नहीं परन्तु पर्याय में राग और द्वेष होता है, उसका पर्यायबुद्धि में सम्बन्ध है। पर्यायबुद्धि-अवस्थाबुद्धि में जो राग-द्वेष भाव, पुण्य-पाप होते हैं, उनके साथ सम्बन्ध है। उन्हें एकत्व मानता है। आत्मा और राग को एकत्व मानता है, वह अज्ञान है। उस अज्ञान को छेदने का उपाय (यह है कि) दोनों के लक्षण भिन्न जानकर राग से भिन्न आत्मा का अनुभव करना, वह उन्हें छेदने का उपाय है। आहाहा! ऐसा सूक्ष्म है। वीतरागमार्ग सर्वज्ञदेव परमेश्वर त्रिलोकनाथ जिनेश्वर की यह आज्ञा है। सन्त तो आड़तिया होकर बात करते हैं। परन्तु बात है सर्वज्ञ परमात्मा की।

जिनेश्वरदेव त्रिलोकनाथ की यह आज्ञा है कि दोनों के भिन्न लक्षण जानकर दया, दान, व्रत, भक्ति, तपस्या आदि का राग है, वह तो विकल्प / राग है। उसे भिन्न जानकर, अपना स्वरूप उससे भिन्न ज्ञाता है—ऐसा जानकर ज्ञान का अनुभव करना, राग का अनुभव नहीं करना। ऐसे भिन्न पाड़कर अपने स्वरूप का अनुभव करना, यह दोनों को छेदने का उपाय है। आहाहा! यह बात सुनना कठिन पड़ती है। कर तो कहाँ से कर सके? अनन्त काल हुआ। बाहर की (मजदूरी की), यह करो... यह करो... यह करो।

भगवान की भक्ति, वह शुभराग है। व्रतादि, वह राग है। पाँच परमेष्ठी का स्मरण करना, वह भी राग है। आहाहा! पंच महाव्रत के परिणाम भी राग है। वह राग, बन्ध का लक्षण है; वह आत्मा का लक्षण नहीं। उससे आत्मा ज्ञात नहीं होता। अर्थात् क्या कहा? कि जो कुछ शुभरागादि अनेक प्रकार के आये, उनसे आत्मा ज्ञात नहीं होता, क्योंकि वह आत्मा का लक्षण नहीं है। आहाहा! वह तो ज्ञाता चैतन्यस्वरूप सच्चिदानन्द प्रभु सत् ज्ञान और आनन्द का पिण्ड है। भगवान तो ज्ञान और आनन्द का दल है। उसका अनुभव करना और राग को भिन्न करना, यह अनुभव की क्रिया और भेद करने की क्रिया है। आहाहा! ऐसी बात एकदम (आयी है)। अनन्त काल हुआ, चौरासी लाख (योनि में) अनन्त बार देव हुआ, अनन्त बार देव हुआ, अनन्त बार मुनि भी हुआ। पंच महाव्रतधारी मुनि अनन्त बार हुआ, परन्तु उस राग की क्रिया को धर्म माना, किन्तु उस राग से भिन्न मेरी चीज़ है, मेरा

ज्ञानानन्दस्वभाव वीतरागस्वभाव है, उसका अनुभव नहीं किया और अनुभव किये बिना जन्म-मरण का अन्त नहीं आया। आहाहा! है ?

चैतन्यमात्र तो आत्मा का लक्षण है.. आहाहा! **और रागादिक बन्ध का लक्षण है,..** शुभ-अशुभराग, वह तो बन्ध का लक्षण है। आहाहा! व्रत, तप, भक्ति, पूजा, दान, दया, यह सब राग है और राग, वह बन्ध का लक्षण है। आता है, परन्तु वह जाननेयोग्य है, आदरनेयोग्य नहीं। आहाहा! ऐसी कठिन बात है। है ? अन्दर है ? **तथापि वे मात्र ज्ञेयज्ञायकभाव की अति निकटता से...** दया, दान, व्रत, भक्ति के रागादि उत्पन्न होते हैं और आत्मा के साथ ज्ञान है, तो ज्ञान और राग एक साथ है और एक समय में दोनों उत्पन्न होते हैं और क्षेत्र एक है, इस कारण से दोनों एक हैं, ऐसा अज्ञानी मानता है।

अति निकटता से वे एक जैसे ही दिखायी देते हैं। है ? आहाहा! ज्ञानस्वरूपी -आनन्दस्वरूपी भगवान आत्मा तो अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप है। राग, वह तो दुःखस्वरूप है परन्तु दोनों की नजदीकता के कारण दोनों एक दिखायी देते हैं, दोनों को भिन्न नहीं देखता। है ? **इसलिए तीक्ष्ण बुद्धिरूपी छैनी...** आहाहा! जब उन्हें भिन्न करना हो तो और अपना अनुभव करना हो तो और सम्यग्दर्शन प्राप्त करना हो तो उस राग को आत्मा की सूक्ष्म बुद्धि से भिन्न करना चाहिए। **तीक्ष्ण बुद्धिरूपी छैनी...** तीक्ष्ण बुद्धिरूपी छैनी... छैनी... छैनी से **जो कि उन्हें भेदकर भिन्न करने का शस्त्र है...** राग और आत्मा को भिन्न करने का तो यह प्रज्ञा है, वह एक शस्त्र है। प्रज्ञा एक शस्त्र है। आहाहा!

उसे-उनकी सूक्ष्मसन्धि को ढूंढ़कर... बहुत सूक्ष्म बात, भाई! आत्मा सच्चिदानन्द प्रभु वीतरागमूर्ति आत्मा है। त्रिकाल भगवतस्वरूप अन्दर है और राग, वह बन्धस्वरूप है। दोनों के बीच तीक्ष्ण छैनी / बुद्धि, तीक्ष्ण, सूक्ष्म, सूक्ष्म बुद्धि, आहाहा! है ? तीक्ष्ण बुद्धि-सूक्ष्म बुद्धि। सूक्ष्म बुद्धिरूपी छैनी **जो कि उन्हें भेदकर भिन्न करने का शस्त्र है उसे-उनकी सूक्ष्मसन्धि को ढूंढ़कर उसमें सावधान (निष्प्रमाद) होकर पटकना चाहिए।** आहाहा! बहुत सूक्ष्म बातें हैं।

आत्मा आनन्दस्वरूप अतीन्द्रिय आनन्दमूर्ति है। उसमें राग उत्पन्न होता है, वह सब दुःख है, आकुलता है, बन्ध है। दो के बीच सूक्ष्म तीक्ष्ण बुद्धि पटकने से... आहाहा! दोनों

को भिन्न करने से सम्यग्दर्शन होता है। धर्म की पहली सीढ़ी, धर्म का पहला सोपान। राग और आत्मा के बीच तीक्ष्ण बुद्धि डालकर, छेदकर भिन्न करना, यह प्रथम धर्म की सीढ़ी है, इसके बिना धर्म-बर्म है नहीं। सम्यग्दर्शन के बिना यह भक्ति, पूजा, दान, यात्रा, यह सब शुभभाव है, राग है, बन्ध का कारण है; धर्म नहीं। आहाहा! कठिन बात पड़ती है।

मुमुक्षु : आपने सरल कर दी है। समझाकर बहुत सरल कर दी है।

पूज्य गुरुदेवश्री : अभ्यास नहीं न, बापू! आहाहा!

यह शरीर भिन्न है, यह तो मिट्टी है। इसी प्रकार अन्दर पुण्य और पाप के भाव शुभ और अशुभराग चैतन्य के स्वभाव से अत्यन्त भिन्न है। दोनों एक चीज़ है नहीं। आहाहा! परन्तु दोनों के बीच में तीक्ष्ण बुद्धि-छैनी (पटके अर्थात्) ज्ञान को भिन्न करे और राग को भिन्न करे, ऐसी तीक्ष्ण सूक्ष्म बुद्धि द्वारा... आहाहा! दोनों को भिन्न करना चाहिए। है? आहाहा!

तीक्ष्ण बुद्धिरूपी छैनी को-जो कि उन्हें भेदकर भिन्न करने का शस्त्र है, उसे-उनकी सूक्ष्मसन्धि को ढूंढ़कर... सूक्ष्मसन्धि। राग की उत्पत्ति और ज्ञान की उत्पत्ति तो एक समय में (होती है) परन्तु सूक्ष्मसन्धि, दो के बीच सांध है, सन्धि है। दोनों एक नहीं है। राग और भगवान आत्मा एक नहीं है। राग तत्त्व, पुण्य-पाप तत्त्व है और आत्मा ज्ञायकतत्त्व अन्दर भिन्न है। आहाहा! खबर नहीं और अनादि से ऐसा का ऐसा चलता है, चार गति में भटकता है। 'मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रीवक उपजायो।' छहढाला में आता है, छहढाला। 'मुनिव्रत धार' मुनिपना लिया, अट्ठाईस मूलगुण पालन किये, पंच महाव्रत पालन किये, अट्ठाईस मूलगुण चुस्त पालन किये। उसके लिये चौका बनाकर आहार बनाया हो तो प्राण जाए तो भी न ले। ऐसी पंच महाव्रत और अट्ठाईस मूलगुण की क्रिया अनन्त बार की परन्तु वह तो राग है, वह तो बन्धन का लक्षण है। उससे भिन्न आत्मा के चैतन्य लक्षण को भिन्न नहीं जाना, इसलिए भिन्न अनुभव नहीं किया। प्रज्ञाछैनी अर्थात् अनुभव से भिन्न नहीं किया। आहाहा! ऐसा कठिन लगे, लो!

सावधान (निष्प्रमाद) होकर पटकना चाहिए। उसके पड़ते ही दोनों भिन्न भिन्न दिखायी देने लगते हैं। आहाहा! जानन, आनन्दस्वभाव और राग अज्ञान, दुःखस्वभाव। आत्मा जानन और आनन्दस्वभाव और राग अज्ञान तथा दुःखस्वभाव, दोनों को भिन्न करने

से भिन्न दिखायी देते हैं। आहाहा! है? **भिन्न भिन्न दिखायी देने लगते हैं।** आहाहा! **और ऐसा होने पर, आत्मा को ज्ञानभाव में ही...** आत्मा को ज्ञानस्वरूप अनुभव में रखना। आहाहा! राग में जोड़ना नहीं। ऐसी बात है, भाई! सूक्ष्म बात है। जिनेश्वर वीतराग त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव की सूक्ष्म वाणी है। आहाहा!

कहते हैं कि जितने भक्ति, व्रत, तप, अपवास आदि, नाम स्मरण आदि (होते हैं), वह सब राग है। वह राग बन्धलक्षण है और उससे भिन्न भगवान अन्दर आनन्द और ज्ञानलक्षण है। जब तक आनन्द का अनुभव न हो, तब तक राग का अनुभव है, तब तक आत्मा का अनुभव नहीं है। आहाहा! क्या कहा? **दोनों भिन्न भिन्न दिखायी देने लगते हैं।** ऐसा कहा न? ऐसे **भिन्न भिन्न दिखायी देने लगते हैं। और ऐसा होने पर, आत्मा को ज्ञानभाव में ही और बन्ध को अज्ञानभाव में रखना चाहिए। इस प्रकार दोनों को भिन्न करना चाहिए।** राग जो विकल्प उत्पन्न होता है, वह अज्ञान और दुःखरूप है तथा आत्मा ज्ञान और आनन्दरूप है। आहाहा! दोनों के भिन्न लक्षण जानकर आत्मा को ज्ञान के अनुभव में रखना (और) राग से भिन्न करना, इसका नाम आत्मज्ञान, आत्मदर्शन, सम्यग्दर्शन (है)। यहाँ से धर्म की शुरुआत होती है। तब धर्म की शुरुआत होती है। नहीं तो धर्म-बर्म है नहीं। बाहर का पुण्यबन्धन हो, शुभभाव करे तो पुण्यबन्धन होता है। साथ में मिथ्यात्व है। (उसमें-शुभराग में) धर्म मानता है। चार गति में भटकता है। चौरासी के अवतार में भटकेगा। आहाहा! यह तो अर्थकार पण्डित जयचन्दजी ने कहा है, हों! आहाहा!

आत्मा को ज्ञानभाव में ही और बन्ध को अज्ञानभाव में रखना चाहिए। आहाहा! परन्तु दोनों को जाने बिना (पृथक्) किस प्रकार रखे? वह दोनों ज्ञात कब हो? कि राग जो परसन्मुख जाता है, उसमें दुःख है और आत्मा, आत्मा की ओर जाता है तो वहाँ ज्ञान और आनन्द है। यहाँ ज्ञान और आनन्द है तथा राग में अज्ञान है, राग अज्ञान है। राग में ज्ञान नहीं है। चाहे तो दया, दान, भक्ति, यात्रा आदि का राग हो, उस राग में ज्ञान नहीं है। राग तो अचेतन है। ज्ञानस्वरूप का अभाव है और दुःख है। आत्मा ज्ञान और आनन्द है। आहाहा! ऐसी सूक्ष्म बात है। धर्म सूक्ष्म है, बापू! जिनेश्वरदेव वीतराग परमेश्वर का मार्ग लोगों ने स्थूल कर डाला है। बाहर से मनवा लिया है। यात्रा करो, भक्ति करो, व्रत करो,

तप करो, हो गया धर्म। यहाँ कहते हैं कि ये सब भाव शुभभाव / राग है, वह बन्धलक्षण है। बन्धलक्षण को धर्म मानना, वह मिथ्यात्व है। मिथ्यात्व अनन्त संसार का कारण है। आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई! यह यहाँ कहा, **इस प्रकार दोनों को भिन्न करना चाहिए।**

कलश-१८१

अब इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं:-

(स्रग्धरा)

प्रज्ञाछेत्री शितेयं कथमपि निपुणैः पातिता सावधानैः,
सूक्ष्मेऽन्तःसन्धिबन्धे निपतति रभसादात्मकर्मोभयस्य।
आत्मानं मग्नमन्तःस्थिरविशदलसद्धाम्नि चैतन्यपूरे,
बन्धं चाज्ञानभावे नियमितमभितः कुर्वती भिन्नभिन्नौ ।।१८१।।

श्लोकार्थ : [इयं शिता प्रज्ञाछैनी] यह प्रज्ञारूपी तीक्ष्ण छैनी [निपुणैः] प्रवीण पुरुषों के द्वारा [कथम् अपि] किसी भी प्रकार से (यत्नपूर्वक) [सावधानैः] सावधानतया (निष्प्रमादतया) [पातिता] पटकने पर, [आत्म-कर्म-उभयस्य सूक्ष्मे अन्तःसन्धिबन्धे] आत्मा और कर्म-दोनों के सूक्ष्म अन्तरंग सन्धि के बन्ध में [रभसात्] शीघ्र [निपतति] पड़ती है। किस प्रकार पड़ती है? [आत्मानम् अन्तःस्थिर-विशद्-लसद्-धाम्नि चैतन्यपूरे मग्नम्] वह आत्मा को तो जिसका तेज अन्तरंग में स्थिर और निर्मलतया दैदीप्यमान है ऐसे चैतन्यप्रवाह में मग्न करती हुई [च] और [बन्धम् अज्ञानभावे नियमितम्] बन्ध को अज्ञानभाव में निश्चल (नियत) करती हुई- [अभितः भिन्नभिन्नौ कुर्वती] इस प्रकार आत्मा और बन्ध को सर्वतः भिन्न-भिन्न करती हुई पड़ती है।

भावार्थ : यहाँ आत्मा और बन्ध को भिन्न-भिन्न करनेरूप कार्य है। उसका कर्ता आत्मा है, वहाँ करण के बिना कर्ता किसके द्वारा कार्य करेगा। इसलिए करण भी आवश्यक है। निश्चयनय से कर्ता से करण भिन्न नहीं होता; इसलिए आत्मा से अभिन्न ऐसी यह बुद्धि ही इस कार्य में करण है। आत्मा के अनादि बन्ध ज्ञानावरणादि-कर्म है,

उसका कार्य भावबन्ध तो रागादिक है तथा नोकर्म शरीरादिक है। इसलिए बुद्धि के द्वारा आत्मा को शरीर से, ज्ञानावरणादिक द्रव्यकर्म से तथा रागादिक भावकर्म से भिन्न एक चैतन्यभावमात्र अनुभवी ज्ञान में ही लीन रखना, सो यही (आत्मा और बन्ध को) दूर करना है। इसी से सर्व कर्मों का नाश होता है, और सिद्धपद की प्राप्ति होती है, ऐसा जानना चाहिए।।१८१।।

कलश - १८१ पर प्रवचन

अब इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं:- अमृतचन्द्राचार्य काव्य कहते हैं।

प्रज्ञाछेत्री शितेयं कथमपि निपुणैः पातिता सावधानैः,
सूक्ष्मेऽन्तःसन्धिबन्धे निपतति रभसादात्मकर्मोभयस्य।
आत्मानं मग्नमन्तःस्थिरविशदलसद्धाम्नि चैतन्यपूरे,
बन्धं चाज्ञानभावे नियमितमभितः कुर्वती भिन्नभिन्नौ ।।१८१।।

[**इयं शिता प्रज्ञाछैनी**] **यह प्रज्ञारूपी तीक्ष्ण छैनी...** ज्ञानस्वरूपी भगवान है। वर्तमान ज्ञान की दशा, उस रागरूपी विकार के साथ एकत्व है, वह संसार है, मिथ्यात्व है। क्या कहा? भगवान आत्मा ज्ञान और आनन्दस्वरूप है। अतीन्द्रिय आनन्द और अतीन्द्रिय ज्ञान वीतरागमूर्ति आत्मा स्वभाव है। उसे राग और पुण्य के साथ एकत्व मानना, वह मिथ्यात्व है। उस राग और आत्मा (के बीच) **प्रज्ञारूपी तीक्ष्ण छैनी...** जो अनुभवरूपी तीक्ष्ण छैनी। राग की क्रिया से आत्मा भिन्न है, ऐसे तीक्ष्ण छैनी द्वारा, तीक्ष्ण अनुभव द्वारा आत्मा की ओर के झुकाव द्वारा राग के झुकाव से छूटने से, पर्यायबुद्धि के ऊपर से छूटने से, द्रव्यबुद्धि पर आने से। ऐसा कहते हैं। आहाहा!

प्रज्ञारूपी तीक्ष्ण छैनी प्रवीण पुरुषों के द्वारा... है अन्दर? प्रवीण पुरुषों द्वारा। सम्यग्दृष्टि प्रवीण पुरुष है। प्रवीण पुरुष द्वारा राग और आत्मा को भिन्न करता है। आहाहा! जैसे दाने और कंकड़ भिन्न करते हैं। कंकड़ और दाने। गेहूँ और कंकड़ भिन्न करते हैं, वैसे पुण्य और पापरूपी भाव कंकड़ हैं और भगवान आत्मा-दाना ज्ञान और आनन्दरूपी दल है। आहाहा! दोनों के बीच प्रज्ञाछैनी द्वारा **प्रवीण पुरुषों के द्वारा...** चतुर पुरुषों द्वारा।

इसका नाम प्रवीण पुरुष है। दूसरी बात भले न जानता हो, विशेष न जाने परन्तु राग और आत्मा को भिन्न जानने की दशा करता हो, वह प्रवीण पुरुष है। आहाहा!

प्रवीण पुरुषों के द्वारा किसी भी प्रकार से (यत्नपूर्वक)... पुरुषार्थ से। राग की ओर के झुकाव को... वलण कहते हैं न? झुकाव। जो राग, शुभराग आता है, उस ओर का झुकाव छोड़कर, ज्ञायकस्वभाव चैतन्य के ऊपर झुकाव करके, आहाहा! **प्रवीण पुरुषों के द्वारा किसी भी प्रकार से (यत्नपूर्वक) सावधानतया (निष्प्रमादतया) पटकने पर,...** पटकने पर। आहाहा! आत्मा अन्दर आत्मदल है। जैसे रुई के बोरे होते हैं। धोकड़ा को क्या कहते हैं? रुई के बड़े बोरे होते हैं; वैसे आत्मा अन्दर ज्ञान आनन्द और शान्ति का बोरा है। अनन्त ज्ञान, अनन्त शान्ति, अनन्त स्वच्छता, अनन्त प्रभुता, अनन्त आनन्द, अनन्त वीतरागता, अनन्त स्वच्छता, अनन्त अकर्तृत्व, अभोक्तृत्व आदि अनन्त-अनन्त शक्तियाँ अन्दर भरी हैं। आहाहा! उस ओर की जानने की कोई दरकार नहीं और बाहर का यह करना, यह करना, यह करना और यह करना - इस पर झुकाव है। भक्ति और पूजा, दान, दया और यात्रा। यह सब तो शुभभाव है, राग है, यह कहीं धर्म नहीं है। आता है, अशुभ से बचने के लिये आता है परन्तु धर्म नहीं है। आहाहा! ऐसा काम। बनिये को यह सब धन्धा करने में ऐसा कठिन पड़ता है या नहीं? शान्तिभाई! हीराभाई गये लगते हैं? हीराभाई सात टिकट लेनेवाले हैं। पैंतीस हजार रुपये। वहाँ आने के लिये। ऐसा कहते थे। भाई को साथ में ले जानेवाले हैं। सात टिकिट, पाँच हजार रुपये के। सैंतालीस सौ की एक टिकट है न? वे सात टिकिट लेनेवाले हैं। गये हैं। अफ्रीका आने के लिये। आहाहा! यहाँ आत्मा में आने के लिये प्रज्ञाछैनी मारना है। यहाँ तो ऐसा कहते हैं। आहाहा! पैसा हो, न हो, उसके साथ कुछ (सम्बन्ध नहीं है)। आहाहा!

स्वदेश... आहाहा! बहिन की पुस्तक में आ गया है न? अरे! हम परदेश में कहाँ आ पहुँचे? आत्मा आनन्दस्वरूप अतीन्द्रियज्ञान की मूर्ति है, वहाँ से छूटकर शुभभाव में आना, शुभ और अशुभ में आना, यह परदेश में आना है। आहाहा! आता है? बहिन की पुस्तक में आता है। अरे! हम कहाँ आ पहुँचे? कहाँ हमारा देश और कहाँ यह राग? आहाहा! जिसे अन्यमती पढ़कर आनन्द मानते हैं। अन्यमती, हों! यहाँ गोपनाथ है, उनके मठ का अधिपति है। उसके हाथ में यह पुस्तक गयी। यहाँ का वहाँ उसके हाथ में

(आयी)। पढ़कर तो ऐसा प्रसन्न-प्रसन्न (हो गया)। ओहोहो! यह तो कोई गजब वस्तु है! हमारे उपनिषद है, उसकी अपेक्षा सुन्दर सामग्री इसमें भरी है। बहिन की पुस्तक में। अन्यमती का बाबा, मठ का अधिपति। सत्य को स्वीकार करते हुए असत्य व्यक्ति (भले) हो। उसमें बाड़ा का क्या (काम है)? यहाँ बाड़ा कहाँ है?

आत्मा अन्दर जो है, सर्वज्ञ परमात्मा त्रिलोकनाथ ने कहा, वह आत्मा है। उससे विरुद्ध दया, दान, व्रत, भक्ति आदि के परिणाम, वह राग-विकार बन्धलक्षण है। दोनों को पृथक् करना, यह मार्ग है। इस मार्ग में वहाँ बाड़ा कहाँ है? या जाति-पाति भी कहाँ है कि अमुक जाति या हरिजन प्राप्त न कर सके और बनिया प्राप्त कर सके, ऐसा कुछ नहीं है। हरिजन भी यह प्राप्त कर सकता है। आहाहा! मठाधिपति ने बहुत गुणगान किये हैं। ऐसे प्रसन्न हो गया। आहाहा! महिमा करते-करते थकता नहीं था, ऐसा प्रोफेसर ने लिखा है। उसे पढ़ने पर उत्साह आता था कि ओहोहो! यह लिखावट!

मुमुक्षु : रत्नकणिका ही भरी है।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ; यह आत्मा वस्तु है न? वस्तु है न! है तो अन्दर कोई शक्ति, गुण, स्वभाव है या नहीं? वस्तु है तो कोई शक्ति, स्वभाव, गुण, सत्व, तत्त्व, गुण है या नहीं? तो वह वस्तु आत्मा है तो उसमें अनन्त शक्तियाँ हैं। ज्ञान, आनन्द, शान्ति, स्वच्छता, विभुता (आदि) अनन्त-अनन्त शक्तियाँ हैं। अनन्त शक्ति का पिण्ड आत्मा है। आहाहा! उसे इस राग के बन्ध के लक्षण से भिन्न अनुभव करना चाहिए। आहाहा! पृथक् करके, प्रज्ञाछैनी से पृथक् करके पृथक् अनुभव करने का नाम आत्मा की प्राप्ति है। उसका नाम आत्मज्ञान है, उसका नाम आत्मा का दर्शन-समकित है। इसके बिना सब व्यर्थ है, एक के बिना शून्य है। लाख यात्राएँ करे और करोड़ों, अरबों रुपये खर्च करे, भक्ति-पूजा करे और मन्दिर स्थापित करे, वह सब शुभभाव है; धर्म नहीं। आहाहा!

धर्म तो उस राग से भिन्न करके चैतन्यस्वरूप का अनुभव करना, इसका नाम परमात्मा त्रिलोकनाथ जिनेश्वरदेव धर्म कहते हैं। इसका नाम जैनधर्म है। जैनधर्म कोई बाड़ा नहीं, कोई पक्ष नहीं। वस्तु का स्वरूप है, ऐसा भगवान ने देखा; देखा वैसा कहा। आहाहा! सर्वज्ञदेव त्रिलोकनाथ विराजते हैं, महाविदेह में प्रभु विराजते हैं। सीमन्धर भगवान अभी विराजमान हैं। ऐसे बीस तीर्थंकर विराजमान हैं, लाखों केवली विराजमान हैं।

महाविदेहक्षेत्र में जीवन्त ज्योति विराजमान है। समस्त भगवान का कथन यह है और कुन्दकुन्दाचार्य संवत् ४९ में वहाँ गये थे। दो हजार वर्ष हुए। कुन्दकुन्दाचार्य दिगम्बर मुनि वहाँ गये थे, आठ दिन रहे थे। वहाँ से आकर यह बनाया है। आहाहा! भगवान का यह सन्देश है। तुमको जँचे, न जँचे, स्वतन्त्र है। तुम्हारे बाहर के आग्रह के कारण, बाहर के इतने अधिक आग्रह अन्दर से घुस गये हैं। भगवान की भक्ति करे तो धर्म होगा, पूजा करें तो धर्म होगा, भगवान का मन्दिर स्थापित करें तो धर्म होगा, रथयात्रा निकालें, गजरथ निकालें तो धर्म होगा। (ये) सभी बातें मिथ्या हैं। इनमें राग की मन्दता करे तो पुण्य होगा परन्तु पुण्य है, वह राग है। राग है, वह बन्ध का स्वरूप है। राग है, वह अबन्धस्वरूप आत्मा का वह स्वरूप नहीं है। आहाहा! ऐसा कठिन काम है। झवेरचन्दभाई! वहाँ तुम्हारे आंकड़िया-फांकड़िया में ऐसा सुना नहीं। आहाहा! बहुत कठिन बात है, भाई!

पहले तो जँचना (कठिन पड़ता है)। अभी यह बात सत्य है या नहीं, यह जँचना कठिन पड़ता है। यदि ऐसा होवे तो यह सब व्यवहार? यह सब व्यवहार करते हैं वह? कौन सा व्यवहार है? अब सुन न! निश्चयरहित व्यवहार सब अंक रहित शून्य है। लाख शून्य हो और अंक न हो तो संख्या में नहीं गिने जाते। इसी प्रकार सम्यग्दर्शन के बिना जितना क्रियाकाण्ड मन्दराग का करे, वह सब गिनती धर्म में नहीं आती। आहाहा! सम्यग्दर्शन वह अंक है। वह सम्यग्दर्शन राग से भिन्न पड़कर आत्मा का अनुभव करना, इसका नाम सम्यग्दर्शन है। आहाहा! ऐसी बात है। भाषा तो सादी है, प्रभु! भाषा तो सादी है। भाव भले कठिन हैं। भाषा बहुत ऐसी कठिन नहीं है। साधारण व्यक्ति को अभ्यास भी नहीं होता, व्यवहार का अभ्यास नहीं होता। सवेरे भगवान के दर्शन और भक्ति की तथा जयनारायण शोर मचाकर... भगवान.. भगवान.. मानो हो गया धर्म। वह वाणी भी जड़, वह भक्ति का भाव, वह राग। आत्मा उससे अत्यन्त भिन्न है। आहाहा! ऐसी बात है। वह यहाँ परमात्मा अमृतचन्द्राचार्य मुनि हजार वर्ष पहले हुए। दो हजार वर्ष पहले कुन्दकुन्दाचार्य दिगम्बर मुनि (हुए)। ये अमृतचन्द्राचार्य हजार वर्ष पहले हुए, उनकी यह टीका है। उनका यह श्लोक है। आहाहा!

किसी भी प्रकार से (यत्नपूर्वक) सावधानतया (निष्प्रमादतया) पटकने पर, आत्मा और कर्म-दोनों के सूक्ष्म अन्तरंग सन्धि के बन्ध में... आहाहा! बड़ा पत्थर

होताा है न ? पत्थर में सन्धि होती है, सांध होती है। उसमें सुरंग डालते हैं, सुरंग। लाल और सफेद बारीक डोरी होती है, वह सांध। इसी प्रकार आत्मा और दया, दान, भक्ति के परिणाम के राग के बीच सन्धि-सांध है। दरार... बीच में दरार है। तड़ को क्या कहते हैं ? धारी। दोनों अत्यन्त भिन्न हैं। दो के बीच सन्धि है। यह कहते हैं, देखो न!

देखो! क्या कहा ? **आत्मा और कर्म-दोनों के सूक्ष्म अन्तरंग सन्धि...** अन्तरंग सन्धि। आहाहा! **सन्धि के बन्ध में शीघ्र पड़ती है।** एक समय लगता है, बस! आहाहा! यह राग का विकल्प विकार और आत्मा निर्विकारी स्वरूप, आनन्दस्वरूप-दो के बीच प्रज्ञाछैनी पटकने में एक समय लगता है। एक समयान्तर में दर्शन हो जाता है, कहते हैं। आहाहा! दूसरा सब करे परन्तु यह मूल है, वह न करे, तब तक भवच्छेद नहीं होता, भाई! आहाहा! दुनिया माने, मनावे, मानकर लोग प्रसन्न हों परन्तु इससे कहीं वस्तु नहीं मिलती। आहाहा! संसार का परिभ्रमण चौरासी के अवतार कर-करके थककर अनन्त अवतार किये। एकेन्द्रिय के, दोइन्द्रिय के, त्रीन्द्रिय के, नरक के, तिर्यंच के अनन्त अवतार किये। उस मिथ्यात्व के कारण ये अनन्त अवतार हुए। जब तक वह मिथ्यात्व छेदे नहीं, तब तक उसके अनन्त अवतार मिटेंगे नहीं। आहाहा! उस मिथ्यात्व को छेदने की यह क्रिया है। राग और आत्मलक्षण भिन्न जानकर अन्तर आत्मा का अनुभव करना। राग से भिन्न जानकर आत्मा की प्रज्ञाछैनी मारकर अनुभव करना, वह सम्यग्दर्शन प्राप्त करने की पद्धति है। आहाहा! यह तो अभी सम्यग्दर्शन चौथा गुणस्थान। श्रावक पाँचवाँ तो अभी आगे की दशा है। उसकी दशा तो आनन्द अधिक होता है और अलौकिक होता है। मुनि की तो बात ही क्या करना! सच्चे मुनि जो सन्त मुनि (होते हैं), उन्हें तो अन्तर आनन्द का उफान आता है। अन्दर अतीन्द्रिय आनन्द की बाढ़ आती है। जैसे समुद्र में पानी की बाढ़ आती है, वैसे बाढ़ आती है। वह मुनिपना तो अलौकिक! बापू! अभी तो... आहाहा! अभी तो श्रद्धा का ठिकाना नहीं, वहाँ मुनिपना तो दूर रहा, भाई!

यहाँ यह कहते हैं, **सन्धि के बन्ध में शीघ्र पड़ती है।** शीघ्र पड़ती है अर्थात् जैसे राग से भिन्न ऐसा जहाँ जाना, उसी समय में भिन्न पड़ जाता है, ऐसा। उपयोग में भले असंख्य समय लगें, परन्तु अन्दर में तो एक समय में भिन्न पड़ जाता है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! आत्मा अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप और राग बन्धस्वरूप, इनके बीच प्रज्ञा का अनुभव करने

से एक समय में भिन्न पड़ जाते हैं। आहाहा! यह श्लोक है। अमृतचन्द्राचार्य दिगम्बर सन्त-मुनि जंगलवासी। मुनि जंगल में रहते थे। आहाहा!

किस प्रकार पड़ती है? वह आत्मा को तो जिसका तेज अन्तरंग में स्थिर.. अब क्या कहते हैं? आत्मा स्थिर ध्रुव है, वहाँ दृष्टि जाती है। स्थिर ध्रुव आनन्दस्वरूप भगवान, अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप पर दृष्टि जाती है। आहाहा! **आत्मा को तो जिसका तेज अन्तरंग में स्थिर और निर्मलतया दैदीप्यमान है...** आहाहा! भगवान तो चैतन्यप्रकाश ध्रुव दैदीप्यमान, जिसकी निर्मलता है, ऐसा चैतन्यप्रकाश भगवान भरा है। आहाहा! चन्द्र और सूर्य के तेज जड़ के हैं। यह (आत्मा) चैतन्य के प्रकाश का तेज है। एक-एक आत्मा में ऐसे अनन्त तेज का प्रकाश अन्दर भरा है। आहाहा! उन दोनों को भिन्न करने पर...

जिसका तेज... (अर्थात्) आत्मा का। **अन्तरंग में स्थिर...** राग है, वह तो क्रम क्रम से भिन्न.. भिन्न.. भिन्न हो जाता है और यह तो स्थिर ध्रुव.. ध्रुव भगवान अन्दर है। **स्थिर और निर्मलतया दैदीप्यमान है, ऐसे चैतन्यप्रवाह में मग्न करती हुई...** ऐसा चैतन्यप्रवाह अर्थात् चैतन्य ध्रुव। चैतन्य.. चैतन्य.. चैतन्य.. चैतन्य.. चैतन्य.. चैतन्य.. चैतन्य.. चैतन्य.. चैतन्य.. चैतन्य.. ऐसा जो कायम रहनेवाला ध्रुव प्रवाह है, वहाँ दृष्टि पड़ती है। वहाँ प्रज्ञाछैनी पड़ती है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! कठिन काम है। (यह) गाथा।

चैतन्यप्रवाह में मग्न करती हुई और बन्ध को अज्ञानभाव में निश्चल (नियत) करती हुई- आहाहा! यह प्रज्ञाछैनी अर्थात् अनुभव। आत्मा को आनन्द में लीन करती हुई और बन्ध को राग में (निश्चित) करती हुई। राग को अज्ञानभाव में करती है। राग अज्ञानभाव है। उसमें आत्मा का ज्ञानस्वरूप जो है, (वह नहीं है)। वह राग है, वह अज्ञान है। राग में ज्ञान का कण नहीं है, राग तो अन्धकार है। प्रभु चैतन्य ज्योत दैदीप्यमान है, तब राग का भाव—चाहे तो दया, दान, भक्ति, व्रत, तप का राग हो परन्तु वह राग अन्धकार है, अज्ञान है। अज्ञान है अर्थात् उसमें ज्ञान नहीं है। आहाहा! वह ज्ञानज्योति से विरुद्ध भाव अन्धकार है। ऐसी बात सुनना कठिन पड़ती है। नये लोग बेचारे यह सब करते हों तो मानो धर्म.. धर्म.. करते हों। भक्ति और भगवान के सामने शोर मचाकर... मानो धर्म करते हैं। उन्हें यह कहना। कठिन पड़ता है या नहीं? आहाहा! मार्ग ऐसा है, बापू! यहाँ किसी की कुछ सिफारिश लागू नहीं पड़ती। वीतरागमार्ग में किसी की सिफारिश लागू नहीं पड़ती।

वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा ने जो कहा, उसे किसी की अपेक्षा नहीं है। यह बात है, उस प्रकार से कही है और उस प्रकार से अनुभव करे, उसे धर्म हो, ऐसा है। आहाहा!

अन्तरंग में स्थिर करती हुई और **बन्ध को अज्ञानभाव में निश्चल (नियत) करती हुई...** राग है, वह बन्ध है। उस बन्ध में निश्चल करती हुई कि यह तो बन्ध है। यह अबन्धस्वरूप ज्ञान है। अबन्धस्वरूप आत्मा है और राग, वह बन्धस्वरूप है; इस प्रकार प्रज्ञाछैनी दोनों को भिन्न करती हुई... आहाहा! **(नियत) करती हुई...** भिन्न निश्चय करती हुई। [**अभित: भिन्नभिन्नौ कुर्वती**] **इस प्रकार आत्मा और बन्ध को सर्वत: भिन्न-भिन्न करती हुई पड़ती है।** आहाहा! दोनों को भिन्न-भिन्न करती-करती पड़ती है। ऐसी बात कैसी? ऐसा उपदेश किस प्रकार का? पहला तो ऐसा करो और यह करो और ऐसा करो और वह करो, यह करो, (ऐसा उपदेश था)। यहाँ करो... करो... कुछ नहीं। करने का राग है और राग करूँ, वहाँ तो मृत्यु है, आत्मा की मृत्यु है। आत्मा तो ज्ञातादृष्टा है। वह राग को करे, वहाँ तो आत्मा की शान्ति की हानि (होती है), घात होता है। आहाहा! कठिन काम है, प्रभु! साधारण प्राणी को बेचारे को अभी मुश्किल से आजीविका इकट्ठी होती हो। आजीविका के लिये रुके, उसमें ऐसी बातें सुनने को भी कहीं नहीं मिलती। सुनने को मिले तो समझ में नहीं आती। यह क्या कहते हैं परन्तु आत्मा? आत्मा... आत्मा... आत्मा... ऐसा आत्मा और ऐसा राग। आहाहा!

शरीर, वाणी, मन तो आत्मा की पर्याय में भी नहीं है। शरीर, वाणी, मन आत्मा की पर्याय-अवस्था है न? उसमें भी नहीं है। उसकी पर्याय में राग और द्वेष है। वह पर्यायबुद्धि छोड़कर द्रव्यबुद्धि करने पर भिन्न पड़ जाते हैं। आहाहा! ऐसा कहना है। वह तो भिन्न ही है। यह शरीर, वाणी तो जड़ है, भिन्न है, भिन्न ही है। स्त्री, पुत्र, कुटुम्ब-कबीला, धन्धा-व्यापार, वह तो अत्यन्त भिन्न-भिन्न ही है परन्तु पर्याय में तेरे पुरुषार्थ की विपरीतता से जो राग और द्वेष के, पुण्य-पाप के परिणाम होते हैं, उन्हें ज्ञान की ओर झुकाकर उनसे पृथक् पड़ जा। आहाहा! यह है न?

[**अभित: भिन्नभिन्नौ कुर्वती**] **इस प्रकार आत्मा और बन्ध को सर्वत: भिन्न-भिन्न करती हुई पड़ती है।** राग और आत्मा एक माना है, माना है, यह मान्यता है। है नहीं। रागतत्त्व भिन्न है। नवतत्त्व है न? जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, पुण्य-पाप, संवर,

निर्जरा, मोक्ष। तो आस्रवतत्त्व, पुण्य-पाप तत्त्व भिन्न है और ज्ञायकतत्त्व भिन्न है। ज्ञायकतत्त्व पुण्यरूप हुआ नहीं, पापरूप हुआ नहीं। उसे पुण्य और पापरूप मानना, वही मिथ्यात्व है। आहाहा! और उसे छेदना तथा भिन्न है, ऐसा भिन्न करना, इसका नाम समकित है। विशेष कहेंगे....　　(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ३६३, गाथा-२९५, श्लोक-१८१　　रविवार, मगसिर कृष्ण ४
दिनाङ्क - ०८-१२-१९७९

समयसार, १८१ कलश है, उसका भावार्थ चलता है। क्या कहते हैं? सूक्ष्म बात है। समयसार है, समयसार।

भावार्थ :- यहाँ आत्मा और बन्ध को भिन्न-भिन्न करनेरूप कार्य है। जो आत्मा है अन्दर, वह तो शुद्ध चिदानन्द ज्ञानानन्दमूर्ति है और शरीर-वाणी-मन, वह तो कर्म जड़ है और पुण्य-पाप के भाव हैं, वे तो विकार हैं, तो विकार और शरीरादि से तो आत्मा अन्दर भिन्न है। तो जिसे भिन्न करना हो, सम्यग्दर्शन प्राप्त करना हो, उसे आत्मा और बन्ध भिन्न-भिन्न करने का कार्य है। यह कार्य है। कार्य करने का क्या है?—कि आत्मा और रागादि को भिन्न करना, वह कार्य है। सूक्ष्म बात है। धर्म उसे कहते हैं कि रागादि भाव, विकार अन्दर उत्पन्न होता है, उससे भिन्न आत्मा ज्ञानानन्द सहजात्मस्वरूप है। उस आत्मा को और राग को भिन्न करना, यह कार्य करना है। आहाहा! तब वह सम्यग्दर्शन प्राप्त करता है। धर्म की पहली सीढ़ी—धर्म का पहला सोपान।

आत्मा और बन्ध को भिन्न-भिन्न करनेरूप कार्य है। उसका कर्ता आत्मा है,... भिन्न करने का कर्ता तो आत्मा है। **वहाँ करण के बिना कर्ता किसके द्वारा कार्य करेगा।** करण-साधन चाहिए न? साधन। साधन बिना कर्ता, साधन बिना किससे भिन्न करेगा? साधन क्या है? आत्मा और रागादि भाव, इनसे भिन्न करने में कर्ता आत्मा है, परन्तु कर्ता आत्मा को साधन क्या है? आहाहा! यह प्रश्न है। शिष्य का यह प्रश्न है। किसके द्वारा कार्य करेगा? कर्ता आत्मा किसके द्वारा कार्य-भिन्न करेगा? आहाहा! सम्यग्दर्शन प्राप्त

करने में नव तत्त्व से आत्मा भिन्न है। राग-द्वेष, पुण्य-पाप आदि भाव से तो भिन्न है, तो भिन्न करनेवाला कर्ता तो आत्मा है, परन्तु कर्ता को साधन क्या? साधन बिना कर्ता क्या करेगा?

कहते हैं कि **कर्ता किसके द्वारा कार्य करेगा।** समझ में आया? सूक्ष्म है, भाई! तत्त्वदृष्टि सूक्ष्म है। जैन परमेश्वर जिनेश्वरदेव त्रिलोकनाथ का मार्ग बहुत सूक्ष्म है। अन्तर में राग उत्पन्न होात है, उससे भी आत्मा भिन्न है। भिन्न करनेवाला कर्ता आत्मा है, तो कर्ता, करण अर्थात् किसके द्वारा कार्य करेगा? **इसलिए करण भी आवश्यक है।** कर्ता आत्मा, राग और दया, शुभाशुभभाव से भिन्न करने में कर्ता आत्मा है, तो करण कौन? किस साधन से करेगा? (तो कहते हैं) करण भी आवश्यक है। साधन की भी जरूरत है।

निश्चयनय से कर्ता से करण भिन्न नहीं होता;... निश्चयदृष्टि से, वास्तविक दृष्टि से देखो तो कर्ता आत्मा, वह राग से भिन्न करनेवाला कर्ता, उसका करण—साधन कर्ता से भिन्न नहीं होता। कर्ता से करण—साधन भिन्न नहीं होता। है? **निश्चयनय से कर्ता से करण भिन्न नहीं होता;...** आहाहा! **इसलिए आत्मा से अभिन्न ऐसी यह बुद्धि ही...** अनुभव। राग से भिन्न करने की ज्ञान-प्रज्ञा-ज्ञानरूपी छैनी। वह प्रज्ञारूपी छैनी—अनुभव, वह राग से भिन्न करने का करण—साधन है। कर्ता आत्मा है, परन्तु उन रागादि से भिन्न करने का करण—साधन प्रज्ञा अर्थात् उससे भिन्न करने का अनुभव, वह साधन है। आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई! अनन्त-अनन्त काल चौरासी के अवतार में गया, परन्तु कभी इसने सम्यग्दर्शन प्राप्त नहीं किया। सम्यग्दर्शन बिना सब क्रियाकाण्ड किये तो उससे तो पुण्यबन्ध होगा और स्वर्ग आदि मिलेंगे परन्तु इसकी चार गति नहीं मिटेगी।

यहाँ कहते हैं कि कर्ता आत्मा (है)। राग और शरीरादि से भिन्न करने में साधन कौन?—कि कर्ता से भिन्न साधन नहीं होता। कर्ता आत्मा तो प्रज्ञा—अनुभव राग से भिन्न अनुभव, वह साधन है। राग से, पुण्य-पाप के भाव से, शुभ-अशुभभाव से, शरीर से भिन्न करने का साधन अनुभव है। राग से भिन्न करने का अनुभव, आत्मा का अनुभव, वह साधन है। आहाहा! ऐसी बारीक बात है, सूक्ष्म बात है। बाहर से मानता है कि ऐसा करना और वैसा करना, वह कोई साधन नहीं है। वह तो शुभराग होवे तो पुण्य बँधेगा, उससे संसार मिलेगा।

यहाँ तो राग से भिन्न करनेवाला आत्मा है, उसका करण अर्थात् साधन कर्ता से भिन्न नहीं होता, (ऐसा कहते हैं)। तो वह साधन क्या? कर्ता आत्मा और उसका अनुभव करना, राग से भिन्न होकर भिन्न अनुभव करना, वह कर्ता का करण—राग से भिन्न करने का साधन है। समझ में आया? किसी की गुजराती की माँग थी। कल हिन्दी चला था न? यह तो गुजराती और हिन्दी भाषा (चाहे जो हो), भाव तो जो सूक्ष्म हो, वह आवे न? भाव दूसरे कहाँ से आयेंगे? भाई! आहाहा!

निश्चयनय से कर्ता आत्मा, राग से भिन्न करने का उसका साधन, आत्मा से साधन भिन्न नहीं होता। **इसलिए आत्मा से अभिन्न ऐसी यह बुद्धि ही...** अर्थात् ज्ञान, अनुभव। राग से भिन्न करने का अनुभव, वह साधन है। आहाहा! बहुत सूक्ष्म बात। अनन्त काल... अनन्त काल हुआ, चौरासी में भटकते-भटकते कभी सम्यग्दर्शन कैसे प्राप्त हो, इसकी खबर भी नहीं। बाहर की प्रवृत्ति में धर्म मान लिया।

यहाँ तो परमात्मा जैन परमेश्वर त्रिलोकनाथ ऐसा कहते हैं कि राग जो दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा आदि का भाव (होता है), वह राग है, बन्धन है। उससे भिन्न करनेवाला कर्ता आत्मा है। कर्ता से भिन्न, करने का साधन अलग नहीं होता। कर्ता आत्मा है तो उसका साधन प्रज्ञा अर्थात् अनुभव है। राग से भिन्न करने का आत्मा का अनुभव, वह साधन है। आहाहा! समझ में आया? है?

बुद्धि ही इस कार्य में करण है। प्रज्ञा—ज्ञान की पर्याय। जो ज्ञान की दशा राग-सन्मुख है, उस ज्ञान की पर्याय को स्वभाव-सन्मुख करना, वह अनुभव आत्मा को राग से भिन्न करने का साधन है। आहाहा! ऐसी सूक्ष्म बात है, बापू! वीतराग मार्ग.... जिनेश्वर त्रिलोकनाथ परमात्मा का यह फरमान है।

आत्मा के अनादि बन्ध ज्ञानावरणादि-कर्म है,... आत्मा को अनादि ज्ञानावरणीय (आदि) आठ कर्म का बन्धन है। अनादि से है। एकेन्द्रिय से—निगोद में पड़ा था, तब से इसे आठ कर्मों का बन्ध है। **उसका कार्य भावबन्ध तो रागादिक है...** वह द्रव्यबन्ध जो जड़कर्म है, उसका कार्य क्या? करे तो राग-द्वेष, वह उसका कार्य है। ज्ञानावरणीय आदि (कर्म) अनादि से आत्मा के साथ बँधे हुए हैं। वे जड़ कर्म हैं, उनका कार्य क्या?

करे तो कार्य क्या ? राग-द्वेष तथा पुण्य और पाप उनका कार्य है। आत्मा करे तो उसे आत्मा का कार्य कहा जाता है। उनका कार्य तो यह है। उनका कार्य कोई धर्म है—ऐसा नहीं है। आहाहा! **उसका कार्य भावबन्ध तो रागादिक है तथा नोकर्म शरीरादिक है।** यह शरीरादि कर्म का फल है। यह शरीर, वाणी, मन, वह जड़—मिट्टी-धूल है, वह तो पुद्गल मिट्टी है। आत्मा तो अत्यंत चैतन्य भगवान अन्दर भिन्न है। अरूपी है; वर्ण, गंध, रस, स्पर्श रहित चीज़ है। राग और द्वेष, पुण्य-पाप के विकारभाव से रहित चीज़ अन्दर है। क्योंकि नव तत्त्व में विकार तत्त्व राग और पुण्य-पाप दूसरी चीज़ है। आत्मतत्त्व नवतत्त्व से भिन्न चीज़ है। उस चीज़ को भिन्न करने का उपाय (क्या) ? उस राग से भिन्न करने का उपाय है—अनुभव। स्वसन्मुख होना, पर से विमुख होना—ऐसी प्रज्ञाछैनी। आत्मा के सन्मुख होकर अनुभव करना, वह राग से भिन्न पड़ने का साधन है, क्योंकि अनादि काल से आठ कर्म तो पड़े हैं। उनका कार्य राग-द्वेष तो करता है और शरीर मिलता है।

इसलिए बुद्धि के द्वारा... अन्दर में ज्ञान की दशा द्वारा। आत्मा ज्ञानस्वरूप है, आत्मा ज्ञान स्व—स्वरूप है। स्व—भाव है। आत्मा का ज्ञान स्व—भाव है, अपना आत्मा का तो ज्ञानस्वभाव है। उस स्वभाव द्वारा **आत्मा को शरीर से, ज्ञानावरणादिक द्रव्यकर्म से तथा (पुण्य-पाप) रागादिक भावकर्म से भिन्न...** करना। यह धर्म की रीति कठिन है, भाई! अभी तो सब बाहर में चला है। बाहर की प्रवृत्ति करते-करते होगा। यहाँ तो परमात्मा कहते हैं कि अन्दर राग की प्रवृत्ति होती है, उससे भिन्न हो। भिन्न होना। चैतन्यस्वरूप... कहा न ?

एक चैतन्यभावमात्र... एक चैतन्यभावमात्र। जानन... जानन... जानन... जानन स्वभावमात्र आत्मा। उस आत्मा में राग नहीं, पुण्य नहीं, पाप नहीं, आस्रव नहीं, शरीर नहीं। एक चैतन्यस्वभावमात्र अनुभव **अनुभवी...** चैतन्यस्वभावमात्र आत्मा को अनुभव कर **ज्ञान में ही लीन रखना...** उस ज्ञानस्वभाव में लीन रखना, यह राग से भिन्न करने का उपाय है। आहाहा! यह धर्म है। सूक्ष्म चीज़ है, भाई! है ? अन्दर है या नहीं ?

सो यही (आत्मा और बन्ध को) दूर करना है। राग से भिन्न पड़कर अपने ज्ञानस्वभाव में... आत्मा स्व भाव, अपना भाव जो ज्ञान है, उसमें एकाग्र रहना, वह राग से

भिन्न करने का उपाय है। आहाहा! यह मार्ग है। वीतराग त्रिलोकनाथ जिनेश्वर परमेश्वर का यह हुकम है। कठिन पड़े, अपूर्व लगे। पूर्व में कभी किया नहीं, पूर्व में कभी अन्तर की बात सुनी नहीं। अन्तर आत्मा क्या चीज़ है? और यह जड़ क्या है? दया, दान, व्रत के परिणाम तो राग हैं। राग भिन्न चीज़ है, शरीर भिन्न चीज़ है, आत्मा भिन्न चीज़ है। आहाहा! यह आत्मा और बन्ध को भिन्न करना है।

इसी से सर्व कर्मों का नाश होता है,... इस राग और कर्म से आत्मा को, चैतन्यस्वभाव से (रागादि को) भिन्न करके अनुभव करना, यही आठ कर्म का नाश करने का उपाय है। आहाहा! अन्तर का अनुभव। 'वस्तु विचारत ध्यावतें मन पावे विश्राम; रस स्वादत सुख ऊपजे, अनुभव ताको नाम।' बनारसीदास का काव्य है। 'वस्तु विचारत ध्यावतैं' वस्तुस्वभाव आत्मा आनन्द और ज्ञानादि, वह उसका स्व—अपना भाव है। उसका विचार करके एकाग्र होता है, तो 'वस्तु विचारत ध्यावतै मन पावे विश्राम।' मन के विकल्प हैं, वे टूट जाते हैं, विश्राम पा जाते हैं। 'रस स्वादत सुख ऊपजे' और उस स्थान में आत्मा के आनन्दरस का स्वाद आता है। आनन्द का स्वाद (आता है)। राग का स्वाद तो अनादि से चला आता है। पुण्य और पाप का स्वाद अनादि से चला आता है। यह तो पहले कहा। उसे छोड़कर निजरस, ज्ञानानन्द रस, चैतन्यस्वभाव का रस का अनुभव करना, इसका नाम अनुभव है और वह अनुभव प्रज्ञाछैनी है। वह अनुभव प्रज्ञाछैनी अर्थात् राग से भिन्न करने का उपाय है। आहाहा! ऐसा मार्ग है।

और **सिद्धपद की प्राप्ति होती है, ऐसा जानना चाहिए।** इस उपाय से परमात्मपद, णमो सिद्धाणं—ऐसे सिद्धपद की प्राप्ति इस उपाय से होती है। दूसरा कोई उपाय है नहीं। जो रागादि, पुण्य, दया, दान, व्रत, भक्ति, काम, क्रोध के भाव, वे सब विकार हैं। उस विकार तत्त्व से निर्विकारी चैतन्यस्वभाव आत्मा अन्दर भिन्न है। उस चैतन्यस्वभाव का अनुभव करना, उसका स्वाद लेना, उसके आनन्द का वेदन करना, वह कर्मबन्धन छेदने का उपाय है। आहाहा! ऐसी सूक्ष्म बात है। यह तो कल आ गया था, गाथा तो आ गयी, उसका यह भावार्थ (चला)।

गाथा - २९५

आत्मबन्धौ द्विधा कृत्वा किं कर्तव्यमिति चेत् -

जीवो बंधो य तहा छिज्जंति सलक्खणेहिं णियएहिं।
बंधो छेदणदव्वो सुद्धा अप्पा य घेत्तव्वो॥२९५॥

जीवो बन्धश्च तथा छिद्येते स्वलक्षणाभ्यां नियताभ्याम्।
बन्धश्छेत्तव्यः शुद्ध आत्मा च गृहीतव्यः॥२९५॥

आत्मबन्धौ हि तावन्नियतस्वलक्षणविज्ञानेन सर्वथैव छेत्तव्यौ; ततो रागादिलक्षणः समस्त एव बन्धो निर्मोक्तव्यः, उपयोगलक्षणः शुद्ध आत्मैव गृहीतव्यः। एतदेव किलात्मबन्धयोर्द्विधाकरणस्य प्रयोजनं यद्बन्धत्यागेन शुद्धात्मोपादानम्॥२९५॥

'आत्मा और बन्ध का द्विधा करके क्या करना चाहिए।' ऐसा प्रश्न होने पर उत्तर देते हैं:-

छेदन होवे जीव बन्ध का जहँ नियत निज निज चिह्न से।
वह छोड़ना इस बन्ध को, जीव ग्रहण करना शुद्ध को॥२९५॥

गाथार्थ : [तथा] इस प्रकार [जीवः बन्धः च] जीव और बन्ध [नियताभ्याम् स्वलक्षणाभ्यां] अपने निश्चित स्वलक्षणों से [छिद्येते] छेदे जाते हैं। [बंधः] वहाँ, बन्ध को [छेत्तव्यः] छेदना चाहिए अर्थात् छोड़ना चाहिए [च] और [शुद्धः आत्मा] शुद्ध आत्मा को [गृहीतव्यः] ग्रहण करना चाहिए।

टीका : आत्मा और बन्ध को प्रथम तो अपने नियत स्वलक्षणों के विज्ञान से सर्वथा ही छेद अर्थात् भिन्न करना चाहिए; तत्पश्चात्, रागादिक जिसका लक्षण है-ऐसे समस्त बन्ध को तो छोड़ना चाहिए तथा उपयोग जिसका लक्षण है-ऐसे शुद्ध आत्मा को ही ग्रहण करना चाहिए। वास्तव में यही आत्मा और बन्ध के द्विधा करने का प्रयोजन है कि बन्ध के त्याग से (अर्थात् बन्ध का त्याग करके) शुद्ध आत्मा को ग्रहण करना।

भावार्थ : शिष्य ने प्रश्न किया था कि आत्मा और बन्ध को द्विधा करके क्या करना चाहिए? उसका यह उत्तर दिया है कि बन्ध का तो त्याग करना और शुद्ध आत्मा का ग्रहण करना।

गाथा - २९५ पर प्रवचन

'आत्मा और बन्ध का द्विधा करके क्या करना चाहिए।' अब शिष्य का प्रश्न है। भगवन्! आत्मा को राग से, दया से, पुण्य-पाप के भाव से भिन्न करके क्या करना चाहिए? किसे ग्रहण करना चाहिए? है? **ऐसा प्रश्न होने पर उत्तर देते हैं:-** ऐसा प्रश्न हो कि यह रागादि पुण्य-पाप के भाव जो अन्दर होते हैं, उनसे आत्मा भिन्न है तो उनसे भिन्न पड़कर करना क्या? ऐसा कहता है। है? **द्विधा करके क्या करना चाहिए।** भिन्न करके करना क्या? किसे ग्रहण करना और किसे छोड़ना?—ऐसा प्रश्न है। आहाहा! यह शिष्य का प्रश्न है कि अन्दर भगवान आत्मा चैतन्य हीरा सच्चिदानन्द प्रभु, सत् शाश्वत् नित्य आनन्द और ज्ञान का समुद्र भगवान है, उसका अनुभव करके राग से भिन्न करना, तो भिन्न करके करना क्या? यह प्रश्न है।

जीवो बंधो य तहा छिज्जंति सलक्खणेहिं णियएहिं।
बंधो छेदणदव्वो सुद्धा अप्पा य घेत्तव्वो॥२९५॥

छेदन होवे जीव बन्ध का जहँ नियत निज निज चिह्न से।
वह छोड़ना इस बन्ध को, जीव ग्रहण करना शुद्ध को॥२९५॥

टीका :- आत्मा और बन्ध को प्रथम तो अपने नियत स्वलक्षणों के विज्ञान से सर्वथा ही छेद... पहले भिन्न करना चाहिए। आहाहा! पहले में पहला तुझे धर्म का कर्तव्य होवे तो (यह है)। आहा! आत्मा और बन्ध अर्थात् रागादि को प्रथम तो उनके नियत स्वलक्षण। (अर्थात्) राग बन्ध का लक्षण है और भगवान का—आत्मा का ज्ञान लक्षण है, आत्मा का जानन... जानन... जानन आनन्द लक्षण है। राग का बन्ध लक्षण है। दोनों के भिन्न लक्षण जानकर ज्ञान से सर्वथा ही छेद करना। आहाहा! ज्ञान की दशा में अन्तर झुकाव करके, राग से विमुख होकर आत्मा में भेद करना चाहिए।

तत्पश्चात्, रागादिक जिसका लक्षण है... पुण्य और पाप, राग के विकल्प जिसका लक्षण है, **ऐसे समस्त बन्ध को तो छोड़ना...** चाहिए। आहाहा! द्विधा करके करना क्या? दोनों को भिन्न करके करना क्या?—कि बन्ध को छोड़ना। आहाहा! चाहे तो

वह पुण्यभाव हो या पाप हो, शुभ-अशुभभाव दोनों बन्ध के कारण हैं। शुभ और अशुभभाव, दोनों बन्ध के कारण हैं, दोनों बन्धरूप है और भगवान आत्मा उनसे भिन्न चैतन्यस्वरूपी अबन्धस्वरूप है। दोनों को भिन्न करना। पहले भिन्न करना चाहिए। **समस्त बन्ध को तो छोड़ना...** आहाहा! दोनों को भिन्न करके बन्ध अर्थात् रागादि जो परिणाम बन्ध के कारण हैं, उन्हें तो दृष्टि में से छोड़ना। सूक्ष्म बात है, भाई! सूक्ष्म बात है।

अन्तर में आत्मा आनन्दस्वरूप प्रभु ज्ञान और आनन्द की मूर्ति आत्मा है। अतीन्द्रिय अनन्त ज्ञान, अतीन्द्रिय अनन्त आनन्द, अतीन्द्रिय अनन्त शान्ति, वीतरागता, अनन्त... अनन्त प्रभुता उसमें भरी है। ऐसी अनन्त शक्तियों का भण्डार भगवान, उसे राग से भिन्न करके... आहाहा! यह करना। भिन्न करके राग को छोड़ना। भिन्न किये बिना छोड़े क्या? समझ में आया? सूक्ष्म बात है, भाई!

अनन्त काल हुआ, चौरासी लाख योनियों (में भटका)। अनन्त बार नौवें ग्रैवेयक गया। स्वर्ग में नौवें ग्रैवेयक के अनन्त भव किये। मुनिव्रत धारण किया। 'मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रीवक उपजायो।' अनन्त बार मुनि हुआ, परन्तु आत्मज्ञान नहीं किया। आत्मज्ञान जो राग से भिन्न है, वह नहीं किया। राग की क्रिया को ही धर्म माना। आहाहा! 'मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रीवक उपजायो, पे (निज) आतमज्ञान बिना सुख लेश न पायो।' आत्मा आनन्दस्वरूप भगवान है और राग आकुलतास्वरूप दुःख है। दोनों का भेदज्ञान नहीं किया। आहाहा! दोनों को अनादि से एकरूप मानता है, यह मान्यता चली आती है। कभी भिन्नता की नहीं। आहाहा! और भिन्न किये बिना छोड़ना और ग्रहण करना, यह कहाँ से आवे? भिन्न किये बिना एक को छोड़ना और एक को ग्रहण करना—यह भिन्न किये बिना कहाँ से हो? पहले भिन्न करना। आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई!

यह तो वीतरागमार्ग है। परमेश्वर जिनेश्वरदेव त्रिलोकनाथ भगवान की वाणी है। सीमन्धर भगवान के पास कुन्दकुन्दाचार्य गये थे। संवत् ४९, कुन्दकुन्दाचार्य दिगम्बर सन्त मुनि हैं, दिगम्बर मुनि हैं। संवत् ४९ में भगवान के पास गये थे। भगवान विराजते हैं। महाविदेह में विराजते हैं। सीमन्धरस्वामी तीर्थंकरदेव। एक करोड़ पूर्व का आयुष्य है, और पाँच धनुष की देह है, दो हजार हाथ ऊँची। भगवान महाविदेह में शरीररूप से विराजमान

हैं, अभी शरीर है। वहाँ संवत् ४९ में गये थे। आठ दिन वहाँ रहे थे। वहाँ से आकर यह शास्त्र बनाये। यह शास्त्र बनाने के पश्चात् एक हजार वर्ष में यह अमृतचन्द्राचार्य ने टीका की, शास्त्र का स्पष्टीकरण किया कि शास्त्र को कहना क्या है। इसका स्पष्टीकरण किया।

कहते हैं कि पहले क्या करना? आहाहा! शास्त्र को कहना क्या? भगवान को क्या कहना है? भगवान की वाणी क्या कहती है? वह वाणी ऐसा कहती है कि प्रथम तो आत्मा और विकार को भिन्न करना। आहाहा! बन्धभाव का लक्षण राग है, उसे भिन्न करना। आत्मा का लक्षण ज्ञान है। ज्ञान से राग को भिन्न करके, दोनों को भिन्न करके राग को छोड़ना। आहाहा! जो दोनों को अनादि से एकरूप माना है, कभी भिन्न किया ही नहीं तो छोड़े किसको? आहाहा! भिन्न करके राग को छोड़ना। है?

समस्त बन्ध को तो छोड़ना... 'समस्त' शब्द है। विकल्पमात्र, गुण-गुणी के भेद का विकल्प—राग उठता है, उसे भी छोड़ना। आहाहा! समस्त बन्ध को छोड़ना। सूक्ष्म बात है, भाई! शुभभाव—दया, दान, व्रत, भक्ति वह राग तो बन्ध है ही, परन्तु गुण-गुणी के भेद का विकल्प, राग उठता है, वह भी समस्त बन्ध है। उस बन्ध को छोड़ना। आहाहा! समस्त बन्ध को छोड़ना। समस्त में क्या बाकी रहा? कोई भी राग का कण, शुभ या अशुभ, सब बन्ध का कारण है, तो समस्त बन्ध को छोड़ना चाहिए। बन्ध को छोड़ना चाहिए। आहाहा! जिसे हित करना है, उसे भिन्न करके एक को छोड़ना। आहाहा!

तथा उपयोग जिसका लक्षण है... आत्मा का लक्षण तो उपयोग—जानना-देखना है। उसका लक्षण कोई राग, दया, दान, वह उसका लक्षण नहीं है। वह तो बन्ध का लक्षण है। आहाहा! **उपयोग जिसका लक्षण है...** आत्मा को जानना-देखना जिसका लक्षण है। वह **उपयोग जिसका लक्षण है, ऐसे शुद्ध आत्मा को ही...** शुद्ध आत्मा को ही **ग्रहण करना...** चाहिए। आहाहा! बात बहुत थोड़ी, परन्तु बहुत (गहरी)। जिसे सम्यग्दर्शन प्राप्त करना हो, प्रथम धर्म—सम्यग्दर्शन प्राप्त करना हो, उसे क्या करना—यह बात चलती है। सम्यग्दर्शन के बिना तो ज्ञान और चारित्र होते ही नहीं।

सम्यग्दर्शन पहले क्यों होता है?—कि बन्ध का जो भाव रागादि है, चाहे तो शुभराग हो या अशुभराग हो, दोनों बन्ध के लक्षण हैं। उन बन्ध के लक्षण को छोड़कर चैतन्य लक्षण

को भिन्न करना। भिन्न करके समस्त बन्ध को छोड़ना। आहाहा! ऐसी सूक्ष्म बातें। बाहर का छोड़ना होवे तो छोड़े, परन्तु यह बाहर का तो छूटा ही पड़ा है। कब ग्रहण किया था? शरीर, वाणी, मन, पैसा, लक्ष्मी, स्त्री, वे तो बाहर पड़े ही हैं। वे तूने ग्रहण कब किये हैं कि छोड़े? आहाहा! ग्रहण किये हैं, इसने पुण्य और पाप, विकार (वह भी) पर्याय में—अवस्था में—दशा में। उस विकार को ग्रहण किया है तो विकार को बन्ध लक्षण जानकर और चैतन्य आत्मा को ज्ञान लक्षण जानकर, दोनों को भिन्न करके और राग को छोड़ना, बन्ध को छोड़ना। आहाहा! स्त्री, पुत्र छोड़ना, ऐसा नहीं कहा। वे तो छूटे पड़े ही हैं, वे कहाँ इसके थे? इसमें कहाँ थे? और इसके कहाँ थे? और उनमें यह कहाँ था? आहाहा! ऐसी बात कठिन है।

समस्त बन्ध को तो छोड़ना चाहिए... कोई भी बन्ध का अंश है, वह रखनेयोग्य नहीं है। आहाहा! जिस भाव से तीर्थंकरगोत्र बँधे, वह भाव बन्ध का कारण है। उसे भी छोड़ना। आहाहा! दृष्टि में से छोड़ना। सूक्ष्म बात है, भगवान! क्या हो? प्रभु का मार्ग तो वीरों का है। यह कोई कायर का मार्ग नहीं है। यह कुछ समझे नहीं, खबर नहीं और धर्म हो जाए? जीव किसे कहते हैं? पुण्य किसे कहते हैं? पाप किसे कहते हैं? पुण्य किसे कहते हैं? आत्मा किसे कहते हैं? इसकी कुछ खबर नहीं और धर्म हो जाए? आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं, अन्दर में दोनों के लक्षण पुण्य और पाप के भाव, वह बन्ध का लक्षण है और आत्मा का लक्षण ज्ञान है। यह जानना, वह आत्मा है। ऐसे दोनों के लक्षण से भिन्न करके राग को छोड़ना। राग, बन्ध का जो लक्षण कहा, उसे छोड़ना और चैतन्यलक्षण जो भगवान आत्मा है... देखो! है? **उपयोग जिसका लक्षण है...** जो जाने, जाने और देखे, वह जिसका लक्षण है। दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा वह तो राग है, वह कहीं आत्मा का लक्षण, स्वरूप नहीं है। वह तो बन्ध का लक्षण है। आहाहा!

मुमुक्षु : राग को अपने आत्मा से भिन्न जान लिया, फिर छोड़ना और ग्रहण करना कहाँ रहा?

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु यह विशेष समझाना है न! भिन्न किया, इसलिए फिर इसे

(ग्रहण करना) और उसको (राग को) छोड़ना, ऐसा। राग और द्वेष बन्ध का लक्षण है और मैं चैतन्यलक्षण उपयोग हूँ, ऐसे पर से भिन्न किया, भिन्न करके उस ओर का लक्ष्य छोड़ना। लक्ष्य छोड़ना, उसे ही छोड़ना कहने में आया है। उसका लक्ष्य छोड़ना, उसे छोड़ा कहा जाता है। उपयोग लक्षण चैतन्य, वह तो जानन... जानन... जानन... जानन... जानन, जानन-देखन उपयोग, वह आत्मा का लक्षण है। पुण्य-पाप के भाव, वह तो बन्ध का लक्षण है। आहाहा! भारी सूक्ष्म! भाई! पकड़ना कठिन। एक तो अभी मिलना कठिन, सुनने को मिलना कठिन। सुनने को मिले—यह करो, यह करो, यह करो, अमुक करो, यात्रा करो, भक्ति करो, पूजा करो, व्रत करो, करो, करो और करो आवे। वह तो सब राग है। आता है, अशुभ से बचने को आता है, परन्तु वह कोई धर्म नहीं है। आहाहा!

उस राग के लक्षण को बन्ध लक्षण जानकर और आत्मा का उपयोग लक्षण जानकर, दोनों को भिन्न करके, राग का सम्बन्ध बन्ध है, उस समस्त बन्ध को छोड़ना, और उपयोगरूपी जो आत्मा का लक्षण है, ऐसे शुद्धात्मा को... देखो! **ऐसे शुद्ध आत्मा को...** आहाहा! आत्मा में पुण्य-पाप, दया, दान, व्रत, भक्ति है ही नहीं। वह तो विकार में गया, वे तो बन्ध में गये, राग के लक्षण में गये। भगवान आत्मा शुद्ध अन्दर चैतन्य है, उसे ग्रहण करना और रागादि जो उठे, पुण्य और पाप की वृत्ति (उठे), वह बन्ध है, उसे छोड़ना। आत्मा को ग्रहण करना और उसे (राग को) छोड़ना। भिन्न करके ग्रहण करना और छोड़ना यह। आहाहा! बात ऐसी सूक्ष्म है। मार्ग तो होवे पर आवे न? दुनिया माने, इसलिए कहीं मार्ग आ जाए?

वीतराग त्रिलोकनाथ जिनेश्वरदेव परमेश्वर की आज्ञा में जो आया है, वह मार्ग है। दुनिया अपनी कल्पना से माने कि यह धर्म हो गया, बाहर का क्रियाकाण्ड करने से धर्म हो गया। वह धर्म नहीं है। है न बात?

समस्त बन्ध... बन्ध का लक्षण राग। चाहे तो शुभराग हो या अशुभराग हो, वह बन्ध का लक्षण है। उस बन्ध लक्षण को भिन्न करके, उपयोग लक्षण को ग्रहण करके बन्ध को छोड़ना। आहाहा! और उपयोग लक्षण शुद्ध आत्मा को ग्रहण करना, ऐसा। **उपयोग जिसका लक्षण है, ऐसे शुद्ध आत्मा को...** आहाहा! इस राग के विकल्प से, राग से

भिन्न शुद्ध आत्मा ग्रहण करना। उसके सन्मुख होकर उसमें अभिन्न होना। आहाहा! इसका नाम धर्म है। जिनेश्वर वीतराग परमेश्वर त्रिलोकनाथ अनन्त तीर्थंकर ऐसा कहते हैं। यह वर्तमान तीर्थंकर भगवान महाविदेह में भी यही कहते हैं।

सीमन्धर भगवान जो कहते हैं, वह यहाँ आया है। कुन्दकुन्दाचार्य संवत ४९ में वहाँ गये थे। दिगम्बर मुनि, संवत् ४९, दो हजार वर्ष हुए। भगवान के पास गये थे। भगवान तो विराजते हैं, कोटि पूर्व का आयुष्य है। अरबों वर्ष गये और अभी अरबों वर्ष हैं। आगामी चौबीसी में तेरहवें तीर्थंकर होंगे, तब मोक्ष जाएँगे और गत काल के बीसवें तीर्थंकर 'मुनिसुव्रत' हुए, तब तो दीक्षा (ली थी)। प्रभु का करोड़ पूर्व का आयुष्य है। महाविदेह में समवसरण में विराजते हैं। सभा भरती है। इन्द्र आते हैं, देव आते हैं, जंगल में से नाग और बाघ और सिंह सब सुनने आते हैं। आहाहा! उन भगवान की दिव्यध्वनि में यह आया। उसे कुन्दकुन्दाचार्य ने ग्रहण करके ये शास्त्र बनाये। आहाहा! अनजाने लोगों को कठिन लगता है। बाहर का सुना हो, व्रत करो, तप करो, अपवास करो, भक्ति करो, पूजा करो, यात्रा करो, धर्म हो जाएगा। यहाँ कहते हैं कि ये सब क्रियाएँ हैं, वे राग की हैं।

प्रभु आत्मा तो ज्ञान और आनन्दस्वरूप है, आनन्दस्वरूप है। यह तो सब रागस्वरूप है। रागस्वरूप से भगवान को भिन्न करके, भगवान (अर्थात्) अपना भगवान, हों! आत्मा। आहाहा! सर्व प्रकार के राग का सम्बन्ध छोड़ना और उपयोगलक्षण ऐसा आत्मा, शुद्ध आत्मा, रागरहित शुद्ध आत्मा पवित्र आनन्दकन्द प्रभु है, उसका अनुभव करना। ग्रहण करना अर्थात् अनुभव करना। राग को छोड़ना और इस शुद्ध आत्मा का अनुभव करना। आहाहा! ऐसी बात है, भाई! मार्ग सूक्ष्म है, बापू!

प्रभु का मार्ग 'वीर का मार्ग है शूरों का, यह कायर का नहीं काम।' वीर्यहीन कायर का यह काम नहीं है। बापू! यह तो वीर जीवों का काम है। आहाहा! जिसे अन्दर में वीर्य स्फुरित होता है, राग लक्षण बन्ध का जाने और आत्मा का लक्षण ज्ञान उपयोग को जाने, तब भेद पाड़कर आत्मा को ग्रहण करे, वह वीर का लक्षण है। आहाहा! बाकी बाहर की लड़ाई करके बहुतों का घात करे और योद्धा कहलाये, वह तो सब बाल हैं—बालक हैं। आहा! वीर तो यह है। आहाहा!

आत्मा ज्ञानानन्द प्रभु, अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप प्रभु, वीतरागमूर्ति आत्मा का अनुभव करके, राग से भिन्न करके ग्रहण करना—अनुभव करना और राग को छोड़ना, यह वीतराग की आज्ञा है। वीतराग का यह मार्ग, जैनशासन का यह मार्ग है। इसके अतिरिक्त विरुद्ध कहे, वह जैनशासन, मार्ग नहीं है। आहाहा! कठिन बात है, भगवान! क्या हो?

लोगों को दरकार नहीं है। अरे रे! ऐसा मनुष्यपना चला जाता है। अनन्त भव किये और नहीं समझे तो अभी नरक-निगोद के अनन्त भव करेगा। आहाहा! इसे भवभ्रमण का त्रास भी नहीं है। भवभ्रमण का डर लगे तो अन्दर आत्मा में जाए। आहाहा! भवभय से डरे, भवभय से डरे—आता है न? (भवभय से) डरी चित्त-आता है, योगसार में। आहाहा! चौरासी के अवतार करते-करते अनन्त अवतार में जैन का साधु भी अनन्त बार हुआ। दिगम्बर साधु, पंच महाव्रतधारी, अट्ठाईस मूलगुण धारण करनेवाला अनन्त बार हुआ, परन्तु वह तो अट्ठाईस मूलगुण और पंच महाव्रत तो आस्रव और राग है। वह तो बन्ध का लक्षण है। आहाहा! उससे भिन्न आत्मा उपयोग जानन... जानन-देखन उपयोग लक्षण, ऐसा शुद्ध आत्मा, जिसमें राग का जरा भी जुड़ान नहीं। जिस भाव से तीर्थंकरगोत्र बँधे, उस राग का भी आत्मा के साथ जरा भी जुड़ाव नहीं। आहाहा! ऐसा शुद्ध आत्मा है। है? **आत्मा को ही ग्रहण...** वापस ऐसा शब्द है। ऐसे **आत्मा को ही...** ऐसे आत्मा को ही अनुभव करना; बाकी सब छोड़ना। आहाहा!

मुमुक्षु : अनुभव का स्वाद कैसा होता है?

पूज्य गुरुदेवश्री : कहा नहीं, आनन्द। राग का स्वाद दुःख और आत्मा का स्वाद आनन्द। जहाँ तक राग का स्वाद है, वहाँ तक आकुलता है और आनन्द का स्वाद आने पर वह आकुलता का स्वाद ज्ञात हो जाता है, होता है अवश्य। आत्मा आनन्दस्वरूप है, अतीन्द्रिय आनन्द का सागर प्रभु है। आहाहा! अतीन्द्रिय आनन्द की मूर्ति आत्मा है। उसका अनुभव होने पर आनन्द जिसका मुख्य लक्षण है। यह कहा न अभी? 'वस्तु विचारत ध्यावते, रस स्वादत सुख ऊपजे।' आहाहा!

जब तक आत्मा का आनन्द का स्वाद नहीं, तब तक राग का स्वाद है और जितना राग का, पुण्य-पाप का स्वाद है, उतना दुःखरूप और आकुलता है, वह आत्मा की जाति

नहीं है। और इस पुण्य-पाप की जाति से भिन्न आत्मा की जाति, उसका स्वाद और उसका स्वरूप आनन्द है। भिन्न पड़ने पर, राग से भिन्न पड़ने पर प्रथम सम्यग्दर्शन में अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आवे, तब वह स्वाद (आया), वह आत्मा का है। राग का स्वाद है, वह आकुलता-दुःख का (स्वाद है)। तब उसे सम्यग्दर्शन कहा जाता है। सम्यग्दर्शन, वस्तु की स्थिति उपयोगमय चैतन्य है, ऐसा जाना तो उसमें से उसमें से उसका नमूना पर्याय में भी, जितने अनन्त गुण हैं, उन अनन्त गुण में से एक अंश सर्व व्यक्ति प्रगट होती है। जितने अनन्त शुद्ध गुण हैं, उन्हें ग्रहण करने से, उनका अनुभव करने से अनन्त गुण का एक अंश व्यक्त / प्रगट होता है, तब आनन्द का स्वाद आता है; तब जाना कि यह आत्मा। राग का स्वाद वह आकुलता-दुःख है। आहाहा! बाकी जानपना चाहे जितना किया हो, उसके साथ कुछ सम्बन्ध नहीं है। ग्यारह अंग का जानपना किया (हो)।

राग और आत्मा, दोनों का स्वाद भिन्न है। दोनों का स्वाद भिन्न न ज्ञात हो, तब तक आत्मा ग्यारह अंग का ज्ञान करे तो भी वह अज्ञान है। आहाहा! बात कठिन है, भाई! आहाहा!

मुमुक्षु : शान्ति और आनन्द एक ही है या दो है?

पूज्य गुरुदेवश्री : शान्ति चारित्र की स्थिति है; आनन्द सुख की स्थिति है। शान्ति है, वह चारित्र का भाग है। चारित्र है न? शान्ति। चारित्र अर्थात् शान्ति अर्थात् अकषायभाव। उस चारित्र का भाव शान्ति है और आनन्द का भाव है, वह सुख है। दोनों भिन्न हैं। आहाहा! ऐसा कठिन सुनना। मार्ग ऐसा है, भाई! जिसे सुनने को मिले नहीं, वह कहाँ अन्दर करे और कब विचारे? भटका-भटक चारों ओर भटका भटक करता है। वस्तु अन्दर पड़ी है, वहाँ जाना है, उस ओर जाता नहीं और बाहर में भटका भटक किया करता है। आहाहा!

अकेला बैठा, किसी के साथ सम्बन्ध नहीं, कहीं जाना नहीं, किसी क्षेत्र में नहीं, किसी काल में नहीं, किसी भाव में नहीं। अपने उपयोगलक्षण चैतन्यस्वरूप में आरूढ़ होना। आहाहा! एक उसे ग्रहण करना, इसका नाम अनुभव और सम्यग्दर्शन है। है?

शुद्ध आत्मा को ही ग्रहण करना चाहिए। वास्तव में यही आत्मा और बन्ध के द्विधा करने का प्रयोजन है... दोनों को भिन्न पाड़ने का प्रयोजन क्या? राग और अपने

आत्मा को भिन्न पाड़ने का प्रयोजन क्या ?—कि राग को छोड़ना और स्वभाव का अनुभव करना, यह प्रयोजन है। आहाहा! ऐसा काम है। शान्तिभाई! वहाँ तो सब पैसे के कारण, धूल के कारण चेन नहीं, कलकत्ता में। यह और यह पैसा... आहाहा!

देहदेवल में चैतन्यदेव, इस देहदेवल में चैतन्यदेव हीरा अनन्त-अनन्त गुण से भरपूर भगवान है। आहाहा! जिसके गुण की संख्या का पार नहीं, ऐसा चैतन्य हीरा, उसे उपयोग से पकड़कर; उससे विरुद्ध रागादि है, वह बन्ध लक्षण है। अनुपयोग कहो या बन्ध लक्षण कहो, उसका लक्ष्य छोड़कर, इस ओर ग्रहण करके आत्मा को अनुभवना। आहाहा! यह प्रयोजन है। दो (को) भिन्न पाड़ने का प्रयोजन यह है। समझ में आया ? आहाहा!

जैसे लड्डुओं में कोई लकड़ी की कणी आ गयी हो, नर्म पत्थर... नर्म पत्थर की, उसे भिन्न करने का हेतु क्या ?—कि उसे छोड़कर लड्डू खाना, यह प्रयोजन है। आहाहा! उसी प्रकार भगवान आत्मा अनन्त... अनन्त आनन्दकन्द प्रभु है, जिसकी जगत को गन्ध भी नहीं, जिसकी खबर भी नहीं कि अन्दर आत्मा का क्या स्वरूप है, बाहर की बातें (की), आत्मा छोड़कर बाहर की सब सिरपच्ची में पड़े और अनन्त काल इसने व्यतीत किया, परन्तु स्वरूप को और पर को दोनों को भिन्न पाड़ने की कला ग्रहण नहीं की और ग्रहण नहीं की, इसलिए पर को छोड़ा नहीं और पर को छोड़ा नहीं, इसलिए स्व को ग्रहण नहीं किया। आहाहा! है न ?

वास्तव में यही आत्मा और बन्ध के द्विधा करने का प्रयोजन है कि बन्ध के त्याग से... भाषा तो समझ में आयी न ? **बन्ध के त्याग से (अर्थात् बन्ध का त्याग करके) शुद्ध आत्मा को ग्रहण करना।** ग्रहण करने का अर्थ अनुभव करना। बन्ध का त्याग (करना)। बन्ध का लक्ष्य छोड़कर, त्याग का अर्थ यह। बन्ध के लक्षण से उपयोग हटाकर, आत्मा का लक्षण ग्रहण करके, आत्मा का अनुभव करना, यह भिन्न करने का प्रयोजन है और इस प्रयोजन से मुक्ति की सिद्धि होती है।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ३६४, गाथा-२९५ से २९६, रविवार, मगसिर शुक्ल ६
दिनाङ्क - ०९-१२-१९७९

समयसार, गाथा २९५ का भावार्थ है, भावार्थ। २९५ गाथा पढ़ी जा चुकी है, उसका भावार्थ है। जरा सूक्ष्म है। **शिष्य ने प्रश्न किया था...** शिष्य का प्रश्न था **कि आत्मा और बन्ध को द्विधा करके क्या करना चाहिए?** मुख्य सवाल है। जरा सूक्ष्म है। आत्मा ज्ञानानन्दस्वरूप है, त्रिकाल जिसका स्वभाव। स्व-भाव। स्व अर्थात् अपना भाव—आत्मा का स्वभाव शुद्ध चैतन्य आनन्दघन आत्मा का स्वभाव है तथा राग और पुण्य और दया, दान, काम, क्रोध का भाव, वह राग है, वह बन्ध का लक्षण है, वह बन्ध का स्वरूप है। इन दोनों को भिन्न करके, जिसे कल्याण करना हो, उसे पहले भिन्न करना पड़ेगा। आहाहा!

यह शरीर आदि तो मिट्टी है। यह तो मिट्टी, धूल जड़ है। यह कहीं चैतन्य नहीं है। अन्दर जाननेवाला अन्दर भिन्न है। वह जाननेवाला और उसमें होते दया, दान और पुण्य-पाप के भाव दोनों चीज़ अन्दर भिन्न है। यह शरीर और मिट्टी तो भिन्न है परन्तु अन्दर दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा, काम, क्रोध (के) भाव होते हैं, वे भी बन्ध लक्षणवाले, रागवाले लक्षण हैं। उस राग को बन्ध में डालकर और आत्मा को ज्ञानस्वरूप लेकर जाननेवाला, वह आत्मा और राग, वह बन्धस्वरूप है—ऐसे दोनों को अन्दर द्विधा करके। द्विधा अर्थात् दो हैं, उन्हें दो प्रकार से करके। सूक्ष्म बात है, प्रभु! धर्म कोई साक्षात् साधारण बात नहीं है। आहाहा! धर्म अलौकिक चीज़ है।

अन्दर चैतन्यस्वरूप है, वह अतीन्द्रिय अनन्त ज्ञान और अनन्त आनन्द और शान्ति से भरपूर स्वभाव है। उसे और पुण्य पाप के भाव को दोनों को विलक्षणता है। दोनों का लक्षण एक नहीं है, दो का लक्षण वि-लक्षण है। विलक्षण अर्थात् विपरीत लक्षण है। आहाहा! जिसे आत्मा और विकार को भिन्न करना हो, उसे दोनों को इस प्रकार से लक्षण जानकर, कि मैं जाननेवाला चैतन्य, जाननेवाला ज्ञान, आनन्द वह मैं और यह राग होता है—दया, दान, काम, क्रोध आदि भाव, वह बन्ध भाव और विकार है। जिसे प्रथम आत्मा का सम्यग्दर्शन करना हो... सूक्ष्म बात है, प्रभु! जिसे धर्म की प्रथम शुरुआत करनी हो, पूर्णता

तो बाद की बात, अभी शुरुआत न हो वहाँ पूर्णता कहाँ होगी ? शुरुआत करनी हो तो यहाँ से शुरुआत होती है। सूक्ष्म बात है, प्रभु! आहाहा!

आत्मा और (बन्ध) दोनों को द्विधा करके। दोनों दो है, ऐसा अन्दर में करना। आहाहा! अर्थात् ? कि ज्ञान गुण जो त्रिकाल है, उसकी जो वर्तमान विचार आदि दशा है, वह दशा अनादि से राग की ओर उन्मुख है, पुण्य और पाप, काम और क्रोध आदि विकार की ओर ढली हुई है, उसे आत्मा की ओर उन्मुख करना। आहाहा! ऐसा काम कठिन काम है, प्रभु! वह दशा जो परसन्मुख ढली हुई है। जिसकी है, उसकी उसे खबर नहीं। अर्थात् क्या कहा ? जिसकी वह पर्याय है, जानने की दशा है, जिसकी दशा है, उसकी दिशा कौन है ? यह क्या उसे उसने जाना नहीं। आहाहा! सूक्ष्म बात है, प्रभु! इस राग को अपना जानकर, पुण्य और पाप के भाव दया, दान, व्रत, भक्ति, काम, क्रोध इस राग को अपना जानकर, ज्ञानस्वरूपी चैतन्य है, उसे भूलकर, भगवान को भूलकर राग की भक्ति करता है। आहाहा!

जिसे-जिसे प्रथम कल्याण करना हो, उसे पहले में पहले क्या करना ? सूक्ष्म बात है, भगवान! आहाहा! पहले यह करना—आत्मा और राग को द्विधा करना। दो है, उन्हें दो रूप से भिन्न करना। जैसे कंकर और गेहूँ दो भिन्न हैं, वैसे भिन्न करना। फिर क्या करना, यह बाद में कहेंगे। इसी प्रकार राग का भाव चाहे तो दया का, दान का, भक्ति का, परमात्मा का स्मरण, पंच परमेष्ठी का स्मरण भी राग है, प्रभु! परद्रव्य की ओर का झुकाव है, उतना राग है; स्वद्रव्य जो वस्तु चैतन्य अनन्त आनन्दकन्द प्रभु है, उस ओर का झुकाव वह धर्म और निर्मल दशा है और परद्रव्य की ओर का जितना झुकाव, उतना राग है। समझ में आया ? ऐसी बात है, भगवान! यहाँ तो सूक्ष्म बात है, बापू! आहाहा! अनन्त काल हुआ कभी किया नहीं। बाकी सब किया—भक्ति की अनन्त बार, मन्दिर बनाये, करोड़ों रुपये खर्च किये, भक्ति की, पूजा की, दान, स्मरण किया। वह कोई नयी चीज़ नहीं है। आहाहा!

नयी चीज़ तो यह परमात्मा त्रिलोकनाथ जिनेश्वरदेव जैन परमेश्वर ऐसा फरमाते हैं, प्रभु! राग और आत्मा दोनों को तूने कभी द्विधा किये नहीं। दो को भिन्न किया नहीं और भिन्न कैसे पड़े, उसके लक्षण की तुझे खबर नहीं, उसके लक्षण की तुझे खबर नहीं। परसन्मुख

का जितना रागादि जाए, वह सब बन्धन का लक्षण है। आहाहा! और भगवान अन्दर चैतन्यस्वरूप अनन्त-अनन्त गुण का निधान, खान चैतन्य हीरा पड़ा है। भगवत्स्वरूप है अन्दर, परमेश्वरस्वरूप आत्मा है। यदि न हो तो परमात्मा पर्याय में, अवस्था में परमेश्वर होता है। वह पर्याय में परमेश्वर आया कहाँ से? कहीं बाहर से आता है? आहाहा! प्राप्त की प्राप्ति होती है। अन्दर होता है, वह बाहर आता है। इसी प्रकार आत्मा के द्रव्य में, वस्तु में यह परमात्मपना पड़ा है। आहाहा! कैसे बैठे? माप करना नहीं आता न! आहाहा! सूक्ष्म बात है, प्रभु!

इस पर की ओर का विकल्प जितना उठता है, वह राग है और भगवान आत्मा तो ज्ञान और आनन्दस्वरूप है। अतीन्द्रिय आनन्द की मूर्ति प्रभु है। यह इन्द्रियों ने जो विषय कल्पित किया जाता है, माना जाता है, वह तो दुःख है। परसन्मुख में सुख माना जाता है, वह तो दुःख है। भ्रमणा में अज्ञानियों ने दुःख को सुख माना है। भगवान आत्मा में अतीन्द्रिय आनन्द पड़ा है। उस अतीन्द्रिय आनन्द की उल्टी दशा, वह दुःख है। विषय का जो दुःख है, वह अतीन्द्रिय आनन्द की उल्टी दशा का दुःख है। उसकी उल्टी दशा का आत्मा में सुख है। आहाहा! समझ में आया?

कहते हैं कि द्विधा करके क्या करना? ऐसा शिष्य का प्रश्न है। प्रभु! आपने कहे उन लक्षण द्वारा दोनों को भिन्न करना कि राग का लक्षण बन्ध है, भगवान आत्मा का लक्षण ज्ञान और आनन्द है। यह जानना... जानना... जानना... जानना... जानना... यह जाननहार आत्मा है और जिसमें जानना न हो—ऐसा राग, परसन्मुख का राग है, वह राग तो अन्धकार है। राग नहीं जानता अपने को, राग नहीं जानता आत्मा को। राग है दया, दान, व्रत, भक्ति का, वह अन्धकार है। आहाहा! अरे! ऐसी बात, प्रभु! कठिन पड़े। उस अन्धकार और चैतन्य प्रकाश को दोनों को अन्दर पहले भिन्न करना। दोनों के भिन्न-भिन्न लक्षण द्वारा (भिन्न करना)। राग का लक्षण बन्ध है और भगवान आत्मा का लक्षण ज्ञान और आनन्द है। आहाहा! ऐसी बातें। अब ऐसा उपदेश। समाज में कहाँ पड़े हों बेचारे गले तक घुस गये हों अन्दर। एक तो धन्धा पूरे दिन चौबीस घण्टे पाप का, यह किया और यह किया, और यह किया और यह किया, यह वकील वकालात में, डॉक्टर डॉक्टरपने में सब पाप में (पड़े हैं)।

मुमुक्षु : मुवक्किलों का तो भला करते हैं न वकील?

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल भी नहीं करते। यह बड़े वकील थे। पैंतीस वर्ष पहले दो सौ रुपये लेते एक कोर्ट में। सब पाप। यहाँ तो स्पष्ट बात है। रामजीभाई के गुणगान बहुत करे। अहमदाबाद में नहीं, वे भाई पहचानते हो? मंगलभाई, मंगलभाई नहीं? अहमदाबाद में वकील है न? अहमदाबाद में वकील है, मंगलभाई। आते हैं अपने। वे रामजीभाई के बहुत गुणगान करे। रामजीभाई के समय में तो रामजीभाई थे। वे दो सौ रुपये (ले) परन्तु उनकी तो छाप पड़ती थी।

मुमुक्षु : आपने तो अभिमान का थोथा निकाल डाला...

पूज्य गुरुदेवश्री : यह सब अभिमान की छाप थी। हम मुवक्किल को जिता सकते हैं। कोर्ट में जज के सामने दलील दे सकते हैं कि ऐसे... क्या कहलाता है वह? कायदा। इस कायदे का खुलासा अमुक जगह ऐसा हुआ है, अमुक जगह ऐसा हुआ है। इसलिए इसका खुलासा ऐसा होना चाहिए। ऐसी सब दलीलें वकील दे। आहाहा! वे सब पाप की दलीलें है। ऐई! (यह तो) दुनिया से अलग बात है, प्रभु! दुनिया को तो जानते हैं न! दुनिया को तो बहुत जानते हैं, ७२ वर्ष से। यह तो ९० वर्ष हुए, शरीर को तो ९० हुए, गर्भ का ९१ चलता है। गर्भ का ९१ चलता है, जन्म का ९०वाँ चलता है। गर्भ के सवा नौ महीने यहाँ के गिनना न? आहाहा! दुकान पर पाँच साल रहे। पालेज में दुकान है न! भरुच और बड़ोदरा के बीच। सब बहुत किया दुकान के ऊपर। छोटी उम्र में, हों! १८ वर्ष की उम्र से २३, पाँच वर्ष दुकान चलायी। बड़ी दुकान है, अभी बड़ी दुकान है, ४० लाख रुपये हैं, चार लाख की आमदनी है।

मुमुक्षु : इसके बाद नयी दुकान में सब और....

पूज्य गुरुदेवश्री : तब इतनी बड़ी नहीं थी।

मुमुक्षु : नहीं, अभी नयी दुकान में सबको...

पूज्य गुरुदेवश्री : बाद में यह नयी दुकान लगायी यह तो। हमारे भागीदार के लड़के हैं। चालीस लाख रुपये हैं, वर्ष की चार लाख की आमदनी है। दुकान, बड़ी दुकान है। (संवत) १९५९ की वर्ष की दुकान है। इस देश में से वहाँ गये। इस देह का जन्म यहाँ उमराला में (हुआ)। ग्यारह मील है न! १३ वर्ष की उम्र ५९ वर्ष, ४६ में जन्म, ५९ में वहाँ

गये। चार वर्ष पिताजी रहे तब तक पिताजी ने दुकान चलायी, पश्चात् पाँच वर्ष मुझे भागीदारी में चलानी पड़ी। फिर ६८ में छोड़ दी। इसलिए बहुत सब देखा, बहुत देखा है व्यापार, लोग... एक वकालात देखी नहीं परन्तु वकालात करने के लिये वकील किया था। वकीलों (की) दलीलें देखी थी, वकीलों का सब सुना था।

हमारे (संवत्) १९६३ के वर्ष में वकील का केस चला था। एक झूठा केस था। एक महीने केस चला। पालेज से बड़ोदरा। तीन हजार का वेतनदार बड़ा था। महीने में तीन हजार वेतन तब, हों! ६३ के वर्ष।

मुमुक्षु : ७३ वर्ष पहले।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ। झूठा कैस चला परन्तु अन्त में केस झूठा था। उसने स्वयं लिख दिया (कि) केस एकदम झूठा है। अफीम का झूठा केस था, एकदम झूठा। बहुत सब देखा, बहुत किया है, यह अलग चीज़ है बापू! आहाहा!

यह राग का कण दया, दान, भक्ति, परमात्मा का नाम स्मरण, यह भी राग का कण, इससे आत्मा को भिन्न जानना पड़ेगा। इन्हें द्विधा करना पड़ेगा, प्रभु! ये दोनों एक नहीं है। एक होवे तो उनसे भिन्न पड़े नहीं। परमात्मा सिद्ध होते हैं, उन्हें राग होता नहीं। क्योंकि उसकी चीज़ नहीं है। यह तो ऊपर की उपाधि की चीज़ है। आहाहा! उस उपाधि की चीज़ से आत्मा भिन्न किया। शिष्य ने पूछा, भिन्न करके पश्चात् करना क्या? दो भिन्न किये, अन्दर।

उसका यह उत्तर दिया है कि बन्ध का तो त्याग करना... राग जो परलक्ष्यी राग होता है, उसके लक्ष्य को छोड़ देना। आहाहा! **और शुद्ध आत्मा का ग्रहण करना।** शुद्ध प्रभु अन्दर सच्चिदानन्द प्रभु है। वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ ने जो आत्मा अन्दर शुद्ध पवित्र देखा है, सर्वज्ञस्वरूपी आत्मा है, उसे ग्रहण करना। राग को छोड़ना और स्वरूप को ग्रहण करना। ये दो भिन्न करने का प्रयोजन यह है। आहाहा! ऐसा उपदेश है।

क्या कहा? प्रभु! कि राग का भाव और प्रभु का चैतन्य भाव ज्ञान, दोनों को अन्दर भिन्न करना। भिन्न अनुभव करना, प्रज्ञाछैनी द्वारा राग से भिन्न आत्मा का अनुभव करना। ज्ञान द्वारा भिन्न करना। आत्मा को अनुभव करना और राग को छोड़ना, इस प्रकार शिष्य को यह उत्तर दिया। समझ में आया? आहाहा!

अब '**आत्मा और बन्ध को प्रज्ञा के द्वारा भिन्न तो किया...** जरा सूक्ष्म बात है, भगवान! बात तो अलौकिक है, बापू! आहाहा! पूरे जगत से अलग प्रकार है। आहाहा! कहते हैं, प्रभु आत्मा और राग भाव बन्ध दोनों को प्रज्ञा द्वारा भिन्न तो किया। अनुभव द्वारा राग की ओर का झुकाव छोड़कर और अन्तर चैतन्य स्वरूप के झुकाव के झुकाव से प्रज्ञा द्वारा, अनुभव द्वारा आत्मा का अनुभव किया। आहाहा! इसका नाम सम्यग्दर्शन—धर्म की पहली सीढ़ी, धर्म की शुरुआत यह है। बाकी सब व्यर्थ प्रयत्न-व्यर्थ प्रयत्न थोथा, थोथा। आहाहा! सूक्ष्म बात, भाई!

अनन्त काल में अनन्त-अनन्त भव किये। अनादि का आत्मा रहा कहाँ? भवभ्रमण में एक-एक अवतार में चौरासी लाख योनि, उस एक-एक योनि में इसने अनन्त अवतार किये हैं। उस अवतार के दुःखों का वर्णन शास्त्र करे तो आँख में से आँसू बह निकले। ऐसे दुःख तो प्रभु तूने सहन किये हैं। अवसर आया तब बात को छोड़ दिया। बाहर के अभिमान और हो.. हा.. (की)। उसमें फँस गया और रह गयी, वह चीज़ रह गयी। आहाहा! अवसर नहीं था तब तो बाहर में ही था, परन्तु अवसर आया तब उस बाहर में ऐसे अभिमान में रुक गया, या स्त्री, पुत्र को प्रसन्न रखने में या और धन्धे में। छह, सात, आठ घण्टे धन्धा और छह, सात घण्टे नींद और हो गया। घण्टे-दो घण्टे समय मिले, सुनने जाए उसमें और सुनने का ऐसा मिले कि यह करो, दया करो, व्रत करो, भक्ति करो धर्म होगा। सुनने का ऐसा मिले। इसलिए वह का वह हुआ—संसार। आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि दोनों को भिन्न किया। है? **परन्तु आत्मा को किसके द्वारा ग्रहण किया जाये?** दोनों को भिन्न किया कि अन्दर, राग भिन्न, प्रभु चैतन्यस्वरूप भिन्न। अब इन्हें भिन्न किया परन्तु ग्रहण किसके द्वारा करना? उसे पकड़ना किस प्रकार? आहाहा! भिन्न किये और पकड़ना किस प्रकार? भगवान ज्ञानस्वरूपी चैतन्यबिम्ब प्रभु जाननेवाला, अपनी सत्ता में रहकर पर को और स्व को जाननेवाला, जाननेवाला वही आत्मा। परवस्तु भिन्न, परवस्तु के निमित्त से अपने में हुए राग-द्वेष आदि, वे भी भिन्न। अब जब भिन्न किये तब क्या करना? **आत्मा को किसके द्वारा ग्रहण किया जाये?'—इस प्रश्न की तथा उसके उत्तर की गाथा कहते हैं।** एक गाथा में दोनों आयेंगे।

गाथा - २९६

कह सो घिप्पदि अप्पा पण्णाए सो दु घिप्पदे अप्पा।
जह पण्णाइ विभत्तो तह पण्णाएव घेत्तव्वो।।२९६।।

कथं स गृह्यते आत्मा प्रज्ञया स तु गृह्यते आत्मा।
यथा प्रज्ञया विभक्तस्तथा प्रज्ञयैव गृहीतव्यः।।२९६।।

ननु केन शुद्धोऽयमात्मा गृहीतव्यः ? प्रज्ञयैव शुद्धोऽयमात्मा गृहीतव्यः, शुद्धस्यात्मनः स्वयमात्मानं गृह्णतो, विभजत एव, प्रज्ञैककरणत्वात्। अतो यथा प्रज्ञया विभक्तस्तथा प्रज्ञयैव गृहीतव्यः।।२९६।।

'आत्मा और बन्ध को प्रज्ञा के द्वारा भिन्न तो किया परन्तु आत्मा को किसके द्वारा ग्रहण किया जाये?'–इस प्रश्न की तथा उसके उत्तर की गाथा कहते हैं:–

यह जीव कैसे ग्रहण हो? जीव का ग्रहण प्रज्ञाहि से।
ज्यों अलग प्रज्ञा से किया, त्यों ग्रहण भी प्रज्ञाहि से।।२९६।।

गाथार्थ : (शिष्य पूछता है कि–) [सः आत्मा] वह (शुद्ध) आत्मा [कथं] कैसे [गृह्यते] ग्रहण किया जाये? (आचार्यदेव उत्तर देते हैं कि) [प्रज्ञया तु] प्रज्ञा के द्वारा [सः आत्मा] वह (शुद्ध) आत्मा [गृह्यते] ग्रहण किया जाता है। [यथा] जैसे [प्रज्ञया] प्रज्ञा के द्वारा [विभक्तः] भिन्न किया, [तथा] उसी प्रकार [प्रज्ञया एव] प्रज्ञा के द्वारा ही [गृहीतव्यः] ग्रहण करना चाहिए।

टीका : यह शुद्ध आत्मा किसके द्वारा ग्रहण करना चाहिए? प्रज्ञा के द्वारा ही यह शुद्धात्मा ग्रहण करना चाहिए; क्योंकि शुद्ध आत्मा को, स्वयं निज को ग्रहण करने में प्रज्ञा ही एक कारण है–जैसे भिन्न करने में प्रज्ञा ही एक करण था। इसलिए जैसे प्रज्ञा के द्वारा भिन्न किया था, उसी प्रकार प्रज्ञा के द्वारा ही ग्रहण करना चाहिए।

भावार्थ : भिन्न करने और ग्रहण करने में करण अलग–अलग नहीं हैं; इसलिए प्रज्ञा के द्वारा ही आत्मा को भिन्न किया और प्रज्ञा के द्वारा ही ग्रहण करना चाहिए।

गाथा - २९६ पर प्रवचन

२९६ गाथा।

कह सो घिप्पदि अप्पा पण्णाए सो दु घिप्पदे अप्पा।
जह पण्णाइ विभत्तो तह पण्णाएव घेत्तव्वो ।।२९६।।

यह मूल श्लोक (हुआ), नीचे हरिगीत।

यह जीव कैसे ग्रहण हो? जीव का ग्रहण प्रज्ञाहि से।
ज्यों अलग प्रज्ञा से किया, त्यों ग्रहण भी प्रज्ञाहि से।।२९६।।

शिष्य का प्रश्न है न? नीचे है।

अधिकार तो अच्छा आया है, परन्तु अब क्या हो? वर्तमान में पूरी लाइन ही बदल गयी है। धर्म के नाम की पूरी लाइन ही (बदल गयी)। वे कहें, पूजा करो, भक्ति करो और यह करो और वह करो, व्रत करो, अपवास करो, तपस्या करो, दया करो।

मुमुक्षु : वकील को तो उड़ाया परन्तु पूजा, भक्ति भी उड़ाई।

पूज्य गुरुदेवश्री : वकील का भी झूठा और यह भी झूठा। दोनों झूठा। यहाँ कहाँ सिफारिश लागू पड़े, ऐसा है? आहाहा! अरे! भाई! यह राग है न? बापू! अपने स्वभाव सन्मुख में न रहकर बाहर में ऐसे लक्ष्य जाना, वह तो राग है। पंच परमेष्ठी का स्मरण भी राग, पंच परमेष्ठी की भक्ति भी राग, यह मन्दिर और प्रतिमा की भक्ति करना, वह भी राग। आता है, अशुभ से बचने को आता है, परन्तु है बन्ध। आहाहा! कठिन पड़े। जगत को अभी पाप से निवृत्ति नहीं होती, उसमें पुण्य की तो (बात) कहाँ रही? यहाँ तो कहते हैं, पाप और पुण्य दोनों बन्ध के कारण हैं। दोनों में जरा अन्तर नहीं है। आहाहा!

टीका :- यह शुद्ध आत्मा किसके द्वारा ग्रहण करना चाहिए? टीका है न? शुद्ध क्यों कहा? कि जो पुण्य और पाप के भाव हैं, शुभ-अशुभ, वे तो राग में जाते हैं, वे आत्मा में नहीं हैं। आत्मा तो शुद्ध चैतन्यमूर्ति शुद्ध है। राग, पुण्य-पाप के भाव तो मैल और मल है, मैल और मल है, अशुचि और जड़ है। पुण्य और पाप के भाव अशुचि हैं, मैल है और जड़ है। क्यों? कि वह राग है, वह स्वयं अपने को जानता नहीं, वह राग आत्मा के

साथ पड़ा है, उसे जानता नहीं; इसलिए राग है, वह अन्धकार है। चाहे तो शुभराग हो परन्तु वह अन्धकार है और जड़ है। आहाहा! न्याय से समझ में आता है? मार्ग ऐसा है, भाई!

यह शुद्ध आत्मा... शुद्ध—रागरहित आत्मा अन्दर शुद्ध चैतन्यमूर्ति प्रभु। वस्तु है न? तत्त्व है न? सत्ता है न? अस्तित्व है न? अस्तित्व सत्ता है तो कुछ चीज़ है या नहीं? चीज़ है तो कोई उसका स्वभाव होगा या नहीं? शक्कर हो, उसका स्वभाव मिठास न हो, ऐसा होगा? इसी प्रकार है आत्मा। तो उसका कोई स्वभाव होगा या नहीं? तो है भगवान आत्मा सत्ता है, अस्तित्वरूप है उसका स्व-भाव, स्व अर्थात् अपना भाव तो ज्ञान, दर्शन और आनन्द है। आहाहा! भाषा तो सादी है, बापू! भाव कठिन है। वस्तु तो ऐसी है। आहाहा! सुना न हो, पहले पहले (सुने) उसे तो ऐसा लगे कि यह तो क्या है परन्तु यह? यह सब चलता है, उसे शून्य लगाते हैं सब। बाबूभाई! आहाहा!

कहा नहीं था? अभी बैंगलोर में एक नया मन्दिर बनाया है न? बारह लाख नोंधाये। वहाँ हम थे, पंच कल्याणक किया, बड़ा मन्दिर बनाया है। एक व्यक्ति ने आठ लाख दिये और एक व्यक्ति ने चार लाख दिये। एक भभूतमल है। अभी आये थे न? अपने यहाँ नया मकान (मन्दिर) करने के लिये मुहूर्त किया न? इस पंचमी को। सवा लाख रुपये दिये। वहाँ आठ लाख दिये थे। दो करोड़ रुपये हैं। मारवाड़ी 'सायला' के हैं। इस लीमड़ी का 'सायला' नहीं। उन्होंने आठ लाख दिये। मन्दिरमार्गी श्वेताम्बर है परन्तु बना दिगम्बर धर्म (का मन्दिर)। इसमें प्रेम हो गया न? यह सुना और उन्हें रस पड़ा। चार लाख (दूसरे ने दिये)। स्थानकवासी है जुगराजजी। महावीर मार्केट मुम्बई में, महावीर मार्केट है। वह करोड़पति स्थानकवासी है। उसने चार लाख (दिये)। बारह लाख का मन्दिर बनाया। परन्तु कहा कि देख भाई! तेरे बारह लाख क्या, पन्द्रह लाख (खर्च करे) परन्तु है शुभभाव, धर्म नहीं। उससे तुझे कल्याण हो जाए और जन्म-मरण मिट जाए, यह (बात) यहाँ नहीं है। आहाहा!

दुनिया को कठिन लगता है, पूरी दुनिया की लाईन ही बदल गयी है। लाईन-लाईन। रेल की पटरी होती है या नहीं? देखा है? दूसरी पटरी पर गाड़ी (ले जाना हो तो)

एक पतला पाटा होता है। पतला पाटा होता है। हमारे पालेज के साथ स्टेशन है। पाटा होता है न? पाटा होता है। चढ़ाना हो, दूसरे और वह ऐसे पतले पाटे पर ऐसे करके चढ़ा दे। दूसरे पाटे पर चढ़ा दे। देखा है? आहाहा! इसी प्रकार आत्मा के पाटे को छोड़कर दूसरे पाटे पर चढ़ा दिया है। शुभभाव दया, दान, व्रत, भक्ति आदि। अभी इसकी की भी कितनों को निवृत्ति नहीं परन्तु उस रास्ते चढ़ा दिया, दूसरी पटरी पर चढ़ा दिया। धर्म की पटरी रह गयी। आहाहा!

यह यहाँ कहते हैं, **यह शुद्ध आत्मा...** शुद्ध क्यों कहा? कि दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम राग थे, वह तो अशुद्ध है, वह आत्मा में नहीं है। इसलिए आत्मा शुद्ध है। वह राग रहित है, वह आत्मा अन्दर शुद्ध चैतन्य है। आहाहा! चैतन्य हीरा अनन्त गुण से भरपूर अनन्त शक्ति का सागर, अनन्त शक्ति का समूह, अनन्त गुण का सागर और अनन्त गुण का धाम, अनन्त गुण का गोदाम है। वह बड़े-बड़े गोदाम नहीं होते? मुम्बई में बड़े गोदाम होते है। सब देखे हैं, बहुत बड़े गोदाम। यह आत्मा अन्दर बड़ा गुण का गोदाम है। ज्ञान, दर्शन, आनन्द आदि संख्या से अनन्त गुण का गोदाम यह है। आहाहा! वह एक वर पड़ा रहा (और) बारात जोड़ दी। वह बारात नहीं कहलाती। वह मनुष्यों का झुण्ड कहलाता है। वर होवे तो बारात कहलाती है। इसी प्रकार आत्मा साथ हो, आत्मा का भान हो, सम्यग्दर्शन हो तो फिर दया, दान और व्रत आदि का भाव होता है तो वह राग कहलाता है। राग व्यवहार, तो व्यवहार कहलाता है। जानने के लिये, आदरने के लिये नहीं। आहाहा!

यहाँ कहते हैं, **यह शुद्ध आत्मा...** आत्मा तो शुद्धस्वरूप, वह आत्मा है। क्योंकि नव तत्त्व है न? जीव, अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष। तो जो दया, दान, व्रत, परिणाम वह पुण्य है। हिंसा, झूठ, चोरी, विषय, भोग, वासना, काम, क्रोध, लोभ, कमाना वह पाप है। ये दोनों आस्रव हैं। इनसे आत्मा तो भिन्न तत्त्व है। नव तत्त्व में वह तत्त्व, भिन्न तत्त्व है। उसे यहाँ शुद्ध आत्मा कहा है। समझ में आया? शुद्ध आत्मा, **यह शुद्ध आत्मा...** यह आत्मा। भाषा ऐसी है। भगवान नहीं, भगवान भगवान के पास रहे।

यह शुद्ध आत्मा... प्रत्यक्ष। 'यह' प्रत्यक्ष बताता है। आहाहा! **किसके द्वारा ग्रहण करना चाहिए?** ऐसा प्रश्न है। **प्रज्ञा के द्वारा ही यह शुद्धात्मा ग्रहण करना चाहिए;...**

आहाहा! प्रज्ञा अर्थात् ज्ञान के अनुभव द्वारा आत्मा को पकड़ना। आहाहा! राग, पुण्य और पाप के भाव को भिन्न करके और ज्ञान के अनुभव द्वारा आत्मा को पकड़ना, उसे ग्रहण करना अर्थात् अनुभव करना। अब ऐसी बात। मार्ग तो यह है। अपने तो यहाँ ४५ वर्ष से यह चलता है। यहाँ तो ४५ वर्ष हुए। ४५ वर्ष की उम्र में यहाँ आये थे। ४५ यह हुए। शरीर को ९० हुए, शरीर को। शरीर को, हों! आत्मा तो अनादि-अनन्त है। आहाहा! यह बात तो ४५ वर्ष से चलती है। और इस ओर से, अपनी ओर से तो लगभग २२ लाख पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। ८ लाख जयपुर से (प्रकाशित हुई हैं)। ३० लाख तो पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। और अब यह टेप रिकोर्डिंग उतारते हैं न? ऐसे टेप रिकार्डिंग ३३ हजार प्रकाशित हुए हैं। बहुत प्रचार है न! ठेठ अफ्रीका, लन्दन, अमेरिका सर्वत्र यह पहुँच गया है। सर्वत्र वाँचन चलता है। थोड़ा-थोड़ा वहाँ परदेश में अनार्य देश में तो... यहाँ आर्य देश में भी अभी समझने की कठिनाई पड़े, वहाँ बेचारे अनार्य (देश में तो)...

यहाँ तो (कहते हैं), **शुद्ध आत्मा किसके द्वारा ग्रहण करना चाहिए? प्रज्ञा के द्वारा ही**... 'ही' है? उस शुभराग द्वारा अनुभव नहीं किया जा सकता। आहाहा! यह ज्ञान की पर्याय जो है, यह पर्याय जो राग की ओर झुकी हुई है, उस ज्ञान को (ज्ञानपर्याय को) अन्दर में झुकाना और उस ज्ञान द्वारा उसे अनुभव करना। आहाहा! अब ऐसी बातें, ऐसा धर्म किस प्रकार का यह? नया धर्म होगा यह? जैन धर्म होगा ऐसा? बापू! अनादि का मार्ग तो यह है। वीतराग परमेश्वर जिनेश्वरदेव का कथन तो यह है। उनका हुकम-आज्ञा तो यह है। लोगों ने अपनी कल्पना से विपरीत अर्थ करके दूसरे प्रकार से चलावे, इससे कहीं सत्य असत्य हो जाएगा? सत्य तो सत्य ही रहेगा। आहाहा!

यह शुद्ध आत्मा, राग रहित आत्मा। दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम राग है। वह राग बन्धन में जाता है। उससे रहित आत्मा जो **शुद्ध आत्मा किसके द्वारा ग्रहण करना चाहिए? प्रज्ञा के द्वारा ही यह शुद्धात्मा ग्रहण करना चाहिए;**... आहाहा! ज्ञान की अवस्था द्वारा, ज्ञान के अनुभव द्वारा, आत्मा को पकड़ना, अनुभव करना। आहाहा! यह राग और पुण्य और पाप के भाव से पकड़ में आये, ऐसा नहीं है। क्योंकि उसमें यह चीज़ नहीं है। आहाहा! भाषा तो सरल है, परन्तु अब भाव तो जो हो वह हो, दूसरा लाना कहाँ से?

इससे कहीं सरल होगा या नहीं दूसरा ? बापू ! सरल कहो तो यह और कठिन कहो तो यह। मार्ग यह है। 'एक होय तीन काल में परमारथ का पन्थ' वीतराग परमेश्वर जिनदेव का यह मार्ग एक अनादि—अनन्त काल का यह है।

भगवान विराजते हैं, सीमन्धरस्वामी भगवान महाविदेह में विराजते हैं, वहाँ से आयी हुई यह बात है। आहाहा ! कुन्दकुन्दाचार्य संवत् ४९ में वहाँ गये थे। वहाँ से आकर यह शास्त्र बनाये हैं। भगवान का यह हुकम है, ऐसा आचार्य बीच में आड़तिया होकर बात करते हैं। आहाहा !

प्रज्ञा के द्वारा ही यह शुद्ध... आहा ! राग द्वारा, दया, दान और व्यवहार करते-करते, दया, दान, व्रत, भक्ति करते-करते ऐसे आत्मा ज्ञात होगा - ऐसा नहीं कहा। आहाहा ! पहले राग मन्द पालो, दया पालो, व्रत करो, भक्ति, पूजा इत्यादि (करो), दुकान के पाप के (परिणाम) छोड़कर पुण्य के परिणाम करो तो पुण्य के परिणाम करते-करते आगे बढ़कर अन्दर जाया जाएगा, ऐसा नहीं कहा। आहाहा ! वह तो **प्रज्ञा के द्वारा ही...** अनुभव द्वारा ही। प्रज्ञा अर्थात् अनुभव। राग का अनुभव नहीं और आत्मा का अनुभव। अनुभव द्वारा ही, एकान्त कहा है। कथंचित् राग द्वारा अनुभव में आवे और कथंचित् प्रज्ञा द्वारा ज्ञात हो, ऐसा नहीं कहा, अनेकान्त ऐसा नहीं किया, लोग उसे अनेकान्त कहते हैं। व्यवहार से भी होता है, निश्चय से भी होता है। यहाँ तो कहते हैं कि निश्चय से होता है और व्यवहार से नहीं होता, इसका नाम अनेकान्त है। आहाहा !

यह कहा, **प्रज्ञा के द्वारा ही यह शुद्धात्मा ग्रहण करना चाहिए; क्योंकि शुद्ध आत्मा को, स्वयं निज को ग्रहण करने में...** शुद्ध स्वरूप राग रहित, पुण्य और पाप के विकल्प और राग रहित आत्मा प्रभु अन्दर है। **शुद्ध आत्मा को, स्वयं निज को ग्रहण करने में प्रज्ञा ही एक कारण है...** अपने को पकड़ने से, अनुभव करने से एक प्रज्ञा-ज्ञान की दशा ही एक साधन है, दूसरा साधन कोई है नहीं। आहाहा ! व्यवहार साधन कहो और निश्चय साध्य कहो, ऐसा नहीं है। आहाहा ! है ? **प्रज्ञा ही एक कारण है...** राग से भिन्न करने का अनुभव एक ही साधन है। आहाहा ! कहो, कल्याणजीभाई ! यह ऐसा मार्ग है। एक ही मार्ग है। कथंचित् यह और कथंचित् यह—ऐसा नहीं। आहाहा !

प्रज्ञा ही एक कारण है... कर्ता आत्मा, राग से भिन्न करने में करण—साधन प्रज्ञा—अनुभव। आहाहा! परसन्मुख के झुकाववाली वृत्ति, परसन्मुख में, परद्रव्य में फिर भले देव-गुरु और शास्त्र की ओर झुकी हुई वृत्ति, वह राग है। उससे रहित जो शुद्ध आत्मा। आहाहा! उस प्रज्ञा द्वारा एक ही करण है। भिन्न करके अनुभव (करने) के लिये एक ही साधन है, यह एक ही साधन है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! है इसमें? नहीं? एक 'ही' शब्द है न? प्रज्ञा ही, सम्यक् अनुभव, राग से भिन्न प्रज्ञा द्वारा ही, अनुभव द्वारा ही एक करण है, एक साधन यह है। आहाहा! भाषा तो बहुत सरल है परन्तु अब भाव करने की कुछ दरकार (नहीं)। अनन्त काल गया, चौरासी के अवतार में मनुष्यपना अनन्त बार पाया, अरबोंपति अनन्त बार हुआ है, अरबोंपति अनन्त बार हुआ। मरकर फिर गया सूकर में, नरक में। आहाहा! भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्य को, राग से भिन्न पाड़ने में प्रज्ञा अनुभव एक ही साधन है, दूसरा साधन नहीं है। आहाहा! है या नहीं इसमें? प्रज्ञा ही एक करण है। आहाहा!

मुमुक्षु : अभी अतीन्द्रिय ज्ञान तो है नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : किसे?

मुमुक्षु : हमें अभी अतीन्द्रिय ज्ञान तो है नहीं फिर क्या करना?

पूज्य गुरुदेवश्री : अतीन्द्रिय ज्ञान करना, यह करने का कहते हैं। नहीं, वह क्या? अब इन्द्रियज्ञान की ओर से छूटकर अतीन्द्रिय (ज्ञान) की ओर मुड़ना, ऐसा कहते हैं। नहीं है, इसलिए ऐसा करना—ऐसा कहते हैं। आहाहा! समझ आये ऐसी भाषा तो है, बापू! भाषा तो सादी है, भाव तो जैसे हैं, वैसे हैं। आहाहा! कठिन पड़े, (परन्तु) मार्ग तो यह है। आहाहा!

मुमुक्षु : मानसिक ज्ञान को अन्दर की ओर झुकाना?

पूज्य गुरुदेवश्री : मानसिक ज्ञान नहीं, मानसिक ज्ञान इस ओर (परसन्मुख) झुक गया है। इस ओर (स्वसन्मुख) झुकाना, इसमें मानसिकपना काम नहीं आता, वहाँ आत्मिक (ज्ञान) आता है। आहाहा! यह तो प्रज्ञा द्वारा कहा न? आत्मा आया न? इसमें मानसिक नहीं आया। आहाहा! सामने पुस्तक है न? किसका अर्थ चलता है, यह खबर पड़े। आहाहा! मार्ग बापू! अलग है, प्रभु! आहाहा! प्रभु! तेरी प्रभुता का मार्ग अलग है,

प्रभु! आहाहा! साधारण में उसे वेडकी डाला है, अरे! समय चला जाता है। आहाहा! अपना (करने का) बाकी रह जाता है, बाकी दूसरा करने में रुककर सब समय चला जाता है। आहाहा! जो करने का अपने लिये है, वह पड़ा रहता है। पर के लिये, यह ममता स्वयं पर के लिये नहीं करता, पर में अपनी ममता है। आहा! लड़कों को पढ़ना और स्त्री को प्रसन्न रखना, लड़कियों को ठिकाने लगाना (विवाह करना) और लड़कों को ठिकाने लगाना और अच्छी जगह से कन्या प्राप्त करके (विवाह करना)। आहाहा! अरे! अरे! गजब किया है न! स्वयं अकेला पड़ा रहा। मेरे मुझको कहाँ ठिकाने लगाना (यह विचार नहीं किया)। आहाहा! इन सबको ठिकाने लगाना। यह तो पुण्य लेकर आये होंगे, तद्नुसार उनका होगा। तेरा करने से कुछ होता है? आहाहा! यह तो मुफ्त का अभिमान करता है। यह तो उनका पुण्य होगा, वैसा उसके कारण हुआ करेगा। आहाहा! अरे! आहाहा! केसी बात की है!

शुद्ध आत्मा को, स्वयं निज को ग्रहण करने में... आहाहा! शुद्ध आत्मा को, स्वयं अपने को अनुभव करते हुए **प्रज्ञा ही एक करण है...** करण अर्थात् साधन, हों! **जैसे भिन्न करने में प्रज्ञा ही एक करण था।** आहाहा! राग से भिन्न पाड़ने में प्रज्ञा अनुभव एक ही करण—साधन था। आहाहा! चैतन्यस्वरूप प्रकाश का पुंज प्रभु, चैतन्य के प्रकाश के नूर का पूर आत्मा स्थित है, चैतन्य के प्रकाश का पूर आत्मा है और राग है, वह अन्धकार है। चाहे तो दया, दान, व्रत, भक्ति का राग (हो), वह अन्धकार है। आहाहा! उस अन्धकार से भिन्न करने में एक प्रज्ञा ही करण था। है न?

जैसे भिन्न करने में प्रज्ञा ही एक करण था। भिन्न करने में भी एक प्रज्ञा अनुभव ही साधन था। आहाहा! **इसलिए जैसे प्रज्ञा के द्वारा भिन्न किया था, उसी प्रकार प्रज्ञा के द्वारा ही ग्रहण करना चाहिए।** अनुभव ज्ञान द्वारा जब भिन्न किया तो ज्ञान द्वारा अनुभव करना। ऐसी कठिन बात है। बात तो बहुत अच्छी आयी है, गाथा तो बराबर अच्छी आयी है। यह पकड़ना तो इसे है न! बापू! आहाहा!

जैसे भिन्न करने में प्रज्ञा ही एक करण था। यहाँ भी करण एक ही था। भिन्न करने में भी एक ही प्रज्ञा ही एक करण—साधन था। आहाहा! उसी प्रकार। आहाहा!

अनुभव करने-ग्रहण करने के लिये एक ही साधन है। तथा राग की मन्दता थी, इसलिए अनुभव होता है और आत्मा को पकड़ में आवे और राग की, कषाय की मन्दता करते-करते पकड़ में आवे, ऐसा कुछ है नहीं। आहाहा! यह अभी का प्रकाशित नहीं है, यह तो दो हजार वर्ष पहले की पुस्तक है और यह अभिप्राय तो अनादि काल का चलता है। तीर्थंकरदेव, त्रिलोकनाथ अनादि काल के हैं। तीन काल में, तीन काल को जाननेवाले का विरह कभी नहीं होता। यह क्या कहा? यह तीन काल है—भूत, भविष्य और वर्तमान, तीन काल में तीन काल के जाननेवाले का विरह कभी नहीं होता। जैसे तीन काल हैं, वैसे तीन काल को जाननेवाले भी अनादि के हैं। आहाहा! जैसे अनादि की यह चीज़-वस्तु है, वैसे तीन काल के जहाँ सर्वज्ञ भगवान भी अनादि के हैं। समझ में आया? उनके यह वचन हैं। दुनिया को बैठे, न बैठे, दुनिया स्वतन्त्र है, भटकने में स्वतन्त्र है और छोड़ने में भी स्वतन्त्र है।

कर्ता उसे कहते हैं (जो) स्वतन्त्ररूप से, स्वतन्त्रपने करे, वह कर्ता। कर्ता की व्याख्या यह है। स्वतन्त्ररूप से किसी की अपेक्षा रखे बिना करे, वह कर्ता। ऐसे आत्मा राग से भिन्न करने में कर्ता पर की अपेक्षा रखे बिना भिन्न करने का कर्ता आत्मा स्वतन्त्र है। आहाहा! उसे पर की अपेक्षा नहीं है। आहाहा! जैसे भिन्न करने में प्रज्ञा ही एक करण था उसी प्रकार, वैसे ग्रहण करने में प्रज्ञा एक ही साधन है। **इसलिए जैसे प्रज्ञा के द्वारा भिन्न किया था, उसी प्रकार प्रज्ञा के द्वारा ही ग्रहण करना चाहिए।** ग्रहण अर्थात् अनुभव करना। आहाहा! समझ में आती है भाषा? भाषा तो सादी है। आहाहा! निवृत्ति कहाँ है लोगों को? फुरसत नहीं मिलती।

मुमुक्षु : यह प्रज्ञा तो नया उत्पन्न हुआ ज्ञान है।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ नया है, प्रज्ञा अनुभव है। पर्याय का अनुभव है, नया है।

मुमुक्षु : नया कैसे उपजे?

पूज्य गुरुदेवश्री : पर्याय स्वयं उत्पन्न होती है, नये क्षण में उत्पन्न होती है। स्वयं स्वतन्त्ररूप से उत्पन्न होती है। कर्ता होकर, कर्म होकर, करण होकर षट्कारक होकर प्रज्ञा उत्पन्न होती है। यह बात बहुत सूक्ष्म पड़ेगी। यह आयेगा, यह अब अभी आयेगा बाद में।

यह प्रज्ञा जो हो, राग से भिन्न पड़ने की ज्ञान की पर्याय (जो होती है), वह स्वतन्त्र कर्ता, उसे पर की अपेक्षा नहीं। स्वतन्त्र कर्म—कार्य। वह अपना-अपना कार्य अपने से (होता है)। स्वतन्त्र करण—साधनपना स्वतन्त्र है, उसे पर की अपेक्षा नहीं है। वह स्वतन्त्र अपने लिये करता है, वह अपने लिये करता है, यह सम्प्रदान है। अपने से करता है, वह अपादान है। अपने आधार से करता है, वह अधिकरण है। छह बोल हैं। कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, अधिकरण। सात विभक्तियाँ आती हैं न? सात विभक्ति आती है। सात में फिर सम्बोधन (आता है) हे आत्मा! ऐसा आता है। उसके पहले यह छह बोल है। छह विभक्ति इसमें उतारी है। आहाहा!

भावार्थ :- भिन्न करने और ग्रहण करने में करण अलग-अलग नहीं हैं;... दोनों साधन एक ही है। भिन्न करने का साधन और ग्रहण करने का साधन एक ही है। **इसलिए प्रज्ञा के द्वारा ही आत्मा को भिन्न किया और प्रज्ञा के द्वारा ही ग्रहण करना चाहिए।** विशेष कहेंगे.... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

गाथा - २९७

कथमयमात्मा प्रज्ञया गृहीतव्य इति चेत् -

पण्णाए घित्तव्वो जो चेदा सो अहं तु णिच्छयदो।
अवसेसा जे भावा ते मज्झ परे त्ति णायव्वा॥२९७॥

प्रज्ञया गृहीतव्यो यश्चेतयिता सोऽहं तु निश्चयतः।
अवशेषा ये भावाः ते मम परा इति ज्ञातव्याः॥२९७॥

यो हि नियतस्वलक्षणावलम्बिन्या प्रज्ञया प्रविभक्तश्चेतयिता, सोऽयमहं; ये त्वमी अवशिष्टा अन्यस्वलक्षणलक्ष्या व्यवह्रियमाणा भावाः, ते सर्वेऽपि चेतयितृत्वस्य व्यापकस्य व्याप्यत्वमना-यान्तोऽत्यन्तं मत्तो भिन्नाः। ततोऽहमेव मयैव मह्यमेव मत्त एव मय्येव मामेव गृह्णामि।

यत्किल गृह्णामि तच्चेतनैककक्रियत्वादात्मनश्चेतये एव; चेतयमान एव चेतये, चेतयमानेनैव चेतये, चेतयमानायैव चेतये, चेतयमानादेव चेतये, चेतयमाने एव चेतये, चेतयमानमेव चेतये।

अथवा ह्न न चेतये; न चेतयमानश्चेतये, न चेतयमानेन चेतये, न चेतयमानाय चेतये, न चेतयमानाच्चेतये, न चेतयमाने चेतये, न चेतयमानं चेतये; किन्तु सर्वविशुद्धचिन्मात्रो भावोऽस्मि॥२९७॥

अब प्रश्न होता है कि-इस आत्मा को प्रज्ञा के द्वारा कैसे ग्रहण करना चाहिए। इसका उत्तर कहते हैं-

कर ग्रहण प्रज्ञा से नियत, चेतक है सो ही मैं हि हूँ।
अवशेष जो सब भाव हैं, मेरे से पर ही जानना॥२९७॥

गाथार्थ : [प्रज्ञया] प्रज्ञा के द्वारा [गृहीतव्यः] (आत्मा को) इस प्रकार ग्रहण करना चाहिए कि-[यः चेतयिता] जो चेतनवाला (चेतनस्वरूप आत्मा) है, [सः तु] वह [निश्चयतः] निश्चय से [अहं] मैं हूँ, [अवशेषाः] शेष [ये भावाः] जो भाव हैं, [ते] वे [मम पराः] मुझसे पर हैं, [इतिज्ञातव्याः] ऐसा जानना चाहिए।

टीका : नियत स्वलक्षण का अवलम्बन करनेवाली प्रज्ञा के द्वारा भिन्न किया गया जो यह चेतक (चेतनेवाला, चैतन्यस्वरूप आत्मा) है, सो यह मैं हूँ; और अन्य स्वलक्षणों से लक्ष्य (अर्थात् चैतन्यलक्षण के अतिरिक्त अन्य लक्षणों से जाननेयोग्य) जो यह शेष व्यवहाररूप भाव हैं, वे सभी, चेतकत्वरूपी व्यापक के व्याप्य नहीं होते, इसलिए मुझसे अत्यन्त भिन्न हैं। इसलिए मैं ही, अपने द्वारा ही, अपने लिए ही, अपने में से ही, अपने में ही, अपने को ही ग्रहण करता हूँ। आत्मा की, चेतना ही एक क्रिया है इसलिए, 'मैं ग्रहण करता हूँ' अर्थात् 'मैं चेतता ही हूँ'; चेतता हुआ ही चेतता हूँ, चेतते हुए द्वारा ही चेतता हूँ, चेतते हुए के लिए ही चेतता हूँ, चेतते हुए से ही चेतता हूँ, चेतते में ही चेतता हूँ, चेतते को ही चेतता हूँ। अथवा – न तो चेतता हूँ; न चेतता हुआ चेतता हूँ, न चेतते हुए के द्वारा चेतता हूँ, न चेतते हुए के लिए चेतता हूँ, न चेतते हुए से चेतता हूँ, न चेतते हुए में चेतता हूँ, न चेतते हुए को चेतता हूँ; किन्तु सर्वविशुद्ध चिन्मात्र (चैतन्यमात्र) भाव हूँ।

भावार्थ : प्रज्ञा के द्वरा भिन्न किया गया वह चेतक मैं हूँ और शेष भाव मुझसे पर हैं; इसलिए (अभिन्न छह कारकों से) मैं ही, मेरे द्वारा ही, मेरे लिए ही, मुझसे ही, मुझमें ही, मुझे ही ग्रहण करता हूँ। 'ग्रहण करता हूँ' अर्थात् 'चेतता हूँ', क्योंकि चेतना ही आत्मा की एक क्रिया है। इसलिए मैं चेतता ही हूँ; चेतनेवाला ही, चेतनेवाले के द्वारा ही, चेतनेवाले के लिए ही, चेतनेवाले से ही, चेतनेवाले में ही, चेतनेवाले को ही चेतता हूँ। अथवा द्रव्यदृष्टि से तो–मुझमें छह कारकों के भेद भी नहीं हैं, मैं तो शुद्ध चैतन्यमात्र भाव हूँ।–इस प्रकार प्रज्ञा के द्वारा आत्मा को ग्रहण करना चाहिए अर्थात् अपने को चेतयिता के रूप में अनुभव करना चाहिए।

प्रवचन नं. ३६५, गाथा-२९७, सोमवार, मगसिर कृष्ण ७
दिनाङ्क - १०-१२-१९७९

समयसार, २९७। अब प्रश्न होता है कि–इस आत्मा को प्रज्ञा के द्वारा कैसे ग्रहण करना चाहिए।

पण्णाए घित्तव्वो जो चेदा सो अहं तु णिच्छयदो।
अवसेसा जे भावा ते मज्झ परे त्ति णायव्वा।।२९७।।

कर ग्रहण प्रज्ञा से नियत, चेतक है सो ही मैं हि हूँ।
अवशेष जो सब भाव हैं, मेरे से पर ही जानना।।२९७।।

पंचास्तिकाय की ६२ गाथा में विकार के षट्कारक लिये हैं। प्रत्येक द्रव्य और गुण तो त्रिकाल (है) परन्तु जिस समय में जो पर्याय द्रव्य की जिस क्षण में होनी है, उस क्षण में वह पर्याय होगी। इस ६२ गाथा में विकारी पर्याय के षट्कारक लिये। यहाँ निर्विकारी (पर्याय) के षट्कारक लेते हैं। २९७। बात तो जिस समय में जो पर्याय होनी है, वह प्रवचनसार में १०१ गाथा, जिस क्षण में छह द्रव्यों की जो पर्याय उत्पन्न होनी है, उस क्षण में उत्पन्न होगी और उस उत्पन्न (होने में) पर की अपेक्षा नहीं है। द्रव्य ध्रुव और व्यय की जिसे (उत्पाद को) अपेक्षा नहीं है। बहुत सूक्ष्म बात है, बापू! ओहोहो!

एक तो छह द्रव्य, उनकी उस समय की जिस समय की पर्याय है, उस समय में ही होगी और वह भी षट्कारक के परिणमन से होगी। उसे निमित्त की अपेक्षा तो नहीं परन्तु उसे द्रव्य-गुण की अपेक्षा नहीं। बहुत सूक्ष्म है। आहा! ६२ गाथा में विकारी परिणमन के षट्कारक चले हैं कि विकार स्वयं से कर्ता स्वयं, उसी समय में। दूसरा आड़ा-टेड़ा समय नहीं। उसी समय विकार कर्ता, विकार कार्य, विकार करण—साधन। विकार स्वयं के लिये, विकार पर्याय से विकार और पर्याय के आधार से विकार और पर्यायरूपी कार्य / कर्म भी उस समय में। एक समय में (षट्कारक हैं)।

यह बड़ी चर्चा ३३ वर्ष पहले चली थी न? वर्णीजी के साथ। विकारी पर्याय हुई, वह षट्कारक स्वयं से होते हैं, पर से होती है—ऐसा नहीं। कर्म से भी नहीं। बड़ा विवाद आया था, बड़ा। अरे! कर्म से नहीं? तब तो स्वभाव हो जाएगा। पर्याय का स्वभाव ही है। बड़ी चर्चा चली थी। विकार के भाव थे। इसमें अब आता है निर्विकार का। इसमें २९७ में निर्विकारी द्रव्य की सम्यग्दर्शन आदि की पर्याय निर्मल होती है, वह षट्कारक से स्वतन्त्र होती है। आहाहा! ऐसी सूक्ष्म बातें।

(पंचास्तिकाय) ६२ (गाथा में) विकार की बात है और यहाँ निर्विकार की बात है। बाकी है तो प्रत्येक द्रव्य का जिस समय जन्मक्षण है, उत्पत्ति का उसका काल है, उस समय में षट्कारक से परिणमती वह पर्याय खड़ी होती है, जिसे निमित्त की अपेक्षा तो नहीं।

उसका बड़ा विवाद है न अभी? निमित्त से होता है, नहीं तो एकान्त हो जाता है। विद्यानन्दजी ने अभी ऐसा कहा है। अध्यात्म एकान्त, ऐसा कहते हैं कि निमित्त से नहीं होता। निमित्त से नैमित्तिक होता है। भगवान की वाणी है तो ज्ञान होता है। वाणी न हो तो ज्ञान होगा? यहाँ कहते हैं कि जिस समय में इसे ज्ञान होने का है, वह षट्कारक के परिणमन से स्वतन्त्र स्वयं होना है। अब ऐसी बात है। आहाहा! इसे—बनिये को इतने अधिक पहुँचना। व्यापार-धन्धे के कारण निवृत्ति नहीं मिलती। चन्दुभाई! यहाँ तक पहुँचना। आहाहा!

भगवान ने कहे हुए छह हैं। सर्वज्ञ परमेश्वर जिनेश्वरदेव ने छह द्रव्य देखे हैं। जाति-जाति छह है, संख्या अनन्त है। उस प्रत्येक द्रव्य की उस-उस समय की पर्याय सत् है। उस-उस समय की वह पर्याय सत् है और सत् है, उसको हेतु नहीं होता। यह बात यहाँ २९७ में सिद्ध करते हैं। यहाँ निर्विकारी को सिद्ध करते हैं। आहाहा! ६२ में विकारी को सिद्ध किया। प्रवचनसार में किसी भी छह द्रव्य की उत्पत्ति और व्यय, उत्पत्ति की दशा, विकार या अविकार, उसके जन्मक्षण में ही स्वयं उत्पन्न होती है। ऐसा वस्तु का स्वभाव प्रवचनसार कहता है। अर्थात् वीतराग की वाणी ऐसा कहती है। आहाहा! कहाँ पहुँचना इसे? ऐसी सूक्ष्म बात है, भाई! वह यहाँ कहते हैं।

टीका :- नियत स्वलक्षण का अवलम्बन करनेवाली... २९७ (गाथा)जड़ और चैतन्य के निश्चय स्वलक्षण को अवलम्बन करनेवाली प्रज्ञा। देखा? प्रज्ञा कैसी है? कि जड़ और चैतन्य के जो लक्षण हैं, उन्हें वह बराबर जानती है। प्रज्ञा उनके लक्षण को जानती है। जड़ के लक्षण को और आत्मा के लक्षण को, राग के लक्षण को, चैतन्य के लक्षण को (जानती है)। यहाँ तो यह दोनों लेना है। राग, वह बन्ध का लक्षण है; ज्ञान, चैतन्य का लक्षण है। उसे नियत-निश्चय लक्षण है वह। दोनों का निश्चय लक्षण है। **नियत स्वलक्षण का...** अपने लक्षण को **अवलम्बन करनेवाली प्रज्ञा के द्वारा भिन्न किया गया जो यह चेतक (चेतनेवाला,)...** भिन्न किया गया जो चेतनेवाला। आहाहा!

बहुत सूक्ष्म। समझना तो पड़ेगा न? सूक्ष्म पड़े कि... भव चले जाते हैं और वापस अनन्त भव में कहाँ जाएगा? यह नहीं समझा और यदि यह सम्यक् डोरा नहीं पिरोया तो

बिना डोरे की सुई खो जाएगी। बिना डोरे की सुई कहाँ जाएगी? खो जाएगी। परन्तु डोरा पिरोया होगा तो कदाचित् चिड़िया उसकी माला में ले गयी होगी तो 'यह लाल डोरा रहा, सुई यहाँ लगती है' (ऐसे) डोरा सहित सुई होगी तो खो नहीं जाएगी। इसी प्रकार सम्यग्ज्ञानरहित आत्मा चौरासी में खो जाएगा। समझ में आया? सम्यग्ज्ञान बिना चौरासी के अवतार में खो जाएगा। चाहे जो क्रियाकाण्ड करे। दया, व्रत, भक्ति और पूजा यह सब भाव राग है, वह तो संसार है, वह कहीं धर्म नहीं है। आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं, चाहे जो बाहर की क्रिया करे परन्तु अन्तर में आत्मा को राग से भिन्न अनुभव करके ज्ञान की दशा प्रगट नहीं करे, तब तक उसका परिभ्रमण मिटेगा नहीं। वह भी नियत लक्षण से **प्रज्ञा के द्वारा भिन्न किया गया जो यह चेतक (चेतनेवाला) है, सो यह मैं हूँ;...** राग से भिन्न किया। राग का लक्षण बन्ध है। भगवान आत्मा का लक्षण ज्ञान है। ऐसे दो लक्षण से दोनों को भिन्न किया। करके 'यह मैं हूँ' इनमें चेतनेवाला, वह मैं हूँ। जाननेवाला वह मैं हूँ। राग और पुण्य-पाप के भाव, वह मैं नहीं। वह तो बन्ध का स्वरूप है। आहाहा! यहाँ जाना इसे। है?

(चेतनेवाला) है, सो यह मैं हूँ;... वह यह मैं हूँ। यह मैं हूँ। चेतनेवाला— जाननेवाला... जाननेवाला... जाननेवाला... (मैं हूँ)। राग, वह बन्ध का कारण और बन्ध का लक्षण है। वह चेतनेवाला नहीं, वह तो अन्ध है। उससे मैं भिन्न चेतनेवाला, वह मैं हूँ। **और अन्य स्वलक्षणों से लक्ष्य...** राग और पुण्य दया, दान, व्रत, भक्ति के भाव, वे उसके—बन्ध के लक्षण से लक्ष्य है। बन्ध के लक्षण से जाननेयोग्य है। लक्ष्य अर्थात् जाननेयोग्य। बन्ध के लक्षण से जाननेयोग्य है। आहाहा! भगवान आत्मा को ज्ञान लक्षण से जाननेयोग्य है और रागादि हैं, उन्हें बन्ध के लक्षण से जाननेयोग्य है। आहाहा! ऐसी बात अब कठिन पड़े, फिर सोनगढ़ के नाम से कहे न कि सोनगढ़ निश्चय कहता है, एकान्त कहता है, एकान्त कहता है। उसकी बात सच्ची है। यहाँ तो एकान्त सत्य ही कहते हैं। आरोप की—व्यवहार की सब बातें जाननेयोग्य है, वह कोई आदरणीय नहीं है। व्यवहार की बातें होती है, व्यवहार होता है, निमित्त भी होता है परन्तु वह सब जाननेयोग्य है, आदरणीय नहीं। आहाहा! आदर करनेयोग्य तो मैं बन्ध के लक्षण से भिन्न चेतनेवाला, वह मैं हूँ। आहाहा!

और अन्य स्वलक्षणों से लक्ष्य (अर्थात् चैतन्यलक्षण के अतिरिक्त अन्य लक्षणों से जाननेयोग्य) जो यह शेष व्यवहाररूप भाव हैं,... आहाहा! यह दया, दान, व्रत, भक्ति, अपवास, पूजा, नामस्मरण, यह सब बन्ध के कारण राग है। यह राग बन्ध का लक्षण है। आहाहा! है? अन्य स्वभावलक्षणों से लक्ष्य है। वे आत्मा के लक्षण से लक्ष्य नहीं। आत्मा के लक्षण से (नहीं), अन्य लक्षणों से लक्ष्य है। आत्मा चैतन्यलक्षण से लक्ष्य है, तब वह उससे अन्य लक्षण से लक्ष्य है। अन्य लक्षण अर्थात् राग और अचेतन लक्षण से वह लक्ष्य है। आहाहा! ऐसा है।

अन्य स्व उसका लक्षण है। अन्य का भी स्वलक्षण है। दया, दान, व्रत, काम, क्रोध भाव, वह बन्ध का लक्षण है, वह बन्धभाव का लक्षण है। भगवान आत्मा का ज्ञानलक्षण है। उन अन्य लक्षणों से लक्ष्य **(अर्थात् चैतन्यलक्षण के अतिरिक्त अन्य लक्षणों से जाननेयोग्य) जो यह शेष व्यवहाररूप भाव हैं,...** है, देखा? आहाहा! व्यवहाररूप भाव। जितनी वृत्तियाँ, विकल्प उठे, चाहे तो भगवान की भक्ति हो, पंच नवकार (गिनता हो) या भगवान की पूजा हो, परन्तु वह सब राग है। वह राग, उसके लक्षण से जाननेयोग्य है—स्वलक्षणों से जाननेयोग्य है। उसे आत्मा के चैतन्य लक्षण से जाननेयोग्य नहीं है। आहाहा! ऐसे **व्यवहाररूप भाव हैं,...** वह भी है। व्यवहार नहीं है, ऐसा नहीं है, परन्तु वह व्यवहार है, वह जाननेयोग्य है; व्यवहार है, वह आदरणीय नहीं है और व्यवहार करने से निश्चय हो, ऐसा तीन काल में नहीं है। क्योंकि व्यवहार का निज लक्षण स्वभाव से भिन्न अन्य लक्षण उसका है। उसका स्वलक्षण भिन्न है, इसका स्वलक्षण भिन्न है। ऐसा प्रज्ञा द्वारा भिन्न जानकर। आहाहा! इसमें कब निवृत्ति मिले? चन्दुभाई! धन्धा-पानी पूरे दिन करना। चावल, दाना, यह अमुक, अमुक... हमारे वहाँ पालेज में है न? मनसुख को बड़ी दुकान है। कितना अनाज भरा हो। ऐसा बड़ा भण्डार भरा हो। बड़ा धन्धा पूरे दिन। आहाहा! अरे! उसमें यह निवृत्ति कहाँ मिले?

मैं कौन? मेरे लक्षण से लक्षित मैं कौन? मेरे लक्षण से अन्य भाव, उनके भाव के स्वलक्षण। उनके-भाव के स्वलक्षणों से लक्षित। उनके भाव के स्वलक्षणों से ज्ञात होनेयोग्य और आत्मा के स्वलक्षण से ज्ञात होनेयोग्य आत्मा। आहाहा! सब व्यवहार भाव है। है, हों!

वापस नहीं है, ऐसा नहीं है। निश्चय ही अकेला है और व्यवहार नहीं है, ऐसा नहीं है। व्यवहार होता है। व्यवहार आता है, परन्तु है वह बन्ध का कारण। आहाहा! निश्चय भी है चेतनेवाला... चेतनेवाला... चेतना लक्षण द्वारा लक्षित भी है और राग बन्ध के लक्षणवाला बन्धभाव भी है। दोनों हैं, परन्तु व्यवहार से निश्चय होता है, ऐसा नहीं है। व्यवहार, वह धर्म नहीं है। आहाहा! जितना व्यवहार दया, दान, व्रत, भक्ति, यात्रा, पूजा, वह धर्म नहीं है। वह राग बन्ध लक्षणवाला स्वरूप है। है अवश्य। लिखा है न? आहाहा! कितना स्पष्ट है!

वे सभी, चेतकत्वरूपी व्यापक के व्याप्य नहीं होते... क्या कहते हैं? भगवान चेतक है, जाननेवाला है। वह तो जानने-देखनेवाला प्रभु आत्मा है। उस जानने-देखनेवाले आत्मा के व्यापक का व्याप्य। फिर से, हिन्दी फिर से।

नियत स्वलक्षण का अवलम्बन करनेवाली प्रज्ञा के द्वारा भिन्न किया गया... क्या कहते हैं? समझे? कि आत्मा और राग जो दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा का राग और आत्मा ज्ञायक, दोनों भिन्न चीज़ है। नव तत्त्व में रागादि भिन्न चीज़ है और आत्मा राग से भिन्न चीज़ है। तो कहते हैं कि निश्चय से स्वलक्षण का अवलम्बन करनेवाली। जीव का और राग का स्वलक्षण को भिन्न करनेवाली प्रज्ञा, ज्ञान, ज्ञानदशा। उसके द्वारा (भिन्न) किया **जो यह चेतक (चेतनेवाला)...** चेतनस्वरूप आत्मा है, **सो यह मैं हूँ;...** धर्मी जीव उसे कहते हैं कि जो रागादि भाव हैं, उनसे भिन्न मैं चेतनेवाला हूँ। मैं राग नहीं। व्यवहार राग आता है परन्तु वह मेरी चीज़ नहीं। आहाहा! गजब! मुझे उससे लाभ नहीं होता। व्यवहार आता है, व्यवहार है, परन्तु उससे मुझे धर्म होता है, ऐसा भाव है नहीं। सूक्ष्म बात है, भाई! वीतराग मार्ग... अभी तो लोगों ने स्थूल कर डाला है, इसलिए यह ऐसा लगता है कि यह क्या कहते हैं? मस्तिष्क में बैठता नहीं। अकेले बाहर के क्रियाकाण्ड में मर गये। आत्मा—चैतन्य और राग—जड़ भिन्न है, उसकी तो कुछ खबर नहीं होती।

यह कहते हैं, **सो यह मैं हूँ;...** चेतनेवाला आत्मा मैं हूँ। **और अन्य स्वलक्षणों से लक्ष्य...** अपने चैतन्य लक्षण से अन्य लक्षणवाला राग जो दया, दान, भक्ति, पूजा, व्रत, यात्रा का जो राग भाव है, वह तो अन्य स्वलक्षण—अन्य उसके लक्षण द्वारा ज्ञात होनेयोग्य है। उसके लक्षण से ज्ञात होनेयोग्य है। आहाहा! **जो यह शेष व्यवहाररूप भाव हैं,...**

यह व्यवहाररूप सब भाव हैं, आत्मा ज्ञायक के अतिरिक्त। चेतनेवाला मैं हूँ, चेतनेवाला मैं हूँ, मैं जाननेवाला हूँ, मैं देखनेवाला हूँ। इसके अतिरिक्त जितने रागादि विकल्प उठते हैं, पुण्य, शुभ-अशुभभाव सब मेरे लक्षण नहीं हैं। वे बाकी के व्यवहारभाव हैं।

वे सभी, चेतकत्वरूपी व्यापक के व्याप्य नहीं होते... क्या कहते हैं? देखो! आहाहा! भगवान आत्मा चेतनस्वरूप है। उसमें दया, दान, व्रत, भक्ति, काम, क्रोध के परिणाम चेतनस्वरूप में व्यापक होकर व्याप्य नहीं होते। आत्मा अवस्थायी और रागादि व्याप्य अर्थात् अवस्था, ऐसा नहीं होता। आहाहा! यह ऐसा है, प्रभु! कठिन बात है। है? **चेतकत्वरूपी व्यापक के व्याप्य नहीं होते...** भगवान चेतनेवाला, जानने-देखनेवाला, वह आत्मा, वह व्यापक। वह पसरनेवाला, विस्तारवाला। परन्तु राग और द्वेष, दया और दान, व्रत और भक्ति के भाव वे चेतक—आत्मा के व्याप्य नहीं हैं, आत्मा का कार्य नहीं है, आत्मा के भाव नहीं है। आहाहा! ऐसी बात है। लोगों को बेचारों को सुनने को मिला नहीं। निश्चय क्या? सत्य क्या? व्यवहार के क्रियाकाण्ड में लवलीन और उसी की उसी में जिन्दगी निकालकर मिथ्यात्व का पोषण करते हैं। यह कहते हैं।

व्यापक के व्याप्य नहीं होते... आत्मा त्रिकाली व्यापक, रागादि उसका व्याप्य अवस्था नहीं होती। व्यवहाररत्नत्रय का जितना राग है, देव-गुरु-धर्म की श्रद्धा, दया, दान के भाव, पूजा के भाव, वे भाव व्यापक आत्मा के (व्याप्य नहीं है)। व्यापक कर्ता और व्याप्य कार्य, ऐसा नहीं है। भाषा समझ में आती है? आहाहा! **चेतकत्वरूपी व्यापक के व्याप्य नहीं होते...** यह उसकी दशा नहीं है। आहाहा! शरीर, वाणी, मन तो जड़ है, उसकी क्रिया तो अपनी है नहीं, परन्तु अन्दर में दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम, वह अपना व्याप्य—अपनी पर्याय नहीं है, अपना कार्य नहीं है, अपना कर्तव्य नहीं है। आत्मा कर्ता और यह व्यवहार विकार पर्याय कर्म—कार्य, ऐसा है नहीं। आहाहा! है या नहीं अन्दर? ऐसी बात है, भाई! सत्य मार्ग तो यह रहा। लोगों ने फिर यह करो, यह करो, यह करो... कर-करके निश्चय होगा। व्यवहार करो... करो, फिर निश्चय होगा, ऐसी प्ररूपणा / मिथ्या प्ररूपणा है। मिथ्यादृष्टि की मिथ्या प्ररूपणा है तो मिथ्यात्व का पोष है। धर्म की बात वहाँ नहीं है।

यहाँ कहते हैं, चेतक जो व्यापक आत्मा, उसका व्याप्य अर्थात् कार्य—अवस्था। राग—व्यवहाररत्नत्रय का राग, देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा का राग, पंच महाव्रत का राग, शास्त्रज्ञान का राग, वह आत्मा का व्याप्य—आत्मा की अवस्था नहीं होती। आत्मा चेतक है, उसकी अवस्था चेतना है, यह राग उसकी अवस्था नहीं होती। आहाहा! ऐसा कभी सुना नहीं होगा। चन्दुभाई! ऐसी बात है। बीच में भाव आता है, शुभ आता है, होता है, भक्ति, मन्दिर (बनाने का) परन्तु वह बन्ध का कारण है, वह धर्म नहीं है। पूर्ण वीतराग न हो तो व्यवहार आता है परन्तु व्यवहार साधन नहीं है। आहाहा! व्यवहार, वह बन्ध का कारण है। वह आत्मा व्यापक का व्याप्य नहीं है। आत्मा कर्ता का राग, पुण्य-पाप दया, दान कार्य नहीं है। आत्मा व्यापक द्रव्य, उसकी विकारी अवस्था व्याप्य—कार्य नहीं है। आहाहा! है या नहीं अन्दर? देखो!

व्यापक के व्याप्य नहीं होते इसलिए मुझसे अत्यन्त भिन्न हैं। मुझसे अत्यन्त भिन्न है। आहाहा! यह शुभ-अशुभभाव, दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा, काम, क्रोध, यात्रा का भाव, वह राग है। वह धर्मी ऐसा समझता है कि मुझसे अत्यन्त भिन्न है। वह मेरी चीज़ नहीं है, वह मुझमें नहीं है, मैं उसका स्वामी नहीं हूँ, मेरा वह व्याप्य अर्थात् कार्य नहीं है। होता है। आहाहा! ऐसा काम बहुत कठिन। **अत्यन्त भिन्न हैं।** आहाहा!

इसलिए मैं ही, अपने द्वारा ही,... लो, ठीक! **मैं ही,...** यह कर्ता। मैं कर्ता हूँ। किसका? **मैं ही, अपने द्वारा ही,...** चेतन द्वारा, ज्ञान द्वारा। **अपने लिए ही,...** मेरे लिये। अपने में रखने के लिये। ज्ञान द्वारा ज्ञान की पर्याय मुझमें रखने के लिये। आहाहा! धर्मी—सम्यग्दृष्टि उसे कहते हैं कि जो अपना चैतन्यस्वभाव, वह अपने लिये, अपने द्वारा ही, अपने में ही। अपने में—ज्ञान में। ज्ञान द्वारा ही, ज्ञान के लिये, अपने में रखने के लिये, अपने से। अपने से—द्वारा। यह पर्याय अपने से हुई है। कोई राग की मन्दता हुई या व्यवहार हुआ, इसलिए निश्चय हुआ, ऐसा नहीं है। आहाहा! है या नहीं अन्दर? ऐसी सूक्ष्म बातें हैं। वापस पन्द्रह-पन्द्रह लाख के मन्दिर बनाना। अफ्रीका में पन्द्रह लाख का मन्दिर (होता है)। पन्द्रह लाख का दूसरा खर्च, तीस लाख का खर्च। इससे अधिक खर्च है। पन्द्रह लाख तो दूसरा खर्च है। इसके अतिरिक्त दूसरा खर्च है। कहते हैं, वह क्रिया तो

पर की-जड़ की है। उसमें तेरा भक्ति का भाव हो तो शुभ है, धर्म नहीं। आहाहा! ऐसी बात है। है?

अपने में से ही,... मेरे में से ही। से-मुझसे। **अपने में ही,...** यह आधार। यह ज्ञान, आनन्द मुझमें ही, मेरे आधार से उत्पन्न होते हैं। इसका कोई राग और व्यवहार रत्नत्रय आधार है, (ऐसा नहीं है)। व्यवहार आधार है तो अपने में सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र उत्पन्न होता है, ऐसा नहीं है। आहाहा! **अपने में ही,...** है? **अपने को ही...** कर्म... कर्म। **अपने को ही...** मेरा कार्य यह है। मेरा कार्य ज्ञान करना, जानना-देखना वह मेरा कर्म... कर्म—कार्य है। समझ में आया? पहले कर्ता लिया था। कर्ता से कर्म अन्त में लिया।

मैं चैतन्यकर्ता हूँ, मेरे चैतन्य द्वारा, चैतन्य से, चैतन्य से, चैतन्य के आधार से, चैतन्य के लिये मैं चेतता हूँ। मैं तो, मेरा तो जानना-देखना, वह कार्य है। आहाहा! ऐसी बात है। है या नहीं अन्दर? समयसार किसी समय पढ़ा है या नहीं? चन्दुभाई! यह पढ़ा है या नहीं? धन्धे के कारण कहीं निवृत्ति भी नहीं मिलती?

मुमुक्षु : आप जो कहते हो, वह बराबर है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो पहले से कहते हैं। प्रेम तो है न! परन्तु मार्ग ऐसा है, बापू! पूरी दुनिया से अलग प्रकार है। सम्प्रदाय में तो यह बात सुनने को मिलती नहीं। आहाहा! वहाँ तो यह करो, यह करो, यह करो। भक्ति करो, यात्रा करो, पूजा करो, जाओ तुम्हें धर्म हो जाएगा।

यहाँ तो कहते हैं कि भक्ति, पूजा, दान, दया, व्रत, तप—वह भाव मेरा कार्य नहीं। वह मेरा व्याप्य-अवस्था नहीं, वह मेरा कर्म नहीं। आहाहा! मेरा कर्म तो यह अन्त में, आया न? आहाहा! **अपने को ही ग्रहण करता हूँ।** आहाहा! यह मेरा कार्य है। मैं तो ज्ञान को अनुभव करता हूँ। ज्ञान को अनुभव करता हूँ, ज्ञान को जानता हूँ, वह मेरा कार्य है। झवेरचन्दभाई! सुना है कभी? आहाहा! ऐसा मार्ग है। बहुत फेरफार (हो गया)। बापू! वीतराग मार्ग जन्म-मरण रहित, भवभ्रमण रहित होने का मार्ग कोई दूसरा है। आहाहा! दुनिया तो जिससे भवभ्रमण हो, उस भाव को धर्म कहती है। दया, दान, व्रत, भक्ति, तप, पूजा, भक्ति भाव, वह तो राग है, संसार है, परिभ्रमण का कारण है। उसे लोग धर्म कहते हैं।

परमात्मा जिनेश्वरदेव ऐसा कहते हैं कि यह कोई मेरे भाव ही नहीं हैं, मेरा कार्य नहीं, मैं कर्ता नहीं, मेरा कार्य नहीं। आहाहा! निर्मल पर्याय का मैं कर्ता हूँ, निर्मल पर्याय मेरा कार्य है, वीतरागी पर्याय मेरे आधार से उत्पन्न होती है, वीतराग पर्याय से वीतरागता उत्पन्न होती है, वीतरागता के आधार से वीतरागता उत्पन्न होती है। राग, वीतरागता के आधार से उत्पन्न नहीं होता। यह पर्याय की स्वतन्त्रता, हों! यह पर्याय की बात चलती है। आहाहा! द्रव्य तो त्रिकाली है। उस द्रव्य में तो कुछ हलन-चलन है नहीं। उसकी पर्याय जो है, पर्याय—अवस्था जो है, वह मेरी अवस्था है, ऐसा धर्मी मानता है। अज्ञानी को उसकी कुछ खबर नहीं है। वह तो अधर्मी अधर्म है। अधर्म में अनादि से पड़ा है, अधर्म करता है। धर्म-बर्म नहीं। आहाहा!

आत्मा की, चेतना ही एक क्रिया... है। क्या कहते हैं? अब क्रिया ली है। आत्मा की क्रिया क्या? यह शरीर-बरीर, चलना यह क्रिया? यह तो जड़ की क्रिया है। बोलना, यह क्रिया जड़ की क्रिया है। भगवान की भक्ति का राग आया, यात्रा का राग आया, वह आत्मा की क्रिया? नहीं। वह तो राग की क्रिया है। यह आत्मा की क्रिया नहीं है। आहाहा! **आत्मा की, चेतना ही...** 'ही' शब्द प्रयोग किया है। एकान्त शब्द किया है। **आत्मा की, चेतना ही एक क्रिया...** है। जानना-देखना, जानना-देखना, जानन-देखना, यह आत्मा की एक क्रिया है। रागादि उसकी क्रिया नहीं है। शरीर, वाणी की क्रिया तो उसकी है ही नहीं। ओहोहो! कितना समाहित किया है! थोड़े शब्दों में दिगम्बर सन्तों ने, दिगम्बर सन्तों ने बहुत गूढ़ भाषा और बहुत गम्भीर भाषा में समझाया है। लोगों को दरकार नहीं होती। अपने संसार में परिभ्रमण में अनादि से पड़ा है। वह का वह परिभ्रमण करे। अवतार किया करे, नरक और निगोद। नरक और निगोद के भव अनन्त किये और अनन्त करेगा। जब तक उस राग को आत्मा से भिन्न (नहीं करे कि) यह राग मेरा कार्य नहीं है, राग मेरा कर्तव्य नहीं है, राग मेरे आधार से नहीं है, राग मुझसे नहीं है, (तब तक परिभ्रमण नहीं मिटेगा)। आहाहा! मिथ्यात्व के कारण विपरीत मान्यता, इस राग से धर्म होगा—यह मिथ्यात्व की श्रद्धा, विपरीत मान्यता, यह गर्भ में गलाने की मान्यता है। उल्टे संसार में भटकने की। आहाहा! ऐसी बातें हैं। चार गति में भटकने की यह क्रिया है। यहाँ अपने हो गया है, घोर संसार का मूल है। शुभभाव आता है, वह घोर संसार का मूल है। होता

है, आता है, अशुभ से बचने को आता है परन्तु है संसार, घोर संसार। यह दया, दान, व्रत, भक्ति के, पूजा के भाव भी घोर संसार है। आहाहा! अपने आ गया है। नियमसार (में आ गया है)। आहाहा! यह बात झेली नहीं जाती, कभी सुनी नहीं। कभी की नहीं। की तो कहाँ से होगी? सुनी नहीं। जिन्दगी बाहर का सुनने की क्रिया में गयी। सत्य की क्रिया क्या है, यह सुनी नहीं। आहाहा!

आत्मा की, चेतना ही... आत्मा की जानने की, जानन-देखन, जानने-देखने की परिणति, ज्ञान जानने-देखने की दशा यह एक इसकी क्रिया है। राग जो दया, दान, व्रत, यात्रा का, भक्ति का राग, वह आत्मा की क्रिया नहीं। वह आत्मा की क्रिया नहीं, वह तो राग की-जड़ की क्रिया है। आहाहा! फिर शोर मचावे न! सोनगढ़ ऐसा कहता है, सोनगढ़ ऐसा कहते है। सोनगढ़ कहता है या भगवान कहते हैं? भगवान की वाणी भी तूने सुनी नहीं, इसलिए तुझे दूसरा लगता है। यह तो भगवान जिनेश्वरदेव तीन लोक के नाथ तीर्थंकरदेव की वाणी है। सीमन्धरस्वामी भगवान विराजते हैं। महाविदेह में विराजते हैं। वहाँ यह कुन्दकुन्दाचार्य संवत् ४९ में गये थे, वहाँ से यह लेकर आये हैं और यह बनाया है। दुनिया को झेलना कठिन पड़े परन्तु मार्ग यह है। दूसरा कोई मार्ग माने तो यह सब मिथ्यात्व है। आहाहा! बाहर से माने, बाहर के क्रियाकाण्ड से कोई धर्म माने तो मिथ्यात्व, अज्ञान, संसार है। वह चार गति में भटकने की क्रिया है। यह कौन माने? आहाहा!

आत्मा की, चेतना ही एक क्रिया है इसलिए, 'मैं ग्रहण करता हूँ' अर्थात् 'मैं चेतता ही हूँ';... आहाहा! अब छह कारक लगाते हैं। **'मैं चेतता ही हूँ';...** मैं तो चेतनेवाला कर्ता हूँ। आहाहा! मैं तो चेतनेवाला कर्ता हूँ। मैं चेतना ही हूँ। मैं तो चेतनेवाला ही हूँ। मैं दया, दान, व्रत नहीं। आहाहा! ऐसी बात सुनकर तो शोर मचा जाए। बेचारे को निवृत्ति नहीं मिलती धन्धे के कारण, पाप के कारण। निवृत्त होवे घण्टे भर तो भगवान की भक्ति, पूजा कर आवे। णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं... हो गया, जाओ! भटको। ऐसा तो अनन्त बार किया।

यह आत्मा अन्दर है। राग से भिन्न चीज़ है, उसका ज्ञान नहीं किया और उसकी भिन्नता कभी नहीं की। भेदज्ञान किया नहीं। राग की क्रिया और आत्मा की ज्ञानक्रिया, दोनों

का भेदज्ञान कभी नहीं किया। आहाहा! और भेदज्ञान बिना इसकी चार गति मिटी नहीं। चौरासी के अवतार में भटककर परिभ्रमण करता है। आहाहा!

'**मैं चेतता ही हूँ**' है? **चेतता हुआ ही चेतता हूँ,...** चेतता हुआ चेतता हूँ, ऐसा। **चेतते हुए द्वारा ही चेतता हूँ, चेतते हुए के लिए ही चेतता हूँ,...** यह सम्प्रदान है। चेतता हुआ चेतता हूँ। से-मुझसे है। और **चेतते हुए से ही चेतता हूँ,...** यह आधार है। **चेतते को ही चेतता हूँ,...** यह कर्म है, कार्य है। आत्मा का कार्य क्या? **चेतते को ही चेतता हूँ,...** यह कार्य है। आहाहा! अन्तिम शब्द कर्म है, पहला शब्द कर्ता है। मैं कर्ता, मेरा कर्म चेतना। जानना-देखना, वह मेरा कार्य है। राग और दया, दान और व्रत परिणाम, वह मेरा कार्य नहीं। वह धर्मी उसे कार्य नहीं मानता और माने तो वह धर्मी नहीं है। आहाहा! ऐसा कठिन पड़े।

छह बोल हुए। मैं चेतना ही हूँ, इतना साधारण । **चेतता हुआ ही चेतता हूँ,...** यह कर्ता। **चेतते हुए द्वारा ही चेतता हूँ,...** अपने द्वारा ही चेतता हूँ—करण। **चेतते हुए के लिए ही चेतता हूँ,...** अपने लिये। (यह) सम्प्रदान। **चेतते हुए से ही चेतता हूँ,... चेतते में ही चेतता हूँ,...** अपने लिये चेतता हूँ और **चेतते हुए के लिए ही चेतता हूँ, चेतते हुए से ही चेतता हूँ,...** यह आधार। **चेतते हुए में ही चेतता हूँ,...** और **चेतते को ही चेतता हूँ...** यह कर्म। आहाहा! कर्म अर्थात् यह जड़ नहीं, हों! यह जड़ कर्म नहीं। तथा राग दया, दान हो, वह कर्म यहाँ नहीं। आहाहा! यहाँ तो जानना-देखना वह मेरा कर्म है—कार्य है। सम्यग्दृष्टि—धर्मी ऐसा मानता है। इससे उल्टा माने, वह मिथ्यादृष्टि (है), जैन नहीं है। आहाहा! जैन नाम धरावे परन्तु जैन है नहीं। जैन वीतरागभाव से उत्पन्न होता है। रागभाव से उत्पन्न हो, ऐसा माने, वह जैन नहीं है। आहाहा! ऐसी बात है। एक व्याख्यान भी कठिन पड़ता है। आहाहा!

मैं मेरा कर्ता, मेरे लिये, मेरे द्वारा, मुझसे, मेरे आधार से, मुझे, मैं जानता हूँ। आहाहा! यह पर्याय के षट्कारक हैं, हों! द्रव्य के नहीं। द्रव्य-गुण तो त्रिकाल है। जैसे ६२ गाथा में विकार के छह कारक लिये थे, वैसे यहाँ अविकार के लिये हैं। मोक्ष अधिकार है न? आहाहा! समझण कठिन पड़े, भाई! क्या हो? मार्ग दूसरा नहीं है। अभी तो सब दूसरा चला

है। पूरी गड़बड़ उल्टी। राग को, विकार को धर्म मानकर (चला है)। जो जैनधर्म है ही नहीं, उसे धर्म मानकर, हम धर्मी हैं—ऐसा मानकर पड़े हैं। भटकते राम हैं। चार गति में भटकनेवाले, परिभ्रमण करनेवाले हैं। आहाहा!

यहाँ प्रभु कहते हैं, कुन्दकुन्दाचार्य ने कहा, उसकी टीका अमृतचन्द्राचार्य ने की है, कि भगवान ऐसा कहते हैं। परमात्मा त्रिलोकनाथ की यह वाणी है। महाविदेह में प्रभु ऐसा कहते थे, वह यहाँ मैं कहता हूँ। आहाहा! यह छह कारक व्यवहार से लिये। अभी यह भी व्यवहार। आहाहा! गजब है न! पर्याय में षट्कारक निर्मलरूप से होना, यह भी इतना भेद पड़ा, वह व्यवहार हुआ। आहाहा! पर का व्यवहार, देह, वाणी का तो कहीं रह गया। दया, दान, व्रत के परिणाम, व्यवहार का राग तो कहीं रह गया। यहाँ निर्मल पर्याय षट्कारक के परिणमन का व्यवहार, वह भी नहीं। मैं तो अभेद हूँ। आहाहा! है?

न तो चेतता हूँ;... भेद-बेद नहीं। मैं चेतता नहीं। **न केवल चेतता हुआ चेतता हूँ,...** केवल चेतता हुआ चेतता हूँ, ऐसा नहीं। भाग भी नहीं। **न चेतते हुए के द्वारा चेतता हूँ, न चेतते हुए के लिए चेतता हूँ, न चेतते हुए से चेतता हूँ, न चेतते हुए में चेतता हूँ, न चेतते हुए को चेतता हूँ;...** अन्तिम कर्म (लिया)। यह षट्कारक के भेद नहीं। आहाहा! पर्याय में षट्कारक के भेद पड़ते हैं। कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, अधिकरण। एक समय की निर्मल पर्याय में धर्मी को षट्कारक पड़ते हैं, परन्तु वह मैं नहीं, मैं तो अभेद हूँ। आहाहा!

अब यह सुन जाए, आग्रहवाले को-सम्प्रदायवाले को आग्रह होता है। बेचारे को खबर भी नहीं होती धर्म किसे कहना? वह तो वाड़ा में पड़े और यह हमने भक्ति, पूजा की... हो गया धर्म। धूल भी धर्म नहीं। वीतराग धर्म तो वीतरागभाव से उत्पन्न होता है। रागभाव से उत्पन्न हो, वह वीतरागभाव होगा? वह जिनधर्म होगा? जैनधर्म तो वीतरागभाव से उत्पन्न होता है। अतः वीतरागभाव की पर्याय की षट्कारक की यह बात की है। वीतरागभाव के षट्कारक उत्पन्न कहे। तथापि वे षट्कारक, वह भाव व्यवहार, भेद है। मैं तो अभेद हूँ। आहाहा! है? **किन्तु सर्वविशुद्ध चिन्मात्र (चैतन्यमात्र) भाव हूँ।** सर्वविशुद्ध चिन्मात्र भाव हूँ, भेद भी नहीं। मैं तो शुद्ध सर्वविशुद्ध मात्र हूँ। ऐसा समकिती इस प्रकार से भावना भाता है। विशेष कहेंगे..... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ३६६, गाथा-२९७, श्लोक-१८२, बुधवार, मगसिर कृष्ण ९
दिनाङ्क - १२-१२-१९७९

भावार्थ :- प्रज्ञा के द्वारा भिन्न किया गया... है ? यह आत्मा जिसे आत्मा का हित करना हो, उसे क्या करना और किस विधि से करना, यह बात चलती है। आत्मा **प्रज्ञा के द्वारा भिन्न किया...** आया। पहले तो यह (करना है)। राग के विकल्प से प्रज्ञा भिन्न अर्थात् अनुभव से—ज्ञान से अनुभव से उसे पहले भिन्न करना। आहाहा! उसकी पहली क्या क्रिया होगी ? पहली क्रिया यह कि प्रज्ञा-ज्ञान द्वारा, अनुभव द्वारा राग से आत्मा को भिन्न—पृथक् करना। आहाहा! ऐसी बात।

भिन्न किया गया वह चेतक... ऐसा भिन्न किया गया, ऐसा जो चेतक, चेतनेवाला, जानने-देखनेवाला **वह चेतक (यह) मैं हूँ...** वह यह मैं हूँ। **वह चेतक (यह) मैं हूँ...** प्रज्ञा द्वारा भिन्न किया हुआ जो अपने अनुभव द्वारा, ज्ञान-अनुभव द्वारा; ज्ञान का अनुभव, वह राग से भिन्न है। अनुभव द्वारा भिन्न किया गया, वह मैं चेतक, चेतनेवाला मैं तो जानने-देखनेवाला वह मैं हूँ। **और शेष भाव मुझसे पर हैं;...** यह दया, दान के, व्रत के विकल्प आदि हैं, वे भी मुझसे भिन्न हैं। आहाहा! ऐसी क्रिया। **इसलिए...** इसलिए अर्थात् ? भिन्न किया गया ऐसा चेतक मैं हूँ और बाकी के भाव मुझसे पर हैं इसलिए—इस कारण से। समझ में आया ? आहाहा! ज्ञान के अनुभव द्वारा आत्मा को भिन्न करने में आया हुआ वह ही मैं हूँ। उससे दूसरे परभाव सब पर है। ऐसा करने से।

इसलिए (अभिन्न छह कारकों से) कर्ता मैं ही,... यह भिन्न करने में कर्ता मैं ही, आहाहा! वह मेरी पर्याय ही कर्ता है, राग और व्यवहाररत्नत्रय कोई कर्ता नहीं है। मेरी निर्मल सम्यग्दर्शन की अनुभव की पर्याय में रागादि की किसी की अपेक्षा नहीं है। मैं ही कर्ता स्वतन्त्र हूँ। आहाहा! है ? मैं ही स्वतन्त्र कर्ता हूँ अर्थात् ? कि राग से भिन्न करके चेतक वह मैं कर्ता स्वतन्त्ररूप से वह काम मैंने स्वतन्त्र कर्ता होकर किया है, उसमें किसी की अपेक्षा है नहीं। कर्म शिथिल पड़े या देव-गुरु-शास्त्र मिले तो यह हो, ऐसा नहीं है। आहाहा! ऐसा काम है। मैं ही स्वयं कर्ता हूँ। 'मैं ही' इसमें किसी की अपेक्षा है नहीं। आहाहा!

और वह भी **मेरे द्वारा ही,...** है। करण... करण। मैं मेरे द्वारा काम करता हूँ।

अनुभव, राग से भिन्न पुण्य, दया, दान के विकल्प से भिन्न अनुभव मैं अकेला कर्ता (होकर) मेरे द्वारा अर्थात् स्वयं करण, स्वयं साधन है, दूसरा कोई साधन है नहीं। आहाहा! क्या टीका है न! **मेरे लिए ही,...** वह मैंने अनुभव किया। चेतक को राग से भिन्न किया और चेतक से भिन्न रागादि को जाना, वह मेरे लिये किया है, किसी के लिये काम नहीं। आहाहा! यह सम्प्रदान। मैंने मुझे मेरे लिये मैंने दान दिया। मुझे मैंने दान दिया। आहाहा! यह राग से भिन्न करके चेतक को जाना, यह दान मैंने मुझे लेनेवाला भी मैं और देनेवाला भी मैं। आहाहा!

मेरे लिए ही, मुझसे ही,... यह कोई राग में से निकाला है, ऐसा यह कुछ नहीं। यह मेरे आत्मस्वभाव में से ही मैंने यह निकाला है। आहाहा! अब ऐसा मार्ग। **मुझसे ही,...** आत्मा जो चेतक है चेतक, चेतक चेतनेवाला जो है, वह उससे। उससे मैंने काम लिया है। आहाहा! **मुझसे ही, मुझमें ही,...** आहाहा! मेरे आधार से। मुझमें, मेरे आधार से मैंने काम किया है। मेरे काम के लिये किसी का आधार नहीं है। आहाहा! एक-एक गाथा उत्कृष्ट आती है। आहाहा! ऐसी बात है।

जिसमें आत्मा राग से भिन्न किया है, किया हुआ है, उसकी बात यहाँ चलती है और किया हुआ न हो, उसे भी पहले राग से भिन्न करना। प्रज्ञा द्वारा, अनुभव द्वारा भिन्न करना। और वह करने में कर्तारूप से मैं हूँ। वह भिन्न करने में कर्तापने में दूसरे की किसी की सहायता है नहीं। कर्ता उसे कहते हैं, स्वतन्त्रपने करे, वह कर्ता। वह मैं स्वतन्त्ररूप से कर्ता हूँ। मेरे चेतनास्वभाव को मैंने राग से भिन्न किया, वह मेरे स्वतन्त्र स्वभाव से (किया) और वह मेरे द्वारा (किया)। साधन भी मेरे द्वारा मैंने किया। साधन कोई दूसरा नहीं, उसकी मदद में साधन कोई दूसरा हो, ऐसा नहीं है। आहाहा! और वह मेरे लिये, ऐसा आया न? मेरे द्वारा वह साधन किया, मेरे लिये सम्प्रदान हुआ। दान... दान। मेरे लिये मैंने किया है, मेरे लिये मैंने किया है। किसी के लिये मैंने यह किया है (या) मुझे यह होता है, फिर उपदेश दूँगा, बाद में लोगों को समझाऊँगा, इसके लिये मैंने यह किया है—ऐसा नहीं है। आहाहा! है या नहीं अन्दर? यह मेरे लिये ही। यह भेद करके अनुभव किया, वह मैंने मेरे लिये किया है। अब अनुभव किया, इसलिए दूसरे को समझाऊँगा, उसके लिये अनुभव किया है—ऐसा नहीं है। आहाहा!

मुझसे ही,... अपादान। मेरे में से मैंने यह निकाला है। कहीं पर से नहीं। मुझमें समृद्धि (भरी हुई है)। चैतन्य समृद्धि से भरपूर भगवान है। अपने ज्ञान और आनन्द आदि अनन्त स्वभाव से (भरपूर है)। जिसका स्वभाव है, उसे हद नहीं, ऐसे स्वभाव से भरपूर समृद्धिवाला आत्मा, यह आत्मा। आहाहा! मुझमें से मैंने निकाला है। मैंने भेदज्ञान किया और आत्मा निकाला, वह मुझमें से निकाला है, कहीं पर में से निकाला नहीं। आहाहा!

मुझमें ही,... आधार। मुझमें ही, मेरे आधार से मैंने काम किया है। मेरे आधार से मैंने काम किया है, किसी के आधार से मैंने काम नहीं किया। आहाहा! गाथा तो बहुत ऊँची है। भाषा भी सादी है परन्तु अब भाव ऐसा है। आहाहा! यह सब बाहर की प्रवृत्ति जो है, वह तो एक ओर पड़ी रही। जिसमें विकल्प की प्रवृत्ति से भी भिन्न है, मुझसे वह भिन्न है, इसलिए मेरे उसके लिये कोई साधन, उसकी मदर लेना ऐसा, मैंने मुझमें ही उसके आधार से मैंने कुछ काम किया है (या) राग की मन्दता की... कहाँ गये? देवीलालजी! राग की मन्दता कुछ की है, उसके आधार से मैंने काम लिया है, ऐसा नहीं है न इसमें? आहाहा!

मुझमें ही,... आहाहा! गजब काम करते हैं! आचार्यों ने जगत को तारने के लिये, भगवान कराने को। स्वयं भगवान होनेवाले हैं और भगवान करने को... भगवान होओ सब प्रभु! यह दुःख के रास्ते—पन्थ में न जाओ, नाथ! दुःख के पन्थ में वहाँ तो निगोद और नरक का पन्थ है। जिसके फल में—परभाव के फल में तो क्लेश है। आया था न? यह क्लेशरूपी शरीर है। उसका फल तो नरक और निगोद है। इस रास्ते प्रभु! अब न जा। अब यह रास्ता ले। आहाहा! और भगवान हो! आहाहा! आचार्यों की करुणा....

मुझसे ही,... मैंने यह निकाला है। यह **मुझे ही ग्रहण करता हूँ।** यह कर्म है। कर्म अर्थात् कार्य। मुझे ही ग्रहण किया और मैंने मेरा ही कार्य किया है। यह मैंने मेरा ही कार्य किया है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया? आहाहा! मुझे ही ग्रहण किया अर्थात् कि मैंने मुझे ही अनुभव किया है, मैंने मुझे ही अनुभव किया है, मैंने मेरा ही कार्य किया है। मैंने मेरे अनुभव का कार्य मैंने मुझसे मैंने-मैंने किया है। आहाहा! ऐसी भाषा सुनना... यशपालजी! आहाहा! अलौकिक बात है। सुने तो इसे जँचे तो धीरे-धीरे रुचे, आगे बढ़े परन्तु सुनने को जहाँ मिले नहीं, वहाँ क्या करना? और यह प्राणी भी बेचारा दुःखी हो... आहाहा! यह कहीं ठीक कहलाये? कोई भी प्राणी नरक और निगोद में (जाए वह ठीक

नहीं)। आहाहा! भरे भण्डार में सुखी, वह दुःख में दुःखी हो, यह ठीक होगा? ठीक कहलायेगा? आहाहा!

मुझे ही ग्रहण करता हूँ। अर्थात्? **'ग्रहण करता हूँ' अर्थात् (मुझे ही) 'चेतता हूँ',...** यह कर्म—कार्य है। मैं मेरा ही कार्य करता हूँ। मैं मेरा ही कार्य करता हूँ। अनुभव का—राग से भिन्न का कार्य मैंने मेरे लिये ही मैंने किया है और मेरा वह कार्य है। आहाहा! आचार्यों ने भी कितनी कल्पना—करुणा करके किया है! आहाहा! आयी है कल्पना-विकल्प, परन्तु करुणा में कितना...! आहाहा! ऐसा प्रभु तुझे क्यों नहीं बैठता, पूरी दुनिया की सृष्टि। इस प्रकार से सुनो और इस प्रकार से समझो और उसमें जाओ। वहाँ चले जाओ, ऐसे बाहर में चले गये हो। आहाहा! दोरनारे दोर्या नहीं, तू स्वयं चला गया है। वह तू स्वयं यहाँ अन्दर में चला जा। इसीलिए कहा न यहाँ? कि मैं मुझे ही चेतता हूँ। आहाहा! मेरा कार्य मुझे चेतुं, वह मेरा कार्य है। मेरा दूसरा कोई कार्य है नहीं। राग और व्यवहाररत्नत्रय करना, वह कोई मेरा कार्य नहीं। आहाहा!

लोगों को कठिन लगता है। यह कभी सुना न हो उन्हें तो ऐसा लगे परन्तु बापू! भगवान! तेरा मार्ग तो यह है। दूसरा चाहे जिस प्रकार चढ़ा दिया हो, उस रास्ते प्रभु! सुखी नहीं होगा। क्योंकि सुख का पन्थ तो सुखी स्वयं है। सुख से भरपूर भगवान, अनन्त सुख से भरपूर भगवान है। अतीन्द्रिय अनन्त आनन्द से भरपूर भगवान है। उसे छोड़कर तू दूसरे रास्ते सुखी नहीं होगा। आहाहा! इसके रास्ते जा, तुझे वहाँ आनन्द (होगा) और सुखी होगा। इस सुख के पन्थ में जाने की बात करते हैं। आहाहा! है या नहीं अन्दर? ऐसी बातें हैं।

क्योंकि चेतना ही आत्मा की एक क्रिया है। देखो! आहाहा! गजब करते हैं न! एक ही क्रिया-चेतना, यह एक ही क्रिया आत्मा की है। जानना, देखना, आनन्द की क्रिया—पर्याय यह एक ही क्रिया जीव की है। आहाहा! पर का करना, देह का, वाणी, मन का करना, यह तो कहीं रह गया परन्तु विकल्प का करना भी आत्मा की क्रिया नहीं है। आहाहा! आत्मा की एक क्रिया—**चेतना ही...** निश्चय से कहा यही, एकान्त से यही। क्योंकि चेतना यह एकान्त ही आत्मा की एक क्रिया है। आहाहा! ऐसा तो पढ़ा न हो। पढ़ा होगा तुम्हारे मामा ने? आहाहा! घर में ऐसी वस्तु—निधान पड़े हैं।

चेतना ही आत्मा की एक क्रिया है। इसलिए मैं चेतता ही हूँ;... यह कर्ता

(कहा)। **मैं चेतता ही हूँ; चेतनेवाला ही,...** चेतता ही हूँ। मैं चेतनेवाला चेतूं इतना। **चेतनेवाला ही,...** कर्ता। चेतनेवाला ही—कर्ता। मैं चेतता हूँ, यह चेतनेवाला ही चेतता हूँ। आहाहा! **चेतनेवाले के द्वारा ही,...** चेतता हूँ। यह करण। साधन क्या? चेतनेवाले का साधन क्या? साधन—साधन—कारण क्या? उपाय क्या? कि चेतना द्वारा ही मैं चेतता हूँ, चेतना द्वारा ही चेतता हूँ। आहाहा! ऐसा तो याद रहे, ऐसा (नहीं)। पूछे क्या सुना? कहते थे, कुछ छह कारक थे और ऐसा था और ऐसा था। यह कारक स्कूल में आते हैं। चौथी, पाँचवीं कक्षा... कर्ता, कर्म, करण... सात विभक्तियाँ आती है न? छह विभक्ति और सातवाँ सम्बोधन है। हे मानव! हे मनुष्य! ऐसा करके। यहाँ छह का काम है। चौथी, पाँचवीं पुस्तक में यह आता था, परन्तु वह परीक्षा देकर भूल गये हों, फिर क्या काम हो? परीक्षा मात्र काम होवे न वहाँ? आहाहा!

चेतना द्वारा (यह) करण। चेतना द्वारा ही साधता—चेतता हूँ। चेतनेवाला ही चेतता है। चेतनेवाला ही चेतता है, यह कर्ता। चेतना के द्वारा ही चेतता है (यह) करण। चेतनेवाले के लिये, यह सम्प्रदान / दान, दान दिया, दान दिया। यह स्वयं दान देनेवाला और स्वयं दान लेनेवाला। आहाहा! दूसरे को दान देने की क्रिया, वह कहीं आत्मा नहीं कर सकता। दान की क्रिया, भाव उसमें हो वह शुभ है। भले तीर्थंकरदेव छद्मस्थ हों और आहार-पानी दे, वह क्रिया तो शरीर, जड़ की है परन्तु अन्दर में भाव होता है, वह शुभ है, वह आत्मा की क्रिया नहीं, वह चेतना की क्रिया नहीं। आहाहा!

चेतनेवाले के लिए ही,... मेरे लिये मैं चेतता हूँ। आहाहा! **चेतनेवाले से ही,...** चेतता हूँ। इसमें से। से—में से अपादान है। चेतनेवाले में से—इसमें से मैं चेतता हूँ, राग में से, पुण्य में से नहीं, व्यवहाररत्नत्रय में से चेतता हूँ—यह नहीं। आहाहा! चेतनेवाले में से ही (चेतता हूँ)। जरा सूक्ष्म है। छह बोल सूक्ष्म रखे हैं। पहले थोड़े आये हैं, अभी आयेंगे, अभी विशेष आयेंगे। आहाहा! समय कब मिले? कब अभी सुनने को मिले और कब करे? अरे! समय चला जाता है। आहाहा!

यह मनसुख का लड़का, भाई! सुना न? मनसुख का लड़का गिरकर मर गया। स्वयं उलझन में होगा। मस्तिष्क भी ऐसा साधारण था। विवाह किया था परन्तु उस लड़की को छोड़ दिया। लड़की ऐसी थी। मस्तिष्क ऐसा (था)। डेढ बजे ऊपर से गिरा। आहाहा!

अरेरे! ऐसा मनुष्य देह। जोबालिया के घर में आया और उसे यह हुआ। कहो, गिराया ऊपर से, मर गया। दूसरे नम्बर का। यह हिम्मतभाई का सबसे छोटे में छोटे भाई का लड़का। आहाहा! मनुष्य उलझ जाता है न। आँख में कुछ कच्चा था। ऐसे बाहर दिखाई न दे, मस्तिष्क भी ऐसा था। अरे रे! ऐसी स्थिति। ऐसी स्थिति अनन्त बार हो गयी, भगवान! यह किया नहीं। करने का किया नहीं, नहीं करने में उलझ गया। आहाहा! करने के लिये समय लिया नहीं। जो करना है, उसके लिये समय लिया नहीं। नहीं करने का, उसमें कर सकता नहीं, उसमें अभिमान कर-करके समय बिताया उसी और उसी में। आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि **चेतनेवाले के लिए ही, चेतनेवाले से ही,...** अन्दर में से चेतता हूँ। मैं मुझमें से (चेतता हूँ)। राग में से, पुण्य में से और व्यवहार में से नहीं। तथा **चेतनेवाले में ही, चेतनेवाले को ही चेतता हूँ।** चेतनेवाले में यह आधार आया। आहाहा! वह से—में से अपादान था—चेतना में से। इस चेतनेवाले में (अर्थात्) आधार (हुआ)। मेरे आधार से मैंने चेता है। आहाहा! मेरे आधार से कोई राग का, निमित्त का, देव-गुरु-शास्त्र का आधार कोई है ही नहीं। आहाहा! लोगों को यह कठिन पड़ता है, हों! परन्तु मार्ग तो ऐसा है, प्रभु!

वीतराग तीन लोक के नाथ जिनेश्वर अनन्त तीर्थंकर, वर्तमान बीस तीर्थंकर विराजते हैं। लाखों केवली विराजते हैं। सबकी यह ध्वनि है। आहाहा! उन्हें दुनिया की कुछ पड़ी नहीं। सत्य था, वह बाहर आया। ऐसा सत्य है, भाई! और उसे तू पहुँच न, बापू! इस असत्य में भटककर मर गया भटक-भटक कर। आहाहा! बाहर का उत्साह और बाहर में उत्साह और बाहर में मानों आनन्द और आनन्द आता हो मानो, मजा आता हो, सब बाहर की बातें बोलते चलते बाते करते... मानों ऊपर से देव का पुत्र उतरा... बातें करे। आहाहा! यह घर की पूरी मूल बात रह गयी। आहाहा!

यह यहाँ कहते हैं, **चेतनेवाले से ही, चेतनेवाले में ही,...** आधार। और **चेतनेवाले को ही चेतता हूँ।** यह कर्म, कर्म—कार्य, कार्य। मेरा कार्य तो चेतनेवाले को चेतना है, यह मेरा कार्य है। आहाहा! यह कर दो और यह बड़ा मनुष्य हुआ, इसलिए यह काम करे। गाँव में बड़ा बुजुर्ग हो, सबको सलाह दे और गाँव में विवाद होवे (तो) जाकर मिटावे और मनुष्य बहुत वह कहलाये मनुष्य। बापू! कुछ नहीं है। आहाहा!

यहाँ कहते हैं, **चेतनेवाले में ही, चेतनेवाले को ही चेतता हूँ।** चेतनेवाले को ही, यह कर्म हुआ। कर्म अर्थात् कार्य। चेतनेवाले को ही चेतता हूँ। आहाहा!

मुमुक्षु : ध्रुव स्वभाव को ही चेतता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : अकेला चैतन्यस्वभाव। पर्याय में (चेतता है)। है तो ध्रुव। परन्तु पर्याय में (चेतता है)। यह सब पर्याय की व्याख्या है। छहों कारक पर्याय के हैं। लक्ष्य है भले ध्रुव पर, लक्ष्य ध्रुव पर, ध्येय ध्रुव के ऊपर परन्तु है यह षट्कारक पर्याय के। आहाहा! पर्याय और ध्रुव और क्या (होंगे) दो? आहाहा! कायम रहनेवाली चीज़ जो है, वह ध्रुव कहलाती है और विचार पलटते हैं, पर्यायें बदलती है, वह पर्याय कहलाती है। यह बदले, उसमें छह कारक होते हैं। ध्रुव में तो है नहीं। वे तो षट्कारक शक्तिरूप से हैं। षट्कारक हैं अवश्य, ध्रुव में भी षट्कारक हैं अवश्य परन्तु स्वभाव शक्ति सत्त्व, सत्त्व, सत्त्व रूप से है, अस्तिरूप से है और यह तो परिणमनरूप है। आहाहा! समझ में आया? ध्रुव स्वभाव तो अपरिणमन है। त्रिकाली स्वभाव है, वह अपरिणमन है और यह जो क्रिया चलती है, वह परिणमन की चलती है। लक्ष्य है ध्रुव (के ऊपर), ध्येय ध्रुव है, परन्तु पर्याय में यह षट्कारक परिणमन है। आहाहा!

अथवा... (पहले) षट्कारक कहे। (अब कहते हैं) **अथवा द्रव्यदृष्टि से तो...** वह तो पर्यायदृष्टि से छह कारक की बात की। पर्याय से, पर्याय बदलती है, उसके षट्कारक की बात की। क्योंकि कार्य, कारण सब परिणमन सब इसमें है। परिणमन का कारण, हों! त्रिकाल को कारण कहा जाए, वह तो अपेक्षा से (कहा जाता है)। कारण और करण और कार्य होना और सब साधन और स्वयं पर्याय में ही है, यह सब। आहाहा! समझ में आये ऐसा है, हों! भाषा (सादी है)। क्यों झवेरचन्दभाई! भाषा तो सादी है, समझ में आये ऐसा है। आहाहा! यह करनेयोग्य है, बापू! देह चली जाएगी। आहाहा! है कहाँ? इसका कहाँ था? और इसमें कहाँ था? वह तो देह देह में है। आहाहा! आत्मा की पर्याय में भी देह नहीं। द्रव्य-गुण में तो नहीं परन्तु उसकी पर्याय में देह नहीं। देह तो देह में है। पर्याय में तो राग, द्वेष और विकार है, परन्तु वह भी यहाँ मेरा कर्तव्य नहीं है। मैं तो उसका जाननेवाला-देखनेवाला हूँ। यह भी मुझमें जानने-देखने के स्वभाव द्वारा जानता-देखता हूँ। आहाहा! यह जानने-देखने की षट्क्रिया मेरी मुझसे होती है। यह रागादि है, इसलिए

जानता हूँ, यह नहीं। यह जानने की क्रिया भी मेरी, मुझसे, मेरे कारण मेरी ताकत के कारण होती है। आहाहा! यह पर्याय दृष्टि की छह (कारक की) पहले बात की। कार्य तो पर्याय में होता है न? मोक्ष, संसार, दुःख, संसार की कल्पना, मोक्ष का मार्ग सब पर्याय में होता है, ध्रुव में यह नहीं होता।

अब यहाँ कहते हैं कि पर्याय के षट्कारक भले हो परन्तु द्रव्यदृष्टि से तो छह कारकों के भेद भी मुझमें नहीं है। आहाहा! यह भेद ही नहीं है। मैं तो एकरूप ज्ञायक त्रिकाल हूँ। आहाहा! भले मानती है पर्याय, परन्तु मैं तो एकरूप ज्ञायक हूँ, षट्कारक (परिणाम) मुझमें नहीं है। आहाहा!

मुझमें छह कारकों के भेद भी नहीं हैं, मैं तो शुद्ध चैतन्यमात्र भाव हूँ। देखा? त्रिकाली, हों! मैं तो शुद्ध चैतन्यमात्र भाव हूँ, त्रिकाली चैतन्यमात्र भाव हूँ। आहाहा! यह सम्यग्दर्शन का विषय है, यह सम्यग्दर्शन का ध्येय है। आहाहा! अरे! ऐसी मीठी मधुर बात, अमृत की ऐसी बात सुनने को मिलती नहीं और सुनने को मिले तो ऐसा कहे कि यह तो एकान्त है, एकान्त है और हमारी क्रियाजड़ को क्रियाजड़ कहते हैं। अरे! प्रभु! सुन न, भाई! शरीर की क्रिया तो जड़ है ही, परन्तु यहाँ तो अन्दर दया, दान के विकल्प होते हैं वे जड़ और अचेतन हैं। आहाहा! और क्लेश है। आहाहा! जँचना, न जँचना स्वतन्त्र है। जँचने से ही छुटकारा है, प्रभु! सत् के पन्थ में आये बिना सुखी नहीं हुआ जाएगा, सत् के पन्थ में आये बिना सुखी नहीं हुआ जाएगा। असत् के पथ में आने से दुःख से नहीं छूटेगा। आहाहा! इसमें किसी की सिफारिश चले ऐसा नहीं है। इसमें किसी की कुछ... भाई! हमें बहुत मानते थे और हमारी बहुत महिमा थी, हम बड़े (थे)। तेरी महिमा यहाँ नीचे कहेंगे। यह नीचे कहेंगे।

'**चिन्मुद्राङ्कितनिर्विभागमहिमा...**' यह इसकी महिमा है, महत्ता है। कलश है न कलश? कलश में चौथी लाईन है। कलश। यह तेरी महिमा और महत्ता तो प्रभु! आहाहा! निर्विभाग महिमा वह महत्ता है। अभेद में भाग ही नहीं करना, वह तेरी महत्ता है। आहाहा! बड़ी पदवी मिल गयी राजा की और अमुक की और अमुक की और इसकी (वह महिमा नहीं)। आहाहा! निर्विभाग—षट्कारक के भाग ही नहीं करना—ऐसा अभेद स्वरूप भगवान, वह तेरी महिमा है, वह तेरी महत्ता है। उस महत्ता का अधिकारी,

महत्ता तो तुझे है। उस महत्ता का अधिकारी तू तुझे है। आहाहा! प्रभु! तुझे किसकी महत्ता लेनी है? दुनिया बड़ा कहे और गुणगान करे, उसमें तेरा क्या भला हो ऐसा है? बापू! आहाहा! कहेंगे इसमें। वे षट्कारक कहे अवश्य, इसलिए कहेंगे कि उन षट्कारक से रहित निर्विभाग—जिसके भाग नहीं ऐसी तेरी महिमा है। आहाहा! ऐसा उपदेश भी थोड़ा, परन्तु बापू अमृत है। वस्तु यह है। इसे बैठाना (स्वीकार करना) ही पड़ेगा। आहाहा! सत् के मार्ग में जाने से सत् प्राप्त हो, ऐसा है। असत् के पन्थ में पड़ने से कहीं सत् मिलेगा? माने तो इससे बापू! मिल जाता है कुछ? बापू! भाई! आहाहा!

मुझमें छह कारकों के भेद भी नहीं हैं, मैं तो शुद्ध चैतन्यमात्र भाव हूँ।–इस प्रकार प्रज्ञा के द्वारा आत्मा को ग्रहण करना चाहिए अर्थात् अपने को चेतयिता के रूप में अनुभव करना चाहिए। लो! श्लोक श्लोक १८२ न?

कलश - १८२

अब इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं–

(शार्दूलविक्रीडित)

भित्त्वा सर्वमपि स्वलक्षणबलाद्भेत्तुं हि यच्छक्यते,
चिन्मुद्राङ्कितनिर्विभागमहिमा शुद्धश्चिदेवास्म्यहम्।
भिद्यन्ते यदि कारकाणि यदि वा धर्मा गुणा वा यदि,
भिद्यन्तां न भिदास्ति काचन विभौ भावे विशुद्धे चिति॥१८२॥

श्लोकार्थ : [यत् भेत्तुं हि शक्यते सर्वम् अपि स्वलक्षणबलात् भित्वा] जो कुछ भी भेदा जा सकता है, उस सबको स्वलक्षण के बल से भेदकर, [चिन्मुद्रा-अंकित-निर्विभागमहिमा शुद्धः चिद् एव अहम् अस्मि] जिसकी चिन्मुद्रा से अंकित निर्विभाग महिमा है (अर्थात् चैतन्य की मुद्रा से अंकित विभाग रहित जिसकी महिमा है) ऐसा शुद्ध चैतन्य ही मैं हूँ। [यदि कारकाणि वा यदि धर्माः वा यदि गुणाः भिद्यन्ते, भिद्यन्ताम्] यदि कारक के, अथवा धर्मों के, या गुणों के भेद हों, तो भले हों; [विभौ

विशुद्धे चिति भावे काचन भिदा न अस्ति] किन्तु शुद्ध (–समस्त विभावों से रहित) *विभु, ऐसा चैतन्यभाव में तो कोई भेद नहीं है। (इस प्रकार प्रज्ञा के द्वारा आत्मा को ग्रहण किया जाता है।)

भावार्थ : जिनका स्वलक्षण चैतन्य नहीं है, ऐसे परभाव तो मुझसे भिन्न हैं, मैं तो मात्र शुद्ध चैतन्य ही हूँ। कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरणरूप कारकभेद, सत्त्व, असत्त्व, नित्यत्व, अनित्यत्व, एकत्व, अनेकत्व आदि धर्मभेद और ज्ञान, दर्शन आदि गुणभेद यदि कथंचित् हों तो भले हों, परन्तु शुद्ध चैतन्यमात्र भाव में तो कोई भेद नहीं है।–इस प्रकार शुद्धनय से अभेदरूप आत्मा को ग्रहण करना चाहिए।।१८२।।

कलश - १८२ पर प्रवचन

भित्त्वा सर्वमपि स्वलक्षणबलाद्धेत्तुं हि यच्छक्यते,
चिन्मुद्राङ्कितनिर्विभागमहिमा शुद्धश्चिदेवास्म्यहम्।
भिद्यन्ते यदि कारकाणि यदि वा धर्मा गुणा वा यदि,
भिद्यन्तां न भिदास्ति काचन विभौ भावे विशुद्धे चिति।।१८२।।

आहाहा! देखो न, शब्द रखे हैं! निर्विभाग महिमा। अमृतचन्द्राचार्य ने अमृत बहाया है। आहाहा! उन्हें काष्टासंघी कहते हैं। प्रभु... प्रभु! क्या करता है? भाई! आहाहा! उनकी बात कठिन है, इसलिए बेचारे मानो दूसरे पन्थ में डाल दें और जो साधन बतावे कि व्यवहार साधन है, निश्चय साध्य है, उन्हें परम्परा में डाल दें। आहाहा! परम्परा यह थी, ऐसा कहे। अरे! भगवान! यह पाठ तो टीका पाठ अपना है—कुन्दकुन्दाचार्य का। कुन्दकुन्दाचार्य के अर्थ (किये हैं)। '**पण्णाए घित्तव्वो जो चेदा सो अहं तु णिच्छयदो। अवसेसा जे भावा...**' इसमें से निकाला है। २९७ (गाथा) इसमें से यह सब निकाला। '**पण्णाए घित्तव्वो जो चेदा सो अहं...**' यह तो सिद्धान्त है। आहाहा! कुन्दकुन्दाचार्य का लिखा हुआ है।

* विभु=दृढ़ अचल; नित्य, समर्थ; सर्व गुणपर्यायों में व्यापक।

कलश का अर्थ। **'यत् भेत्तुं हि शक्यते सर्वम् अपि स्वलक्षणबलात् भित्वा' जो कुछ भी भेदा जा सकता है,...** भाषा ऐसी है। **जो कुछ भी भेदा जा सकता है,...** अर्थात् जो कुछ भिन्न किया जा सकता है। **उस सबको स्वलक्षण के बल से भेदकर,...** आहाहा! यह शरीर, वाणी, मन तो परलक्षण है परन्तु दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम भी स्वलक्षण से बन्ध है। आहाहा! जो भेदा जा सकता है **उस सबको स्वलक्षण के बल से भेदकर,...** उसका भेद-व्यवहार का लक्षण दूसरा है, निश्चय का लक्षण दूसरा है। आहाहा!

जो कुछ भी भेदा जा सकता है, उस सबको... आहाहा! षट्कारक कहे, उन्हें भी छोड़ दे। आहाहा! यह अमृतचन्द्राचार्य की टीका कलश है। **स्वलक्षण के बल से भेदकर,...** उनके दोनों के लक्षण भिन्न हैं, उस लक्षण के बल से भिन्न करके। व्यवहार का लक्षण, निश्चय का लक्षण, राग का लक्षण, चैतन्य का लक्षण दोनों के भिन्न लक्षण हैं और भिन्न **स्वलक्षण के बल से भेदकर,...** यों ही नहीं, दोनों के स्वलक्षण के बल से भेद कर। दोनों के लक्षण भिन्न हैं। व्यवहार का लक्षण भिन्न, निश्चय का लक्षण भिन्न। आहाहा! निमित्त का लक्षण अलग, शुद्ध उपादान का लक्षण अलग। आहाहा!

जो कुछ... जो कुछ लिया है न? अर्थात् जितना जो है, (जो) कुछ भेदा जा सकता है वह। जो कुछ अलग किया जा सकता है उसे। पर से भिन्न, राग से भिन्न, षट्कारक से भी भिन्न। आहाहा! उन सर्व को **स्वलक्षण के बल से...** वापस यों ही मुफ्त नहीं। दोनों के लक्षण भिन्न हैं। एक का भेद, एक का अभेद, एक का पर, एक का स्व। एक का अचेतन, एक का चेतन। आहाहा! इन दोनों के लक्षण भिन्न-भिन्न जानकर। आहा!

'सर्वम् अपि स्वलक्षणबलात्' है न? **'बलात्'** शब्द पड़ा है, हों! देखा? **स्वलक्षण के बल से...** दोनों के भिन्न लक्षण के जोर से। भगवान चैतन्य लक्षण से लक्षित है, राग बन्ध लक्षण से लक्षित है। दोनों के स्वलक्षण अपने लक्षण के बल से। लक्षण के जोर से भिन्न पाड़कर। आहाहा! ऐसा उपदेश अब।

'चिन्मुद्रा-अंकित-निर्विभागमहिमा शुद्धः चिद् एव अहम् अस्मि' जिसकी चिन्मुद्रा से अंकित... चिन्मुद्रा (अर्थात्) ज्ञान जिसकी मुद्रा—लक्षण है, ज्ञान जिसकी छाप है, ज्ञान जिसकी मुद्रा है। आहाहा! ज्ञानमुद्रा से अंकित अर्थात् लक्षणवाला। **निर्विभाग**

महिमा है... निर्विभाग महिमा। आहाहा! **(अर्थात् चैतन्य की मुद्रा से अंकित...)** मुद्रा कही थी न? (अर्थात्) **(चैतन्य की मुद्रा से अंकित...)** जाननस्वभाव चैतन्य की छाप से भिन्न, अलग। **(चैतन्य की मुद्रा से अंकित विभाग रहित जिसकी महिमा है)...** भाग जिसका है नहीं, ऐसी जिसे महिमा है। भगवान प्रभु की महिमा का पार नहीं होता, जिसमें भेद की भी जहाँ जरूरत नहीं है। आहाहा! ऐसी जिसकी महिमा है, ऐसा वह महाप्रभु है। आहाहा!

जिसकी ज्ञान छाप, ज्ञान की जिसमें छाप है। रागादि में तो अचेतन की छाप है, बन्ध लक्षण की छाप है। आहाहा! निर्विभाग महिमा (अर्थात्) भाग डालना नहीं जिसमें से ऐसा निर्विभाग। उसकी महिमा है, महत्ता है, महत्ता है। अभेद वह महत्ता है, भेद महत्ता नहीं। आहाहा! वह वस्तु अभेद है, सामान्य है, एक है, ध्रुव है, अचल है, वह एकरूप जिसकी महिमा है। आहाहा! उससे वह महिमा-महत्ता है।

ऐसा शुद्ध चैतन्य ही मैं हूँ। आहाहा! जिसके दो भाग ही नहीं पड़ते, ऐसा शुद्ध चैतन्यमूर्ति वह मैं हूँ। आहाहा! धर्मी को ऐसे मन्थन करके प्राप्त करना। धर्मी को मन्थन से ऐसे भगवान को प्राप्त करना है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! चैतन्य की छाप से लक्षणवाले विभागरहित जिसकी महिमा है। एक तो चैतन्य की छाप कही और दूसरी विभागरहित कही, दो बात की। एक तो चैतन्य चिह्न है, जिसका चैतन्य लक्षण है, चैतन्य जिसकी छाप है, उसमें छाप डाली हुई है। आहाहा! और निर्विभाग जिसकी महिमा है, अभेद जिसकी चीज़ है। आहाहा! अनजाने मनुष्य को ऐसा कठिन लगे। सुना न हो। ऐसा कहेंगे, जैनमार्ग होगा ऐसा? वीतराग मार्ग में तो दया पालो और व्रत करो, ऐसा सुना हो। छोटाभाई! ऐसा कहाँ से निकला? ऐसा? अरे! प्रभु! वीतराग तीन लोक के नाथ जिनेश्वरदेव का तो यह मार्ग है। यह मार्ग है, दूसरा मार्ग नहीं। प्रभु! भले दुनिया माने, मनावे, संख्या चाहे जितनी हो, मार्ग तो यह है प्रभु! आहाहा!

अन्दर भगवान चैतन्य मुद्रा—छापवाला और जिसकी निर्विकार महिमा है। भेद नहीं पड़ना, भेद / विभाग नहीं करना वह उसकी महिमा है। आहाहा! प्रभु की महिमा तो यह है। अभेद, वह उसकी महिमा है। आहाहा! भेद करना, वह उसकी महिमा नहीं। आहाहा! ऐसा शुद्ध है।

चैतन्य मैं हूँ, **ऐसा शुद्ध चैतन्य ही मैं हूँ। 'यदि'** अब आता है, **'कारकाणि वा यदि धर्माः वा यदि गुणाः भिद्यन्ते, भिद्यन्ताम्'** भले छह कारक हों। कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, अधिकरण छह हो। हो, परन्तु मैं तो निर्विभाग अभेद हूँ। आहाहा! ऐसा भाग भले पड़ो तो पड़ो, वस्तु में भाग नहीं है। ऐसी वस्तु अन्दर अखण्ड... आहाहा! चैतन्य वज्र का पिण्ड जिसे राग स्पर्श नहीं करता, भेद नहीं पड़ता। आहाहा! ऐसा अभेद निर्विभाग चैतन्य वह मैं हूँ—ऐसा जानते हुए भले कारक हो। कर्ता, कर्म, करण ऐसे पवित्रता के कारक, हों! अपवित्रता के नहीं। निर्मल परिणति चैतन्य की क्रिया, चैतन्य कर्ता, चैतन्य कर्म, चैतन्य आधार, चैतन्य द्वारा, चैतन्य के लिये, चैतन्य को चेते—यह सब क्रिया भले हो परन्तु मेरे वस्तुस्वरूप में यह नहीं है। आहाहा!

कहाँ तक ले जाना इसे? एक ओर पुण्य से धर्म नहीं, वहाँ ले गये। दया, दान, व्रत और भक्ति, पूजा-बूजा धर्म नहीं है। अब यहाँ से एक तो भड़के। उसमें से और यह षट्कारक में निर्मल परिणति भी तेरी नहीं है, यह (सुनकर) भड़के। आहाहा! अरे! धर्म—अस्तित्व और अनित्य और नित्य ऐसे जो धर्म हों। हो, वे हों, परन्तु वस्तु में यह भेद नहीं है। आहाहा! अस्तित्व आदि धर्म, नित्य-अनित्यादि धर्म और गुण, दर्शन-ज्ञान आदि गुण। ज्ञान, दर्शन, आनन्द यह गुण है और नित्य-अनित्यादि यह धर्म कहलाता है। धर्म अर्थात् उसके अपेक्षित रहनेवाले भाव। हो, कारक हो, भेद हो, धर्म हों। धर्म अर्थात् यह धर्म, हों! उसमें रहे हुए भाव और **गुणों के भेद हों, तो भले हों;...**

'विभौ विशुद्धे' आहाहा! **किन्तु विभु,...** व्यापक। (विभु अर्थात्) दृढ़, अचल, नित्य समर्थ सर्व गुण में व्यापक **ऐसा शुद्ध...** ऐसा जो शुद्ध, विभु ऐसा शुद्ध, दृढ़ ऐसा शुद्ध, अचल ऐसा शुद्ध, नित्य ऐसा शुद्ध, समर्थ ऐसा शुद्ध, सर्व गुण-पर्यायों में व्यापक शुद्ध। **(-समस्त विभावों से रहित)...** आहाहा! **चैतन्यभाव में तो कोई भेद नहीं है।** आहाहा! अकेला चैतन्यमात्र स्वभाव अरूपी परन्तु पदार्थ है न? अरूपी परन्तु सत्ता, चैतन्य सत्ता है न? उसे गुणों के, धर्मों के और कारकों के भेद पड़ो तो पड़ो। वस्तु तो वस्तु है। चेतनामात्र में भेद-बेद हैं नहीं। आहाहा! यह सम्यग्दर्शन का विषय है। आहाहा! यह भेद कारक के गुणों के, धर्मों के भेद भी सम्यग्दर्शन का विषय नहीं। आहाहा!

यहाँ तो सम्यग्दर्शन को देव-गुरु-धर्म की श्रद्धा सम्यग्दर्शन (कहे)। नव तत्त्व की

भेदवाली श्रद्धा (वह सम्यग्दर्शन)। अब व्रत करो तो चारित्र हो जाए। अरे! प्रभु! क्या करता है? जीवन चला जाता है, बापू! यह महँगा पड़े परन्तु एक बार करना पड़ेगा, भाई! आहाहा! दुनिया के साथ नहीं चला जाता। दुनिया दुःख के पर्वत में पड़ती है, तुझसे नहीं पड़ा जाएगा, प्रभु! आहाहा! दुनिया तो दुःख के समुद्र में दौड़ती है। आहाहा! प्रभु! यदि तुझे यह सब करना हो तो यह करना पड़ेगा।

इस **चैतन्यभाव में तो कोई भेद नहीं है।** यह कारक के कारक, छह कारक पर्याय में होते हैं, गुण—ज्ञान, दर्शन, चारित्र हो, नित्य-अनित्य आदि अपेक्षित धर्म हो परन्तु चैतन्यमात्र में तो कुछ भेद नहीं है। **(इस प्रकार प्रज्ञा के द्वारा आत्मा को ग्रहण किया जाता है।)** इस प्रकार ज्ञान अनुभव द्वारा आत्मा को अनुभव करना, यह वस्तु का सार है।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ३६७, गाथा-२९८ से २९९, श्लोक-१८२, गुरुवार, मगसिर कृष्ण १०
दिनाङ्क - १३-१२-१९७९

समयसार, २९७ गाथा के कलश के बाद भावार्थ है। अन्तिम भावार्थ है न? **जिनका स्वलक्षण...** चेतन का स्वलक्षण चैतन्य है, जड़ का चैतन्य लक्ष्य नहीं है। **जिनका स्वलक्षण चैतन्य नहीं है...** (अर्थात् कि) जड़ का। **ऐसे परभाव तो मुझसे भिन्न हैं,...** अर्थात् कि शरीर, वाणी, मन तो भिन्न है परन्तु पुण्य और पाप के भाव में भी चैतन्यपना नहीं है, इसलिए वह मुझसे भिन्न है। आहाहा! **मैं तो मात्र शुद्ध चैतन्य ही हूँ।** धर्मात्मा आत्मा को ऐसा जानता है, अनुभव करता है कि शुद्ध चैतन्य ही मैं हूँ, परभाव मैं नहीं। क्योंकि वे चैतन्य नहीं है। दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम में भी चैतन्यपना नहीं है। वह अन्धकार जड़ है, अचेतन है। आहाहा! **मैं शुद्ध चैतन्य ही हूँ।** एक बात।

कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरणरूप कारकभेद,... जो किया के कारक, भेद। क्रिया के, हों! द्रव्य के नहीं। द्रव्य जो वस्तु है, वह तो शुद्ध चैतन्यवस्तु है। अब यह जो छह कारक हैं, वे पर्याय में होते हैं। कर्ता, कर्म आदि विस्तार

गया है और अभी आएगा। वे षट्कारक भेद भले हों, परन्तु मैं उस रूप नहीं, मैं तो त्रिकाल अभेद हूँ। इस प्रकार सम्यग्दृष्टि को धर्म की भावना ऐसी करना चाहिए। आहाहा! ये कारकभेद भले हों। पर्याय में षट्कारक की परिणति की पर्याय में (कारक) हों। तथा **सत्त्व, असत्त्व, नित्यत्व, अनित्यत्व, एकत्व, अनेकत्व आदि...** धर्म अर्थात् अपेक्षित भाव। नित्यपना अपेक्षित है, नित्यपना गुण नहीं। अनित्यपना अपेक्षित है, (अनित्यपना) कोई गुण नहीं। गुण होवे तो उसकी पर्याय होना चाहिए। अर्थात् नित्य और अनित्य, सत्त्व और असत्त्व अर्थात् अस्तित्व और नास्तित्वपना। अस्तित्व-नास्तित्व गुण है परन्तु वह अस्तित्व, नास्तित्व अपेक्षितपना वह सब **नित्यत्व, अनित्यत्व, एकत्व, अनेकत्व आदि धर्मभेद...** ऐसे आत्मा में अपेक्षित धर्म हो, भले हो कहते हैं।

और ज्ञान, दर्शन आदि गुणभेद यदि कथंचित् हों... धर्म अलग, गुण अलग। धर्म नित्य, अनित्य, एकत्व, अनेकत्व को धर्म कहते हैं। धर्म अर्थात् यह मोक्ष का मार्ग, वह यहाँ बात नहीं है। अन्दर आत्मा में रहे हुए अपेक्षित भाव। यह नित्य, अनित्य, एक, अनेक यह अपेक्षित धर्म हैं और ज्ञान, दर्शन, चारित्र, आनन्द ये इसके कायम रहनेवाले गुण हैं अर्थात् धर्म और गुण में भेद है। गुण अपेक्षा से धर्म हो, अपेक्षित से, परन्तु धर्म वह अपेक्षित गुण नहीं होता। यह सूक्ष्म बात है। आलापपद्धति में यह आया है। गुण है, उन्हें अपेक्षा से कहा जाता है। अपेक्षा से कहे तो धर्म कहा जाता है परन्तु अस्तित्व धर्म को गुण नहीं कहा जाता।

यह भेद हो। **परन्तु शुद्ध चैतन्यमात्र भाव में तो कोई भेद नहीं है।** शुद्ध चैतन्यमात्र द्रव्यस्वभाव जो समकित का विषय है, ऐसा जो शुद्ध चैतन्यमात्र भाव उसमें तो कर्ता, कर्म, करण ऐसे षट्कारक भी नहीं, नित्य-अनित्य अपेक्षित धर्म भी नहीं; ज्ञान, दर्शन गुण भी नहीं। सूक्ष्म बात है। आहाहा! अपूर्व बात है, भाई! यह मोक्ष अधिकार है न? आहाहा!

इस **भाव में तो कोई भेद नहीं है।-इस प्रकार शुद्धनय से अभेदरूप आत्मा को ग्रहण करना चाहिए।** इस प्रकार शुद्धनय से अभेदरूप से आत्मा को अनुभव करना चाहिए। भेद निकाल डालकर (अनुभव करना चाहिए)। रागादि भाव, ... भाव है, वे तो अचेतन कहे। अब इसमें रहे हुए कारक भेद कर्ता, कर्म आदि, अपेक्षित धर्म नित्य, अनित्य

आदि, ज्ञान-दर्शन-गुण आदि। वे भेद हों तो हों, वस्तु में भेद नहीं है। सम्यग्दर्शन का जो विषय आत्मा, सम्यग्दर्शन का जो ध्येय आत्मा, उसमें तो यह धर्म और गुण और भेद तथा षट्कारक के भेद नहीं है। आहाहा! समझ में आया? अभी यहाँ आपत्ति-विवाद बाहर में (करे)। व्यवहार दया, दान और व्रत, भक्ति से कल्याण होगा, उसकी तो यहाँ बात ही नहीं। उसे तो कहते हैं कि वह परभाव अचेतन है। परन्तु चैतन्य में पर्याय में रहे हुए कारक और अपेक्षित धर्म और साक्षात् गुण, यह भेद भी द्रव्य में नहीं है। सम्यग्दर्शन का विषय जो द्रव्य है, उसमें यह भेद नहीं है। समझ में आया? आहाहा!

मुमुक्षु : ऐसा कौन सम्यग्दर्शन का विषय है, जिसमें भेद नहीं है?

पूज्य गुरुदेवश्री : मानता है। यह राग से मानता है और राग से लाभ होगा... तो और गुण-भेद तो कहीं रह गये। दया, दान और व्रत, भक्ति करे, व्रत, अपवास करे तो कल्याण होगा। वह राग तो अचेतन भाव है। उसे अपना मानता है। उसमें कारक भेद की बात तो कहाँ आयी? गुणभेद और धर्मभेद की बात कहाँ रही? आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं कि पर के निमित्त से होनेवाले विकारी भाव, वे तो आत्मा में हैं नहीं परन्तु आत्मा में जो नित्य, अनित्य आदि धर्म हैं ओर कर्ता, कर्म, आदि कारक हैं और गुण हैं, वे भी भेद नहीं। आहाहा! वे सब व्यवहारनय के भेद हैं, निश्चय के विषय में सम्यग्दर्शन का द्रव्य जो विषय है, उस द्रव्य के अभेद में वे भेद नहीं हैं। आहाहा! ऐसा कठिन काम है। **इस प्रकार शुद्धनय से अभेदरूप आत्मा को ग्रहण करना चाहिए।** अनुभव करना चाहिए। अभेद अकेला शुद्ध चैतन्य अभेद धर्म, गुण और कारक के भेद रहित अकेला अभेद है, उसे ग्रहण करना—अनुभव करना। समझ में आया?

गाथा - २९८-२९९

पण्णाए घित्तव्वो जो दट्ठा सो अहं तु णिच्छयदो।
अवसेसा जे भावा ते मज्झ परे त्ति णादव्वा॥२९८॥

पण्णाए घित्तव्वो जो णादा सो अहं तु णिच्छयदो।
अवसेसा जे भावा ते मज्झ परे त्ति णादव्वा॥२९९॥

प्रज्ञया गृहीतव्यो यो द्रष्टा सोऽहं तु निश्चयतः।
अवशेषा ये भावाः ते मम परा इति ज्ञातव्याः॥२९८॥

प्रज्ञया गृहीतव्यो यो ज्ञाता सोऽहं तु निश्चयतः।
अवशेषा ये भावाः ते मम परा इति ज्ञातव्याः॥२९९॥

चेतनाया दर्शनज्ञानविकल्पानतिक्रमणाच्चेतयितृत्वमिव द्रष्टृत्वं ज्ञातृत्वं चात्मनः स्वलक्षणमेव। ततोऽहं द्रष्टारमात्मानं गृह्णामि। यत्किल गृह्णामि तत्पश्याम्येव; पश्यन्नेव पश्यामि, पश्यतैव पश्यामि, पश्यते एव पश्यामि, पश्यत एव पश्यामि, पश्यत्येव पश्यामि, पश्यन्तमेव पश्यामि। अथवा न पश्यामि; न पश्यन् पश्यामि, न पश्यता पश्यामि, न पश्यते पश्यामि, न पश्यतः पश्यामि, न पश्यति पश्यामि, न पश्यन्तं पश्यामि; किन्तु सर्वविशुद्धो दृङ्मात्रो भावोऽस्मि।

अपि च ह्यज्ञातारमात्मानं गृह्णामि। यत्किल गृह्णामि तज्जानाम्येव; जानन्नेव जानामि, जानतैव जानामि, जानते एव जानामि, जानत एव जानामि, जानत्येव जानामि, जानन्तमेव जानामि। अथवा न जानामि; न जानन् जानामि, न जानता जानामि, न जानते जानामि, न जानतो जानामि, न जानति जानामि, न जानन्तं जानामि; किन्तु सर्वविशुद्धो ज्ञप्तिमात्रो भावोऽस्मि।

ननु कथं चेतना दर्शनज्ञानविकल्पौ नातिक्रामति येन चेतयिता द्रष्टा ज्ञाता च स्यात् ?

उच्यते ह्य चेतना तावत्प्रतिभासरूपा; सा तु, सर्वेषामेव वस्तूनां सामान्यविशेषात्मकत्वात्, द्वैरूप्यं नातिक्रामति। ये तु तस्या द्वे रूपे ते दर्शनज्ञाने। ततः सा ते नातिक्रामति।

यद्यतिक्रामति, सामान्यविशेषातिक्रान्तत्वाच्चेतनैव न भवति। तदभावे द्वौ दोषौ ह्य

स्वगुणोच्छेदा-च्चेतनस्याचेतनतापत्तिः, व्यापकाभावे व्याप्यस्य चेतनस्याभावो वा। ततस्तद्दोषभयाद्दर्शनज्ञानात्मिकैव चेतनाभ्युपगन्तव्या ॥२९८-२९९॥

(आत्मा को शुद्ध चैतन्यमात्र तो ग्रहण कराया; अब सामान्य चेतना दर्शन-ज्ञानसामान्यमय है, इसलिए अनुभव में दर्शनज्ञानस्वरूप आत्मा को इस प्रकार अनुभव करना चाहिए-सो कहते हैं-)

कर ग्रहण प्रज्ञा से नियत, दृष्टा है सो ही मैं हि हूँ।
अवशेष जो सब भाव हैं, मेरे से पर ही जानना॥२९८॥

कर ग्रहण प्रज्ञा से नियत, ज्ञाता है सो ही मैं हि हूँ।
अवशेष जो सब भाव हैं, मेरे से पर ही जानना॥२९९॥

गाथार्थ : [प्रज्ञया] प्रज्ञा के द्वारा [गृहीतव्यः] इस प्रकार ग्रहण करना चाहिए कि- [यः दृष्टा] जो देखनेवाला है, [सः तु] वह [निश्चयतः] निश्चय से [अहं] मैं हूँ, [अवशेषाः] शेष [ये भावाः] जो भाव हैं, [ते] वे [मम पराः] मुझसे पर हैं [इति ज्ञातव्याः] ऐसा जानना चाहिए।

[प्रज्ञया] प्रज्ञा के द्वारा [गृहीतव्याः] इस प्रकार ग्रहण करना चाहिए कि-[यः ज्ञाता] जो जाननेवाला है, [सः तु] वह [निश्चयतः] निश्चय से [अहं] मैं हूँ, [अवशेषाः] शेष [ये भावाः] जो भाव हैं, [ते] वे [मम पराः] मुझसे पर हैं [इति ज्ञातव्याः] ऐसा जानना चाहिए।

टीका : चेतना दर्शनज्ञानरूप भेदों का उल्लंघन नहीं करती है इसलिए, चेतकत्व की भाँति दर्शकत्व और ज्ञातृत्व आत्मा का स्वलक्षण ही है। इसलिए मैं देखनेवाला आत्मा को ग्रहण करता हूँ। 'ग्रहण करता हूँ' अर्थात् 'देखता ही हूँ'; देखता हुआ ही देखता हूँ, देखते हुए के द्वारा ही देखता हूँ, देखते हुए के लिए ही देखता हूँ, देखते हुए से ही देखता हूँ, देखते हुए में ही देखता हूँ, देखते हुए को ही देखता हूँ। अथवा-नहीं देखता; न देखते हुए को देखता हूँ, न देखते हुए के द्वारा देखता हूँ, न देखते हुए के लिए देखता हूँ, न देखते हुए से देखता हूँ, न देखते हुए में देखता हूँ, न देखते हुए को देखता हूँ; किन्तु मैं सर्वविशुद्ध दर्शनमात्र भाव हूँ। और इसीप्रकार-मैं जाननेवाले आत्मा को ग्रहण करता हूँ। 'ग्रहण करता हूँ' अर्थात् 'जानता ही हूँ'; जानता हुआ ही जानता हूँ, जानते हुए के द्वारा ही जानता हूँ, जानते हुए के लिए ही जानता हूँ, जानते हुए से ही जानता हूँ, जानते हुए में ही जानता हूँ, जानते हुए को ही जानता हूँ। अथवा-नहीं

जानता; न जानते हुए को जानता हूँ, नहीं जानते हुए के द्वारा जानता हूँ, न जानते हुए के लिए जानता हूँ, न जानते हुए से जानता हूँ, न जानते हुए में जानता हूँ, न जानते हुए को जानता हूँ, किन्तु मैं सर्वविशुद्ध ज्ञप्ति (-जाननक्रिया) मात्र भाव हूँ। (इस प्रकार देखनेवाले आत्मा को तथा जाननेवाले आत्मा को कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरणरूप कारकों के भेदपूर्वक ग्रहण करके, तत्पश्चात् कारकभेदों का निषेध करके आत्मा को अर्थात् अपने को दर्शनमात्र भावरूप तथा ज्ञानमात्र भावरूप अनुभव करना चाहिए अर्थात् अभेदरूप से अनुभव करना चाहिए।

(भावार्थ : इन तीन गाथाओं में, प्रज्ञा के द्वारा आत्मा को ग्रहण करने को कहा गया है। 'ग्रहण करना' अर्थात् किसी अन्य वस्तु को ग्रहण करना अथवा लेना नहीं है; किन्तु चेतना का अनुभव करना ही आत्मा का 'ग्रहण करना' है। पहली गाथा में सामान्य चेतना का अनुभव कराया गया है। वहाँ, अनुभव करनेवाला, जिसका अनुभव किया जाता है वह, और जिसके द्वारा अनुभव किया जाता है वह-इत्यादि कारक भेदरूप से आत्मा को कहकर, अभेदविवक्षा में कारकभेद का निषेध करके, आत्मा को एक शुद्ध चैतन्यमात्र कहा गया है।

अब इन दो गाथाओं में दृष्टा तथा ज्ञाता का अनुभव कराया है, क्योंकि चेतना-सामान्य दर्शनज्ञानविशेषों का उल्लंघन नहीं करती। यहाँ भी, छह कारकरूप भेद-अनुभवन कराके, और तत्पश्चात् अभेद-अनुभवन की अपेक्षा से कारकभेद को दूर कराके, दृष्टाज्ञातामात्र का अनुभव कराया है।)

टीका : यहाँ प्रश्न होता है कि-चेतना दर्शनज्ञानभेदों का उल्लंघन क्यों नहीं करती कि जिससे चेतनेवाला दृष्टा तथा ज्ञाता होता है? इसका उत्तर कहते हैं-प्रथम तो चेतना प्रतिभासरूप है। वह चेतना द्विरूपता का उल्लंघन नहीं करती, क्योंकि समस्त वस्तुएँ सामान्य-विशेषात्मक हैं। (सभी वस्तुएँ सामान्य-विशेषस्वरूप हैं। इसलिए उन्हें प्रतिभासनेवाली चेतना भी द्विरूपता का उल्लंघन नहीं करती।) उसके जो दो रूप हैं, वे दर्शन और ज्ञान हैं। इसलिए वह उनका (-दर्शन-ज्ञान का) उल्लंघन नहीं करती। यदि चेतना दर्शन-ज्ञान का उल्लंघन करे तो सामान्य-विशेष का उल्लंघन करने से चेतना ही न रहे (अर्थात् चेतना का अभाव हो जायेगा)। उसके अभाव में दो दोष आते हैं-(१) अपने गुण का नाश होने से चेतन को अचेतनत्व आ जाएगा, अथवा (२) व्यापक (चेतना) के अभाव में व्याप्य ऐसा चेतन (आत्मा) का अभाव हो जाएगा। इसलिए उन दोषों के भय से चेतना को दर्शन-ज्ञानस्वरूप ही अंगीकार करना चाहिए।

गाथा - २९८-२९९ पर प्रवचन

कोष्ठक में। **(आत्मा को शुद्ध चैतन्यमात्र तो ग्रहण कराया; अब सामान्य चेतना...)** जो चेतना जो आत्मा का त्रिकाल गुण है, उस चेतना के दो प्रकार हैं। आत्मा में चेतना नाम का गुण त्रिकाल है, उस चेतना गुण में दो प्रकार हैं—दर्शन और ज्ञान। आहाहा! **(दर्शन-ज्ञानसामान्यमय है, इसलिए अनुभव में दर्शनज्ञानस्वरूप आत्मा को इस प्रकार अनुभव करना चाहिए-सो कहते हैं-)** २९८ और २९९।

पण्णाए घित्तव्वो जो दट्ठा सो अहं तु णिच्छयदो।
अवसेसा जे भावा ते मज्झ परे त्ति णादव्वा॥२९८॥

पण्णाए घित्तव्वो जो णादा सो अहं तु णिच्छयदो।
अवसेसा जे भावा ते मज्झ परे त्ति णादव्वा॥२९९॥

हरिगीत।

कर ग्रहण प्रज्ञा से नियत, दृष्टा है सो ही मैं हि हूँ।
अवशेष जो सब भाव हैं, मेरे से पर ही जानना॥२९८॥

कर ग्रहण प्रज्ञा से नियत, ज्ञाता है सो ही मैं हि हूँ।
अवशेष जो सब भाव हैं, मेरे से पर ही-जानना॥२९९॥

इसकी टीका। थोड़ा सूक्ष्म विषय है, ठेठ का सूक्ष्म विषय ले गये हैं। विकार तो है नहीं परन्तु भेद भी वस्तु में नहीं है। तब कहते हैं, वस्तु है, उसमें दो भेद है न? आत्मा चेतना वस्तु है, उसमें दो भेद हैं न? (तो कहते हैं), वह भेद तो बराबर है, वह भेद नहीं है—ऐसा नहीं है। वे भेद निकाल डाले—कारकों के, धर्म के, गुण की अपेक्षा के निकाल डाले परन्तु आत्मा चेतनागुण है, उस चेतना के दो प्रकार हैं—दर्शन और ज्ञान। उन दो में से भेद निकाल डालना और एक ही रखना, ऐसे नहीं रहता। दोनों उसका—वस्तु का स्वरूप ही है। आहाहा! समझ में आया? सब भेद निकाल डालने से यह भेद भी निकाल डालना, ऐसा नहीं—ऐसा कहते हैं। यह भेद निकाल डालने से पूरी चेतना का नाश होता है। यह चेतना ही दो प्रकार से है, आत्मा का जो जानना-देखना—ऐसा चेतकस्वभाव वह दो प्रकार से है, दर्शन और ज्ञान। है? टीका आयी न?

टीका :– चेतना दर्शनज्ञानरूप भेदों का उल्लंघन नहीं करती है... क्या कहते हैं ? कि तुमने इतने सब भेद निकाल डाले परन्तु यह भेद नहीं निकल सकता। गुणभेद निकाल डाले, धर्मभेद निकाल डाले, विकार निकाल डाला परन्तु चेतना के दो प्रकार हैं— ज्ञान और दर्शन, यह नहीं निकल सकता। यह तो उसका स्वरूप ही है। समझ में आया ? आहाहा! ऐसी दया पालना और व्रत पालना सीधा-सट्ट था। ऐसी सूक्ष्म बातें। सीधा था भटकने का। राग की क्रिया तो क्लेश और दुःख है, चाहे तो भगवान की भक्ति हो, व्रत, नियम हो, वह राग है और राग है, वह क्लेश है। क्लेश है, वह दुःख है। आहाहा! उसकी बात तो एक ओर रही परन्तु यहाँ तो कहते हैं कि उसमें जो गुणभेद लिये और धर्मभेद और कारणभेद रहे, वे भी निकाल डाले। वे निकाल डालने पर साथ ही चेतना के दो भेद हैं, वे नहीं निकाले जा सकते, वह तो उसका स्वरूप है। समझ में आया ?

चेतना दर्शनज्ञानरूप भेदों का उल्लंघन नहीं करती है इसलिए, चेतकत्व की भाँति... चेतना जैसे आत्मा में त्रिकाल है, वैसे चेतना का **दर्शकत्व और ज्ञातृत्व आत्मा का स्वलक्षण ही है।** आहाहा! गुणभेद बहुत निकाल डाले। गुण, दर्शन, चारित्र और ऐसे बहुत (भेद निकाल डाले) परन्तु यह चेतना जो है, इसके दो भेद को नहीं निकाला जा सकता। यह उसका स्वभाव है। आहाहा! क्या शैली! समझ में आया ? आहाहा!

यह **चेतना दर्शनज्ञानरूप भेदों का उल्लंघन नहीं करती है इसलिए, चेतकत्व की भाँति...** जैसे चेतन, चेतना त्रिकाल एकरूप है और वह जीव का स्वरूप है, वैसे यह दर्शनपना और ज्ञानपना आत्मा का स्वलक्षण ही है। उसका स्वरूप ही यह है। भले दो प्रकार हो, दर्शन और ज्ञान, परन्तु उसका स्वरूप ही यह है। बहुत सूक्ष्म है, बापू! अब इसके षट्कारक सूक्ष्म आऐंगे। आहाहा!

इसलिए मैं देखनेवाला आत्मा को ग्रहण करता हूँ। देखनेवाले आत्मा को ग्रहण—अनुभव करता हूँ। धर्मी ऐसा कहता है, मैं तो देखनेवाले आत्मा को अनुभव करता हूँ, भेद को नहीं। राग को तो नहीं परन्तु कारक भेद को और गुणभेद को, धर्मभेद को नहीं। आहाहा! परन्तु चेतना के भेद को मैं अनुभव करता हूँ। क्योंकि वह तो मेरा स्वलक्षण स्वरूप ही है, भले दो हो, दर्शन और ज्ञान। आहाहा! स्याद्वाद की शैली तो देखो!

चेतकत्व की भाँति दर्शकत्व और ज्ञातृत्व आत्मा का स्वलक्षण ही है।

इसलिए मैं देखनेवाले आत्मा को ग्रहण करता हूँ। अनुभव करता हूँ। देखनेवाला जो भगवान आत्मा, उसे ही मैं तो देखता हूँ। **'ग्रहण करता हूँ' अर्थात् 'देखता ही हूँ';...** आहाहा! **देखता हुआ ही देखता हूँ,...** यहाँ से शुरु हुआ। कर्ता, यह कर्ता है। देखता ही, देखता हुआ देखता हूँ, मेरे स्वरूप को देखता हुआ देखता हूँ। आहाहा! है? दूसरी बात तो निकाल डाली परन्तु यह बात तो रखी। इसमें दो है। इसलिए कहते हैं कि देखनेवाला, उसे देखता हूँ, देखता ही देखता हूँ। यह कर्ता है। यह कर्ता, कर्म, करण छह कारक है उनमें पहला यह कर्ता है। आहाहा! देखता हुआ देखता हूँ। मैं तो कर्ता स्वतन्त्ररूप से देखता हुआ देखता हूँ। मेरे देखने में कोई पर की अपेक्षा नहीं है। आहाहा! अब ऐसा सूक्ष्म। व्यवहार के रसवाले को ऐसा सूक्ष्म एकान्त लगे। कहा न?

देखता हुआ ही देखता हूँ,... यह कर्ता। देखता हुआ अर्थात् देखता ही, देखता हुआ देखता हूँ। आहाहा! मैं देखता हुआ देखता हूँ। मैं पर की अपेक्षा से और आँख तथा पाँच इन्द्रिय की अपेक्षा से देखता हूँ, यह नहीं। आहाहा! मैं पर को देखता हूँ, यह नहीं। थोड़ा सूक्ष्म है। देखता हुआ ही देखता हूँ, यह कर्ता है। मैं स्वतन्त्ररूप से देखता हुआ देखता हूँ, मेरे देखने के लिये किसी की अपेक्षा नहीं है। आहाहा! मेरे, मुझे देखने के लिये किसी की अपेक्षा नहीं है, ऐसा कहते हैं। मुझे मेरे देखने के लिये, कर्तापने में स्वतन्त्ररूप से कर्ता होने से मेरे देखने में किसी की अपेक्षा नहीं है। आहाहा! अब ऐसी बातें।

देखता हुआ ही देखता हूँ,... एक बात। **देखते हुए के द्वारा ही देखता हूँ,...** पर द्वारा देखता हुआ, यह नहीं, इन्द्रियों द्वारा नहीं, मन द्वारा नहीं, परपदार्थ द्वारा देखता हुआ पर को देखता हूँ—ऐसा भी नहीं। आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई! वीतराग की अपूर्व बात है। सर्वज्ञ वीतराग जैसा (ऐसा) सूक्ष्म मार्ग है, कि जगत को एकान्त जैसा लगता है। एकान्त है, एकान्त है, ऐसा करते हैं, लोग कहते हैं। बात सच्ची है। सम्यक् एकान्त यही है। देखता हुआ देखता हूँ। मैं कर्ता देखता हुआ, स्वतन्त्ररूप से देखता हुआ, देखता हूँ। मेरे देखने में पर की कोई अपेक्षा है ही नहीं। आहाहा! मुझे मेरे देखने के लिये पर की अपेक्षा है ही नहीं। इन्द्रियों की, मन की, राग की या भेद की अपेक्षा है ही नहीं। आहाहा! ऐसा स्वरूप अब। ऐसा पचाना। पूरे दिन धन्धे में निवृत्ति नहीं मिलती। आहाहा! यह तुम्हारे उस लड़के की बात थी? तब पूरे दिन दुकान में बैठा था। दुकान में बैठा था पूरे दिन। रात्रि डेढ़ बजे, गिरा और मर गया। आहाहा!

यह पहला बोल कर्ता का बोल है। कर्ता उसे कहते हैं कि स्वतन्त्ररूप से करे, वह कर्ता। पर की अपेक्षा रखे बिना निरपेक्षरूप से, स्वतन्त्ररूप से कर्ता होकर करे, उसका नाम कर्ता। अतः कहते हैं कि मैं तो देखता हुआ देखता हूँ, पर की अपेक्षा रखे बिना देखता हुआ देखता हूँ। आहाहा!

देखते हुए के द्वारा ही देखता हूँ,... यह करण—साधन आया, कि देखनेवाले को साधन क्या? देखनेवाला देखता है, उसे साधन क्या? कि देखने द्वारा, मेरे देखने द्वारा मेरा साधन है। आहाहा! मुझे देखने के लिये मेरा साधन है। आहाहा! बहुत ध्यान रखे तो पकड़ में आये ऐसा है, बापू! यह तो पूरा मार्ग बहुत अलग है। आहा! **देखते हुए के द्वारा ही देखता हूँ,...** मेरा स्वभाव देखना है। यह देखना है, वही मेरा स्वरूप। देखते के लिये देखता हूँ, देखते द्वारा (देखता हूँ)। देखते हुए देखूँ, यह कर्ता। देखते द्वारा देखूँ, यह करण—साधन। देखने में मेरा साधन क्या? कि साधन मैं। मैं साधन, दूसरा कोई साधन नहीं। **देखते हुए के द्वारा ही देखता हूँ,...** आहाहा! सुनना, यह याद रखना वापस मुश्किल। आहाहा!

देखते हुए के लिए ही देखता हूँ,... तीसरा बोल। देखते के लिये, मेरे लिये देखता हूँ, पर के लिये देखता हूँ—ऐसा नहीं है। मैं मेरे लिये मुझे देखता हूँ। मैं पर को देखता हूँ, यह बात है नहीं। आहाहा! अब ऐसी बात, फिर लोग एकान्त कहे न? वस्तु ऐसी है। क्या कहा यह? **देखते हुए के द्वारा ही देखता हूँ,...** देखनेवाले के द्वारा देखता हूँ। मेरा कोई साधन इन्द्रिय और मन और पुस्तक और पृष्ठ, इनसे दिखता है, ऐसा नहीं है। आहाहा! **देखते हुए से ही...** 'ही' है न? उसमें भी 'ही' था। **देखते हुए में ही देखता हूँ,..** यह 'ही' था। कर्ता, कर्ता। **देखते हुए के द्वारा ही देखता हूँ,...** यह कर्ता स्वतन्त्र ही। **देखते हुए को ही देखता हूँ।** देखते के द्वारा ही देखता हूँ, देखनेवाले के द्वारा देखता हूँ। यह परवस्तु कुछ देखनेवाली नहीं। उसके द्वारा मैं पर को तो देखता नहीं परन्तु मैं पर द्वारा मुझे देखता नहीं। मैं तो मेरे द्वारा मुझे देखता हूँ। आहाहा! ऐसा सूक्ष्म है। भाषा तो सादी है, भाषा पकड़ में आये ऐसी है। नहीं पकड़ में आये, ऐसी नहीं। क्या न पकड़े आत्मा? आहाहा!

देखते हुए के द्वारा ही देखता हूँ। देखनेवाले के द्वारा देखता हूँ। इन्द्रियों द्वारा और

पर द्वारा मैं देखता नहीं। आहाहा! यह आँखें हैं, मन है, इसलिए देखता हूँ? नहीं। मैं तो देखते के द्वारा देखता हूँ। मेरा साधन तो मुझमें है। मेरा कर्तापना पहले यह भी मैं और साधन भी मैं हूँ। मेरा साधन देखने के लिये दूसरा कोई साधन है नहीं। आहाहा! आज थोड़ा सूक्ष्म आया है। यह सब आये हैं हमारे कान्तिभाई और दोनों। आज नया है।

कहते हैं कि मैं मेरे द्वारा देखता हूँ। आहाहा! और **देखते हुए में ही देखता हूँ,...** देखते के लिये देखता हूँ, किसी के लिये देखता हूँ—ऐसा नहीं। मैं देखता हूँ तो कुछ मुझे लिखने में काम आयेगा, जानने में-लिखने में आयेगा, मैं जान लूँ तो पुस्तक बनाने में काम आयेगा, ऐसा नहीं है। आहाहा! झेलना कठिन पड़े। क्या कहा यह? **देखते हुए के लिये ही देखता हूँ,...** देखनेवाला जो आत्मा, उसके लिये मैं देखता हूँ, किसी के लिये मैं देखता नहीं। आहाहा! मुझे आवे तो मैं लिखूँ, मुझे आवे तो मैं दूसरे को समझा दूँ, आवे तो मैं कुछ पुस्तकों की रचना करूँ, यह मुझमें कुछ है ही नहीं। आहाहा! थोड़ा परन्तु सत्त्व सत् है। थोड़ा परन्तु थोड़े शब्द में भी परम सत्य है। सर्वज्ञ भगवान जिनेश्वरदेव का कहा हुआ सत्य परन्तु बहुत सूक्ष्म है, बापू! अपूर्व बात है। **देखते हुए में ही देखता हूँ,...** यह सम्प्रदान है। षट्कारक में पहला कर्ता था, पश्चात् करण था, फिर यह सम्प्रदान लिया। मेरे लिये देखता हूँ, मैं देखता हूँ यह किसी के लिये नहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : पुत्र-पुत्रियों का काम कब करे?

पूज्य गुरुदेवश्री : पुत्र-पुत्री थे कब? यहाँ पुत्र-पुत्री नहीं। परन्तु यहाँ तो शास्त्र लिखने के लिये जान लूँ, ऐसा भी नहीं—ऐसा कहते हैं। बहुत देख लूँ (तो) शास्त्र लिखे जाएँ, यहाँ तो ऐसा भी नहीं। आहाहा! बहुत देख लूँ तो फिर बात अच्छी प्ररूपणा हो सके, शास्त्रसभा भर सके, इसके लिये मैं नहीं देखता। आहाहा!

मुमुक्षु : आनन्द प्राप्त करने के लिये देखता हूँ?

पूज्य गुरुदेवश्री : अपने लिये ही। भाई! जो कुछ आनन्द कहो, देखना कहो, श्रद्धा कहो, समकित कहो, अपनी पर्याय, अपने को देखने के लिये मैं देखता हूँ। मेरे लिये मैं देखता हूँ। मुझे मेरे लिये देखता हूँ, मैं किसी के लिये देखता हूँ, यह है नहीं। आहाहा! है या नहीं? सामने पुस्तक है?

मुमुक्षु : उसमें है, परन्तु समझ में नहीं आता। आप समझाओ।

पूज्य गुरुदेवश्री : सन्तों ने तो बहुत करुणा की है, दिगम्बर सन्तों ने.... ओहोहो! सत्य की इतनी अधिक प्रसिद्धि रखी, उन्हें दुनिया की दरकार नहीं। इस प्रकार से कहने पर दुनिया हमें एकान्त मान लेगी या नहीं और एकान्त कहेगी या नहीं, इसकी दरकार उन्हें नहीं है। वस्तु सत्य यह है। आहाहा! क्या आया?

यह तीसरा बोल आया न? **देखते हुए के लिये ही...** ऐसा शब्द है न? सबमें 'ही' है। मेरे लिये ही देखता हूँ। आहाहा! मुझे याद रहे तो मैं पुस्तक लिख सकूँ, याद रहे तो मैं व्याख्यान कर सकूँ। (इस प्रकार पर के) लिये मैं नहीं देखता। आहाहा! देवीलालजी! ऐसी बातें हैं, बापू! आहाहा! वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर के अतिरिक्त यह बात कहीं है नहीं। परन्तु इसे समझनेवाले उनके सम्प्रदाय में रहे हुए समझनेवाले कोईक होते हैं। आहाहा! ऐसी चीज़, बापू! बहुत सूक्ष्म तथापि.... आहाहा!

धर्मध्यान का अवाय विचार करते हुए धर्मी विचार करता है, सब भगवान होओ, कोई विरुद्ध न रहो, दुःख न रहो, प्रभु! सब आत्मा भगवान होओ! धर्मध्यान का अवाय बोल है। धर्मध्यान आज्ञाविचय, अवायविचय, विपाकविचय उसमें—द्रव्य संग्रह में ऐसा बोल लिया कि मेरा भी पूरा पड़ जाओ, पूरा हो जाओ। सब भगवान होओ। कोई विरोधी न रहो, कोई अल्प में न रहो, कोई विपरीत दशा में न रहो। सब भगवान हैं, भगवान हो जाओ। आहाहा! ऐसी बात है।

यह तीसरा बोल हुआ न? देखते के लिये ही देखता हूँ, यह सम्प्रदान हुआ। अर्थात्? मैं मेरे लिये देखता हूँ, मैं देखकर वह पर्याय मुझमें रखता हूँ। लेनेवाला भी मैं और देनेवाला भी मैं। मैं लेनेवाला और देनेवाला किसी को, ऐसा नहीं। आहाहा! मेरे देखने का लेनेवाला भी मैं और देनेवाला भी मैं। आहाहा! डोला डाला है इसे, हिला डाला है इसे। फाट... फाट... अन्दर अभेद और भेद के बीच छैनी मार, अभेद भगवान ऐसा है। आहाहा! और वह भी सर्व भगवान होओ। कोई विरुद्ध में न रहो, दुःख में न रहो, बापू! तुम दुःख में रहो, यह कहीं अनुमोदन योग्य है? या यह बहुत विपरीत श्रद्धा करता है, इसलिए बहुत दुःखी होगा। अरे! भाई! दुःखी न होओ, प्रभु! सुखी होओ। आहाहा! सत् के मार्ग में आ जाओ, सुखी होओ। आहाहा! 'सर्वे जीवा', ऐसा शास्त्र में पाठ है। आहाहा!

मुमुक्षु : ऐसी करुणा तो रखनी न ?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह अकषाय करुणा है। यह ज्ञाता-दृष्टा का अकषाय स्वभाव ऐसा है। मैं पूर्ण ज्ञाता हो गया, ज्ञाता पूर्ण हो जाए। आहाहा! मैं भी पूर्ण ज्ञाता-दृष्टा हो जाऊँ, सब भगवान (हो जाओ)। परन्तु अभव्य ? अभव्य-भव्य मुझे दशा में लक्ष्य नहीं है। वह भी आत्मा है। आहाहा! विषमता कुछ न रहो, विरुद्धता कुछ न रहो। सब प्रभु बन जाओ। आहाहा! धर्मध्यान का बोल लिया है। द्रव्यसंग्रह में अवायविचय (आता है)। आहाहा! ऐसे दो, तीन बोल हैं। सर्व जीव ऐसा करो, यह बोल है समयसार में और ३८ गाथा में सर्व जीव इसमें आ जाओ। 'मज्जम' लोकालोक जाननेवाला आत्मा, यहाँ आ जाओ, आ जाओ, अन्यत्र न जाओ। आहाहा! वीतराग मार्ग, बापू! यह कहीं धमाल की बात नहीं है। धमाल हो, बड़े भाषण दे, लोग बहुत एकत्रित हो, इसलिए वीतरागता बढ़ जाए, ऐसी यह चीज़ नहीं है, प्रभु! आहाहा!

मैं कुछ पढ़ जाऊँ तो कहना हो, मेरा गुजारा चले, आजीविका चले और मुझे कुछ मुझे दुनिया में रहना है, निभ सकूँ, इसके लिये मैं देखता नहीं। आहाहा! जवाबदारी की शर्तें देते हैं। यशपालजी! शर्तें देते हैं, शर्तें। प्रभु! तुझे कल्याण करना हो तो यह शर्त है, यह शर्त रख। आहाहा!

देखते हुए के लिये ही देखता हूँ,... आहाहा! **देखते हुए से ही देखता हूँ,...** अपादान। मेरे मैं से देखता हूँ। पर में से कुछ देखता नहीं। परवस्तु के सामने देखा जाता है, इसलिए उसमें से यहाँ दिखता है, ऐसा नहीं है। वह मुझमें से दिखता है। आहाहा! यह परवस्तु ज्ञात होती है ? तो (कहते हैं) नहीं, नहीं। यह तो ज्ञान की पर्याय और दर्शन की पर्याय यहाँ होती है, वह ज्ञात होती है। आहाहा! उस देखते में से दिखता है। देखनेवाला है, उसमें से दिखता है। यह दूसरी चीज़ें यह कुछ वह चीज़ दूसरी चीज़ नहीं कि देखनेवाला देखे। आहाहा! एक बार तो हिला डालते हैं, संसार भुला दे। आहाहा!

यह चौथा बोल है। **देखते हुए से ही देखता हूँ,...** 'मैं से ही' यह अपादान है। उससे... उससे... उससे... इससे। इसके द्वारा। ऐसे आत्मा से, आत्मा द्वारा। आत्मा से आत्मा द्वारा। आहाहा! आत्मा से आत्मा द्वारा ही देखता हूँ, आत्मा से और आत्मा द्वारा ही देखता हूँ। आहाहा! गजब बात है। दिगम्बर सन्त... दूसरे कहीं दुनिया में रहे नहीं। इन्होंने जो कहा

ऐसा कहीं किसी पन्थ में कहीं नहीं है। इसे समझनेवाले इनके पक्ष में जन्मे, उन्हें कठिन (पड़ता है)। आहाहा! अन्यत्र तो कहीं है नहीं। आहाहा! यह कोई पक्ष नहीं, यह कोई वाड़ा नहीं, यह कोई कहने की और समझाने की अकेली बाहर की पद्धति नहीं। वस्तु का स्वरूप यह है। आहा! जैसा स्वरूप है, वैसा प्रसिद्ध करते हैं। आहाहा!

भगवान! आहाहा! देखते में से देखता हूँ। देखता है, उसमें से देखता हूँ। आहाहा! बाहर द्वारा देखता हूँ, इसके द्वारा, दीपक के द्वारा देखता हूँ, सूरज के द्वारा देखता हूँ और अमुक के द्वारा देखता हूँ, प्रकाश द्वारा देखता हूँ.... आहाहा! इस शास्त्र के पन्ने द्वारा देखता हूँ। नहीं, नहीं। आहाहा! यह पद्धति कहाँ है? प्रभु! आहाहा! ऐसी बात सन्त जगत के पास रखते निडर बादशाह से आघा। दुनिया की कुछ दरकार नहीं कि इस प्रकार से कहने पर लोग कैसे मानेंगे? सत् तो यह है। मानो, न मानो, (स्वतन्त्र हो)। तुम मानो ही, इस प्रकार यह करो ही, ऐसा कहते हैं वे तो। आहाहा!

देखते हुए में से ही देखता हूँ,... देखनेवाला मैं। अन्दर खान है, देखने की खान आत्मा है, उसमें से देखता हूँ। आहाहा! **देखते हुए में ही देखता हूँ,...** यह आधार—अधिकरण। देखते में ही देखता हूँ, देखते में देखता हूँ। किसी के आधार से देखता नहीं, मेरे आधार से मुझसे देखता हूँ, मेरे आधार से मुझसे देखता हूँ। क्या यह बात तो होगी ऐसी? आहाहा! ऐसा मार्ग है, प्रभु! आहाहा! है? आहा! **देखते हुए में ही देखता हूँ,...** मैं तो देखते में देखता हूँ। यह दिखता है, उसमें देखता नहीं हूँ। आहाहा! बात तो भगवान तीन लोक के नाथ जिनेश्वरदेव ने तो अमृत बरसाया है, प्रभु! दिव्यध्वनि में अमृत रखा है। जगत को पचाना कठिन पड़े परन्तु पचाना पड़ेगा, प्रभु! दुःखी होकर ऐसे चौरासी के अवतार में भटकता है। कहीं सुख नहीं, अकेला दुःख... दुःख। यह पैसेवाले दुःखी बेचारे भिखारी। यह करोड़पति, अरबोंपति रंक, बेचारे रंक हैं। उन्हें आत्मा की लक्ष्मी की खबर नहीं है। धूल की और बाहर की इज्जत की लक्ष्मी की आवश्यकता है, उसे शास्त्रकार ने भिखारी, वरांका कहा है। भिखारी प्रभु, माँगनेवाला है। यह लाओ... यह लाओ... यह लाओ... यह लाओ... यह लाओ... परन्तु मुझे कुछ नहीं चाहिए, मेरे पास है, वह सब यहाँ है। आहाहा! आहाहा! गुरु ऐसा कहते हैं कि मेरी भी तुझे आवश्यकता नहीं है। देव ऐसा कहते हैं, मेरी भी तुझे जरूरत नहीं है। आहाहा!

देखते हुए में ही देखता हूँ। और देखनेवाला हूँ, उसमें से देखता हूँ न। भगवान के आश्रय से देखता हूँ या भगवान के शास्त्र के आधार से देखता हूँ, ऐसा है नहीं। आहाहा! ऐसा सूक्ष्म पड़े परन्तु क्या हो? यह जो वस्तु अधिकार आवे, वह आवे न? मार्ग तो यह है, बापू! आहाहा! क्या आचार्यों ने काम किया है! आहा! जगत को यह कहते हैं, कि ये शब्द मेरे नहीं हैं। यह तो भाषा की रचना हुई है, बापू! यह टीका की भाषा जड़ की जड़ से रची है, मैंने—हमने नहीं रची। आहाहा! यह तो परमाणु की रचना टीका है। यह विकल्प आया है, वह भी मेरा नहीं, वह तो विकार है। आहाहा! और हम तो स्वरूपगुप्त, ज्ञान में गुप्त हैं न! बाहर निकलते नहीं न, ज्ञान से बाहर (आते नहीं)। आहाहा! समझ में आया? आहा! देखते में से देखता हूँ, यह पाँचवाँ बोल हुआ।

देखते हुए में ही देखता हूँ। देखते में ही देखता हूँ। देखते में ही आधार हुआ, आधार। देखते में ही देखता हूँ, देखते में देखता हूँ। आधार मेरा देखने में मेरा मुझे है। मुझे मेरा देखने में आधार मेरा मुझे है। मेरा मुझे देखने में आधार किसी का है नहीं। आहाहा! बात बहुत सरल आयी है। आहाहा! व्यवहार के रसिया तो एकान्त ऐसी बात सुनकर तो काँप उठे। अरर्र! यह एकान्त है। व्रत और यात्रा, भक्ति, पूजा (उसे) तो कहते हैं कि राग है, वह तो क्लेश है, वह तो दुःख है, वह तो आत्मा से दूर है। आवे, परन्तु हेयरूप से आवे, दुःखरूप से लगे। आहाहा!

देखते हुए में ही देखता हूँ। आधार आया, आधार। देखते में ही देखता हूँ, देखते में देखता हूँ। जो दिखती है, उस चीज़ को देखता हूँ—ऐसा नहीं। आहाहा! देखते में ही देखता हूँ, देखनेवाले को ही देखता हूँ, देखते में ही देखता हूँ। आहाहा! गजब काम किया है न! दिगम्बर सन्तों ने जंगल में रहकर (यह काम किया है)। स्वयं तो मोक्ष पधारनेवाले हैं परन्तु जगत को मोक्ष प्रसिद्ध कर गये हैं। बापू! इस प्रकार से मोक्ष होगा, दूसरे प्रकार से नहीं होगा। आहाहा! यह पाँचवाँ बोल हुआ।

अब मेरा कार्य क्या? मेरा कर्म... कर्म। कर्म अर्थात् कार्य। **देखते हुए को ही देखता हूँ,...** देखना, वह मेरा कार्य है, वह मेरा कर्म है। आहाहा! एक जड़कर्म, एक शरीर-वाणी की क्रिया कर्म, एक दया-दानरूपी कर्म, एक यह कर्म। वे कर्म तो हैं ही नहीं आत्मा में। आहाहा! है? **देखते हुए को ही देखता हूँ, देखते हुए को ही देखता हूँ।**

मैं तो देखते को देखता हूँ, यह कार्य हुआ। देखनेवाले वह उसका कार्य है। अपने लिये देखना, वह उसका कार्य है। आहाहा! गजब काम किया है न! थोड़ा परन्तु बहुत करके पढ़ना। थोड़ा लिखा बहुत पढ़ना। तुम्हारे पत्र में लिखते हैं या नहीं? इसी प्रकार यह थोड़ा लिखा बहुत जानना। आहाहा! गम्भीरता का पार नहीं, टीका की गम्भीरता का... गम्भीरता का पार नहीं। आहाहा!

देखनेवाले को ही देखता हूँ, यह कर्म-कार्य हुआ, मेरा कार्य—देखते को देखूँ, यह मेरा कार्य। राग मेरा कार्य नहीं, पर के (काम) मेरा कार्य नहीं। आहाहा! शरीर को हिलाना, बोलना, वह मेरा कार्य नहीं। स्त्री, पुत्र को सम्हालना, वह मेरा कार्य नहीं। आहाहा! देखते को ही देखूँ, वह मेरा कार्य है। देखते को ही देखता हूँ, वह मेरा कर्म। कर्म अर्थात् कार्य। आहाहा!

मुमुक्षु : सर्वदर्शीपना कहाँ रहा?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह सम्यग्दृष्टिपना, यह सब सम्यग्ज्ञान, मोक्ष कहो जो कहो वह है।

मुमुक्षु : सर्वदर्शी, सर्वदर्शी।

पूज्य गुरुदेवश्री : सर्वदर्शी इसमें आ गया। आहाहा! क्योंकि इसके बाद सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार शुरु करेंगे न? इसलिए अन्त में शब्द आयेगा न? कि मैं तो सर्व विशुद्ध हूँ। आहाहा! आ गया न पहले अपने? पहले आ गया है, इसमें आयेगा। इसमें भी आयेगा, देखो! **सर्व विशुद्धि ज्ञप्तिमात्र (जाननक्रियामात्र) भाव हूँ।** बाद में आता है। पहले आ गया है परन्तु इसमें भी आयेगा। दृष्टा में आयेगा। देखो! चौथी लाईन। चलती है, उसकी पाँचवीं, चौथी लाईन। **परन्तु सर्व विशुद्धि ज्ञप्तिमात्र भाव हूँ।** आहाहा! पहले आ गया न, इसमें यह है। इसमें इस अधिकार में यह है। यह अधिकार इसके लिये किया है। सर्वविशुद्ध अधिकार का यह उपोद्घात चलता है। आहाहा! धीरे-धीरे समझने का यह है, बापू! यह कहीं उतावल से आम पक जाए, एकदम बड़ी बातें करे, बड़ी, यह हो और ऐसा हो और... आहाहा! संस्कृत और व्याकरण, छन्द और गायन, राग और राग, शास्त्र और संगीत में उतारकर गाना और यह सब क्रियाएँ तो जड़ की, पर की है। आहाहा! उनमें होनेवाला राग है कदाचित शुभराग हो तो वह पुण्य है, वह कोई आत्मा नहीं है और आत्मा

का धर्म भी नहीं और उसके आत्मा का धर्म होता ही नहीं। आहाहा!

आ गया छठवाँ बोल? **देखते हुए को ही देखता हूँ।** यह छठवाँ बोल है। पहला कर्ता था, अन्तिम कर्म है और चार बीच में डाले। पहला कर्ता था। कौन सा? **देखता हुआ ही देखता हूँ,...** यह कर्ता है, **देखते हुए के द्वारा ही देखता हूँ,...** यह करण, यह इसका करण। **देखते हुए के लिये ही देखता हूँ,..** यह सम्प्रदान, **देखते हुए में ही देखता हूँ,..** यह देखने में से देखूँ, में से देखूँ यह अपादान, **देखते हुए को ही देखता हूँ।** देखते में देखूँ, यह अधिकरण, देखते को देखूँ यह कर्म—छह बोल हैं। आहाहा! समझ में आये उतना समझना, भाई! यह अधिकार तो जो आया हो, उसका स्पष्टीकरण होवे न?

चरणानुयोग और करणानुयोग सबमें व्यवहार की बात आवे परन्तु वह सब जानने के योग्य है। आदरणीय तो यह एक ही चीज़ है। कोई कहे कि यह चारों अनुयोग में कहा। परन्तु चारों ही अनुयोग में कहा क्या है? कथानुयोग में कथायें कह दी यहाँ यह, ऐसा हुआ, उसका ऐसा हुआ, उसका ऐसा हुआ और उसका होगा। यह क्या सूचित किया? वह सब क्रमबद्ध सूचित किया। यह ऐसा हुआ और ऐसा होगा, होगा—ऐसा यह सब क्रमबद्ध सूचित करता है। आहाहा! इसका अर्थ यह कि वह सब ज्ञाता-दृष्टापना सूचित करता है। उसमें यह अकर्तापना सूचित करता है। आहाहा! परन्तु इस द्रव्यानुयोग की दृष्टि बिना ये तीन अनुयोग पढ़े तो अपनी कल्पना से अर्थ करे। ज्ञानावरणीय से ज्ञान रुकता है—वहाँ ऐसा अर्थ करे। यहाँ कहते हैं कि यह बात मिथ्या है। ज्ञानावरणीय से रुके यह तो झूठ परन्तु ज्ञान हीन पड़ता है, यह भी झूठ। ज्ञान तो ज्ञान ही है। उसमें हीन पड़ना अन्दर वस्तु में हीन-बीन कुछ है ही नहीं। पर्याय में हीन है, वह जाननेयोग्य है। आहाहा! ऐसी सूक्ष्म बातें हैं।

अथवा... अब छह कारक कहे, छह कारक अस्ति से बताये। पर्याय में, हों! पर्याय में, द्रव्य में नहीं। द्रव्य तो द्रव्य ध्रुव है। पर्याय में ऐसे षट्कारक हैं, **अथवा-नहीं देखता;...** भेद नहीं, अब कहते हैं। देखता हुआ, देखता कर्ता था न? यह निषेध किया। **न देखते हुए को देखता हूँ,...** यह नहीं देखता हुआ, यह कर्ता। नहीं देखता यह साधारण। **न देखते हुए को देखता हूँ, न देखते हुए के द्वारा देखता हूँ (करण), न देखते हुए के लिए देखता हूँ (सम्प्रदान), न देखते हुए से देखता हूँ (अपादान), न देखते हुए में देखता हूँ,(आधार)...** देखते में से में से। **न देखते हुए को देखता हूँ;...**

देखता को देखता नहीं, ले! ठीक! पर को तो देखता नहीं परन्तु देखनेवाले को देखता नहीं। भेद, भेद निकाल डाला। मैं तो सर्वविशुद्ध दर्शन-ज्ञानस्वरूप हूँ। आहाहा!

पहली तो निस्पृह दर्शनविशुद्धि होना, यह मूल चीज़ है। उसकी बात छोड़कर सब बातें बाहर की ऐसा है और वैसा है और अमुक है और अमुक है, यह है और यह है। आहाहा! अरे! दुनिया में ऐसी सब बातें हैं। मूल बात तो यह है, भव के अन्त की बात तो यह है। भव के अन्त बिना इसे कहीं परिभ्रमण मिटेगा नहीं और दुःख टलेगा नहीं। आहाहा! भगवान तो अनादि-अनन्त रहेगा ही वह। वह कहीं नाश को प्राप्त हो, ऐसा नहीं है। भविष्य में जो दृष्टि होगी, तत्प्रमाण रहेगा। यदि दृष्टि राग और भेद के ऊपर दृष्टि होगी तो यह भटकता हुआ चार गति में रहेगा और अभेद पर दृष्टि होगी तो थोड़े काल में पूर्ण अभेद होकर भेद का नाश करके केवल(ज्ञान) प्राप्त करेगा। आहाहा! वस्तु की स्थिति यह है।

यहाँ अब छह का नकार किया। **न देखते हुए को देखता हूँ, न देखते हुए के द्वारा देखता हूँ, न देखते हुए के लिए देखता हूँ, न देखते हुए से देखता हूँ, न देखते हुए में देखता हूँ, न देखते हुए को देखता हूँ;**... लो, छठवाँ। **किन्तु मैं सर्वविशुद्ध दर्शनमात्र भाव हूँ।** ठीक! देखो! आया। दर्शन का आया। **किन्तु मैं सर्वविशुद्ध दर्शनमात्र भाव हूँ।** पूर्ण विशुद्ध सर्व दर्शनमात्र आत्मा हूँ, ऐसे भेद-बेद मेरे स्वरूप में नहीं है। आहाहा! इसे यहाँ ले जाना। कहाँ पड़ा है और कहाँ ले जाना इसे! उपदेश बहुत प्रकार के उसमें से ऐसा उपदेश आवे, तब इसे एकान्त लगता है, एकान्त लगता है। क्योंकि इसके मस्तिष्क में प्रविष्ट नहीं होता, मस्तिष्क में सुना न हो और यह किस पद्धति से कहा जाता है, यह पद्धति पकड़ना कठिन पड़ती है। आहाहा!

कहते हैं कि मैं देखते के लिये देखता नहीं। पर के लिये (देखता नहीं)। मेरे लिये देखता हूँ। मुझे देखता हूँ, मेरे लिये देखता हूँ। आहाहा! है न अन्तिम? अन्तिम यहाँ कहा, नहीं देखते को देखता, नहीं देखते को देखता। देखा? कर्म निकाल डाला। **किन्तु मैं सर्वविशुद्ध दर्शनमात्र भाव हूँ। और इसीप्रकार-मैं जाननेवाले**... दर्शन का घटित किया, ऐसा जानने में घटित करने की बात है।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ३६८, गाथा-२९८, २९९ शुक्रवार, मगसिर कृष्ण १०
दिनाङ्क - १४-१२-१९७९

समयसार, यहाँ **सर्वविशुद्ध दर्शनमात्र भाव...** यहाँ तक आ गया। धर्मी ऐसा विचारता है और उसे धर्मी कहते हैं कि सर्वविशुद्ध दर्शनमात्र भाव मैं हूँ। मैं तो सर्वविशुद्ध दर्शनमात्र भाव आत्मा हूँ। छह कारक के भेद किये, वह भी व्यवहार जाननेयोग्य है, आदरणीय नहीं। आदरणीय तो सर्वविशुद्ध दर्शनमात्र, दर्शनमात्र (भाव हूँ)। मात्र कहने से कोई छह कारक भेद, धर्म, गुणभेद आदि मुझमें नहीं है। धर्म भेद कहा न? नित्य-अनित्य, एक-अनेक धर्म। वह भी मुझमें नहीं है। ज्ञान-दर्शन आदि गुण का भेद भी मुझमें नहीं है। मैं तो सर्वविशुद्ध, आहाहा! दर्शनमात्र हूँ। छह कारक कहकर व्यवहार बताया, ज्ञान कराया, जाननेयोग्य व्यवहार है। टीकाकार 'राजमलजी' (व्यवहार को) वचनमात्र कहते हैं। वचन से कहनेमात्र है। वस्तु तो अभेद है, उसमें कुछ भेद नहीं पड़ता। मात्र कथन समझाने के लिये व्यवहार का भेद पड़ता है। बाकी वस्तु तो सर्वविशुद्ध दर्शनमात्र वस्तु है, वही आदरणीय और उपादेय है। छह कारक के भेद भी, आहाहा! आदरणीय नहीं। कहो! यहाँ ले जाना है। अब ज्ञान की बात आती है।

और इसीप्रकार-मैं जाननेवाले आत्मा को... मैं जाननेवाला जो आत्मा, उसे ही अनुभव करता हूँ। **ग्रहण करता हूँ।** अर्थात् अनुभव करता हूँ। मैं... आहाहा! जाननेवाले आत्मा को, जाननेवाले आत्मा को, जाननेवाला आत्मा है और जाननेवाले आत्मा को जानता हूँ। आहाहा! जाननेवाले आत्मा को जानता हूँ। ज्ञात होने योग्य वस्तु से आत्मा को जानता हूँ, यह भी नहीं। अर्थात् कि **'ग्रहण करता हूँ' अर्थात् 'जानता ही हूँ'; जानता हुआ ही...** अब कारक उतारते हैं। एक तो साधारण वस्तु कही। जाननेवाले आत्मा को अनुभव करता हूँ, उसे ग्रहण करता हूँ। यह पहली सामान्य बात की, अब छह कारक करते हैं। आहाहा!

जानता हुआ ही (अर्थात् जानता हुआ ही) जानता हूँ,... यह कर्ता है। मैं जानता हुआ ही जानता हूँ, ज्ञात होनेयोग्य चीज़ से जानता हूँ या मन और इन्द्रिय से जानता हूँ, यह मैं नहीं। आहाहा! अभी तो दया, दान और व्रत, भक्ति के परिणाम भी कहीं बन्ध

के कारण में रह गये, यह तो पर के द्वारा जानना, यह भी नहीं और पर को जानना, यह भी नहीं। यह भी पर की अपेक्षा आयी, भेद आया। आहाहा! मैं जानता हुआ ही, जानता ही जानता हूँ। अर्थात्? जानता हुआ ही जानता हूँ। आहाहा! बहुत सूक्ष्म। दया पाल सकता हूँ या व्रत कर सकता हूँ या भगवान की भक्ति कर सकता हूँ, कि यह मैं नहीं। आहाहा! मैं तो जानता हुआ, (यह) कर्ता। कर्ता स्वतन्त्ररूप से करे, वह कर्ता। मैं जानता हुआ, जानता हुआ स्वतन्त्ररूप से जानता कर्ता मैं हूँ। मेरे जानने के लिये किसी पर की अपेक्षा नहीं है। आहाहा! ऐसा सूक्ष्म अब।

बाहर की बातें तो कहीं रह गयी। देह की क्रिया और वाणी की क्रिया, वह तो जड़ में गयी। दया, दान और रागादि परिणाम भी अचेतन में गये। आहाहा! यह तो अभी व्यवहार इसकी पर्याय में छह प्रकार पड़े, उसकी बात करते हैं। फिर पर्याय में से निकालकर अकेले द्रव्य की दृष्टि करता है। आहाहा! निमित्त से छुड़ाकर, राग से छुड़ाकर, पर्याय से भी छुड़ाकर, आहाहा! द्रव्यदृष्टि जो त्रिकाल द्रव्य है, वह दृष्टि, वह सम्यग्दर्शन है। आहाहा! ऐसी चीज़ सूक्ष्म है।

यह पहला बोल है। **जानता हुआ ही जानता हूँ,...** अर्थात्? जानता ही जानता हूँ अर्थात्? मेरे जानने के लिये कोई दूसरे की अपेक्षा नहीं है। जानता ही जानता हूँ। कर्ता है न? जानता हुआ ही मैं जानता हूँ, स्व को जानता हुआ ही मैं जानता हूँ। स्व को, हों! स्व को जानता ही मैं जानता हूँ। स्व को जानने के लिये, कर्ता के लिये किसी की अपेक्षा नहीं है। यह भी अभी व्यवहार है। व्यवहार अर्थात् पर्याय के भेद हैं। पर्याय में षट्कारक खड़े होते हैं, द्रव्य में नहीं; द्रव्य तो अभेद वस्तु है। दृष्टि तो अभेद की करानी है परन्तु इसके द्वारा बतलाकर फिर छुड़ाते हैं कि ये भेद—पर्याय के षट्कारक के भेद भी तुझमें नहीं है। आहाहा!

शरीर, वाणी, मन और कर्म, स्त्री, कुटुम्ब, पैसा, इज्जत तो तुझमें नहीं और तू उसमें नहीं। आहाहा! और दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम भी तुझमें नहीं, तू उनमें नहीं, वे तुझमें नहीं। परन्तु पर्याय के छह भेद हैं, वे पर्याय में हैं। अन्य तो पर्याय में भी नहीं, पर्याय में से निकाल डाला। आहाहा! पर्याय-अवस्था में भेद है, द्रव्य में नहीं। द्रव्य की दृष्टि करने से सम्यग्दर्शन होता है, भेद की दृष्टि करने से विकल्प उठते हैं। परन्तु भेद आते हैं, बतलाते

हैं, पहले जानने में यह आवे। आहाहा! तो पहला बोल यह (कि) जानता हुआ ही जानता हूँ, जानता हुआ ही जानता हूँ। आहाहा! कर्ता।

जानते हुए के द्वारा ही जानता हूँ,... दूसरा बोल यह करण है, करण—साधन। मेरे जानने के लिये साधन क्या? कि जानने के लिये ही जानता हूँ। साधन मेरा, मेरे साधन के लिये मुझे जानता हूँ, साधन मैं हूँ। आहाहा! मेरे साान के लिये पर की कोई अपेक्षा नहीं है। यह भी अभी व्यवहार है। ऐसी कठिन बात है। अब ऐसा मार्ग। अभी पुरानी (बात) पकड़ी हो, उसे यह कठिन पड़ता है। **जानते हुए के द्वारा ही...** प्रत्येक में 'ही' है, हों! पहले में था न? जानता हुआ 'ही' जानता हूँ। पर्याय में भी यह निश्चय है। उसे रागादि की अपेक्षा नहीं है, ऐसा। पर्याय में जानता हुआ जानता हूँ, उसमें राग के विकल्प की अपेक्षा नहीं है। आहाहा! यह अभी कहते हैं न कि व्यवहार साधन और निश्चय साध्य। व्यवहार चाहिए, व्यवहार साधन है। यहाँ कहते हैं कि व्यवहार की तो यहाँ बात भी नहीं है। आहाहा!

यह तो मैं मुझे जानता हूँ अथवा जानता हुआ ही जानता हूँ, यह भी अभी व्यवहार है। कर्ता, यह पर्याय का व्यवहार है। पर्याय स्वयं व्यवहार है, द्रव्य स्वयं निश्चय है। आहाहा! जानते हुए द्वारा ही जानता हूँ, जानते हुए द्वारा, इन्द्रियों द्वारा और मन द्वारा... आहाहा! या भगवान की वाणी द्वारा जानता हूँ, ऐसा भी नहीं, यहाँ तो यह कहा, लो! दिव्यध्वनि द्वारा मैं मुझे जानता हूँ। अभी यह आया है कि दिव्यध्वनि से भी न जाने, वह तो एकान्त मिथ्यात्वी है। निमित्त को मानते नहीं। उसे (जो बात) बैठी हो, वह कहे। जिस लाईन में बैठी हो, उसरूप से ही आत्मा तो हो गया न उस समय। आहाहा! दिव्यध्वनि से ज्ञान नहीं होता?

मुमुक्षु : इस जीव को तो नहीं हुआ?

पूज्य गुरुदेवश्री : किसी को नहीं होता। दिव्यध्वनि द्वारा किसी को नहीं होता, दिव्यध्वनि पर है। उसकी यहाँ बात नहीं है। यहाँ तो कहते हैं कि **जानते हुए के द्वारा ही जानता हूँ,...** यह निमित्त द्वारा जानता हूँ, वाणी द्वारा जानता हूँ, दिव्यध्वनि द्वारा जानता हूँ, वह मैं नहीं। आहाहा! कठिन काम है भाई। कनुभाई! बात ऐसी है। आहाहा! वीतरागमार्ग कोई ऐसा है। आहाहा! स्थिर हो जाने की बातें हैं, बापू! आहाहा!

जानते हुए के द्वारा ही जानता हूँ,... यह संस्कृत और व्याकरण यह सब पढ़ा, इसलिए जानने में आया... आहाहा! ऐसा नहीं है। **जानते हुए के द्वारा ही जानता हूँ,...** आहाहा! ऐसा शास्त्र में चार अनुयोग में कर्म से आवे, ज्ञानावरणी से ज्ञान ऐसा हो; चरणानुयोग में व्रत और नियम की बात आवे। इस कथानुयोग में इसके यह भव हुए और इसके यह भव हुए, (यह) सब बात आवे, परन्तु कहते हैं कि यह सब बात व्यवहार की है। यहाँ तो जानते के द्वारा जानता है आत्मा, उस कथा द्वारा नहीं... आहाहा! उन द्रव्यानुयोग के शास्त्र द्वारा नहीं। आहाहा! ऐसी बातें सहन होना (कठिन पड़ती है)।

जानते हुए के द्वारा ही जानता हूँ,... 'ही' है न? एकान्त करते हैं, एकान्त। अनेकान्त नहीं। जानते द्वारा भी जानता हूँ और न ज्ञात हो, ऐसी परचीज़ से भी मैं जानता हूँ, यह अनेकान्त नहीं है। जानते द्वारा ही जानता हूँ और दूसरी चीज़ द्वारा नहीं जानता, इसका नाम अनेकान्त है। आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई! यह गाथायें ही ऐसी हैं। बहुत सूक्ष्म। आहाहा! जानता, जानता, जाननेवाला, उस द्वारा ही जानता हूँ। ज्ञान द्वारा जानता हूँ, उस द्वारा जानता हूँ। मन से नहीं, निमित्त से नहीं, आहाहा! गुरु से नहीं, देव से नहीं, शास्त्र से नहीं। आहाहा! यह बात झेलना... वीतराग का मूल मार्ग ऐसा है, प्रभु! आहाहा!

जानते द्वारा ही, जानते द्वारा ही। कथंचित् जानते द्वारा और कथंचित् जनानेयोग्य वस्तु द्वारा जानता हूँ, वस्तु ज्ञात होती है, उस द्वारा कथंचित् जानता हूँ—ऐसा नहीं है। आहाहा! सूक्ष्म पड़े परन्तु अब कान में सुनना तो सही। हमारे कान्तिभाई और कनुभाई बराबर आये हैं न मौके से। यह सूक्ष्म बातें (आती हैं)। आहाहा! भारी अद्भुत बात है, बापू! आहाहा!

मुमुक्षु : बहुत सूक्ष्म, परन्तु बहुत स्पष्टीकरण आता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : सत्य, सत्य ही यह है, बापू! वस्तु की स्थिति ही यह मर्यादा है। वीतराग ऐसा स्वयं कहते हैं कि मैं, परन्तु तेरे जानने में मेरी अपेक्षा नहीं। आहाहा! अब दूसरा कौन कहे यह? आहाहा! तीन लोक के नाथ ऐसा कहते हैं कि मेरी वाणी और मैं, इस द्वारा तू जान, ऐसा तू नहीं है, ऐसा तू है नहीं। आहाहा! तू तो जानते हुए द्वारा ही जानता है। जाननेवाला है, उस द्वारा तू जानता है, ऐसा तू है। आहाहा! कहो, यशपालजी! ऐसी सूक्ष्म बातें हैं। पुराने क्रियाकाण्डवाले को कठिन लगे। अब है, यह सब खबर नहीं? आहाहा! बहुत सरस बात। आहाहा! यह भी व्यवहार। अभी यह भेद डालना, वह भी

व्यवहार। भगवान से जानता हूँ, दिव्यध्वनि से जानता हूँ, यह तो कहीं की कहीं रह गयी बात। आहाहा! अभी अखबार में यह आया था। विद्यानन्दजी, यहाँ की बात (आयी थी कि) दिव्यध्वनि से निमित्त-निमित्त से ज्ञान न माने, वह एकान्त मिथ्यात्व है। प्रभु! तुझे खबर नहीं।

मुमुक्षु : उनकी भाषा को सिंहनाद कहा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : सिंहनाद। ऐसा कि सिंहनाद किया। इन्दौर में सिंहनाद किया कि यह एकान्त है। दिव्यध्वनि से ज्ञान नहीं होता, ऐसा माननेवाला एकान्त है। कनुभाई! विद्यानन्द है न? इन्दौर में अभी दस-दस हजार लोग (इकट्ठे होते हैं)। समाज को खबर नहीं होती, समाज ऐसी की ऐसी पड़ी है। ऊपर-ऊपर से जिन्दगी चली जाती है। आहाहा! ऐसा सत्य, उसे लक्ष्य-सुनने में न आवे तो विचार कब करे? विचार कब करे? आहाहा!

जानते हुए के द्वारा ही जानता हूँ,... दो बोल हुए। कर्ता और करण। करण यह दूसरा बोल है, वह करण है। करण अर्थात् साधन। मेरे जानते द्वारा का साधन मैं हूँ। आहाहा! करण, करण। षट्कारक है—कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, अधिकरण—यह छह बोल हैं। आहाहा! सन्त वर्णन करके जगत को प्रसिद्ध करते हैं। जगत को बैठे, न बैठे स्वतन्त्र है। विरोध करे तो भी वह स्वतन्त्र है। उसे न बैठे तो विरोध करे। 'जामैं जितनी बुद्धि है इतनो दिये बताय; वांकौ बुरो न मानिये और कहाँ से लाये'। उसका बुरा नहीं मानना। उसको बैठी हुई वह बात कहता है, दूसरी कहाँ से लाये? आहाहा!

अब तीसरा बोल—सम्प्रदान। आहाहा! **जानते हुए के लिए ही जानता हूँ,...** मैं तो मेरे लिये जानता हूँ, जानते के लिये ही जानता हूँ। आहाहा! मैं पर के लिये जानता हूँ, (ऐसा नहीं)। आहाहा! समझ में आया? तीसरा बोल। **जानते हुए के लिए ही जानता हूँ,...** यह सम्प्रदान है। षट्कारक में सम्प्रदान है। स्वयं अपने को दिया। जानते के लिये ही जानता हूँ, जाननेवाले के लिये मैं जानता हूँ। आहाहा! मुझे मेरे लिये जानता हूँ, मुझे मेरे लिये जानता हूँ। आहाहा! इसमें लिखा है तो इसमें कहीं इनकार तो नहीं किया जा सकता कि सोनगढ़वाले ऐसा कहते हैं और अमुकवाले ऐसा कहते हैं। भगवान ऐसा कहते हैं—अब ऐसा ले न तू। आहाहा!

अरे! ऐसा अवसर प्रभु! कब मिलेगा? मनुष्यभव अनन्त काल में मिले। उसमें अनन्त काल में आर्य देश (मिलना)। वापस अनन्त काल में जैन का सम्प्रदाय, उसमें फिर सत्य वाणी कान में मिलना। आहाहा! और मिलने के बाद भी सुनकर उसकी ओर का लक्ष्य छोड़कर अन्तर में आना। आहाहा! देवीलालजी! आहाहा! बापू! ऐसा भी है, इस प्रकार से पद्धति ऐसी पकड़े तो सही। पहले श्रद्धा में यह पद्धति है, ऐसा पकड़े तो अन्तर्मुख होने का प्रयत्न करे। परन्तु पद्धति ही पकड़ना नहीं आवे, वह करे क्या? आहाहा! अरे! आत्मा ऐसा दुःखी होता है बेचारा। आहाहा!

तुम्हारा लड़का बेचारा यहाँ कितना सुनता था, हों! मनसुख का। सुनता था। कौन जाने क्या हो गया? ३५ वर्ष की उम्र बेचारे की, गिरकर मर गया। मुम्बई में चौथे माले से रात्रि में डेढ़ बजे गिर पड़ा। आहाहा! अरर! यहाँ सुनता, सुनने आता, पढ़ता परन्तु क्या हुआ? संसार दशा ऐसी है, बापू! आहाहा! ऐस भाव तो अनन्त बार बीत गये हैं, प्रभु! आहाहा! जैन का दिगम्बर द्रव्यलिंगी साधु भी अनन्त बार हो गया। अनन्तबार पंच महाव्रत, अट्ठाईस मूलगुण अनन्त बार पालन किये, परन्तु वह तो सब राग की क्रिया है, प्रभु! वह कहीं आत्मा नहीं है। वहाँ वीतराग भाव आया नहीं उसमें। और वीतराग का मार्ग वीतराग भाव से प्रगट होता है। आहा! वह राग से प्रगट नहीं होता। आहाहा!

जानते हुए के लिए ही... ऐसा। सब में ('ही' लिख है)। आहाहा! कथन तो देखो! दरकार बिना के, जिन्हें दुनिया की दरकार नहीं। समाज क्या करेगा और क्या कहेगा? क्या मानेगा? और क्या इसका धोरण कहकर बाहर प्रसिद्ध करेगा घर में, लो! ऐसा? बस! जानते के लिये ही जानता हूँ? मेरे लिये तो मैं जानता हूँ, मैं तो मेरे लिये जानता हूँ। किसी के लिये नहीं, किसी को कहने के लिये, किसी को समझाने के लिये... आहाहा! विद्वत्ता की परीक्षा देने के लिये, पढ़कर परीक्षा की क्या कहलाता है? वह देते हैं न कुछ? पदवी.. पदवी। पदवी देते हैं न? आहाहा! यह तो वह पदवी तो अपने को लेने की होती है, समकितरूपी पदवी। उसके लिये स्वयं इस प्रकार का विचार अभी तो व्यवहार में करता है। आहाहा! जिसे सम्यग्दर्शन पदवी, पदवी कही है। सम्यग्दर्शन को पदवी कही है। आहाहा!

जानते हुए के लिए ही जानता हूँ,... आहाहा! जाननेवाला! मेरे लिये मैं जानता हूँ, मैं तो मेरे लिये ही जानता हूँ। आहाहा! मुझे ही जानता हूँ, मेरे द्वारा जानता हूँ, मेरे लिये ही जानता हूँ। आहाहा! है न? यह जानता शब्द मेरे लिये है। मेरे लिये ही जानता हूँ। पहला शब्द यह आया था न? जानता हुआ जानता हूँ अर्थात् मैं स्वयं मुझे मानता हुआ जानता हूँ, मुझे मानता हुआ जानता हूँ, मुझे मैं मानता हुआ जानता हूँ। मेरे द्वारा मुझे जानता हूँ, मेरे द्वारा मुझे जानता हूँ, मेरे लिये मुझे जानता हूँ, मेरे लिये मुझे जानता हूँ। आहाहा! (यह) सम्प्रदान हुआ।

सम्प्रदान अर्थात्? यह पर्याय मेरे लिये मैंने प्रगट की और मैंने रखी। मैंने दान दिया मुझे मेरी पर्याय को। आहाहा! मेरी पर्याय को मैंने दान दिया, मेरे लिये मैंने यह जाना। यह भी अभी व्यवहार है, कहते हैं। आहाहा! ऐसा मार्ग। फिर सम्प्रदाय की दृष्टि में तो यह बात कभी सुनी न हो, इसलिए इसे ऐसा लगता है, यह तो एकान्त है, एकान्त है... एकान्त है। सोनगढ़ का एकान्त है। कह, भाई! प्रभु! तुझे खबर नहीं, बापू! यह मार्ग, भाई! वीतराग का कोई अलग है। आहाहा!

तीन लोक के नाथ जिनेश्वरदेव की शैली कोई अलौकिक है, कहीं है नहीं। यहाँ तो कहते हैं कि यह संस्कृत और व्याकरण को जानूँ तो मैं मुझे जान सकूँ, ऐसा मैं नहीं हूँ। आहाहा! शिवभूति मुनि को मारुष और मातुष इतने शब्द भी याद नहीं आते थे। इतने शब्द भी धारणा में नहीं रहते थे। तथापि अन्दर में एक महिला को ऐसा देखा कि यह क्या करती है? वह दाल, उड़द की दाल क्या कहलाती है? छिलके निकाले और सफेद, सफेद अपनी भाषा में क्या कहते हैं? धुली, धुली। धुली दाल करती थी। छिलके निकाले, छिलके अलग (निकालती थी)। एक बहिन ने पूछा—क्या करती हो? वह उन्हें कान में पड़ा। माष तुष। वह था मारुष—मातुष। अर्थात् किसी के ऊपर द्वेष करना नहीं, किसी के ऊपर राग करना नहीं—मारुष-मातुष। इसी प्रकार यह माष तुष में से अन्दर विचार में आकर केवलज्ञान लिया। आहाहा! दूसरा कुछ याद रहता नहीं था। आहाहा! एक आया एक, एक आया हाथ में। भगवान पूर्णानन्द का नाथ मैं तो मेरे लिये जानने का प्रयत्न करता हूँ, ऐसा जहाँ हुआ वहाँ एकदम केवलज्ञान हो गया। आहाहा! तीन लोक का नाथ केवलज्ञानी (हो गया)। मातुष-मारुष शब्द याद न रहे, वह केवलज्ञान पाये! ऐसी आत्मा में ताकत है कि पर की

अपेक्षा की कोई आवश्यकता नहीं है। आहाहा! इतना सामर्थ्य आत्मा में भरा है कि जिसे कोई शब्द की आवश्यकता नहीं, ऐसी वह ताकत है। आहाहा!

इसलिए यहाँ कहते हैं, जानते के लिये ही जानता हूँ। यह मेरे लिये ही जानता हूँ। आहाहा! मुझे कुछ आवे तो मैं दुनिया को कह सकूँ और समझा सकूँ, बोल सकूँ, नहीं तो गूँगा जैसा लगे। आहाहा! यह नहीं, यह मेरा काम नहीं। आहाहा! जानते के लिये मैं तो मेरे लिये जानता हूँ। जानने की क्रिया जो मेरे लिये होती है। आहाहा! है अभी क्रिया—पर्याय। आहाहा! गजब काम किया है न! आचार्यों ने भी समाज कैसे रहेगी? समाज कैसी और कितनी बुद्धिवाली? उसमें यह तो पंचम काल में बात करते हैं। यह तो अभी तो एक हजार वर्ष पहले हुए यह अमृतचन्द्राचार्य, वे इस पंचम काल के जीव को यह बात करते हैं। ऐसा नहीं कि यह चौथे काल की समयसार की बातें चौथे काल के लिये है। आहाहा!

मुमुक्षु : मुनि के लिये है।

पूज्य गुरुदेवश्री : अरे! आत्मा के लिये है। आत्मा के लिये यह बात है। यह नौ सौ, हजार वर्ष पहले अमृतचन्द्राचार्य हुए। वे यह जगत के समक्ष ऐसा रखते हैं। आहाहा! वह भी ऐसा कहते हैं कि यह टीका मैं नहीं रखता, हों! आहाहा! इन शब्दों को मैं नहीं करता, हों! यह मेरा कार्य नहीं, भाई! आहाहा! यह तो शब्दों से बनती है, इनका-शब्दों का काल-स्वकाल है, शब्दों में भाषा होने का जन्मक्षण है, (इसलिए) होते हैं। मैं तो ज्ञानस्वरूप हूँ। मुझमें से तो कुछ मैं राग में और वाणी में आता नहीं कि इन्हें बनाऊँ। आहाहा!

जानते हुए के लिये, मेरे लिये ही जानता हूँ। मेरे लिये ही। सबके लिये 'ही' लिया है, हों! पर के लिये नहीं, कहने के लिये नहीं, सुनाने के लिये नहीं। आहाहा! विद्वत्ता के लिये नहीं, पदवी लेने के लिये नहीं। आहाहा! तीन बोल हुए न? यह कर्ता, करण, सम्प्रदान तीन हुए। **जानते हुए से...** अपादान। इसमें से—ज्ञान में से मैंने जाना। **जानते हुए से ही जानता हूँ,...** ज्ञान में से जानता हूँ; निमित्त में से नहीं, शब्दों में से नहीं, वाणी में से नहीं। आहाहा! गजब बात है। यह वीतराग के दर्शन हुए और वीतराग की वाणी सुनी, इससे मैं मुझे जानता हूँ, ऐसा नहीं है। आहाहा! है? जानते हुए में से जाननेवाला है, उसमें से जानता हूँ। आहाहा! थोड़े शब्दों में भी भरा हुआ है। भगवान! आहाहा!

जानते हुए के लिये ही जानते हुए में से ही जानता हूँ,... जाननेवाले में से, जाननेवाले में से जानता हूँ। पर की सहायता से जानता हूँ, मुझे अच्छे निमित्त मिले, इसलिए जानता हूँ—ऐसा नहीं है। आहाहा! पुस्तकें बहुत अच्छी मिली, इसलिए मैं जानता हूँ—ऐसा नहीं है। मैं तो जाननेवाले में से जानता हूँ। जाननेवाला भगवान अन्दर विराजता है, चैतन्य सर्वज्ञ प्रभु है। वह जिसका सर्वज्ञस्वभाव है, सर्वज्ञस्वभाव है, उसमें से मैं तो जानता हूँ। आहाहा! है? जानते हुए में से—यह अपादान। से में से, से में से। अपादान है न? से, में से। जानते हुए में से ही कहो या जानते में से कहो। जानते हुए जानता हूँ। आहाहा! यह अपादान हुआ।

जानते हुए में से ही जानता हूँ, जानते हुए में से ही जानता हूँ,... आहाहा! वाणी में से, शब्दों में से, देव-गुरु में से जानता हूँ? नहीं। आहाहा! गजब बात है। ऐसी बात तो कान में पड़ना, यह किसी समय भाग्यशाली को पड़े ऐसा है, ऐसा तत्त्व है। आहाहा! चैतन्य का बिम्ब पड़ा है न! प्रभु! बिम्ब क्या वह तो सर्वज्ञ स्वभावी है न! सर्वज्ञ स्वभाव ही जिसका है न! उसमें से सब जानता है। आहाहा! जिसमें सर्वज्ञ, सर्वज्ञपना नहीं, उसमें से जानने का मिले कहाँ से? आहाहा! सर्वज्ञपना स्वभाव मेरा है, उसमें से जानने का मुझे मिलता है। आहाहा! है? जानते में से, जाननेवाला जो सर्वज्ञस्वभाव, उसमें से ही जानता हूँ, उसमें से ही जानता हूँ। 'ही' एकान्त कहा है। कथंचित् उससे और कथंचित् बाहर से, ऐसा कहे न? कि नहीं, नहीं। यह नहीं। आहाहा!

एक भगवान आत्मा की कीमत तो देखो! आहाहा! वह अनन्त आनन्द और अनन्त ज्ञान का दल है, प्रभु! उसके स्वभाव के सामर्थ्य का पार नहीं। जिसे प्रगट करने के लिये शक्ति में सब भरा पड़ा है। उसके सामने देखते ही प्रगट हो, ऐसा है। पर के सामने देखने से प्रगट हो—ऐसा नहीं। आहाहा! ऐसा उपदेश। वे कहें, व्रत करो और अपवास करो, यह करो और रात्रिभोजन न करो, कन्दमूल न खाओ, छह परबी पालो, छह परबी ब्रह्मचर्य पालन करो। हो गया धर्म। अरे! बापू! धर्म भाई! ऐसा जैनधर्म वीतरागमार्ग ऐसा नहीं है। यह अलौकिक है, लौकिक से सब बाहर है। आहाहा! लौकिक के साथ कहीं मेल खाये, ऐसा नहीं है। ऐसा प्रभु का मार्ग है, भाई! आहाहा!

जानते हुए में से ही जानता हूँ,... आहाहा! यह अपादान हुआ। आधार,

अधिकरण। **जानते हुए में ही जानता हूँ...** यह आधार। इस जानते हुए में ही जानता हूँ, जानते हुए ही में ही जानता हूँ। मन द्वारा जानता हूँ, किसी का आधार (है, ऐसा) कुछ आधार नहीं। मुझे मेरे जानने के लिये किसी का आधार जरा भी नहीं है। आहाहा! आहाहा! अमृत बहाया है। सत्य तो सत्य ही है परन्तु वाणी द्वारा ऐसी बात आयी। आहाहा! जो वाणी इसे स्पर्श नहीं करती, वह ज्ञान वाणी को स्पर्श नहीं करता तो भी वाणी में स्व-पर कहने की ताकत है, इसलिए वाणी आयी है। स्व-पर कहने की ताकत। भगवान की स्व-पर जानने की ताकत, आत्मा की स्व-पर जानने की ताकत, वाणी में स्व-पर कहने की ताकत, दोनों, हों! स्व-पर कहने की ताकत। आहाहा!

जानते हुए में ही जानता हूँ... आधार—अधिकरण। मेरे जानने का आधार कौन? जानता हुआ, जाननेवाला, वह मुझमें आधार है। मेरे जानने में आधार कौन? कि जाननेवाला स्वयं आधार है। आहाहा! जानते हुए में से जानता हुआ। आहाहा! **जानते हुए में ही जानता हूँ...** जानते हुए में ही जानता हूँ, जाननेवाले में ही जानता हूँ। आहाहा! मन द्वारा जानता हूँ, यह नहीं। यह कहाँ जाननेवाले में है। आहाहा! यह पाँचवाँ बोल हुआ।

छठवाँ (कारक) कार्य / कर्म। कर्म। पहले कर्ता लिया था, उस कर्ता का कर्म कौन? कर्म अर्थात् कार्य। कर्ता करनेवाला, ऐसा कहकर फिर चार बोल लिये, पश्चात् करनेवाले का कार्य क्या? करनेवाले का—कर्ता का कार्य क्या? आहाहा! कि **जानते हुए को ही जानता हूँ।** यह कार्य, यह कर्म। कर्म अर्थात् कार्य। **जानते हुए को ही जानता हूँ।** मैं तो जानते हुए को ही जानता हूँ, परज्ञेय को नहीं। आहाहा! पर को जानता नहीं। गजब बात है। पर है, वह भिन्न रह गया है। भिन्न है, उसका सत्त्व ही भिन्न है। भिन्न है, उसे जानना—ऐसा कहना, वह तो असद्भूत व्यवहारनय है। आहाहा!

जानते हुए को ही जानता हूँ। जानते हुए को ही जानता हूँ, जाननेवाले को ही जानता हूँ। आहाहा! छठवाँ कर्म, कर्म (कारक चलता है)। कर्म अर्थात् कार्य। कर्ता, करण, सम्प्रदान, अपादान, अधिकरण और कर्म—यह छह बोल। आहाहा! ऐसा कान्तिभाई! सुना न हो कभी। जय नारायण करता हो न... भक्ति करो, मन्दिर बनाओ, पूजा करो। मन्दिर में यह और स्थानकवासी में यह। सामायिक करो और प्रोषध करो और... क्या करे? यह वस्तु बहुत महंगी पड़े। उसे बेचारे को सुखी तो होना है न! कहीं दुःखी तो होना (नहीं

चाहता)। आहाहा! आत्मा दुःखी हो, यह किसी की भावना होगी? परन्तु खबर नहीं होती। सुखी होने का रास्ता, उसका पन्थ और उसकी डगर, डगर—किस रास्ते जाना है, इसकी खबर नहीं मिलती। आहाहा! डगर नहीं कहते? जिस रास्ते ऐसे मनुष्य के पगर-पैर पड़े हों और वहाँ-वहाँ जाये तो रास्ता मिल जाये। इसी प्रकार जिस रास्ते भगवान गये हैं, वह रास्ता यहाँ बताया। उस रास्ते जा तो तुझे अन्दर भगवान मिलेंगे। आहाहा! वहाँ परमात्मा का पदचाप है। आहाहा! अन्तिम कहा न? क्या (कहा)?

जानते हुए को ही जानता हूँ। जानते हुए को ही जानता हूँ, पर को नहीं। आहाहा! पर को मैं नहीं जानता, क्योंकि मेरी पर्याय में परसम्बन्धी का ज्ञान मुझसे, मुझमें, मेरे द्वारा होता है। पर का पर द्वारा और पर द्वारा मुझमें होता है, ऐसा नहीं है। आहाहा! ऐसा बोल है। जानते हुए को ही, जाननेवाले को ही, माननेवाले को ही, देखनेवाले को ही, स्थिरतावाले को ही, आनन्द को ही जानता हूँ। आहाहा! छह बोल हो गये। यह पर्याय के बोल छह कहे। आत्मा की पर्याय में छह बोल कहे। परवस्तु नहीं, पर की अपेक्षा नहीं, राग की अपेक्षा नहीं, पर्याय में निर्मल पर्याय, निर्मल पर्याय है। यह निर्मल पर्याय के षट्कारक हैं। मलिन पर्याय के षट्कारक पंचास्तिकाय की ६२ गाथा में (कहे)। विकारी पर्याय के षट्कारक। कर्ता आत्मा, कर्म आत्मा विकारी। यह पंचास्तिकाय ६२वीं गाथा में (कहे)। यह निर्मल पर्याय के षट्कारक हैं परन्तु वह भी त्रिकाली द्रव्य में नहीं। आहाहा! यहाँ तक इसे जाना। आहाहा! कितनी धीरज चाहिए। शान्ति, धीरज। जो रास्ता है, उस रास्ते को कैसे साफ करके अन्दर जाना? आहाहा! उसमें कोई पर की अपेक्षा नहीं आती। आहाहा! ऐसा भगवान आत्मा...

मुमुक्षु : अन्तर में तो किसी की सलाह काम करती नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : अन्तर में यही काम करे। अन्दर जाए तो यह काम करे। दूसरा कोई कर सकता ही नहीं। यह कठिन पड़े, इसलिए क्या हो? पहला इसका श्रद्धा में तो ले, श्रद्धा तो पक्की करे कि इस प्रकार से अन्दर होवे तो ही कल्याण हो ऐसा है। इसके अतिरिक्त किसी प्रकार से कल्याण का पन्थ नहीं। भले सम्यग्दर्शन बाद में (हो) परन्तु उसके पहले विकल्प सहित निर्णय तो करे। विकल्प, विकल्प—रागसहित निर्णय आता

है न पहले? १३वीं गाथा में और सर्वत्र आता है, १३वीं गाथा में आता है। नय, निक्षेप, प्रमाण से पहले निर्णय करे, विकल्प आवे, होता है। परन्तु पश्चात् उसे छोड़कर, यह विकल्प है, वह भी अभूतार्थ है। आहाहा!

अरेरे! ऐसा कब सुने? ५०-५० वर्ष, ६०-६० वर्ष चले जाए और सुना न हो। जिन्दगी ऐसी की ऐसी चली जाती है, जाना कहाँ है? बापू! आहाहा! देह छोड़कर यहाँ से जाना है। भविष्य में अनन्त काल रहना है। वह इस विपरीत श्रद्धा और उल्टी मान्यता में रहेगा। अनन्त काल इस मान्यता में रहेगा। आहाहा! इसके वापस कभी सुनने का प्रसंग आयेगा? कब मनुष्य हो और कब सुनने का प्रसंग (आवे)? उसमें भी यह जैन परमेश्वर का सुनने का प्रसंग, वह भी जैन परमेश्वर का भी सच्चा सुनने का प्रसंग (कब मिले)? आहाहा! ऐसी दुर्लभ चीज़ है। आहा!

यह छह बोल पर्याय के कहे। निर्मल पर्याय के छह (कारक) कहे, यह भी व्यवहार है। आहाहा! यह सद्भूतव्यवहार है। रागादि है, वह असद्भूतव्यवहार है। निमित्त आदि तो एकदम पर है। वह तो असद्भूत उपचार है। आहाहा!

अब छह निकाल डालते हैं? **अथवा–नहीं जानता;..** कर्ता निकाल डाला। **न जानते हुए को जानता हूँ,..** यह कर्ता निकाल डाला। **नहीं जानते हुए के द्वारा जानता हूँ,..** नहीं जानते हुए रूप, यह कर्ता कहा, नहीं जानते हुए यह सामान्य बात ली। **न जानते हुए के लिए जानता हूँ,..** यह कर्ता निकाल डाला। **न जानते हुए से जानता हूँ,..** यह करण। **न जानते हुए में जानता हूँ,..** यह सम्प्रदान। **न जानते हुए को जानता हूँ,..** यह अपादान **न जानते हुए को जानता हूँ,..** यह आधार। **न जानते हुए को जानता हूँ,..** यह कर्म, कर्म। यह छह इन पर्यायों के भेद हैं, वे मुझमें नहीं हैं। आहाहा!

दया, दान, व्रत, भक्ति तो आत्मा है नहीं। आहाहा! परन्तु निर्मल पर्याय के षट्कारक ही द्रव्य में नहीं। क्योंकि पर्याय और द्रव्य दो स्वतन्त्र चीज़ें हैं। पर्याय द्रव्य को जाने बराबर पूरी रीति से, तथापि पर्याय में द्रव्य आता नहीं। आहाहा! पर्याय, सम्यग्दर्शन की पर्याय द्रव्य को पूरा जाने, पूरा माने। जितना है, उतना माने, उतना सम्यग्दर्शन में बल है, तथापि वह सम्यग्दर्शन की पर्याय द्रव्य में जाती नहीं और द्रव्य में सम्यग्दर्शन की पर्याय

आती नहीं। सम्यग्दर्शन की पर्याय में द्रव्य आता नहीं। आहाहा! ऐसी बातें अब कहीं सुनने को मिलना मुश्किल और फिर बैठना कठिन पड़े। यह प्रसंग ही लिया नहीं न। आहाहा!

किन्तु मैं सर्वविशुद्ध ज्ञप्ति (–जाननक्रिया) मात्र... मैं तो **सर्वविशुद्ध ज्ञप्ति (–जाननक्रिया) मात्र भाव हूँ।** यह तीसरा बोल आया। पहले चेतनेवाले में आया था, चेतनेवाले में सर्वविशुद्धि चेतनामात्र हूँ। फिर दर्शन में आया था सर्वविशुद्धि दर्शनमात्र हूँ, इस ज्ञान में आया सर्वविशुद्धि ज्ञप्तिमात्र जानन क्रियामात्र भाव हूँ। आहाहा! त्रिकाली ज्ञानमात्र स्वभाव, वह मैं हूँ। **(इस प्रकार देखनेवाले आत्मा को तथा जाननेवाले आत्मा को कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरणरूप...** क्रिया के कारक कहे गये। कर्ता भले लेना परन्तु वह कर्ता द्रव्य नहीं, पर्याय। पर्याय कर्ता, पर्याय कर्म, पर्याय करण, पर्याय सम्प्रदान, पर्याय अपादान, पर्याय आधार। यह कर्ता आत्मा और पर्याय कार्य—यह यहाँ नहीं है। यहाँ तो पर्याय कर्ता, पर्याय कर्म, पर्याय करण, पर्याय सम्प्रदान, पर्याय अपादान, पर्याय अधिकरण और कार्य—कर्म। आहाहा!

ऐसा एक घण्टा। सूक्ष्म पड़ा, लो! ऐसा मार्ग है। कभी सम्प्रदाय में तो सुनने को मिलना मुश्किल पड़े। हमारे सम्प्रदाय तो बहुत ऊँचा था। बोटाद सम्प्रदाय के हीराजी महाराज, (उनकी) बहुत ऊँची क्रिया (करते थे)। ऐसी क्रिया कि उनके लिये पानी की बूँद बने तो न ले। ऐसी उनकी आहार की क्रिया। कपड़ा-बपड़ा सामने लाकर घर में दे तो न ले। लेने जाए वहाँ भी कहीं दाना-बाना कुचल जाए, गुआर का कुछ टुकड़ा पड़ा हो और पैर के नीचे आवे तो वस्त्र न ले। बहुत सख्त किया थी। यह वस्तु सुनी नहीं थी। आहाहा! हीराजी महाराज थे। ४६ वर्ष की दीक्षा, बारह वर्ष की उम्र में ली थी। ५८ वर्ष में गुजर गये। परन्तु यह शब्द कान में नहीं पड़े थे। आहाहा! था नहीं न? नहीं तो जीव भद्रिक था, जीव बहुत शान्त, कषाय मन्द। आहाहा! उन्हें भी ऐसा सुनने को मिला नहीं। आहाहा! कहाँ गये होंगे? भाई ने नहीं देखे होंगे, नहीं? पुराने स्थानकवासी हों, उन्होंने देखे होंगे न? तुमने नहीं देखे होंगे। (संवत्) १९७४ में गुजर गये न? वहाँ 'कांप' में नीचे दाह संस्कार किया न? पुल के नीचे। (संवत्) १९७४, चैत्र कृष्ण अष्टमी को गुजर गये, नवमीं को सवेरे दाह संस्कार किया। आहाहा! यह ऐसे शब्द (सुनने को नहीं मिले)। ४६ वर्ष की दीक्षा, छह-छह कोस का विहार करके आवे। अपने आप आहार लेने जाए, शिष्यों को

न कहे। स्वयं जाए और स्वयं निर्दोष लेकर आवे, परन्तु वस्तु की खबर नहीं है। आहाहा! चीज़ कोई दूसरी रह गयी।

यहाँ यह कहते हैं। ऐसे छह बोल को (कहे)। है? **कारकों के भेदपूर्वक ग्रहण करके, तत्पश्चात् कारकभेदों का निषेध करके आत्मा को अर्थात् अपने को दर्शनमात्र भावरूप तथा ज्ञानमात्र भावरूप अनुभव करना चाहिए अर्थात् अभेदरूप से अनुभव करना चाहिए।** लो! छह कारक निकाल डालकर (अनुभव करना चाहिए)। विशेष कहेंगे..... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ३६९, गाथा-२९८, २९९ शनिवार, मगसिर कृष्ण ११
दिनाङ्क - १५-१२-१९७९

समयसार, २९८-२९९ गाथा, भावार्थ है।

(भावार्थ :- इन तीन गाथाओं में, प्रज्ञा के द्वारा आत्मा को ग्रहण करने को कहा गया है। प्रज्ञा अर्थात् ज्ञान द्वारा ज्ञान से आत्मा का अनुभव करना। रागादि है, वह सब क्रिया विकार है, उससे भिन्न पड़कर ज्ञान द्वारा आत्मा को ग्रहण करना अर्थात् अनुभव करना। है न? **'ग्रहण करना' अर्थात् किसी अन्य वस्तु को ग्रहण करना अथवा लेना नहीं है; किन्तु चेतना का अनुभव करना ही आत्मा का 'ग्रहण करना' है।** अनुभव है। पहली गाथा में ऐसा आया। पहली गाथा में दो प्रकार आये थे। मुझ और मेरे द्वारा और मेरे लिये ऐसी भाषा आयी थी और फिर चेतना के लिये और चेतना में, ऐसी भाषा आयी। दो बोल आये थे।

२९७ गाथा। दो बोल आये थे। मुझसे, है न उसमें? मैं ही मेरे द्वारा, मेरे लिये, मुझमें से, मुझमें, मुझे—ऐसे यह शब्द समुच्चय लेकर, पहले समुच्चय यह लिया, पहले मेरे लिये का (लिया), फिर चेतना का लिया। पहले स्वयं सामान्य लिया कि मेरे लिये मैं करता हूँ। अब यह है क्या? कि चेतना। उसके छह कारक लिये। समुच्चय अपने छह कारक लिये,

पश्चात् चेतना में छह लिये। चेतना के दो भाग—दर्शन और ज्ञान। उस एक-एक के छह भाग लिये। षट्कारक के चौबीस बोल आये हैं इसमें चार बार।

यहाँ **पहली गाथा में सामान्य चेतना का अनुभव कराया गया है।** अन्दर में मुझे, मेरे लिये, ऐसा है। पश्चात् चेतना के लिये, चेतना में इसके बाद। **वहाँ, अनुभव करनेवाला, जिसका अनुभव किया जाता है वह, और जिसके द्वारा अनुभव किया जाता है वह-इत्यादि कारक भेदरूप से आत्मा को कहकर, अभेदविवक्षा में...** भेद द्वारा पर्याय के छह कारक बताये परन्तु अभेद कथन में **कारकभेद का निषेध करके, आत्मा को एक शुद्ध चैतन्यमात्र कहा गया है।** ऐसा सूक्ष्म है। छह कारक के भेद, यह भी नहीं, यह व्यवहार है। आहाहा!

कल कहा था न? कि आत्मा के विकल्प उठें, वह तो नहीं, नय के विकल्प उठें, वह तो नहीं परन्तु ध्यान की धारा में पर्याय उठती है, वह नहीं। त्रिकाल ज्ञायकभाव हूँ, उसका अनुभव करना। फिर ऐसा लिया कि छह कारक, यह षट्कारक है, वह नहीं। धर्म सत्-असत्, एक-अनेक, द्रव्य-गुण-पर्याय, उत्पाद-व्यय यह नहीं और फिर गुण, ज्ञान, दर्शन यह नहीं। आहाहा! वह है अवश्य; जाननेयोग्य है; वह आदरने योग्य नहीं है। आहाहा! अभेद चैतन्य वस्तु जिसमें षट्कारक की पर्याय भी ऊपर तैरती है, अन्तर में नहीं है। आहाहा! ऐसे अभेद की दृष्टि करायी है।

अब इन दो गाथाओं में दृष्टा तथा ज्ञाता का अनुभव कराया है,... मेरा और चेतन, इसमें भेद करके समझाया। अब यह दृष्टा और ज्ञाता का आया। **क्योंकि चेतना-सामान्य दर्शनज्ञानविशेषों का उल्लंघन नहीं करती।** क्यों? दो क्यों कहा? चेतना में आ जाता था। पहले बोल में, २९७ में चेतना आ जाता था। चेतना, चेतना को और चेतना के लिये (यह आ जाता था), पश्चात् उसमें तुमने दो भाग किसके किये? **यहाँ भी, छह कारकरूप भेद-अनुभवन कराके,...** चेतना दर्शन, ज्ञान विशेषों को नहीं उल्लंघती इसलिए। यह चेतना भी दर्शन और ज्ञान दोनों को उल्लंघन नहीं करती। आहाहा! ऐसी सूक्ष्म बात है। चेतन, इसका जो मूल स्वभाव त्रिकाली चेतना, उस चेतना में दो प्रकार दर्शन और ज्ञान। वह चेतना दर्शन-ज्ञान को उल्लंघन नहीं करती। इसलिए चेतना के छह प्रकार करके और

उसके दो भेद दर्शन-ज्ञान करके और एक-एक के छह-छह बोल इस कारण से कहे हैं। समझ में आया इसमें?

मुमुक्षु : इतने सब भेद करने से तो राग उत्पन्न होगा।

पूज्य गुरुदेवश्री : भेद है, पर्याय है, द्रव्य-गुण-पर्याय है या नहीं? उत्पाद-व्यय-ध्रुव है या नहीं? पर्याय में षट्कारक पर्यायरूप से है या नहीं? है, परन्तु उसका लक्ष्य छुड़ाया है। क्योंकि वह भेद है। आहाहा! अखण्ड आनन्द प्रभु ज्ञायक है, उसकी दृष्टि करने से सम्यग्दर्शन होता है। इस भेद के लक्ष्य से तो राग उत्पन्न होता है। आहाहा! कठिन काम है, भाई! अपूर्व बात है न? बापू! कठिन की व्याख्या—अपूर्व। पूर्व में कभी किया नहीं। आहाहा! अनन्त काल में रुचिपूर्वक सुना भी नहीं। ऐसी यह चीज़ रह गयी है। इस चीज़ के लिये यहाँ स्पष्ट करते हैं। आहाहा!

प्रथम मैं मुझे मेरे लिये, मेरे द्वारा इत्यादि (कहा)। फिर चेतना द्वारा, चेतना को, उसके द्वारा, यह दो बोल उसमें डाले। फिर इस २९८-२९९ में दो बोल यह डाले। इस चेतना को जो कराया था, चेतना में दो गुण हैं, चेतना एकरूप नहीं है। दूसरे सब भेद निकाल डाले परन्तु चेतना दर्शन और ज्ञान भेदरूप, दो रूप है, वे निकल नहीं सकते। यह तो उसका स्वरूप है। आहाहा! समझ में आया इसमें? सूक्ष्म बात है। कहीं ऐसी बात सुनने को मिलती नहीं, लोगों को मुश्किल पड़े। कठिन लगे। वह दूसरा सरल लगे।

कहाँ सत् है? बापू! सत्य वस्तु जो है प्रभु! जो सच्चिदानन्द उत्पादव्ययध्रुवयुक्तं सत्, उसमें त्रिकाली सत् है। उत्पाद-व्यय-ध्रुव तीनों नहीं। आहाहा! द्रव्य-गुण और पर्याय—ऐसे तीन (भेद) भी नहीं। एक द्रव्य और एक सत्रूप त्रिकाल, उसका पर्याय में अनुभव करना, तथापि पर्याय के ऊपर लक्ष्य नहीं; लक्ष्य तो द्रव्य के ऊपर है। आहाहा! ऐसा सूक्ष्म मार्ग है, बापू! पहले विकल्प से उसका पक्का निर्णय करना। दृढ़ता से पक्का (निर्णय करना कि) मार्ग तो यह ही है। दूसरी कोई बात करते हों तो वह बात मार्ग नहीं है। आहाहा! व्रत पालो और अपवास करो और भक्ति करो (तो) कल्याण होगा, यह मार्ग नहीं है। यह तो मिथ्यात्व मार्ग है। आहाहा! गजब बात है। कठिन काम है।

यहाँ तो ऐसे छह कारक पर्याय में पड़ें, वे भी आश्रय करनेयोग्य नहीं हैं। व्यवहार

है, जाननेयोग्य है, आदरणीय नहीं। ऐसे वस्तु के तीन प्रकार हैं—द्रव्य, गुण और पर्याय परन्तु वे तीन भेद जाननेयोग्य हैं। आदरणीय तो द्रव्य, त्रिकाली सत् एक ही आदरणीय है। आहाहा! उत्पाद-व्यय और ध्रुव यह वस्तु का स्वरूप है, तथापि उत्पाद और व्यय वे जाननेयोग्य हैं। आदरणीय तो त्रिकाली ध्रुव अभेद है, वह आदरणीय है। अरे... अरे! ऐसी सूक्ष्म बात है। फिर लोग एकान्त कहे न? वस्तु को समझे नहीं।

दृष्टि, दृष्टि का विषय बहुत अलौकिक है। दृष्टि और दृष्टि का विषय पहले इसे सिद्ध करना चाहते हैं। पश्चात् दृष्टि में आने के बाद उसमें रमणता कैसे करना, वह चारित्र है। परन्तु अभी दृष्टि ही अभेद क्या है, उसकी वस्तु में वस्तु ही क्या है, इसकी खबर नहीं तो यह रमे और टके किसमें? यह तो वस्तु ऐसी अभेद है, उसमें षट्कारक के परिणाम का भेद का भी जिसमें व्यवहार का निषेध है। आहाहा! भेद डालकर समझाया। दूसरा कोई उपाय नहीं है। व्यवहार से समझाये बिना कोई उपाय नहीं है। आता है न? व्यवहार, व्यवहार उपदेश कि उपदेश तो व्यवहार से ही होगा परन्तु वह व्यवहार आदरणीय नहीं है। यह आठवीं-नौवीं गाथा में कहा है। आत्मा कौन है? कि आत्मा दर्शन, ज्ञान और चारित्र को प्राप्त हो, वह है। इतना भेद डालकर व्यवहार किया, तथापि वहाँ कहा कि हमने भेद डालकर कहा परन्तु हमारे और तुझे दोनों को भेद आदर करनेयोग्य नहीं है। आठवीं-नवमीं गाथा में कहा है। आहाहा! ऐसा गजब मार्ग, बापू! इसी प्रकार यहाँ भेद डालकर समझाया परन्तु आदर करनेयोग्य तो एक चैतन्यस्वरूप त्रिकाल ज्ञायकभाव, वह एक ही आदरणीय है।

अब, उसमें चेतना है, उसे कोई दो भेद करके, उसके भी दो भेद निकाल डाले। दूसरे भेद निकाल डालने पर यह भी निकाल डाले तो यह बात भी मिथ्या है। यह चेतन की जो चेतना, उसका स्वभाव ही दर्शन और ज्ञान दो है। उसका स्वरूप ही सामान्य और विशेष है। दर्शन सामान्य है, ज्ञान विशेष है। आहाहा! प्रत्येक वस्तु सामान्य विशेष है, तो चेतना भी सामान्य विशेष है। सामान्य दर्शन और विशेष ज्ञान। आहाहा! इसलिए चेतना को भी दर्शन, ज्ञान के दो भेद से समझाया और दो भेद हैं भी सही। वे दो भेद कोई निकाल डाले तो चेतना का नाश होने से चेतन का नाश होगा। राग को निकाल डालने पर आत्मा की सिद्धि होगी। भेद को निकाल डालने पर अभेद की दृष्टि होगी परन्तु चेतना के दो भेद निकाल

डालने पर चेतन का नाश होगा। आहाहा! समझ में आया? अब ऐसी बातें। सूक्ष्म बात है। भगवान! अपूर्व बात है, प्रभु!

मुनिराज कुन्दकुन्दाचार्यदेव भगवान के पास गये थे और मुनि भावलिंगी सन्त थे, भावलिंगी सन्त थे। आहाहा! सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र तीन के अनुभव में स्वसंवेदन प्रचुर था। इस जगत के समक्ष यह प्रसिद्ध करते हैं। उसकी टीका करनेवाले अमृतचन्द्राचार्य भी ऐसे ही थे। वे जगत को प्रसिद्ध करते हैं, प्रभु! तू स्वरूप से है, उसमें तीन प्रकार हैं अवश्य—द्रव्य, गुण और पर्याय; उत्पाद, व्यय और ध्रुव। तथा पर्याय में षट्कारक उत्पन्न हों, वह भी है, तथापि वह निषेध करनेयोग्य है। आहाहा! जो होता है, उसका निषेध होगा या न हो उसका निषेध होगा? तो उसका निषेध करने से चेतना में दो भेद हैं, उनका यदि निषेध करने जाएगा तो चेतना का नाश हो जाएगा। आहाहा! कहो, झवेरचन्दभाई! कभी यह तुम्हारे 'आंकडिया' में कहीं सुना नहीं। कल पूछते थे, कबूतर को दाना डालने का क्या? वह भाव अन्दर होता है, शुभ अनुकम्पा का भाव होता है, परन्तु वह पुण्य है, धर्म नहीं। आहाहा! वह तो धर्म नहीं परन्तु इन छह कारक के ऊपर लक्ष्य जाता है तो विकल्प उठता है, वह भी धर्म नहीं है।

आत्मा के तीन भेद हैं। अन्दर वस्तु द्रव्य, गुण, पर्याय है, उन तीन के भेद पर लक्ष्य जाए तो भी धर्म नहीं, वहाँ विकल्प उठेगा। उत्पाद-व्यय-ध्रुव, यह उसका स्वभाव है, उसका—वस्तु का स्वरूप है तो भी इन तीन का विचार करने जाएगा तो विकल्प उठेगा... आहाहा! राग उठेगा। आहाहा! इसलिए पहले कह गये हैं न? कि इसमें यह भेद तो है नहीं, विकल्प है नहीं। नय के विकल्प इसमें नहीं हैं कि निश्चयनय से ऐसा है और व्यवहार से ऐसा है और अभेद से ऐसा है तथा भेद से ऐसा है, ऐसे नय के विकल्प भी प्रभु आत्मा में नहीं है। और ध्यानावली के भेद जो ध्यान की पर्याय प्रगटे, वह प्रगटती है, वह तो पर्याय है, उसमें शुद्धि की वृद्धि होती है। वह एकरूप नहीं रहती; इसलिए वह भी आदरणीय नहीं है। आहाहा! वह भी व्यवहार है। गजब काम है, भाई! ध्यानावली पर्याय को व्यवहार कहना, उसके बदले अभी तो दया, दान, व्रत और भक्ति को व्यवहार कहकर छोड़नेयोग्य (कहते हैं), वहाँ तो चिल्लाहट मचाते हैं, चिल्लाहट मचाते हैं। हाय... हाय! तब अब करना क्या? यह तो आया था न? यह निषेध किया है परन्तु इसे शरण प्रभु अन्दर

है। शुभ और अशुभ का दो का निषेध किया, तो भी चैतन्यस्वभाव अन्दर नित्यानन्द का नाथ प्रभु वीतरागमूर्ति शरणभूत है। आहाहा! पूरी वस्तु को भूलकर तू मानो कि यह शुभाशुभ छोड़ा तो अब कहाँ जाना? यहाँ जाना। आहाहा! पूरी चीज़ पड़ी, वहाँ जाना। कृत्रिम विकल्प उठता है, उसे छोड़ देना। आहाहा! वह यह बात की है। है?

दृष्टा तथा ज्ञाता का अनुभव कराया है, क्योंकि चेतना-सामान्य दर्शनज्ञान-विशेषों का उल्लंघन नहीं करती। चेतन की चेतना, भगवान आत्मा की चेतना जो शक्ति... आहाहा! भगवान चेतनस्वरूप है, उसकी जो चेतना शक्ति है, वह दो—ज्ञान-दर्शन को उल्लंघन नहीं करती। **यहाँ भी, छह कारकरूप भेद-अनुभवन कराके,...** भले वहाँ आगे चेतना के भेद किये और दर्शन-ज्ञान के भेद समझाये, तो भी **तत्पश्चात् अभेद-अनुभवन की अपेक्षा से कारकभेद को दूर कराके,...** इन छह कारकों को भी दूर कराकर। (ऐसे) चेतना में भेद को दूर कराकर, ऐसा नहीं। चेतना के भेद तो दर्शन-ज्ञान हैं, तो उसका स्वरूप है परन्तु उनके षट्कारक जो हैं, वह भेद दूर कराकर। ऐसी बात। लोगों को कमाने के लिये चाहिए तो चौबीस घण्टे सिरपच्ची करके पचास, पचास-साठ, सत्तर-सत्तर वर्ष उसमें निकाले, फिर शरीर बहुत वृद्ध हो जाए तो जा न सके, चल (न) सके और इसके लिये करना हो कि भाई! यह क्या है परन्तु यह? यह सत् क्या है? इतना अन्तर? इसकी तुलना करने के लिये समय निकालना हो तो समय मिलता नहीं। आहाहा! यह बहुत ऊँची बात आयी है।

(दृष्टाज्ञातामात्र का अनुभव कराया है।) अब टीका। यह तो वचनिकाकार का हिन्दी।

टीका :- यहाँ प्रश्न होता है कि-चेतना दर्शनज्ञानभेदों का उल्लंघन क्यों नहीं करती कि जिससे चेतनेवाला दृष्टा तथा ज्ञाता होता है? क्या कहा यह? आत्मा चेतन है और उसकी चेतना है, वह भी दृष्टा और ज्ञाता दोरूप कैसे हो जाती है? आहाहा! समझ में आया? यह प्रश्न किया। प्रश्न समझना भी कठिन पड़ता है। आहाहा! 'विरला जाने तत्त्व को विरला सुनता कोई' 'विरला सुनता कोई' कार्तिकेयानुप्रेक्षा में ऐसा पाठ आता है। कार्तिकस्वामी महान मुनि हो गये हैं। 'विरला सुनता कोई' तत्त्व की बात तो

कोई विरल सुने और विरला जाने, और विरला श्रद्धा करे। आहाहा!

मुमुक्षु : सुनानेवाले भी विरले ही होते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : वे विरले... आहाहा! बहुत गजब बातें, बापू! वाद-विवाद से पार पड़े ऐसा नहीं है। इसीलिए तो नियमसार में कुन्दकुन्दाचार्य ने कहा, प्रभु! तू समय—स्वसमय अर्थात् जैन सम्प्रदाय के साथ या अन्य सम्प्रदाय के साथ वाद-विवाद नहीं करना। क्यों इतने सब भेद और निश्चय और व्यवहार में पड़ें। व्यवहार में है और वह व्यवहार छोड़े, यह व्यवहार रहा, यह व्यवहार रहा, परन्तु व्यवहार है, वह छोड़ने योग्य है या आदरने योग्य है?

कथन में व्यवहार (के) कथन का पार नहीं है। यह ११वीं गाथा में आ गया है। हस्तावलम्ब जानकर भगवान ने व्यवहार बहुत कहा है, परन्तु उसका फल संसार है। ११वीं गाथा में अर्थ में आ गया है। आहाहा! यह तो परमात्मा की कथा है, प्रभु! यह कहीं वार्ता नहीं, कथा-वार्ता नहीं। यह तो त्रिलोकनाथ सर्वज्ञदेव परमात्मा के मुख से निकली हुई ध्वनि है, उसका यह तो सार है। यह किसी की कल्पना से या छद्मस्थ ने की हुई यह वस्तु नहीं है, बापू! आहाहा! बहुत धीरे से, शान्ति से सुने तो इसे पकड़ में आये ऐसा है। नहीं तो बात एकान्त लगे, एकान्त लगे, ऐसी बात है। यह खबर है, बापू! आहा! बहुत वर्ष से तो बाहर का सुनते हैं कि एकान्त है, यह एकान्त है। अभी कल आया था, काललब्धि नहीं। कहो! मोक्षमार्गप्रकाशक का आधार दिया है। काललब्धि और भवितव्य कुछ वस्तु ही नहीं है। इसलिए होनहार के समय में हो, ऐसा कुछ नहीं है। आहाहा! भगवान सर्वज्ञ परमात्मा ने देखा, वैसा होगा। 'जो जो देखी वीतराग ने सो सो होंशी वीरा। आहाहा! 'काहे होत अधीरा। कुछ अनहोनी होगी नाहीं।' यह नहीं मानते। यह मानने जाए तो सर्वज्ञ सिद्ध (हो), क्रमबद्ध सिद्ध हो जाए और आत्मा का पुरुषार्थ सिद्ध हो। आत्मा की ओर उसका झुकाव हो, तब उसे क्रमबद्ध जँचे। आहाहा! ऐसी बातें हैं, बहुत सूक्ष्म, भगवान! आहाहा!

क्या कहा यह? **यहाँ प्रश्न होता है कि-चेतना दर्शनज्ञानभेदों का उल्लंघन क्यों नहीं करती कि जिससे चेतनेवाला दृष्टा तथा ज्ञाता होता है?** ऐसा। चेतन ऐसा आत्मा, चेतना ऐसा उसका गुण; वह गुण दो भेद को उल्लंघन नहीं करता तो जिससे आत्मा भी दृष्टा

और ज्ञाता दोरूप हो जाता है। चेतना को दो रूप से सिद्ध करने जाते हो, वहाँ आत्मा भी दो रूप हो जाएगा। समझ में आया? यह प्रश्नकार का प्रश्न है। अभी प्रश्न समझना चाहिए या नहीं? आहाहा! प्रश्न क्या है? कि चेतना, यह चेतन भगवान आत्मा, उसमें चेतना उसका त्रिकाली गुण है। यहाँ तो कहते हैं चेतना व्यापक है और आत्मा व्याप्य है, ऐसा कहेंगे। चेतना जो है त्रिकाल रहनेवाली है और आत्मा उसका व्याप्य है। नहीं तो आत्मा व्यापक और पर्याय व्याप्य, यह तो बराबर है। परन्तु यह तो यहाँ चेतना गुण है, वह त्रिकाल रहनेवाला है, वह व्यापक है, ऐसे पसरनेवाला है और आत्मा व्याप्य है। यदि चेतना का निषेध करने से आत्मा व्याप्य है, उसका निषेध हो जाएगा। समझ में आया? यह प्रश्नकार प्रश्न है। अभी प्रश्न समझना चाहिए या नहीं? आहाहा!

प्रश्न क्या है? कि चेतना, यह चेतन भगवान आत्मा में चेतना उसका त्रिकाली गुण है। यहाँ तो कहेंगे चेतना व्यापक है और आत्मा व्याप्य है, ऐसा कहेंगे। चेतना जो है, वह त्रिकाल रहनेवाली है और आत्मा उसका व्याप्य है। नहीं तो आत्मा व्यापक और पर्याय व्याप्य, यह तो बराबर है, परन्तु यह तो चेतना गुण है, वह त्रिकाल रहनेवाला, वह व्यापक है, ऐसे पसरनेवाला है और आत्मा व्याप्य है। चेतना का निषेध करने से आत्मा व्याप्य है, उसका निषेध हो जाएगा। आहाहा! ऐसी बातें हैं। ऐसा उपदेश? जैन परमेश्वर ने ऐसा किया होगा? हम तो सुनते हैं कि सामायिक करो, प्रोषध करो, प्रतिक्रमण करो, इच्छामि पडिकमण करो, तस्सूतरी... लो! आठम प्रोषध करो, रात्रिभोजन न करो, छह परबी दया पालो, ब्रह्मचर्य पालन करो, छह परबी कन्दमूल नहीं खाना। अरे! प्रभु! सुन, भाई! यह सब बातें मन्द राग की क्रिया की बातें हैं, बापू! यह धर्म अलग चीज़ है, भाई! आहाहा! यह प्रभु की बातें, प्रभु! अलग प्रकार की है। आहाहा! उसे शान्ति से पूर्व का आग्रह छोड़कर मध्यस्थ भाव से यह तो सुननेयोग्य है, भाई! आहाहा!

हमारे तो बहुत वर्षों से यह क्रमबद्ध की बात चलती है। दो हजार के वर्ष में विस्तार से की थी। यो भी हमारे तो यह परिचय (था)। पिताजी की दुकान घर की थी न! पालेज, पालेज है न? इसलिए मैं तो वहाँ यह शास्त्र पढ़ता। एक परमहंस और एक कुबेर के, वे कुबेर क्या कहलाते हैं वे? कबीर के साधु आये थे। यह तो बहुत वर्ष की बात है। (संवत्) १९६६-१९६७। हम तो जैन थे न, और हमारी वहाँ प्रसिद्धि (थी)। हमारी दुकान के पीछे

एक धर्मशाला थी, वहाँ वे उतरे हुए थे। उन दोनों के चर्चा होती थी। बड़ी चर्चा हुई। यह तो १९६५-१९६६ की बात है। वह कबीर कहे कि ईश्वर कर्ता नहीं, वह (दूसरा) कहे, कर्ता है। लाओ सिद्ध करते हैं। कर्ता न माने तो मिथ्या है। वह कहे, परन्तु मुझे समझाओ। जब ईश्वर कर्ता है तो ईश्वर ने यह सब किया, तब कहाँ था? नहीं था, तब खड़ा कहाँ था वह? और हम जैन लोग। उस समय तो छोटी उम्र न, १८-१९ वर्ष की (उम्र थी)। हमारे सामने देखकर वह कबीरवाला जैनों को देखकर कहे, क्यों भाई! यह ईश्वर कर्ता होवे तो वह वस्तु नहीं थी, तब खड़ा कहाँ था? उसे किसने बनाया? जमीन नहीं थी, आकाश नहीं था, कुछ नहीं था तब कहाँ खड़ा रहा? यह तो बहुत (वर्ष पहले की बात है)। आहाहा! छोटी उम्र में से सब चर्चा सुनते थे। कहा, बात सत्य, भाई! ईश्वर कर्ता होवे तो यह सब चीज़ नहीं थी तो यह सामग्री आयी कहाँ से? लाये कहाँ से? वह ईश्वर खड़ा कहाँ रहा? और फिर सामग्री कहाँ से लाया? ऐसी चर्चा तो तब से चलती है। १९६४ और १९६५ के वर्ष से। आहाहा! उसमें रस लेते हैं, दुकान छोड़कर सुनते हैं। क्या कहते हैं ये लोग? अपन जैन कहलावें, इसलिए वे लोग जैन के सामने देखकर कहे, यह जैन लोग ईश्वर को (कर्ता) मानते नहीं हैं। आहाहा!

मुमुक्षु : सरस न्याय निकाला।

पूज्य गुरुदेवश्री : न्याय से कहा है। उसने कहा, तू मेरा शिष्य हो तो समझाऊँ। परन्तु पहले समझे बिना? एक कबीर का साधु था और एक था परमहंस वेदान्ती। दोनों बड़े थे। वहाँ धर्मशाला है, उसमें उतरे थे। हमारी दुकान के पीछे। हमें खबर पड़ी, इसलिए गये। हम सुनने गये थे। यह तो पहले से रस था न! कबीर का साधु आवे तो जाते थे, सुनने जाऐं। कबीर का जवान साधु आता था। बहुत वैराग्य, बहुत वैराग्य। ज़ीन, वहाँ बाहर ज़ीन है, उसमें उतरे और बहुत वैराग्य से बात करे। फोनोग्राम... क्या कहलाता है वह? हारमोनियम। बहुत वैराग्य से (बोलता), तत्त्व दूसरी बात है परन्तु उसकी वैराग्य की बातें बहुत करे तो हम सुनने जाते थे। परन्तु यह तत्त्व बापू! कोई अलग बात है। यह तो वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा जिनेश्वरदेव के अतिरिक्त कहीं है नहीं। उन वाड़ा में रहे हुए को अभी समझ में नहीं आता। कितने ही वर्ष निकाले तो भी अभी अन्दर गड़बड़ उठती है। आहाहा!

यहाँ देखो न, शिष्य का प्रश्न कैसा है ? शिष्य के प्रश्न में मर्म है, कि जब तुम्हें यह आत्मा चेतन है, उसकी चेतना के दो प्रकार कहोगे दृष्टा—दर्शन और ज्ञान, तो आत्मा भी दृष्टा और ज्ञाता एक है, वह दो रूप हो जाएगा। प्रश्न बराबर समझ में आता है ? समझना चाहिए न, बापू! यह ऐसे का ऐसा मान लेना यह कोई वस्तु है ? वीतराग तो कहते हैं 'नेयावयम' पाँचवें श्रमणसूत्र में आता है। श्रमणसूत्र नहीं आता ? पाठ में... 'नैयावयम'। किसे खबर अर्थ की यह तो पहाड़े बोलता जाता है। हो गया प्रतिक्रमण और चलो। धूल भी नहीं। प्रतिक्रमण भी नहीं और प्रत्याख्यान भी नहीं, बापू! यह सम्यग्दर्शन कोई चीज़ ऐसी है। इसके बिना सब बिना इकाई के शून्य लाख करोड़ करे तो भी संख्या में नहीं आते। आहाहा! यह इस सम्यग्दर्शन की शुद्धि की बात है।

शिष्य ने ऐसा प्रश्न किया, कि चेतना-चेतन की चेतना, चेतन की चेतना... यह क्या ? आत्मा चेतन है, उसकी चेतना गुण त्रिकाल, यह जो दर्शन और ज्ञानमय दो होते हैं, भेदों को उल्लंघन नहीं करती हो तो जिससे चेतनेवाला भी दृष्टा और ज्ञाता हो जाए, तो आत्मा एक है, वह दो रूप हो जाए—दृष्टा और ज्ञाता। आहाहा! समझ में आया इसमें ? भाषा तो सादी है, भाव तो प्रभु है, वह है। आहाहा!

इसका उत्तर कहते हैं– इसका उत्तर टीकाकार है, यह तो आचार्य की बात है। जिसे ऐसा प्रश्न उद्‌भव होता है, उसे हम यह उत्तर देते हैं। सुनने के लिये सुने और अन्दर समझने की दरकार करे नहीं कि, यह क्या कहना चाहते हैं, उसे नहीं। जिसे जिज्ञासा हुई है कि प्रभु! आत्मा हम चैतन्य कहें तो उसकी चेतना, उसका गुण कहते हैं। तो गुण कहते हैं तो चेतना के भी दो भेद हो गये, दर्शन और ज्ञान। तो दर्शन और ज्ञान दो भेद हो गये तो आत्मा भी दृष्टा और ज्ञाता हो गया। अकेला दृष्टा रहा नहीं, ज्ञाता अकेला नहीं रहा। दृष्टा और ज्ञाता दो रूप हो गया। वह भी भेद में आ गया। आहाहा! यह शिष्य का प्रश्न है। आहाहा! कोई भी बोल विचारकर तुलना करके मानना चाहिए। ऐसे का ऐसा माने, वह तो अनादि काल से काल निकाला है, बापू! अनन्त भव किये हैं। आहाहा!

प्रथम तो चेतना प्रतिभासरूप है। उत्तर... उत्तर। सूक्ष्म तो है, प्रभु! अपूर्व बात है, नाथ! परन्तु अब समझना तो पड़ेगा इसे। आहाहा! वीतराग जैन परमेश्वर, जिन्हें त्रिकाल

ज्ञान (हुआ है), परमात्मा साक्षात् विराजते हैं। महाविदेहक्षेत्र में तो साक्षात् विराजते हैं। महावीर भगवान तो मोक्ष में पधारे। वे णमो सिद्धाणं में गये। चौबीस तीर्थंकर अभी णमो अरिहंताणं में नहीं हैं, णमो सिद्धाणं में गये और यह सीमन्धर भगवान विराजते हैं, वे णमो अरिहंताणं में हैं। सिद्ध को वाणी नहीं होती, शरीर नहीं होता, उन्हें उपदेश नहीं होता। वे तो भगवान हैं, विराजते हैं, अरिहंत पद में हैं, चार कर्म का नाश किया, चार कर्म बाकी हैं, शरीर और वाणी दोनों हैं। वाणी निकलती है—सवेरे, दोपहर, रात्रि छह-छह घड़ी वाणी निकलती है, इन्द्र सुनते हैं। इन्द्र, बाघ, नाग, मनुष्य, वहाँ प्रभु के निकट सुनने जाते हैं। अभी महाविदेह में मनुष्यक्षेत्र में है। आहाहा!

मुमुक्षु : महाविदेहक्षेत्र इस ओर आया।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, इस ओर आया?

मुमुक्षु : कहाँ तक जाऐं तो आवे?

पूज्य गुरुदेवश्री : नजर लम्बी करे तो लक्ष्य में आवे। यह शरीर नहीं जा सकता, शरीर नहीं जा सकता। वे तो कुन्दकुन्दाचार्य गये थे, संवत् ४९। इस देह से गये थे। भगवान के समवसरण में आठ दिन रहे थे। वहाँ तो पाँच सौ धनुष का देह है। भगवान को पाँच सौ धनुष (अर्थात्) दो हजार हाथ ऊँचा (देह है)। सीमन्धर प्रभु अभी दो हजार हाथ ऊँचे हैं। और यह कुन्दकुन्दाचार्य ४९ में गये, दो हजार (वर्ष पहले), चार हाथ ऊँचे। वह क्या कहलाता है छोटा? टिड्डी, टिड्डी। टिड्डी जैसा लगे। छोटा टिड्डी बैठा हो (ऐसा लगे)। प्रभु को चक्रवर्ती ने पूछा, प्रभु! यह टिड्डी जैसा मनुष्य है कौन? छोटा। आहाहा! यह संवत् ४९ की बात है।

मुमुक्षु : आप कहते हो, दूसरे तो उसे धर्म ही कहते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : दुनिया कहे, स्वतन्त्र है। 'जिसमें जितनी बुद्धि है, इतनो दिये बताय, वांको बुरो न मानीये और कहाँ से लाये?' जो उसे बैठा हो, वह कहे, दूसरा कहाँ से लावे बेचारा? वह प्रभु है। आहाहा! प्रभुता की खबर नहीं, अन्दर प्रभु है कितना और कैसा (इसकी खबर नहीं)। आहाहा! शिष्य का प्रश्न देखो न कितना है?

प्रभु! जब इस चेतन को-आत्मा को तुम चेतनागुण कहकर दो भेद करोगे तो चेतन

ऐसा जो भगवान, उसके दो भेद पड़ जाएँगे, वह दृष्टा और ज्ञाता हो जाएगा। आहाहा! कितना विचार करके प्रश्न है। है तो आचार्य ही आचार्य स्वयं कहनेवाले। आहाहा! समझ में आये ऐसा है, भगवान! न समझ में आये ऐसा नहीं है, प्रभु! यह तो प्रभु, प्रभु को बात करते हैं। तू प्रभु है, भगवान! अन्दर प्रभु है, परमेश्वर है। आत्मा अन्दर परमेश्वरस्वरूप है। आहाहा! उसे यह कहते हैं। कहीं यह जड़ को और शरीर को नहीं (कहते)। यह तो मिट्टी है, धूल है। तथा दया, दान के परिणाम होते हैं, वे तो राग हैं। उन्हें यह कुछ नहीं कहते। राग कुछ जानता है? राग को कहे यह? इस राग को जाननेवाला प्रभु अन्दर है, उसे यह तो कहते हैं। आहाहा!

ऐसा जिसका प्रश्न उठा, **इसका उत्तर कहते हैं–प्रथम तो चेतना प्रतिभासरूप है।** सुन! जो चेतन भगवान, उसकी जो चेतना शक्ति—गुण, वह प्रतिभासरूप है। प्रतिभास अर्थात् कि उसमें ज्ञान होता है, ज्ञात होता, दिखता है ऐसा। अब **वह चेतना द्विरूपता का उल्लंघन नहीं करती,...** वह प्रतिभासरूप है, वह प्रतिभासरूप है, वह दो रूप को उल्लंघन नहीं करती। विशिष्टता करेंगे। वह प्रतिभासरूप है, वह दो रूप को उल्लंघन नहीं करती। आहाहा!

क्योंकि समस्त वस्तुएँ सामान्य–विशेषात्मक हैं। आहाहा! प्रत्येक वस्तु सामान्य-विशेष है। सामान्य अर्थात् द्रव्यरूप से, विशेष अर्थात् पर्यायरूप से। इस रूप प्रत्येक वस्तु ऐसी है। सामान्य-विशेष। परमाणु हो, आत्मा हो, परमेश्वर हो, सिद्ध हो, केवलज्ञानी हो। केवलज्ञान वह पर्याय है, उसका आत्मा वह द्रव्य है। प्रत्येक वस्तु सामान्य-विशेष स्वरूप ही है। आहाहा! पहली यहाँ विशिष्टता कैसी कही कि प्रतिभासरूप से ऐसा सिद्ध करना है। उसमें दो प्रकार से प्रतिभास होता है—दर्शन और ज्ञान, ऐसा सिद्ध करना है। चेतन की चेतना में प्रतिभास स्वभाव है। प्रतिभास अर्थात् जो सामने है, वह अपने में अपने से ज्ञात हो, वैसा उसका स्वभाव है। इस प्रतिभास के दो प्रकार हैं, यह अब बतलाने हैं।

चेतना द्विरूपता का उल्लंघन नहीं करती, क्योंकि समस्त वस्तुएँ सामान्य –विशेषात्मक हैं। समस्त वस्तुएँ सामान्य अर्थात् दर्शन और विशेष अर्थात् ज्ञानस्वरूप है—आत्मा। और परमाणु आदि द्रव्य सामान्य और गुण-पर्याय विशेष। यह सामान्य

-विशेष प्रत्येक वस्तु ऐसी है। आहाहा! अब ऐसा उपदेश। अनजाने व्यक्ति को तो ऐसा लगे कि क्या यह जैन परमेश्वर की बात होगी यह ? आपने तो जहाँ हो वहाँ बातें करते हैं कि ऐसा करो, सामायिक और प्रोषध करो, यह छोड़ो और यह रखो और यह छोड़ो... सब बातें क्रियाकाण्ड की, सब कर्ताबुद्धि की बातें हैं, सब अज्ञान की, अज्ञान की (बातें हैं)। यह ज्ञान की बातें, बापू! यह कोई सर्वज्ञ त्रिलोकनाथ की अलग हैं। उनके साथ कोई कहीं मिलान खाये, ऐसा नहीं है। आहाहा!

कहते हैं **समस्त वस्तुएँ सामान्य-विशेषात्मक हैं। (सभी वस्तुएँ सामान्य -विशेषस्वरूप हैं। इसलिए...** परमाणु भी सामान्य-विशेष (स्वरूप है)। द्रव्य है और उसके गुण तथा पर्याय भेद भी है, विशेष है। **इसलिए उन्हें प्रतिभासनेवाली चेतना...** क्या कहा यह ? प्रत्येक चीज़ सामान्य-विशेषस्वरूप है, इसलिए उसे चेतनेवाली, प्रतिभास करनेवाली चेतना भी दो रूप है। आहाहा! यह लॉजिक से-न्याय से तो (बात) है। भगवान का मार्ग तो लॉजिक-न्याय से है। ऐसा का ऐसा मान लेना, यह कहीं वस्तु नहीं है। आहाहा!

प्रत्येक चीज़ सामान्य-विशेष (स्वरूप है)। कायम रहकर अवस्था बदलती है, वह दो प्रकार ही है। तब प्रत्येक चीज़ जब दो प्रकाररूप है तो उसे जाननेवाली चीज़ भी दो प्रकार से है। आहाहा! है ? तब **उसके जो दो रूप हैं, वे दर्शन और ज्ञान हैं।** सामान्य -विशेष प्रत्येक चीज़ है, उसे जाननेवाली चेतना भी दो रूप है, जानना और देखना। इन दो रूप से दर्शन और ज्ञान है। **इसलिए वह उनका उल्लंघन नहीं करती।** चेतना, दर्शन और ज्ञान—देखना और जानना, इसे चेतना उल्लंघन नहीं कहती। क्योंकि प्रत्येक वस्तु सामान्य-विशेष है तो स्वयं भी सामान्य-विशेष है।

प्रत्येक वस्तु सामान्य-विशेष है, आत्मा भी सामान्य-विशेष है। प्रत्येक वस्तु सामान्य-विशेष है तो चेतना भी सामान्य-विशशेषरूप है। इस सामान्य-विशेष को प्रतिभास करनेवाली जाननेवाली भी, जैसे सामान्य-विशेष (वस्तु है), उसी प्रकार यह जाननेवाली (चेतना) भी सामान्य-विशेष दो रूप से है। समझ में आया ? आहाहा!

फिर से। शिष्य का प्रश्न हुआ कि प्रभु! चेतना कहकर आप दो भाग कर देते हो—

दर्शन और ज्ञान, तो फिर आत्मा भी दो रूप हो जाएगा—दृष्टा और ज्ञाता। आत्मा एकरूप है, उसके दो रूप हो जाऐंगे। आहाहा! सुन, भाई! क्या अपेक्षा है यह? प्रत्येक वस्तु सामान्य-विशेषस्वरूप है। त्रिकाल रहना और विशेष वर्तमान गुण और पर्याय के भेदरूप भी है। तो प्रत्येक वस्तु सामान्य-विशेषरूप है, उसे जाननेवाली चेतना भी सामान्य-विशेषरूप है। प्रतिभास—जो है, है उसका प्रतिभास। जो वस्तु है, वह वहीं की वहीं रही परन्तु उसका प्रतिभास करनेवाली चेतना भी दो रूप है। इसलिए वस्तु भी सामान्य-विशेष है, उसकी जाननेवाली चेतना भी सामान्य-विशेष है। आहाहा! अब ऐसा ध्यान करना न... झवेरचन्दभाई! कभी दुकान में और लड़के में सुना नहीं था ऐसा कहीं। आहाहा! ऐसा मार्ग, यह तो शान्ति का मार्ग है, बापू! यह कोई वाड़ा नहीं, कोई पक्ष नहीं। यह जैनधर्म कोई पन्थ नहीं, पक्ष नहीं; जैनधर्म तो वस्तु का स्वरूप है। वस्तु जैसी है, वैसी जानी है, वैसी कही है, इसका नाम जैनधर्म। यह कोई पक्ष नहीं कि हम ऐसा कहते हैं और तुम ऐसा कहते हो, ऐसी यहाँ बात नहीं है।

यहाँ तो भगवान ने तीन काल-तीन लोक की जो चीज़ें हैं, वे देखी हैं, वह वस्तु सामान्य-विशेष है तो उसकी जाननेवाली चेतना भी सामान्य-विशेष है। वह वस्तु का स्वरूप है। वह कोई पक्षपात या उसकी बात नहीं है। आहाहा! अकेले न्याय बहुत आये। भाषा तो सादी है। वह पकड़ में आये, पकड़े तो पकड़ में आये ऐसा है, बापू! आहाहा! अरे! ऐसा समय कब मिलेगा? प्रभु! मनुष्यपना मिला, उसमें वीतराग की सच्ची बात.... आहाहा! अरे..रे..! सच्ची (बात) सुनने को मिले नहीं, वह कब विचार करे और कब रुचि करे और बैठे? आहाहा! और जीवन चला जाता है। आहा! प्रतिदिन सुनते हैं, अमुक मर गया और अमुक मर गया, अमुक मर गया। आहाहा! यह तो देह की स्थिति पूरी हो, वहाँ क्या हो? आहाहा! देह की तो मर्यादा है। यह तो जितना काल रहनेवाली है, ठीक उतना ही काल, उस समय में ही छूटनी है। जिस क्षेत्र में, जिस काल में, जिस संयोग से छूटनी है, उस-उस काल में बराबर छूटेगी। उसमें लाख इन्द्र उतरे या कोई डॉक्टर इंजेक्शन लगावे तो एक समय बढ़े, (ऐसा) तीन काल में नहीं है। डॉक्टर की देह छूट जाती है। आहाहा! वह बड़ा सर्जन—बड़ा डॉक्टर था। भावनगर हेम... कैसा? हेमन्तकुमार बड़ा होशियार था। पाटनी का रिश्तेदार था। प्रभाशंकर पाटनी नहीं? प्रभाशंकर पाटनी यहाँ आये थे, व्याख्यान सुनने

आये थे। प्रभाशंकर स्वयं आये थे और वे भी आये थे, वे भी दो-तीन बार आये थे। आवे तो सही, आस-पास के सब दरबार भी आये थे। पालीताणा दरबार, कृष्णकुमार दरबार सब व्याख्यान में आये थे। एक बार सुनने आ जाए, बड़ा नाम सुनकर (आ जाए)।

यहाँ कहते हैं कि यह वस्तु... आहाहा! चेतन, तू चेतन है या नहीं? तो चेतन की चेतना शक्ति है। चेतन तो शक्तिवान है। अब उसकी शक्ति क्या? चेतन की शक्ति चेतना है। अब चेतना शक्ति दो रूप से क्यों? कि सभी चीज़ें सामान्य-विशेषरूप है तो उनकी जाननेवाली चेतना भी दो रूप होती है तो दो रूप को दो रूप से जाने। जैसा सामान्य-विशेष द्रव्य-पर्याय है, उस प्रकार से जाने तो द्रव्य-पर्याय का ज्ञान सच्चा हो। आहाहा! सूक्ष्म पड़े परन्तु क्या हो? मार्ग तो ऐसा है।

(सभी वस्तुएँ सामान्य-विशेषस्वरूप हैं। इसलिए उन्हें...) किसे? सामान्य-विशेष वस्तु को। **प्रतिभासनेवाली चेतना भी द्विरूपता का उल्लंघन नहीं करती।)...** आहाहा! न्याय तो देखो! जाननेयोग्य वस्तु जब सामान्य-विशेष है तो उसे जाननेवाली चेतना भी दो रूप को उल्लंघन नहीं करती। उसका भी सामान्य-विशेष दो रूप स्वरूप ही है, उसका स्वरूप ही वह है। **(चेतना भी द्विरूपता का उल्लंघन नहीं करती।) उसके जो दो रूप हैं, वे दर्शन और ज्ञान हैं।** आहाहा! पुण्य, पाप और राग-द्वेष की तो यहाँ बात है ही नहीं। दया, दान, व्रत और भक्ति ये सब परिणाम राग में-विकार में जाते हैं। धर्म में नहीं, धर्म के साधन में-फाधन में ये कोई है नहीं। आहाहा! यह लाखों रुपये के मन्दिर बनाना और... वह तो बनने के काल में बनते हैं, बापू! इसका भाव हो, वह शुभभाव होता है। शुभभाव पुण्य है; धर्म-बर्म नहीं। धर्म कोई अलग चीज़ है, बापू! आहा!

इसलिए वह उनका (-दर्शन-ज्ञान का) उल्लंघन नहीं करती। क्योंकि चेतन की चेतना जब जानन-प्रतिभासरूप है अर्थात् कि दूसरी चीज़ें हैं, उन्हें जानने का स्वतः... स्वतः स्वयं से स्वभाव है, तब दूसरी चीज़ भी सामान्य-विशेष है, उसे जाननेवाली चेतना भी स्वतः दो रूप स्वभाव है। सामान्य और विशेष, दर्शन और ज्ञान—ऐसे दो रूप स्वभाव उसका है। आहाहा! एक-एक गाथा ऐसी है यह सब। आहाहा! पूरा संसार उखाड़ डाले। अन्दर अकेला भगवान खड़ा रहता है। चेतन दृष्टा, ज्ञाता भगवान आत्मा। आहाहा!

यदि चेतना दर्शन-ज्ञान का उल्लंघन करे तो सामान्य-विशेष का उल्लंघन करने से... क्या कहते हैं ? चेतन की चेतना प्रतिभासरूप है। जो चीज़ है, उसे जानने की स्वभाववाली है। वह उसके कारण नहीं परन्तु उसका अपना जानने का स्वभाव है। स्वयं से स्वयं को जानने का स्वयं का स्वभाव है। तब जो सामान्य-विशेषस्वरूप है, वह अपने को जानने के स्वभाववाली स्वयं चीज़ भी दो स्वरूप है। चेतना—दर्शन और ज्ञानरूप। उसके अभाव में... आहाहा! उल्लंघन करने से। चेतना यदि सामान्य-विशेष को छोड़ दे तो **चेतना ही न रहे (अर्थात् चेतना का अभाव हो जायेगा)। उसके अभाव में दो दोष आते हैं-** चेतना का अभाव होने से चेतना के दो प्रकार हैं सामान्य-विशेष, वस्तु सामान्य-विशेष है अर्थात् जाननेवाला सामान्य-विशेष है, यदि सामान्य-विशेष को चेतना उल्लंघन करे, चेतन की चेतना, हों! राग, द्वेष और पुण्य-पाप की यहाँ बात नहीं है। आहाहा!

(१) अपने गुण का नाश होने से चेतन को अचेतनत्व आ जाएगा,... चेतना का स्वभाव दर्शन-ज्ञान है। यदि इन दो रूप को उल्लंघन करे तो चेतनारहित चेतन जड़ हो जाए। आहाहा! **(१) अपने गुण का नाश होने से चेतन को अचेतनत्व आ जाएगा,...** चेतन को जो चेतना दो प्रकार से स्वभाव है, वह न होवे तो चेतन, चेतना बिना चेतन जड़ हो जाए। जाननेवाले का दो प्रकार का स्वभाव है—सामान्य-विशेष। उसका यदि अभाव करो तो चेतन का ही अभाव हो जाए। न्याय समझ में आता है ? प्रभु का मार्ग न्याय से, लॉजिक से है। ऐसा का ऐसा मान लेना, ऐसा नहीं। भगवान तो कहे, हम कहते हैं, उसे कसौटी पर चढ़ाकर, न्याय की तुलना से तराजू में तौलकर, न्याय के तराजू पर तौलकर, न्याय के तराजू पर तौलकर मानना। ऐसे का ऐसा ऊपर-ऊपर से मानना नहीं कि पाँच सेर है और सात सेर है। तौलकर मानना। यह पाँच सेर है, यह सवा पाँच सेर, यह साढ़े पाँच सेर है। आहाहा!

इसी प्रकार जो चीज़ जिस प्रकार है, उसे देखनेवाली चीज़ चेतना है, वह भी सामान्य-विशेषस्वरूप है। सामान्य-विशेष को उल्लंघन करे तो चेतना का अभाव हो जाए, चेतना का अभाव होने से चेतन को ही अचेतनपना आ पड़े। अतः चेतन है, वह अचेतन हो जाए। आहाहा! आज जरा सूक्ष्म बात है। धीरे-धीरे समझना।

अथवा (२) **व्यापक (चेतना) के अभाव में व्याप्य ऐसा चेतन (आत्मा) का अभाव हो जाएगा।** आहाहा! दर्शन—ज्ञान चेतना है, वह व्यापक है, कायम रहनेवाली अनादि—अनन्त है। यदि उसका अभाव हो जाए तो व्याप्य ऐसा जो आत्मा, उसका अभाव हो जाए। आहाहा! पहले ऐसा कहा कि उसका अभाव होवे तो चेतन को अचेतनपना आ पड़े और दूसरा ऐसा कहा कि उसका अभाव होवे तो चेतन का ही अभाव हो जाए। व्याप्य ऐसे चेतन का अभाव हो जाए। क्योंकि व्यापक ऐसी चेतना तो नाश हो गयी, तो उसके नाश से, व्यापक के नाश से व्याप्य ऐसा जो आत्मा, उसका भी नाश हो जाए। अकेले न्याय भरे हैं। आहाहा! बनियों को धन्धे के कारण फुरसत नहीं मिलती। भले पाँच, पचास लाख धूल इकट्ठी करे, उसमें प्रसन्न-प्रसन्न हो जाए कि आहाहा! हमने कमाया। धूल में भी कुछ कमाया नहीं, गँवाया है, गँवाया है गँवाया है अन्दर से। आहाहा!

दो दोष कहे। चेतना सामान्य-विशेष स्वभाव को जाननेवाली होने से सामान्य-विशेषस्वरूप है। उस सामान्य-विशेषस्वरूप चेतना का यदि अभाव होवे तो चेतन अचेतन हो जाए, एक दोष यह। और दूसरा चेतना, व्यापक है, उसका अभाव होने से आत्मा व्याप्य है, उसका अभाव हो जाए। आहाहा! पहले चेतना का अभाव कहा, फिर चेतन, चेतन का ही अभाव कहा। है? आहाहा! **इसलिए उन दोषों के भय से चेतना को दर्शन-ज्ञानस्वरूप ही अंगीकार करना चाहिए।** इन दोषों के कारण से चेतना को दर्शन-ज्ञानस्वरूप अंगीकार करना। दृष्टा-ज्ञाता आत्मा है। जानने-देखनेवाला भगवान आत्मा है। किसी का करना नहीं, लेना नहीं, देना नहीं, देने का राग भी नहीं, पुण्य भी नहीं और पाप भी नहीं। वे इसके हैं ही नहीं। वे तो ज्ञाता-दृष्टा आत्मा है। उसे उस प्रकार से जानना और अनुभव करना, इसका नाम सम्यग्दर्शन है। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

कलश - १८३

अब इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं-

(शार्दूलविक्रीडित)

अद्वैतापि हि चेतना जगति चेद् दृग्ज्ञप्तिरूपं त्यजेत्,
तत्सामान्यविशेषरूपविरहात्साऽस्तित्वमेव त्यजेत् ।
तत्त्यागे जडता चितोऽपि भवति व्याप्यो विना व्यापका-
दात्मा चान्तमुपैति तेन नियतं दृग्ज्ञप्तिरूपास्तु चित् ॥१८३॥

श्लोकार्थ : [जगति हि चेतना अद्वैता] जगत में निश्चयत: चेतना अद्वैत है, [अपि चेत् सा दृग्ज्ञप्तिरूपं त्यजेत्] तथापि यदि वह दर्शन-ज्ञानरूप को छोड़ दे [तत्सामान्य-विशेषरूपविरहात्] तो सामान्य-विशेषरूप के अभाव से (वह चेतना) [अस्तित्वम् एव त्यजेत्] अपने अस्तित्व को ही छोड़ देगी; और [तत्-त्यागे] इस प्रकार चेतना अपने अस्तित्व को छोड़ने पर, (१) [चित: अपि जडता भवति] चेतन के जड़त्व आ जाएगा-अर्थात् आत्मा जड़ हो जाए [च] और (२) [व्यापकात् विना व्याप्य: आत्मा अन्तम् उपैति] व्यापक (चेतना) के बिना व्याप्य जो आत्मा, वह नष्ट हो जाएगा; (इस प्रकार दो दोष आते हैं)। [तेन चित् नियतं दृग्ज्ञप्तिरूपा अस्तु] इसलिए चेतना नियम से दर्शन-ज्ञानरूप ही हो।

भावार्थ : समस्त वस्तुएँ सामान्य-विशेषात्मक हैं। इसलिए उन्हें प्रतिभासनेवाली चेतना भी सामान्य प्रतिभासरूप (दर्शनरूप) और विशेष प्रतिभासरूप (ज्ञानरूप) होनी चाहिए। यदि चेतना अपनी दर्शन-ज्ञानरूपता को छोड़ दे तो चेतना का ही अभाव होने पर, या तो चेतन आत्मा को (अपने चेतना गुण का अभाव होने पर) जड़त्व आ जाएगा, अथवा तो व्यापक के अभाव से व्याप्य ऐसे आत्मा का अभाव हो जाएगा। (चेतना आत्मा की सर्व अवस्थाओं में व्याप्त होने से व्यापक है और आत्मा चेतन होने से चेतना का व्याप्य है। इसलिए चेतना का अभाव होने पर आत्मा का भी अभाव हो जाएगा।) इसलिए चेतना को दर्शनज्ञानस्वरूप ही मानना चाहिए।

यहाँ तात्पर्य यह है कि-सांख्यमतावलम्बी आदि कितने ही लोग सामान्य चेतना

को ही मानकर एकान्त कथन करते हैं, उनका निषेध करने के लिए यहाँ यह बताया गया है कि 'वस्तु का स्वरूप सामान्य-विशेषरूप है, इसलिए चेतना को सामान्य-विशेषरूप अंगीकार करना चाहिए'।।१८३।।

प्रवचन नं. ३७०, श्लोक - १८३, १८४ रविवार, मगसिर कृष्ण १२
दिनाङ्क - १६-१२-१९७९

समयसार, श्लोक-१८३। श्लोक है न?

अद्वैतापि हि चेतना जगति चेद् दृग्ज्ञप्तिरूपं त्यजेत्,
तत्सामान्यविशेषरूपविरहात्साऽस्तित्वमेव त्यजेत्।
तत्त्यागे जडता चितोऽपि भवति व्याप्यो विना व्यापका-
दात्मा चान्तमुपैति तेन नियतं दृग्ज्ञप्तिरूपास्तु चित्।।१८३।।

थोड़ा सूक्ष्म विषय है। **'जगति हि चेतना अद्वैता' जगत में निश्चयतः चेतना अद्वैत है...** यहाँ तो आत्मा की बात करनी है। चार बोल से बात तो हो गयी है। यह आत्मा है, उसका चेतना गुण है। चेतन है चेतन, उसका चेतना गुण है। वह चेतना गुण है, वह वस्तुरूप से भले एक है तो भी **'अपि चेत् सा दृग्ज्ञप्तिरूपं त्यजेत्' तथापि यदि वह दर्शन-ज्ञानरूप को छोड़ दे...** है एकरूप चेतना, परन्तु उसके रूप दो हैं—दर्शन और ज्ञान। आहाहा!

राग, विकल्प और शरीर, वाणी की यहाँ बात नहीं है। वह तो सब परचीज़ है इसलिए उनके ऊपर दृष्टि की कुछ आवश्यकता नहीं है। दृष्टि का विषय जो चेतन, उस चेतन की चेतना, ऐसे चेतन एकरूप है, तथापि चेतना है, उसके दो रूप हैं। वह द्वैतपना है, तथापि अद्वैत, दृष्टि अद्वैत है। दोपने से उसका भाग पड़ जाता है, ऐसा नहीं है। क्योंकि वह चेतना दर्शन-ज्ञान को यदि छोड़े... आहाहा! चेतन ऐसा जो प्रभु, उसकी चेतना जो शक्ति गुण, वह दोपना उसका यदि छोड़े, दर्शन और ज्ञान ऐसे दो उसका स्वभाव है। आहाहा!

यह बात कैसे करते हैं? कि सब भाग तो निकाल डाले। परवस्तु भी कुछ समकित का विषय नहीं तथा अन्तर में राग-द्वेष होते हैं, वह भी समकित का विषय नहीं तथा पर्याय

के भेद पड़े तो वह भी उसका विषय नहीं। अब विषय है चेतन परन्तु तो भी चेतन में चेतना का रूप दो है। ऐसे भले भाग निकाल डाले परन्तु उसमें यह भाग निकले ऐसा नहीं है— ऐसा कहते हैं। समझ में आया?

चेतन का रूप चेतना, वह चेतना दो प्रकार से है। ऐसे चेतना अद्वैत एक है तो भी उसके रूप दो हैं—दर्शन और ज्ञान। आहाहा! यदि वह दोनों को छोड़े **तो सामान्य-विशेषरूप के अभाव से...** तो सामान्य और विशेष तो वस्तु का स्वरूप है, चेतना भी सामान्य और विशेषस्वरूप है। सामान्य दर्शन और विशेष ज्ञान, इन दो को छोड़े तो वह चेतना छूट जाए। सामान्य-विशेष के अभाव से चेतना अपने अस्तित्व को छोड़े। चेतना—अपना अस्तित्व का निषेध हो जाए। यह ऐसी बात है। ऐसा उपदेश है, लो! करना और पर का करना नहीं कुछ, पर से कुछ होता नहीं। अब रहता है भगवान आत्मा एक चेतन, उसकी चेतना का रूप भी एक ही रूप नहीं। चेतनारूप से एक परन्तु उसके रूप दो हैं। एक-एक करते हुए एक सभी कर डाले, दो नहीं ही, तब तो इस चेतना का रूप ही नहीं रह सकता। आहाहा! एक... एक... एक... ऐसे करते-करते चेतना भी एक ही प्रकार है और उसके दो गुण नहीं, उसके तो वह चेतना ही नहीं रहती। आहाहा! भारी सूक्ष्म।

दो रूप निकाल डाला दूसरा, छह कारक निकाल डाले, कोई विकल्प दूसरे निकाल डाले, नय के विकल्प निकाल डाले, ध्यानावली की पर्याय भी द्रव्य में से निकाल डाली। आहाहा! परन्तु द्रव्य जो चेतन द्रव्य, उसकी चेतना जो गुण, उसमें से दो भेद निकाल डाले तो चेतना न रहे और चेतना न रहे तो चेतन भी नहीं रहे। अकेला न्याय का विषय है, भाई! बनियों को कठोर पड़े, व्यापार-धन्धे के कारण फुरसत नहीं। आहाहा! क्या कहते हैं, समझ में आता है? सब निकालकर दृष्टि का विषय चेतन है, यह रखा। सम्यग्दर्शन का विषय चेतन है। परन्तु कोई ऐसा कहे कि चेतन का विषय है, उस चेतन की चेतना से एक ही रूप है, क्योंकि चेतन एक है तो उसकी चेतना भी एक ही रूप है, तो कहते हैं कि इसमें उसे बड़ी भूल पड़ेगी। वहाँ दोपना है, उसे निकाल डालेगा तो भूल पड़ेगी। आहाहा! दूसरा सब निकाल डाला। विकल्प, दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा-फूजा, यह कोई धर्म नहीं, यह कोई आत्मा की चीज़ नहीं, परन्तु आत्मा चेतन है तो उसकी अद्वैत चेतना अद्वैत उसका

एकरूप है परन्तु एकरूप होने पर भी उसके रूप दो हैं—दर्शन और ज्ञान। दर्शन और ज्ञान दो है, ऐसा यदि छोड़े तो चेतना ही छूट जाती है, अभाव हो जाता है। चेतना का अभाव होने से चेतना का धारक चेतन का भी अभाव हो जाता है। न्याय समझ में आया? आहाहा! ऐसी बात है।

तो सामान्य-विशेषरूप के अभाव से (वह चेतना) अपने अस्तित्व को ही छोड़ देगी;... अर्थात्? चेतना का सामान्य-विशेष दो रूप है। उसे एक ही रूप डालो तो वह चेतना छूट जाएगी, चेतना का अभाव होगा और चेतना का अभाव होने पर चेतन द्रव्य का भी अभाव होगा। आहाहा! ऐसी बातें हैं। धर्म के नाम से ऐसी सूक्ष्म बातें।

छह कारक निकाल डाले। पर्याय के भेद, निर्मल चेतना के छह भेद, हों! निर्मल पर्याय के, वे निकाल डाले। विकार तो कहीं निकाल डाला। संयोग तो उसके अस्तित्व में, पर्याय के अस्तित्व में भी नहीं है। आहाहा! उसके अस्तित्व में विकार है, उसे निकाल डाला, उसकी पर्याय के अस्तित्व में कर्ता, कर्म, करण छह प्रकार पड़ते हैं, उन्हें भी निकाल डाला परन्तु अब उसके अस्तित्व में चेतना है, उसके भी दो भाग निकाल डाले तो चेतन नहीं रहेगा। आहाहा! शशीभाई! सूक्ष्म बातें हैं। आहाहा! क्यों? कि प्रत्येक चीज़ का स्वरूप सामान्य और विशेष है। सामान्य-विशेष अर्थात् कि द्रव्य है, वह सामान्य है और गुण-पर्याय, वह विशेष है तो प्रत्येक वस्तु सामान्य और विशेषस्वरूप ही है। जब प्रत्येक वस्तु सामान्य और विशेष, इस प्रकार से है तो उसे प्रतिभास करनेवाली चेतना भी सामान्य और विशेष दो रूप है। अर्थात् दो रूप में एकरूप कर डाले तो वह चेतना नहीं रहती। ऐसा सूक्ष्म है।

यह दया, व्रत, भक्ति, पूजा यह तो और कहीं गया। यह तो कहते हैं, धर्म नहीं, परन्तु इसके सब भाग किये, वह समकित का विषय नहीं। भाग किये पर्याय के, निर्मल के, हों! कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, यह भी समकित का विषय नहीं परन्तु तीनों उसका विषय नहीं, ऐसा करते-करते चेतन की चेतना है, वह भी दो गुण है, उसका वह विषय वह समकित का नहीं, (ऐसा करके) निकाल डालो तो नहीं चलेगा। आहाहा! समझ में आया? आहाहा! सूक्ष्म बात है।

मोक्षपाहुड़ है न ? यह मोक्ष (अधिकार) है न ? मोक्षपाहुड़ तो लक्ष्य में आ गया, कालादि लब्धि है न ? भाई ! मोक्षपाहुड़ में कुन्दकुन्दाचार्य की अपनी कालादि लब्धि की गाथा है। मोक्षपाहुड़ की २४ वीं गाथा है। 'कालाईलद्धीएजुतो' अब वह एक व्यक्ति कहता है कि काललब्धि नहीं होती। ऐसे के ऐसे कुछ के कुछ, कुछ की कुछ कल्पना से सब उठाते हैं। वास्तविक तत्त्व की स्थिति के बिना दर्शनशुद्धि नहीं होती और दर्शनशुद्धि के बिना धर्म की शुरुआत नहीं होती और शुरुआत के बिना बाद का चारित्र का भाग, वह उसे होता ही नहीं। अभी वस्तु की शुरुआत ही नहीं, वहाँ फिर चारित्र तो बाद में रहा। आहाहा ! समझ में आया ?

इसलिए यहाँ कहते हैं कि प्रत्येक वस्तु सामान्य-विशेषस्वरूप है तो उसकी जाननेवाली चेतना भी सामान्य और विशेषस्वरूप ही है और सामान्य-विशेष स्वरूप दो रूप हो गये और दो रूप तुम्हें न सुहाते हों और एकरूप कर डालो तो वह चेतना ही नहीं रहे। सामान्य-विशेषस्वरूप ही चेतना है। आहाहा ! अकेला न्याय घोंटा है।

सामान्य-विशेषरूप के अभाव से (वह चेतना) अपने अस्तित्व को ही छोड़ देगी; इस प्रकार चेतना अपने अस्तित्व को छोड़ने पर, (१) चेतन के जड़त्व आ जाएगा... क्या कहते हैं ? चेतन ऐसा जो भगवान, उसकी चेतना दो रूप है—दर्शन और ज्ञान। इन दो रूप को यदि छोड़े तो चेतना छूट जाए तो चेतन को चेतना छूटने से चेतन जड़ हो जाए। सूक्ष्म बात है, भाई ! चेतन ऐसा जो भगवान, उसका चेतना ऐसा जो गुण, उसका दो रूप निकाल डालो तो चेतना रहित चेतन जड़ हो जाए। क्योंकि उसमें चेतना में दो रूप है और दो रूप निकाल डालो और एक ही रूप है, ऐसा माने तो चेतना न रहे, तो चेतन ही न रहे। न्याय समझ में आता है ? आहाहा ! शान्तिभाई ! ऐसा सूक्ष्म कभी पुस्तक में देखा नहीं, पढ़ा नहीं। कुछ निर्णय किया है कभी ? आहाहा ! नहीं ? सम्प्रदाय में जन्मे, तत्प्रमाण किया और इतने भाग्यशाली कि वापस बदला कि मार्ग तो यह लगता है। परन्तु मार्ग वापस क्या है अन्दर ? मार्ग तो अन्दर चेतन में है, मोक्ष का मार्ग चेतन की पर्याय है। वह चेतन की पर्याय है, इसलिए चेतन है, वह चेतना गुणवाला है और चेतना गुण के दो प्रकार रह गये—दर्शन और ज्ञान। तथा दर्शन-ज्ञान का दो रूप तू निकाल डालने पर, एकरूप के लोभ से दो निकाल डालने से चेतना बिना चेतन रहे नहीं अथवा रहेगा तो चेतन,

जड़ हो जाएगा। चेतना बिना चेतन, जड़ हो जाएगा। समझ में आया? ऐसा मार्ग है, प्रभु! आहाहा!

इसमें तो प्रभुता पूर्ण पड़ी है, प्रभु! ऐसी बात तो क्या, केवलज्ञान लेने की ताकत है। एक समय में केवलज्ञान ले, ऐसी ताकत इसमें पड़ी है। आहाहा! यह प्रत्येक का आत्मा ऐसा है कि एक समय में केवलज्ञान ले, इतनी ताकत अन्दर पड़ी है। अब ऐसे आत्मा को इतना का इतना मानना अभी कठिन पड़ता है। समझने की दरकार नहीं करता, प्रभु! शुरुआत कहाँ से होगी? शुरुआत से आकर उसका पूर्णपना रूप कहाँ से आयेगा? आहाहा! समझ में आया?

'**चितः अपि जडता भवति**' जब चेतन की चेतना के दो रूप निकाल डाले और प्रत्येक वस्तु सामान्य-विशेषरूप है तो उसे जाननेवाली चेतना प्रतिभास करनेवाली भी दो रूप है। सामान्य द्रव्य और पर्याय को दोनों को जाननेवाली है। उन दो को जाननेवाली को निकाल डाले तो चेतना के गुण बिना चेतन अकेला जड़ हो जाएगा। चेतना का अभाव होने से चेतन का भी अभाव हो जाएगा। ऐसे न्याय के विषय। कनुभाई! अब इन बनियों को सीखना। आहाहा! वह व्यापार-धन्धा छोड़कर यह सब यह करना, निर्णय करना, यह करना पड़ेगा। धन्धा-होली तो पूरे दिन चलती है। आहाहा!

भगवान आत्मा एकरूप है परन्तु उसकी चेतना एकरूप नहीं है। चेतन एकरूप है, परन्तु उसका गुण जो चेतना है, वह एकरूप नहीं, वह यहाँ सिद्ध करना है। वह दो रूप है। दो निकालते... निकालते... निकालते... चेतना के दो रूप को भी निकाल डालेगा तो चेतना बिना चेतन ही नहीं रहेगा। क्योंकि सबका सामान्य और विशेषस्वरूप है। सामान्य-विशेष स्वरूप में विशेष को निकाल डालने से अकेला सामान्य नहीं रहेगा। न रहने से, चेतना न रहने से चेतन भी नहीं रह सकेगा। आहाहा! कैसा न्याय दिया है न! भाषा तो सादी है, भाव तो भाई सूक्ष्म है। व्रत पालो और दया करो और प्रतिमा ले लो (यह) सीधा सट्ट था। उसमें करना क्या था? राग की क्रिया सब अंगीकार करे और राग (करे)। आहाहा! यह तो प्रभु को पकड़ना है, कहते हैं। आहाहा!

यह प्रभु चेतन है और इस प्रभु का चेतना गुण है तो समकित का विषय तो अभेद

और एक है, तो उसका विषय है चेतन, उसकी चेतना को भी तू एकरूप गिन डालेगा तो चेतन नहीं रहेगा। आहाहा! चेतना दो रूप है। दो रूप धारक चेतन, वह सम्यग्दर्शन का विषय है। चेतना दो रूप धारण किया है दर्शन और ज्ञान, सामान्य-विशेष, उसे धरनेवाला चेतन है, वह विषय समकित का विषय है। आहाहा! उसके विषय में दोनों चेतना अन्दर आ गयी। समझ में आया?

मुमुक्षु : प्रयोजनभूत बात है।

पूज्य गुरुदेवश्री : मूल बात है, प्रयोजनभूत बात है। जरा सूक्ष्म बात है। आहाहा!

इस प्रकार चेतना अपने अस्तित्व को छोड़ने पर, (१) चेतन के जड़त्व आ जाएगा-अर्थात् आत्मा जड़ हो जाए और... आहाहा! क्या यह श्लोक जब आचार्य ने किये होंगे, उनका हृदय क्या (होगा)! आहाहा! **'व्यापकात् विना व्याप्यः आत्मा अन्तम् उपैति' व्यापक (चेतना) के बिना...** यहाँ तो चेतना व्यापक है। आत्मा व्यापक यहाँ नहीं गिनना। चेतना कायम रहनेवाली, कायम रहनेवाली दर्शन-ज्ञानरूप, सामान्य, सामान्य-विशेषरूप चेतना है दो रूप, परन्तु रहनेवाली है शाश्वत्, अनादि-अनन्त। उस चेतना का दो रूप रहनेवाला है, वह अनादि-अनन्त है। वह जो दो रूप उसका निकाल डाले और एक ही रूप ले तो चेतना है, वह व्यापक है और आत्मा है, वह व्याप्य है, अतः चेतना का व्यापकपना—दोपना निकाल डाले तो व्याप्य आत्मा भी नहीं रहे। अभी व्यापक आत्मा को नहीं कहना है। नहीं तो दूसरी जगह आत्मा व्यापक और पर्याय व्याप्य, ऐसा आता है। समझ में आया? आया था न अपने? अभी कुछ व्यापक और व्याप्य उसमें आया था या उसमें? व्याप्य-व्यापक नहीं? उसमें आया था? नियमसार में आया था? चेतना व्यापक। आत्मा व्यापक है और पर्याय व्याप्य है। यह व्यापक-व्याप्य आया था। उसमें आया हो। ताजा-ताजा बहुत बार मस्तिष्क में आया हो, इसलिए वह ताजा-ताजा लगता है। व्यापक और व्याप्य आया था। आत्मा व्यापक और पर्याय व्याप्य, ऐसा आया था।

मुमुक्षु : कर्ताकर्म अधिकार में।

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं, नहीं। अपने अभी यहाँ आया था। यह तो अभी ही आया था। दो, तीन, चार दिन में आया था। कहीं आया था।

मुमुक्षु : २९४ गाथा।

पूज्य गुरुदेवश्री : २९४ गाथा। आहाहा! कहाँ आया? व्यापक-व्याप्य आया था, शब्द कहाँ आया? २९७। आया था। अभी ही आया था। हाँ, बस यह, देखो! देखो! **चेतकपनेरूपी व्यापक के व्याप्य नहीं होते होने से...** देखा? बस, यह शब्द। अभी आया था। **चेतकपनेरूपी व्यापक के व्याप्य नहीं होते होने से...** रागादि उसके व्याप्य नहीं होते होने से, ऐसा कहते हैं। **नियत स्वलक्षण का अवलम्बन करनेवाली प्रज्ञा द्वारा भिन्न किया जानेवाला जो चेतक (चेतनेवाला), यह मैं हूँ; और अन्य स्वलक्षणों से लक्ष्य (अर्थात् चैतन्यलक्षण के अतिरिक्त दूसरे लक्षणों से पहिचाननेयोग्य) जो यह बाकी के व्यवहाररूप भाव...** रागादि व्यवहाररत्नत्रय **वे सब, चेतकपनेरूपी व्यापक के व्याप्य नहीं होते होने से...** बस, यह। कहा यह अभी आया था था। क्या कहा? २९७ में चौथी लाईन, टीका की चौथी लाईन।

क्या कहा? आहाहा! **चेतकपनारूपी व्यापक..** समस्त जितने रागादि जो हैं, वे **चेतकपनेरूपी व्यापक के व्याप्य नहीं होते होने से मुझसे अत्यन्त भिन्न है।** राग और द्वेष, दया और दान, पुण्य और पाप के विकल्प चेतकपने के व्यापक का व्याप्य अवस्था वह नहीं है। व्याप्य अवस्था है वहाँ। वह मेरी व्याप्य अवस्था नहीं, इसलिए मुझसे वे भिन्न हैं। आहाहा! यहाँ आत्मा को व्यापक कहा और पर्याय को व्याप्य कहा है। समझ में आया? और राग-द्वेष को व्याप्य मेरे नहीं हैं, राग-द्वेष मेरी व्याप्य अवस्था नहीं है, मेरी व्याप्य अवस्था निर्मल है। मैं व्यापक आत्मा, व्यापक आत्मा की निर्मल पर्याय में वह व्याप्य अर्थात् अवस्था है। मेरी निर्मल पर्याय से व्याप्त, वह मेरी अवस्था है। रागादि मेरी पर्याय व्याप्य, वह है नहीं। आहाहा! कहा, अभी आया था। यादशक्ति इतनी अधिक कहाँ से हो? मस्तिष्क में भाव याद रहते हैं, यहाँ स्पष्ट है।

क्या कहा? जितने पुण्य-पाप, दया-दान, व्रत, भक्ति के भाव (हों), वे व्यवहाररूप भाव, वे सब चेतकपनेरूपी व्यापक, चेतक ऐसा जो आत्मा, उससे व्यापक अर्थात् पसरनेवाले। उसका व्याप्य नहीं होते। उसकी पर्याय ही नहीं, वह उसकी पर्याय ही नहीं। आहाहा! है? अब यहाँ दूसरा लेना है। यहाँ **व्यापक के बिना व्याप्य जो आत्मा...** क्या कहा वहाँ?

क्या कहा यहाँ? वहाँ ऐसा कहा व्यापक आत्मा—द्रव्य व्यापक अर्थात् पसरनेवाला और व्याप्य अर्थात् अवस्था। विकारी अवस्था उसका व्याप्य नहीं है। उसका व्याप्य निर्विकारी अवस्था (होवे वह) उसकी अवस्था है। आत्मा अवस्थायी है, उसकी निर्विकारी व्याप्य अवस्था है। उसे पर्याय को वहाँ व्याप्य कहा है। समझ में आया? आहाहा!

यहाँ चेतना को व्यापक कहा है और आत्मा को व्याप्य कहा है। है? **व्यापक के बिना...** व्यापक अर्थात् चेतना। चेतना को व्यापक कहा, वहाँ व्यापक कहा आत्मा। २९७ में व्यापक अर्थात् पसरनेवाला द्रव्य, द्रव्य, वस्तु, वह व्यापक; पर्याय व्याप्य। द्रव्य व्यापक, पर्याय व्याप्य। वहाँ आत्मा को द्रव्य को चेतन को व्यापक कहकर पर्याय को व्याप्य, निर्मल पर्याय को व्याप्य कहा है। यहाँ कहते हैं चेतना, वह व्यापक है; आत्मा व्याप्य है। समझ में आया इसमें? ऐसी सूक्ष्म बातें। भाई! हमें धर्म करना है परन्तु धर्म कब हो? समझे बिना तुझे धर्म कैसे होता था? कहीं का कहीं लगा दे। धर्म कहाँ से होता था?

चेतन वस्तु त्रिकाल है। निश्चय से तो वही व्यापक है और पर्याय उसकी व्याप्य अर्थात् अवस्था है। पर्याय से व्याप्य अर्थात् अवस्था, व्यापक अर्थात् द्रव्य। यहाँ दूसरे प्रकार से कहना है कि चेतन की चेतना के दो गुण जो दर्शन और ज्ञान है, उन्हें दो न माने और एक ही माने तो चेतना नहीं रहती। चेतना न रहने से चेतन ही नहीं रहता तो चेतना व्यापक है और चेतन आत्मा व्याप्य है। अरे! ऐसा है। कहो, पकड़ में आया या नहीं इसमें? २९७ में यह कहा और यहाँ इसमें २९८-२९९ के (१८३) कलश में यह आया। यह अपेक्षा है न यहाँ? क्या अपेक्षा है, ऐसा जानना चाहिए न? आहाहा!

भगवान अनन्त गुण का धनी चैतन्य निर्मलानन्द प्रभु, उसके अनन्त गुण निर्मल है। वे निर्मल व्यापक होकर निर्मल व्याप्य हो, उसकी अवस्था निर्मल हो परन्तु वह व्यापक होकर उसकी अवस्था विकारी व्याप्य हो, ऐसा उसका स्वरूप नहीं है। यह तो ७५-७६ गाथा में लिया न? भाई! कर्ता-कर्म अधिकार में लिया है। यह तो यहाँ अपने आ गया था, वह बात याद करायी है। भाई! कर्ता-कर्म में यह लिया है। आहाहा! आत्मा व्यापक है और निर्मल पर्याय उसकी व्याप्य है। विकारी पर्याय उसकी व्याप्य अवस्था नहीं है। यह तो वहाँ कर्ता-कर्म में शुरुआत में बात की है। यह तो अपने इसमें कहा, अभी आया था न।

समझ में आया? वहाँ ऐसा लिया है कि आत्मा व्यापक, निर्मल पर्याय व्याप्य। विकार-बिकार वह आत्मा का व्याप्य है ही नहीं। पुण्य-पाप के परिणाम तो आत्मा को जाननेयोग्य वचनमात्र, व्यवहारमात्र जाननेयोग्य है। आहाहा! और कर्ता का कर्म अर्थात् कर्ता व्यापक और कर्म अर्थात् व्याप्य अवस्था, निर्मल अवस्था, वह कर्म अर्थात् कार्य अर्थात् व्याप्य और निर्मल वस्तु वह व्यापक। उस निर्मल वस्तु की दृष्टि हुई, इससे व्यापक का व्याप्य निर्मल ही होता है, उसका व्याप्य विकार नहीं होता। समझ में आया इसमें? आहाहा!

यहाँ दूसरी अपेक्षा कहनी है। यहाँ तो अद्वैत चेतना अद्वैत होने पर भी उसका रूप दो है—दर्शन और ज्ञाता-ज्ञान और उसके कारण आत्मा भी दृष्ट और ज्ञाता है। यदि इस चेतना का एक ही रूप गिने कि मुझे दो नहीं... दो नहीं... दो नहीं... दो नहीं... द्वैत नहीं, तब तो सांख्यमति (हो जाएगा)। यह नीचे कहेंगे। सामान्य चेतन को सांख्यमति आदि, नीचे आयेगा। सामान्य प्राणी, उसे अकेला एक ही गुणरूप से गिनता है, ऐसा वस्तु का स्वरूप नहीं है। यह तो सर्वज्ञ परमात्मा, उन्होंने जो वस्तु देखी, वह सामान्य और विशेष (स्वरूप देखी है)। सामान्य अर्थात् द्रव्य और विशेष अर्थात् पर्याय। सामान्य अर्थात् दर्शन और विशेष अर्थात् ज्ञान। यहाँ पर्याय ली है। ऐसा भी लिया है, राजमलजी ने टीका में पर्याय ली है। भाई! नहीं तो यहाँ विशेष अर्थात् गुण—ज्ञान है, सामान्य अर्थात् दर्शन है। राजमलजी में विशेष को पर्याय लिया, सामान्य को द्रव्य-दर्शन लिया है। इसलिए इस अपेक्षा से ठीक है। राजमलजी की टीका, कर्ता-कर्म में।

यहाँ कहते हैं कि तू चेतना है न, प्रभु! चेतन की चेतना जो जानने-देखने का प्रतिभास जिसमें होता है, वह दो रूप है, वह दो रूप है, उसमें से तू एकरूप यदि करने जाए तो वह चेतना नहीं रहेगी; चेतना नहीं रहेगी तो चेतना का धारक चेतन, जड़ हो जाएगा। समझ में आया? अकेले न्याय का विषय है। आहाहा! व्यापारी को निवृत्ति नहीं मिलती। दो घड़ी गया हो सामायिक, प्रतिक्रमण करके। सिर पर जो कहते हो, वह सुना और जय नारायण (करे), यह हो गया जाओ। आहाहा! प्रभु का मार्ग अलग, बापू! वीतराग सर्वज्ञ....

मुमुक्षु : पूरी जिन्दगी व्यापार में निकाली।

पूज्य गुरुदेवश्री : उसमें निकाली। तुलना करने का समय कहाँ निकालता है यह?

कि क्या कहते हैं यह ? दूसरे क्या कहते हैं, यह क्या कहते हैं, इन दोनों में अन्तर क्या है ? अन्तर होवे तो कारण क्या है ? आहाहा!

यहाँ परमात्मा कहते हैं, वह संत जगत को कहते हैं कि भाई! चेतना के दो रूप हैं। दर्शन और ज्ञान। यह जो व्यापक, यदि इसका निषेध हो जाए, व्यापक अर्थात् चेतना का दो रूप का निषेध हो जाए तो उसके बिना व्याप्य अर्थात् आत्मा, वह नाश को प्राप्त हो। आहाहा! समझ में आया इसमें ? और यहाँ व्याप्य को आत्मा कहा है। नहीं तो व्याप्य है वह पर्याय है परन्तु यहाँ ऐसा कहना नहीं है। चेतना कायम रहनेवाली है और उसके अवलम्बन से आत्मा है। यह चेतना कायम रहनेवाली है, इसलिए चेतना को व्यापक कहकर आत्मा को व्याप्य कहा है। समझ में आया ? आहाहा! धीरे से विचार करना। यह तो मनन करके, विचार करके मानने योग्य है। यह कोई वार्ता-कथा नहीं अथवा यह कोई साधारण बात नहीं है। यह तो सर्वज्ञदेव परमेश्वर के मूल तत्त्व के गहन गम्भीर तत्त्व कितना है, कैसा है, उसकी यहाँ तो बात है। आहाहा! दुनिया कहीं की कहीं पड़ी हो और वस्तु कहीं रह गयी है। लोगों ने वस्तु की दरकार की नहीं है। आहाहा!

व्याप्य जो आत्मा वह नष्ट हो जाएगा (इस प्रकार दो दोष आते हैं)। क्या दो दोष आते हैं ? कि चेतना, जा चेतन की चेतना। चेतन अर्थात् आत्मा। उसकी चेतना के दो रूप में से एक रूप गिनो तो वह चेतना नहीं रह सकती। चेतना नहीं रहने पर तो चेतन जड़ हो जाएगा। एक (यह दोष आता है)। और चेतना व्यापक बिना आत्मा व्याप्य (नहीं रहता)। चेतना नहीं रहे तो आत्मा नहीं रहे। क्योंकि यह चेतना व्यापक है और आत्मा व्याप्य है। आहाहा! समझ में आया इसमें ? ऐसी भाषा सब किस प्रकार की यह ? अभी वाद-विवाद तो बाहर के। व्यवहार पहले चाहिए और फिर निश्चय होता है और पिर यह होता है और फिर यह होता है। अरे! प्रभु! कहाँ अटका ? बापू! प्रभु! तेरे हित के मार्ग की बात है, प्रभु!

यह तो जिनेश्वर त्रिलोकनाथ तीर्थंकरदेव की वाणी है। इसके लिये बहुत तैयारी चाहिए, समझने के लिये प्रयत्न चाहिए, समझने के लिये निवृत्ति लेनी चाहिए। आहाहा! ऐसा तत्त्व है। चाहे जो गड़बड़ रह गयी होगी तो हो गया, फिर चौरासी के अवतार में से बापू! निकलने का अवसर मुश्किल से मिला। यहाँ मनुष्यपना (मिला), यदि चला गया (तो)

फिर हो गया। मिलना मुश्किल है। आहाहा! ऐसा अवसर फिर से आना (मुश्किल है)। आहाहा!

इसलिए चेतना नियम से दर्शन-ज्ञानरूप ही हो। यह दो दोष आते हैं न? कहे न? एक तो चेतना के दो रूप न माने तो चेतना नहीं रहती और चेतना नहीं रहे तो चेतन भी नहीं रहता। क्योंकि चेतना व्यापक है और चेतन व्याप्य है। व्यापक का नाश होगा तो व्याप्य का भी नाश हो जाएगा। आहाहा! पूरी भाषा बड़ा सैद्धांतिक भाषा है। तात्त्विक बात है न?

भावार्थ :- समस्त वस्तुएँ सामान्य विशेषात्मक हैं। छह द्रव्य भगवान ने देखे हैं। भगवान जिनेश्वरदेव परमात्मा त्रिलोकनाथ ने छह द्रव्य देखे हैं। संख्या से अनन्त और जाति से छह। जाति छह—जीव, पुद्गल, धर्मास्ति, अधर्मास्ति, आकाश और काल। संख्या से अनन्त। जीव अनन्त, पुद्गल अनन्त, काल असंख्य, धर्मास्ति, अधर्मास्ति, आकाश एक-एक—ऐसे भगवान सर्वज्ञदेव त्रिलोकनाथ जिनेश्वरदेव ने छह द्रव्य देखे हैं। वे छहों द्रव्य समस्त वस्तुएँ अर्थात् छहों द्रव्य। ऐसा आया न? समस्त द्रव्य अर्थात् छहों द्रव्य। सामान्य-विशेष स्वरूप है, द्रव्यपर्यायरूप वस्तु है। आहाहा!

इसलिए उन्हें प्रतिभासनेवाली... इसलिए उस सामान्य-विशेष को जाननेवाली **चेतना भी सामान्य प्रतिभासरूप (दर्शनरूप) और विशेष प्रतिभासरूप...** है? **सामान्य प्रतिभासरूप (दर्शनरूप) और विशेष प्रतिभासरूप (ज्ञानरूप) होनी चाहिए।** यह तो न्याय रखा है। आहाहा! यह जरा सूक्ष्म पड़ा। साधारण बहिनें-लड़कियाँ बेचारी निवृत्त नहीं होती। पूरे दिन पकाना और पुत्र सम्हालना और उसमें अब ऐसी बातें... आहाहा! आदमी भी कब निवृत्त है? ज्योति! धन्धे के कारण कब निवृत्त होता है वहाँ? आहाहा!

कहते हैं, इस जगत में जितनी चीज़ें हैं, अनन्त (चीज़ें) भगवान ने देखी, वह सामान्य और विशेषरूप है, द्रव्य और पर्यायरूप है। प्रत्येक में द्रव्य त्रिकाली है और पर्याय है, दो रूप है। उसे प्रतिभास करनेवाली—उसे जाननेवाली, जैसी चीज है, वैसा यहाँ भास हो, ऐसी प्रतिभास करनेवाली जो आत्मा की चेतना, वह भी सामान्य प्रतिभासरूप है। सामान्य प्रतिभासरूप अर्थात् दर्शनरूप और विशेष प्रतिभासरूप अर्थात् ज्ञानरूप होनी चाहिए।

यदि चेतना अपनी दर्शन-ज्ञानरूपता को छोड़ दे... यदि यह चेतना सामान्य-विशेष ऐसे दर्शन-ज्ञान को छोड़े तो चेतना का ही अभाव हो। क्योंकि सामान्य-विशेष स्वरूप है। चेतना का एक ही रूप गिने और दो न गिने तो उस वस्तु का-चेतना का नाश हो जाए। चेतना का अभी तो, बात हों! चेतन बाद में। आहाहा! ऐसा कहाँ, शान्तिभाई! था? उसमें तुम्हारे कहाँ 'नागनेश' में कहीं (था)? सुना है कहीं? आहाहा! ऐसा मार्ग प्रभु का है, बापू! बहुत सूक्ष्म, प्रभु! अनन्त काल में भटकने में अनन्त-अनन्त काल बीता, भाई! इस अनन्त का अन्त नहीं, इतना आदि रहित काल... आहाहा!

मुमुक्षु : पहले जाने और फिर देखे या पहले देखे और बाद में जाने?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह पहले जाने, पश्चात् प्रतीति होती है। जाने बिना प्रतीति किसकी? यह तो पहले में १७ वीं गाथा में आ गया। और उसमें भी आया था। जाने, तब प्रतीति करे, इसमें श्रीमद् में आया था। अपने १७वीं गाथा में आया था। पहला आत्मा जाने, पश्चात् जानकर फिर प्रतीति करे। वस्तु स्वरूप जाने बिना प्रतीति किसकी? क्या यह चीज़ है, वह तो ज्ञान में आयी नहीं और प्रतीति—श्रद्धा करो, किसकी श्रद्धा करे? गधे के सींग की? वहाँ १७-१८ गाथा में यह दृष्टान्त दिया है। आहाहा! ऐसी बातें, यह उपदेश। ऐसा मार्ग है, बापू!

हित का पन्थ, प्रभु! बहुत अलग प्रकार का है। दुनिया को ऐसा लगता है कि यह तो ऐसा क्या होगा यह? ऐसी बातें कहाँ इस जैनधर्म की ऐसी बातें होंगी? जैनधर्म में तो छह काय की दया पालन करो, व्रत करो, अपवास करो, छह परबी पालो, छह तिथि में ब्रह्मचर्य पालो, छह तिथि में कन्दमूल नहीं खाना। अब यह तो बातें चलती थी, बापू! उसमें इतनी बात में अभी तक आयी? परन्तु अभी मूल चीज़ को जाने बिना, तेरा त्याग-ब्याग कहाँ से आया? मिथ्यात्व के त्याग बिना अव्रत का त्याग आया कहाँ से? पहला अभी मिथ्यात्व का त्याग नहीं, वहाँ अव्रत और प्रमाद का त्याग आया कहाँ से? आहाहा! भाषा तो सादी है, प्रभु! समझ में आये ऐसा है, ध्यान रखे तो पकड़ में आये ऐसा है, जरा सूक्ष्म लगे।

यदि चेतना अपनी दर्शन-ज्ञानरूपता को छोड़ दे... भावार्थ की तीसरी लाईन। **तो चेतना का ही अभाव होने पर, या तो चेतन आत्मा को (अपने चेतना गुण का**

अभाव होने पर) जड़त्व आ जाएगा,... एक आया न? यह आ गया पहले। **अथवा तो व्यापक के अभाव से व्याप्य...** व्यापक ऐसी चेतना के **अभाव से व्याप्य ऐसे आत्मा का अभाव हो जाएगा।** है? वह घर में समयसार है, पढ़ा है या नहीं वहाँ? पढ़ा नहीं, तब घर में घड़ियाँ घुमाया करते हो। आहाहा! घडियाल को तो बहुत घुमाया करते हो, यह मशीन ऐसी यह मशीन ऐसी। इस घड़ी का काँटा कहीं घूमता है या नहीं इसके? आहाहा! यह बहुत सरस बात है। आज रविवार है। कितने ही आये हैं, भावनगर से आते हैं न? जयन्तीभाई नहीं आये लगते हैं। हैं? आये हैं? भावनगरवाले जयन्तीभाई नहीं आये, नहीं, नहीं। भाई आये हैं, प्रवीणभाई आये हैं, शान्तिभाई आये हैं। यह तो दिखता है न! नजर से दिखता है न! आहाहा!

(चेतना आत्मा की सर्व अवस्थाओं में व्याप्त होने से...) अब व्यापक क्यों कहा? वास्तव में तो व्यापक आत्मा चाहिए, ऐसे चेतना को क्यों कहा? तो कहते हैं, **(चेतना आत्मा की सर्व अवस्थाओं में व्याप्त होने से व्यापक है और आत्मा चेतन होने से चेतना का व्याप्य है।)** आहाहा! चेतना प्रत्येक अवस्था में होने से व्यापक है। आत्मा की तीनों ही काल में चेतना होने से वह व्यापक है और वह आत्मा (चेतन होने से) चेतना का व्याप्य है। आत्मा चेतन होने से चेतना का व्याप्य—अवस्था है। चेतना अवस्था अर्थात् चेतना का कार्य है।

(इसलिए चेतना का अभाव होने पर आत्मा का भी अभाव हो जाएगा।) थोड़ा सूक्ष्म लगे परन्तु विचारना, यह घर में पढ़ना, यहाँ समझ में न आये तो घर में थोड़ा पढ़ना, थोड़ी निवृत्ति लेना। ऐ... जीतुभाई! यह सूक्ष्म पड़ता है। यह गाथा पूरी पढ़ना, फिर विचार करना और मिलान करना। आहाहा! **आत्मा चेतन होने से चेतना का व्याप्य है। इसलिए चेतना का अभाव होने पर आत्मा का भी अभाव हो जाएगा।), इसलिए चेतना को दर्शनज्ञानस्वरूप ही मानना चाहिए।** आहाहा! एकरूप... एकरूप... एकरूप... एकरूप... हम कहते हैं, इसलिए एकरूप में तुझे चेतना भी एकरूप लगे, तो ऐसा नहीं है।

एकरूप मानना... एकरूप मानना... एकरूप मानना... ऐसा बारम्बार कहे। अभेद

मानना, अभेद का विषय लेना। अभेद में चेतना के दो प्रकार पड़ जाते हैं। परन्तु इस अभेद में दो आ जाते हैं अन्दर। आहाहा! चेतना का चेतन आधार, चेतन का विषय करने से, चेतना दर्शनज्ञानमय है, इसकी भी प्रतीति साथ में आ जाती है। आहाहा! कनुभाई! ऐसा है, बहुत सूक्ष्म। कान्तिभाई! कहाँ ऐसा-ऐसा सुना था वहाँ कहीं? आहाहा! कठिन लगे परन्तु वस्तु बापू! ऐसी है। प्रभु! तेरी प्रभुता प्रगट करने का रास्ता कोई अलौकिक है। बाकी तो जिन्दगी निकाली है यह तो... आहाहा!

यहाँ तात्पर्य यह है कि-सांख्यमतावलम्बी आदि कितने ही लोग... सांख्यमति आदि कितने ही लोग **सामान्य चेतना को ही मानकर एकान्त (कथन) करते हैं,...** एक चेतना को एक ही रूप मानकर उसके दो रूप न मानकर एकान्त मानते हैं। क्या कहा, समझ में आया? सांख्यमति आदि कितने ही लोग सामान्य, अकेला सामान्य... सामान्य... सामान्य... करने जाए तो वहाँ सामान्य और विशेष दो गुण जो हैं, वे रह जाते हैं। विशेष पर्याय है, परन्तु वह एक ओर रखो किन्तु सामान्य-विशेष दो गुण जो हैं, अकेला सामान्य करने जाने से गुण रह जाते हैं। आहाहा! समझ में आये, उतना समझना, प्रभु! तेरा पार नहीं, तेरे चमत्कार की—चेतन की चमत्कार की स्थिति का पार नहीं। आहाहा!

टीकाकार स्वयं ऐसा कहते हैं, दोपहर के टीकाकार (कहते हैं), अरे! हम मन्दबुद्धि कहाँ यह टीका करें? गणधर और आचार्य से चली आयी है। आहाहा! पद्मप्रभमलधारी मुनि जैसे भी ऐसा कहते हैं, हम मन्दबुद्धि तो कौन? आहाहा! आता है न? भाई! टीका ठेठ से चली आती है। हम मन्दबुद्धि तो कौन? परन्तु मेरे विकल्प में बारम्बार रहा करता है, इसका स्पष्ट हो, टीका हो... टीका स्पष्ट हो, इसलिए यह होती है। आहाहा! होती है, हों! की जाती है, ऐसा नहीं। आहाहा! अब ऐसा सुनकर कितनों को तो ऐसा लगता है—सोनगढ़वाले तो एकान्त ही बातें करते हैं। एक निश्चय की.... निश्चय की... निश्चय की... कहते हैं लोग, बापू! चाहे जो कहे, भाई! बापू! तेरे घर की बात है, प्रभु! परमात्मा तेरे घर के लिये बात करते हैं, प्रभु! तुझे समय नहीं मिलता, इसलिए कहीं वस्तुस्थिति बदल जाएगी? वस्तु तो जैसी है, वैसी है। जिस प्रकार से है, उस प्रकार से पकड़ में नहीं आवे तो कहीं वस्तु नहीं बदलेगी।

तेरा काल चला जाएगा, बापू! आहाहा! समय चला जाता है। मरण आकर खड़ा रहेगा, बेचारे देखो न! मक्खनलालजी जैसे बेचारे... आहाहा! 'दास' गुजर गये। पुरुषोत्तमदास बेचारे को प्रेम था। आहाहा! स्थिति पूरी हो, उसमें मर कर कहाँ गया है? कौन मरता है? यह तो देह का वियोग हुआ, इतनी बात है। मरे कौन और जीवे कौन? आहाहा! त्रिकाल तत्त्व है, वहाँ उत्पाद-व्यय भी वहाँ गौण है। आहाहा!

यहाँ तो त्रिकाली चीज़ में उत्पाद-व्यय को भी संयोग कहा है। उसकी निर्मल पर्याय होती है न? आत्मा में समकित और मोक्षमार्ग होता है तो उसे संयोग कहा है। ध्रुव को उस पर्याय का संयोग हुआ और पूर्व की पर्याय व्यय हो गयी, उसे वियोग कहा है। पंचास्तिकाय में यह ज्ञेय का स्वरूप बताते हुए ऐसा बताया (कि) ज्ञेय ऐसा है। आहाहा! जहाँ अपने द्रव्य में संयोग-वियोग पर्याय से गिना है, उसे पर के संयोग-वियोग को सम्बन्ध क्या है? आहाहा! स्त्री, कुटुम्ब, शरीर, वाणी, मन, पैसा, लक्ष्मी, मकान यह तो कहीं रह गये, कहीं। आहाहा! इन्हें संयोग-वियोग में नहीं डाले, इनका ग्रहण-त्याग आत्मा में है ही नहीं। आहाहा! यह तो पर्याय होती है, उसे संयोग कहा जाती है, और जाती है, उसे वियोग कहा। आहाहा!

यहाँ कहते हैं, उस पर्याय को-विशेष को न माने और अकेले सामान्य को माने तब तो एकान्त हो जाता है। **उनका निषेध करने के लिए यहाँ यह बताया गया है कि 'वस्तु का स्वरूप सामान्य-विशेषरूप है इसलिए चेतना को सामान्य-विशेषरूप अंगीकार करना चाहिए'।** ऐसा यहाँ बतलाया है।

अब, आगामी कथन का सूचक श्लोक कहते हैं- लो! ५५ मिनिट तो हो गये इसमें। आहाहा! परन्तु समझ में आये ऐसा है, बापू! तेरे घर की बात है, प्रभु! तू वहाँ गया नहीं। जहाँ है, वहाँ गया नहीं; जहाँ है, वहाँ नजर की नहीं, प्रभु! इसलिए तुझे महँगा लगे, कठिन लगे, कठोर लगे, मानो यह तो नहीं होगा - ऐसा लगे, भाई! महाप्रभु है। सत्ता चैतन्य सत्ता अस्तित्व महाप्रभु अस्तित्व है। है, वह कोई स्वभाव से खाली नहीं हो सकता। वस्तु है, तू वस्तु है, प्रभु! अस्ति है। अस्ति जो वस्तु है, वह स्वभाव से खाली नहीं होती। जैसे अस्ति त्रिकाल है लेकिन उसका स्वभाव भी त्रिकाल है। आहाहा! उसकी पर्याय वर्तमान अवस्था, वह विशेष पर्याय है। आहाहा!

कलश - १८४

अब, आगामी कथन का सूचक श्लोक कहते हैं–

(इन्द्रवज्रा)

एकश्चितश्चिन्मय एव भावो भावाः परे ये किल ते परेषाम्।
ग्राह्यस्ततश्चिन्मय एव भावो भावाः परे सर्वत एव हेयाः ।।१८४।।

श्लोकार्थ : [चितः] चैतन्य का (आत्मा का) तो [एकः चिन्मयः एव भावः] एक चिन्मय ही भाव है, और [ये परे भावाः] जो अन्य भाव हैं, [ते किल परेषाम्] वे वास्तव में दूसरों के भाव हैं; [ततः] इसलिए [चिन्मयः भाव एव ग्राह्यः] (एक) चिन्मय भाव ही ग्रहण करनेयोग्य है, [परे भावाः सर्वतः एव हेयाः] अन्य भाव सर्वथा त्याज्य है।।१८४।।

कलश - १८४ पर प्रवचन

एकश्चितश्चिन्मय एव भावो भावाः परे ये किल ते परेषाम्।
ग्राह्यस्ततश्चिन्मय एव भावो भावाः परे सर्वत एव हेयाः ।।१८४।।

श्लोकार्थ – आहाहा! **'चितः' चैतन्य का (आत्मा का) तो... 'एकः चिन्मयः एव भावः' एक चिन्मय ही भाव है,...** आहाहा! यह तो ज्ञानमय भाव है। चेतनमय ज्ञान है। भाव है न? भाववान है न प्रभु? स्वभाववान है न? वस्तु है, वह स्वभाववान है तो उसका स्वभाव होगा या नहीं? तो यह उसका चिन्मय स्वभाव है। आहाहा! जानना-देखना ऐसा चिन्मय उसका त्रिकाली स्वभाव है। कोई राग, दया, दान, व्रत, भक्ति परिणाम, वह कोई उसका स्वभाव नहीं है। आहाहा! ऐसा मार्ग। **जो अन्य भाव हैं, वे वास्तव में दूसरों के भाव हैं;...** यह दया, दान, व्रत, भक्ति आदि, जिस भाव से तीर्थंकरगोत्र बँधे, वे भाव पर भाव हैं, वह आत्मा का भाव नहीं। आहाहा! व्रत के परिणाम के विकल्प जो अपवास के, वह विकल्प (आवे), वह परभाव है, वह तेरा स्वभाव नहीं है। आहाहा!

इसलिए 'चिन्मयः भाव एव ग्राह्यः' (एक) चिन्मय भाव ही ग्रहण करनेयोग्य

है,... ज्ञानस्वभाव भगवान, ज्ञानस्वरूप चैतन्य ज्ञान जानक स्वभाव, स्वभाव... स्वभाववान का स्वभाव, स्वभाववान जब अस्तित्व और सत्ता है तो उसका चिन्मय स्वभाव भी अस्तित्व और स्वभाव है। दूसरा उसका कोई स्वभाव राग-द्वेष, पुण्य-पाप आदि उसका स्वभाव है नहीं। शरीर, वाणी, मन और यह जड़ तो कहीं रह गये। आहाहा!

वे वास्तव में दूसरों के भाव हैं;... देखा? चैतन्य है, वह स्व का भाव है। दूसरे **'परे भावाः'** वे पर भाव हैं। आहाहा! **इसलिए.. 'चिन्मयः भाव एव ग्राह्यः' (एक) चिन्मय भाव ही ग्रहण करनेयोग्य है,...** ज्ञानस्वरूपी भगवान ही ग्रहण करनेयोग्य है। **'परे भावाः सर्वतः एव हेयाः' अन्य भाव सर्वथा त्याज्य है।** है न? **'सर्वतः'** है न? कथंचित् आदरणीय और कथंचित् छोड़नेयोग्य, ऐसा नहीं कहा। व्यवहार जितना है दया, दान, व्रत, भक्ति, वह सर्वथा छोड़नेयोग्य है क्योंकि वह बन्ध के कारण हैं। विशेष कहेंगे.... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ३७१, श्लोक - १८४, गाथा-३०० सोमवार, मगसिर कृष्ण १३
दिनाङ्क - १७-१२-१९७९

समयसार, १८४ कलश चलता है। कलश है, कलश। १८४ कलश है।

एकश्चितश्चिन्मय एव भावो भावाः परे ये किल ते परेषाम्।
ग्राह्यस्ततश्चिन्मय एव भावो भावाः परे सर्वत एव हेयाः ।।१८४।।

आहाहा! बहुत संक्षिप्त। **चैतन्य का (आत्मा का) तो...** यह चैतन्य जो आत्मा है, उस चैतन्य का तो **एक चिन्मय ही भाव है,...** एक ज्ञानमय भाव है। उसका स्वभाव तो ज्ञानमय भाव है। पुण्य और पाप, दया और दान, व्रत और भक्ति, यह भाव कहीं आत्मा का स्वभाव नहीं है। आहाहा! यह मोक्ष अधिकार है न? चैतन्य का अर्थात् आत्मा का **एक चिन्मय ही... एक चिन्मय ही भाव है,...** चैतन्यस्वभाव एक ही आत्मा का स्वभाव है। कोई दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा, काम, क्रोध वे आत्मा के भाव हैं ही नहीं। वे सर्व भाव हेय हैं। सर्व छोड़नेयोग्य है। आहाहा! यह कठिन कठिन लगता है।

'ये परे भावाः' इस चिन्मय के अतिरिक्त **'ये परे भावाः'** अन्य भाव। **'ते किल परेषाम्' वे वास्तव में दूसरों के भाव हैं;...** आहाहा! शुभ और अशुभभाव भी परभाव है। दया, दान, भक्ति, व्रत, पूजा आदि भाव आते हैं, होते हैं परन्तु हैं परभाव, आत्मा का स्वभाव नहीं और आत्मा का धर्म नहीं। **वास्तव में दूसरों के भाव हैं; इसलिए (एक) चिन्मय भाव ही ग्रहण करनेयोग्य है,...** एक ज्ञानस्वरूप आत्मा, वह अनुभव करनेयोग्य है। धर्म करनेयोग्य होवे तो यह है। ज्ञानस्वरूप आत्मा, ज्ञान जाननस्वभाव सत्ता आत्मा को ग्राह्य अर्थात् अनुभव करनेयोग्य है। लो, यह मोक्ष का मार्ग। है न? पहले तो ऐसा कहा कि आत्मा चिन्मय भाव, दूसरे अन्य भाव। इतनी व्याख्या की।

अब दोनों में ग्राह्य क्या? दोनों में ग्राह्य चिन्मय भाव, वह ग्रहण करनेयोग्य है। **चिन्मय भाव ही...** ऐसा है न? आहाहा! **'चिन्मयः एव'** ऐसा शब्द पड़ा है न? आहाहा! जानन-देखन भाव, वह चेतन का भाव है, वह ग्रहण करनेयोग्य है, अनुभव करनेयोग्य है, आदर करनेयोग्य है, वह आश्रय करनेयोग्य है, सेवन करनेयोग्य है। आहाहा! ग्रहण करनेयोग्य है।

'ये परे भावाः' अन्य भाव चाहे तो दया, दान, व्रत, भक्ति, जिस भाव से तीर्थंकरगोत्र बँधे, वह भाव, वह अन्य भाव सर्वथा त्याज्य है। आहाहा! ज्ञानी को अपना त्रिकाली चैतन्य स्वभाव, वह एक ही ग्रहण करनेयोग्य है। वह अन्तर में अनुभव करनेयोग्य है तो उसे धर्म होता है। चिन्मय भाव के अतिरिक्त दूसरा कोई भी विकल्प उठे—राग, व्यवहार, व्यवहाररत्नत्रय का राग भी हेय है। आहाहा! ऐसा सूक्ष्म मार्ग है। देव, गुरु और शास्त्र की श्रद्धा, पंच महाव्रत के परिणाम, शास्त्र का पढ़ना आदि विकल्प, वे सब परभाव हैं; वे निजभाव नहीं हैं। आहाहा! वे परभाव सर्वथा, ऐसा शब्द है न? **'सर्वतः'**। कथंचित् आदरणीय है और कथंचित् छोड़नेयोग्य है, ऐसा नहीं है। आते हैं, जब तक वीतरागता न हो, तब तक आत्मज्ञानपूर्वक, आत्मा के अनुभवपूर्वक, आत्मा चिन्मय के आदरपूर्वक राग आता है परन्तु वह राग हेय है। वह राग आत्मा को शरण नहीं है, वह आत्मा का धर्म नहीं है। वह राग आत्मा के धर्म का कारण नहीं है। ऐसी बात है। है या नहीं? कठिन पड़े। लोगों को मुश्किल से अभी निवृत्ति (मिले)।

मुमुक्षु : व्रत और महाव्रत को कैसा कहना?

पूज्य गुरुदेवश्री : राग कहना, हेय कहना, जहर कहना, विकार कहना। यह तो आया है न? विकल्प उठे, वह तो घोर संसार है। नियमसार में आ गया है।

आत्मा सच्चिदानन्द प्रभु ज्ञान और आनन्द का सागर है, अनन्त-अनन्त पवित्र गुण का पिण्ड है, वह एक ही धर्मी को अनुभव करनेयोग्य और आदर करनेयोग्य है और इसके अतिरिक्त जितने भाव हैं, १४८ प्रकृति बन्धन का कारण ऐसा जो भाव, वे सब हेय हैं। आहाहा! सब छोड़नेयोग्य है। पाठ है? '**परे भावाः सर्वतः एव हेयाः**' सब भाव सर्वतः / सर्वथा प्रकार से हेय है। कथंचित् आदरणीय है और कथंचित् छोड़नेयोग्य है, ऐसा नहीं है। आहाहा! सर्वथा त्याज्य है। बहुत संक्षिप्त कहा। मोक्ष अधिकार है।

यह कलश अमृतचन्द्राचार्य का है। अमृतचन्द्राचार्य कहते हैं, चिन्मय भाव—ज्ञान स्वभाव भाव, ज्ञानस्वभाव, चैतन्यस्वभावभाव, वह आत्मा का चैतन्यस्वभाव, वह भाव है। आत्मा का चैतन्यस्वभाव, वह भाव है। इसके अतिरिक्त सब परभाव है। इतनी दो बातें करके, फिर कहा कि आत्मा का चैतन्यभाव है, वह ज्ञानभाव है, वही ग्रहण करनेयोग्य है अथवा अनुभव करनेयोग्य है अथवा सेवन और आश्रय करनेयोग्य है। आत्मा का आश्रय करके वह ज्ञान उत्पन्न करनेयोग्य है। आहाहा! इसके अतिरिक्त जितने भाव हैं, चाहे तो भगवान की भक्ति, यात्रा, सम्मेदशिखर की यात्रा, गिरनार की, पालीताना की यात्रा का भाव, सब राग हेय है। पुण्यबन्ध का कारण है, धर्म है नहीं। आहाहा! कठिन पड़े। मार्ग तो यह है। अब ३०० गाथा।

गाथा - ३००

को णाम भणिज्ज बुहो णादुं सव्वे पराइए भावे।
मज्झ-मिणं ति य वयणं जाणंतो अप्पयं सुद्धं।।३००।।

को नाम भणेद्बुधः ज्ञात्वा सर्वान् परकीयान् भावान्।
ममेद-मिति च वचनं जानन्नात्मानं शुद्धम्।।३००।।

यो हि परात्मनोर्नियतस्वलक्षणविभागपातिन्या प्रज्ञया ज्ञानी स्यात्, स खल्वेकं चिन्मात्रं भावमात्मीयं जानाति, शेषान्श्च सर्वानेव भावान् परकीयान् जानाति। एवं च जानन् कथं परभावान्ममामी इति ब्रूयात् ? परात्मनोर्निश्चयेन स्वस्वामिसम्बन्धस्यासम्भवात्। अतः सर्वथा चिद्भाव एव गृहीतव्यः, शेषाः सर्वे एव भावाः प्रहातव्या इति सिद्धान्तः।।३००।।

अब इस उपदेश की गाथा कहते हैं:-

सब भाव जो परकीय जाने, शुद्ध जाने आत्म को।
वह कौन ज्ञानी 'मेरा है यह' यों वचन बोले अहो।।३००।।

गाथार्थ : [सर्वान् भावान्] सर्व भावों को [परकीयान्] दूसरे का [ज्ञात्वा] जानकर [कः नामः बुधः] कौन ज्ञानी, [आत्मानं] अपने को [शुद्धम्] शुद्ध [जानन्] जानता हुआ, [इदम् मम] 'यह मेरा है' (-'यह भाव मेरे हैं') [इति च वचनं] ऐसा वचन [भणेत्] बोलेगा?

टीका : जो (पुरुष) पर के और आत्मा के नियत स्वलक्षणों के विभाग में पड़नेवाली प्रज्ञा के द्वारा ज्ञानी होता है, वह वास्तव में एक चिन्मात्र भाव को अपना जानता है और शेष सर्व भावों को दूसरों का जानता है। ऐसा जानता हुआ (वह पुरुष) परभावों को 'यह मेरे हैं' ऐसा क्यों कहेगा? (नहीं कहेगा;) क्योंकि पर में और अपने में निश्चय से स्वस्वामिसम्बन्ध का असम्भव है। इसलिए, सर्वथा चिद्भाव ही (एकमात्र) ग्रहण करनेयोग्य है, शेष समस्त भाव छोड़नेयोग्य हैं-ऐसा सिद्धांत है।

भावार्थ : लोक में भी यह न्याय है कि-जो सुबुद्धि और न्यायवान होता है, वह दूसरे के धनादि को अपना नहीं कहता। इसी प्रकार जो सम्यग्ज्ञानी है, वह समस्त परद्रव्यों को अपना नहीं मानता। किन्तु अपने निजभाव को ही अपना जानकर ही ग्रहण करता है।

गाथा - ३०० पर प्रवचन

को णाम भणिज्ज बुहो णादुं सव्वे पराइए भावे।
मज्झ-मिणं ति य वयणं जाणंतो अप्पयं सुद्धं॥३००॥

नीचे हरिगीत,

सब भाव जो परकीय जाने, शुद्ध जाने आत्म को।
वह कौन ज्ञानी 'मेरा है यह' यों वचन बोले अहो॥३००॥

वचन नहीं परन्तु मान्यता। भाषा वचन से ली है।

टीका :- **जो (पुरुष)...** पुरुष शब्द से आत्मा। **पर के और आत्मा के नियत स्वलक्षणों के विभाग में...** पर के अर्थात् पुण्य-पाप के भाव और आत्मा चैतन्य भाव। वह नियत अर्थात् निश्चय स्वलक्षण। दोनों के निश्चय स्वलक्षण हैं। नियत है न? दोनों को निश्चय स्वलक्षण भिन्न हैं। आहाहा! उनके (भिन्न) विभाग में, दो के निश्चय स्वलक्षण के विभाग में **पड़नेवाली...** पड़नेवाली, पड़नेवाली। दो विभाग में पड़नेवाली। **प्रज्ञा के द्वारा ज्ञानी होता है,...** उस प्रज्ञा द्वारा ज्ञानी होता है। आहाहा! कोई शास्त्रज्ञान और यह ज्ञान कोई ज्ञान नहीं है। आहाहा!

आत्मा का स्वलक्षण ज्ञान और राग का लक्षण बन्ध, दोनों के निश्चय स्वलक्षण है। है न? **विभाग में पड़नेवाली... स्वलक्षणों के विभाग में...** विभाग में अर्थात् भाग में **पड़नेवाली प्रज्ञा के द्वारा ज्ञानी होता है,...** ओहोहो! कितना पढ़े तो ज्ञानी हो? कितना पढ़े तो ज्ञानी (हो)? ज्ञानी उसे कहते हैं कि आत्मा का चैतन्यमय ज्ञान और इसके अतिरिक्त पर के भाव रागादि, सब विकल्प है, (इन) दो के विभाग में पड़नेवाली प्रज्ञा, उस प्रज्ञा द्वारा ज्ञानी होता है। है? **पड़नेवाली प्रज्ञा के द्वारा ज्ञानी होता है,...** आहाहा! बहुत संक्षिप्त बात है। तब धर्मी होता है। ज्ञानी अर्थात् धर्मी।

धर्म की प्रथम शुरुआत, धर्म की प्रथम शुरुआत—आत्मा और राग कि जो पर है, उनमें विभाग करनेवाली प्रज्ञा, दोनों को एकरूप माननेवाला मिथ्यात्व, दो को एक माननेवाला मिथ्यात्व। दो को विभाग करके भिन्न करनेवाली, उस प्रज्ञा द्वारा ज्ञानी होता है। आहाहा!

ज्ञानी शब्द से ? और कोई ऐसा कहे कि ज्ञानी अर्थात् यह तो ऊँची बात, परन्तु हमारे तो धर्म करना है। परन्तु यह ज्ञानी कहो या धर्मी कहो। आहाहा!

जो कोई आत्मा पर के और आत्मा के निश्चय स्वलक्षण—दोनों के निश्चय स्वलक्षण, निश्चय से दोनों के लक्षण। आत्मा का चिन्मय लक्षण है, रागादि का भावबन्ध लक्षण है। निश्चय स्वलक्षण, उसका विभाग, उसमें पड़नेवाली प्रज्ञा द्वारा। आहाहा! यह धर्म की शुरुआत। कितना पढ़ा और कितना वाँचन किया, ऐसा कहा नहीं। अन्तर में राग और आत्मा दो के बीच में साँध है, उसमें विभाग करनेवाली प्रज्ञा द्वारा दो को भिन्न करता है, तब ज्ञानी होता है, तब धर्मी होता है। आहाहा! समझ में आया ? ऐसी बात है, भाई! दुनिया तो बाहर से यह दया, दान और भक्ति, पूजा और यात्रा को धर्म मनवा बैठती है। वह धर्म नहीं है। वह तो एक पाप से बचने के लिये शुभभाव आता है। पाप से, अशुभ से बचने के लिए कमजोरी से शुभभाव आता है, परन्तु है हेय; ग्राह्य नहीं। आहाहा! ग्राह्य अर्थात् ग्रहण करनेयोग्य, अनुभव करनेयोग्य वह नहीं है। अनुभव करनेयोग्य तो एक आत्मा का चिन्मय भाव, वह अनुभव करनेयोग्य है। आहाहा! शेष भाव छोड़नेयोग्य है। (आज) सोमवार है। बाहर के लड़के हैं ? (श्रोता :- वांकानेर के हैं) हाँ ठीक। समझ में आया ?

आत्मा और राग, दोनों का भिन्न-भिन्न लक्षण बराबर जानकर विभाग करनेवाली, दो को दो रूप करनेवाली। दोनों में एकत्व करनेवाला मिथ्यात्वभाव है। दोनों को भिन्न करनेवाली, दो के बीच पड़नेवाली प्रज्ञा, प्रज्ञाछैनी से जो ज्ञानी होता है। आहाहा! भाषा तो देखो! इतना शास्त्र पढ़ा और इतना किया.... (इसलिए ज्ञानी होता है) आहाहा! ऐसा नहीं कहा।

यह आत्मा सर्वज्ञ परमेश्वर, जैन परमेश्वर ने आत्मा ज्ञानमय देखा है। ज्ञान चिन्मय आत्मा और राग दया, दान आदि राग, वह विकार है। दोनों के बीच पड़नेवाली प्रज्ञाछैनी द्वारा जो ज्ञानी होता है, वह ज्ञानी है। आहाहा! समझ में आया ? **वह वास्तव में एक चिन्मात्र भाव को अपना जानता है...** ऐसे विभाग में पड़नेवाली प्रज्ञा द्वारा ज्ञानी होता है। **वह वास्तव में एक चिन्मात्र भाव को (ज्ञानभाव को) अपना जानता है...** जानन... जानन.... जानन-देखन ऐसा आत्मा। यह तो जड़ है। पुण्य-पाप के भाव भी जड़ हैं, अचेतन हैं, वे कुछ जानते नहीं हैं। जाननेवाला जो आत्मा है, उसे जो ग्रहण करता है,

उस चिन्मात्र भाव को अपना जानता है, उसे अपना जानता है, आहाहा! **और शेष सर्व भावों को दूसरों का जानता है।** अजीव के (जानता है)। आहाहा! यह शुभ और अशुभभाव, वे भी अजीव के भाव हैं, जीव के भाव नहीं... आहाहा!

जीव का भाव तो चेतनमय, जानन-देखनमय आत्मा का भाव है। इसके अतिरिक्त जितने भाव हैं, वे सब जड़ के-अजीव के भाव हैं। आहाहा! ऐसी बात कठिन है। भगवान की भक्ति, णमो अरिहंताणं... णमो अरिहंताणं, सम्मेदशिखर की यात्रा, पंच महाव्रत के परिणाम, अपने अतिरिक्त शास्त्र के पठन, सब पर है, सब अजीव है; वह जीव नहीं। आहाहा! अन्दर है या नहीं? कठिन बात है, भाई! धर्म कोई साधारण बात नहीं है। आहाहा!

यह तो सवेरे सुना कि ईसाई की, मुसलमान की और बौद्ध की आबादी बहुत है, कहते हैं। बौद्ध की भी बहुत आबादी है और अफगान वह मुसलमान की बहुत आबादी है और ईसाई की, आहाहा! तीनों माँस खानेवाले। अरर्र! बाहर से देखो तो चमक। उनके गुरु पाँच-पाँच करोड़ रुपये की मोटर में (बैठे) और मरकर नरक में जाये, बापू! अरर! इसने सुना न हो, क्या करे? आहाहा! ईसाई लोग तो गाय के माँस खाते हैं। बौद्ध गाय का माँस नहीं खाते, दूसरा माँस खाते हैं। आहाहा! उसमें अवतार और उसमें जिन्दगी (बितावे)। कितनी बड़ी आबादी है, कहते हैं। इस दुनिया में हिन्दुस्तान की हिन्दी आबादी तो बहुत थोड़ी, बहुत थोड़ी। अन्य तो बहुत आबादी है। बौद्ध की अपेक्षा ईसाई की और मुसलमान की आबादी बहुत है। आहाहा! अरे! बेचारे को कब अवसर मिले? ऐसी बात सुनने का अवसर नहीं होता। आहाहा! दुर्लभ वस्तु है। मिली, उसे दरकार नहीं और नहीं, मिली उसे बेचारे को विरह है, सुनने को मिलती नहीं। आहाहा!

यहाँ तो परमात्मा जिनेश्वरदेव ऐसा कहते हैं कि एक चिन्मयभाव को अपना जानना। स्त्री, कुटुम्ब, परिवार तो पर के हैं। कर्म पर के हैं, पुण्य-पाप भाव पर के हैं। यहाँ तो पर्याय भी गिनी नहीं। चिन्मयभाव, त्रिकाली चिन्मयभाव ज्ञानस्वभाव भगवान आत्मा को एक को अपना जानना। यह ज्ञानस्वभाव जो (भगवान) आत्मा अन्दर चैतन्यमूर्ति है, यह (शरीर) तो जड़ है। जो जाननेवाली चीज़ यह है, ऐसा जो जानता है, यह है, शरीर है, ऐसी शरीर को खबर है? वाणी को खबर है? उसे खबर है? खबर तो चेतन को है कि यह है।

यह तो चेतन को खबर है। वह चेतनसत्ता चिन्मय जो भाव त्रिकाल है... आहाहा! वह अपना स्वभाव है। है? चिन्मय भाव को अपना जानना, उसे अपना मानना। आहाहा! दुनिया की पड़ में कहीं पड़ना नहीं, कहते हैं। सब प्रपंच और... आहाहा! कठिन काम है।

आत्मा अन्दर चिन्मय भगवान आत्मा जाननेवाला अन्दर विराजता है। जो जगत की चीज़ है, उसे तो खबर नहीं। जो जाननेवाला है, वह आत्मा है, जाननेवाला, वह आत्मा है। यह चीज़ जड़ आदि है, वह तो जड़ है। दूसरे आत्मा हैं, वे भले जानने में आवें परन्तु यह ज्ञान, वह नहीं है। यह ज्ञान जो है कि जो सबको जाननेवाला है, उस ज्ञान को अपना जानना। आहाहा! कठिन बातें हैं। भाषा थोड़ी परन्तु भाव बहुत गम्भीर है। अनन्त काल से किया नहीं। आहाहा!

वास्तव में, ऐसा कहा न? **वास्तव में एक चिन्मात्र भाव...** भाषा देखी? आहाहा! एकान्त नहीं हो जाता? **वास्तव में एक चिन्मात्र भाव को अपना...** जानना। चिन्मयभाव ही, ज्ञानमय भाव को ही अपना (जानना)। एकान्त एक ही चिन्मयभाव अपना जानना, दूसरे एक भी नहीं। राग का कण तीर्थंकरगोत्र बाँधे, वह कण अपना नहीं है। आहाहा! क्या कहा? पहले तो दो भाग किये। ज्ञानी हुआ तो वह ज्ञानी क्या जानता है? ज्ञानी हुआ, वह ज्ञानी क्या जानता है? कि वास्तव में एक चिन्मात्रभाव (अपना जानता है)। एक जाननस्वभाव... जाननस्वभाव... जाननस्वभाव... चैतन्य का चेतनस्वभाव को एक ही अपना जानता है। आहाहा! तो फिद यह स्त्री, पुत्र का क्या समझना? स्त्री, पुत्र किसके होंगे। आहाहा! वे तो इसके नहीं परन्तु इसके प्रति का राग है, वह भी इसका नहीं। वह चीज़ तो इसकी नहीं परन्तु उसके प्रति का राग है, वह भी इसका नहीं। आहाहा!

यहाँ तो चिन्मयभाव कहकर; जितना अंग्रेजी का जानपना, वह सब बाहर की भाषा, अनेक प्रकार की भाषा है न? तमिल और कन्नड़ इत्यादि उन सब भाषा का ज्ञान, वह ज्ञान ही नहीं है। अंग्रेजी पढ़-पढ़कर बड़ा २५-३० उम्र का हुआ, परन्तु वह ज्ञान ही नहीं है। ज्ञानी उसे अपना ज्ञान मानता ही नहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : ज्ञानी की दुनिया अलग है।

पूज्य गुरुदेवश्री : बात ही अलग है। आहाहा!

यहाँ तो चिट्ठी में वहाँ तक कहा नहीं ? जितना परसत्तावलम्बी ज्ञान है, वह आत्मा का ज्ञान ही नहीं है। वह बन्ध का कारण है। परमार्थ वचनिका, बनारसीदास। मोक्षमार्गप्रकाशक में पीछे तीन चिट्ठियाँ है। जितना परावलम्बी ज्ञान है, वह सब बन्ध का कारण है। धर्मी उसे मोक्ष का कारण नहीं मानते। आहाहा! दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम तो मोक्ष का कारण है नहीं परन्तु जितना परावलम्बी ज्ञान है, जिसमें आत्मा का आश्रय नहीं, आत्मा के आश्रय बिना जितना परावलम्बी ज्ञान होता है, वह सब अचेतन है, बन्ध का कारण है। आहाहा! ऐसी बात कठिन पड़े ऐसी है। फिर लोग एकान्त कहे। उसमें कुछ दिक्कत नहीं है। सोनगढ़ का एकान्त है, एकान्त है। अन्दर अनेकान्त नहीं रखते। आहाहा! व्यवहार से भी कथंचित् लाभ है, निमित्त से भी कथंचित् लाभ है, (ऐसा माने तो) अनेकान्त होता है। यहाँ कहते हैं, कि व्यवहार से, निमित्त से जरा भी लाभ नहीं होता, यह अनेकान्त है। आहाहा!

मुमुक्षु : सच्चा सम्यक् एकान्त यहाँ है।

पूज्य गुरुदेवश्री : एकान्त आत्मा में है। आहाहा! है ?

वास्तव में... वास्तव में, वास्तव में, निश्चय से एक चिन्मात्र भाव, ज्ञानमात्र भाव। ज्ञान के साथ आनन्द आदि सब अनन्त गुण आ गये। ज्ञान की प्रधानता से बात की। चिन्मात्र भाव। भाव है न ? वह चिन्मात्र भाव है। **भाव को अपना जानता है**... उसे अपना जानता है। आहाहा!

इसमें शास्त्र के वाद-विवाद करे। यह बात बतावे तो कहे, यह तो निश्चय की है। अन्यत्र व्यवहार की बात है या नहीं ? परन्तु क्या व्यवहार की बात है ? है, उस व्यवहार को जाननेयोग्य है। व्यवहार की बात चरणानुयोग में, करणानुयोग में सर्वत्र आती है। वह है, वस्तु नहीं ? व्यवहारनय का विषय नहीं ? व्यवहारनय नहीं ? नय है, नय का विषय है, परन्तु वह जाननेयोग्य है, आदरनेयोग्य नहीं। आहाहा! व्रत, तप, भक्ति, गुरु, ज्ञान, गुरु को सुनना, उनका विनय करना, यह सब शास्त्र में आता है। नहीं आता ? आता है परन्तु उसका अर्थ क्या ? आहाहा! शास्त्र में तो यहाँ तक आता है कि शास्त्र है, वह आप्तपुरुष से निकले हैं, इसलिए आप्तपुरुष वन्दनीय उपकारी है। आता है न अपने ? नियमसार में पहला श्लोक

है। पहले श्लोक में शुरुआत में आता है। आवे, आवे परन्तु जानना चाहिए न क्या अपेक्षा है ? एक ही बात करे, वह कुछ चलती है ? कितनी गाथा है ? छठी ? छठी गाथा के बाद।

इष्ट फल की सिद्धि का उपाय सुबोध है... छठी गाथा हो गयी, पश्चात् बहुत श्लोक हैं। एक, दो और तीन। उसमें यह आया है कि **इष्ट फल की सिद्धि का उपाय सुबोध है...** सम्यग्ज्ञान है। **(अर्थात् मुक्ति की प्राप्ति का उपाय सम्यग्ज्ञान है), सुबोध सुशास्त्र से होता है...** देखो! सम्यग्ज्ञान सुशास्त्र से होता है। अब एक ओर ऐसा कहते हैं कि निमित्त से ज्ञान नहीं होता। उस समय अपने को ज्ञान की पर्याय होनी है, तब उसको निमित्त कहा जाता है। आहाहा! निमित्त से कथन है परन्तु उसे पकड़े। यह कहा, देखो! **सुबोध सुशास्त्र से होता है...** उसमें इनकार करते हैं कि निमित्त से आत्मा में कुछ होता नहीं। जिस क्षण में आत्मा में अपनी पर्याय होनी है, वह उपादान अपना है, क्षणिक क्रमबद्ध में पर्याय आनेवाली, वह आयी है। तब सामने चीज़ भले हो तो उसे निमित्त कहा जाता है परन्तु उससे यहाँ होता है (ऐसा नहीं है)। (उससे हुआ होवे तो) फिर इसने क्या किया ? द्रव्य निकम्मा था ?

यदि निमित्त ने पर्याय की, निमित्त से हुई तो द्रव्य निकम्मा अर्थात् पर्यायरहित था ? पर्यायवाला द्रव्य है, पर्याय है। बस! हो गया, तो सामने निमित्त भी है। आहाहा! शास्त्र में यह ऐसे शब्द तो बहुत आते हैं। देखो! **शास्त्र की उत्पत्ति आप्त से होती है; इसलिए उनके प्रसाद के कारण...** देखो! **आप्तपुरुष बुधजनों द्वारा पूजनेयोग्य है (अर्थात् मुक्ति सर्वज्ञदेव की कृपा का फल होने से सर्वज्ञदेव ज्ञानियों द्वारा पूज्य है), क्योंकि किए हुए उपकार को साधु पुरुष (सज्जन) भूलते नहीं हैं।** यह व्यवहार है। भगवान की वाणी निमित्त है। ज्ञान तो उस क्षण में स्वयं को वह उत्पन्न होने का जन्मक्षण है। ज्ञान की पर्याय की उत्पत्ति का जन्मक्षण है। तब सामने निमित्त कहलाता है। जन्मक्षण तो स्वयं से हुआ, स्वयं से होता है। निमित्त से नहीं, वीतराग की वाणी से नहीं और वीतराग से भी नहीं। अरे.. अरे! ऐसी बात ?

यहाँ कहते हैं कि सुशास्त्र से (आप्त से) होता है और सुशास्त्र से सुबोध होता है, इससे ज्ञान होता है। यशपालजी! एक ओर यह लिखा हो, उसका निषेध करना वापस।

बापू! व्यवहार के वचन, निश्चय के कैसे वचन होते हैं—निमित्त के? यह तो ग्यारहवीं गाथा में कहा है न कि निमित्त को हस्तावलम्ब जानकर भगवान ने भी बहुत कहा है परन्तु उसका फल संसार है। ग्यारहवीं गाथा में आता है। निमित्त को हस्तावलम्बन जानकर, सहारा जानकर और निमित्त देखकर शास्त्र में बहुत बात की है परन्तु उसका फल संसार है। आहाहा! कठिन बातें। यहाँ कहते हैं, सुबोध होता है, शास्त्र से होता है। यहाँ कहते हैं कि सुबोध अपनी ज्ञान की पर्याय से होता है, तब शास्त्र को निमित्त कहा जाता है। आहाहा! क्या हो? भाई! सब बात ऐसी है।

यहाँ तो (कहते हैं), **वास्तव में एक चिन्मात्र भाव को अपना जानता है...** आहाहा! **और शेष सर्व भावों को दूसरों का जानता है।** आहाहा! उस शास्त्र की ओर के झुकाववाला ज्ञान भी पर का है। आहाहा! जिसमें स्व आश्रय आवे नहीं और स्व आश्रय बिना अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आवे नहीं। उस अतीन्द्रिय आनन्द के स्वादरहित ज्ञान, वह ज्ञान, ज्ञान ही नहीं है, कहते हैं। आहाहा! समझ में आया? जिसमें स्व आवे नहीं और स्व जिसका आश्रय ज्ञान आवे, उसमें साथ में आनन्द भी आता है। आहाहा! उस प्रज्ञा द्वारा भिन्न किया हुआ ज्ञान, वह ज्ञान अपना है, उसमें आनन्द साथ में आवे, वह अपना है। आहाहा! समझ में आया इसमें? वहाँ तो ऐसा कहा। सुबोध तो सुशास्त्र से होता है।

मुमुक्षु : निमित्त का ज्ञान कराया।

पूज्य गुरुदेवश्री : निमित्त कौन था, (उसका) ज्ञान है, शास्त्र है, भगवान है, वाणी है, निमित्त है। वस्तु नहीं? परन्तु उससे होता है, ऐसा नहीं है। उससे होवे तो यहाँ पर्यायरहित द्रव्य है? कोई द्रव्य अपनी पर्यायरूपी कार्यरहित निकम्मा द्रव्य है? कि जो उसके कार्य को निमित्त करे? आहाहा! ऐसी बात है। थोड़ा सूक्ष्म पड़े परन्तु अब क्या हो? बापू! मार्ग तो ऐसा है। दुनिया में माननेवाले थोड़े निकले। आहाहा! उस व्यवहार की बातें माननेवाले बहुत निकले। आहाहा!

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : बहुत होते हैं। लोग बहुत हैं, लो न! अफगानिस्तान के मुसलमान के अकेले ढ़ेर। पूरा मुसलमान, पाकिस्तान पूरा मुसलमान, ईसाई माँस खानेवाले, बौद्ध भी

माँस खानेवाले। अरर! प्रभु... प्रभु! उन्हें यह वाणी कहाँ (सुनने को मिले)? ओहोहो! बड़ी आबादी। हिन्दुस्तान में भी कहीं सब माँस खानेवाले नहीं हैं। माँस खानेवाले भी हैं। हिन्दुस्तान में भी मुसलमान तो सही परन्तु हिन्दू भी माँस खानेवाले हैं। आहाहा! अरेरे! जहाँ माँस का भोजन है, वहाँ तो नरक है। आहाहा! भविद्र नारकी है, ऐसा शास्त्र में पाठ है। शास्त्र में ऐसा पाठ है, भविद्र नारकी है। मरकर जानेवाला है न, (इसलिए) अभी से उसे भविद्र नारकी कहना, कहते हैं। अरर! बाहर में दिखाब तो अलग हो। आहाहा! पाँच-पाँच करोड़ की मोटर (हों)। उसके प्रमाण में मकान, महल भी बड़ा होगा या नहीं? आहाहा! अरेरे! इससे क्या हुआ?

अपना कौन? अपना कौन? अपना तो ज्ञानस्वभाव जो चैतन्य, राग से भिन्न किया। प्रज्ञाछैनी द्वारा राग से, पुण्य से भिन्न किया, वह ज्ञान अपना है। आहाहा! **और शेष सर्व...** इसके अतिरिक्त सब। शेष और सब। **भावों को दूसरों का जानता है।** आहाहा! यह वास्तव में तो राग और यह सब अजीव है। जीव स्वभाव ही नहीं, जीव ही नहीं। आहाहा! व्रत, तप, भक्ति, पूजा, दान का विकल्प आवे परन्तु उसमें जीवपने का, चैतन्य स्वभाव का अभाव है। चिन्मयभाव ज्ञानमय चैतन्य ज्योति स्वयं ज्योति सुखधाम, ऐसी स्वयं चैतन्यज्योति का तो राग में अभाव है। इस अपेक्षा से, चैतन्यज्योति की अपेक्षा से राग को तो अचेतन और जड़ कहा है। आहाहा! ऐसा है।

एक ओर कहते हैं कि राग है, वह आत्मा का व्याप्य है और आत्मा व्यापक है, ऐसा भी कहे। आत्मा व्यापक है और राग उसका व्याप्य है, जड़ उसका व्याप्य नहीं। यह व्याप्य अवस्था आत्मा की है। उसे पर से भिन्न बतलाना हो, तब यह बताते हैं परन्तु पश्चात् राग से भिन्न बतलाना हो, तब राग पर है और तू चैतन्य पर है, (ऐसा कहे)। आहाहा! ऐसे सब भंग पड़े। फिर उसमें से एकान्त खींचे। आहाहा!

यहाँ तो स्पष्ट कहते हैं, **शेष सर्व भावों को दूसरों का जानता है।** दूसरे का जानना; अपने नहीं, दूसरे के जानना। जीव के नहीं, तब अजीव के जानना। आहाहा! यह रागादि भाव जीव के नहीं, अजीव के जानना। जिस भाव से तीर्थंकरगोत्र बँधे, वह जीव का नहीं, वह भाव अजीव है। आहाहा! गजब बात है। **शेष सर्व भावों को दूसरों का**

जानता है। ऐसा जानता हुआ... ऐसा जानता हुआ, इस प्रकार से जाननेवाला, स्व और पर को भिन्न जानता हुआ। मैं तो चिन्मय आत्मा हूँ और मुझसे रागादि भिन्न है, वे सब अचेतन पर है। आहाहा! वे दूसरे के हैं। वे दूसरे के हैं, मेरे नहीं। आहाहा! उत्पन्न होते हैं आत्मा की पर्याय में, तथापि वे दूसरे के हैं। परवस्तु जो पर्याय में नहीं, वह तो दूसरे की है ही, परन्तु पर्याय में दया, दान, व्रत, विकार उत्पन्न होता है, वह सब दूसरे का है, ऐसा जानना।

ऐसा जानता हुआ... ऐसा जानता हुआ **(वह पुरुष) परभावों को 'यह मेरे हैं' ऐसा क्यों कहेगा?** कहेगा अर्थात् कैसे माने? कहेगा, यह तो कथन की शैली है। **(वह पुरुष) परभावों को...** रागादि विकल्प को, चाहे तो शास्त्र का ज्ञान हो, उसका विकल्प हो। आहाहा! अकेली चैतन्यमय वस्तु भगवान पूर्णानन्दस्वरूप, पूर्ण ज्ञानस्वरूप, पूर्ण... पूर्ण स्वरूप, हों! ज्ञानमय है, तथापि अपूर्ण नहीं; पूर्ण ज्ञानस्वरूप, पूर्ण आनन्दस्वरूप वस्तु ऐसी है। फिर प्रतीति और ज्ञान में आवे, तब भले अपूर्णता, पर्याय अपूर्ण हो। आहाहा! वस्तु पूर्ण ज्ञान और पूर्ण आनन्दस्वरूप है। ऐसा जाननेवाला **(वह पुरुष) परभावों को 'यह मेरे हैं' ऐसा क्यों कहेगा?** ऐसा कैसे माने? कहेगा का अर्थ ऐसा लेना। आहाहा!

जो अपना चिन्मय भाव है, उसके अतिरिक्त रागादि दूसरे के भाव हैं। उन दूसरे के भाव को अपना कैसे माने? आहाहा! दूसरे के भाव हैं, उनसे अपने में लाभ होगा, व्यवहाररत्नत्रय दूसरे के भाव हैं, उन दूसरे के भाव से अपने में लाभ होगा—ऐसी बात नहीं है। आहाहा! अपने स्वभाव से अपने में लाभ होता है। अपने भाव से अपने में लाभ होता है। पर के भाव से अपने में लाभ होता है, ऐसा कभी नहीं है। आहाहा! पुरानी बात सुनी हो और पूरी बात का पोषण हो, उसे यह सुनकर ऐसा हो जाता है कि यह क्या कहते हैं यह सब? क्या कहते हैं यह? यह परमेश्वर कहते हैं, जिनेश्वरदेव की यह वाणी है, जो सन्त-दिगम्बर सन्त बाहर प्रसिद्ध करते हैं कि भगवान ऐसा कहते थे और ऐसी चीज़ है। आहाहा! आहाहा! ऐसे (अपने) क्यों मानेगा?

ऐसा जानता हुआ (वह पुरुष) परभावों को... अर्थात् रागादि को अपना कैसे मानेगा? न ही मानेगा। **क्योंकि पर में और अपने में निश्चय से स्वस्वामिसम्बन्ध का असम्भव है।** लो, यहाँ आया। ४७ शक्ति में अन्तिम आयी है न? स्वस्वामिसम्बन्ध शक्ति।

यहाँ से आयी है, इसमें से निकाली। आहाहा! क्या कहते हैं? **क्योंकि पर में और अपने में निश्चय से स्वस्वामिसम्बन्ध का असम्भव है।** राग स्व और आत्मा उसका स्वामी, ऐसा असम्भव है। व्यवहाररत्नत्रय का राग अपना और आत्मा उसका स्वामी, ऐसा असम्भव है। आहाहा! अब यह व्यवहाररत्नत्रय साधन और निश्चय साध्य, ऐसा जयसेनाचार्य की टीका में बहुत आता है। वह तो निमित्त का ज्ञान कराया है। आहाहा! निमित्त एक होता है, वस्तु है। व्यवहार का विषय नहीं? व्यवहार का विषय नहीं तो नय क्या? नय है, वह तो विषयी है। नय है, वह विषयी है, विषय को जाननेवाला है। जाननेवाला है तो उसका विषय है या नहीं? व्यवहार विषय है परन्तु छोड़ने योग्य है। आहाहा! ऐसी बात है। नये लोगों को तो ऐसा लगता है कि यह कैसा किसका मार्ग होगा? यह वीतराग का मार्ग है। जिनेश्वरदेव परमेश्वर, उनके कहनेवाले कुन्दकुन्दाचार्य आड़तिया होकर मार्ग कहते हैं। यह कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं। भगवान के पास गये थे। २००० वर्ष पहले, आठ दिन रहे थे। वहाँ से आकर यह बनाया कि भगवान ऐसा कहते हैं। यह भगवान का मार्ग है। आहाहा! क्यों? आहाहा!

अपने में स्वस्वामिसम्बन्ध का गुण है। क्या कहा? इस आत्मा में स्वस्वामिसम्बन्ध नाम का एक गुण है, तो वह गुण स्व-अपनी शुद्धता, द्रव्य शुद्ध, गुण शुद्ध और पर्याय शुद्ध, यह स्व, उसका स्वामी आत्मा है। परन्तु विकार स्व और आत्मा उसका स्वामी ऐसा है नहीं। क्या कहा? आत्मा में एक अनादि-अनन्त स्वस्वामिसम्बन्ध नाम का गुण है। अन्दर गुण है। ४७ शक्ति में अन्तिम है। स्व, अपना द्रव्य, गुण और पर्याय स्व अर्थात् शुद्ध जो पवित्र—शुद्ध है, वह स्व, उसका आत्मा स्वामी है। परन्तु अन्दर विकार होता है, वह अपना स्व नहीं तो उसका स्वामी नहीं। व्यवहार का आत्मा स्वामी नहीं। व्यवहार आत्मा का स्व नहीं, व्यवहार आत्मा की अपनी चीज़ नहीं। आहाहा! ऐसी बात है। यह शक्ति निकाली है न? यह यहाँ से निकाली है। पहले से निकाली है। आहाहा!

परभावों को 'यह मेरे हैं' ऐसा क्यों कहेगा? क्योंकि... परभावों को अपना माने नहीं, क्यों? यह दया, दान, व्रत, भक्ति के विकल्प आते हैं, उन्हें समकिती अपना नहीं मानता। यह क्यों? **क्योंकि...** अब कारण देते हैं। **पर में और अपने में निश्चय से**

स्वस्वामिसम्बन्ध का असम्भव है। पर में और अपने में निश्चय से स्वस्वामिसम्बन्ध का असम्भव है। परचीज़ मेरी है और मैं आत्मा उसका स्वामी है, ऐसा असम्भव है। आहाहा! यहाँ अब स्त्री मेरी, पुत्र मेरा और पुत्री मेरी, मकान मेरा, इज्जत मेरी, पुस्तक मेरी, बहियाँ मेरी, गहने मेरे, कपड़े मेरे (माने)। आहाहा! यहाँ कहते हैं कि व्यवहाररत्नत्रय भी दूसरे का है, अपना नहीं। अपना नहीं तो स्वस्वामिसम्बन्ध का असम्भव है। क्योंकि दोनों का सम्बन्ध ही नहीं है। दोनों में स्वस्वामिसम्बन्ध का अभाव है। उसका स्व और उसका स्वामी जड़ है और आत्मा स्व और उसका स्वामी चैतन्य। आत्मा चैतन्य और उसका स्वामी चेतन। आहाहा! ऐसी स्पष्ट बातें हैं। बनिये को तुलना करने का समय नहीं मिलता। धन्धे के कारण, पाप के कारण, पर के कारण, पर का करने के लिये रूकने में। आहाहा! स्त्री के लिये करूँ, पुत्र के लिये, पुत्री के लिये, अमुक के लिये। त्रम्बकभाई को पुत्र-पुत्री नहीं तो भाई की ली है। यह तो दृष्टान्त है, सब लेते हैं न, दूसरे भी करते हैं या नहीं? लड़के को लेते हैं। आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं कि जहाँ अपना स्वरूप नहीं और पर का स्वरूप जो है तो पर में और अपने में स्वस्वामिसम्बन्ध का असम्भव है। तो असम्भव होने से पर मेरा है, ऐसा कैसे माने? समझ में आया? आहाहा! थोड़े-थोड़े शब्द में भी बहुत भरा है। ऐसा जानता हुआ कि वह बाकी के सर्व पर हैं और मैं स्व चिन्मय हूँ। **परभावों को 'यह मेरे हैं' ऐसा क्यों कहेगा? क्योंकि...** क्यों न माने? **पर में और अपने में निश्चय से स्वस्वामिसम्बन्ध का असम्भव है।** वह मेरा स्व और उसका मैं स्वामी... आहाहा! राग स्व और राग का स्वामी आत्मा, ऐसा असम्भव है। व्यवहाररत्नत्रय जो राग, देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा आदि व्यवहाररत्नत्रय राग, वह मेरा स्व और मैं उसका स्वामी, यह असम्भव है। आहाहा! यह तो बहुत स्पष्ट करते-करते वहाँ जाते हैं। आहाहा!

पर में और अपने में... आहाहा! पर का स्व वह और उसका स्वामी वह है। तथा अपना स्व यह आत्मा और उसका स्वामी मैं हूँ। आहाहा! **पर में और अपने में निश्चय से स्वस्वामिसम्बन्ध का असम्भव है।** आहाहा! व्यवस्थापक प्रत्येक चीज़ की व्यवस्था करते हैं, इसका यहाँ निषेध करते हैं। व्यवस्थापक है, वह सबकी व्यवस्था करे। वह तेरी

चीज़ कहाँ है कि तू दूसरे की व्यवस्था करे ? समझ में आया ? व्यवस्थापक स्थापित करते हैं या नहीं ? अमुक काम तुम्हें करना, अमुक काम तुम्हें करना... यह व्यवस्था तुम्हें सौंपते हैं, यह व्यवस्था तुम्हें सौंपी जाती है। विवाह होवे तब बड़े अच्छे विवाह में पच्चीस-पचास हजार खर्च करने हों (तब कहे), यह अमुक चीज़ लाने का (काम) तुम्हें सौंपते हैं, अमुक तुम (लाओ), स्वतन्त्र जाओ, व्यवस्था तुम्हें करनी है। यहाँ कहते हैं, कोई व्यवस्था नहीं कर सकता। आहाहा! क्योंकि व्यवस्था है, वह परचीज़ है। उसकी व्यवस्था मैं कैसे करूँ ? आहाहा! क्योंकि पर में जो व्यवस्था होती है, वह उसका स्व और वह उसका स्वामी है। मैं उसका स्व और स्वामी हूँ नहीं। आहाहा! भारी कठिन काम। यह सब व्यवस्थापक व्यवस्था करनेवाले स्थापते हो २५-५० व्यक्ति हो, तुम्हें मुख्य स्थापित करते हैं। तुम्हारी आज्ञा प्रमाण सब काम होगा। तुम हुकम करोगे ऐसे सबको करना पड़ेगा। यहाँ कहते हैं कि यह बात सत्य नहीं है। आहाहा!

मुमुक्षु : विवाह का काम हो तो किसी को सौंपना ही पड़े।

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन सौंपे ? जिसे सौंपे, वह कहाँ उसका काम-विवाह का कर सकता है ? वह तो उसकी क्रिया उसके कारण से होती है। आहाहा! पर की क्रिया पर के कारण से होती है। एक-एक रजकण की पर्याय एक-एक रजकण और उस काल में जन्मक्षण में उसकी पर्याय परमाणु में होती है। उसमें दूसरा क्या करे ? आहाहा! कठिन लगे तो सही। व्यवहार के रसिक को, व्यवहार सुना हो, अकेला व्यवहार सुना हो (उसे कठिन लगता है)। ऐसा नहीं, व्यवहार होता है, परन्तु निश्चय हो, वहाँ व्यवहार होता है। वह जाननेयोग्य है, आदरनेयोग्य नहीं। आहाहा!

इसलिए, सर्वथा चिद्भाव ही... सर्वथा (कहा है), देखा ? ज्ञानभाव ही **ग्रहण करनेयोग्य है,...** एक मात्र ज्ञानस्वभाव ही अनुभव करनेयोग्य है। ग्रहण करनेयोग्य का अर्थ अनुभव करनेयोग्य है। एक ज्ञानस्वभाव चैतन्यस्वभाव, वह मैं हूँ, वह ग्रहण करनेयोग्य है। **शेष समस्त भाव छोड़नेयोग्य हैं...** इसके अतिरिक्त समस्त भाव (छोड़नेयोग्य है) **ऐसा सिद्धान्त है।** ऐसा सिद्धान्त है। वस्तु की सिद्धि ऐसी है। वस्तु की सिद्धि इस प्रकार से होती है, ऐसा सिद्धान्त है। विशेष कहेंगे.... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ३७२, श्लोक - १८५, १८६ गाथा-३०१ से ३०३ रविवार, मगसिर कृष्ण १४
दिनाङ्क - १८-१२-१९७९

भावार्थ :- लोक में भी यह न्याय है कि-जो सुबुद्धि और न्यायवान होता है, वह दूसरे के धनादि को अपना नहीं कहता। लौकिक में भी न्यायवाला और सज्जन हो, वह परधन, परस्त्री, पर मकान को अपना न कहता। कहता, इसका अर्थ अपना न माने। **इसी प्रकार जो सम्यग्ज्ञानी है, वह समस्त परद्रव्यों को अपना नहीं मानता। किन्तु अपने निजभाव को ही अपना जानकर ही ग्रहण करता है।** आहाहा! ज्ञानस्वरूपी चैतन्यब्रह्म आत्मा आनन्दरस से भरपूर भगवान, उसे ही स्वयं को निज मानकर दूसरे को छोड़ देता है। अपने को जानकर ग्रहण करता है और दूसरे को छोड़ देता है। बहुत संक्षिप्त। आहाहा!

श्लोक १८५। यहाँ बहुत बार वाँचन हो गया है न, इसलिए मानो वाँचन हो गया (ऐसा लगा)।

कलश - १८५

अब इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं-

(शार्दूलविक्रीडित)

सिद्धान्तोऽय-मुदात्तचित्तचरितैर्मोक्षार्थिभिः सेव्यतां,
शुद्धं चिन्मय-मेक-मेव परमं ज्योतिः सदैवास्म्यहम्।
एते ये तु समुल्लसन्ति विविधा भावाः पृथग्लक्षणा-
स्तेऽहं नास्मि यतोऽत्र ते मम परद्रव्यं समग्रा अपि ॥१८५॥

श्लोकार्थ : [उदात्तचित्तचरितैः मोक्षार्थिभिः] जिनके चित्त का चरित्र उदात्त (उदार, उच्च, उज्जवल) है, ऐसे मोक्षार्थी [अयम् सिद्धान्तः] इस सिद्धान्त का [सेव्यताम्] सेवन करें कि - [अहम् शुद्धं चिन्मयम् एकम् परमं ज्योतिः एव सदा एव अस्मि] 'मैं

तो सदा शुद्ध चैतन्यमय एक परम ज्योति ही हूँ; [तु] और [एते ये पृथग्लक्षणः विविधाः भावाः समुल्लसन्ति ते अहं न अस्मि] जो यह भिन्न लक्षणवाले विविध प्रकार के भाव प्रगट होते हैं, वे मैं नहीं हूँ, [यतः अत्र ते समग्राः अपि मम परद्रव्यम्] क्योंकि वे सभी मेरे लिए परद्रव्य हैं'।।१८५।।

कलश - १८५ पर प्रवचन

सिद्धान्तोऽय-मुदात्तचित्तचरितैर्मोक्षार्थिभिः सेव्यतां,
शुद्धं चिन्मय-मेक-मेव परमं ज्योतिः सदैवास्म्यहम्।
एते ये तु समुल्लसन्ति विविधा भावाः पृथग्लक्षणा-
स्तेऽहं नास्मि यतोऽत्र ते मम परद्रव्यं समग्रा अपि।।१८५।।

जिनके चित्त का चरित्र... जिनका अभिप्राय, **उदात्त (उदार, उच्च, उज्ज्वल) है...** चरित्र अर्थात् अभिप्राय जिसका। **ऐसे मोक्षार्थी...** जिनके अभिप्राय की ऊँचाई है, जिसका चित्त ऊँचा अर्थात् अभिप्राय में ऊँचा है। ऐसा अभिप्रायवाला सम्यग्ज्ञानी **इस सिद्धान्त का सेवन करें...** अर्थात् इस सिद्धान्त का आश्रय करो। सेवन करो अर्थात् आश्रय करो मूल तो। आहाहा! क्या? **कि-'अहम् शुद्धं चिन्मयम् एकम् परमं ज्योतिः एव सदा एव अस्मि' 'मैं तो सदा शुद्ध चैतन्यमय एक परम ज्योति ही हूँ;...** आहाहा! **'मैं तो सदा शुद्ध चैतन्यमय...** शुद्ध चैतन्यमय वस्तु है न? पदार्थ है न? तत्त्व है तो वह शुद्ध चैतन्यमय द्रव्य है।

सत्य अभिप्रायवन्त को यह आश्रय लेना और यह सेवा करना **कि-'मैं तो सदा शुद्ध चैतन्यमय एक परम ज्योति ही हूँ;...** परम ज्योति। चैतन्य की (ज्योति)। अग्नि की और दीपक की ज्योति नहीं। परम ज्योति—चैतन्य। जलहल ज्योति अन्दर चैतन्यमय यह ज्योति, वह मैं हूँ। आहाहा! **ज्योति ही...** ऐसा शब्द है न? परम **एक परम ज्योति ही...** इतना वजन है। एक ही हूँ, जिसमें भेद नहीं। और वह एक है। परम है, एक है और वह सदा एक ही है। **'ही'** है। आहाहा! अब आत्मा किसे कहना, इसकी खबर नहीं होती, आत्मा सुना न हो। आहाहा!

धर्म उसे कहते हैं कि जो आत्मा चैतन्यमय प्रभु सदा शुद्ध एक परम ज्योति सदा हूँ;

ऐसी जिसकी दृष्टि है, उसे यहाँ सम्यग्ज्ञानी धर्मी कहते हैं। जिसे उसकी खबर नहीं, वे सब अज्ञानी अधर्मी है। आहाहा! कठिन काम है।

'मैं तो सदा शुद्ध चैतन्यमय एक परम ज्योति ही... सदा एक परम ज्योति ही हूँ;... एक स्वरूप मैं हूँ, उसमें भेद भी नहीं। मति और श्रुत पर्याय के भेद हैं। मैं तो परम ज्योति सदा ही एक हूँ। **और 'एते ये पृथग्लक्षणः विविधाः भावाः समुल्लसन्ति ते अहं न अस्मि'** विशिष्टता क्या है कि **जो यह भिन्न लक्षणवाले विविध प्रकार के भाव... 'समुल्लसन्ति' प्रगट होते हैं,...** वे कहीं शाश्वत् चीज़ नहीं है, यह शाश्वत् चीज़ है। सदा ही चैतन्य, चैतन्य ज्योति, परम ज्योति सदा है, यह मैं हूँ। आहाहा! पश्चात् यह व्यापार-धन्धा करना कब? वकालात कब करना? यह डॉक्टरपना... नवरंगभाई नहीं? गये? चले गये होंगे। नवरंगभाई वहाँ कैसे बैठे?

मुमुक्षु : सहारा, सहारा लेकर।

पूज्य गुरुदेवश्री : सहारा ठीक। कहो, समझ में आया? आहा!

मैं तो एक ही भाव हूँ, जो सदा रहनेवाला है, वह एक ही मैं हूँ। सदा रहनेवाला वह एक ही मैं और यह प्रगट होनेवाले भाव, वह मैं नहीं। भाषा देखो तो, आहाहा! यह कायम रहनेवाली चीज़ नहीं है। दया, दान, व्रत, भक्ति, काम, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग आदि यह कहीं सदा रहनेवाली चीज़ नहीं है। इसलिए भाषा ऐसी प्रयोग की है कि ये भिन्न लक्षणवाले, मेरे स्वरूप से भिन्न—पृथक् लक्षणवाले विविध प्रकार के, वापस एक ही प्रकार भी नहीं। वह एक प्रकार था। था न उसमें?

सदा चैतन्यमय एक परम ज्योति ही हूँ;... सदा ही परम ज्योति एक चैतन्यमय हूँ। उसके सामने यह भिन्न लक्षणवाले मुझसे पृथक् लक्षणवाले अर्थात् एक प्रकार नहीं, परन्तु विविध प्रकार के। आहाहा! किसी समय दया और किसी समय हिंसा और किसी समय चोरी, किसी समय विषय और किसी समय ब्रह्मचर्य का विकल्प—ऐसे विविध प्रकार के भाव, वे भी प्रगट होते हैं। उसमें सदा था। आहाहा! एकरूप सदा ही चैतन्य था, तब यहाँ कहते हैं कि अनेकरूप भिन्न लक्षणवाले प्रगट होते हैं। विकल्प भिन्न-भिन्न प्रकार, वह मैं नहीं हूँ। आहाहा! शब्द थोड़े परन्तु बहुत समावेश किया है।

एक ओर मैं तो शुद्ध चैतन्यमय हूँ। चैतन्यवाला—ऐसा नहीं; चैतन्यमय, चैतन्यमय

अभेद और वह भी एक। वह भी परम ज्योति, उत्कृष्ट ज्योति है, वह भी सदा रहनेवाला है। आहाहा! वह मैं हूँ **और जो यह भिन्न लक्षणवाले...** अर्थात् क्या? चैतन्य कहा था न? चैतन्यमय, उससे यह भिन्न लक्षणवाले विविध प्रकार के, अनेक प्रकार के विकल्प उठते हैं। आहाहा! शुभ-अशुभ विकल्प की जाति उत्पन्न होती है, ऐसा कहते हैं। वे **भाव प्रगट होते हैं,...** यह भी वे भाव प्रगट होते हैं, प्रगट होते हैं। है अवश्य। एक ओर यह हूँ और एक ओर ये हैं। आहाहा! **वे मैं नहीं हूँ,...** हैं वे, वह मैं नहीं। आहाहा! इतने अधिक जाना और पूरे दिन यह करना, अब क्या करना इसमें? आहाहा!

धर्म के नाम से समय ले। या भक्ति कर ले, घण्टे भर भगवान की भक्ति, पूजा (करे), हो गया, लो! धर्म हो गया। वह शुभभाव भी बिना ठिकाने का होता है, एक सरीखा शुभभाव (नहीं होता)। उसे धर्म माने। अब वह कब तरे? कब उभरे? आहाहा! वह नये-नये (उत्पन्न होते हैं)। कहीं वस्तु के स्वरूप में वह चीज़ नहीं है, ऐसा कहते हैं। वस्तु के स्वरूप में तो चैतन्यमय, शुद्ध चैतन्यमय यह परम ज्योति है। वह तो परम ज्योतिमय सदा है, उसमें यह चीज़ नहीं है। ये विविध प्रकार के, वापस अनेक प्रकार के। आहाहा! किसी को कुछ विकल्प उठता हो। वह प्रगट होता है। एक तो सदा रहते नहीं, वे प्रगट होते हैं और हैं अवश्य, नहीं हैं—ऐसा नहीं है। आहाहा!

वे मैं नहीं हूँ, क्योंकि... 'यतः अत्र ते समग्राः अपि मम परद्रव्यम्' आहाहा! **क्योंकि वे सभी...** यह दया, दान और व्रत का विकल्प भी आवे, वे सब मुझे परद्रव्य है। आहाहा! धर्म तो नहीं, अपने नहीं, परद्रव्य है। अपना द्रव्य-गुण तो नहीं, पर्याय नहीं। आहाहा! वे सब मुझे हैं अवश्य, **मेरे लिए परद्रव्य हैं।** आहाहा! उसमें और पाँच-पचास लाख, करोड़, दो करोड़, पाँच करोड़ पैसे (रुपये) हो जाए (तो) मस्तिष्क घूम जाए, पागल हो जाये, गहल-पागल। आहाहा! इसका ऐसा करो, इसका ऐसा करो, ऐसा करो। लाओ, यह करो... उसमें पुत्र का विवाह होवे और दस करोड़ रुपये हों और दस-पन्द्रह लाख खर्च करना हो... देख लो, तुम्हारे यह तो पागल। आहाहा!

मुमुक्षु : अपने उसे पागल कहें तो वह अपने को पागल कहे न!

पूज्य गुरुदेवश्री : दुनिया तो पागल है। पागल की संख्यावाले पागल किसे कहे? पागल की संख्यावाले तो पागल में उसे गिने—अपनी जाति में गिने। आहाहा!

यहाँ कहते हैं, वे सब मुझे (पद्रव्य हैं) परन्तु मेरा स्वद्रव्य चैतन्यमय ज्योति, उससे उनके लक्षण भिन्न हैं। भिन्न लक्षण के कारण से और विविध प्रकार से उत्पन्न होते होने से, प्रगट होते (होने के) कारण वे मेरे साथ शाश्वत रहनेवाली चीज़ नहीं है, इसलिए वे **मेरे लिए परद्रव्य हैं।** आहाहा! राग और दया-दान के परिणाम को परद्रव्य कहा। आहाहा! यह व्रत के परिणाम और भक्ति के परिणाम और पूजा के परिणाम और दया-दान के परिणाम, वे वस्तु में नहीं हैं, नये प्रगट होते हैं और इसलिए वे परद्रव्य हैं। मैं जैसे सदा स्वद्रव्य रहनेवाला हूँ, वैसे वे सदा रहनेवाले नहीं हैं। प्रगट होते हैं और जाते हैं, प्रगट होते हैं और जाते हैं, वे मेरे नहीं हैं। आहाहा! ऐसा काम कठिन है। अपूर्व बात है। मुक्ति—मोक्ष और मोक्ष का मार्ग तो अपूर्व है न? पूर्व में किया हो, इस प्रकार का होवे, तब तो मुक्ति हो जानी चाहिए न? अनन्त काल में एक सेकेण्ड मात्र भी सम्यग्दर्शन किया नहीं। अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... चौबीसी... अनन्त भव किये परन्तु किसी एक समय भी आत्मा के सन्मुख इसने देखा नहीं। आहाहा!

ये भाव प्रगट होते हैं वे, **वे मैं नहीं हूँ,...** है तो सही। वस्तु नहीं है—ऐसा नहीं है, व्यवहार है अवश्य परन्तु वह मैं (नहीं हूँ)। वह, वह मैं नहीं। क्योंकि वह परद्रव्य है, उत्पन्न होते हैं, कायम रहनेवाली चीज़ नहीं है। उत्पन्न हो और व्यय हो जाती है। वह कहीं स्वद्रव्य (जो) सदा रहनेवाली चीज़ है, उसकी यह जाति नहीं है। आहाहा! मैं सदा रहनेवाला चैतन्यमय प्रभु, वापस शुद्ध चैतन्यमय, हों! वह भी एकरूप और परम ज्योति। आहाहा! वह सदा रहनेवाला मैं हूँ, उसके साथ क्षण-क्षण में नये-नये उत्पन्न होते विविध अनेक प्रकार के भाव, वे मेरे लक्षण से भिन्न लक्षणवाले और विविध प्रकार के उत्पन्न होते (भाव हैं) इसलिए वे सब परभाव मुझे परद्रव्य है। आहाहा!

यहाँ तो व्यवहाररतनत्रय के राग को भी परद्रव्य कहा है। आहाहा! क्योंकि वह भी भिन्न... भिन्न... भिन्न... विकल्प उत्पन्न होता है। भिन्न-भिन्न काल में देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति की ओर के झुकाव का भाव भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है। **वे सभी मेरे लिए परद्रव्य हैं।** आहाहा! यह अमृतचन्द्राचार्य का कलश है, अमृतचन्द्राचार्य, उनका यह कलश है। इसलिए लोगों को यह कठिन लगे और उनको कि व्यवहार साधक हो तो साध्य हो। उसकी जगह कहते हैं कि यह व्यवहार परद्रव्य, परद्रव्य है और विविध प्रकार के

उत्पन्न होते पर लक्षणवाले हैं। आहाहा! वस्तु की स्थिति तो यही है परन्तु जिसे यह पक्ष में सुहावे नहीं, उसे यह अमृतचन्द्राचार्य ने तो बात बहुत अलग प्रकार की है। जयसेनाचार्य ने बराबर कही है। साधक कहा है, व्यवहार साधक (कहा है)। कितनी बार, सैंकड़ों बार कहा है। व्यवहार साधक, निश्चय साध्य, व्यवहार साधक, निश्चय साध्य। यहाँ कहते हैं कि व्यवहार जो कहते हैं, वह है अवश्य परन्तु विविध प्रकार के विकल्पों की वृत्ति भिन्न-भिन्न काल में भिन्न-भिन्न प्रकार उत्पन्न होते हैं, वह मेरी चीज़ नहीं है। मैं सदा रहनेवाला चैतन्य हूँ। वे मेरी चीज़ नहीं है। आहाहा! वे तो मुझे परद्रव्य है। आहा! अब दूसरा श्लोक, श्लोक तो बोल लिया गया है।

कलश - १८६

अब आगमी कथन का सूचक श्लोक कहते हैं-

(अनुष्टुप्)

परद्रव्यग्रहं कुर्वन् बध्येतैवापराधवान्।
बध्येतानपराधो न स्वद्रव्ये सम्वृतो यतिः ।।१८६।।

श्लोकार्थ : [परद्रव्यग्रहं कुर्वन्] जो परद्रव्य को ग्रहण करता है, [अपराधवान्] वह अपराधी है; [बध्येत एव] इसलिए बन्ध में पड़ता है, [स्वद्रव्ये संवृतः यतिः] और जो स्वद्रव्य में ही संवृत है (अर्थात् जो अपने द्रव्य में ही गुप्त-मग्न है-सन्तुष्ट है, परद्रव्य का ग्रहण नहीं करता), ऐसा यति [अनपराधः] निरपराधी है; [न बध्येत] इसलिए बँधता नहीं है।।१८६।।

कलश - १८६ पर प्रवचन

परद्रव्यग्रहं कुर्वन् बध्येतैवापराधवान्।
बध्येतानपराधो न स्वद्रव्ये सम्वृतो यतिः ।।१८६।।

जो परद्रव्य को ग्रहण करता है... आहाहा! यह व्यवहाररत्नत्रय का राग है, वह भी मेरा है, ऐसा जो ग्रहण करता है अर्थात् अनुभव करता है। कोई कहे परद्रव्य तो ग्रहण नहीं किया जा सकता। यहाँ तो राग और द्वेष के परिणाम को भी परद्रव्य कहकर, उनका अनुभव करता है, ग्रहण करता है—ऐसा कहा। परवस्तु को ग्रहण करता है, ऐसा कहीं अभी नहीं है। परवस्तु का ग्रहण-त्याग तो आत्मा में है ही नहीं। आहाहा! एक भी रजकण ग्रहण करे और छोड़े, यह तो आत्मा में है नहीं। वह तो परद्रव्य स्वतन्त्र है। उसके काल में उसकी पर्याय होती है और उसके काल में उसकी पर्याय जाती है, उसमें तेरा अधिकार, व्यवहार का अधिकार भी तेरा नहीं है। आहाहा!

इस परद्रव्य को जो ग्रहण अर्थात् अनुभव करता है, **वह अपराधी है...** चोर, गुनहगार है। आहाहा! राग भाव आया, विविध प्रकार की मलिनता की दशा उत्पन्न हुई, क्लेश हुआ, दुःख हुआ, उसे मेरे रूप से जो मानता है... आहाहा! अर्थात् कि मेरे रूप से जो अनुभव करता है, वह जीव तो अपराधी है। वह जीव अपराधी गुनहगार है। आहाहा! ऐसी बात कठिन लगे, इन अमृतचन्द्राचार्य को निकाल डालते हैं और यहाँ की बात के लिये जयसेनाचार्य की (टीका) पसन्द करे। ३२० गाथा जयसेनाचार्य की पसन्द क्यों की? एक पण्डित ने ऐसा कहा कि उसे क्यों ग्रहण किया? इन्हें समुचित है, इसलिए ग्रहण किया। परन्तु जयसेनाचार्य ने चाहे जो बात की हो, व्यवहार से विरुद्ध कुछ नहीं होता। किसी आचार्य से किसी आचार्य का कथन विरुद्ध नहीं होता दिगम्बर सन्तों का। कथनपद्धति में अन्तर होता है। आहाहा! मात्र वहाँ व्यवहार को प्रसिद्ध करते हैं कि व्यवहार है। इसलिए उसे साधक का आरोप दिया जाता है। जिसे यहाँ निषेध किया, उसे आरोप करके, आरोप करके साधक कहा है। आहाहा! अरे! अरे! ऐसा कहाँ परन्तु इसलिए सर्वत्र भंग जाल पड़ते हैं।

भाई! प्रभु तू भी शुद्ध चैतन्य द्रव्य है या नहीं? वस्तु है या नहीं? और वस्तु है, वह सदा ही रहनेवाली है या नहीं? सदा ही रहनेवाली है, वह शुद्ध है या नहीं? अब उसे अशुद्धता है, वह तो परद्रव्यरूप से है, उसकी चीज़ है ही नहीं। आहाहा! समझ में आया?

इसलिए कहते हैं कि **जो परद्रव्य को ग्रहण करता है, वह अपराधी है;**

इसलिए बन्ध में पड़ता है,... आहाहा! व्यवहार के भाव को भी मेरा माने तो वह अपराधी है और बन्ध में पड़ता है। वहाँ ऐसा कहा कि व्यवहार साधन और (निश्चय) साध्य। यहाँ ऐसा कहते हैं कि उस व्यवहार से बँधता है। वह तो साधक का ज्ञान कराया, प्रभु! आगे न जा, उसे आगे न ले जा अब कि उससे ऐसा होगा, अन्दर में जाया जाएगा? उसे छोड़कर (अन्दर में) जाया जाएगा। आहाहा! अशुद्धता के कारण शुद्धता में जाया जाएगा। दुःख के कारण सुख में जाया जाएगा? आकुलता के कारण अनाकुलता में जाया जाएगा? व्यवहार का जितना रागादि है, वह सब आकुलता और दुःख है। भगवान तो सदा अनाकुल आनन्द का नाथ है। आहाहा! जिसके आनन्द के लिये किसी भी पदार्थ की अपेक्षा जिसे है ही नहीं। आहाहा! निरपेक्ष आनन्द से भरपूर है। आहाहा! वह मैं स्वद्रव्य हूँ। उससे जो विविध प्रकार के भाव मेरी एक जाति से, एक लक्षण से भिन्न-भिन्न जिस जाति की वृत्तियाँ उठती हैं, वे सब पकड़नेवाला, अनुभव करनेवाला अपराधी गुनहगार है। वह अपराधी बँधता है। आहाहा! यह व्यवहार है, उसे अपना अनुभव करे तो वह अपराधी गुनहगार बँधता है, ऐसा कहते हैं। ऐसी बहुत कठिन बातें हैं। आहाहा!

'स्वद्रव्ये संवृतः यतिः' जो स्वद्रव्य में ही संवृत है... अर्थात् अपने स्वद्रव्य को अनुभव करता है, स्वद्रव्य में गुप्त है। आहाहा! **(अर्थात् जो अपने द्रव्य में ही गुप्त-मग्न है-सन्तुष्ट है,...)** चैतन्यस्वरूप भगवान ज्ञायकस्वरूप, उसमें ही जो अनुभव में लीन है। आहाहा! **(परद्रव्य का ग्रहण नहीं करता)...** उस राग को अनुभव नहीं करता, राग को ग्रहण नहीं करता। आहाहा! लोगों को ऐसा एकान्त लगता है। देखते नहीं, ऐसे पढ़ते नहीं, विचार नहीं करते, भाई! भव से मुक्त होने का मुश्किल-मुश्किल से भव मिला। आहाहा! यह भव तो भव रहित होने के लिये भव है, उसके बदले भव के भाव को अपना जानकर सेवन करना, आहाहा! वह तो वह की वह दशा है।

'स्वद्रव्ये संवृतः यतिः' परन्तु जो कोई सन्त अथवा आत्मा स्वद्रव्य में जो संवृत है, अपने चैतन्यमय आनन्द में जो मग्न है, वे **निरपराधी है...** आहाहा! है? वे **निरपराधी है...** देखा? ऐसे मुनि। यति अर्थात् यह यति ही नहीं। अपने स्वरूप का यत्न करनेवाले, अपने स्वरूप का यत्न करनेवाले, वे निरपराधी हैं। आहाहा! किसी का कर देते हैं और

किसी का उपकार करते हैं और किसी का भला कर देते हैं और बहुतों का उपकार करते हैं और बहुतों की सेवा करते हैं, वे निरपराधी है - ऐसा नहीं कहा। उन्हें तो अपराधी कहा है। अरर! गजब बात! दूसरे की सेवा करे और अनुकम्पा करे, दूसरे को मदद करे और दूसरे के दुःख टाले, आहार-पानी दे, आहार दे, औषध दे, और... यह भाव तो आवे, कहते हैं। परन्तु यह तो विविध प्रकार के भाव में जाता है। एकरूप भाव में ये कुछ नहीं आते। आहाहा! ये विविध प्रकार के भाव तो अपराध हैं। अरर! ऐसी बात। अपराध है, वह गुनहगार है, वह बँधता है।

निरपराधी है, इसलिए बँधता नहीं है। ऐसा यति निरपराधी है... अपने स्वरूप को ही श्रद्धा-ज्ञान में रमता है। आहाहा! राग को छूता नहीं, राग को अनुभव नहीं करता। इस सच्चिदानन्द प्रभु को जो अनुभव करता है, वह निरपराधी बँधता नहीं। बन्ध और अबन्ध की व्याख्या संक्षित कर डाली। व्यवहार को अनुभव करता है, वह बँधता है और निश्चय को अनुभव करता है, वह बँधता नहीं। लो! संक्षिप्त बात यह। आहाहा! चाहे तो व्यवहार देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति का व्यवहार हो (परन्तु) व्यवहार में रक्त है, वह बँधता है। आहाहा! और स्वद्रव्य में... जितना परद्रव्य के ऊपर लक्ष्य जाता है, उतना वह गुनहगार है, उतना वह अपराधी है, वह बन्धन में है। जितना स्वद्रव्य में संवृत है, स्वद्रव्य का आश्रय / अवलम्बन लेकर अन्दर जितने अंश में मग्न है, उतने अंश में वह निरपराधी है, उतने अंश में वह अबन्ध है, उसे बन्ध है नहीं। आहाहा! ऐसी बातें।

यहाँ तो कहे पर की दया पालने का भाव, दया पाल नहीं सकता परन्तु भाव (आवे), वह अपराध है। आहाहा! बहुत स्पष्ट करने जाए (तो) पुरुषार्थसिद्धि उपाय में हिंसा कहा है। पर की दया का भाव, वह राग है और राग है, वह स्वरूप की हिंसा है। आहाहा! ऐसी बातें। बाहर जाए तो सब दूसरी प्रकार की बातें सुने। अब तो इसका प्रचार भी हुआ है। परदेश में प्रचार गया न! अफ्रीका में गया न लो! अफ्रीका में तीस लाख के ऊपर खर्च करने की तैयारी हो गयी है। तीस लाख से ऊपर खर्च करने को तैयार हो गये हैं। एक यह वस्तु है, इस ओर के झुकाव जिज्ञासा है। यह क्या है भाई यह?

गाथा - ३०१-३०३

थेयादी अवराहे जो कुव्वदि सो उ संकिदो भमइ।
मा बज्झेज्जं केण वि चोरो त्ति जणम्हि वियरंतो ।।३०१।।

जो ण कुणदि अवराहे सो णिस्संको दु जणवदे भमदि।
ण वि तस्स बज्झिदुं जे चिंता उप्पज्जदि कयाइ ।।३०२।।

एवम्हि सावराहो बज्झामि अहं तु संकिदो चेदा।
जइ पुण णिरावराहो णिस्संकोहं ण बज्झामि ।।३०३।।

स्तेयादीनयराधान् यः करोति स तु शङ्कितो भ्रमति।
मा बध्ये केनापि चौर इति जने विचरन् ।।३०१।।

यो न करोत्यपराधान् स निश्शङ्कस्तु जनपदे भ्रमति।
नापि तस्य बद्धुं यच्चिन्तोत्पद्यते कदाचित् ।।३०२।।

एवमस्मि सापराधो बध्येऽहं तु शङ्कितश्चेतयिता।
यदि पुनर्निरपराधो निश्शङ्कोऽहं न बध्ये ।।३०३।।

यथात्र लोके य एव परद्रव्यग्रहणलक्षणमपराधं करोति तस्यैव बन्धशङ्का सम्भवति, यस्तु तं न करोति तस्य सा न सम्भवति; तथात्मापि य एवाशुद्धः सन् परद्रव्यग्रहणलक्षणमपराधं करोति तस्यैव बन्धशङ्का सम्भवति, यस्तु शुद्धः सन्स्तं न करोति तस्य सा न सम्भवतीति नियमः।

अतः सर्वथा सर्वपरकीयभावपरिहारेण शुद्ध आत्मा गृहीतव्यः, तथा सत्येव निरपराधत्वात् ।।३०१-३०३।।

अब इस कथन को दृष्टान्तपूर्वक गाथा द्वारा कहते हैं-

अपराध चौर्यादिक करै जो पुरुष वो शंकित फिरै।
को लोक में फिरते हुए को, चोर जान जु बांध ले।।३०१।।

अपराध जो करता नहीं, निःशंक लोकविषैं फिरै।
'बँध जाउँगा' ऐसी कभी, चिंता न उसको होय है।।३०२।।

त्यों आत्मा अपराधी 'मैं बँधता हुँ' यों हि सशंक है।
अरु निरपराधी आत्मा, 'नांही बँधूँ' निःशंक है।।३०३।।

गाथार्थ : [यः] जो पुरुष [स्तेयादीन् अपराधान्] चोरी आदि के अपराध [करोति] करता है [सः तु] वह '[जने विचरन्] लोक में घूमता हुआ [केन अपि] मुझे कोई [चौरः इति] चोर समझकर [मा बध्ये] पकड़ न ले,' इस प्रकार [शंकितः भ्रमति] शंकित होता हुआ घूमता है; [यः] जो पुरुष [अपराधान्] अपराध [न करोति] नहीं करता [सः तु] वह [जनपदे] लोक में [निश्शंकः भ्रमति] निःशंक घूमता है, [यद्] क्योंकि [तस्य] उसे [बद्धुं चिन्ता] बँधने की चिन्ता [कदाचित् अपि] कभी भी [न उत्पद्यते] उत्पन्न नहीं होती। [एवम्] इसी प्रकार [चेतयिता] अपराधी आत्मा '[सापराधः अस्मि] मैं अपराधी हूँ, [बध्ये तु अहं] इसलिए मैं बँधूँगा', इस प्रकार [शंकितः] शंकित होता है, [यदि पुनः] और यदि [निरपराधः] अपराध रहित (आत्मा) हो तो [अहं न बध्ये] 'मैं नहीं बँधूँगा' इस प्रकार [निश्शंकः] निःशंक होता है।

टीका : जैसे इस जगत में जो पुरुष, परद्रव्य का ग्रहण जिसका लक्षण है–ऐसा अपराध करता है, उसी को बन्ध की शंका होती है और जो अपराध नहीं करता, उसे बन्ध की शंका नहीं होती; इसी प्रकार आत्मा भी अशुद्ध वर्तता हुआ, परद्रव्य का ग्रहण जिसका लक्षण है – ऐसा अपराध करता है, उसी को बन्ध की शंका होती है तथा जो शुद्ध वर्तता हुआ अपराध नहीं करता, उसे बन्ध की शंका नहीं होती–ऐसा नियम है। इसलिए सर्वथा समस्त परकीय भावों के परिहार द्वारा (अर्थात् परद्रव्य के सर्व भावों को छोड़कर) शुद्ध आत्मा को ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि ऐसा करने पर ही निरपराधता होती है।

भावार्थ : यदि मनुष्य चोरी आदि अपराध करे तो उसे बन्धन की शंका हो; निरपराध को शंका क्यों होगी? इसी प्रकार यदि आत्मा परद्रव्य का ग्रहणरूप अपराध करे तो उसे बन्ध की शंका अवश्य होगी; यदि अपने को शुद्ध अनुभव करे, पर का ग्रहण न करे तो, बन्ध की शंका क्यों होगी? इसलिए परद्रव्य को छोड़कर शुद्ध आत्मा का ग्रहण करना चाहिए। तभी निरपराध हुआ जाता है।

गाथा - ३०१ से ३०३ पर प्रवचन

अब इस कथन को दृष्टान्तपूर्वक गाथा द्वारा कहते हैं– अब कुन्दकुन्दाचार्य की गाथा।

थेयादी अवराहे जो कुव्वदि सो उ संकिदो भमइ।
मा बज्झेज्जं केण वि चोरो त्ति जणम्हि वियरंतो ।।३०१।।

जो ण कुणदि अवराहे सो णिस्संको दु जणवदे भमदि।
ण वि तस्स बज्झिदुं जे चिंता उप्पज्जदि कयाइ ।।३०२।।

एवम्हि सावराहो बज्झामि अहं तु संकिदो चेदा।
जइ पुण णिरावराहो णिस्संकोहं ण बज्झामि ।।३०३।।

नीचे हरिगीत –

अपराध चौर्यादिक करै जो पुरुष वो शंकित फिरै।
को लोक में फिरते हुए को, चोर जान जु बांध ले।।३०१।।

अपराध जो करता नहीं, नि:शंक लोकविषैं फिरै।
'बँध जाउँगा' ऐसी कभी, चिंता न उसको होय है।।३०२।।

त्यों आत्मा अपराधी 'मैं बँधता हुँ' यों हि सशंक है।
अरु निरपराधी आत्मा, 'नांही बँधूँ' नि:शंक है।।३०३।।

आहाहा! यह मोक्ष अधिकार है।

टीका :– जैसे इस जगत में जो पुरुष, परद्रव्य का ग्रहण जिसका लक्षण है... अपना द्रव्य नहीं और परद्रव्य का ग्रहण जिसका लक्षण। परवस्तु, कोई भी परवस्तु ले। जिसका लक्षण है, ऐसा अपराध करता है। **परद्रव्य का ग्रहण जिसका लक्षण है, ऐसा अपराध करता है,...** वस्त्र, गहना, कोई पकवान, किसी की कोई चीज़ पड़ी हो तो ले लेवे, वह तो चोर कहलाता है। आहाहा! **जगत में जो पुरुष, परद्रव्य का ग्रहण जिसका लक्षण है, ऐसा अपराध करता है, उसी को बन्ध की शंका होती है...** आहाहा! उसे बन्ध की शंका होती है कि अरे! कहीं मुझे पकड़ेंगे, कोई मुझे

पकड़ेगा, ऐसी चिन्ता उसे होती है। कोई जान गया होगा कि यह मैंने यह वस्तु ली है। यह वस्तु मैंने ली है, ऐसा कोई जान जाएगा, ऐसा।

और जो अपराध नहीं करता,... आहाहा! बिल्कुल कोई पर की चीज़ को स्पर्श भी नहीं करता, नहीं लेता, **उसे बन्ध की शंका नहीं होती,...** वह निःशंक है। मैंने किसी का कुछ लिया नहीं, इसलिए मैं कुछ बँधाऊँ और कोई मुझे पकड़े—ऐसा है नहीं। आहाहा! चोरी को करे, उसे शंका भी होवे (कि) कोई देख गया होगा? बाहर कोई खड़ा था? ऐसे अन्दर दरवाजे में से खड़े होकर देख गया होगा कि यह मैंने इसमें से लिया? ऐसी उसे शंका पड़ती है। जिसने कुछ लिया नहीं, उसे शंका क्या? आहाहा! (जिसने लिया हो), उसे बन्ध की शंका होती है परन्तु **जो अपराध नहीं करता, उसे बन्ध की शंका नहीं होती,...** यह दृष्टान्त कहा, यह तो दृष्टान्त दिया। अब सिद्धान्त।

इसी प्रकार आत्मा भी अशुद्ध वर्तता हुआ,... आहाहा! टीका! इसी प्रकार भगवान आत्मा पुण्य और पाप के परिणाम में वर्तता हुआ। अशुद्ध में दोनों आये। पुण्य के दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम भी अपराध में आ गये। आहाहा! है? यह लेखन कब का है? यहाँ का है? आहाहा! यह तो अनादि का है। अनादि तीर्थंकरों का अभिप्राय है। कुन्दकुन्दाचार्य की गाथा। अमृतचन्द्राचार्य की टीका है। हजार वर्ष पहले अमृतचन्द्राचार्य हो गये, कुन्दकुन्दाचार्य दो हजार वर्ष पहले हुए, उनका अर्थ है। सुना न हो, उसे नया लगे; इसलिए कहीं नया हो जाएगा? यह तो अनादि की बात है। आहाहा!

कहते हैं... आहाहा! **इसी प्रकार आत्मा भी अशुद्ध वर्तता हुआ,...** आहाहा! गजब बात करते हैं न! प्रभु! शुद्ध चैतन्यमय आत्मा इस पुण्य के परिणाम में अशुद्धरूप से वर्तता हो, दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा में भी वर्तता हो और आत्मा की खबर न हो कि मैं कौन हूँ। आहाहा! है? **अशुद्ध वर्तता...** अशुद्ध में यह आया। पुण्य और पाप, शुभ और अशुभ दोनों भाव अशुद्ध हैं। जो प्राणी अशुद्ध में वर्तता हुआ। वर्तता हुआ कहकर अपने पुरुषार्थ से वर्तता हुआ है, कर्म से नहीं। कर्म के कारण यह अशुद्धरूप वर्तता है, ऐसा नहीं। आहाहा! और अशुद्धपने पुण्यरूप वर्तता है, इसलिए धर्म है—ऐसा नहीं। आहाहा! है या नहीं अन्दर?

मुमुक्षु : है परन्तु निकालकर आप बताओ, तब खबर पड़े।

पूज्य गुरुदेवश्री : आहाहा! जैसे परद्रव्य का ग्रहण करनेवाला अपराधी है और बन्ध की शंका होती है। इसी प्रकार जो आत्मा अशुद्धरूप से वर्तता है। आहाहा! परद्रव्य की क्रिया कर सके या यह तो प्रश्न यहाँ है नहीं, यहाँ तो अशुद्धरूप से वर्तता हुआ—ऐसा है। अपने परिणाम में, पुण्य-पाप के भाव में वर्तता हुआ। व्यापार कर सकता है या यह धन्धा कर सकता है या स्त्री-पुत्र को सम्हाल सकता है या रख सकता है, यह प्रश्न है नहीं। उन्हें रखना, न रखना ऐसा जो भाव, वह अशुद्धभाव है। आहाहा! तब अब करना क्या? स्त्री-पुत्र को डाल देना? आहाहा! वे तो उनके कारण से द्रव्य-आत्मद्रव्य खड़ा है, उनका शरीर भी उसके कारण से परमाणु खड़े हैं। तू ऐसा मान ले कि यह मेरे हैं, तो वह तो मुफ्त का चोर है। आहाहा!

मुमुक्षु : अधिक रुपये इकट्ठे किये, वह बड़ा चोर?

पूज्य गुरुदेवश्री : हजार क्या, लाख-करोड़ करे नहीं। आहाहा! कठिन काम है, भाई! प्रभु तो शुद्ध चैतन्यमय है न! प्रभु! उसे छोड़कर जो उसमें नहीं, (उन्हें अपना मानता है)। शाश्वत् चीज़ सदा रहनेवाली, शुद्ध चैतन्यरूप से सदा रहनेवाली, त्रिकाल रहनेवाली, त्रिकाल टिकनेवाली उस चीज़ को अशुद्धरूप से दया, दान और व्रत, भक्ति के परिणाम में बर्तावे। आहाहा! ज्ञानी को आवे परन्तु वह उन्हें जानता है। उनमें वर्तता हुआ व्यवहार से कहलाता है परन्तु उसमें जानता है। आदर करता है (या) उन्हें आदर करनेयोग्य है, ऐसा (मानता) नहीं है। आहाहा! समझ में आया?

धर्मी को भी शुभभाव तो आते हैं, आने पर भी उन्हें जानता है कि यह अपराध है, गुनाह है, अशुद्ध है, मेरी चीज़ में इनका मेल नहीं, मेलरहित चीज़ है। आता है न कलश में? मेलवाली नहीं। यह आता है, दो-तीन जगह कलश में, गाथा में आता है। मेरे और उसके मेलवाला नहीं है। आहाहा! दूध में छाछ पड़े तो मेल कहलाये, दही हो। इसी प्रकार मुझमें वह वस्तु आवे तो मुझे लाभ हो, ऐसा वह नहीं है। वह तो नुकसान करनेवाला है। आहाहा! भारी कठिन बात। शुभभाव दया, दान, व्रत, भक्ति का, प्रतिमा का शुभभाव, वह इसमें वर्तता हुआ। आहाहा! गजब किया है इसमें। उसे-परद्रव्य को ग्रहण करे, यह बात इसमें नहीं ली है। मात्र अशुद्ध में वर्तता हुआ, बस! यह बात ली है। क्योंकि आत्मा के अतिरिक्त जो-जो परद्रव्य हैं, उन्हें ग्रहण नहीं कर सकता। ग्रहण नहीं कर सकता, छोड़ता

नहीं। अपने परिणाम में अशुद्धता में वर्तता हुआ, उसे अज्ञानभाव से कर सकता है। आहाहा! परचीज़ का लेना-छोड़ना तो अज्ञानभाव से भी नहीं कर सकता। किसी को यह चीज़ देना या लेना, वह तो अज्ञानभाव से भी नहीं कर सकता। वह तो परचीज़ है, परचीज़ का जाना-आना, वह तो उसके आधीन है। आहाहा! ऐसा सुने वहाँ (ऐसा होता है) ऐसा जैनधर्म होगा?

वे कहे, 'दया वह सुख की बेलड़ी, दया वह सुख की खान, अनन्त जीव मुक्ति गये...' अरे! बापू! वह कौन सी दया तेरी? आहाहा! वह पर की दया के भावरूप जो वर्तता है, वह अशुद्धरूप से वर्तता है। समझ में आया इसमें? पर की दया कर नहीं सकता परन्तु पर की दया के भावरूप से जो वर्तता है, वह अशुद्धरूप से वर्तता है, वह राग है। अरर्र! ऐसी बातें कभी सुनी नहीं होगी। नया (निकाला, ऐसा कहे)। नया नहीं, प्रभु! अनादि का जिनेश्वरदेव तीर्थंकर परमात्मा अनादि से (ऐसा कहते हैं)। महाविदेह में तो तीर्थंकर का विरह कभी पड़ता ही नहीं। महाविदेह में तो सदा तीर्थंकर का यह उपदेश चालू ही है, अनादि से चालू है। आहाहा! वहाँ तो विरह पड़ता नहीं। अभी भी भगवान वहाँ है। आहाहा! यह भाषा कठिन है।

पर को ग्रहण करता है, यह बात तो नहीं ली। क्योंकि पर को ग्रहण करता है, छोड़ता है, वह तो ले सकता नहीं परन्तु अशुद्धरूप से वर्त सकता है। राग और द्वेषरूप (वर्त सकता है)। मैं यह दया पालता हूँ और भक्ति करूँ, और पूजा करूँ—ऐसा भाव, ऐसे अशुद्धभावरूप से जो वर्तता है... है? **इसी प्रकार आत्मा भी...** भी अर्थात् क्यों? वह दृष्टान्त दिया इसलिए। चोरी का दृष्टान्त दिया। **इसी प्रकार आत्मा भी अशुद्ध वर्तता हुआ,...** आहाहा! **परद्रव्य का ग्रहण जिसका लक्षण है...** वह यह अशुद्ध वर्तता हुआ, हों! उस परद्रव्य का ग्रहण-अनुभव ऐसा अपराध करता है, परद्रव्य का अनुभव **जिसका लक्षण है, ऐसा अपराध करता है,...** आहाहा! राग, दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम भी परद्रव्य है। ऐसा कठिन काम। उस परद्रव्य के भावरूप से जो वर्तता है, उस परद्रव्य का ग्रहण करता है। वह परद्रव्य जो रागादि उसका लक्षण है, ऐसा अपराध करता है। आहाहा! कठिन बात।

उसमें - पुण्य-पाप (अधिकार) में कहा है न कि तुम जब शुभ-अशुभ दोनों का

निषेध करो, पश्चात् उन्हें करना क्या परन्तु तब ? रहा क्या अब ? बस, समाहित हो गया दोनों में ? पूरा भगवान रह गया। शुभ-अशुभ तो नया उत्पन्न होता है, उत्पन्न होता है और जाता है। यह तो वही वस्तु थी ? उसका निषेध करने से भगवान अन्दर है या नहीं ? सदा त्रिकाल भगवान है, वहाँ वर्तता है, वह तो अमृत का स्वाद लेता है। शुभाशुभ परिणाम को-जहर को छोड़ता है, वह अमृत को सेवन करता है। आहाहा! वह ब्रह्मानन्द का अनुभव करता है। जहर के दु:ख को छोड़ देता है। आहाहा!

दुनिया से सब विरुद्ध लगे। सब धमाल चलती हो.. दो-दो हजार, पाँच-पाँच हजार लोग (इकट्ठे हों), ऐसा करो... ऐसा करो... ऐसा करो... ऐसा करो... एक दूसरे को मदद करो। व्यवहार समझावे, तब आवे परन्तु वह जाननेयोग्य है। समझ में आया ? यह तो दृष्टान्त आया था न, वहाँ दान अधिकार में ? कि पैसे मिले, कौवे को जो खुरचन मिली, वह कौवा अकेला नहीं खाता। उसी प्रकार तुझे पुण्य के कारण मिले और अकेला खाये तो कौवे से भी गया-बीता है। वह ऐसा इस प्रकार का शुभभाव होता है, ऐसा बताते हैं। वास्तव में वह आदरणीय और अंगीकार करनेयोग्य है, ऐसा नहीं है। अर र र! अब ऐसी बातें। एक ओर आचार्य ऐसा कहे कि उसे दान में कौवे की भाँति खर्च करना। कौवा अकेला नहीं खाता। इसी प्रकार तुझे मिला हो, उसमें से धर्म में देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति में, मन्दिर में खर्च करना। आहाहा! परन्तु है वह पुण्य, है वह शुभ, है वह अपराध। अरर्र! वह अशुभ से बचने के लिये शुभभाव आता है, ऐसी बात बतलाते हैं, परन्तु वहीं का वहीं चिपका रहे, अटका रहे (तो) यह तो अनादि का है, वहीं का वहीं खड़ा है। आहाहा!

यहाँ तो (कहते हैं), अशुद्धरूप से वर्तता हुआ। स्वयं वर्तता हुआ है न ? परद्रव्य का ग्रहण यह लक्षण है, वह तो अपराध है। राग और द्वेष, पुण्य और पाप के भाव अपने हैं—ऐसा अनुभव करना, यह अपराध है। आहाहा! वह पर का अनुभव—ऐसा जो लक्षण, वह तो अपराध करता है। आहाहा! गजब है। अमृतचन्द्राचार्य की वाणी स्पष्ट की है, छनावट करते हैं। कुन्दकुन्दाचार्य ने कहा है। अन्दर में नहीं कहा ? उसे तो स्पष्ट करते हैं। है यहाँ अपराधी, नहीं आया ?

एवम्हि सावराहो बज्झामि अहं तु संकिदो चेदा।
जइ पुण णिरावराहो णिस्संकोहं ण बज्झामि।।३०३।।

पाठ है, यह कहीं घर का नहीं कहते। इसमें है, उसका स्पष्टीकरण करते हैं। आहाहा! गले उतरना कठिन पड़ता है। क्योंकि एक तो दरकार (नहीं है), संसार के पूरे काम के कारण निवृत्त नहीं है। निवृत्त होवे तो घण्टे भर सुनने जाए तो मिले ऐसा कि दया पालो, व्रत करो, भक्ति करो, वह धर्म है। अब उसमें यहाँ ऐसा कहते हैं कि दया पालन करो वह राग और हिंसा है, यह दया का भाव, वह अपराध है, गुनहगार है। क्या करना इसका? थोड़ा बहुत ढीला करो। हिम्मतभाई लाये थे। मुम्बई, तुम लाये थे? मुम्बई, क्या कहलाता है वह? पूनमचंद घांसीलाल, मन्दिर है न? कालबादेवी रोड। पूनमचंद घांसीलाल, वह समाचार लाये थे (कि) स्वामीजी थोड़ा कम करे तो हम कहते हैं, ऐसा करके अपन इकट्ठे हो जाएँ। कहो, थोड़ा-थोड़ा माँ कहे माँ कहे और थोड़ा माँ को स्त्री कहे तो अपन इकट्ठे हो जाऐंगे। ऐसा कहलायेगा? अरर्र! माता तो माता ही है। इसी प्रकार सत्य तो सत्य ही है और असत्य तो असत्य ही है। आहाहा! वह असत्य कभी कुछ सत्य में आ जाए, (ऐसा नहीं होता)। आहाहा! कठिन काम है। लोग इतना सुनते हैं। आहाहा!

परद्रव्य का ग्रहण जिसका लक्षण... परद्रव्य के ग्रहण की व्याख्या इतनी कि अशुद्धरूप से वर्तता हुआ। अशुद्धरूप से वर्तना है वही परद्रव्य का ग्रहण है। परद्रव्य परवस्तु का ग्रहण करता है या छोड़ता है, यह बात नहीं है। समझ में आया? आहाहा! शुद्ध स्वरूप जो भगवान, उसमें अशुद्ध को ग्रहण करना, अनुभव करना, वही ग्रहण है। आहाहा! अब कुछ करते नहीं, उसकी अपेक्षा बेचारे थोड़ा-बहुत करते हैं, वह करने दो न उन्हें, कितने ही और ऐसा कहते हैं। शान्तिभाई! ऐसा करके शुभ छोड़कर अशुभ में जाने की बात नहीं है। यह तो शुभ है, वह क्या चीज़ है, उसे बतलाते हैं। शुभ छोड़कर अशुभ करना, ऐसी बात यहाँ है नहीं परन्तु स्वयं शुभ है, वह है क्या? है अपराध, अशुद्धता। उसे तू यदि धर्म और गुण मानेगा तो मिथ्यादृष्टिरूप से चार गति में भटकना पड़ेगा। आहाहा! यह कहा न? **परद्रव्य का ग्रहण...** परन्तु वह अशुद्धरूप से वर्तता हुआ, यह परद्रव्य का ग्रहण है। **ऐसा अपराध करता है, उसी को बन्ध की शंका होती है...** उसे बन्ध की शंका होती है कि यह मैं बँधता हूँ। दूसरा सुलटा लेंगे।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ३७३, गाथा-३०१ से ३०५ गुरुवार, पौष शुक्ल १
दिनाङ्क - २०-१२-१९७९

समयसार, ३०१, ३०२, ३०३। (टीका) फिर से।

टीका :- जैसे इस जगत में जो पुरुष, परद्रव्य का ग्रहण जिसका लक्षण है... परद्रव्य का ग्रहण अर्थात् परद्रव्य को अपना मानकर अनुभव करना। **ऐसा अपराध करता है, उसी को बन्ध की शंका होती है और जो अपराध नहीं करता, उसे बन्ध की शंका नहीं होती,...** दृष्टान्त तो ऐसा आता है न कि परद्रव्य को ग्रहण करता है। **इसी प्रकार आत्मा भी...** उसमें ग्रहण करता है, ऐसा था और इसमें **आत्मा भी अशुद्ध वर्तता हुआ,...** सिद्धान्त यहाँ है। अशुद्ध वर्तता हुआ। पर्याय में मैल / अशुद्ध भाव... आहाहा! शुभ-अशुभभाव, वह जो अशुद्धभाव उसरूप से वर्तता हुआ, **परद्रव्य का ग्रहण जिसका लक्षण है...** उस परद्रव्य का अनुभव ऐसा जो अपराध करता है... **ऐसा अपराध करता है, उसी को बन्ध की शंका होती है तथा जो शुद्ध वर्तता हुआ अपराध नहीं करता,... शुद्ध वर्तता हुआ अपराध नहीं करता, उसे बन्ध की शंका नहीं होती- ऐसा नियम है। इसलिए सर्वथा समस्त परकीय भावों के परिहार द्वारा...** यहाँ शब्द पूरा सिद्धान्त है। **सर्वथा समस्त परकीय भावों के परिहार भावों के परिहार द्वारा (अर्थात् परद्रव्य के सर्व भावों को छोड़कर) शुद्ध आत्मा को ग्रहण करना चाहिए,...** ग्रहण करता है अर्थात् अनुभव करता है। आहाहा! आत्मा आनन्द अखण्ड ज्ञानानन्द है, उसे अनुभव करता है। इसके अतिरिक्त सर्वथा सर्व पर भावों के परिहार। सर्वथा और सर्व पर के भाव। आहाहा! वह चाहे तो परमात्मा के प्रति (भक्ति का भाव हो), वे सब पर के भाव हैं।

आत्मा अखण्ड ज्ञानानन्द के अनुभव के अतिरिक्त **सर्वथा समस्त परकीय भावों के परिहार भावों के परिहार द्वारा (अर्थात् परद्रव्य के सर्व भावों को छोड़कर) शुद्ध आत्मा को ग्रहण करना चाहिए,...** शुद्ध आत्मा को अनुभव करना। आहाहा! अशुद्ध वर्तता हुआ अर्थात् उसे अशुद्ध अनुभव करता था। आत्मा को पुण्य और पाप के विकल्प से मलिनता को अनुभव करता था, वह अपराध है, एक गुनाह है। उस शुद्ध आत्मा

को अनुभव करना। उसमें संकल्प-विकल्प, पुण्य सब बाहर में आ गया। चाहे तो तीर्थंकरगोत्र बाँधे, वह सब बाहर में आ गया। **सर्वथा समस्त परकीय भावों के...** सर्व पर के भावों के **परिहार द्वारा (अर्थात् परद्रव्य के सर्व भावों को छोड़कर) शुद्ध आत्मा को...** अनुभव करना। समझाना है न इसमें? समझाने के दो प्रकार आते हैं न? हेय और उपादेय। बाकी हेय और उपादेय भी व्यवहार है। समझाने में इसके बिना उपाय नहीं मिलता। नहीं तो यह छोड़ और यह ग्रहण कर, यह भी अभी व्यवहार है। आहाहा! जहाँ पर की अपेक्षा आयी न? दो आये न? वह व्यवहार है। परन्तु समझाना है तो इसके बिना दूसरा क्या हो उपाय? आहाहा! शुद्ध आत्मा का अनुभव करना, उसे छोड़कर—रागमात्र को हेय जानकर और शुद्ध आत्मा का अनुभव करना।

क्योंकि ऐसा करने पर ही निरपराधता होती है। तब निरपराधी होता है। भारी कठिन काम। आहाहा! एक आत्मा के अतिरिक्त, अखण्ड ज्ञानानन्दस्वरूप के अतिरिक्त, विकल्प की वृत्ति का अंश भी मलिन और परद्रव्य है, वह स्वद्रव्य नहीं। इसलिए समझाने की शैली में तो क्या आवे? कि रागादि परद्रव्य को छोड़कर आत्मा ज्ञानानन्द है, उसे अनुभव करना। कथन उपदेश शैली का दूसरा कोई उपाय नहीं मिलता। आहाहा! शुद्ध आत्मा को अनुभव करना। **क्योंकि ऐसा करने पर ही निरपराधता होती है।** शुद्ध अखण्ड ज्ञानानन्दस्वरूपी आत्मा का अनुभव स्वसन्मुख होकर होवे, यही एक निरपराधपना है। एकान्त और एकान्त यह है। आहाहा! इसके अतिरिक्त विकल्पमात्र परद्रव्यरूप से गिनकर छोड़नेयोग्य है। समझाने की शैली में तो (दूसरा क्या आवे?)

भावार्थ :- यदि मनुष्य चोरी आदि अपराध करे तो उसे बन्धन की शंका हो; निरपराध को शंका क्यों होगी? जो अपराध नहीं करता, उसे शंका नहीं होती। **इसी प्रकार यदि आत्मा परद्रव्य का ग्रहणरूप...** परसन्मुख के झुकाव के विकल्प में आवे और **अपराध करे तो उसे बन्ध की शंका अवश्य होगी;...** आहाहा! परद्रव्य को कहीं ग्रहण नहीं कर सकता। परद्रव्य का ग्रहण-त्याग आत्मा में नहीं है। मात्र स्वद्रव्य की ओर का लक्ष्य छोड़कर परद्रव्य के लक्ष्य से जो विकार करे, उसे अनुभव करे, वह परद्रव्य को अनुभव करता है, ऐसा कहने में आता है। आहाहा! ऐसा मार्ग है।

आत्मा परद्रव्य का ग्रहणरूप अपराध करे तो उसे बन्ध की शंका अवश्य होगी;... इस प्रकार से। परद्रव्य की ओर का लक्ष्य करे और स्व का आश्रय छोड़े, वही बन्ध का कारण होता है। तब उसे बन्ध की शंका उत्पन्न होती है। आहाहा! **यदि अपने को शुद्ध अनुभव करे,...** अर्थात् कि जैसा शुद्ध है, वैसा ही अनुभव करे। वह कुछ मलिन है नहीं, मलिनता तो मान्यता में खड़ी करता है। रागादि मलिन (भाव) वस्तु में नहीं, वस्तु तो शुद्ध पवित्र है। उस शुद्ध आत्मा का अनुभव करना। तब ही निरपराध हुआ जाता है। कितने कथन! व्यवहार का पार नहीं मिलता। चरणानुयोग के रत्नकरण्ड श्रावकाचार और कितने व्रत पालना और अतिचार टालना और.... यह करना और यह करना। बीच में आवे उसका ज्ञान कराया है। बाकी तो वह व्रत का विकल्प है, वह भी अपराध है। आहाहा! वह परद्रव्य में जाता है, शुद्ध आत्मा के अनुभव में वह नहीं आता। शुद्ध आत्मा का अनुभव करना, **तभी निरपराध हुआ जाता है।**

गाथा - ३०४-३०५

को हि नामायमपराधः ?-

संसिद्धि-राध-सिद्धं साधिय-माराधियं च एयट्ठं।
अवगदराधो जो खलु चेदा सो होदि अवराधो ।।३०४।।

जो पुण णिरावराधो चेदा णिस्संकिओ उ सो होइ।
आराहणाइ णिच्चं वट्टेइ अहं ति जाणंतो।।३०५।।

सन्सिद्धि-राध-सिद्धं साधित-माराधितं चैकार्थम्।
अपगतराधो यः खलु चेतयिता स भवत्यपराधः।।३०४।।

यः पुनर्निरपराधश्चेतयिता निश्शङ्कितस्तु स भवति।
आराधनया नित्यं वर्तते अहमिति जानन्।।३०५।।

परद्रव्यपरिहारेण शुद्धस्यात्मनः सिद्धिः साधनं वा राधः। अपगतो राधो यस्य चेतयितुः सोऽपराधः। अथवा अपगतो राधो यस्य भावस्य सोऽपराधः, तेन सह यश्चेतयिता वर्तते स सापराधः।

स तु परद्रव्यग्रहणसद्भावेन शुद्धात्मसिद्ध्यभावाद्बन्धशङ्कासम्भवे सति स्वयमशुद्धत्वाद-नाराधक एव स्यात्।

यस्तु निरपराधः स समग्रपरद्रव्यपरिहारेण शुद्धात्मसिद्धिसद्भावाद्बन्धशङ्काया असम्भवे सति उपयोगैकलक्षणशुद्ध आत्मैक एवाहमिति निश्चिन्वन् नित्यमेव शुद्धात्मसिद्धिलक्षणयाराधनया वर्तमानत्वादा-राधक एव स्यात्।।३०४-३०५।।

अब प्रश्न होता है कि यह 'अपराध' क्या है? उसके उत्तर में अपराध का स्वरूप कहते हैं:-

संसिद्धि, सिद्धि जु राध, अरु साधित अराधित एक है।
ये राध से जो रहित है, वो आतमा अपराध है।।३०४।।

अरु आतमा जो निरपराधी, होय है निःशंक वो।
वर्ते सदा आराधना से, जानता 'मैं' आत्म को।।३०५।।

गाथार्थ : [संसिद्धिराधसिद्धं] संसिद्धि, *राध, सिद्ध [साधितम् आराधितं च] साधित और आराधित-[एकार्थम्] ये एकार्थवाची शब्द हैं; [यः खलु चेतयिता] जो आत्मा [अपगतराधः] 'अपगतराध' अर्थात् राध से रहित है, [सः] वह आत्मा [अपराधः] अपराध [भवति] है।

[पुनः] और [यः चेतयिता] जो आत्मा [निरपराधः] निरपराध है [सः तु] वह [निश्शंकितः भवति] निःशंक होता है; [अहं इति जानन्] 'जो शुद्ध आत्मा है, सो ही मैं हूँ'-ऐसा जानता हुआ [आराधनया] आराधना से [नित्यं वर्तते] सदा वर्तता है।

टीका : परद्रव्य के परिहार से शुद्ध आत्मा की सिद्धि अथवा साधन, सो राध है। जो आत्मा 'अपगतराध' अर्थात् राधरहित हो, वह आत्मा अपराध है। अथवा (दूसरा समासविग्रह इस प्रकार है) जो भाव राधरहित हो, वह भाव अपराध है; उस अपराधयुक्त जो आत्मा वर्तता हो, वह आत्मा सापराध है। वह आत्मा, परद्रव्य के ग्रहण के सद्भाव द्वारा शुद्ध आत्मा की सिद्धि के अभाव के कारण बन्ध की शंका होती है; इसलिए स्वयं अशुद्ध होते से, अनाराधक ही है। और जो आत्मा निरपराध है वह, समग्र परद्रव्य के परिहार से शुद्ध आत्मा की सिद्धि के सद्भाव के कारण बन्ध की शंका नहीं होती; इसलिए 'उपयोग ही जिसका एक लक्षण है - ऐसा एक शुद्ध आत्मा ही मैं हूँ' इस प्रकार निश्चय करता हुआ शुद्ध आत्मा की सिद्धि जिसका लक्षण है, ऐसी आराधनापूर्वक सदा वर्तता है इसलिए, आराधक ही है।

भावार्थ : संसिद्धि, राध, सिद्धि, साधित और आराधित-इन शब्दों का एक ही अर्थ है, यहाँ शुद्ध आत्मा की सिद्धि अथवा साधन का नाम 'राध' है। जिसके वह राध नहीं है, वह आत्मा सापराध है और जिसके वह राध है, वह आत्मा निरपराध है। जो सापराध है, उसे बन्ध की शंका होती है, इसलिए वह स्वयं अशुद्ध होने से अनाराधक है। और जो निरपराध है, वह निःशंक होता हुआ अपने उपयोग में लीन होता है, इसलिए उसे बन्ध की शंका नहीं होती, इसलिए 'जो शुद्ध आत्मा है, वही मैं हूँ'- ऐसे निश्चयपूर्वक वर्तता हुआ सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप के एक भावरूप निश्चय आराधना का आराधक ही है।

---

* राध=आराधना; प्रसन्नता; कृपा; सिद्धि; पूर्णता; सिद्ध करना; पूर्ण करना।

गाथा - ३०४-३०५ पर प्रवचन

अब प्रश्न होता है कि यह 'अपराध' क्या है? शिष्य का प्रश्न है कि अपराध अर्थात् क्या? गुनाह किसे कहना? **उसके उत्तर में अपराध का स्वरूप कहते हैं:-**

संसिद्धि-राध-सिद्धं साधिय-माराधियं च एयट्ठं।
अवगदराधो जो खलु चेदा सो होदि अवराधो ।।३०४।।

जो पुण णिरावराधो चेदा णिस्संकिओ उ सो होइ।
आराहणाइ णिच्चं वट्टेइ अहं ति जाणंतो।।३०५।।

संसिद्धि, सिद्धि जु राध, अरु साधित अराधित एक है।
ये राध से जो रहित है, वो आतमा अपराध है।।३०४।।

अरु आतमा जो निरपराधी, होय है नि:शंक वो।
वर्ते सदा आराधना से, जानता 'मैं' आत्म को।।३०५।।

टीका :- परद्रव्य के परिहार से... अर्थात् परद्रव्य के आश्रय के त्याग से **शुद्ध आत्मा की सिद्धि...** शुद्ध आत्मा का आराधन। आहाहा! **अथवा साधन...** आत्मा की सिद्धि कहो या साधन कहो, सब एकार्थ है। आत्मा अखण्ड ज्ञानानन्द शुद्ध स्वरूप है, उसकी सिद्धि होना, उसका साधन होना—वीतरागभाव (होना), **सो राध है। जो आत्मा 'अपगतराध' अर्थात् राधरहित हो, वह आत्मा अपराध है।** ऐसे राधरहित अर्थात् शुद्ध आत्मा की सिद्धि का साधन, ऐसे राध से रहित हो, वह आत्मा अपराध है। आहाहा! क्या कहा समझ में आया?

मुमुक्षु : धर्मी अपने को शुद्ध अनुभव करता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : परद्रव्य के परिहार से... हेय-उपादेय कहना है न? उपाय समझाना किस प्रकार? आत्मा का साधन और शुद्ध की सिद्धि, उसका सेवन करना अर्थात् आश्रय लेना, वह 'अपगतराध' है। उस राध रहित हो, वह आत्मा अपराध है। ऐसे राध रहित हो, वह अपराध है। आत्मा के आश्रय की सेवा के अतिरिक्त जो कुछ रागादि में जाए, वह सब अपराध है। आश्रय कहो या सेवा कहो। स्वद्रव्य जो शुद्ध चैतन्य, उसके आश्रय

और सेवन बिना जितना रागादि में जाए, उतना उसे अपराध है। आहाहा! वह राधरहित है, इसलिए गुनहगार है। आहाहा! ऐसा स्वरूप है।

वह आत्मा अपराध है। अथवा... दूसरा इसका अर्थ किया है। **(दूसरा समासविग्रह इस प्रकार है) जो भाव राधरहित हो...** जो आत्मा के सेवनरहित भाव हो, आत्मा के आश्रय बिना का जो भाव हो, **वह भाव अपराध है;...** पहले ऐसा कहा कि राधरहित हो, वह आत्मा अपराध है। अब यहाँ ऐसा कहा, **जो भाव राधरहित हो, वह भाव अपराध है;... वह भाव अपराध है;...** आहाहा! ज्ञानानन्दस्वरूप स्वभाव स्वरूप, उससे विरुद्ध जो कुछ राग, वह राधरहित, सेवनरहित है। आत्मा के आश्रयरहित है। आहाहा! **वह भाव अपराध है;...** आत्मा के आश्रयरहित भाव, वह भाव अपराध है।

आत्मा का राध, सेवन, सिद्धि, आश्रय, इनसे रहित भाव। चाहे जिस प्रकार का शुभ या अशुभ विकल्प उठे, वह आत्मा के आश्रयरहित भाव है, वही अपराध और गुनहगार है। ओहोहो! कठिन काम पड़े। यह तो अपूर्व बात है। बाहर में तो प्रवृत्ति में मनाते हैं। तब दिखता है और यह दिखता है, इसलिए करे और वह तो कर सकता है। भाव, भाव हों!

यहाँ तो कहते हैं, जो भाव राधरहित हो, आत्मा के आश्रय, सेवनरहित जो भाव हो, जो आत्मा के आलम्बनरहित भाव हो, जिस भाव में परद्रव्य का आश्रय और अवलम्बन आवे, वह भाव अपराध है। आहाहा! ऐसी संक्षिप्त बात, बहुत संक्षिप्त की है।

पहले में कहा था न? पहले में तो यह कहा था। **परद्रव्य के परिहार से शुद्ध आत्मा की सिद्धि अथवा साधन...** ऐसा अस्ति से (कहा)। उस राधरहित हो, वह आत्मा अपराध है। और यह सीधा अर्थ यह किया **जो भाव राधरहित हो, वह भाव अपराध है;...** जिसमें आत्मा चिदानन्द भगवान अखण्ड आनन्द आश्रय में, सेवन में, अवलम्बन में आया नहीं, वह सब भाव अपराध और गुनाह है। आहाहा! लोगों को ऐसा कठिन पड़ता है। वाड़ा में तो ऐसा कहे, इरियावही करो, प्रतिक्रमण करो, सामायिक हो जाए। लो! आहाहा! यहाँ तो कहते हैं ईरियावही करने जाए तो विकल्प उठता है, वह अपराध है। आहाहा! तत्सूतरी करणेन, प्रायश्चित करणेन यह बोलने जाए, वहाँ विकल्प उठता है, वह अपराध है। ऐसी बात है।

एक ही सिद्धान्त कहा—आत्मा आनन्द और अखण्डानन्द प्रभु, ज्ञान और आनन्द का पूर्ण स्वभाव, उसके आश्रयरहित जितना पर का आश्रय है, वह सब अपराध है, गुनाह है। आहाहा! जिस भाव से तीर्थंकरगोत्र बँधे, वह भाव भी अपराध है। आहाहा! क्योंकि इस आत्मा का आश्रय उसमें नहीं है। उसमें पर का आश्रय आया। आहाहा! कठिन पड़े, भाई! लोक को क्या हो? वस्तु तो यह है। अन्तिम मोक्ष अधिकार है न? छनावट एकदम स्पष्ट कर डाली है।

आत्मा चैतन्य अखण्ड आनन्द प्रभु का आश्रय और सेवन, वह राध है, वह निरपराध है। उस राधरहित जो भाव जितना उठे, वह सब अपराध है और परद्रव्य का आश्रय अवलम्बन से... आहाहा! है या नहीं इसमें? ऐसा नहीं करना, तब करना क्या? पूरे दिन करना यह धन्धा छोड़कर थोड़ी दो घड़ी सामायिक करके बैठे, णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं... तो उसमें तो ऐसा हो कि सामायिक की, सायंकाल प्रतिक्रमण किया, मिच्छामि दुक्कडम्। धर्म किया धर्म।

धर्म तो उसे कहते हैं, जो अखण्डानन्द ज्ञानानन्दस्वरूप का आश्रय, उसका अवलम्बन, उसके सन्मुखता की एकाग्रता, वह एक ही राध / धर्म है। राध अर्थात् सेवन और धर्म है। उस **राधरहित हो, वह भाव...** हों! भाव। वस्तु नहीं, परद्रव्य, वह नहीं। परद्रव्य कहीं गुनाह नहीं, परद्रव्य जगत की स्वतन्त्र चीज़ है। आहाहा! स्त्री, कुटुम्ब, परिवार, पैसा, लक्ष्मी, शरीर, वाणी, मन, कर्म, वे तो परद्रव्य हैं, वह कहीं गुनाह नहीं, वह तो परद्रव्य की वस्तु है। उससे रहित आत्मा की सेवा रहित का भाव, वह अपराध है। यहाँ तो इतनी बात है। आहाहा! उसी और उसी में उसकी सेवा, वह निरपराध है और उसकी सेवा के रहित भाव, वह अपराध है। दूसरे पदार्थ के साथ कुछ सम्बन्ध नहीं है। आहाहा!

उस अपराधयुक्त जो आत्मा वर्तता हो... उसमें आ गया था न? अशुद्ध वर्तता हुआ। अतः यहाँ यह आया। **उस अपराधयुक्त जो आत्मा वर्तता हो...** आहाहा! आत्मा ज्ञान और आनन्द स्वरूप है; इसके अतिरिक्त वर्ते, वह अपराध और **उस अपराधयुक्त जो आत्मा वर्तता हो, वह आत्मा सापराध है। वह आत्मा सापराध है।** आहाहा! पाँच नवकार गिनना और भगवान के सामने देखना... वह सब भाव अपराध है, कहते हैं।

आहाहा! निवृत्त हो तो णमो अरिहंताणं (बोले)। अनुपूर्वी गिने। पुस्तक आती है न? अनुपूर्वी गिने, इसलिए हो गया धर्म। कहते हैं, इस आत्मा के आश्रयरहित विकल्प है, वह गुनाह और अपराध है। ऐसी बात है। अभी तक सुना, उसका क्या करना? आहाहा!

उस अपराधयुक्त जो आत्मा वर्तता हो, वह आत्मा सापराध है। वह आत्मा, परद्रव्य के ग्रहण के सद्भाव द्वारा... वह आत्मा परद्रव्य का ग्रहण अर्थात् रागादि, उनके **सद्भाव द्वारा शुद्ध आत्मा की सिद्धि के अभाव के कारण...** वहाँ शुद्ध आत्मा की सिद्धि, राध, सेवन के अभाव के कारण। है न अर्थ? नीचे अर्थ आ गया। है न राध? नीचे राध के अर्थ किये हैं। आराधना—अन्दर आत्मा की सेवा करना, वह आराधना है। विकल्परहित आत्मा की सेवा, वह आत्मा की प्रसन्नता है। राग हो, वह अप्रसन्नता। वह आत्मा की अप्रसन्नता है। इस आत्मा का आश्रय, ज्ञान और आनन्द का आश्रय, वह प्रसन्नता, वह आत्मा की कृपा। है न नीचे अर्थ। इस आत्मा की वह कृपा। आहाहा! नीचे फुटनोट में है। आराधना, प्रसन्नता, कृपा... कृपा... यह आत्मा की कृपा हुई। आत्मा का सेवन करना, यह आत्मा की कृपा। राग, वह आत्मा की अकृपा। आत्मा का एक सेवन करना, वह प्रसन्नता है; राग है, वह अप्रसन्नता है। आहाहा! सिद्धि—स्वभाव की सिद्धि, चैतन्यस्वरूप की, पुण्य-पाप रहित आत्मा की सिद्धि, वह आराधना, वह सेवना, पूर्णता। यह राध सेवना, वह पूर्णता। है सर्वत्र आराधन, आराधन, तथापि उसे पूर्णता कही है। उसे सिद्ध करना, उस निर्मल परिणाम का सिद्ध होना और उसे पूर्ण करना। यह सब राध के अर्थ में जाता है। आहाहा!

वह आत्मा, परद्रव्य के ग्रहण के सद्भाव द्वारा... ग्रहण का अर्थ अनुभव। परद्रव्य कहीं ग्रहण-पकड़ा नहीं जा सकता। परद्रव्य मेरे हैं, उसका आश्रय उसका नाम ग्रहण। परद्रव्य के ग्रहण का अनुभव। यह राग का अनुभव, वह परद्रव्य का ग्रहण। आहाहा! **परद्रव्य के ग्रहण के सद्भाव द्वारा...** आहाहा! **शुद्ध आत्मा की सिद्धि के अभाव के कारण...** जिसमें, शुद्ध आत्मा विकल्परहित, रागरहित है, उसकी सिद्धि का अभाव है। परद्रव्य के ग्रहण में, विकल्प में आत्मा की सिद्धि का अभाव है। उसके **कारण बन्ध की शंका होती है...** उसे बन्ध की शंका होती है, अबन्ध तो देखा नहीं। आहाहा! आत्मा अबन्धस्वरूप है, उसे तो देखा नहीं। 'जो पस्सदि अप्पाणं अबद्धपुट्ठं' १४वीं-१५वीं

गाथा। उसने जैनशासन देखा कहलाता है। जिसने आत्मा को अबद्ध, स्पृष्ट देखा, देखा, अनुभव किया, वह जैनशासन है, वह आराधना, वह राध है। आहाहा! और उसके विराध का भाव।

सिद्धि के अभाव के कारण बन्ध की शंका होती है, इसलिए स्वयं अशुद्ध होते से,... राग का भाव स्वयं अशुद्ध होने से। परद्रव्य के अवलम्बन से होता स्वयं अशुद्ध भाव है। आहाहा! कहीं आधार, कहीं साधन-बाधन कुछ (नहीं)। कहा न, वह साधन कहा न! आत्मा का आश्रय करना, वह आत्मा का साधन। वह साधन है। आहाहा! आ गया न? साधन नीचे आ गया। अर्थ में आ गया। आराधना आयी। **परद्रव्य के परिहार से शुद्ध आत्मा की सिद्धि अथवा साधन, सो राध...** है। वह साधन है। आहाहा!

बन्ध की शंका होती है, इसलिए स्वयं अशुद्ध होते से,... स्वयं अशुद्ध होने से। कोई कर्म के कारण या पर के कारण नहीं। स्वयं ही अशुद्ध होने से। शुभ-अशुभभाव के मलिन परिणाम में एकाकार स्थिर होने से, **स्वयं अशुद्ध होते से, अनाराधक ही है।** वह आत्मा का असेवक है, राग का सेवक है। आत्मा का असेवक है, राग का सेवक है। आहाहा! अब ऐसी बातें। **स्वयं अशुद्ध होते से, अनाराधक ही है।** देखा! 'ही' शब्द रखा है। **अनाराधक ही है।** आहाहा! विकल्प मात्र का सेवन करने से—मेरे हैं, ऐसा मानने से, उनमें लाभ है—ऐसा मानने से, मेरी चीज़ है—ऐसा मानने से (वह) अनाराधक ही है। अशुद्ध होने से अनाराधक ही है। वह आराधक नहीं, वह आत्मा की सेवा करनेवाला नहीं, वह विकार की सेवा करनेवाला है। आहाहा! ऐसा कठिन काम है।

और जो आत्मा निरपराध है वह, समग्र परद्रव्य के परिहार से... आहाहा! स्वद्रव्य के आश्रय के अतिरिक्त। आराधक जीव सिद्धि राध का सेवन करनेवाले आत्मा का **समग्र परद्रव्य के परिहार से...** वीतराग ऐसा कहते हैं कि मेरे आश्रय और आधार बिना। आहाहा! समग्र परद्रव्य, सभी परद्रव्य अर्थात् भगवान तीर्थंकर और उनकी वाणी, वे सब परद्रव्य है। ऐसा काम है। समग्र-सभी **परद्रव्य के परिहार से...** मुनि स्वयं कहते हैं, कि हम भी परद्रव्य हैं। परद्रव्य के परिहार द्वारा—हमारे सामने देखे बिना। आहाहा! अन्दर देख, अन्दर भगवान है। आहाहा! **समग्र परद्रव्य के परिहार से शुद्ध आत्मा की सिद्धि**

के सद्भाव के कारण... अन्दर भगवान है, ज्ञानस्वभाव है, आनन्दस्वभाव है, वीतराग -स्वभाव है, वे सब नित्य स्वभाव हैं। आहाहा! उस स्वभाव की सेवना। देखो! आहाहा!

समग्र परद्रव्य के परिहार से शुद्ध आत्मा की सिद्धि के सद्भाव के कारण... शुद्ध आत्मा की सिद्धि अर्थात् यह एकाग्रता, स्वस्वभाव की एकाग्रता, विकल्परहित निर्विकल्पदशा। आहाहा! **शुद्ध आत्मा की सिद्धि के सद्भाव के कारण बन्ध की शंका नहीं होती...** धर्मी को बन्ध की शंका नहीं होती होने से। आहाहा! राग का विकल्प उठता है, वह भी मेरा नहीं है, वह पर का है; मैं तो चैतन्य शुद्ध स्वरूप हूँ—ऐसी जिसकी आश्रय दृष्टि द्रव्य के ऊपर है, उसे परद्रव्य के परिहार द्वारा बन्ध की शंका नहीं होती। मुझे बन्ध होगा, ऐसी शंका नहीं होती। आहाहा! है? आहाहा! बहुत संक्षिप्त। **शुद्ध आत्मा की सिद्धि के सद्भाव के कारण बन्ध की शंका नहीं होती...** आहाहा!

उपयोग ही जिसका एक लक्षण है... राग और विकल्प, पंच महाव्रत के परिणाम और तीर्थंकरगोत्र बाँधे, सोलह प्रकार भावना, पंच महाव्रत और पंच महाव्रत की भावना और... भावपाहुड़ में आता है। ऐसा करना, ऐसा करना बतलाते हैं। परन्तु कहते हैं कि वह सब अपराध है। आहाहा! ऐसी बात सुनना कठिन पड़े। भगवान तो कह गये हैं। अनादि काल से यह कहते आये हैं, यह कहीं नयी बात नहीं है। अनन्त काल से तीर्थंकर तो महाविदेह में अनादि से कहते ही आये हैं। आहाहा! वही यह बात है। उसे छोड़कर घर की सब बातें कल्पना से करे। सुननेवालों को खबर न हो। जय नारायण। आहाहा! बहुत अच्छी बात की, बहुत अच्छी बात की। आहाहा!

उपयोग ही जिसका एक लक्षण है... देखा? यह राग हो, जिससे बँधे, वह राग भी आत्मा का लक्षण नहीं है। आहाहा! पंचम काल के मुनि जगत को प्रसिद्ध करते हैं, हजार वर्ष पहले (कह गये हैं)। कोई ऐसा कहे कि यह तो चौथे काल की बातें हैं। पंचम काल के साधु पंचम काल के श्रोता को बात करते हैं। धर्म को कोई काल बाधक नहीं है। पाँचवें काल के अन्त में भी अच्छे भावलिंगी सन्त होंगे। आहाहा! अन्त में, हों! काल कहाँ बाधक है?

उपयोग ही जिसका एक लक्षण है... एक ही लक्षण है। दो लक्षण नहीं। राग

उसका लक्षण और उपयोग उसका लक्षण, (ऐसे) दो (लक्षण नहीं)। दया, दान, व्रत आदि का भाव भी आत्मा को साधन है और उपयोग भी साधन है, (ऐसे) दो नहीं है। **उपयोग ही जिसका एक लक्षण है...** आहाहा! **ऐसा एक शुद्ध आत्मा...** उपयोग ही जिसका एक लक्षण है। जानना-देखना एक उपयोग, वही जिसका / आत्मा का लक्षण है, ऐसा एक शुद्ध आत्मा। ऐसा एक शुद्ध आत्मा। उपयोग ही जिसका एक लक्षण है, ऐसा एक शुद्ध आत्मा। एक शुद्ध आत्मा, देखा? आहाहा! **एक शुद्ध आत्मा ही मैं हूँ...** आहाहा! इस धर्मी की यह दृष्टि होती है। आहाहा! उपयोग आत्मा और शुद्ध आत्मा, वह तो पड़ा रहा एक ओर, यह करो और यह करो और यह करो और यह करो, (इसमें) जिन्दगी चली जाती है। आहाहा!

उपयोग ही जिसका एक लक्षण है... रागरहित जानना-देखना एक जिसका लक्षण है। ऐसा एक शुद्ध आत्मा, ऐसा एक शुद्ध आत्मा। **ऐसा एक शुद्ध आत्मा ही मैं हूँ...** बीच में रागादि मैं नहीं। आहाहा! पंच महाव्रत के परिणाम, वह मैं नहीं। जिस भाव से तीर्थंकर गोत्र बँधे, वह मैं नहीं। आहाहा! जिस भाव से आहारकशरीर बँधे, मुनि को सर्वार्थसिद्धि का आयुष्य बँधे, वह मैं नहीं। आहाहा! ऐसी बात है। एक-एक गाथा उत्कृष्ट है परन्तु जिसे आत्मा का करने की दरकार हो, उसकी यह बात है। बाहर की बातें बाहर में तो चला करती है। आहाहा!

ऐसा एक शुद्ध आत्मा ही मैं हूँ इस प्रकार निश्चय करता हुआ... है? ऐसा निर्णय करता हुआ। मैं एक शुद्ध आत्मा उपयोग ही हूँ। जानना-देखना उपयोग ही एक लक्षण मेरा है, ऐसा आत्मा हूँ—ऐसा निर्णय करता हुआ। आहाहा! पर का बहुत कर दूँ और पर से मुझमें भला हो, यह कोई चीज़ मुझमें है ही नहीं। आहाहा! तो फिर यह शास्त्र बनाना और उपदेश देना, (वह) उसके कारण से बनते हैं, भाई! उपदेश और भाषा, भाषा के कारण से, शास्त्र उसकी भाषा के कारण से बनते हैं। आत्मा उन्हें बनावे, ऐसा है नहीं। आहाहा!

एक शुद्ध आत्मा ही मैं हूँ' इस प्रकार निश्चय करता हुआ शुद्ध आत्मा की सिद्धि जिसका लक्षण है,... शुद्ध आत्मा की सिद्धि, साधन, आराधन, कृपा, प्रसन्नता **जिसका लक्षण है, ऐसी आराधनापूर्वक सदा वर्तता है...** ऐसी आराधना। **शुद्ध**

आत्मा की सिद्धि जिसका लक्षण है, ऐसी आराधना... आहाहा! **शुद्ध आत्मा की सिद्धि जिसका लक्षण...** शुद्ध पवित्र निर्मल आनन्दकन्द अखण्डानन्द प्रभु, ऐसी जो सिद्धि, उसका जो लक्षण, **ऐसी आराधनापूर्वक सदा वर्तता है इसलिए, (धर्मी) आराधक ही है।** आराधक ही है। आहाहा! ऐसी बातें हैं। अब इसमें वाद-विवाद से वाद करो (ऐसा कहे)। तुम्हारा एकान्त है, इसलिए वाद करो। देखो, शास्त्र में (लिखा है)। शास्त्र में व्यवहार बहुत लिखा है, ले न! परन्तु उस व्यवहार का फल संसार है। व्यवहार से समझाये बिना दूसरा उपाय नहीं होता। आत्मा को वाणी नहीं होती, विकल्प नहीं होता, अब उसे समझाना किस प्रकार? इसलिए भेद डालकर समझाना, हेय-उपादेय करके समझाना, इसके अतिरिक्त उपाय नहीं है। तथापि वह आदरणीय, भेद आदरणीय नहीं है। हेय और उपादेय, ऐसी बुद्धि। व्यवहार, वह आदरणीय नहीं है। आहाहा!

आदरणीय तो यह एक ही है। है? **शुद्ध आत्मा की सिद्धि जिसका लक्षण है, ऐसी आराधनापूर्वक सदा वर्तता है इसलिए, आराधक ही है।** यह एक ही प्रकार से वर्तता हुआ आराधक है, दूसरा प्रकार उसे नहीं है। आहाहा! व्यवहार में थोड़ा आवे तो जरा इसे विश्राम मिले, ऐसा कहते थे न एक बार? छोटाभाई ब्रह्मचारी थे। छोटाभाई ब्रह्मचारी। फिर छोड़ दिया। मेरी भूल है। व्यवहार आवे, तब थोड़ा विश्राम मिले, पश्चात् फिर अन्दर निश्चय में जाया जाए। व्यवहार में आवे, तब दुःख लगे; दुःख लगने के पश्चात् सुख में जाया जाए। आहाहा! ऐसी बातें हैं।

शुद्ध आत्मा की सिद्धि जिसका लक्षण है, ऐसी आराधना... ऐसी आराधनापूर्वक सदा वर्तता है... वापस सदा वर्तता हुआ। चौबीस घण्टे, नींद में भी। अन्दर से भिन्न पड़ा है, फिर नींद में भिन्न ही है। आहाहा! ऐसा काम है। एक ही निश्चय की बात ही करते हैं, (ऐसा लोग) कहते हैं। निश्चय कहते है, यह भी वह कहते हैं, यह व्यवहार नहीं? यही व्यवहार है। कहना है, वह व्यवहार है। विकल्प है, वह व्यवहार है। ऐसा आत्मा है, ऐसा विकल्प उठकर कहना, वह सब व्यवहार है। व्यवहार होता है परन्तु आदरणीय नहीं है। आहाहा! जाननेयोग्य है। आहाहा! एक ही गाथा में कितना काम किया, देखो न! आहाहा!

पहले यह करना और बाद में यह होता है और पहले अशुभ में से हटकर शुभ में आवे तो इसे जरा शुद्ध में जाने के लिये ठीक पड़े—(ऐसी) कुछ बात इसमें तो आयी नहीं। आहाहा! और अन्तिम शुभभाव होता है, अन्तिम अशुभ नहीं होता। अन्तर्दृष्टि होने पर अनुभव में जाने से पहले शुभभाव होता है परन्तु इससे (वह) साधन है, ऐसा नहीं है। होता है अन्तिम विकल्प शुभ ही होता है, पश्चात् उसे छोड़कर अन्दर में जाए, तब उसका आराधन होता है। आहाहा! कहाँ गये, देवीलाल गये? समझ में आया? आहाहा! ऐसा मार्ग है। आराधक ही, यह आराधक ही है। आहाहा!

भगवान आत्मा निर्मलानन्द संकल्प-विकल्प के भाव से रहित निर्विकल्प अखण्ड वीतराग की सेवना अर्थात् आराधना अर्थात् एकाग्रता अर्थात् उसका आश्रय, वह एक ही आराधनेयोग्य है, एक ही करनेयोग्य है। आहाहा! यह एकान्त लगे या नहीं? यशपालजी! दूसरे को लगे। क्या कहलाता है तुम्हारा देश? दक्षिण देश, महाराष्ट्र। महाराष्ट्र में ऐसा करो और वैसा करो और यह करो, क्रिया करे। आहाहा! कठिन काम है, भाई! होता है परन्तु वह कहीं वस्तु नहीं है। उसे तो वस्तु नहीं है, ऐसा कहा है।

जैसे स्व की अपेक्षा से परवस्तु नहीं... क्या कहा यह? जैसे स्व है, इस अपेक्षा से पर अवस्तु है; वैसे निश्चय की अपेक्षा से व्यवहार अवस्तु है। व्यवहार की अपेक्षा से व्यवहार है; निश्चय की अपेक्षा से व्यवहार अवस्तु है। व्यवहार की अपेक्षा से व्यवहार है, व्यवहार नहीं है-ऐसा नहीं है, परन्तु व्यवहार निश्चय की अपेक्षा से अवस्तु है। आहाहा! स्व उपादान की अपेक्षा से निमित्त अवस्तु है। वह अवस्तु है, उस आत्मा को-वस्तु को मदद किस प्रकार करे? आहाहा! ऐसे यह शुद्ध उपादान स्वभाव शुद्ध की अपेक्षा से व्यवहार है, यह अशुद्ध है, यह अवस्तु है, तो वस्तु को अवस्तु मदद किस प्रकार करे? आहाहा! गजब बात है। एक तो वस्तु कहना। ये तीर्थंकर भगवान हैं परन्तु इस आत्मा की अपेक्षा से नहीं, वे अद्रव्य हैं। यह द्रव्य है तो इस अपेक्षा से दूसरी वस्तु अद्रव्य है। अरर! आहाहा!

पंच परमेष्ठी भी अद्रव्य है, उनकी अपेक्षा से द्रव्य है; इसकी अपेक्षा से अद्रव्य है। शुद्ध उपादान की अपेक्षा से निमित्त अवस्तु है, निमित्त मात्र वस्तु अवस्तु है। निमित्त की अपेक्षा से निमित्त है, वस्तु है। अपनी अपेक्षा से अवस्तु है। इसी प्रकार शुद्ध उपादान की

अपेक्षा से व्यवहार है परन्तु वह व्यवहार शुद्ध उपादान की अपेक्षा से अवस्तु है, व्यवहार की अपेक्षा से व्यवहार है। अरे... अरे... ऐसी बातें कभी सुनी न हो।

स्वचतुष्टय में आता है न? सप्तभंगी, सप्तभंगी। स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल, स्वभाव से अस्ति है। परद्रव्य, परक्षेत्र, परकाल और परभाव से नास्ति है। सप्तभंगी आती है। आहाहा! गजब बात है न! इसी प्रकार व्यवहार, व्यवहार की अपेक्षा से है, स्व की अपेक्षा से व्यवहार अवस्तु है। उसे नुकसानकारक है; लाभदायक नहीं; इसलिए अवस्तु है। आहाहा! क्या इनकी शैली! मीठी-मधुर अमृत धारा (बहती है)। आहाहा!

कहते हैं कि अमृत सागर भगवान की अपेक्षा से राग जहर है। जहर की अपेक्षा से वह है, अमृत सागर की अपेक्षा से वह नहीं है। आहाहा! गजब बात है। भगवान अखण्ड अमृत सागर है, उसकी अपेक्षा से राग, दया, दान का राग वस्तु ही नहीं, अवस्तु है, अद्रव्य है, अक्षेत्र है, अकाल है, अभाव है। आहाहा! कलश टीकावाले तो बहुत लम्बा ले गये हैं, आत्मा त्रिकाल की अपेक्षा से है, वर्तमान पर्याय की अपेक्षा से नहीं, पर्याय परद्रव्य है। आहाहा! वह परकाल है। त्रिकाल वस्तु, वह स्वकाल है; वर्तमान पर्याय, वह परकाल है, पर्याय की अपेक्षा से पर्याय है। आहाहा!

यहाँ कहते हैं... आहाहा! एक ही शुद्ध आत्मा की अपेक्षा से अशुद्धपना है, उसकी अपेक्षा से है, इसकी अपेक्षा से नहीं। एक ही शुद्ध आत्मा का लक्षण जिसका **ऐसी आराधनापूर्वक सदा वर्तता है...** देखा? सदा वर्तता हुआ। कोई क्षण, समय—ऐसा नहीं सदा। स्वरूप से हूँ और पररूप से नहीं, वह सदा वर्तता हुआ। आहाहा! इसमें कितना याद रखना? सदा वर्तता होने से। आहाहा! स्व शुद्ध अखण्ड आनन्दरूप हूँ और अशुद्ध मलिनरूप नहीं, इस अपेक्षा से सदा वर्तता हुआ **आराधक ही है।** उसे आराधक कहने में आता है। उसे आत्मा की सेवा करनेवाला कहने में आता है। पर की सेवा नहीं कर सकता। पर की सेवा करो, पर की सेवा करो। कौन कर सकता है? पर की सेवा इस राग की। राग और पुण्य के परिणाम की सेवा, वह पर की सेवा और स्व की शुद्धता की सेवा, वह स्व की सेवा। इस प्रकार से स्व की सेवा, वह आराधक है।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ३७४, श्लोक-१८७, गाथा-३०४ से ३०७ शुक्रवार, पौष शुक्ल २
दिनाङ्क - २१-१२-१९७९

(समयसार, गाथा) ३०४ और ३०५ है न? उसका भावार्थ है।

भावार्थ :- संसिद्धि, राध, सिद्धि, साधित और आराधित-इन शब्दों का एक ही अर्थ है,... सब पर्यायवाचक है। पर्यायवाचक अर्थात् भिन्न-भिन्न अक्षर, परन्तु अर्थ एक ही है। **इन शब्दों का एक ही अर्थ है, यहाँ शुद्ध आत्मा की सिद्धि...** शुद्ध आत्मा की सिद्धि अर्थात् साधकपना **अथवा साधन का नाम 'राध' है।** यहाँ साधन की बात है। पूर्ण हो गया, उसकी बात नहीं। अन्तर आत्मा के अखण्ड ज्ञानानन्दस्वरूप की एकाग्रता का सेवन अथवा आश्रय, उसे यहाँ साधन कहा जाता है। यह साधन है। **जिसके वह राध नहीं है, वह आत्मा सापराध है...** जिसे वह राध नहीं, अर्थात् सेवना नहीं, आत्मा का आश्रय नहीं, आत्मा का अवलम्बन नहीं और विकल्प आदि का अवलम्बन और आश्रय है, वे सब सापराधी / गुनहगार हैं। आहाहा!

शुद्ध आत्मा की सिद्धि, **जिसके वह राध नहीं है, वह आत्मा सापराध है...** आहाहा! विकल्पमात्र कर्मकृत भाव है, वह धर्मकृत भाव नहीं। वे सर्व भाव सापराध हैं, वे अपराध में जाते हैं (समाहित हैं), गुनाह में जाते हैं। **जिसके वह राध नहीं है,...** राध अर्थात् सेवन, आश्रय। आत्मा अखण्ड ज्ञानानन्द का जहाँ आश्रय है, वह आत्मा निरपराध है। जिसका द्रव्यस्वभाव... कल आ गया कि त्रिकाली निरुपाधि स्वभाव है; इसलिए वह निरावरण दर्शन-ज्ञान द्वारा ही वह सेवना, ज्ञात हो—ऐसा है। यह ज़्या कहा? आत्मा त्रिकाल निरुपाधिस्वरूप है; इसलिए उसका लक्ष्य अथवा सेवन / आश्रय निरावरण ज्ञान और दर्शन द्वारा उसका सेवन-आश्रय किया जा सकता है। आहाहा! कल आया था, नहीं? आया था न कल?

आत्मा त्रिकाली निरुपाधि स्वभाव है। वह निरावरण ज्ञान-दर्शन की पर्याय से ही आश्रय और सेवन करनेयोग्य है। समझ में आया? आहाहा! विकल्प, जितना राग उठे, वह सब परद्रव्य और बन्ध का कारण है, जहर है। अमृतस्वरूप, अमृतस्वरूप आत्मा उसमें है, उस भाव से ज्ञात हो, वैसा है; उसमें नहीं, उनसे ज्ञात हो, वैसा नहीं है। समझ में आया?

उसमें ज्ञान, दर्शन, आनन्द, शान्ति, वीतरागता भरी हुई है, तो वह उस स्वभाव द्वारा ज्ञात हो, ऐसा है। उसमें है, उन द्वारा ज्ञात हो—ऐसा है; उसमें नहीं, उन द्वारा ज्ञात हो—ऐसा नहीं है। आहाहा! ऐसा सूक्ष्म, सूक्ष्म पड़ता है। अपूर्व बात तो यह है।

यह यहाँ कहा, **वह आत्मा सापराध है और जिसके वह राध है,...** अर्थात् स्वभाव का आराधन है, अर्थात् कि वह वीतराग त्रिकाली स्वभाव है। ऐसा ही पर्याय में स्वभाव होने से उसका सेवन, आराधन होता है। आहाहा! वह आत्मा निरपराधी है। स्वयं निरुपाधिस्वभाव अखण्डानन्द ज्ञानस्वरूप प्रभु; वह अखण्ड ज्ञान की पर्याय जो स्वाभाविक है, उससे वह ज्ञात हो, ऐसा है। है उसमें, उसमें जो है, उससे ज्ञात हो—ऐसा है। उसमें नहीं, उनसे ज्ञात हो—ऐसा नहीं है। यह संक्षिप्त भाषा। समझ में आया? आहाहा! जो उसमें स्वभाव है, उस स्वभाव की पर्याय द्वारा ही स्वभाव ज्ञात हो, ऐसा है। ज़्योंकि उसमें है, उस भाव से वह ज्ञात होता है। उसमें नहीं है, उस भाव से वह ज्ञात नहीं होता। आहाहा!

कल तो यहाँ तक आया था कि निश्चय की अपेक्षा से व्यवहार है ही नहीं, ज़्योंकि निश्चय में व्यवहार नहीं है। स्वद्रव्य की अपेक्षा से परद्रव्य, अद्रव्य है। स्वद्रव्य की अपेक्षा से परद्रव्य, अद्रव्य है। तीर्थंकर का आत्मा भी इस स्वद्रव्य की अपेक्षा से अद्रव्य है। आहाहा! इसी तरह निश्चय की अपेक्षा से व्यवहार भी है ही नहीं। निश्चय की अपेक्षा से व्यवहार नहीं; व्यवहार की अपेक्षा से व्यवहार है। इस प्रकार से, इस प्रकार से। स्व की अपेक्षा से व्यवहार है ही नहीं, इसमें है नहीं। जैसे परद्रव्य स्व की अपेक्षा से अद्रव्य है; वैसे स्व-निश्चय की अपेक्षा से राग-व्यवहार, वह अद्रव्य है अथवा अनिश्चय अथवा वह भाव नहीं है, परन्तु उसकी अपेक्षा से वह भाव है, व्यवहार की अपेक्षा से व्यवहार है, परन्तु व्यवहार की अपेक्षा से लाभ हो-ऐसा नहीं है। व्यवहार है सही, पर्याय स्वयं व्यवहार है और द्रव्य में पर्याय नहीं, तथापि यहाँ तो ऐसा कहते हैं कि स्वभाव जो है, उस स्वभाव की निरावरण पर्याय द्वारा वह स्वभाव लक्षित हो सकता है कि जो पर्याय उसमें नहीं है। आहाहा!

फिर से। जो वस्तु है, वह त्रिकाल निरावरण निरुपाधिस्वरूप ही है, वीतरागस्वरूप ही है। उसमें जो पर्याय है, वह द्रव्य में नहीं। आहाहा! तो उसमें नहीं तो उसके द्वारा ज्ञात अवश्य हो वापस। आहाहा! अपेक्षा तो कितनी! उसमें पर्याय, द्रव्य में नहीं, परन्तु ज्ञात हो

तो उस पर्याय द्वारा ही ज्ञात हो। आहाहा! पर्याय बिना द्रव्य होता नहीं कहीं कभी तीन काल में। इसलिए ज्ञात हो, तब उस पर्याय द्वारा ज्ञात होता है; पर्याय में द्रव्य का स्वरूप जैसा है, जितना है, उतना ज्ञात होता है; तथापि वह द्रव्य, पर्याय में नहीं आता, तथापि उस द्रव्य में पर्याय की नास्ति है और पर्याय में द्रव्य की नास्ति है। आहाहा! ऐसा सूक्ष्म है।

मुमुक्षु : इन्द्रजाल जैसा लगे।

पूज्य गुरुदेवश्री : इन्द्रजाल है। कहा है न, वहाँ कहा है। प्रभु! एक ओर आप कारक नहीं, ऐसा कहो, आहाहा! और धर्म नहीं, गुण नहीं-ऐसा कहो। धर्म नहीं अर्थात्? नित्य-अनित्य, एक-अनेक—ऐसे अपेक्षित धर्म है, परन्तु वस्तु में नहीं। कारक पर्याय में हैं, कारक-षट्कारकरूप से पर्याय परिणमती है, अस्तिरूप से स्वयं ही स्वयं से, हों! द्रव्य की अपेक्षा नहीं। निमिज़ की अपेक्षा तो नहीं; द्रव्य की अपेक्षा नहीं। वह पर्याय षट्कारकरूप से परिणमती है, तथापि वे पर्याय के षट्कारक हैं, वे द्रव्य में नहीं। द्रव्य के षट्कारक ध्रुव हैं, वे अलग है। आहाहा! यह तो षट्कारक का पर्याय का परिणमन जो है, वह द्रव्य में नहीं, तथापि षट्कारक का परिणमन है, उसमें द्रव्य का जितना और जैसा सामर्थ्य है, उतना पर्याय में ज्ञात होता है और श्रद्धा में आ जाता है। आहाहा! ऐसा कठिन है। मार्ग-अन्तर चीज़ तो अलौकिक बात है, भाई! तीन लोक में उसके जैसी बड़ी कोई चीज़ ही नहीं है। एक आत्मा, एक आत्मा तीन लोक में उसके जैसी बड़ी कोई चीज़ नहीं है। आहाहा! ऐसा जो भगवान आत्मा, उसका जो राध; राध अर्थात् सेवन; सेवन अर्थात् उसका आश्रय। आहाहा! तथापि वह सेवन की पर्याय और आश्रय द्रव्य को स्पर्श नहीं करता। आहाहा!

मुमुक्षु : स्पर्श किये बिना सेवन हो?

पूज्य गुरुदेवश्री : पर्याय से होता है, परन्तु पर्याय में द्रव्य नहीं आता और द्रव्य को पर्याय स्पर्श नहीं करती। पर्याय का अस्तित्व, द्रव्य के अस्तित्व में जाता नहीं; द्रव्य का अस्तित्व-सज़ा, पर्याय की सज़ा में आता नहीं।

मुमुक्षु : कथंचित्?

पूज्य गुरुदेवश्री : कथंचित् नहीं, सर्वथा। कथंचित् तो यह कि पर्याय, पर्याय में है; पर्याय, द्रव्य में नहीं, ऐसा। परन्तु कथंचित् पर्याय, द्रव्य में है और कथंचित् द्रव्य में पर्याय नहीं - ऐसा नहीं है। आहाहा! मार्ग बहुत सूक्ष्म, बापू!

यहाँ यह कहते हैं राध। जिसने आत्मा का सेवन किया। सेवन अर्थात् आश्रय लिया। आश्रय लिया अर्थात्? पर्याय ने स्वतन्त्र कर्ता होकर लक्ष्य किया, बस! यह आश्रय। पर्याय ने स्वतन्त्र कर्ता होकर लक्ष्य किया, इतना आश्रय। आहाहा!

मुमुक्षु : यह स्व का लक्ष्य किया या पर का?

पूज्य गुरुदेवश्री : द्रव्य का लक्ष्य किया, द्रव्य का। पर्याय ने लक्ष्य किया द्रव्य का, परन्तु पर्याय ने पर्याय में रहकर, कर्तारूप से स्वतन्त्ररूप से रहकर लक्ष्य किया। द्रव्य में घुसे बिना।

मुमुक्षु : पर्याय और द्रव्य तो एक-दूसरे से पर हैं न? इसलिए पर का लक्ष्य किया?

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, लक्ष्य, लक्ष्य नहीं होता? वह पर आवे नहीं। इस ज्ञान में वह ज्ञात होती है, वह चीज़ ज्ञात नहीं होती, ज्ञान ज्ञात होता है, ज्ञान की पर्याय ज्ञात होती है। वह (पर) ज्ञात कहाँ होता है? उसके साथ यह ज्ञान कहाँ तन्मय है? ज्ञान की पर्याय उस पर के साथ तन्मय कहाँ है? स्वयं पर्याय तन्मय स्वयं के साथ है और पर के साथ तो अतन्मय है, अभाव है।

मुमुक्षु : अपने साथ तन्मय नहीं?

पूज्य गुरुदेवश्री : पर्याय तो पर्याय में तन्मय है।

मुमुक्षु : द्रव्य में तन्मय है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं; पर्याय, पर्याय में तन्मय है, ऐसा कहा; द्रव्य में कहा नहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : द्रव्य का स्वांग धारण किया, ऐसा कहा जाए साहेब (?)

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो उसमें ज़्या? प्रत्येक पर्याय का स्वांग ही है। समयसार में जगह-जगह आया है। एक-एक लेख में कि यह पुण्य स्वांग पहिनकर आया, मोक्ष स्वांग लेकर आया। वह तो स्वांग तो प्रत्येक पर्याय है। स्वांग अर्थात् पर्याय। आहाहा!

यहाँ राध है, वह आत्मा निरपराध है। इस पर्याय से-जिसने आत्मा के लक्ष्य से उसका ज्ञान किया अथवा उसका आश्रय किया। उसकी सेवा की, इसका अर्थ यह कि उसका आश्रय किया। '**भूदत्थमस्सिदो**' आता है न? (समयसार) ११वीं गाथा। भाषा के प्रकार बहुत प्रकार, परन्तु उसका मूल हेतु ज़्या है?-कि यह ऐसे जो लक्ष्य है, वह लक्ष्य

ऐसे किया, वह पर्याय ने आत्मा का सेवन किया—ऐसा कहा जाता है। आहाहा! बहुत सूक्ष्म बात, भाई! बाहर के इस क्रियाकाण्ड में रुक गये; रुककर बेचारे वहीं के वहीं पड़े हैं। जिन्दगी चली जाती है। आहाहा! सत्य जिस प्रकार से है, जिस प्रकार से सत्य है, उस प्रकार से हाथ में न आवे और उल्टे-सीधे क्रियाकाण्ड में से (प्राप्त करना चाहे)। यह तो अपने कल आ गया था (कि) भगवान तो क्रिया-सर्व क्रियाकाण्ड के आलम्बन से रहित है। सर्व क्रियाकाण्ड के राग और दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा और गजरथ निकालना-सब क्रियाकाण्ड से प्रभु रहित है। आहाहा!

मुमुक्षु : शुद्धरूप से परिणमना, वह क्रियाकाण्ड?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह क्रियाकाण्ड नहीं, वह है एक क्रिया; परन्तु वह क्रियाकाण्ड नहीं। पर्याय है, वह क्रिया है। द्रव्य है, वह निष्क्रिय है; पर्याय है, वह सक्रिय है परिणमन की अपेक्षा से। राग की अपेक्षा से निर्मलपर्याय निष्क्रिय है। अरे! कितनी बात करना! राग की अपेक्षा से सम्यग्दर्शन की निर्मलपर्याय निष्क्रिय है, परन्तु द्रव्य की अपेक्षा से वह सक्रिय है, बदलती है, ऐसा है। आहाहा! समझ में आया? धीरे से समझना, भाई! मार्ग ऐसा है। आहाहा! अरे! ऐसा अवसर कब मिले? भाई! यह तो मुश्किल से मनुष्यभव (मिला), उसमें वीतराग की मूल वाणी... आहाहा! कान में पड़ना, सुनना, भाग्यवान को पड़े, ऐसा है। आहाहा!

सत्—उत्पाद-व्यय और ध्रुव तीन सत् है। तीन सत्। एक द्रव्य के तीन सत् होने पर भी, एक सत् दूसरे सत् की अपेक्षा नहीं रखता। यह तो बहुत बार कहा जा चुका है। प्रवचनसार, १०१ गाथा। १०१ गाथा। उत्पाद को व्यय और ध्रुव की अपेक्षा नहीं। आहाहा! पूरी पर्याय को तो नहीं, पूरी पर्याय उत्पाद-व्यय दो, परन्तु एक-एक भाग उत्पाद को, व्यय और आश्रय द्रव्य की अपेक्षा नहीं। उसे सत् सिद्ध करना है। सत् है। है, उसे हेतु नहीं हो सकता। है, उसे सिद्ध करने के लिये हेतु नहीं हो सकता। है, वह है; निरपेक्ष—अपेक्षा बिना है।

यहाँ जो राध का कहा, वह सेवन अर्थात् उसका अर्थ आश्रय, बस! राध है, वह आत्मा निरपराध है। अर्थात् आत्मा जो है, उसने पर्याय में जिसने द्रव्य का आश्रय किया है, वह निरपराध है। यह सेवना कहो या आश्रय कहो। आहाहा! **जो सापराध है, उसे बन्ध की शंका होती है,...** आहाहा! जो राग का सेवन करता है; रागरहित अबन्धस्वरूप

भगवान को भूल जाता है, उसे बन्ध की शंका होती है। ज़्यों? कि जो वस्तु है, वह अबन्धस्वरूप है और राग है, वह बन्धस्वरूप है। इसलिए जिसने राग को अपना माना, उसे बन्ध की शंका होती है। आहाहा! जो राग, आत्मा में नहीं है, (उसे अपना मानता है।)

कहा नहीं? कल कहा था—व्यवहार, निश्चय में नहीं है। निश्चय में व्यवहार है ही नहीं। निश्चय की अपेक्षा से व्यवहार है ही नहीं। व्यवहार की अपेक्षा से व्यवहार है। आहाहा! स्वद्रव्य की अपेक्षा से परद्रव्य है ही नहीं; परद्रव्य की अपेक्षा से परद्रव्य है। निश्चय की अपेक्षा से व्यवहार है ही नहीं; व्यवहार की अपेक्षा से व्यवहार है। आहाहा! ऐसा स्वरूप अब! यह चीज़ ही ऐसी है।

तीन अंश होने पर भी प्रत्येक अंश निरालम्बन है। उत्पाद-व्यय और ध्रुवयुक्तं सत्। द्रव्य सत्, गुण सत्, पर्याय सत्, सत् का विस्तार। (प्रवचनसार) १०७ गाथा। यह सत् का विस्तार है, तथापि वह एक-एक पर्याय या एक गुण, द्रव्य किसी की अपेक्षा नहीं रखते। आहाहा! अपेक्षा रखे (तो) उस सत् की सिद्धि ही नहीं हो सकती। आहाहा!

मुमुक्षु : पर्याय, गुण की होने पर भी गुण की अपेक्षा नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ; सूक्ष्म बातें पड़े, भाई! पर्याय के षट्कारक हैं, वे स्वतन्त्र षट्कारक द्रव्य और गुण की अपेक्षा बिना काम करते हैं, तथापि प्रश्न तो मस्तिष्क में बहुत उठे हों, कि षट्कारक हैं, उनमें एक कारक दूसरे की अपेक्षा रखता है या नहीं? वह तो इकट्ठे हैं न? इकट्ठे हैं। एक ही समय में इकट्ठे है न? प्रश्न उठे हों न बहुत। आते-आते आया हो, वह आवे। आहा! षट्कारक पर्याय में हैं, वह एक-एक कारक वास्तव में तो है, वह है। एक पर्याय में अनन्त अविभाग प्रतिच्छेद हैं, वह एक-एक अविभागी प्रतिच्छेद भी पर अविभागी प्रतिच्छेद की अपेक्षा नहीं रखता। ऐसा इस सत् का स्वरूप है। आहाहा!

यहाँ यह कहते हैं, जिसे वह आत्म-आश्रय नहीं है, पर्याय को आत्मा का आश्रय नहीं है, अर्थात् पर्याय में आत्मा का सेवन नहीं है, पर्याय में आत्मा का आराधन नहीं है, उस पर्याय में आत्मा का साधन नहीं है... है? (वह) **सापराध है, उसे बन्ध की शंका होती है,...** वह अपराधी जीव है, उसे शंका होती है। निरपराधी को (बन्ध की शंका नहीं

होती)। **इसलिए वह स्वयं अशुद्ध होने से...** ज़्यों? कहते हैं, बन्ध की शंका ज़्यों? कि राग को ही लक्ष्य में लिया है और राग को सेवन करता है। आहाहा! वह अशुद्ध होने से चाहे तो शुभराग हो, परन्तु शुभराग का लक्षण वहाँ ही पड़ा है, इसलिए **अशुद्ध होने से अनाराधक है।** आहाहा! ऐसा सूक्ष्म है। इसे समझना पड़ेगा या नहीं? भाई! चाहे जैसा सूक्ष्म है, वह है न? सूक्ष्म, परन्तु है न? है, उसे जानना है, उसमें है न, प्रश्न (ज़्या)? आहाहा! और जाननेवाला, जाननेवाले को जानता है। आहाहा! जाननेवाला, जाननेवाले को जानता है। जाननेवाला जनाता है, उसे नहीं जानता। आहाहा! उसकी अपनी पर्याय की सज़ा है, उसे वह जानता है। आहाहा!

स्वयं अशुद्ध होने से अनाराधक है। ज़्या कहा यह? यह राग का विकल्प चाहे तो दया, दान और व्रत, भक्ति आदि का हो या भगवान के स्मरण का (हो), वह अशुद्ध है; और अशुद्ध मेरा है—ऐसा सेवन किया है, वह अनाराधक है; वह आत्मा का आराधक नहीं है, वह आत्मा का आश्रय नहीं है, आत्मा का सेवन नहीं है। आहाहा! है या नहीं? घीया? वहाँ नहीं, तुम्हारे घी में नहीं। यहाँ है, यहाँ दूसरी जाति में है। घी कहाँ, इसकी घीया तो पहिचान है। लकड़ी है न? ज़्या है? चद्दर-लोहे का व्यापार। आहाहा!

अशुद्ध होने से अनाराधक है। पर को अपना मानता है, वह मान्यता पर के कारण नहीं, अशुद्ध होने से सापराधी है। अनाराध देखा? वह पर को, परवस्तु को मानता है, वह तो स्वयं अपने कारण से अशुद्ध है, परवस्तु के कारण से अशुद्ध नहीं है। आहाहा! समझ में आया? **और जो निरपराध है, वह निःशंक होता हुआ अपने उपयोग में लीन होता है...** देखा? उपयोग में लीन है, पर्याय एकाग्र है, द्रव्यसन्मुख पर्याय की एकाग्रता है। उस राग-सन्मुख झुकाव है नहीं। आहाहा! राग का सेवन नहीं, राग का आश्रय नहीं। आहाहा! जहाँ स्वभाव की सज़ा का सेवन है, वहाँ राग की सज़ा ही नहीं। निरालम्बन ऐसी आत्मदशा, वह निरागी आत्मा के आश्रय से-स्वयं से निरागी हुई है, मात्र ऐसे लक्ष्य किया है, आश्रय किया है इतना। इसलिए वह निराली दशा वह स्वतन्त्र निरपराधी है। आहाहा!

इसलिए 'जो शुद्ध आत्मा है, वही मैं हूँ'... है? राग नहीं, पुण्य नहीं, दया, दान, भगवान का स्मरण, भगवान को याद करना... आहाहा! तो अपनी याद को भूल जाता है, कहते हैं। भले स्वरूप के भानसहित हो परन्तु फिर भी उतनी अस्थिरता है। आहाहा!

(अपने को) भूलकर भगवान को याद करे, वह तो मिथ्यात्व का अपराध है, परन्तु भूले बिना याद करे तो भी राग का अपराध है। कहो, चन्दुभाई! ऐसी बात है। आहाहा! मार्ग बहुत अलौकिक है।

'शुद्ध आत्मा है, वही मैं हूँ' यह कौन कहता है? पर्याय मानती है। मानती है पर्याय न? **'शुद्ध आत्मा है, वही मैं हूँ' ऐसे निश्चयपूर्वक वर्तता...** पर्याय देखो! **हुआ सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप के एक भावरूप निश्चय आराधना का आराधक ही है।** लो! इन तीन की एक निर्विकल्पदशा। **'शुद्ध आत्मा है, वही मैं हूँ' ऐसे निश्चयपूर्वक वर्तता हुआ...** आहाहा! सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र पर्याय, पर्याय में स्वतन्त्र काम करती है। उस पर्याय ने स्वयं द्रव्य का ऐसा लक्ष्य किया है, परन्तु फिर भी पर्याय उसमें मिल नहीं गयी है तथा द्रव्य, पर्याय में मिलकर आ नहीं गया है।

यह तो ४९ गाथा में आया था। अव्यक्त जो है, वह व्यक्त को स्पर्श नहीं करता, (द्रव्य) पर्याय को स्पर्श नहीं करता, ऐसा कहते हैं। ४९ गाथा, अव्यक्त के बोल, छह बोल। व्यक्त-अव्यक्त का एकसाथ में ज्ञान होने पर भी व्यक्त को वह स्पर्श नहीं करता। व्यक्त अर्थात् प्रगट पर्याय। अरे! वहाँ तक कहा... आहाहा! द्रव्य को स्पर्श किये बिना, स्पर्श किये बिना शुद्धपर्याय, वही आत्मा है। कहा है? बीसवाँ बोल है। वह शुद्धपर्याय है, वही आत्मा है। वेदन में जो निर्मल शुद्धपर्याय आयी, वही आत्मा है। वह पर्याय, द्रव्य को स्पर्श नहीं करती। आहाहा! अलिंगग्रहण बीसवाँ बोल है। आहाहा!

जिस पर्याय ने द्रव्य का आश्रय करके वीतरागता प्रगट की, वही वीतरागता ही आत्मा है, वही आत्मा है। प्रगट पर्याय जो है, वही आत्मा है। आहाहा! सब जगह द्रव्य आत्मा... द्रव्य आत्मा.. द्रव्य आत्मा (कहते हैं)। यहाँ (कहते हैं) पर्याय आत्मा। वेदन में हमारे तो आया, (वह आत्मा)। ध्रुव वेदन में आता नहीं; वेदन में तो पर्याय आती है। आहाहा! इसलिए पर्याय का वेदन है, वही आत्मा है और वह पर्याय, सामान्य द्रव्य को स्पर्श नहीं करती। प्रत्यभिज्ञान का कारण ऐसा जो द्रव्य; प्रत्यभिज्ञान का कारण अर्थात् यह है, वह था, वह है और है, वह रहेगा—ऐसा जो प्रत्यभिज्ञान का कारण, ऐसा जो सामान्य द्रव्य, उसे स्पर्श किये बिना, उसे छुए बिना शुद्ध वेदन पर्याय आनन्द की है, वह आत्मा है। आहाहा!

मुमुक्षु : तादात्म्यसम्बन्ध भी कहते हो और उसे स्पर्श नहीं करता, दोनों बातें कैसे बनें?

पूज्य गुरुदेवश्री : तादात्म्यसम्बन्ध किसके साथ? वह तो पर की अपेक्षा से, पर से पृथक् करने की अपेक्षा से। स्व से तो तादात्म्य है नहीं। पर्याय, पर्याय में है, द्रव्य, द्रव्य में है। आहाहा! कठिन बात है। वहाँ तो वहाँ तक कहा कि पर्याय, द्रव्य को स्पर्श नहीं करती ऐसी जो शुद्धपर्याय प्रगट है, प्रगट पर्याय है; द्रव्य तो अप्रगट है, अव्यक्त है। आहाहा! वह पर्याय स्वयं ही आत्मा है बस! यही कहते हैं, मैं आत्मा हूँ। आहाहा! कठिन काम है, भाई! सत्य को समझना और सत्य को निस्पृहरूप से मात्र लक्ष्य में बात लेना, वह कठिन है। आहा! एक ओर द्रव्य.. द्रव्य.. द्रव्य.. द्रव्य.. करे और एक ओर कहे कि शुद्धपर्याय, वह द्रव्य है। मुझे सेवन में तो आनन्द आया और जो कुछ परिणति प्रगट वेदन में आयी, वह आत्मा है, बस! आहाहा! बीसवाँ बोल।

मुमुक्षु : ३२०वीं (गाथा में) बोल में वह पर्याय...

पूज्य गुरुदेवश्री : वह पर्याय ऐसा कहती है कि मैं तो त्रिकाल निरावरण अण्डानन्द एक अविनश्वर प्रत्यक्ष प्रतिभासमय शुद्ध पारिणामिक परमभावलक्षण निज परमात्मद्रव्य वह मैं हूँ, पर्याय ऐसा कहती है। लक्ष्य करती है। वह पर्याय ऐसा कहती है कि यह मैं हूँ। अन्दर पर्याय में श्रद्धा और ज्ञान आ गया है न उसका? द्रव्य का सामर्थ्य जितना है, उतना पर्याय में आ गया है, इसलिए पर्याय कहती है कि यह मैं हूँ। प्रगट पर्याय! आहाहा! बात तो कठिन बहुत, भाई! जगत को समझने में कठिन (पड़ती है)। आहाहा!

मुमुक्षु : एक ओर कहे द्रव्य ही आत्मा एक ओर कहे पर्याय ही आत्मा।

पूज्य गुरुदेवश्री : पर्याय आत्मा। आहाहा! इसलिए **'शुद्ध आत्मा है, वही मैं हूँ' ऐसे निश्चयपूर्वक वर्तता हुआ सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र और तप के एक भावरूप निश्चय आराधना का आराधक ही है।** लो!

कलश -१८७

(मालिनी)

अनवरत-मनन्तैर्बध्यते सापराधः,
स्पृशति निरपराधो बन्धनं नैव जातु।
नियत-मय-मशुद्धं स्वं भजन्सापराधो,
भवति निरपराधः साधु शुद्धात्मसेवी ।।१८७।।

ननु किमनेन शुद्धात्मोपासनप्रयासेन ? यतः प्रतिक्रमणादिनैव निरपराधो भवत्यात्मा; सापराध-स्याप्रतिक्रमणादेस्तदनपोहकत्वेन विषकुम्भत्वे सति प्रतिक्रमणादेस्तदपोहक-त्वेनामृतकुम्भत्वात्।

उक्तं च व्यवहाराचारसूत्रे -

अप्पडिकमणमप्पडिसरणं अप्पडिहारो अधारणा चेव।
अणियत्ती य अणिंदागरहासोही य विसकुम्भो ।।१।।
पडिकमणं पडिसरणं परिहारो धारणा णियत्ती य।
णिंदा गरहा सोही अट्ठविहो अमयकुम्भो दु।।२।।

अब इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं-

श्लोकार्थ : [सापराधः] सापराध आत्मा [अनवरतम्] निरन्तर [अनन्तैः] अनन्त पुद्गलपरमाणुरूप कर्मों से [बध्यते] बँधता है; [निरपराधः] निरपराध आत्मा [बन्धनम्] बन्धन को [जातु] कदापि [स्पृशति न एव] स्पर्श नहीं करता। [अयम्] जो सापराध आत्मा है, वह तो [नियतम्] नियम से [स्वम् अशुद्धं भजन्] अपने को अशुद्ध सेवन करता हुआ [सापराधः] सापराध है; [निरपराधः] निरपराध आत्मा तो [साधु] भलीभाँति [शुद्धात्मसेवी भवति] शुद्ध आत्मा का सेवन करनेवाला होता है।।१८७।।

(यहाँ व्यवहारनयावलम्बी अर्थात् व्यवहारनय को अवलम्बन करनेवाला तर्क करता है कि-) 'शुद्ध आत्मा की उपासना का प्रयास करने का क्या काम है? क्योंकि प्रतिक्रमण आदि से ही आत्मा निरपराध होता है; क्योंकि सापराध के, जो अप्रतिक्रमण आदि हैं वे, अपराध को दूर करनेवाले न होने से, विषकुम्भ हैं, इसलिए जो प्रतिक्रमणादि

हैं वे; अपराध को दूर करनेवाले होने से अमृतकुम्भ हैं। व्यवहार का कथन करनेवाले आचारसूत्र में भी कहा है कि-

अप्पडिकमणमपडिसरणं अप्पडिहारो अधारणा चेव।
अणियत्ती य अणिंदागरहासोही य विसकुम्भो।।१।।
पडिकमणं पडिसरणं परिहारो धारणा णियत्ती य।
णिंदा गरहा सोही अट्ठविहो अमयकुम्भो दु।।२।।

अत्रोच्यते-

अर्थ : ''अप्रतिक्रमण, अप्रतिसरण, अपरिहार, अधारणा, अनिवृत्ति, अनिन्दा, अगर्हा और अशुद्धि-यह (आठ प्रकार का) विषकुम्भ है।।१।।

[१]प्रतिक्रमण, [२]प्रतिसरण, [३]परिहार, [४]धारणा, [५]निवृत्ति, [६]निन्दा, [७]गर्हा और [८]शुद्धि-यह आठ प्रकार का अमृतकुम्भ है।।२।।''

कलश - १८७ पर प्रवचन

अब इसी अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं- १८७ कलश।

अनवरत-मनन्तैर्बध्यते सापराधः,
स्पृशति निरपराधो बन्धनं नैव जातु।
नियत-मय-मशुद्धं स्वं भजन्सापराधो,
भवति निरपराधः साधु शुद्धात्मसेवी।।१८७।।

१- प्रतिक्रमण=कृत दोषों का निराकरण।
२- प्रतिसरण=सम्यक्त्वादि गुणों में प्रेरणा।
३- परिहार=मिथ्यात्व-रागादि दोषों का निवारण।
४- धारणा=पंच नमस्कारादि मन्त्र, प्रतिमा इत्यादि बाह्य द्रव्यों के आलम्बन द्वारा चित्त को स्थिर करना।
५- निवृत्ति=बाह्य विषयकषायादि इच्छा में प्रवर्तमान चित्त को हटा लेना।
६- निन्दा=आत्मसाक्षीपूर्वक दोषों का प्रगट करना।
७- गर्हा=गुरुसाक्षी से दोषों का प्रगट करना।
८- शुद्धि=दोष होने पर प्रायश्चित लेकर विशुद्धि करना।

सापराध आत्मा निरन्तर... 'अनन्तैः' अनन्त पुद्गलपरमाणुरूप कर्मों से बँधता है;... आहाहा! जिसकी गिनती हो सकना कठिन, कहते हैं। वह राग को अपना माननेवाला, विकल्प को अपना अनुभव करनेवाला, भगवान एक ओर पड़ा रहा, उस जीव को, **निरन्तर अनन्त पुद्गलपरमाणुरूप कर्मों से बँधता है;...** कहो, वापस निरन्तर और अनन्त। राग का विकल्प है, वह मेरा है, ऐसा जो सेवन और आश्रय करता है, वह निरन्तर अनन्त परमाणुओं से (बँधता है)। आहाहा! एक समय का अपराध और परमाणु अनन्त बन्धरूप से होते हैं। समझ में आया?

स्वस्वरूप को भूलकर, और राग ही विकल्प है, वह मैं—ऐसा जो सापराधी प्राणी निरन्तर-अन्तर बिना-प्रतिसमय अनन्त पुद्गलपरमाणुरूप कर्मों से, गिनती नहीं इतने परमाणुओं की संख्या से बँधता है। आहाहा! कठिन है, भाई! समयसार (लो), चाहे जो लो, नियमसार लो, वस्तुस्थिति कोई अलौकिक है। आहाहा!

अन्दर समझने के लिये द्रव्य और पर्याय दो। आहाहा! द्रव्य ऐसा एक वज्र किला है कि पर्याय उससे ऊपर तैरती है। आता है? कलश में, पहले कलश में शुरुआत में (आता है)। द्रव्य के ऊपर पर्याय तैरती है, ऊपर तैरती है। आहाहा! आता है न, पहले शुरुआत में? आहाहा! पर्याय का प्रवेश द्रव्य में है ही नहीं, तथापि पर्याय द्रव्य को पूरा जाने बिना रहती नहीं। आहाहा! ऐसी चीज़ साधारण लोगों को तो कठिन पड़े, ऐसा कठिन लगे।

बँधता है; निरपराध आत्मा बन्धन को कदापि स्पर्श नहीं करता। स्पर्शे तो कोई छूता नहीं, स्पर्शता नहीं। बँधता नहीं और नहीं स्पर्शता ऐसा कहने में आता है। यों तो आत्मा कहीं बन्धन-जड़ को स्पर्शता नहीं। परमाणु को आत्मा कहीं स्पर्शता नहीं, छूता नहीं। यह तीसरी गाथा में आ गया है। प्रत्येक द्रव्य अपने धर्म अर्थात् गुण-पर्याय को स्पर्श करता है, चुम्बन करता है परन्तु पर को चुम्बन नहीं करता। आहाहा! यहाँ स्पर्श का अर्थ यह (कि) बन्धन में नहीं आता, बन्धन को कदापि प्राप्त नहीं होता, ऐसा। स्पर्श नहीं करता, इसका अर्थ यह। निरपराधी आत्मा रागरहित चीज़ निर्मलानन्द प्रभु ऐसा पर्याय में भान हुआ, ऐसा निरपराधी आत्मा। आहाहा! वह कर्म से नहीं बँधता, ऐसा। स्पर्श नहीं करता का अर्थ यह है।

जो सापराध आत्मा है, वह तो नियम से अपने को अशुद्ध सेवन करता

हुआ... आहाहा! अशुद्ध सेवन करता हुआ अर्थात् आत्मा को अशुद्ध सेवन करता हुआ, पर्याय अशुद्ध है, उसे सेवन करता हुआ, वह सेवन करता हुआ, ऐसा कहते हैं। पर्याय में राग है, विकल्प है, उसे सेवन करता हुआ, वह अशुद्ध आत्मा को सेवन करता हुआ—ऐसा कहने में आता है। आहाहा! स्वयं को अशुद्ध सेवन करता हुआ—ऐसा कहने में आता है। अपने को अर्थात् द्रव्य को नहीं। पर्याय में राग को सेवन करता है, वह अपनी पर्याय में सेवन करता है, इसलिए अपना-अशुद्धता का आश्रय लेता है, वह सापराधी है, वह अपराधी, गुनहगार है। आहाहा!

निरपराध आत्मा तो भलीभाँति... 'साधु' का अर्थ किया है। **निरपराध आत्मा तो... 'साधु'** अर्थात् **भलीभाँति... 'शुद्धात्मसेवी भवति' शुद्ध आत्मा का सेवन करनेवाला होता है।** आहाहा! सेवन करनेवाले का अर्थ आश्रय, सेवन करनेवाले की व्याख्या ही आश्रय है। आहाहा! उसे सेवन करनेवाला कहते हैं, अनुभव करनेवाला कहते हैं, अनेक भाषा आती है। आहाहा! नियम से निरपराधी आत्मा भलीभाँति, ऐसा। शुद्ध आत्मा को सेवन करनेवाला होता है। शुद्ध आत्मा को ही अपना जानता है। राग के विकल्प को अपना नहीं जानता। आहाहा! शुद्धपर्याय है, उसे अपनी जानता है। वह शुद्धपर्याय, वही मैं हूँ, आत्मा वही है परन्तु अशुद्ध है, वह मैं नहीं और जो अशुद्ध है, वह मैं हूँ - ऐसा मानता है, वह अपराधी, गुनहगार है। आहाहा! ऐसी बात जगत को कठिन पड़ती है। मूल बात तो यह है। अब विषय बदलता है।

(यहाँ व्यवहारनयावलम्बी अर्थात् व्यवहारनय को अवलम्बन करनेवाला तर्क करता है कि-) 'शुद्ध आत्मा की उपासना का प्रयास (प्रयास) करने का क्या काम है? पहले प्रतिक्रमण करे नहीं! यह व्यवहार का प्रतिक्रमण, व्यवहार, व्यवहार से शुद्ध होगा, सीधे शुद्ध.. शुद्ध.. शुद्ध.. करने, कहने लगते हो। ऐसा कहता है। **'शुद्ध आत्मा की उपासना का प्रयास करने का क्या काम है? क्योंकि प्रतिक्रमण आदि से ही आत्मा निरपराध होता है;..** प्रतिक्रमण (अर्थात्) यह व्यवहार प्रतिक्रमण, हों! व्यवहार प्रतिक्रमण, व्यवहार प्रतिमा आदि, वन्दन, इनसे आत्मा शुद्ध होगा, निरपराध होगा।

क्योंकि सापराध के, जो अप्रतिक्रमण आदि हैं वे, अपराध को दूर करनेवाले न होने से,... अपराधी जीव को अप्रतिक्रमण अर्थात् अभी शुभ में आता नहीं, अशुभ में

है, ऐसे जीव को **अपराध को दूर करनेवाले न होने से, विषकुम्भ हैं,...** उसे तो विषकुम्भ जहर है। शुभभाव में नहीं आता और अशुभ में रहता है, उसे तो जहर का, जहर का घड़ा है। अशुभ, अशुभ, हों! यह तो व्यवहारनय को अवलम्बन करनेवाला कहता है। आहाहा! इसलिए जो सूत्र में **व्यवहार का कथन करनेवाले आचारसूत्र में भी कहा है कि-...** प्रतिक्रमण आदि अमृत है, ऐसा कहा है। व्यवहार प्रतिक्रमण, हों! व्यवहारसूत्र में व्यवहार प्रतिक्रमण को अमृत कहा है, इसलिए हमें पहले सेवन करने दो न। अब तुमने सीधे शुद्ध शुद्ध की कहाँ लगायी है, ऐसा कहते हैं। अपने व्यवहारसूत्र में कहा है। चरणानुयोग में व्यवहार प्रतिक्रमण, व्यवहार प्रतिमा, वन्दन, पूजा को सबको अमृत कहा है। वह तो करने दो पहले, बाद में शुद्ध हो जायेगा। आहाहा!

इसलिए जो प्रतिक्रमणादि हैं वे; अपराध को दूर करनेवाले होने से... कौन? व्यवहार प्रतिक्रमण। व्यवहार प्रतिक्रमण आदि आठ बोल हैं न नीचे? वे आठों ही बोल अपराध को दूर करनेवाले अर्थात् अशुभ को दूर करनेवाले हैं। व्यवहारालम्बी का पक्ष है। **अमृतकुम्भ हैं।** वे शुभभाव, अमृतकुम्भ है और शास्त्र में भी है, यह रहा शास्त्र में, देखो! चरणानुयोग में इस जगह है, इस जगह है। सर्वत्र है, अब सुन न! **व्यवहार का कथन करनेवाले आचारसूत्र में भी कहा है कि-**

अप्पडिकमणमपडिसरणं अप्पडिहारो अधारणा चेव।
अणियत्ती य अणिंदागरहासोही य विसकुम्भो।।१।।

यह निश्चय का अप्रतिक्रमण है व्यवहार अनादि का, अनादि का। अब व्यवहार प्रतिक्रमण यह।

पडिकमणं पडिसरणं परिहारो धारणा णियत्ती य।
णिंदा गरहा सोही अट्ठविहो अमयकुम्भो दु।।२।।

व्यवहारशास्त्र में, शुभभाव बिना का अशुभभाव है, उसे अप्रतिक्रमण कहा है और शुभभाव को व्यवहारशास्त्र में प्रतिक्रमण कहा है और शुभभाव को व्यवहारशास्त्र में अमृतकुम्भ कहा है। आहाहा! तो वह पहले करने दो न! सीधे शुभ-(अशुभ) दोनों ऐसे हैं, ऐसे हैं, ऐसा करके... अरे! सुन तो सही! आहाहा! लो है न? **अप्रतिक्रमण, अप्रतिसरण,**

अपरिहार, अधारणा, अनिवृत्ति, अनिन्दा, अगर्हा और अशुद्धि–यह (आठ प्रकार का) विषकुम्भ है। व्यवहारशास्त्र में अशुभभाव है, वह जहर का घड़ा है और शुभभाव १. प्रतिक्रमण–कृत दोषों का निराकरण। शुभभाव। २. प्रतिसरण–सम्यज़्त्वादि गुणों में प्रेरणा। शुभभाव। ३. परिहार – मिथ्यात्वादि दोषों का निवारणा–गृहित मिथ्यात्वादि। ४. धारणा–पंचनमस्कारादि मन्त्र, प्रतिमा इत्यादि बाह्यद्रव्यों के आलम्बन द्वारा चिज़ को स्थिर करना। व्यवहार धारणा, वह अमृत है। ५. निवृज़ि–बाह्य विषयकषायादि इच्छा में प्रवर्तमान चिज़ को हटा लेना। वह अमृत है शुभभाव। ६. निन्दा–आत्मसाक्षी पूर्वक दोषों का प्रगट करना। वह शुभभाव अमृत है। शिष्य का प्रश्न है, हों! ७. गर्हा–गुरुसाक्षी से दोषों का प्रगट करना। यह शुभभाव। ८. शुद्धि–दोष होने पर प्रायश्चिज़ लेकर विशुद्धि करना। शुभभाव। शास्त्र में यह अमृत कहा है, कहते हैं और तुमने सीधे शुद्धता.. शुद्धता.. शुद्धता (की बात) लगायी है।

मुमुक्षु : पुण्य–पाप को धो डाले, वह बात तो सरल लगे।

पूज्य गुरुदेवश्री : पुण्य और पाप दोनों एक जाति है। प्रवचनसार में कहा है न, एक गाथा में? दोनों विशेष माने वह गम्भीर संसार में गहरा उतरेगा। गहन, गहन संसार में गहरा उतरेगा। प्रवचनसार ७७ गाथा। पुण्य और पाप दो में विशेष मानेगा, विशेष अर्थात् अन्तर है – ऐसा मानेगा, शुभ और अशुभ दो में अन्तर है, ऐसा मानेगा, (वह) घोर संसार में हिडंती (भटकेगा) यह पाठ है। ऐसा है। वस्तुस्थिति ही ऐसी है, वहाँ वस्तु ही ऐसी है, अत्यन्त निर्मलानन्द प्रभु, जिसमें राग की गन्ध नहीं। जिस भाव से तीर्थंकरगोत्र बँधे, वह भाव भी राग है, वह भी जहर है, वह भी अधर्म है। आहाहा! वस्तुस्थिति ऐसी है।

व्यवहार शास्त्र में कहा हो, निश्चयसहित होता है। निश्चयसहित होता है, ऐसे व्यवहारवाले को इस निश्चय का आरोप करके अमृत कहा होता है। निश्चयसहित व्यवहार जिसका है, उसका निश्चय का अमृत का आरोप करके व्यवहार को अमृत कहा है और वह व्यवहारवाला पकड़ता है, देखो! इसमें कहा है या नहीं? परन्तु वह तो आरोपित करके अमृत कहा है। निश्चय का आरोप करके (कहा है)। आहा! अकेले सम्यक्त्व बिना के और शुद्ध बिना के शुभ की तो यहाँ बात ही नहीं है, वह तो अकेला संसार है। आहाहा! सूक्ष्म बात है। यह आया न?

ऊपर आठ बोल हैं। **निन्दा, गर्हा और शुद्धि–यह आठ प्रकार का अमृतकुम्भ है।**

उपरोक्त तर्क का समाधान करते हुए आचार्यदेव (निश्चयनय की प्रधानता से) गाथा द्वारा करते हैं– पहले उसने व्यवहारनय के शास्त्र का आधार दिया। व्यवहारनय के शास्त्र में कथन बहुत हैं। यह तो कहा नहीं, ग्यारहवीं गाथा में? – कि हस्तावलम्ब जानकर व्यवहार का (उपदेश) शास्त्र में जिनवर की आज्ञा में भी व्यवहार बहुत कहा है, परन्तु उसका फल संसार है। आता है न? आहाहा! ज़्या हो? वाद-विवाद से पार (पड़े ऐसा नहीं है) व्यवहार के कथन (आवें, इसलिए) यह (कहते हैं), इनने कहा यह बात सत्य है। व्यवहार के सूत्र में शुभभाव को अमृत कहा है। परन्तु किसे? जिसे निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान है, ऐसा सच्चा अमृत है, उसे शुभभाव को व्यवहार अमृत का आरोप दिया है। आहा! जिसे अज्ञान का भान ही नहीं, जिसे अभी धर्म ज़्या है (उसकी खबर नहीं), ऐसे अज्ञानी को शुभभाव तो अकेला जहर और जहर का घड़ा कहा है। आहाहा! ऐसा अब मानना... ऐसा जैनधर्म होगा ऐसा? बापू! जैनधर्म कोई अलौकिक है। जैनधर्म कोई वाड़ा नहीं, कोई पक्ष नहीं, वह तो वस्तु का पन्थ है, वस्तु का पन्थ है। आहाहा! उसके उज़र की गाथा।

गाथा - ३०६-३०७

अत्रोच्यते -

पडिकमणं पडिसरणं परिहारो धारणा णियत्ती य।
णिंदा गरहा सोही अट्ठविहो होदि विसकुंभो ।।३०६।।
अप्पडिकमणमप्पडिसरणं अप्परिहारो अधारणा चेव।
अणियत्ती य अणिंदागरहासोही अमयकुंभो ।।३०७।।

प्रतिक्रमणं प्रतिसरणं परिहारो धारणा निवृत्तिश्च।
निन्दा गर्हा शुद्धिः अष्टविधो भवति विषकुम्भः ।।३०६।।
अप्रतिक्रमणमप्रतिसरणमपरिहारोऽधारणा चैव।
अनिवृत्ति-श्चानिंदा-ऽगर्हा-ऽशुद्धि-रमृत-कुम्भः ।।३०७।।

यस्तावदज्ञानिजनसाधारणोऽप्रतिक्रमणादिः स शुद्धात्मसिद्ध्यभावस्वभावत्वेन स्वयमेवापराध-त्वाद्विषकुम्भ एव; किं तस्य विचारेण ?

यस्तु द्रव्यरूपः प्रतिक्रमणादिः स सर्वापराधविषदोषापकर्षणसमर्थत्वेनामृतकुम्भोऽपि प्रति-क्रमणाप्रतिक्रमणादिविलक्षणाप्रतिक्रमणादिरूपां तार्तीयीकीं भूमिमपश्यतः स्वकार्यकरणासमर्थत्वेन विपक्षकार्यकारित्वाद्विषकुम्भ एव स्यात्।

अप्रतिक्रमणादिरूपा तृतीया भूमिस्तु स्वयं शुद्धात्मसिद्धिरूपत्वेन सर्वापराधविषदोषाणां सर्वंकषत्वात् साक्षात्स्वयममृतकुम्भो भवतीति व्यवहारेण द्रव्यप्रतिक्रमणादेरपि अमृतकुम्भत्वं साधयति।

तयैव च निरपराधो भवति चेतयिता। तदभावे द्रव्यप्रतिक्रमणादिरप्यपराध एव। अतस्तृतीयभूमि- कयैव निरपराधत्वमित्यवतिष्ठते। तत्प्राप्त्यर्थ एवायं द्रव्यप्रतिक्रमणादिः।

ततो मेति मन्स्था यत्प्रतिक्रमणादीन् श्रुतिस्त्याजयति, किन्तु द्रव्यप्रतिक्रमणादिना न मुञ्चति, अन्यदपि प्रतिक्रमणाप्रतिक्रमणाद्यगोचरा-प्रतिक्रमणादिरूपं शुद्धात्मसिद्धिलक्षण-मतिदुष्करं किमपि कारयति। वक्ष्यते चात्रैव -

कम्मं जं पुव्वकयं सुहासुहमणेयवित्थरविसेसं।
तत्तो णियत्तदे अप्पयं तु जो सो पडिक्कमणं।।इत्यादि।।३०६-३०७।।

उपरोक्त तर्क का समाधान करते हुए आचार्यदेव (निश्चयनय की प्रधानता से) गाथा द्वारा करते हैं-

प्रतिक्रमण अरु प्रतिसरण त्यों परिहरण, निवृत्ति धारणा।
अरु शुद्धि, निंदा, गर्हणा, ये अष्टविध विषकुम्भ है।।३०६।।

अनप्रतिक्रमण अनप्रतिसरण, अनपरिहरण अनधारणा।
अनिवृत्ति, अनगर्हा, अनिंद, अशुद्धि अमृतकुम्भ है।।३०७।।

अन्वयार्थ : [प्रतिक्रमणं] प्रतिक्रमण, [प्रतिसरणं] प्रतिसरण, [परिहारः] परिहार, [धारणा] धारणा, [निवृत्तिः] निवृत्ति, [निन्दा] निन्दा, [गर्हा] गर्हा [च शुद्धिः] और शुद्धि-[अष्टविधः] यह आठ प्रकार का [विषकुम्भः] विषकुम्भ [भवति] है (क्योंकि इसमें कर्तृत्व की बुद्धि सम्भवित है)।

[अप्रतिक्रमणम्] अप्रतिक्रमण, [अप्रतिसरणम्] अप्रतिसरण, [अपरिहारः] अपरिहार, [अधारणा] अधारणा, [अनिवृत्तिः च] अनिवृत्ति, [अनिन्दा] अनिन्दा, [अगर्हा] अगर्हा [च एव] और [अशुद्धिः] अशुद्धि- [अमृतकुम्भः] यह अमृतकुम्भ है (क्योंकि इससे कर्तृत्व का निषेध है-कुछ करना ही नहीं है, इसलिए बन्ध नहीं होता)।

टीका : प्रथम तो जो अज्ञानी जनसाधारण (अज्ञानी लोगों को साधारण ऐसे) अप्रतिक्रमणादि हैं, वे तो शुद्ध आत्मा की सिद्धि के अभावरूप स्वभाववाले हैं, इसलिए स्वयमेव अपराधरूप होने से विषकुम्भ ही है; उनका विचार करने का क्या प्रयोजन है? (क्योंकि वे तो प्रथम ही त्यागने योग्य है।) और जो द्रव्यरूप प्रतिक्रमणादि हैं, वे सब अपराधरूपी विष के दोष को (क्रमशः) कम करने में समर्थ होने से अमृतकुम्भ हैं - (ऐसा व्यवहार आचारसूत्र में कहा है), तथापि प्रतिक्रमण-अप्रतिक्रमणादि से विलक्षण ऐसी अप्रतिक्रमणादिरूप तीसरी भूमिका को न देखनेवाले पुरुष को वे द्रव्यप्रतिक्रमणादि (अपराध काटनेरूप) अपना कार्य करने को असमर्थ होने से विपक्ष (अर्थात् बन्ध का) कार्य करते होने से विषकुम्भ ही है। जो अप्रतिक्रमणादिरूप तीसरी भूमि है वह, स्वयं शुद्धात्मा की सिद्धिरूप होने के कारण समस्त अपराधरूपी विष के दोषों को सर्वथा नष्ट करनेवाली होने से, साक्षात् स्वयं अमृतकुम्भ है और इसप्रकार (वह तीसरी भूमि)

व्यवहार से द्रव्यप्रतिक्रमणादि को भी अमृतकुम्भत्व साधती है। उस तीसरी भूमि से ही आत्मा निरपराध होता है। उस (तीसरी भूमि) के अभाव में द्रव्यप्रतिक्रमणादि भी अपराध ही है। इसलिए, तीसरी भूमि से ही निरपराधत्व है – ऐसा सिद्ध होता है। उसकी प्राप्ति के लिए ही यह द्रव्यप्रतिक्रमणादि हैं। ऐसा होने से यह नहीं मानना चाहिए कि (निश्चयनय का) शास्त्र द्रव्यप्रतिक्रमणादि को छुड़ाता है। तब फिर क्या करता है? द्रव्यप्रतिक्रमणादि से छुड़ा नहीं देता (अटका नहीं देता, सन्तोष नहीं मनवा देता); इसके अतिरिक्त अन्य भी, प्रतिक्रमण-अप्रतिक्रमणादि से अगोचर अप्रतिक्रमणादिरूप, शुद्ध आत्मा की सिद्धि जिसका लक्षण है ऐसा, अति दुष्कर कुछ करवाता है। इस ग्रन्थ में ही आगे कहेंगे कि-*कम्मं जं पुव्वकयं सुहासुहमणेयवित्थरविसेसं। तत्तो णियत्तदे अप्पयं तु जो सो पडिक्कमणं।।

(अर्थ : अनेक प्रकार के विस्तारवाले पूर्वकृत शुभाशुभकर्मों से जो अपने आत्मा को निवृत्त कराता है, वह आत्मा प्रतिक्रमण है।) इत्यादि।

भावार्थ : व्यवहारनयावलम्बी ने कहा था कि – 'लगे हुए दोषों का प्रतिक्रमणादि करने से ही आत्मा शुद्ध होता है, तब फिर पहले से ही शुद्धात्मा के आलम्बन का खेद करने का क्या प्रयोजन है? शुद्ध होने के बाद उसका आलम्बन होगा; पहले से ही आलम्बन का खेद निष्फल है।' उसे आचार्य समझाते हैं कि-जो द्रव्य प्रतिक्रमणादि हैं, वे दोषों के मिटानेवाले हैं, तथापि शुद्ध आत्मा स्वरूप जो कि प्रतिक्रमणादि से रहित हैं, उसके अवलम्बन के बिना तो द्रव्यप्रतिक्रमणादिक दोषस्वरूप ही हैं, वे दोषों के मिटाने में समर्थ नहीं हैं; क्योंकि निश्चय की अपेक्षा से युक्त ही व्यवहारनय मोक्षमार्ग में है, केवल व्यवहार का ही पक्ष मोक्षमार्ग में नहीं है, बन्ध का ही मार्ग है। इसलिए यह कहा है कि – अज्ञानी के जो अप्रतिक्रमणादिक हैं, सो तो विषकुम्भ है ही; उसका तो कहना ही क्या है? किन्तु व्यवहारचारित्र में जो प्रतिक्रमणादिक कहे हैं, वे भी निश्चयनय से विषकुम्भ ही हैं, क्योंकि आत्मा तो प्रतिक्रमणादि से रहित, शुद्ध, अप्रतिक्रमणादिस्वरूप ही है।

---

* गाथा ३८३-३८५; वहाँ निश्चयप्रतिक्रमण आदि का स्वरूप कहा है।

पडिकमणं पडिसरणं परिहारो धारणा णियत्ती य।
णिंदा गरहा सोही अट्ठविहो होदि विसकुंभो।।३०६।।

वह जो विषकुम्भ कहता था, वह शुभभाव बिना के अशुभभाववाले के मिथ्यादृष्टि जीव के कहता था। यहाँ सम्यग्दृष्टि जीववाले शुभभाव को विषकुम्भ कहा है। और

अप्पडिकमणमप्पडिसरणं अप्परिहारो अधारणा चेव।
अणियत्ती य अणिंदागरहासोही अमयकुंभो।।३०७।।

शुद्ध निश्चय के आश्रय की पवित्रता पर्याय में प्रगटी है। शुद्धपर्याय, उसे जहाँ आत्मा कहा था कि शुद्धपर्याय जो है, वही आत्मा है; उस शुद्धपर्याय को यहाँ अमृतकुम्भ कहा है और उस अमृत की अपेक्षा से शुभ वहाँ हो, उसे अमृत का आरोप देकर अमृत कहा है परन्तु जहाँ सम्यग्दर्शन और ज्ञान नहीं और मात्र शुभभाव में है, वह तो अकेला जहर है। आहाहा! अब ऐसा मार्ग। यह तो उगकर खड़े हुए हो वहाँ... यह करो.. यह करो.. यह करो.. यह करो.. ऐसी बातें (करे)। यहाँ तो कहते हैं, करना वहाँ मरना है। यह करूँ, यह करूँ, ऐसा जो विकल्प का कर्ता... आहाहा! वह तो ज्ञानस्वरूप भगवान (आत्मा) है, उसे कर्तापना सौंपना वह मिथ्यात्व है। चक्रवर्ती को महल में से, झाड़ू से गन्दगी साफ कर देना, (ऐसा कहने जैसा) है। आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई!

प्रतिक्रमण अरु प्रतिसरण त्यों परिहरण, निवृत्ति धारणा।
अरु शुद्धि, निंदा, गर्हणा, ये अष्टविध विषकुम्भ है।।३०६।।
अनप्रतिक्रमण अनप्रतिसरण, अनपरिहरण अनधारणा।
अनिवृत्ति, अनगर्हा, अनिंद, अशुद्धि अमृतकुम्भ है।।३०७।।

टीका :- प्रथम तो जो अज्ञानी जनसाधारण (अज्ञानी लोगों को साधारण ऐसे) अप्रतिक्रमणादि हैं... जिसे अभी मिथ्यादृष्टिपना है, अज्ञान है, जो राग को, पुण्य को धर्म मान बैठे हैं, ऐसे लोगों के तो **अप्रतिक्रमणादि हैं वे तो शुद्ध आत्मा की सिद्धि के अभावरूप स्वभाववाले हैं, इसलिए स्वयमेव अपराधरूप होने से विषकुम्भ ही**

है;... वे तो जहर है ही। मिथ्यादृष्टि शुभभाव करते हों और मिथ्यादृष्टिपना तो पड़ा है अन्दर, उसके शुभभाव को तो हम विषकुम्भ कहते हैं, वह तो जहर का घड़ा ही है, उसकी बात हम नहीं करते अब। आहाहा! ऐसी बात है। **उनका विचार करने का क्या प्रयोजन है?** अनादि से मिथ्यात्व में शुभभाव-शुभभाव करता है, वह तो अनादि भटकता है।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ३७५, गाथा-३०६ से ३०७ शनिवार, पौष शुक्ल ३
दिनाङ्क - २२-१२-१९७९

समयसार, ३०६ और ३०७ की टीका। थोड़ा चला है। फिर से **प्रथम तो जो अज्ञानी जनसाधारण (अज्ञानी लोगों को साधारण ऐसे) अप्रतिक्रमणादि हैं...** अर्थात् क्या? अनादि का जिसे अज्ञान और राग-द्वेषरूपी अप्रतिक्रमण है। अप्रतिक्रमण के दो भेद हैं। (१) अज्ञानी का अप्रतिक्रमण और (२) ज्ञानी का अप्रतिक्रमण। वह प्रतिक्रमण शुभभाव से रहित, वह ज्ञानी का अप्रतिक्रमण और शुभ तथा अशुभभाव दोनों मेरे ऐसे मिथ्यादृष्टि जीव का अनादि से अज्ञान है, वह अज्ञानी का अप्रतिक्रमण। वह अप्रतिक्रमण आदि है।

अर्थात् क्या कहते हैं? उसे पंच नवकार, पंच परमेष्ठी का स्मरण होता है, परमेष्ठी के जाप जपता है, दोष हो, उसका प्रायश्चित लेता है। ऐसा अनादि से अज्ञानी मिथ्यादृष्टि ऐसा करता है, वह तो अप्रतिक्रमण है, अज्ञान है, उसके साथ कुछ सम्बन्ध नहीं है। उसका यहाँ विचार करने की आवश्यकता नहीं है। आहाहा! मिथ्यादृष्टि अज्ञानी अनादि से पंच परमेष्ठी का भजन, मन्त्र, स्मरण, जप ऐसा करता है, तथापि मिथ्यादृष्टि उसे धर्म मानता है; इसलिए उसे द्रव्य अप्रतिक्रमण, अज्ञानी का द्रव्य अप्रतिक्रमण कहा है। आहाहा!

(वे तो प्रथम ही त्यागने योग्य है।) कहते हैं, वह विचार करने का क्या काम है? जो अकेला निश्चय बिना व्यवहार करता है, उसकी तो हम बात नहीं करते। समझ में आया? आत्मा सहजात्मस्वरूप अतीन्द्रिय आनन्द (स्वरूप है), उसके वेदन बिना, उसके

ज्ञेय बनाये बिना जो कुछ शुभक्रिया पंच परमेष्ठी को नमस्कार, वन्दन, प्रतिक्रमण आदि करे, उसकी तो हम यहाँ बात नहीं करते। वह तो अकेला जहर है। आहाहा! **(वे तो प्रथम ही त्यागने योग्य है।)**

और जो द्रव्यरूप प्रतिक्रमणादि हैं,... अब समकित के। मुनि के, समकिती के—आत्मज्ञानी के जो द्रव्य प्रतिक्रमण आदि पंच परमेष्ठी का स्मरण, मन्त्र, जाप, परमेष्ठी की पूजा इत्यादि जो द्रव्य प्रतिक्रमण है। **वे सब अपराधरूपी विष के दोष को (क्रमशः) कम करने में समर्थ होने से...** क्या कहा यह? जिसकी आत्मदृष्टि हुई है, आत्मज्ञान का अनुभव प्रत्यक्ष हुआ है, उस जीव को यह पंच परमेष्ठी का स्मरण, वन्दन इत्यादि सर्व अपराध के विष के दोषों को घटाने के लिये... अशुभ घटता है न? अशुभ, इस अपेक्षा से घटाने के लिये कहा। परन्तु किसे? कि निश्चय जिसकी दृष्टि अनुभव में हुई है, आत्मा का अनुभव है, उसे यह व्यवहार दोष घटाने में समर्थ कहने में आता है। समझ में आया? आहाहा! दोषों को घटाना न? मिटाना। वह मिटाने का अर्थ इस क्रम से मिटाना। अकेला मिटाना, ऐसा नहीं। निश्चय तो साथ में है ही। शुद्ध चैतन्य ज्ञाता-दृष्टा का अनुभव तो है ही, उसके साथ ऐसे द्रव्य प्रतिक्रमण आदि होते हैं, पंच परमेष्ठी का स्मरण आदि (होवे) तो वह अशुभ घटता है, इस अपेक्षा से दोष एक देश उसे घटाने को समर्थ है। आहाहा!

इसलिए उसे **अमृतकुम्भ हैं...** क्या कहा यह? ऐसा कि व्यवहार शास्त्रों में व्यवहार प्रतिक्रमण और व्यवहार भगवान की पूजा और स्मरण को अमृतकुम्भ कहा है। शिष्य ने प्रश्न किया था न? व्यवहार शास्त्र में तो उसे अमृतकुम्भ कहा है और तुम उसे जहर कहते हो, विषकुम्भ कहते हो। भाई! किस अपेक्षा से कहा है? भाई! व्यवहार शास्त्र में व्यवहार में निश्चयवाले को व्यवहार से अमृतकुम्भ है, ऐसा कहा है। समझ में आया? व्यवहार शास्त्र में भी निश्चय आत्मा के अनुभव निर्विकल्प दृष्टिवन्त को जो व्यवहार आता है, उसे अमृतकुम्भ व्यवहार शास्त्र में कहा है। **(ऐसा व्यवहार आचारसूत्र में कहा है)...** समझ में आया इसमें?

तथापि प्रतिक्रमण-अप्रतिक्रमणादि से विलक्षण... आहाहा! यह शुभभाव

मिथ्यादृष्टि का पंच (परमेष्ठी का) स्मरण आदि और प्रतिक्रमण व्यवहार समकिती का, समकिती का व्यवहार प्रतिक्रमण आदि पंच परमेष्ठी का स्मरण आदि। उससे **विलक्षण ऐसी अप्रतिक्रमणादिरूप तीसरी भूमिका को...** यह प्रतिक्रमण निर्मल की बात है। पहला अप्रतिक्रमण मिथ्यादृष्टि की अपेक्षा से था अनादि का। आहाहा! **ऐसी अप्रतिक्रमणादिरूप तीसरी भूमिका को...** ऐसी शुभ और अशुभ दोनों से रहित शुद्ध स्वरूप, उसको नहीं जाननेवाले को, उसे नहीं देखनेवाले को।

न देखनेवाले पुरुष को वे द्रव्यप्रतिक्रमणादि (अपराध काटनेरूप) अपना कार्य करने को असमर्थ होने से... क्या कहते हैं? जहाँ सम्यग्दर्शन आत्मा अनन्त ज्ञान, अखण्ड आनन्दकन्द ऐसे पूर्णानन्द की जहाँ अन्दर भान और दशा नहीं, उसकी तो बात क्या करे। समझ में आया? परन्तु जिसे पूर्णानन्द की दृष्टि है, आत्मज्ञान है, उसे भी व्यवहार प्रतिक्रमणादि तीसरी भूमि को, उसे तीसरी भूमि को नहीं देखनेवाले को तो व्यवहार प्रतिक्रमण भी नहीं कहा जाता। निश्चय द्रव्य को नहीं देखनेवाले को तो द्रव्य प्रतिक्रमण आदि नहीं कहते। है?

प्रतिक्रमण-अप्रतिक्रमणादि से विलक्षण... यह अप्रतिक्रमण अर्थात् अज्ञानी का अनादि का। और प्रतिक्रमण अर्थात् शुभभाव। इनसे **विलक्षण ऐसी अप्रतिक्रमणादिरूप तीसरी भूमिका को न देखनेवाले पुरुष को वे द्रव्यप्रतिक्रमणादि (अपराध काटनेरूप) अपना कार्य करने को असमर्थ होने से...** क्या कहते हैं? जिसे निश्चय स्वभाव आनन्दकन्द प्रभु है, उसका जहाँ अनुभव और भान नहीं है, उसे तो वह व्यवहार प्रतिक्रमण दोष घटाने को भी समर्थ नहीं है। वह तो यह तीसरी भूमिवाले को ऐसा कहते हैं, दोष घटाने को समर्थ, यह व्यवहार से कहने में आया है। समझ में आया? ऐसा अटपटा है।

अज्ञानी के जो अकेले द्रव्य प्रतिक्रमण, पाँच परमेष्ठी का स्मरण, प्रतिमा, मन्दिर स्थापन, मन्दिर पूजा, वह अप्रतिक्रमण अज्ञानी का, उसकी बात तो हम यहाँ नहीं करते। आहाहा! अब रही बात निश्चयवाले के व्यवहार प्रतिक्रमण की। वह निश्चयवाला जो है, दृष्टि निश्चय हुई है, उसका व्यवहार प्रतिक्रमण दोष घटाने को समर्थ है। तथापि तीसरी भूमि नहीं देखनेवाले को वह विषकुम्भ और जहर है। आहाहा! ऐसा है। आ गया था न अपने? आठ बोल आ गये हैं, आठ बोल आ गये हैं न?

कृत दोषों का निराकरण, सम्यक्त्वादि गुणों में प्रेरणा, मिथ्यात्व-रागादि दोषों का निवारण, पंच नमस्कारादि मन्त्र (जपना), प्रतिमा इत्यादि बाह्य द्रव्यों के आलम्बन द्वारा चित्त को स्थिर करना (ये सब शुभभाव), निवृत्ति-बाह्य विषय -कषायादि इच्छा में प्रवर्तमान चित्त को हटा लेना, ये शुभभाव, आत्मसाक्षी पूर्वक दोषों का प्रगट करना, ये शुभभाव है, गुरुसाक्षी से दोषों का प्रगट करना, ये शुभभाव है, शुद्धि-दोष होने पर प्रायश्चित लेकर विशुद्धि करना, ये शुभभाव है,... शुभ। परन्तु वह समकिती का शुभभाव दोष घटाने को व्यवहार से दोष अशुभ घटे, ऐसा कहा जाता है परन्तु तीसरी भूमि जहाँ नहीं है, उसे तो वह प्रतिक्रमण आदि दोष घटाने को जरा भी समर्थ नहीं है। समझ में आया? ऐसी बातें, लो!

तीसरी भूमिका को न देखनेवाले... आहाहा! निर्विकल्प भगवान आत्मा वीतरागमूर्ति प्रभु अकेला आनन्द का रसकन्द अकेला, वह जिसे अनुभव में नहीं, उसके तो द्रव्य जो व्यवहार प्रतिक्रमण आदि है, वह दोष घटाने को समर्थ नहीं है। दोष घटाने को समर्थ कहा था परन्तु किसे? सम्यग्दृष्टि पहली भूमिका, जिसे तीसरी भूमिका है, उसके व्यवहार को दोष घटाने को व्यवहार से कहा था। परन्तु जिसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान नहीं है, उसके व्यवहार प्रतिक्रमण के व्यवहार पंच मन्त्र आदि (दोष घटाने में समर्थ नहीं है)। आहाहा! है? **अपना कार्य करने को असमर्थ होने से...** आहाहा! यह द्रव्य का अपना कार्य वास्तव में निश्चयसहित होवे तो वह घटाने के लिये कार्य है। निश्चय दृष्टि होवे तो व्यवहार जो है, वह घटाने के लिये है, वह अपना कार्य निश्चय भूमिका बिना नहीं कर सकता और अकेला बन्ध का—जहर का काम करता है। आहाहा! समझ में आया?

मुमुक्षु : थोड़ा अटपटा तो लगता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : अटपटा लगता है? कहा न यह, कि अज्ञानी के अप्रतिक्रमण की बात तो हम विचार करते नहीं। मिथ्यादृष्टि जो पुण्य को धर्म माने, राग को धर्म माने—ऐसे मिथ्यादृष्टि की तो हम बात (करते नहीं)। उसका शुभभाव हो, उसे शुभभाव हो परन्तु उसकी तो हम बात करते नहीं। बाकी रहा वह समकिती, उसे आत्मज्ञान में भूमिका

आत्मज्ञान की हुई, तथापि स्थिर नहीं हो सकता तो उसे प्रतिक्रमण का व्यवहार, व्यवहार पंच (पंचपरमेष्ठी का) स्मरण आता है और वह व्यवहार दोष घटाने को समर्थ है। दोष घटाने को, हों! दोष का अभाव करने को नहीं। क्रम-क्रम से वह अशुभ घटता है, इसलिए हमने (कहा) परन्तु जो तीसरी भूमि नहीं, आत्मदर्शन और आत्मज्ञान नहीं, उसे तो वह व्यवहार दोष घटाने को समर्थ नहीं परन्तु अकेला जहर है। कहो, अब अटपटा कहाँ इसमें रहा? अटपटा नहीं है। समझ में आया या नहीं? आहाहा!

पहली बात तो यह की है। सीधी सादी भाषा है कि अनादि से आत्मा के अज्ञान के कारण अज्ञान की भूमिका में जो कुछ यह शुभभाव करे, उसका तो यहाँ हम विचार करते नहीं, वह तो अकेला जहर है। इसलिए उसका तो हम यहाँ विचार करते नहीं। अब विचार यह कहते हैं कि आत्मज्ञानसहित जिसे वह व्यवहार प्रतिक्रमण आदि होता है, उसे दोष घटाने को समर्थ है। घटाने को, हों! मिटाने को नहीं, घटाने को। परन्तु उसे भी—तीसरी भूमिका देखता हो उसे। जिसे सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान नहीं, उसके द्रव्य प्रतिक्रमण पंच परमेष्ठी का स्मरण, मन्त्र, जाप, प्रतिमापूजा, प्रतिमा का स्थापन, वह सब सम्यग्दर्शन बिना वह शुभभाव अपना कार्य करने अर्थात् दोष घटाने को समर्थ नहीं है। है?

द्रव्यप्रतिक्रमणादि (अपराध काटनेरूप) अपना कार्य करने को असमर्थ होने से विपक्ष (अर्थात् बन्ध का) कार्य... करता है। अकेला बन्ध का ही कार्य करता है। समझ में आया इसमें? आहाहा! भाषा तो सादी है परन्तु अब पकड़ना तो (इसको है)। अनादि का अज्ञानी जिसे कुछ आत्मज्ञान क्या है, वस्तु अन्दर पूरी पड़ी है प्रभु, परमेश्वर है, भगवान है, वीतराग है, त्रिलोकनाथ तीन लोक में उसके जैसी कोई बड़ी चीज़ नहीं है—ऐसा वह आत्मा है। उसकी जिसे अनादि से खबर नहीं है, एक अनादि से ली है, उसके जो शुभभाव हैं, उसकी तो हम बात नहीं करते। क्योंकि वह तो मिथ्यादृष्टि और शुभभाव, वह तो जहर चार गति में भटकनेवाला है। आहाहा! परन्तु जहाँ जोर देना है, वहाँ जोर नहीं देता, उसकी यह बात नहीं करते। अब जहाँ आत्मा पर जोर देना है, निर्विकल्प आत्मा की दृष्टि और ज्ञान जिसे हुए हैं, उसके व्यवहार पंच नमस्कार आदि हों, वह दोष घटाने को समर्थ है। परन्तु यदि उसे तीसरी भूमिका न हो, सम्यग्दर्शन-ज्ञान न हो तो वह दोष घटाने

का अपना कार्य करने में असमर्थ है। दोष घटाने का अपना कार्य करने में तीसरी भूमिका के अभाव में असमर्थ है। विपक्ष कार्य करता है अर्थात् बन्ध का काम करता है। घटाने के बदले अकेला विष का काम करता है। समझ में आया?

मुमुक्षु : ज्ञानी के व्यवहार से तो अज्ञान और दोष घटे।

पूज्य गुरुदेवश्री : कहा न, ज्ञानी का व्यवहार दोष घटाने को समर्थ है। निश्चय से तो वह जहर है परन्तु ऐसे अशुभ घटता है, इस अपेक्षा से और दृष्टि की अपेक्षा रखकर उसे जरा व्यवहार शास्त्र में अमृत कहा है। वह यहाँ अमृत है, उसका आरोप दिया है। बाकी वह भी है तो जहर ही। ज्ञानी के वह शुभभाव जहर है। आहाहा! पंच परमेष्ठी का स्मरण करे, मन्त्र जाप करे ॐ... ॐ... ॐ... ॐ... जाप करे, लो! णमो अरिहंताणं... णमो अरिहंताणं माला फिरावे। ऐसे अज्ञानी के अशुभभाव को तो हम विचार नहीं करते। मात्र ज्ञानी को जब अन्तर में स्थिर नहीं रह सकता, तो भी भान है कि मैं तो ज्ञाता-दृष्टा और आनन्द हूँ, ऐसे जीव को जो व्यवहार प्रतिक्रमण और व्यवहार पंच परमेष्ठी का स्मरण आता है, वह निश्चय यहाँ है, इसलिए उसे दोष घटाने को व्यवहार थोड़ा समर्थ है। जरा अशुभ घटता है न? उसे अशुभ घटता है। यहाँ मिथ्यात्व गया है, इसलिए उसे अशुभ घटता है। उसे इतना घटाने में समर्थ है, परन्तु उसे भी यदि तीसरी भूमिका में दृष्टि न रहे तो वह दोष घटाने का कार्य नहीं कर सकता, विपक्ष कार्य करता है अर्थात् बन्ध का काम करता है। आहाहा! ऐसा सब अटपटा है।

अभी तो आत्मा क्या, वह तो पड़ा रहा, आत्मा छोड़कर सब बातें (करे)। भक्ति करो और पूजा करो और प्रतिमा करो और स्थापना करो मन्दिर और पंच परमेष्ठी के जाप करो। आहाहा! टीका भी ऐसी बनायी है न! आहाहा!

उस तीसरी भूमि को नहीं देखनेवाले, सम्यग्दृष्टि के बिना पूरा आत्मा पूर्ण है, उसे नहीं देखनेवाले, नहीं माननेवाले और नहीं अनुभव करनेवाले ऐसे पुरुष को **वे द्रव्यप्रतिक्रमणादि...** जो व्यवहार प्रतिक्रमण पहले दोष घटाने को समर्थ कहा था, दोष घटाने को समर्थ कहा था, वही प्रतिक्रमण आदि **अपना कार्य करने को असमर्थ...** दोष घटाने का कार्य करने को असमर्थ। आहाहा! वह तो सम्यग्दर्शन हो, अनुभव हो, उसे

शुभभाव में अशुभ घटाने में समर्थ है। आहाहा! सामने है, पुस्तक है न? किस शब्द का अर्थ होता है? यहाँ तो ऐसी बात है, मूल रखकर बात है।

जहाँ आत्मज्ञान ही नहीं और आत्मदर्शन नहीं, निर्विकल्प प्रतीति अनुभव की नहीं, उस जीव के शुभभाव है, वह दोष घटाने को तो समर्थ नहीं परन्तु विपक्ष कार्य (अर्थात् कि) बन्ध करने को समर्थ है। आहाहा! तीसरी भूमि है, वह तो सर्वथा दोष को मिटाने में समर्थ है। दृष्टि सम्यग्दर्शन-ज्ञान आदि जो है, वह तो सर्व दोष को मिटाने को समर्थ है। उस जीव को जो व्यवहार होता है, वह दोष को क्रम से घटाने के लिये समर्थ है। आहाहा! और वह तीसरी भूमि यदि नहीं और यदि अकेला यह व्यवहार आदि उसे होवे तो जो घटाने का कार्य करता था, उसे नहीं कर सकता, बन्ध का कार्य करे, ऐसा स्वभाव है। आहाहा! समझ में आया? भाषा तो सादी है परन्तु बात चलती नहीं, इसलिए प्रवृत्ति... प्रवृत्ति... प्रवृत्ति... प्रवृत्ति... प्रवृत्ति, प्रवृत्ति बिना अन्दर अकेला अक्रिय भगवान है, स्वयं अक्रिय वस्तु है। पर्याय भले सक्रिय... अक्रिय कहलाये, राग की अपेक्षा से निर्मल पर्याय को अक्रिय कहा जाता जाता है, त्रिकाल की अपेक्षा से निर्मल पर्याय को सक्रिय कहा जाता है, परन्तु वस्तु जो है, वह तो अक्रिय ही है। त्रिकाल वस्तु जो है... आहाहा! वह पलटती नहीं, बदलती नहीं, घटती नहीं, बढ़ती नहीं, उसमें हीनाधिकता होती नहीं। आहाहा!

एकरूप वस्तु भगवान परमात्मा विराजता है, उसका जिसे ज्ञान नहीं और अकेला अनादि से अज्ञानी प्रतिक्रमण व्यवहार और पंच परमेष्ठी, मन्दिर और मन्दिर की पूजा और पंच परमेष्ठी का स्मरण और जाप... जाप... जाप जपो। आहाहा! ॐ कार.... उसका पत्र आया है। कितनी बार मैंने ओमकार जपा, महाराज! उसका फल क्या? ऐसा आया था। लाख-करोड़बार जपे न, आत्मा के ज्ञान बिना शुभभाव हो, वह अकेला बन्ध का कारण है। समझ में आया? आहाहा!

यह प्रतिक्रमणादि, यह प्रतिक्रमण अर्थात् पहले जो प्रतिक्रमण दोष घटाने को समर्थ कहा था, वही प्रतिक्रमणादि निश्चय बिना—तीसरी भूमिका बिना **अपना कार्य करने को असमर्थ...** व्यवहार का कार्य दोष घटाने में वह असमर्थ है। आहाहा! परन्तु **विपक्ष (अर्थात् बन्ध का) कार्य करते होने से विषकुम्भ ही है।** आहाहा! कितना समाहित

कर दिया इसमें! जिसे तीसरी भूमिका—पुण्य-पाप से, शुभ-अशुभ से रहित ऐसे आत्मा की जिसे दृष्टि और ज्ञान नहीं, उसके जितने प्रतिक्रमण, पंच परमेष्ठी स्मरण, मन्त्र-बन्त्र, जाप-जाप, भक्ति, व्रत, पूजा सब दोष को घटाने को, उसका कार्य वह घटाने का था निश्चय होवे तो, उसके बदले बन्ध का कारण होता है। घटाने का कार्य नहीं (करके) बन्ध का (कारण) होता है। आहाहा!

विषकुम्भ ही है। जो अप्रतिक्रमणादिरूप तीसरी भूमि है... शुभ और अशुभरहित। वह शुद्ध परिणाम जो है, पंच परमेष्ठी के स्मरणादि से रहित ऐसा जो शुभ-अशुभ रहित है। आहाहा! **वह, स्वयं शुद्धात्मा की सिद्धिरूप होने के कारण...** वह तो स्वयं उसका स्वरूप ही ऐसा है। **शुद्धात्मा की सिद्धिरूप होने के कारण समस्त अपराधरूपी विष के दोषों को सर्वथा नष्ट करनेवाली होने से,...** निश्चयसहित के व्यवहार को दोष घटाने के लिये कहा था। जरा अशुभ घटता है। यहाँ कहते हैं कि तीसरी भूमिका कैसी है? आहाहा! **समस्त अपराधरूपी विष के दोषों को सर्वथा नष्ट करनेवाली होने से,...** समझ में आया? इतने सब बोल अब याद रखना कहाँ? आहाहा!

कहते हैं कि तीसरी भूमिका ऐसी चीज़ है, शुभ-अशुभभावरहित आत्मा निर्विकल्प दृष्टि, निर्विकल्प ज्ञान, वीतरागी दृष्टि—ऐसा स्वभाव उसका है कि **समस्त अपराधरूपी विष के दोषों को...** निश्चयसहित व्यवहारवाले को व्यवहार, दोष घटाने को समर्थ कहा था। अब यहाँ तो तीसरी भूमिका को सर्व अपराधरूपी जहर के दोषों को **सर्वथा नष्ट करनेवाली होने से,...** ठीक! वह घटाने-बटाने का यहाँ नहीं अब। आहाहा!

समस्त अपराधरूपी विष... एक तो यह। पुण्य और पाप दोनों। और वे भी सर्वथा। उस व्यवहार में घटाने का था, निश्चयसहित व्यवहार में। यह अकेला निश्चय है। आत्मा दृष्टि में लिया है, निर्विकल्प वृत्ति हुई है, अनुभव में आनन्द वर्तता है, उसे जो कुछ शुभ है, वह उसे इस तीसरी भूमिकावाले को, तीसरी भूमिकावाले सहित व्यवहारवाले को दोष घटाने का कहा था। यहाँ तीसरी भूमिका सर्वथा, सर्व दोष को नाश करने में समर्थ है, (ऐसा कहा)। **सर्वथा नष्ट करनेवाली होने से,...** है? आहाहा! तीसरी भूमिका जो **स्वयं शुद्धात्मा की सिद्धि...** शुद्ध आत्मा पवित्र प्रभु निर्मलानन्द ऐसी जो प्रतीति सम्यग्दर्शन-

ज्ञान में हुई... आहाहा! वह उसे होने के कारण **समस्त अपराधरूपी विष के दोषों को...** विशिष्टता यह है। आहाहा! सर्व अपराधरूपी विष के दोष, जहर के दोष। यह पुण्य भी अपराधरूपी जहर है। आहाहा!

मुमुक्षु : ऊपर भी सर्व अपराधरूपी विष के दोष, यहाँ भी सर्व अपराधरूपी विष के दोष कहा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह भी विष के दोष हैं। अप्रतिक्रमणवाला अज्ञानी तो सर्वथा है।

मुमुक्षु : सर्व अपराधरूपी विष के दोष...

पूज्य गुरुदेवश्री : विष के दोषों को घटाने को कहा न। सर्व अपराधरूपी विष के (दोषों को) घटाने को। अर्थात् वह समकितसहित, समकितसहित राग शुभराग है, वह सर्व दोषों को घटाने को, सर्व अपराधरूपी विष के दोषों को घटाने को, परन्तु सर्व अपराधरूपी विष को सर्वथा घटाने को समर्थ नहीं है।

मुमुक्षु : ज्ञानी का व्यवहार पुण्य और पाप के दोनों दोषों को (घटाने में समर्थ है?)

पूज्य गुरुदेवश्री : दोनों का अभाव है। निश्चय, निश्चय। व्यवहार नहीं, निश्चय। ज्ञानी का व्यवहार सर्वथा दोष घटाने में (समर्थ) इतना। सर्वथा दोष नहीं। जितने दोष हैं, उतना अशुभ थोड़ा घटता है। वहाँ अकेला पुण्य है, पाप नहीं। आहाहा! ज्ञानी के व्यवहार में अकेला पुण्य है; इसलिए उसे दोष घटाने में कहने में आया है। यहाँ सर्वथा, वहाँ सर्व इतना कहा। अपराध को सर्व विशेषण है। यहाँ तो... आहाहा! **समस्त अपराधरूपी विष के दोषों को सर्वथा नष्ट करनेवाली होने से,...** ऐसा है। समझ में आया? निश्चय समकित और अनुभवसहित का व्यवहार, वह व्यवहार। व्यवहार कैसा है? दोष को सर्वथा नाश करनेवाला नहीं, दोष को घटाने में समर्थ है। सर्व दोष का अंश घटता है, अंश। और निश्चयसहित जो अकेला निश्चय है—तीसरी भूमिका है, वह सर्व दोषों को सर्वथा नष्ट करनेवाली है। आहाहा! है या नहीं? अन्दर है? आहाहा! गम्भीर टीका, अमृतचन्द्राचार्य की बहुत गम्भीर (टीका) है। आहाहा!

तीसरी भूमि है वह, स्वयं शुद्धात्मा की सिद्धिरूप होने के कारण... स्वयं शुद्ध आत्मा है, उसकी दृष्टि और ज्ञान में सिद्धि ही है। उसके कारण सर्व अपराधरूपी विष,

सर्व अपराध पुण्य-पाप सब, उसे **सर्वथा नष्ट करनेवाली होने से, साक्षात् स्वयं अमृतकुम्भ है... साक्षात् स्वयं अमृतकुम्भ है...** उस व्यवहार को अमृतकुम्भ कहा था। निश्चयवाले को व्यवहार शास्त्र में व्यवहार शुभभाव को अमृत कहा है, अमृत। व्यवहार शास्त्र में अमृत कहा, वह आरोप देकर (कहा है)।

मोक्षमार्गप्रकाशक में आता है न? निश्चय समकित है, उसे व्यवहार समकित का आरोप दिया जाता है। है राग; राग कोई समकित की पर्याय नहीं है परन्तु निश्चय समकित है, उसे व्यवहार समकित का आरोप राग में दिया जाता है, परन्तु जिसे निश्चय समकित नहीं है, उसे तो व्यवहार का भी आरोप नहीं दिया जाता। इसी प्रकार यहाँ जिसे निश्चय वस्तु है, उसे व्यवहार में दोष घटाने में, सर्व दोष थोड़ा घटाने को समर्थ है, सर्वथा दोष को नहीं। दोष को थोड़ा घटाने में समर्थ है। भले सर्व दोष हो, परन्तु सर्व दोषों को सर्वथा नहीं, सर्व दोषों को जरा घटाने में समर्थ है। निश्चय अनुभवसहित शुभभाव होवे उसे। और तीसरी भूमिका है, वह तो सर्व दोषों को सर्वथा नष्ट करनेवाली। आहाहा! यह ऐसा घर में कभी पढ़ा नहीं होगा। कहाँ निवृत्ति कहाँ है? आहाहा! यह तो दो गाथा है—३०६ और ३०७। आहाहा!

मुमुक्षु : शुभ होने पर भी शुभ को हेय माने तो दोष घटे?

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु हेय माने कब? यहाँ उपादेय हुआ हो तो हेय माने न? अकेला हेय आया कहाँ से? अन्तर शुद्ध स्वभाव के उपादेयरूप से जाने, तब राग को हेयरूप से जाने। अकेला ही राग दिखता है, वहाँ हेयरूप से कहाँ आया? वह तो जो है, वह है, वह उपादेय है वह तो। सूक्ष्म बात है, भाई! मार्ग बहुत सूक्ष्म।

मुमुक्षु : निश्चय प्रगट हो, तब ही व्यवहार हेय हुआ कहलाये?

पूज्य गुरुदेवश्री : तब ही व्यवहार कहलाये, और व्यवहार किसका कहलाये? तब दोष घटाने के लिये, दोष घटाने को, सर्वथा नहीं, दोष घटाने को (समर्थ है)। तीसरी भूमिका सर्व दोष सर्वथा मिटाने को अर्थात् नाश करने को (समर्थ है)। आहाहा! समझ में आया? सामने पुस्तक है, पढ़ना चाहिए, पढ़कर आना चाहिए।

हमारे विद्यालय में मास्टर थे, वे ऐसा कहते। तब पिहचत्तर वर्ष पहले की बात है।

जो पाठ तुम्हें लेना है, उसे पढ़कर मेरे पास आना। (उनके) स्त्री नहीं थी, अकेले थे, पकाते थे। वे पकावे और फिर छात्र विशेष-विशेष होशियार हो न (ऐसे) दो-तीन को बुलावे और उन्हें पकाते-पकाते सिखावे। यह जो सीखने को हो, वह ऐसा कहे कि पढ़कर आना। इसलिए तुम क्या उसमें से समझे और यहाँ से मैं क्या कहता हूँ, इसका अन्तर तुम्हें लगेगा। समझ में आया? आहाहा! एक था ब्राह्मण। नरोत्तम मास्टर था। पिचहत्तर वर्ष पहले की बात है। ७८ वर्ष (हुए)।

मुमुक्षु : गुरुदेव! हमें तो आप शिक्षा देते हो कि पढ़कर आना।

पूज्य गुरुदेवश्री : पढ़ना जो कहते हैं, ऐसा कहा। तो फिर उसने स्वयं क्या पकड़ा और यहाँ क्या निकलता है, उसका अन्तर (पता पड़े)। आहाहा! मैंने तो इसका अर्थ ऐसा निकाला था परन्तु यह तो अर्थ दूसरा निकला। उसे अन्तर पता पड़े, इसलिए अधिक धारणा में आवे। आहाहा!

समस्त अपराधरूपी विष के दोषों को सर्वथा नष्ट करनेवाली होने से,... उसमें सर्व दोष है परन्तु सर्व दोषों का घटानेवाला था; यहाँ सर्वथा है, वहाँ घटाने का था। वहाँ सर्व दोष है, वह यहाँ सर्व दोष है, इन सर्व दोष में दोनों समान हैं। उसमें घटाने में था, यहाँ नाश करने में (समर्थ) है। समझ में आया? आहाहा! इसकी परीक्षा ली जाती हो तो खबर पड़े कि यह कितना धारणा में है। आहाहा!

मुमुक्षु : ज्ञानी को दोनों दोष घटते है?

पूज्य गुरुदेवश्री : उसे दोष घटा है, उसे उसका व्यवहार सहज दोष घटाता है। शुभ है, उसे अशुभ घटता है। मिथ्यादृष्टि को स्वयं सब अशुभ है। मिथ्यादृष्टि स्वयं ही अशुभ है, उसमें अशुभ घटे कहाँ से? आहाहा! मिथ्यात्व स्वयं ही अशुभ है, इसलिए उसके शुभ में से अशुभ घटे, यह प्रश्न ही कहाँ है? इसलिए यहाँ ऐसा लिया है। मिथ्यादृष्टि के शुभभाव की तो हम बात करते ही नहीं। मात्र सम्यग्दृष्टि के शुभभाव की बात करते हैं, जिसे निश्चय सम्यग्दर्शन है, उसका व्यवहार सर्व दोष को, सर्व दोषों, परन्तु सर्व दोष का अंश-अंश घटाता है। यहाँ तीसरी भूमिका सर्वथा घटाती है, वह आंशिक घटाता है, तीसरी भूमिका सहित है इसलिए। आहाहा! समझ में आया?

मुमुक्षु : ज्ञानी को शुभ के बल से दोष घटते हैं या दृष्टि के बल से दोष घटते हैं ?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह दृष्टि का बल है, इसलिए घटते हैं। निश्चय से तो ऐसे घटते हैं। दृष्टि का बल है और उसके कारण यहाँ एक देश आंशिक घटते हैं। जहाँ दृष्टि नहीं, वहाँ तो जरा भी घटना-फटना (नहीं होता), स्वयं ही अशुभ है, वहाँ घटे क्या ? मिथ्यात्व स्वयं ही अकेला अशुभ है। आहाहा! लोगों को यह वीतराग मार्ग सुनना कठिन पड़ता है, सुना न हो। आहाहा! सम्प्रदाय में तो यह बात चलती है—यह करो... यह करो... यह करो... व्यवहार करो, दूसरी कुछ बात नहीं मिलती। भक्तिवालों को भक्ति चले, भक्ति करो परमेश्वर की और गुरु की खूब धुन लगाओ। कहते हैं, कि उस मिथ्यादृष्टि को वह धुन है, ऐसे के शुभभाव की तो हम बात करते नहीं। लो! आहाहा! परन्तु जो सम्यग्दृष्टि है, उसे सम्यक् का जोर आया है, इसलिए उसे यह जो शुभभाव है, उसमें यह अशुभ है, वह मिथ्यात्व अत्यन्त अशुभ है, वह तो नाश हो गया है; इसलिए उसके शुभ में अशुभ के दोष का अंश, अंश घटता है। और तीसरी भूमिका अकेली अनुभव करता है, उसे सर्व दोष सर्वथा (नाश करता है)। पहले को, सर्व दोषों को घटाता था। आहाहा!

मुमुक्षु : अशुभ का अभाव तो अकेले मुनि को ही होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : अशुभ का अभाव समकिती को होता है। शुभ और अशुभ दोनों निर्विकल्प अनुभव में नहीं है। और निर्विकल्प दृष्टि हुई, तथापि जब शुभभाव हो, तब उतना अशुभ घटा है, आंशिक घटा है। आहाहा! ऐसा मार्ग पकड़ना कठिन पड़े, वह कब रुचि में ले ? आहाहा! बाहर से मानकर बैठा जाए, जिन्दगी निकाले। आहाहा!

अब यह कहते हैं, देखो! **साक्षात् स्वयं अमृतकुम्भ है...** कौन ? तीसरी भूमिका, निर्विकल्प दशा, निर्विकल्प समकित, निर्विकल्प ज्ञान, वह साक्षात् अमृतकुम्भ है। यह क्या कहा ? साक्षात क्यों कहा ? कि व्यवहार शास्त्र में निश्चयवाले को व्यवहार अमृतकुम्भ कहा है परन्तु यह तो साक्षात् अमृतकुम्भ है। निश्चय का अनुभव है, वह तो साक्षात् अमृतकुम्भ है और निश्चय सहित जो व्यवहार है, उसे भी व्यवहार शास्त्र में (अमृतकुम्भ कहा है)। यह तो शिष्य का प्रश्न था, शिष्य का यह प्रश्न गाथा रखकर था कि व्यवहार में अमृतकुम्भ कहा है और तुमने यह क्या लगायी है अकेली ? जहर... जहर... जहर..

कह-कहकर (क्या लगा रखा है?) व्यवहार शास्त्र में अमृतकुम्भ कहा है न? यह तो पहला उसका प्रश्न है । भाई! यह व्यवहार अमृतकुम्भ कहा है, वह अमृतकुम्भ भगवान तीसरी भूमिका जिसे है, उसके व्यवहार को अमृतकुम्भ का आरोप दिया है। है तो वह भी जहर। आहाहा!

समकिती के शुभभाव को भी जहर कहा परन्तु अमृत का आरोप दिया, निश्चय अमृत हुआ है, उसका आरोप (दिया)। समकित निश्चय हुआ है, उसे देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा के राग को व्यवहार समकित कहते हैं तो अब राग कहाँ और व्यवहार समकित कहाँ? वह तो राग की पर्याय है, व्यवहार समकित, वह है तो राग की पर्याय है; वह कहीं समकित की पर्याय नहीं है। आहाहा! आता है न मोक्षमार्गप्रकाशक में? निश्चय और व्यवहार आभास। निश्चय, व्यवहाराभास में आता है। आहाहा! निश्चय अकेला है, उसकी बात अलग। निश्चयसहित व्यवहार होता है, यह बराबर है। उसे आंशिक घटता है और अकेला तीसरी भूमिका में रमता है, उसे सर्व दोष सर्वथा नष्ट हुए हैं। निश्चयवाला व्यवहार में है, उसे सर्व दोष आंशिक घटे हैं। आहाहा!

ऐसी बात है। **और इस प्रकार (वह तीसरी भूमि)...** देखा? जो पुण्य-पाप रहित का जो निर्विकल्प भाव सम्यग्दर्शन-ज्ञान और निर्विकल्प भूमिका **(वह तीसरी भूमि) व्यवहार से द्रव्यप्रतिक्रमणादि को भी अमृतकुम्भत्व साधती है।** देखा? तीसरी अमृतकुम्भ भूमि हुई है, इससे तीसरी भूमि की अपेक्षा से ही आत्मा... है न? **व्यवहार से द्रव्यप्रतिक्रमणादि को भी अमृतकुम्भत्व साधती है।** आहाहा! इस तीसरी भूमिकावाले के व्यवहार को अमृतकुम्भ कहा जाता है, ऐसा। परन्तु जिसे तीसरी भूमिका ही नहीं, उसे व्यवहार अमृतकुम्भ कहाँ से आया? आरोप से कहना है, परन्तु वह आरोप ही किसका करना? वस्तु निश्चय है नहीं, तो निश्चय का आरोप किसे देना? निश्चय होवे, उसे व्यवहार आवे, उसे आरोप दिया जाता है। निश्चय समकित हो, उसे देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा का राग; है राग, कहीं समकित की पर्याय नहीं है, तथापि उसे व्यवहार समकित कहा जाता है। इसी प्रकार इस तीसरी भूमिका बिना अकेला (व्यवहार) आवे उसकी बात नहीं है। तीसरी भूमिका है, उसे जो व्यवहार आवे, वह दोष को आंशिक

घटावे और तीसरी भूमिका तो अकेली अमृतकुम्भ है और उस तीसरी भूमिका सहितवाले का व्यवहार यह कहा। देखा?

व्यवहार से द्रव्यप्रतिक्रमणादि को भी अमृतकुम्भत्व साधती है। देखा? क्या कहा यह? इस प्रकार तीसरी भूमि अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान व्यवहार से वह तीसरी भूमि **व्यवहार से द्रव्यप्रतिक्रमणादि को भी अमृतकुम्भत्व साधती है।** ठीक! आहाहा! बात तो यहाँ (यह है कि) अकला आत्मा का आश्रय लिया, उसे फिर व्यवहार आवे, उसे घटाता है, ऐसा कहा जाता है। परन्तु जहाँ आत्मा का आश्रय ही नहीं, वस्तु भगवान तो वह है, आश्रय तो उसके सहारे जाता हूँ। आश्रय कहो, अवलम्बन कहो, आधार कहो। मूल चीज़ के पक्ष में तो चढ़ा नहीं तो उसे दूसरी चीज़ को अमृत का आरोप किस प्रकार देना? आहाहा! पहली चीज़ को अमृतकुम्भ के रास्ते चढ़ा है, उसके व्यवहार को तीसरी भूमिका अमृतकुम्भरूप से साधता है। है?

यह तीसरी भूमि व्यवहार से, व्यवहार से, हों! व्यवहार प्रतिक्रमण आता है न? यह द्रव्य प्रतिक्रमणादि को भी कैसे कहा? निश्चय अमृत तो स्वयं है परन्तु उस निश्चय भूमिका को भी; निश्चय है, इसलिए उसे भी व्यवहार से अमृतकुम्भपना साधता है। आहाहा! समझ में आया? **इस प्रकार वह तीसरी भूमि...** तीसरी भूमि अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र। व्यवहार से, वह तीसरी भूमि व्यवहार से। वह तीसरी भूमि... तीसरी भूमि अर्थात् क्या? सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र। आत्मा का आश्रय लिया है, वह दशा तीसरी भूमि। अकेला पर का आश्रय है, वह व्यवहार भूमि। इस निश्चय बिना की व्यवहार भूमि की बात यहाँ नहीं है। अब यहाँ तो निश्चय का, स्व का आश्रय लिया है परन्तु अभी अधूरा है, इसलिए जरा पर का आश्रय आता है, इससे भी तीसरी भूमिका अमृतस्वरूप है, वह स्वयं व्यवहार को व्यवहार से अमृतकुम्भरूप से साधती है। आहाहा!

अमृतकुम्भत्व साधती है। उस तीसरी भूमि से ही आत्मा निरपराध होता है। देखा? भले तीसरी वाले का व्यवहार हो परन्तु शुद्ध निरपराध तो तीसरी भूमिका से ही होता है। अकेले व्यवहार से निरपराधी नहीं होता। **तीसरी भूमि से ही...** तीसरी भूमि से ही, एकान्त लिया है। व्यवहार से तो नहीं। **आत्मा निरपराध होता है। उस (तीसरी भूमि)**

के अभाव में... आहाहा! निश्चय के अभाव में, स्व के आश्रय के अभाव में। जहाँ स्वद्रव्य का आश्रय नहीं, उसके अभाव में **द्रव्यप्रतिक्रमणादि भी अपराध ही है।** यह द्रव्यप्रतिक्रमण अपराध ही है। आहाहा! निरपराधी तो भगवान है, उसका आश्रय लिया है, वह निरपराध है। वह तीसरी भूमिका व्यवहार से अमृतकुम्भ कही जाती है। आहाहा! बाकी उसके अभाव में द्रव्यप्रतिक्रमण... आहाहा! पंच नवकार को गिनना, स्मरण करना। नाम ॐ... ॐ... ॐ... ॐ... जाप... जाप... (करना), पंच परमेष्ठी का जाप सवेरे से शाम तक चौबीस घण्टे (करे), वह सब निश्चय के **अभाव में द्रव्यप्रतिक्रमणादि भी अपराध ही है।** आहाहा! यह तो अभी का नहीं, यह तो हजार वर्ष पहले की टीका है। दो हजार वर्ष पहले का यह आशय है। अनादि का आशय यह है। आहाहा! वस्तुस्थिति ही अनादि की यह है। आहाहा!

इसलिए, तीसरी भूमि से ही निरपराधत्व है, ऐसा सिद्ध होता है। इसलिए तीसरी भूमि से ही निरपराधपना है। स्व का आश्रय लेकर जो दृष्टि-ज्ञान प्रगट हो, वही निरपराध है। अब जरा बात करते हैं। व्यवहार आता है। **उसकी प्राप्ति के लिए ही यह द्रव्यप्रतिक्रमणादि हैं।** इस द्रव्यप्रतिक्रमण के समय ही लक्ष्य तो द्रव्य पर होना चाहिए। प्राप्त तो द्रव्य को करना है। द्रव्यप्रतिक्रमण में वहीं का वहीं रुकना नहीं है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! क्या कहा? द्रव्यप्रतिक्रमण व्यवहार स्मरण पंच परमेष्ठी इत्यादि है। **उसकी प्राप्ति के लिए ही यह द्रव्यप्रतिक्रमणादि हैं।** निश्चय की प्राप्ति के लिये व्यवहार है। इसमें से निकालते हैं।

यहाँ तो ऐसा कहते हैं कि जहाँ निश्चय की दृष्टि हो, वहाँ व्यवहार होता है, तब ही उसे व्यवहार कहने में आता है और व्यवहार का सफलपना तब कहलाता है कि वहाँ से छूटकर निश्चय में आवे तो। यह अपने नियमसार में आ गया है। व्यवहार का सफलपना। जो व्यवहार शाम का प्रतिक्रमण करे, आचार्य ने जो प्रतिक्रमण बाँधा, उसे करे, परन्तु सफलपना कब? कि उससे रहित होकर निश्चय में आवे, तब सफलपना कहलाता है। आहाहा! नियमसार में यह शब्द है, नियमसार में आ गया है। आहाहा! **उसकी प्राप्ति के लिए ही यह द्रव्यप्रतिक्रमणादि हैं।** अर्थात् कि वहाँ रुकना नहीं परन्तु उसे

ही उसे छोड़कर निश्चय में जाना है। इसके लिए व्यवहार बीच में विकल्प आता है। आहाहा!

मुमुक्षु : वह साधन है न।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह साधन-फाधन यह व्यवहार, व्यवहार साधन आरोप। निश्चय साधन है, वहाँ व्यवहार साधन का आरोप (किया जाता है)। निश्चय अन्तर से राग से रहित का साधन है, उसे व्यवहार का यह साधन, व्यवहार का आरोप दिया जाता है। इसमें से बहुत अधिक निकलता है। निश्चय होवे उसे व्यवहार प्रतिक्रमणादि को व्यवहार प्रतिक्रमण कहलाता है। व्यवहार अमृतकुम्भ भी कहलाता है। आहाहा!

उसकी प्राप्ति के लिए... अर्थात् शुभ-अशुभ को छोड़कर जाना है तो तीसरी भूमिका में, परन्तु बीच में ऐसा विकल्प आता है, उसे छोड़कर निश्चय में जाए तो उसका सफलपना व्यवहार का कहलाता है। उसे छोड़कर जाए। आहाहा! इसलिए उससे प्राप्ति हो, ऐसा कहने में आता है। आहाहा! **ऐसा होने से यह नहीं मानना चाहिए कि (निश्चयनय का) शास्त्र द्रव्यप्रतिक्रमणादि को छुड़ाता है।** आहाहा! यह छुड़ाते हैं, ऐसा न मानो। **तब फिर क्या करता है? द्रव्यप्रतिक्रमणादि से छुड़ा नहीं देता...** उसे वहाँ अटकाता नहीं, वहाँ उसे खड़ा नहीं रखता।

(अटका नहीं देता, सन्तोष नहीं मनवा देता); इसके अतिरिक्त अन्य भी, प्रतिक्रमण-अप्रतिक्रमणादि से अगोचर... आहाहा! यह प्रतिक्रमण अर्थात् अज्ञान, हों पहले। प्रतिक्रमण-अप्रतिक्रमण, वह तीसरी भूमिका अप्रतिक्रमण वापस। यह अप्रतिक्रमण है अज्ञान का और बाद का अप्रतिक्रमण है, वह सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान। इन **प्रतिक्रमण-अप्रतिक्रमणादि से अगोचर अप्रतिक्रमणादिरूप, शुद्ध आत्मा की सिद्धि जिसका लक्षण है...** आहाहा! **ऐसा, अति दुष्कर कुछ करवाता है।** इस शुभ को छुड़ा नहीं देता परन्तु वहाँ से जाकर अन्दर में जाना, यह दुष्कर कराता है। यह कराता है। शुभ छोड़कर अशुभ में जाना, यह तो प्रश्न नहीं परन्तु शुभ में आया है, उसे वहाँ से छोड़कर अन्दर में जाया जाए, ऐसी बात करते हैं। विशेष कहेंगे.....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ३७६, श्लोक- १८८, १८९, गाथा-३०६ से ३०७ रविवार, पौष शुक्ल ५
दिनाङ्क - २३-१२-१९७९

३०६ और ३०७ का अन्तिम भाग है। **इस ग्रन्थ में ही आगे कहेंगे कि–** यह मोक्ष अधिकार है न? **'कम्मं जं पुव्वकयं सुहासुहमणेयवित्थरविसेसं। तत्तो णियत्तदे अप्पयं तु जो सो पडिक्कमणं।।' (अर्थ :– अनेक प्रकार के विस्तारवाले पूर्वकृत शुभाशुभ कर्मों से...)** पुण्य और पाप के भाव जो पूर्व में किये हों, वह शुभाशुभ कर्म, उनसे **(जो अपने आत्मा को निवृत्त कराता है, वह आत्मा प्रतिक्रमण है।)** आहाहा! शुभ-अशुभभाव से हटकर स्वभाव का आश्रय ले, उसे प्रतिक्रमण कहा जाता है। प्रतिक्रमण (अर्थात्) यह अकेली भाषा बोलना और उसका विकल्प, वह कहीं प्रतिक्रमण नहीं है। वस्तु स्वरूप की दृष्टि करके, यह तो पहली है, पश्चात् शुभाशुभभाव से निवृत्ति लेना और स्वभाव में रहना, इसका नाम प्रतिक्रमण है।

भावार्थ :– व्यवहारनयावलम्बी ने कहा था कि – 'लगे हुए दोषों का प्रतिक्रमणादि करने से ही आत्मा शुद्ध होता है,... क्या कहते हैं? व्यवहार के पक्षवाले ने ऐसा कहा था, व्यवहारनय के शास्त्र में ऐसा है कि व्यवहार प्रतिक्रमण, वह सब अमृत है और तुम जहर कहते हो। व्यवहार शास्त्र में व्यवहार प्रतिक्रमण, भगवान की प्रतिमा, पंच परमेष्ठी का स्मरण इत्यादि शुभभाव को व्यवहार शास्त्र में अमृत कहा है। आहाहा! है न? **तब फिर पहले से ही शुद्धात्मा के आलम्बन का खेद करने का क्या प्रयोजन है?** शुद्ध आत्मा अन्दर में एकदम लेना सीधे, ऐसा कष्ट उठाने का क्या काम है? शुभ है, वही अमृत है, शुभ क्रियाकाण्ड का भाव शुभ, वह अमृत है। व्यवहारनय में कहा है।

शुद्ध होने के बाद उसका आलम्बन होगा; पहले से ही आलम्बन का खेद निष्फल है।' उसे आचार्य समझाते हैं... ऐसा जिसे प्रश्न उठा हो, उसे समझाते हैं **कि– जो द्रव्य प्रतिक्रमणादि हैं, वे दोषों के मिटानेवाले हैं,...** निश्चयसहित। निश्चय सम्यग्दर्शन और ज्ञान शुद्ध चिदानन्द आत्मा के भान की भूमिका में स्थिर नहीं रह सके तो उसे शुभभाव आवे तो वह शुभभाव दोष के मिटानेवाले हैं। अशुभ दोष को मिटाते हैं परन्तु शुभ स्वयं है, उसे मिटाते नहीं, वह तो बन्ध का कारण है। आहाहा!

तथापि शुद्ध आत्मा स्वरूप जो कि प्रतिक्रमणादि से रहित हैं,... क्या कहते हैं ? व्यवहार प्रतिक्रमण, व्यवहार प्रतिमा, व्यवहार पंच स्मरण पाँच परमेष्ठी का, यह सब व्यवहार कब होता है कि शुद्ध आत्मा का स्वरूप, कि जो प्रतिक्रमणादि से रहित है। यह प्रतिक्रमण अर्थात् शुभभाव से रहित उसका स्वरूप है। आहाहा! जितना क्रियाकाण्ड का शुभभाव कहलाता है, उससे तो भगवान अत्यन्त भिन्न है। क्योंकि वह तो पुण्यतत्त्व है, यह आत्मतत्त्व है। दोनों तत्त्व का सामर्थ्य भिन्न-भिन्न है।

उसके अवलम्बन के बिना... त्रिकाली ज्ञायकमूर्ति प्रभु जो अनन्त बल का स्वामी, अनन्त गुण का विश्वासु, ऐसा जो आत्मा, **उसके अवलम्बन के बिना तो द्रव्यप्रतिक्रमणादिक दोषस्वरूप ही हैं,...** आहाहा! दोष-दोष की बात ली है, भाई! सर्वथा मिटाने, वह बात यहाँ नहीं ली है। दोष को जरा घटाता है। निश्चयसहित, सम्यग्दर्शन -ज्ञानसहित होवे तो अशुभभाव घटता है, अकेला घटाता है। और निश्चय का ज्ञान तथा स्थिरता हो, शुद्ध चैतन्यस्वरूप की रमणता (होवे) तो वह तो शुभाशुभ दोष को सर्वथा नष्ट करता है। आहाहा! ऐसी कठिन बात है।

भले कहते हैं कि निश्चय प्रतिक्रमणसहित। निश्चय अर्थात् आत्मा के अवलम्बन सहित शुभराग आवे, उसे व्यवहार से कहा जाता है, व्यवहार से दोष मिटाने का कारण कहा जाता है। **क्योंकि निश्चय की अपेक्षा से युक्त ही...** आहाहा! और उसके बिना, **उसके अवलम्बन के बिना तो द्रव्यप्रतिक्रमणादिक दोषस्वरूप ही हैं,...** आहा! जिसे यह आत्मा अन्दर निर्मल, निर्लेप परम परमेश्वर अनन्त आनन्द और ज्ञान से भरपूर है, उसका पूर्ण विश्वास सम्यग्दर्शन और अन्तर आनन्द का भाव (प्रगट हुआ हो) ऐसे सहित ही। आहाहा! इसके बिना तो दोष स्वरूप है, दोष मिटाने को समर्थ नहीं।

निश्चय की अपेक्षा से युक्त ही... अकेले निश्चय बिना व्यवहार को व्यवहार नहीं कहते हैं, ऐसा कहते हैं। जहाँ आत्मा निश्चय ज्ञान और आनन्द नहीं, ऐसे व्यवहार प्रतिक्रमण, व्यवहार वन्दना, भगवान की स्तुति, पंच परमेष्ठी का स्मरण, उसे निश्चय बिना हम व्यवहार नहीं कहते। आहाहा! **क्योंकि निश्चय की अपेक्षा से युक्त ही...** आहा! स्व के आश्रयसहित ही **व्यवहारनय मोक्षमार्ग में है,...** आहाहा! क्या कहा ? निश्चय

अर्थात् स्वद्रव्य चैतन्यमूर्ति अनन्त गुण, अनन्त ज्ञान और आनन्द का सागर, उसके अवलम्बन और आश्रय बिना अकेला व्यवहार (होवे), उसे व्यवहार नहीं कहते।

द्रव्यप्रतिक्रमणादिक दोषस्वरूप ही हैं, वे दोषों के मिटाने में समर्थ नहीं हैं; क्योंकि... द्रव्यप्रतिक्रमण (अर्थात्) यह व्यवहार करते हैं न? वह सब दोषरूप है, कहते हैं। दोष मिटाने को समर्थ है, ऐसा कहा था, वह किसको? इस निश्चय के बिना व्यवहार अकेला करे, उसको नहीं। आहाहा! आत्मा के शुद्ध अवलम्बन बिना जितने द्रव्य प्रतिक्रमण और प्रत्याख्यान व्यवहार पंच परमेष्ठी का स्मरण, जाप, णमो अरिहंताणं (बोले), वह सब निश्चय बिना अकेला जहर है, बन्ध का कारण है। आहाहा! है न?

उसके अवलम्बन के बिना तो द्रव्यप्रतिक्रमणादिक दोषस्वरूप ही हैं, वे दोषों के मिटाने में समर्थ नहीं हैं; क्योंकि निश्चय की अपेक्षा से युक्त ही... देखो! कितना स्पष्टीकरण किया है! **व्यवहारनय मोक्षमार्ग में है,...** अन्तर आलम्बनसहित। चैतन्यस्वरूप के आनन्द स्वरूप का अनन्त बल का धनी, ऐसा जिसे अन्तर में विश्वास दृष्टि में आया है, वह अनन्त बल है। उसमें वीर्य अनन्त है। उस अनन्त बल का धनी राग के आधीन न हो। वह स्वभाव के आधीन हो, ऐसी जिसे दृष्टि और अनुभव है, ऐसे जीव को व्यवहारनय मोक्षमार्ग में व्यवहार से कहने में आया है। आहाहा! निश्चयसहित हो तो उसे व्यवहार में व्यवहार कहने में आया है। निश्चय आत्मा का ज्ञान, दर्शन जिसे नहीं और प्रतिक्रमण और सब लाख कर-करके मर जाए, सूख जाए, वह सब दोषस्वरूप ही है। आहाहा!

आत्मज्ञान के बिना जितने क्रियाकाण्ड के राग की मन्दता की क्रिया करे, वह सब दोषस्वरूप है। क्यों? कि **निश्चय की अपेक्षा से युक्त ही व्यवहारनय मोक्षमार्ग में है,...** व्यवहार मोक्षमार्ग में है अर्थात् आत्मा का मोक्षमार्ग शुद्ध चैतन्य है, उसकी दृष्टि, ज्ञान हुए हैं, उसे राग की मन्दता का भाव होता है। ऐसे निश्चय मोक्षमार्ग में व्यवहार मोक्षमार्ग होता है। व्यवहारनय मोक्षमार्ग में होता है। अर्थात् है। है दोषरूप, है बन्ध का कारण परन्तु जहाँ निश्चय आत्मज्ञान है, वहाँ ऐसा व्यवहार होता है तो उसे व्यवहार कहने में आता है। है बन्ध का कारण। समकिती को भी दोष तो बन्ध का ही कारण है। आहाहा! शुभभाव

दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा, पाँच भगवान का स्मरण, वह सब निश्चय सम्यग्दर्शन बिना, निश्चय आत्मा के भान बिना सब दोषरूप है। आहाहा! ऐसा कठिन काम। यहाँ अभी तो आत्मा पड़ा रहा अकेला। बाहर के क्रियाकाण्ड में प्रवृत्ति करे, णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं, तिक्खुत्तो... हो गयी सामायिक।

यहाँ कहते हैं निश्चय के बिना व्यवहार अकेला दोषरूप है। निश्चयसहित होवे तो मोक्षमार्ग में वह व्यवहार आता है, आता है। ऐसा कहा न? देखो न? व्यवहार, मोक्षमार्ग में है। व्यवहार, वह मोक्षमार्ग है, ऐसा नहीं कहा। व्यवहार, मोक्षमार्ग में है। तब निश्चय का आश्रय लिया है, तब बीच में राग आता है, वह व्यवहार, मोक्षमार्ग में है इतना। आहाहा! कहो, समझ में आया? व्यवहार, (वह) मोक्षमार्ग नहीं। परन्तु मोक्षमार्ग में अंतर का अवलम्बन लेकर शुद्ध हुआ है, उसे व्यवहार है, उसे व्यवहारनय मोक्षमार्ग में निश्चयवाले को व्यवहार है। जहाँ निश्चय आत्मा का ज्ञान नहीं, उसे तो व्यवहार मात्र दोषस्वरूप है। आहाहा! कठिन काम। सब क्रिया प्रवृत्ति पूरे दिन सवेरे (से शाम) तक संसार की करे और एकाध घण्टे यह करे। सामायिक करे, प्रौषध, सायंकाल एक घण्टे प्रतिक्रमण कर ले, लो न! हो गये पापरहित। वे सब दोषस्वरूप है।

चैतन्यस्वरूप आनन्द सच्चिदानन्द प्रभु अनाकुल आनन्द का कन्द आत्मा है। अरेरे! आहाहा! आत्मा अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त आनन्द, अनन्त वीर्य, अनन्त शान्ति का पिण्ड आत्मा अन्दर है। आहाहा! उसकी दृष्टि और अनुभव बिना जितना क्रियाकाण्ड किया जाता है, वह सब क्रियाकाण्ड दोषस्वरूप है, आत्मा को जरा भी लाभदायक नहीं है। आहाहा! **निश्चय की अपेक्षा से युक्त ही व्यवहारनय मोक्षमार्ग में है,...** जहाँ आत्मा का अनुभव होता है, सच्चिदानन्द प्रभु अतीन्द्रिय आनन्दमूर्ति प्रभु है... आहाहा! अतीन्द्रिय ज्ञान से भरपूर भगवान आत्मा है, उसका अनुभव हुआ और अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आया। आत्मा अतीन्द्रिय आनन्दमय है, उस अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद आया, उसकी भूमिका में आवे, उसे व्यवहारनय कहने में आता है। आहाहा! ऐसा कठिन काम है।

केवल व्यवहार का ही पक्ष मोक्षमार्ग में नहीं है,... आत्मज्ञान, आत्मज्ञान बिना, आत्म अनुभव बिना केवल अकेला क्रियाकाण्ड जो व्यवहार, वह मोक्षमार्ग में है ही

नहीं। आहाहा! ऐसा कठिन काम है। मूल .... नहीं, भगवान है, उसमें अतीन्द्रिय आनन्द अनन्त पड़ा है, अनन्त ज्ञान है। अनन्त गुण का विश्वास करे, ऐसा अनन्त विश्वास नाम का वह गुण है। अनन्त विश्वास नाम का अर्थात् श्रद्धा नाम का गुण है। ऐसे अनन्त-अनन्त गुण को बल देनेवाला वीर्य है। ऐसा अनन्त बलवन्त ऐसा भगवान आत्मा, वह पुण्य और पाप, दया और दान के विकल्प से पार है। आहाहा! उसके भान बिना अकेला व्यवहार क्रियाकाण्ड है, वह अकेला दोषस्वरूप है। जरा भी लाभ नहीं, आत्मा के लिये जरा भी लाभ नहीं। आहाहा!

है? **केवल व्यवहार का ही पक्ष मोक्षमार्ग में नहीं है,...** आत्मा के अनुभव बिना, सम्यग्दर्शन बिना, आत्मज्ञान बिना अकेला व्यवहार का पक्ष, वह मोक्षमार्ग में नहीं है, **बन्ध का ही मार्ग है।** आहाहा! आत्मज्ञानरहित जितना क्रियाकाण्ड है, चाहे तो परमेश्वर की भक्ति हो, परमेश्वर की वाणी सुनता हो, परमेश्वर की वाणी विचारता हो, यह सब विकल्प और राग है, वह सब बन्ध के पक्ष में है। आहाहा! वे धर्म के पक्ष में नहीं। ऐसी कठिन बातें।

इसलिए यह कहा है कि – अज्ञानी के जो अप्रतिक्रमणादिक हैं... मिथ्यादृष्टि के जो अनादि के अशुभभाव अज्ञानसहित के जो हैं, वे तो अप्रतिक्रमण हैं, **सो तो विषकुम्भ है ही;...** अज्ञानी के अप्रतिक्रमणादि हैं, वह तो जहर है। आहाहा! **उसकी तो बात ही क्या करना?** जिसे आत्मा का अवलम्बन नहीं आया, आत्मा का भान नहीं आया, ऐसे आत्मज्ञानरहित क्रियाकाण्डियों की तो हम बात करते ही नहीं। क्योंकि वे तो अकेले बन्ध में, जहर में पड़े हैं। प्रभु अमृतस्वरूप है, आत्मा अन्दर अमृत का सागर है। उससे विकल्प जितना उठता है—चाहे तो दया, दान और भगवान की भक्ति की वृत्ति उठे, वह वृत्ति उठे, वह जहर है। आत्मा अमृत सागर के समक्ष वह जहर है। आहाहा!

उसका तो कहना ही क्या है? किन्तु व्यवहारचारित्र में जो प्रतिक्रमणादिक कहे हैं,... उसने प्रश्न किया था न? कि व्यवहार शास्त्र में इस प्रतिक्रमण को शुभभाव को तो अमृत कहा है, अमृतकुम्भ कहा है। अमृतकुम्भ तो क्यों (कहा)? कि **व्यवहारचारित्र में जो प्रतिक्रमणादिक कहे हैं, वे भी निश्चयनय से विषकुम्भ ही हैं,...** है तो जहर,

विषकुम्भ, विष का-जहर का घड़ा है। अरर्र! ऐसी बात। आत्मज्ञान, जो अन्दर देह से तो भिन्न है, परन्तु अन्दर में पुण्य और पाप के शुभ-अशुभभाव से भी भिन्न है, ऐसे स्वस्वरूप का जिसे ज्ञान नहीं है, स्वस्वरूप का जिसे आनन्द का स्वाद आया नहीं है, ऐसे को **निश्चयनय से विषकुम्भ ही हैं,...** यह रागादि बन्ध। और ज्ञानी को भी व्यवहार विषकुम्भ ही है। आहाहा! है?

वे भी निश्चयनय से विषकुम्भ ही हैं,... ज्ञानी को भी। अज्ञानी की तो बात क्या करना! वह तो जहर है अकेला। श्रद्धा से जहर है और चारित्र से भी शुभभाव जहर है। यहाँ निश्चय की दृष्टिवन्त को भी जितने शुभभाव प्रतिक्रमण आदि के होते हैं, उसे भी विषकुम्भ ही कहा है, जहर का घड़ा कहा है। आहाहा! अब इसमें निर्णय करने का समय नहीं मिलता कि यह क्या सत्य है, क्या असत्य है? धन्धे के कारण निवृत्ति नहीं मिलती, पाप का धन्धा पूरे दिन। आहाहा!

यहाँ कहते हैं, प्रभु! एक बार थोड़ी निवृत्ति ले। आहाहा! अनन्त काल में मुश्किल से मनुष्यपना मिला है, अनन्त भव कर चुका है, प्रभु! आहाहा! एक-एक भव, चौरासी लाख योनि में एक-एक योनि में अनन्त भव किये हैं। आहाहा! नरक के अनन्त, मनुष्य के अनन्त, देव के अनन्त, चींटी के अनन्त, कौवे के अनन्त, कुत्ते के अनन्त, अभी तक अनन्त-अनन्त भव किये, प्रभु! इस भव से पहले भव... भव... भव... भव... भव... भव... भव... भव... कभी भवरहित नहीं हुआ। आहाहा! तो यह भवरहित होने की क्रिया कोई अलौकिक होनी चाहिए न! यह भगवान की पूजा की और भक्ति की और घण्टा बजाकर जय नारायण! वह कोई धर्म नहीं। वह तो एक अशुभभाव से बचने को शुभभाव आता है। समझ में आया? अशुभभाव से बचने के लिये ज्ञानी को (शुभभाव आता है)। अज्ञानी की तो बात है ही नहीं, कहते हैं। आहाहा!

ज्ञानी को आत्मज्ञान है, उसे भी भक्ति, भगवान का स्मरण ऐसा शुभभाव आता है, वह अशुभ से बचने के लिये (आता है) परन्तु है दोषस्वरूप। वह शुभभाव भी ज्ञानी को भी है दोषस्वरूप, परन्तु यह दोषस्वरूप अशुभ से बचने के लिये आता है। आहाहा! ऐसी बातें! हैं? चरणानुयोग में जितनी क्रियाकाण्ड की व्याख्या आती हो, वह सब निश्चयनय

से तो कहते हैं, जहर है। आहाहा! अज्ञानी की तो बात करते ही नहीं परन्तु ज्ञानी को भी आत्मज्ञान में स्थिरता नहीं रह सकती, तब उसे अशुभ से बचने के लिये भक्ति-पूजा-नामस्मरण का शुभभाव आता है परन्तु उसे भी दोषस्वरूप है, उसे भी बन्ध का कारण है। आहाहा!

जितना आत्मा (का) आश्रय हुआ है, उतना अबन्ध है; जितना पर का आश्रय रहता है, उतना बन्ध है, ऐसी मिश्र अवस्था है। पूर्ण दशा होने पर अकेला आत्मा (का) आश्रय है, वहाँ रागादि नहीं है। केवली की किसी की भक्ति करना, विनय करना, नमस्कार करना, यह केवली को नहीं होता। समझ में आया? 'गुरु रह्या छद्मस्थ पण विनय करे भगवान' आता है न? ऐसा नहीं है। यह श्वेताम्बर की झलक है। केवली हों, उन्हें फिर... केवल चैतन्यज्योति जलहल स्वभाव जो भरा है, वह पर्याय में उछल गया, पूरा आ गया। केवलज्ञान, केवलदर्शन, अनन्त आनन्द, अनन्त वीर्य, अनन्त शान्ति, उसे अब वन्दन किसे करना? और उसे वह कोई क्रिया होती नहीं। आहाहा! समझ में आया?

क्योंकि आत्मा तो प्रतिक्रमणादि से रहित,... प्रभु तो शुभभाव से रहित है। शुभभाव है, वह तो पुण्य में जाता है, अशुभभाव है हिंसा, झूठ, चोरी, विषय, भोग, वासना वह पाप में जाता है। दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा, वह पुण्य में जाता है, वह कोई आत्मा नहीं है। वह तो विकल्प है, वे तो वृत्तियाँ उठती हैं। आहाहा! **आत्मा तो प्रतिक्रमणादि से रहित, शुद्ध, अप्रतिक्रमणादिस्वरूप ही है।** यह अप्रतिक्रमणस्वरूप, वह पवित्र है। अज्ञानी का अप्रतिक्रमणस्वरूप अकेला पाप है। शब्द दोनों को अप्रतिक्रमण है। परन्तु अज्ञानी का अप्रतिक्रमण अकेला मिथ्यात्वसहित अकेला जहर है और यह ज्ञानी का अप्रतिक्रमण अर्थात् कि पुण्य से रहित, शुभ से रहित स्वभाव में स्थिरता, वह अप्रतिक्रमण है—तीसरी भूमि है।

कलश - १८८

अब इस कथन का कलशरूप काव्य कहते हैं-

(मालिनी)

अतो हता: प्रमादिनो गता: सुखासीनतां,
प्रलीनं चापल-मुन्मूलित-मालम्बनम्।
आत्मन्ये-वालानितं च चित्तमा-
सम्पूर्ण - विज्ञान - घनोप - लब्धे:॥१८८॥

श्लोकार्थ : [अत:] इस कथन से, [सुख-आसीनतां गता:] सुखासीन (सुख से बैठे हुए) [प्रमादिन:] प्रमादी जीवों को [हता:] हत कहा है (अर्थात् उन्हें मोक्ष का सर्वथा अनधिकारी कहा है), [चापलम् प्रलीनम्] चापल्य का (अविचारित कार्य का) प्रलय किया है (अर्थात् आत्मप्रतीति से रहित क्रियाओं को मोक्ष के कारण में नहीं माना, [आलम्बनम् उन्मूलितम्] आलम्बन को उखाड़ फेंका है (अर्थात् सम्यग्दृष्टि के द्रव्य प्रतिक्रमण इत्यादि को भी निश्चय से बन्ध का कारण मानकर हेय कहा है), [आसम्पूर्ण-विज्ञान-घन-उपलब्धे:] जब तक सम्पूर्ण विज्ञानघन आत्मा की प्राप्ति न हो तब तक [आत्मनि एव चित्तम् आलानितं च] (शुद्ध) आत्मारूपी स्तम्भ से ही चित्त को बाँध रखा है (अर्थात् व्यवहार के आलम्बन से अनेक प्रवृत्तियों में चित्त भ्रमण करता था उसे शुद्ध चैतन्यमात्र आत्मा में ही लगाने को कहा है क्योंकि वही मोक्ष का कारण है)॥१८८॥

कलश - १८८ पर प्रवचन

अब इस कथन का कलशरूप काव्य कहते हैं-

अतो हता: प्रमादिनो गता: सुखासीनतां,
प्रलीनं चापल-मुन्मूलित-मालम्बनम्।
आत्मन्ये-वालानितं च चित्तमा-
सम्पूर्ण - विज्ञान - घनोप - लब्धे:॥१८८॥

इस कथन से,.. 'सुख-आसीनतां गताः' सुखासीन (सुख से बैठे हुए) प्रमादी जीवों को हत कहा है... आहाहा! जिसे कुछ आत्मा का ज्ञान भी नहीं और व्यवहार से शुभ नहीं, ऐसे अज्ञानियों को तो हत् कहा है। आहाहा! प्रभु! तू कहाँ जाएगा? देह छूटकर आत्मा कहीं नाश हो, ऐसा नहीं है। आत्मा तो अन्दर अविनाशी है। यह देह नाशवान है, वह राख होगी। फिर तू कहाँ जाएगा? किस जगह निवास करेगा? अज्ञानी को इसका विचार भी नहीं होता। आहाहा! ऐसे जीवों को तो हत कहा है। हत अर्थात् धिक्कारनेयोग्य। आहाहा! उन्हें उस आत्मा का कुछ विचार भी नहीं कि अरे! आत्मा है अन्दर, सत्ता है, सत् है, अस्तित्व है, उसमें गुण जो शक्ति है, अनन्त शक्तियाँ भरी हैं। ऐसी अनन्त शक्ति का सागर नाथ, उसका तुझे विचार नहीं, विकल्प नहीं। ऐसे जीवों को तो हत—तिरस्कार कहा है। है न? **(अर्थात् उन्हें मोक्ष का सर्वथा अनधिकारी कहा है),..** आहाहा!

चापल्य का (अविचारित कार्य का) प्रलय किया है (अर्थात् आत्मप्रतीति से रहित क्रियाओं को मोक्ष के कारण में नहीं माना),... आहाहा! भगवान आत्मा का जहाँ ज्ञान नहीं, आत्मज्ञान नहीं, उस आत्मभान के बिना जितनी क्रिया है, चाहे तो भगवान के स्मरण और लाखों-करोड़ों रुपये मन्दिर के लिये खर्च करे, मन्दिर बनावे, विशाल शोभायात्रा निकाले और करोड़ों रुपये खर्च करे। उस आत्मभानरहित क्रिया को मोक्ष के कारण में गिना नहीं है, वह क्रिया मोक्षमार्ग में नहीं है। आहाहा! ऐसा काम है।

'आलम्बनम् उन्मूलितम्' आलम्बन को उखाड़ फेंका है (अर्थात् सम्यग्दृष्टि के द्रव्य प्रतिक्रमण इत्यादि को भी निश्चय से बन्ध का कारण मानकर हेय कहा है),... क्या कहा यह? कि सम्यग्दृष्टि को भी पर के आलम्बन से बन्ध होता है, ऐसा निषेध करके वह आलम्बन छुड़ा दिया है, उखाड़ डाला है। जितना परद्रव्य का आश्रय होगा... यह तो मोक्षपाहुड़ में बहुत बार कहते हैं। सोलहवीं गाथा **'परदव्वादो दुग्गई सद्दव्वादो हु सुग्गई'** ऐसे दो शब्द पड़े हैं। कुन्दकुन्दाचार्य। **'परदव्वादो'** जितने हम देव और गुरु, शास्त्र हैं, वह हमारे सामने जितना देखकर राग होता है, वह सब चेतनगति को बिगाड़ता है। आहाहा! कठिन बातें। देव, गुरु और शास्त्र ऐसा कहते हैं, हम तुझसे परद्रव्य

हैं। हमारे ऊपर जितना तेरा लक्ष्य जाएगा, (उतना) राग होगा। उसे—राग को दुर्गति कहा है। राग से भले कोई पैसा मिले, यह धूल के सेठिया कहलाये और कोई देव हो, तथापि उसे गिनती में गिना नहीं है। आहाहा!

आलम्बन को उखाड़ फेंका है (अर्थात् सम्यग्दृष्टि के द्रव्य प्रतिक्रमण इत्यादि को भी निश्चय से बन्ध का कारण मानकर हेय कहा है),... आहाहा! समकिती है, ज्ञानी है, उसे भी व्यवहार का आलम्बन आता है, तथापि उस आलम्बन को बन्ध का कारण गिनकर हेय कहा है। भाव आता है, पूर्ण वीतराग न हो तो आत्मज्ञानसहित भूमिका में ऐसा राग होता है, तथापि उस आलम्बन का भी निषेध किया है। उस आलम्बन का भी निषेध किया है।

एक भगवान का पूर्ण आलम्बन लेना। भगवान अर्थात् आत्मा। सच्चिदानन्द प्रभु सत् शाश्वत् चिदानन्द ज्ञान और आनन्द अखण्डानन्द प्रभु अन्दर विराजता है। आहाहा! ऐसे आत्मा के आलम्बन के अतिरिक्त दूसरे आलम्बन को उखेड़ डाला है। आहाहा! यह तो सम्यग्दृष्टि के आलम्बन को छुड़ाया है, कहते हैं। व्यवहार है न? मिथ्यादृष्टि की तो यहाँ बात की ही नहीं। क्या करना? दोनों दोषवाले। दृष्टि का भान नहीं और यहाँ अकेला शुभभाव करे, वह तो अकेला पाप और जहर है सब। आहाहा! जिसे आत्मा अमृत का सागर नाथ का अन्तर पूर्ण अनन्त विश्वास आकर जो आनन्द का स्वाद आया है, ऐसे आनन्द के स्वादी को, अतीन्द्रिय आनन्द के रसीले ज्ञानी को भी परसन्मुख के आलम्बन को छुड़ाया है। आहाहा! समझ में आया?

आलम्बन को उखाड़ फेंका है (अर्थात् सम्यग्दृष्टि के द्रव्य प्रतिक्रमण इत्यादि...) आहाहा! पंच परमेष्ठी के स्मरण को उखाड़ डाला है। पंच परमेष्ठी पर हैं। उनके ऊपर लक्ष्य जाएगा तो विकल्प, राग ही होगा। आहाहा! बहुत सूक्ष्म बात है, भगवान! मार्ग कठिन है, भाई! अपूर्व की बातें हैं। ऐसी बातें हैं। पूरी दुनिया बातें करती है, यह करो और यह करो और यह करो और यह करो। पर की सेवा करो और पर का उपकार करो और परोपकार करो। धूल भी सेवा नहीं कर सकता। पर उपकार—पर का उपकार करे या तेरा? पर अर्थात् प्रधान आत्मा तू, उसका उपकार कर न! आहाहा!

मिथ्यादृष्टि के अकेले चापल्यपने को तो छुड़ाया है। आहाहा! वह चापल्य है। स्वरूप सन्मुख का आलम्बन जरा भी नहीं। परन्तु जिसे स्वरूपसन्मुख का आलम्बन है, उसे भी जो पर का आलम्बन जितना आवे, उसे भी छुडाया है। आहाहा! मार्ग कठिन है, बापू! दुनिया को तो कठिन पड़े। हो गया तब, बस! हमारे यह सब पुण्य? धर्म नहीं? तब हमें धर्म किस प्रकार करना? आहाहा! भाई! तुझे खबर नहीं। यह सब क्रियाकाण्ड कहीं धर्म नहीं है।

अन्दर में उस राग से भिन्न भगवान चैतन्य विराजता है, चैतन्य चमत्कारी वस्तु अन्दर है। अनन्त गुण से भरपूर चमत्कारी चीज़ है। उसके अवलम्बन से, एकाग्रता से जो अनुभव होता है, वह निश्चय से मोक्षमार्ग में गिना जाता है। उसे भी जितना व्यवहार का आलम्बन आता है, वह भी बन्ध का कारण है। इसलिए उसे आलम्बन को छुड़ाया है। आहाहा! ऐसी बात है। **(हेय कहा है),...**

'आसम्पूर्ण-विज्ञान-घन-उपलब्धेः' जब तक सम्पूर्ण विज्ञानघन आत्मा की प्राप्ति न हो... आहाहा! पहले कहते हैं कि भले अनुभव हुआ परन्तु अभी पूर्ण वीतराग जब तक न हो... क्योंकि उसका स्वरूप ही वीतराग मूर्ति आत्मा है। अकषायस्वरूप, अकषायस्वरूप कहो या वीतरागस्वरूप कहो या राग और द्वेष के भावरहित ही प्रभु का स्वरूप है। ऐसे स्वरूप में नीचे से अनुभव से थोड़ा करे परन्तु अभी उसे राग आता है। **जब तक सम्पूर्ण विज्ञानघन आत्मा की प्राप्ति न हो, तब तक (शुद्ध) आत्मारूपी स्तम्भ से ही चित्त को बाँध रखा है...** आहाहा! है? व्यवहार में विकल्प जाता हो, उसे छोड़कर यहाँ आत्मा में स्तम्भ बाँधा है।

चैतन्य भगवान पूर्णानन्द प्रभु है। आहाहा! जिसका आनन्द है, वह पूर्ण है, अतीन्द्रिय आनन्द से भरपूर है, अतीन्द्रिय ज्ञान का सागर है, अतीन्द्रिय वीर्य अनन्त बल का स्वामी है। उसे पामररूप से मानना और पामररूप की क्रिया में अपने को लाभ मानना... आहाहा! यह दृष्टि मिथ्यात्व है। आहाहा! ऐसा कठिन काम है। **(शुद्ध) आत्मारूपी स्तम्भ से ही चित्त को बाँध रखा है...** समकिती को भी ऐसा कहते हैं। आहाहा! स्तम्भ अन्दर पड़ा है। वज्रबिम्ब चैतन्यबिम्ब आत्मतत्त्व अनन्त... अनन्त... अनन्त... शान्ति का सागर वह

बिम्ब है। उस समकिती को भी व्यवहार का आलम्बन छुड़ाकर एक चीज़ का आलम्बन कराया है। निश्चय सत्य का आलम्बन कराया है। आहाहा!

मुमुक्षु : इतना बड़ा स्तम्भ कहाँ खो गया?

पूज्य गुरुदेवश्री : खो गया। उसकी नजर कहाँ करता है? नजर करे तो दिखायी दे न! नजर तो करता नहीं। खो कहाँ गया है? पर का माहात्म्य आता है, वैसा स्व का माहात्म्य तो आता नहीं। आहाहा! दया, दान, भक्ति, पूजा और धमाल करे तुम्हारे, नगाड़े बजावे और वह बजाया... उसका सब माहात्म्य आता है परन्तु प्रभु अन्दर निर्विकल्प निष्क्रिय भगवान विराजता है; है, परन्तु नजर नहीं करता। आहाहा!

मुमुक्षु : यदि आत्मा इन्द्रियगम्य होवे तो बहुत मजा आवे।

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु वस्तु, वस्तु ही इन्द्रियगम्य (नहीं है), इन्द्रिय ही नहीं है न उसमें। वह तो अनीन्द्रिय वस्तु है। भगवान तो अनीन्द्रिय वस्तु अन्दर है। यह इन्द्रियाँ तो पर जड़, मिट्टी, धूल है और भावेन्द्रिय है एक-एक इन्द्रिय एक विषय को जाननेवाली, वह भी पर है। अन्दर भगवान पूर्णानन्द का नाथ तो अनीन्द्रिय का सागर है। आहाहा!

यह ३१वीं गाथा में आ गया है '**जो इंदिये जिणित्ता**' ३१वीं गाथा। यह इन्द्रिय के सामने देखना नहीं, भावेन्द्रिय के सामने देखना नहीं और भावेन्द्रिय का विषय... आहाहा! देव, गुरु और शास्त्र, तीन लोक के नाथ तीर्थंकरदेव ऐसा कहते हैं कि तुम्हारे हिसाब से हम भी इन्द्रिय में जाते हैं, इसलिए हमारा लक्ष्य भी छोड़कर अनीन्द्रिय में जा। आहाहा! तू तेरे आलम्बन में जा तो मेरे जैसा परमात्मा हो जाएगा। ऐसा है, वस्तुस्वरूप ऐसा है परन्तु अभी गड़बड़ बहुत हो गयी है, बापू! आहाहा! पण्डित नाम धरावे, विद्वान नाम धरावे और सब गड़बड़ करे। आहाहा! यहाँ विद्वत्ता का नाम नहीं, यहाँ पण्डिताई का नाम नहीं, यहाँ तो अन्तर वस्तु है, उसकी दृष्टि और रुचि का काम है। आहाहा! दूसरे को समझाना आवे भी नहीं। उसके साथ कुछ सम्बन्ध नहीं है।

स्वयं भगवान पूर्णानन्द का नाथ गया कहाँ? यह पूछते थे तुम्हारे भगवानजी वकील। रामजीभाई के मित्र पूछते थे कि ऐसे महिमा करते हो तो धुला हुआ मूला गया कहाँ? ऐसा कहते थे। धुला हुआ मूला! अरे! भगवान! ऐसा नहीं कहा जाता। प्रभु! अन्दर

आत्मा आनन्द का कन्द है, प्रभु! भाई! तूने कभी सुना नहीं, तूने कभी अन्दर देखा नहीं। वह वस्तु है या नहीं? वस्तु है तो वस्तु में बसे हुए गुण हैं या नहीं? उसमें अनन्त गुण बसे हुए, रहे हुए हैं। उसमें अनन्त शान्ति और अनन्त आनन्द, अतीन्द्रिय ज्ञान अनन्त भरा है। आहाहा!

मुमुक्षु : अभी दुष्कर कुछ कराता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह यह दुष्कर कहे अर्थात् यह। तीसरे में जाए इसलिए...

मुमुक्षु : मान घट ही गया है।

पूज्य गुरुदेवश्री : शुभ का मान घटा दिया। दुष्कार कराते हैं अर्थात्? महापुरुषार्थवाला है, वह कराते हैं, ऐसा कहते हैं। शुभ को छुड़ाकर अशुभ में नहीं ले जाते परन्तु शुभ को छुड़ाकर अन्दर शुद्ध में ले जाते हैं। वह दुष्कर है, इसलिए महा पुरुषार्थ माँगता है, ऐसा कहते हैं। है, सब है। आहाहा! क्या हो? भाई! बहुत फेरफार हो गया, इसलिए अभी पूरा... आहाहा!

(व्यवहार के आलम्बन से अनेक प्रवृत्तियों में चित्त भ्रमण करता था...) समकिती ज्ञानी को मन भी बाहर में भ्रमता था। आहाहा! यह मन्दिर और मन्दिर की प्रतिष्ठा, यह सब विकल्प है। आहाहा! ऐई! शुभराग है। अफ्रीका में मन्दिर हुआ न? पन्द्रह लाख का। पन्द्रह लाख का मन्दिर हुआ है और दूसरा खर्च है। कुल दूसरों को जीमाने का और इत्यादि पन्द्रह लाख दूसरे हुए हैं। तीस लाख का खर्च है। उस पूर्णिमा को अफ्रीका जाना है। इस पौष शुक्ल पूर्णिमा, बुधवार। चौदस को रात्रि में वहाँ... बैठकर। चन्दुभाई वहाँ साथ में है। आहाहा! शुभभाव, उसे भी कहा था कि शुभभाव है। तुम तीस लाख और लाख करोड़ खर्च करो, इसलिए धर्म हो जाए (ऐसा नहीं है)। आहाहा!

मुमुक्षु : मन्दिर बँधावे उसे तो यहाँ चापल्य कहा। विचार बिना की क्रिया।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह चापल्य भी अज्ञानी की क्रिया कही, चापल्य अर्थात् अज्ञानी की। चापल्यपना, वह चापल्य है, अन्दर उसने वस्तु देखी नहीं है, इसलिए अकेला चापल्यपना अज्ञान में ही डाल दिया है। आहाहा! यह तो बैंगलोर में भभूतमल नहीं? उसने आठ लाख डाले हैं। आठ लाख उसने, चार लाख जुगराजजी ने (डाले हैं)। बारह लाख

का मन्दिर बनवाया। मैं वहाँ था न! बनाया परन्तु आठ लाख एक व्यक्ति ने दिये। हम किसी को कहते नहीं कि यहाँ दो और करो। किसी को नहीं कहा। अपने आप होना हो वह हो; न होना हो, वह न हो। बारह लाख का बनाया और तीन लाख दूसरे खर्च करके पन्द्रह लाख का मन्दिर किया है। उसे पहले से कहा था कि देखो भाई! तुम यह करते हो, इसमें भाव शुभ हो तो पुण्य होगा। धर्म तो आत्मा के अवलम्बन से होता है, पर के अवलम्बन से धर्म तीन काल में नहीं है। तब आठ लाख दिये थे एकमुश्त। अभी आये थे न? उसने सवा लाख अभी दिये। बनिया, दो करोड़ रुपये हैं, दो करोड़ रुपये हैं तो आठ लाख खर्च किये। सहज ही ऐसा बना कि उसे सोलह दिन मेरे (कार्यक्रम) में रहना पड़ा। उसमें भाव बढ़ गया तो दो करोड़ की जो स्टील थी, उसके चालीस लाख अधिक पैदा हो गये। आठ लाख खर्च किये, उसके चालीस लाख आये। भाव बढ़ गया। उस काम में रह गये और इस ओर भाव बढ़ गया। पड़ा रहा और भाव बढ़ गया। परन्तु वह चाहे पाँच करोड़ क्या दस करोड़, धूल करोड़ हो, उससे कुछ धर्म हो, (ऐसा नहीं है), उससे पुण्य भी नहीं है। उसमें राग मिटावे तो पुण्य हो, राग घटावे तो पुण्य हो। लक्ष्मी से पुण्य नहीं होता, लक्ष्मी तो जड़ है, मिट्टी-धूल है। आहाहा!

वास्तव में तो लक्ष्मी परिग्रह पाप है। चौबीस परिग्रह में लक्ष्मी को पाप कहा है। आहाहा! परन्तु उसके प्रति तीव्र राग हो, उसकी अपेक्षा राग मन्द करे, देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति आदि (करे तो) पुण्य हो। भव घटे नहीं, चौरासी के भव तो सिर पर खड़े हों, सिर पर। आहाहा! इसमें हमारे पैसे की कुछ कीमत नहीं? पैसे की धूल की क्या कीमत है? वह तो धूल है। वह पुद्गल है, मिट्टी है; ऐसी वह मिट्टी है। उसके साथ क्या सम्बन्ध है? यहाँ तो पुण्य का भाव दया, दान आदि का जो भाव, पुण्य का, भक्ति आदि का भाव... आहाहा! उसका आलम्बन छुड़ाया है। आहाहा! अन्दर चैतन्य भगवान विराजता है, वहाँ प्रवेश कर, वहाँ प्रभु के पास जा और इस पामर के पास से हट जा। आहाहा!

कहा न? **(व्यवहार के आलम्बन से अनेक प्रवृत्तियों में चित्त भ्रमण करता था, उसे शुद्ध चैतन्यमात्र आत्मा में ही लगाने को कहा है क्योंकि वही मोक्ष का कारण है)।** व्यवहार मोक्ष का कारण नहीं है। आहाहा! यह शास्त्र लिखने के, शास्त्र प्ररूपणा

करना, शास्त्र को सम्हालना, वह सब भाव शुभराग है; वह कहीं धर्म नहीं है। आहाहा! गजब बात है। जगत को पचना (कठिन पड़े)। आहाहा! पूरी जिन्दगी दूसरे प्रकार से व्यतीत की हो, उसमें यह (बात पचाना)। शास्त्र सच्चे, वीतराग के शास्त्र, सर्वज्ञदेव त्रिलोकनाथ परमेश्वर की दिव्यध्वनि भी परद्रव्य है। परद्रव्य का आश्रय होगा, उसे शुभभाव होगा। वह परद्रव्य ऐसे, हों! स्त्री, कुटुम्ब आदि परद्रव्य के ऊपर लक्ष्य जाएगा, उसे पाप होगा। धन्धे में, स्त्री, पुत्र में, स्त्री को प्रसन्न रखने में, यह धन्धा करे पूरे दिन उसमें अकेला पाप है। आहाहा! उसमें पुण्य। देव-गुरु-शास्त्र की भक्ति पुण्य है, धर्म नहीं। आहाहा!

वही मोक्ष का कारण है। चैतन्यमात्र आत्मा में लगाना। आहाहा! चैतन्यमात्र आत्मा। चैतन्यमात्र क्यों कहा? कि अकेला ज्ञान-दर्शन, दृष्टा-ज्ञाता का पिण्ड है। उसमें तो राग की गन्ध नहीं। दया, दान, व्रत, भक्ति का राग है, उसकी गन्ध चैतन्य में नहीं। ऐसा अन्दर भगवान भिन्न विराजता है। आहाहा! चैतन्यमात्र अर्थात् दूसरी कोई चीज़ उसमें नहीं है। अकेला ज्ञान और आनन्द, बस! आहाहा! ऐसा जो चैतन्यमात्र आत्मा, उसमें चित्त लगाने को कहा है। आहाहा! है न? **क्योंकि वही मोक्ष का कारण है।**

यहाँ निश्चयनय से प्रतिक्रमणादि को विषकुम्भ कहा... निश्चयनय से प्रतिक्रमण, सामायिक, व्यवहार करना, उन सबको जहर का घड़ा कहा है। **यदि कोई विपरीत समझकर प्रतिक्रमणादि को छोड़कर प्रमादी हो जाए तो उसे समझाने के लिए कलशरूप काव्य कहते हैं-** शुभ को छोड़कर अशुभ में जाए, वह तो महापाप में अधिक गया। यहाँ तो शुभ को छोड़कर अन्दर शुद्ध में जा, इसके लिए बताया। शुभ छोड़कर अशुभ में आना, ऐसा कहने का आशय यहाँ नहीं है। आहाहा! है? यहाँ गाथा है।

कलश - १८९

यहाँ निश्चयनय से प्रतिक्रमणादि को विषकुम्भ कहा और अप्रतिक्रमणादि को अमृतकुम्भ कहा, इसलिए यदि कोई विपरीत समझकर प्रतिक्रमणादि को छोड़कर प्रमादी हो जाए तो उसे समझाने के लिए कलशरूप काव्य कहते हैं-

(वसन्ततिलका)

यत्र प्रतिक्रमणमेव विषं प्रणीतं,
तत्राप्रतिक्रमणमेव सुधा कुतः स्यात्।
तत्किं प्रमाद्यति जनः प्रपतन्नधोऽधः,
किन्नोर्ध्वमूर्ध्वमधिरोहति निष्प्रमादः ॥१८९॥

श्लोकार्थ : [यत्र प्रतिक्रमणम् एव विषं प्रणीतं] (हे भाई!), जहाँ प्रतिक्रमण को ही विष कहा है, [तत्र अप्रतिक्रमणम् एव सुधा कुतः स्यात्:] वहाँ अप्रतिक्रमण अमृत कहाँ से हो सकता है? (अर्थात् नहीं हो सकता।) [तत्] तब फिर [जनः अधः अधः प्रपतन् किं प्रमाद्यति] मनुष्य नीचे ही नीचे गिरता हुआ प्रमादी क्यों होता है? [निष्प्रमादः] निष्प्रमाद होता हुआ [ऊर्ध्वम् ऊर्ध्वम् किं न अधिरोहित] ऊपर ही ऊपर क्यों नहीं चढ़ता?

भावार्थ : अज्ञानावस्था में जो अप्रतिक्रमणादि होते हैं, उनकी तो बात ही क्या? किन्तु यहाँ तो, शुभ प्रवृत्तिरूप द्रव्यप्रतिक्रमणादि का पक्ष छुड़ाने के लिए उन्हें (द्रव्य प्रतिक्रमणादि को) निश्चयनय की प्रधानता से विषकुम्भ कहा है क्योंकि वे कर्मबन्ध के ही कारण हैं, और प्रतिक्रमण-अप्रतिक्रमणादि से रहित ऐसी तीसरी भूमि, जो कि शुद्ध आत्मस्वरूप है तथा प्रतिक्रमणादि से रहित होने से अप्रतिक्रमणादिरूप है, उसे अमृतकुम्भ कहा है अर्थात् वहाँ के अप्रतिक्रमणादि को अमृतकुम्भ कहा है। तृतीय भूमि पर चढ़ाने के लिए आचार्यदेव ने यह उपदेश दिया है। प्रतिक्रमणादि को विषकुम्भ कहने की बात सुनकर जो लोग उल्टे प्रमादी होते हैं, उनके सम्बन्ध में आचार्य कहते हैं कि- 'यह लोग नीचे ही नीचे क्यों गिरते हैं? तृतीय भूमि में ऊपर ही ऊपर क्यों नहीं चढ़ते?' जहाँ प्रतिक्रमण को विषकुम्भ कहा है, वहाँ उसका निषेधरूप अप्रतिक्रमण ही अमृतकुम्भ

हो सकता है, अज्ञानी का नहीं। इसलिए जो अप्रतिक्रमणादि अमृतकुम्भ कहे हैं, वे अज्ञानी के अप्रतिक्रमणादि नहीं जानना चाहिए, किन्तु तीसरी भूमि के शुद्ध आत्मामय जानना चाहिए।।१८९।।

कलश - १८९ पर प्रवचन

यत्र प्रतिक्रमणमेव विषं प्रणीतं,
तत्राप्रतिक्रमणमेव सुधा कुतः स्यात्।
तत्किं प्रमाद्यति जनः प्रपतन्नधोऽधः,
किन्नोर्ध्वमूर्ध्वमधिरोहति निष्प्रमादः।।१८९।।

(हे भाई!), जहाँ प्रतिक्रमण को ही विष कहा है,... जहाँ शुभभाव के प्रतिक्रमण को जहर कहा है। आहाहा! व्यवहार प्रत्याख्यान, व्यवहार प्रतिक्रमण, व्यवहार त्याग, ऐसे भाव को—शुभभाव को जहर कहा है। आहाहा! स्त्री-पुत्र छोड़े और दुकान-बुकान छोड़े और त्यागी हो तो हो गया धर्मी। धूल में भी नहीं है, सुन न! वह तो त्याग ही है। पर कब घुस गया है तुझमें? पर का तो त्याग ही है। अन्तर में राग और द्वेष वे मेरे, यह मान्यता वह महामिथ्यात्व है। उसके कारण यहाँ कहते हैं, **जहाँ प्रतिक्रमण को ही विष कहा है, वहाँ अप्रतिक्रमण अमृत कहाँ से हो सकता है?** वहाँ अशुभभाव में आना, वह अमृत कहाँ से होगा? ऐसा कहते हैं। जहाँ हमने शुभभाव को जहर कहा तो उसमें से अशुभ में आना, अज्ञान में आना, वह कहाँ से आ गया? जहर में जहर है। शुभ छोड़कर अशुभ में आना, वह कहीं बात यहाँ नहीं है। यहाँ तो ऊँचे-ऊँचे चढ़ने की बात है, नीचे गिरने की बात नहीं है। आहाहा! कोई उल्टा अर्थ ले तो यह कहते हैं कि तुझे खबर नहीं है। हम तो इस शुभभाव को छुड़ाकर वास्तविक धर्म में ले जाना (चाहते हैं), उसमें जन्म-मरण का अन्त है, जिसमें भव का अन्त है। आहाहा! ऐसा जहाँ भगवान आत्मा (विराजता है), उसका अवलम्बन करने को शुभ को जहर कहा है। शुभ को जहर जानकर छोड़कर अशुभ में जाए तो तेरी उल्टी दृष्टि होगी, इसके लिये यह कुछ नहीं कहा है। आहाहा! है?

जहाँ प्रतिक्रमण को ही विष कहा है, वहाँ अप्रतिक्रमण अमृत कहाँ से हो

सकता है? अप्रतिक्रमण कौन? अज्ञान। अज्ञानी के शुभाशुभभाव, वह सब अप्रतिक्रमण है, अज्ञानी की बात है। **(अर्थात् नहीं हो सकता।) तब फिर मनुष्य नीचे ही नीचे गिरता हुआ...** आहाहा! जब हम शुभभाव को जहर कहते हैं, तब उसमें से उतरकर और अशुभ में जा, ऐसे नीचे-नीचे कहाँ उतरता जाता है? बापू! तू यह क्या करता है? आहाहा! ऐसा प्रमाद करने का यहाँ कहा नहीं। यहाँ तो शुभ में धर्म मानता हो, उसे शुद्ध के साथ सम्बन्ध कराया है।

मनुष्य नीचे ही नीचे गिरता हुआ प्रमादी क्यों होता है? निष्प्रमाद होता हुआ... आहाहा! यह शुभभाव भी प्रमाद है। अशुभभाव तो प्रमाद है ही। शुभभाव जो दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा, दान, पंच परमेष्ठी का स्मरण ॐ... ॐ... ॐ... ॐ... ॐ... ॐ... ॐ... ॐ... हजार बार, लाख बार, करोड़ बार (करे), वह सब शुभभाव है; धर्म नहीं।

मुमुक्षु : प्रमाद तो छठवें गुणस्थान में है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यही कहते हैं न, प्रमाद छठे गुणस्थान में है। वह व्यवहार है, इसलिए उसे छुड़ाया है। यही कहते हैं यह। छठे गुणस्थान में शुभभाव आता है।

मुमुक्षु : यहाँ तो दया, दान को भी प्रमाद कहा न?

पूज्य गुरुदेवश्री : सब प्रमाद ही है। पंच महाव्रत के परिणाम प्रमाद है। सूक्ष्म बात है, भगवान! रागमात्र प्रमाद है। छठे गुणस्थान में राग होता है, उतना प्रमाद है। वह छूटकर अप्रमाद हो, तब सातवाँ होता है। आहाहा!

यहाँ तो यह कहते हैं कि **मनुष्य नीचे ही नीचे गिरता हुआ प्रमादी क्यों होता है?** शुभ को हमने जहाँ बन्ध का कारण कहा, इसलिए उसे छोड़कर अशुभ में जा, ऐसा तुझसे किसने कहा? नीचे-नीचे कहाँ उतर जाता है? आहाहा! **निष्प्रमाद होता हुआ...** शुभभाव को भी छोड़कर अन्तर में जाना, जहाँ निर्मलानन्द प्रभु विराजता है। आहाहा! उस प्रभु की भेंट कर न! इसके लिये कहा है। अशुभ कर, शुभ को छोड़कर अशुभ कर—ऐसा कहा है? आहाहा! अन्दर भगवान आत्मा सच्चिदानन्द प्रभु सत् शाश्वत्, वह वस्तु तो शाश्वत्, आत्मा तो शाश्वत् है। नया उपजता नहीं, नाश होता नहीं, स्वभाव से खाली नहीं।

आहाहा! ऐसे भगवान आत्मा का आलम्बन लेने के लिये हमने शुभ को जहर कहा है परन्तु उसे छोड़कर प्रमादी होकर अशुभ में जाए, वह तो तेरा स्वच्छन्द है। है?

निष्प्रमाद होता हुआ... ऐसा **'ऊर्ध्वम् ऊर्ध्वम् किं न अधिरोहित' ऊपर ही ऊपर क्यों नहीं चढ़ता?** आहाहा! आगे बढ़कर स्वरूप का आश्रय क्यों नहीं लेते? यह शुभ छोड़कर, मुनि को भी शुभ आता है, उसे छोड़कर सातवें अप्रमत्त में जाने को कहा है। राग को हेय करके छोड़ने को कहा है। प्रवचनसार में आता है न पहले भाग में? राग हेय है। राग छठवें में आता है, परन्तु हेय है। उसे छोड़कर अप्रमाद होता है, तब वह मोक्ष का मार्ग कहलाता है। रागमात्र बन्ध का कारण है। राग रहित भगवान अन्दर वीतराग मूर्ति अज्ञान से रहित अकेला ज्ञान का पिण्ड है, उसका आश्रय लेना, वह धर्म है, दूसरा धर्म है नहीं। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ३७७, श्लोक- १८९ से १९१ सोमवार, पौष शुक्ल ६
दिनाङ्क - २४-१२-१९७९

समयसार (श्लोक-१८९ का) भावार्थ है न? अन्तिम गाथायें हैं। अन्तिम गाथायें हैं। अन्तिम गाथाओं का भावार्थ है। **अज्ञानावस्था में जो अप्रतिक्रमणादि होते हैं,...** मिथ्यादृष्टिरूप से जो प्रतिक्रमणादि शुभभाव होते हैं, **उनकी तो (यहाँ) बात ही क्या?** उनकी तो यहाँ बात है नहीं। जिसे दृष्टि मिथ्यात्व है और प्रतिक्रमणादि का शुभभाव होता है। भावार्थ है न? **यहाँ तो, शुभ प्रवृत्तिरूप द्रव्य प्रतिक्रमणादि का पक्ष छुड़ाने के लिए उन्हें...** आहा! यह तो शुभ प्रवृत्तिरूप समकिती को भी **द्रव्य प्रतिक्रमणादि का पक्ष छुड़ाने के लिए उन्हें (द्रव्य प्रतिक्रमणादि को) निश्चयनय की प्रधानता से विषकुम्भ कहा है...** समकिती के व्यवहार प्रतिक्रमण जो है, पंच परमेष्ठी का स्मरण, पंच परमेष्ठी की भक्ति, उस समकिती के शुभ व्यवहार को जहर कहा है। अज्ञानी को तो मिथ्यात्व है, इसलिए उसकी बात तो यहाँ नहीं है। आहाहा! तथा उस शुभभाव को जहर कहा है, इससे अटकाना नहीं है। आगे बढ़ाते हैं, भाई! शुभभाव है, उसे छोड़कर अन्दर

में जा, आत्मा का आश्रय ले। तो उस समय का प्रतिक्रमण है। शुभभाव छुड़ाकर कहीं वहाँ अटका रखते हैं, ऐसा नहीं है, आगे बढ़ाना चाहते हैं। अथवा शुभभाव छोड़कर अशुभ में जा, ऐसा नहीं कहना चाहते। आहाहा!

शुभ प्रवृत्तिरूप द्रव्य प्रतिक्रमण... द्रव्य व्यवहार जितनी दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा, उस सब व्यवहार का **पक्ष छुड़ाने के लिए उन्हें (द्रव्य प्रतिक्रमणादि को) निश्चयनय की प्रधानता से विषकुम्भ कहा है क्योंकि वे कर्मबन्ध के ही कारण हैं,...** व्यवहार प्रतिक्रमणादि, व्यवहार सामायिक, व्यवहार भगवान का स्तवन, वन्दन वह कर्मबन्ध के ही कारण हैं। आहाहा! व्यवहारमात्र स्व के आश्रय बिना होता है, इसलिए पर के आश्रय से भाव हो, वे सब बन्ध के ही कारण हैं। आहाहा!

और प्रतिक्रमण-अप्रतिक्रमणादि से रहित ऐसी तीसरी भूमि,... प्रतिक्रमण अर्थात् शुभभाव की प्रवृत्ति और अप्रतिक्रमण अर्थात् अज्ञानी का अप्रतिक्रमण, दोनों से रहित यहाँ बताते हैं। आहाहा! समझ में आया? एक तो ज्ञानी के द्रव्यप्रतिक्रमण और अज्ञानी का अप्रतिक्रमण। अप्रतिक्रमण अर्थात् मिथ्यात्वसहित जो शुभराग, वह सब अप्रतिक्रमण है। उससे **रहित ऐसी तीसरी भूमि, जो कि शुद्ध आत्मस्वरूप है...** तीसरी अप्रतिक्रमण तीसरी (भूमि) है, शुद्ध आत्मस्वरूप है। वहाँ ले जाना, चढ़ने के लिये यह बात की है। शुभ को छोड़ने के लिये बात अटका नहीं देते इतना कि भाई! यह शुभ किया, इसलिए वहाँ अटक जा, यह अटकने नहीं देते। वहाँ से हटकर शुद्ध में जा तो कल्याण होगा, नहीं तो शुभ में कल्याण नहीं है। आहाहा!

शुद्ध आत्मस्वरूप है तथा प्रतिक्रमणादि से रहित होने से अप्रतिक्रमणादिरूप है,... क्योंकि शुभ प्रवृत्ति का प्रतिक्रमण का शुभराग, पंच परमेष्ठी का स्मरण आदि नहीं, वहाँ एक आत्मा का अवलम्बन है, इसलिए उसे अमृतकुम्भ कहा है। आहाहा! यहाँ तक पहुँचना। अभी तो व्यवहार से निवृत्ति मिले नहीं। यहाँ तो कहते हैं व्यवहार से मिले और प्रवृत्ति करे तो भी वह जहर है।

तीसरी भूमिका में चढ़ाने के लिये अज्ञानी का यह प्रतिक्रमण है, यह तो उसे छुड़ाया। ज्ञानी का शुभ प्रवृत्ति का प्रतिक्रमण है, उसे छुड़ाकर तीसरी भूमिका अर्थात् शुभ से शुद्ध

में जाने के लिये उसे यह अप्रतिक्रमण कहा है। आहाहा! समझ में आया? आहाहा! तीसरी भूमि कि जो शुद्ध आत्मस्वरूप है। वह राग था, वह आत्मस्वरूप नहीं था। द्रव्य भगवान की प्रतिमा, पूजन इत्यादि जो है, वह सब राग था, वह कहीं धर्म नहीं था। आहाहा! तो भी ज्ञानी को आता है, शुभभाव बीच में आवे, वह जानता है कि यह अशुभ से बचने के लिये शुभ आता है। उसे धर्म नहीं मानता, शुभभाव न आवे-ऐसा भी नहीं और शुभभाव धर्म मानना, ऐसा भी नहीं। आहाहा! ऐसा है।

शास्त्र में आवे, तब तो सब आवे। जिन मन्दिर (बनावे), एक इतनी भी चावल जितनी प्रतिमा पधरावे तो कितना पुण्य हो, ऐसा आता है। बहुत बातें होती है। शुभ की बात करे, तब शुभ तो आवे या नहीं? दान की बात करे, तब आवे। कहीं अकेला खाना नहीं, कुछ भाग करना। धर्म के नाम का भाग करना, अकेला खाना नहीं। इस पैसे का भाग, वह शुभभाव है। शुभभाव आता है, होता है परन्तु वह धर्म नहीं है, इसलिए तीसरी भूमिका अप्रतिक्रमण जो व्यवहार प्रतिक्रमण से रहित है, उसे यहाँ धर्म बताया, प्रतिक्रमण बताया है, अप्रतिक्रमण को प्रतिक्रमण बताया है।

मुमुक्षु : शुद्ध में से वापस नहीं गिरना।

पूज्य गुरुदेवश्री : उसमें रहना, ऐसा। वहाँ रहना। अप्रतिक्रमण, वही, अप्रतिक्रमण वही वास्तविक प्रतिक्रमण है, ऐसा कहते हैं। शुभभाव में, जो दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा आदि शुभभाव, वह सब व्यवहार पुण्यबन्ध का कारण है। आहाहा! पुण्यबन्ध है, वह कहीं धर्म नहीं है।

अप्रतिक्रमण दो प्रकार के कहे। एक अज्ञानी का अप्रतिक्रमण कि जिसे मिथ्यात्व सहित भले शुभभाव हो परन्तु उसकी बात नहीं है। यह ज्ञानी का अप्रतिक्रमण, वह शुभभाव की प्रवृत्ति को छोड़कर शुद्ध में जाए, वह ज्ञानी का अप्रतिक्रमण। और ज्ञानी का व्यवहार प्रतिक्रमण, वह निश्चय स्वभाव के भानसहित शुभभाव आवे, उसे व्यवहार प्रतिक्रमण कहते हैं। अज्ञानी को तो व्यवहार-निश्चय एक भी नहीं है। आहाहा! ऐसी बात है।

तीसरी भूमि, जो कि शुद्ध आत्मस्वरूप है तथा प्रतिक्रमणादि से रहित होने

से अप्रतिक्रमणादिरूप है,... है? **उसे अमृतकुम्भ कहा है...** आहाहा! भगवान तो अमृत का घड़ा भरा है, उसमें से थोड़ा उछालकर पर्याय में शुद्धता लावे तो वह अमृत का घड़ा है। भगवान तो अमृत का सागर है। आत्मा के ध्रुव स्वभाव में तो अकेला अमृत पूर्ण पड़ा है। आहाहा! अनन्त बल सहित, अनन्त आनन्द पड़ा है। वह तो एक ओर रहा। परन्तु जो कुछ उसे शुभराग में से हटकर और शुद्ध में आवे, उस शुद्ध की परिणति को भी यहाँ अमृतकुम्भ कहा है, शुद्ध की अवस्था को भी अमृतकुम्भ कहा है। आहाहा!

शिष्य का प्रश्न था न? व्यवहार को अमृतकुम्भ कहा है न शास्त्र में? कि भाई! वह तो ज्ञानी के व्यवहार को, अमृतकुम्भ जो शुद्धता है, उसका आरोप देकर, उसे व्यवहार अमृतकुम्भ कहा है। अमृतकुम्भ। निश्चय अप्रतिक्रमण है, उसे व्यवहार के प्रतिक्रमण को अमृत का आरोप दिया है। बाकी अमृत नहीं है, वह जहर है। आहाहा! ऐसी बातें, लो! मुश्किल-मुश्किल से निवृत्ति भी मिलती न हो, शान्तिभाई! धन्धा आदि ऐसा न हो तो भी कहते हैं, वह जहर है।

मुमुक्षु : एक ओर तो जहर कहे और एक ओर दोष घटावे, ऐसा कहे। ऐसी दो बात कैसे बने?

पूज्य गुरुदेवश्री : कहा न। दोष घटे वह किस अपेक्षा से कहा? कि अशुभ नहीं है, इस अपेक्षा से कहा है, परन्तु है, वह तो जहर है। अशुभ घटा न? शुभ में अशुभ का घटना हुआ न? उतना बन्धन कम, इसलिए इस अपेक्षा से उसे घटाने का कहा है। सर्वथा दोष के घटाने का नहीं, दोष के अंश को घटाने में समर्थ अंश। तीव्र जो राग में दोष था, वह मन्द राग में कम दोष होता है, ऐसा। आहाहा! दोषरहित को शुभ और अशुभराग रहित जो आत्मा की दशा, शुद्ध चैतन्य की निर्मल निर्दोष दशा वही अमृतकुम्भ और वही अप्रतिक्रमणरूप प्रतिक्रमण है। आहाहा!

जितना व्यवहार शास्त्र में आवे, उस सब व्यवहार को यहाँ तो जहर का घड़ा कहा है। आता है, होता अवश्य है, ज्ञानी को होता है, जानते हैं कि यह मेरी कमजोरी है और उसके कारण यह भाव आते हैं। खटकता है, दुःख होता है, खटकता है परन्तु कमजोरी के कारण आता है। उसका अन्तर आदर नहीं। आहाहा! **उसे अमृतकुम्भ कहा है अर्थात्**

वहाँ के अप्रतिक्रमणादि को अमृतकुम्भ कहा है। अर्थात् वहाँ के अप्रतिक्रमणादि को अमृतकुम्भ कहा है। अर्थात् स्वरूप की स्थिरता शुभभाव से रहित होकर अन्तर में शुद्ध उपयोग में आना, उसे अमृतकुम्भ कहा है। अशुभ उपयोग, शुभ उपयोग और शुद्ध उपयोग, इन तीन प्रकार का व्यापार। उसमें अशुभ उपयोग तो पापबन्ध का कारण है, शुभ उपयोग पुण्यबन्ध का कारण है और शुद्ध उपयोग धर्म का कारण है। आहाहा! ऐसी बात है।

तृतीय भूमि पर चढ़ाने के लिए आचार्यदेव ने यह उपदेश दिया है। नीचे उतारने के लिये नहीं किया है, ऐसा कहते हैं। शुभभाव को छोड़कर तू अशुभ में आ, ऐसा नहीं। इस शुभ की भूमिका पुण्यबन्ध की है, उसे छोड़कर अन्दर द्रव्यस्वभाव का अन्तर अवलम्बन ले। प्रभु भगवान पूर्ण आनन्द से भरपूर है, अनन्त बल सम्पन्न है, अनन्त ज्ञान सम्पन्न है, अनन्त शान्ति-आनन्द सम्पन्न है, अनन्त-अनन्त गुण का धनी, अनन्त गुण सम्पन्न है, उसका आश्रय ले, तब शुद्धता हो। आहाहा! ऐसी बात अब।

आचार्यदेव कहते हैं कि **प्रतिक्रमणादि को विषकुम्भ कहने की बात सुनकर...** देखो! **जो लोग उल्टे प्रमादी होते हैं,...** कि यह तो ... आता है, इसलिए शुभ करें या अशुभ करें, चाहे जो करो—ऐसा नहीं है। आहाहा! समझ में आया? शुभ प्रतिक्रमण करने आवे न? शुभ करे न? दूसरे कितने ही उस समय घूमने निकल जाए। तो कहते हैं, ऐसा हमने नहीं कहा। शुभ प्रतिक्रमण को छोड़कर ऐसे घूमने निकलना, अशुभभाव, वह तो अशुभभाव है। ऐसा हमने नहीं कहा। आहाहा! हमने तो शुभभाव को छोड़कर शुद्ध में जा। अन्तर भगवान विराजता है, उसका आश्रय ले, उसका अवलम्बन ले तो तेरी शुद्धता प्रगट होगी और धर्म होगा। इसके लिए यह बात की है। आहाहा! मार्ग भारी।

उसके विषय में—उल्टा प्रमादी हो उसे आचार्य ऐसा कहते हैं, जब शुभ को जहर कहा तो प्रमादी होकर फिर शुभ की दरकार करे नहीं, फिर अशुभ सेवे, ऐसे प्रमादी को **आचार्य कहते हैं कि-यह लोग नीचे ही नीचे क्यों गिरते हैं?** वापस नीचे क्यों उतरते हैं? आहाहा! आहाहा! **तृतीय भूमि में ऊपर ही ऊपर क्यों नहीं चढ़ते?** तीसरी अप्रतिक्रमण अर्थात् शुभ-अशुभभावरहित, उसमें क्यों नहीं आते? **जहाँ प्रतिक्रमण को**

विषकुम्भ कहा है, वहाँ उसका निषेधरूप अप्रतिक्रमण ही अमृतकुम्भ हो सकता है,... कहते हैं, जहाँ व्यवहार प्रतिक्रमणादि को जहर का घड़ा कहा, वहाँ निश्चयरूप उस व्यवहार का निषेधरूप, व्यवहार के निषेधरूप अप्रतिक्रमण ही अमृतकुम्भ है। व्यवहार को छोड़कर दूसरे में जाना, वह कोई अमृतकुम्भ नहीं है। क्या कहा यह? व्यवहार के प्रतिक्रमणादि को छोड़कर दूसरे रास्ते अशुभ में जाना, ऐसा यहाँ नहीं कहा है। आहाहा! है?

तृतीय भूमि में ऊपर ही ऊपर क्यों नहीं चढ़ते?' जहाँ प्रतिक्रमण को विषकुम्भ कहा है, वहाँ उसका निषेधरूप अप्रतिक्रमण ही अमृतकुम्भ हो सकता है, अज्ञानी का नहीं। आहाहा! जिसकी दृष्टि ही अभी मिथ्यात्व है, वह शुभ छोड़कर अशुभ में भटके, उसके लिये ऐसा नहीं कहा, भाई! आहाहा! **इसलिए जो अप्रतिक्रमणादि अमृतकुम्भ कहे हैं, वे अज्ञानी के अप्रतिक्रमणादि नहीं जानना चाहिए,...** अप्रतिक्रमण, वह अज्ञानी का नहीं, ज्ञानी के अप्रतिक्रमण की बात है। प्रतिक्रमणरहित शब्द आया न? अप्रतिक्रमण। अर्थात् ज्ञानी का वह अप्रतिक्रमण। शुभभावरूपी प्रतिक्रमण से रहित वह अप्रतिक्रमण। अज्ञानी का अप्रतिक्रमण नहीं समझना। समझ में आया?

वह अज्ञानी का नहीं जानना, **तीसरी भूमि के शुद्ध आत्मामय जानना चाहिए।** लो! अमृत कहा है, तो तीसरी भूमिका को कहा है। शुभ छोड़कर अशुभ में जाए, ऐसा नहीं कहा। भले शुभ और अशुभ दोनों बन्ध के कारण हैं, तथापि निश्चय दृष्टि होने पर भी शुभभाव आता है, परन्तु अशुभ की तो यहाँ बात ही नहीं है। शुभ आवे, उसे छोड़कर निश्चय अन्तर में जाना, उसे यहाँ अप्रतिक्रमण कहा है। अज्ञानी की प्रतिक्रमण रहित दशा वह अप्रतिक्रमण, वह यह नहीं है। अज्ञानी के शुभभाव रहित, जो सम्यग्दर्शन नहीं—ऐसे को जो प्रतिक्रमण होने पर भी वह अप्रतिक्रमण है, वह यह अप्रतिक्रमण नहीं है। यह तो शुभभाव है परन्तु उसे छुड़ाकर अन्दर स्थिरता में जाए, उसे अमृतकुम्भ कहा है। आहाहा! कठिन काम है, भाई! श्लोक १९०।

कलश - १९०

अब इस अर्थ को दृढ़ करता हुआ काव्य कहते हैं-

(पृथ्वी)

प्रमादकलितः कथं भवति शुद्धभावोऽलसः,
कषायभर-गौरवा-दलसता प्रमादो यतः।
अतः स्वरसनिर्भरे नियमितः स्वभावे भवन्,
मुनिः परमशुद्धतां व्रजति मुच्यते वाऽचिरात्॥१९०॥

श्लोकार्थ : [कषाय-भर-गौरवात् अलसता प्रमादः] कषाय के भार से भारी होने से आलस्य का होना, सो प्रमाद है; [यतः प्रमादकलितः अलसः शुद्धभावः कथं भवति] इसलिए यह प्रमादयुक्त आलस्यभाव शुद्धभाव कैसे हो सकता है? [अतः स्वरसनिर्भरे स्वभावे नियमितः भवन् मुनिः] इसलिए निजरस के परिपूर्ण स्वभाव में निश्चल होनेवाला मुनि [परमशुद्धतां व्रजति] परम शुद्धता को प्राप्त होता है [वा] अथवा [अचिरात् मुच्यते] शीघ्र-अल्प काल में ही (कर्मबन्ध से) छूट जाता है।

भावार्थ : प्रमाद तो कषाय के गौरव से होता है, इसलिए प्रमादी के शुद्ध भाव नहीं होता। जो मुनि उद्यमपूर्वक स्वभाव में प्रवृत्त होता है, वह शुद्ध होकर मोक्ष को प्राप्त करता है॥१९०॥

कलश - १९० पर प्रवचन

श्लोक १९०।

प्रमादकलितः कथं भवति शुद्धभावोऽलसः,
कषायभर-गौरवा-दलसता प्रमादो यतः।
अतः स्वरसनिर्भरे नियमितः स्वभावे भवन्,
मुनिः परमशुद्धतां व्रजति मुच्यते वाऽचिरात्॥१९०॥

'कषाय-भर-गौरवात् अलसता प्रमादः' अर्थ :- कषाय के भार से भारी

होने से आलस्य का होना सो प्रमाद है;... आहाहा! यह पंच महाव्रत के परिणाम और यह सब बारह व्रत के (परिणाम), वह सब प्रमाद है। आहाहा! त्रिकाली शुद्ध की अपेक्षा से वह प्रमाद है। **कषाय के भार से...** देखो! कषाय का भार है। '**भर**' '**कषाय-भर**' भार, वह कषाय का भर (भूसा) है। जैसे गाड़ी भरी हो न घास की? वैसे यह कषाय से भरा हुआ है, ऐसा कहते हैं। **कषाय के भार से भारी होने से आलस्य का होना, सो प्रमाद है;...** आहाहा! यह प्रौषध आदि करते हैं न? गृहस्थ। हमारे बोटाद में बहुत होते थे। प्रौषध आदि करे, फिर पूरे दिन सोता रहे। एक व्याख्यान के समय बैठे थोड़ी देर, बाकी फिर सोता रहे। प्रौषध किया, प्रौषध। एक तो असमर्थ हो, इसलिए जरा सा व्याख्यान में बैठे, बस! बाकी सो जाए। हो गया प्रौषध। प्रौषध... प्रौषध। अरे! कहाँ प्रौषध है? आहाहा!

कषाय के भार से भारी होने से... यहाँ तो कहते हैं कि कषाय का भाव, वह स्वयं आलस है। आहाहा! उस कषायभाव में उद्यम करता है। उत्साह से प्रवृत्ति करता है, हर्ष से (करता है) तथापि वह आलसी है, स्व के लिये वह आलसी है। आहाहा! बाहर के लिये ऐसे हर्ष-शोक से एकदम काम ले। ऐसा करो... ऐसा करो... ऐसा करो... ऐसा करो... आहाहा! ऐसा पुरुषार्थ बतावे। यहाँ तो कहते हैं, वह सब **कषाय के भार से भारी होने से आलस्य का होना, सो प्रमाद है;...** आहाहा! इस धन्धे-पानी में रुकना आलस है, ऐसा कहते हैं। उत्साह से करता है न काम? उमंग से करे न? आलस है। प्रभु के पास नहीं जाता; इसलिए आलसी है। आहाहा!

शुद्ध चैतन्यस्वरूप अमृत से भरपूर भगवान अन्दर है, उसके पास न जाकर अशुभभाव की प्रवृत्ति में उत्साहित, उत्साह की प्रवृत्ति में हर्ष का, हर्ष में काल व्यतीत करता है, वह तो पापी है, पाप के भारवाला है। आहाहा! '**यतः प्रमादकलितः अलसः शुद्धभावः कथं भवति**' **यह प्रमादयुक्त आलस्यभाव शुद्धभाव कैसे हो सकता है?** आहाहा! वह अशुद्ध, अशुभभाव तो आलस है परन्तु शुभभाव भी आलस है। शुभभाव भी आलस में जाते हैं। आहाहा! छठवें गुणस्थान में प्रमादी कहा उसे, पंच महाव्रत और अट्ठाईस मूलगुण (पालन करता है), उसे प्रमादी कहा। वह विकल्प है, वह सब प्रमाद है। अन्दर में स्थिर हो, वह अप्रमाद है। आहाहा!

'अतः स्वरसनिर्भरे स्वभावे नियमितः भवन् मुनिः' इसलिए निजरस के परिपूर्ण स्वभाव में... निजरस से भरपूर स्वभाव। आत्मा है, वह निज आनन्द और शान्ति के रस से भरपूर है। आहाहा! रागादि तो ऊपर-ऊपर पर्याय में तैरते हैं। वस्तु है, वह तो निज रस से भरपूर, आनन्द, ज्ञान, शान्ति के रस से पूर्ण ऐसे भरपूर है, ऐसा यह आत्मा है। आहाहा! **निजरस के परिपूर्ण...** देखा? भगवान के रस से, ऐसा नहीं। स्वरस है न? भगवान की स्तुति और भगवान की (भक्ति), वह पररस है, वह शुभभाव है। यह तो निज रस निर्भर। आहाहा! अपने रस से निर्भर—भरपूर, ऐसा जो स्वभाव। आहाहा!

निश्चल होनेवाला... ऐसे **स्वभाव में निश्चल होनेवाला मुनि... 'परमशुद्धतां व्रजति' परम शुद्धता को प्राप्त होता है...** लो! आहाहा! उस शुभ को छोड़कर अन्दर में शुद्धता को प्राप्त करे, वह आलसरहित अप्रमादी कहने में आता है। इसलिए प्रमादी की प्रवृत्ति के परिणाम जितने स्वभाव में से हट जाए, उन सब परिणाम को आलसी और आलस कहा है। आहाहा! व्यवहार शास्त्र में आता है, भावपाहुड़ में आता है। ऐसी षोडश भावना भाना, पाँच महाव्रत में अतिचार नहीं करना, ऐसा व्यवहार इत्यादि आता है। वह सब अशुभ टालने, अशुभ को टालने के लिये यह बात आती है। परन्तु आयी हुई बात है, वह तो बन्ध का कारण है। भावपाहुड़ का अधिकार बहुत, व्यवहार डाला है।

निश्चय के, आत्मा के भानसहित व्यवहार आता है, तथापि वह व्यवहार बन्ध का कारण है और निश्चयरहित जो व्यवहार, उसे तो व्यवहार भी नहीं कहते। आहाहा! **निजरस के परिपूर्ण स्वभाव में निश्चल होनेवाला मुनि... 'परमशुद्धतां व्रजति' परम शुद्धता को प्राप्त होता है अथवा... 'अचिरात् मुच्यते' शीघ्र-अल्प काल में ही (कर्मबन्ध से) छूट जाता है।** वह जीव अल्प काल में कर्म से छूटता है। इसमें क्रमबद्ध कहाँ गया? अल्प काल में छूटता है तब? इसमें आया यह। यह तो ऐसा करे, उसे अल्प काल में केवल (ज्ञान) हो, ऐसी वह स्थिति है, ऐसा बताते हैं। बाकी है तो सब क्रम में, क्रमबद्ध है। **'अचिरात्'** अर्थात् बीच में काल तोड़कर अन्दर आड़े-टेड़ा हो जाता है, ऐसा नहीं है। आहाहा! ऐसा जो अप्रमाददशा में रहनेवाला, उसकी क्रमबद्ध में दशा ही ऐसी है कि थोड़े ही काल में केवल (ज्ञान) पाता है। ऐसा कहा न? **'अचिरात् मुच्यते' शीघ्र-**

अल्प काल में ही (कर्मबन्ध से) छूट जाता है। यह अचिरात कहो, शीघ्र कहो, ऐसे बहुत शब्द आते हैं। परन्तु उसका अर्थ यह कि, उस काल को फिर उसे देरी नहीं, इतना बताने के लिये अचिरात और शीघ्र शब्द प्रयोग किया है। परन्तु अचिरात और शीघ्र (अर्थात्) पर्याय उल्टी-सीधी हो जाए और क्रम टूटकर एकदम हो जाए, ऐसा नहीं है। आहाहा! ऐसा है।

क्रमबद्ध माने, फिर तो आलसी हो जाएगा। क्रमबद्ध माने, वह स्वतन्त्र पुरुषार्थी होगा। आहाहा! जिस समय में जो पर्याय जहाँ होनी है, वहाँ होगी, उसे इन्द्र और नरेन्द्र बदल नहीं सकते। जिनेन्द्र भी अपनी पर्याय आगे-पीछे नहीं कर सकते। आहाहा! ऐसा जिसका अन्तर में निर्णय हो तो द्रव्य का आश्रय हो। समझ में आया? द्रव्य का आश्रय हो, वह पुरुषार्थ है, महापुरुषार्थ वही है। आहाहा! वस्तु जो भगवान पूर्णानन्द, उसमें जो पुरुषार्थ जाए, वही पुरुषार्थ है। आहाहा! क्रमबद्ध में आलसीपना होता है, उस समय जो होना होगा, वह होगा (परन्तु ऐसा नहीं है)। उसमें पुरुषार्थ है। उसमें आया नहीं?

जो जो देखी वीतराग ने सो सो होशी वीरा,
अनहोनी कबहु न होंसी, काहे होत अधीरा।

यह पुरुषार्थ बताता है। क्रमबद्ध है, उसमें तू वीतरागता कैसे छोड़ता है? आहाहा! उसकी पर्याय जिस समय होनी है, वह होती है। तू उसका जाननेवाला और देखनेवाला रह। आहाहा!

भावार्थ :- प्रमाद तो कषाय के गौरव से होता है,... भार, कषाय के भार से होता है। **इसलिए प्रमादी के शुद्ध भाव नहीं होता।** प्रमादी-आलसी को शुद्धभाव नहीं होता। आहाहा! **जो मुनि उद्यमपूर्वक स्वभाव में प्रवृत्त होता है,...** देखो! यहाँ उद्यम आया। उसमें आया था या नहीं? उसमें आया था। **निजरस के परिपूर्ण स्वभाव में निश्चल होनेवाला...** आया था न? निज रस से भरपूर स्वभाव में। पुरुषार्थ तो आया वहाँ। भले क्रमबद्ध है परन्तु उस क्रमबद्ध में यह पुरुषार्थ साथ ही आया है। आहाहा! निजरस से भरपूर स्वभाव में उसकी दृष्टि है। उसकी क्रमबद्ध अर्थात् पर्याय पर दृष्टि नहीं है। आहाहा! ऐसा सूक्ष्म मार्ग।

मुनि उद्यमपूर्वक स्वभाव में प्रवृत्त होता है,... आहा! बहुत वर्ष पहले एक बार प्रश्न चला था। उत्तराध्ययन में आता है न? 'समयं गोयं मा पमाई' एक अध्ययन आता है। 'समयं गोयं मा पमाई' हे गौतम! समयमात्र का प्रमाद करना नहीं। तब वे कहते हैं, केवली है, वे भी उद्यम कब होगा, इसकी खबर है। वे उद्यम करने का कैसे कहें? उत्तराध्ययन में आता है। उत्तराध्ययन का सूत्र है। 'समयं गोयं मा पमाई' हे गौतम! समय का प्रमाद करना नहीं। यह कहे कि वीतराग तो जानते हैं कि इस समय इसे पुरुषार्थ होगा। तो वह क्या पुरुषार्थ करने का कहे? कि वाणी में यही आवे, कहा। क्योंकि पुरुषार्थपूर्वक स्वभाव में गये हैं और विकल्प था, उसका पुण्य बँधा है और उस पुण्यबन्ध में से वाणी में ऐसा ही आता है। आहाहा! यह तो बहुत वर्ष की बात है। भगवान की आज्ञा ही यह आती है। होना होगा, वह होगा; इसलिए अभी कुछ करना नहीं—ऐसा नहीं है। आहाहा! ऐई, चिमनभाई! बहुत-बहुत हमारे तो सिर पर बीत गये न बहुत प्रकार। बहुत के सामने अवरोध। '...' मैंने यह तो कहा, देखो! यह क्या कहा है? भगवान गणधर कहते हैं कि समयमात्र का प्रमाद नहीं करना। आहाहा!

भगवान ने देखा, ऐसा होगा—यह बात चली थी न हमारे? (संवत्) १९७२ में। यह उठा था लाठी में। ७३ का चातुर्मास दामनगर था, (वहाँ से) उठकर लाठी गये थे। ७४, हीराजी महाराज ऊपर खड़े-खड़े ऐसे पात्र सूखाते थे और भाई मूलचन्दजी कहते थे, जो होना होगा, वह होगा, वह कहे कि महाराज, तुम भी यह खड़े-खड़े करते हो और यह फूट जाए, टूट जाए, ऐसा हो तब... कहे, भाई! होना हो, वह होगा। इससे पहले मुझमें अनुकूल थे। मूल निर्णय एक भी नहीं न। ऐसा कि, भगवान ने तो पात्र सूखाना, साफ करना, प्रमाद नहीं करना। पात्र-फात्र थे कब मुनि को? परन्तु ऐसा था कि उन्हें बराबर खड़े-खड़े सूखाते हो, यह वीतराग की आज्ञा नहीं है। वीतराग की आज्ञा बैठे... तब हीराजी महाराज ने उसे बेचारे को जवाब ऐसा दिया, भोला मनुष्य, कहे, फूटने का होगा वह फूटेगा। फिर उसमें सामने जवाब दिया कि भगवान ने आज्ञा की है या नहीं? हमारे यह बात (संवत्) ७२ में हुई, वह बात यहाँ टकराई। दोनों के बीच टकराई। आहाहा! अरे! भाई! बनने का होगा वह बनेगा, इसमें उसकी नजर कहाँ जाए? बनी हुई है चीज़, जो प्रभु नित्यानन्द, आहाहा! नित्यानन्द सहजानन्द प्रभु आत्मा पर जिसकी दृष्टि है, उसे जो होने के काल में होगा, उसका

वह ज्ञाता है। आहाहा! दृष्टि में जहाँ पर्यायबुद्धि और रागबुद्धि है, उसे बदलने की बुद्धि और करने की बुद्धि उसके होती ही है। आहाहा! बहुत प्रकार की शैली ऐसी (आती है)।

यहाँ यह कहते हैं, **मुनि उद्यमपूर्वक स्वभाव में प्रवृत्त होता है,...** यह आया न भावार्थ में? उद्यम से स्वभाव में प्रवर्तते हैं। 'अचिरात्' कहा था न, इसलिए उसका अर्थ किया है। **वह शुद्ध होकर मोक्ष को प्राप्त करता है।** धर्मात्मा अन्दर अपने में उद्यम करता है। क्रमबद्ध में अनन्त स्वतन्त्रता है और उस अनन्त स्वतन्त्रता स्वसन्मुख झुकती है। वह स्वसन्मुख शुद्धता में झुकती है, उसमें कर्म बन्ध का नाश होता है। आहाहा! ऐसा उद्यम है। आहाहा! **मुनि उद्यमपूर्वक स्वभाव में प्रवृत्त होता है,...** देखा? उद्यम से स्वभाव में प्रवर्तता है। जो त्रिकाल स्वभाव है, उसमें उद्यम से प्रवर्तता है। बहुत विवाद आते थे।

आचारांग में एक टुकड़ा है। मुखाग्र था न आचारांग। 'आणाऐगे चोवीस ठाणा', 'आणाऐगे जोगठाणा', 'अणाणा ऐगे जोगठाणा', अणाऐगे नोठाणा—पांचवें अध्ययन में शब्द है। कितने ही भगवान की आज्ञा में आलसी और आज्ञा बाहर पुरुषार्थ, वह मनुष्य हो, ऐसा आचारांग का शब्द टुकड़ा है। तब तो सब मुखाग्र था न! 'आणाये' पुरुषार्थ और 'आणाणाअेण' उसमें पुरुषार्थ नहीं। 'आणायेगे सोळसठाणा' अर्थात् भगवान की आज्ञा में उपस्थित रहना और आज्ञा बाहर में उपस्थित छोड़ देना। तब भगवान ने यह कहा न कि समयमात्र पुरुषार्थ करना। यह उद्यम है। आहाहा! यह 'आणाये सोगठाणा' है, वह भगवान की आज्ञा से उपस्थित है। आचारांग में पहले भाग में है। मुखाग्र था। कौन सा अध्ययन है? दसवाँ है। 'समयं गोयं मा पमाई' आहाहा! लोगों को सत् के ऊपर आना, अपना आग्रह छोड़ना भारी कठिन। जो पकड़ा हो, उसमें से हट जाना कठिन पड़ता है।

यहाँ कहते हैं कि **मुनि उद्यमपूर्वक स्वभाव में प्रवृत्त होता है,...** इस क्रमबद्ध में अन्दर पुरुषार्थ ही आयेगा। इस क्रमबद्ध में पुरुषार्थ स्वभावसन्मुख वर्ते, उसका नाम क्रमबद्ध हुआ। उसकी दृष्टि क्रमबद्धपर्याय के ऊपर नहीं होती। आहाहा! समझ में आया? **वह शुद्ध होकर मोक्ष को प्राप्त करता है।**

कलश - १९१

अब, मुक्त होने का अनुक्रम-दर्शक काव्य कहते हैं-

(शार्दूलविक्रीडित)

त्यक्त्वाऽशुद्धिविधायि तत्किल परद्रव्यं समग्रं स्वयं,
स्व-द्रव्ये रति-मेति यः स नियतं सर्वापराध-च्युतः।
बन्धध्वन्समुपेत्य नित्य-मुदितः स्वज्योति-रच्छोच्छल-
च्चैतन्यामृत-पूर-पूर्ण-महिमा शुद्धो भवन्मुच्यते ।।१९१।।

श्लोकार्थ : [यः किल अशुद्धिविधायि परद्रव्यं तत् समग्रं त्यक्त्वा] जो पुरुष वास्तव में अशुद्धता करनेवाले समस्त परद्रव्य को छोड़कर [स्वयं स्वद्रव्ये रतिम् एति] स्वयं स्वद्रव्य में लीन होता है, [सः] वह पुरुष [नियतम्] नियम से [सर्व-अपराध-च्युतः] सर्व अपराधों से रहित होता हुआ, [बन्ध-ध्वंसम् उपेत्य नित्यम् उदितः] बन्ध के नाश को प्राप्त होकर नित्य-उदित (सदा प्रकाशमान होता हुआ,) [स्व-ज्योतिः-अच्छ-उच्छलत्-चैतन्य-अमृत-पूर-पूर्ण-महिमा] अपनी ज्योति से (आत्मस्वरूप के प्रकाश से) निर्मलतया उछलता हुआ जो चैतन्यरूपी अमृत के प्रवाह द्वारा जिसकी पूर्ण महिमा है ऐसा [शुद्धः भवन्] शुद्ध होता हुआ, [मुच्यते] कर्मों से मुक्त होता है।

भावार्थ : जो पुरुष, पहले समस्त परद्रव्य का त्याग करके निज द्रव्य में (आत्मस्वरूप में) लीन होता है, वह पुरुष समस्त रागादिक अपराधों से रहित होकर आगामी बन्ध का नाश करता है और नित्य उदयरूप केवलज्ञान को प्राप्त करके, शुद्ध होकर, समस्त कर्मों का नाश करके, मोक्ष को प्राप्त करता है। यह, मोक्ष होने का अनुक्रम है।।१९१।।

कलश - १९१ पर प्रवचन

अब, मुक्त होने का अनुक्रम-दर्शक काव्य कहते हैं-

त्यक्त्वाऽशुद्धिविधायि तत्किल परद्रव्यं समग्रं स्वयं,
स्व-द्रव्ये रति-मेति यः स नियतं सर्वापराध-च्युतः।

बन्धध्वन्समुपेत्य नित्य-मुदितः स्वज्योति-रच्छोच्छल-
च्चैतन्यामृत-पूर-पूर्ण-महिमा शुद्धो भवन्मुच्यते ॥१९१॥

यह सब मोक्ष अधिकार का अन्तिम है। गाथाएँ पूरी हो गयीं, अन्तिम कलश हैं। **'यः किल अशुद्धिविधायि परद्रव्यं तत् समग्रं त्यक्त्वा' जो पुरुष वास्तव में अशुद्धता करनेवाले परद्रव्य...** आहाहा! स्वद्रव्य के अतिरिक्त परद्रव्य है, उसमें अशुद्ध का कारण है। चाहे तो तीर्थंकर का स्मरण करे, चाहे तीर्थंकर को याद करे। आहाहा! वे तीर्थंकर भी परद्रव्य है। आहाहा! कठिन बात है। भाषा कैसी है, देखो! वास्तव में **जो पुरुष वास्तव में अशुद्धता करनेवाले परद्रव्य...** परद्रव्य अशुद्धता का करनेवाला नहीं, परन्तु परद्रव्य की ओर का लक्ष्य अशुद्धता का कारण है। समझ में आया? अशुद्धता का कारण परद्रव्य है, ऐसा माने। आहाहा! उस परद्रव्य का लक्ष्य है, वह अशुद्धता का कारण है, ऐसा कहना है। परद्रव्य है, वह तो निमित्तमात्र है, स्पर्श नहीं करता। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को स्पर्श नहीं करता। कर्म और आत्मा दोनों के बीच तो अत्यन्त अभाव पड़ा है, बड़ी वज्र की दीवार पड़ी है। उसमें एक-दूसरे को स्पर्श करे, वह कहाँ से स्पर्श करे? आहाहा! तो लिखा है न यह?

जो पुरुष वास्तव में अशुद्धता करनेवाले समस्त परद्रव्य को छोड़कर... यहाँ तो यह कहना है। परद्रव्य की ओर का लक्ष्य छोड़कर। परद्रव्य को ग्रहण करना नहीं और छोड़ना भी नहीं। वह परद्रव्य तो परद्रव्य में है। आहाहा! परद्रव्य आत्मा को नुकसान करनेवाला नहीं है। यहाँ तो यह कहा, अशुद्धता करनेवाला है। **जो पुरुष वास्तव में अशुद्धता करनेवाले समस्त परद्रव्य को छोड़कर...** अर्थात् उस ओर का लक्ष्य छोड़कर, स्वद्रव्य के अतिरिक्त परद्रव्य जितने हों, उन सब परद्रव्य से लक्ष्य छोड़कर। **'स्वयं स्वद्रव्ये रतिम् एति'** आहाहा! **स्वयं स्वद्रव्य में लीन होता है,... 'स्वयं स्वद्रव्ये रतिम् एति'** प्राप्त करता है। आहाहा!

अकेला भगवान आत्मा शुभ के विकल्परहित, निर्विकल्प आनन्द का सागर ऐसा जो स्वद्रव्य, यह स्वद्रव्य लिया है, पर्याय नहीं। स्वद्रव्य में, अपने स्वद्रव्य में लीन हो, वह पर्याय है। आहाहा! स्वद्रव्य में लीन होती है, वह पर्याय है। स्वद्रव्य तो अनन्त गुण का भण्डार ध्रुव पड़ा है। उसका आश्रय लेने से उसमें लीन होता है। आहाहा! अब इस

द्रव्यानुयोग में भी ऐसा आवे, लो! तो चरणानुयोग में तो दूसरा आवे। इससे ऐसा होता है, व्यवहार से ऐसा होता है, अमुक से ऐसा हुआ, गाली दी इसलिए ऐसा हुआ और उसने मारा और तलवार से टुकड़े किये और अमुक किया... आहाहा! यह सब आता है। आता है, इसका स्पष्टीकरण करना चाहिए।

एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को कभी स्पर्श नहीं करता। एक द्रव्य और दूसरे द्रव्य के बीच अत्यन्त अभावरूपी शिला पड़ी है। अत्यन्त अभाव। आहाहा! इसलिए परद्रव्य नुकसान करनेवाला नहीं, परन्तु परद्रव्य का आश्रय लेना, वह नुकसान करनेवाला है। ओहोहो! इस शास्त्र में भी लक्ष्य जाए, उतना राग हो, शास्त्र परद्रव्य है। पद्मनन्दि पंचविंशति में कहा है कि जो बुद्धि शास्त्र में जाए, वह व्यभिचारिणी बुद्धि है। पद्मनन्दि पंचविंशति। अर्थ किया है न? वजुभाई ने अर्थ किया है न? पद्मनन्दि पंचविंशति। अहमदाबाद से किया था, किसने किया? पद्मनन्दि पंचविंशति का अर्थ किया है न? छोटालाल, छोटाभाई। वजुभाई ने किया है? या छोटाभाई ने? छोटाभाई गुजर गये न? उसमें उनका अर्थ है। यहाँ नहीं है। अहमदाबाद से किया है, भाई! किसने किया है? पद्मनन्दि पंचविंशति का अर्थ किया है न? छोटालाल, छोटाभाई। वजुभाई ने अर्थ किया है या छोटाभाई ने? छोटाभाई गुजर गये, नहीं? उसमें अर्थ है। यहाँ नहीं है। आहाहा!

बहुत संक्षिप्त। '**यः किल अशुद्धिविधायि परद्रव्यं तत् समग्रं त्यक्त्वा**' आहाहा! और '**स्वयं स्वद्रव्ये रतिम् एति**' आहाहा! इस संक्षिप्त में यह है, बाकी सब विस्तार है, इसकी टीका का विस्तार है। आत्मा के अतिरिक्त जितने परद्रव्य हैं, उनके ऊपर लक्ष्य जाने से अशुद्धता ही उत्पन्न होगी। स्त्री, कुटुम्ब, परिवार के ऊपर लक्ष्य जाएगा तो अशुभ अशुद्धता होगी। देव-गुरु-शास्त्र के ऊपर लक्ष्य जाने से अशुद्ध शुभभाव उत्पन्न होगा। आहाहा! अब ऐसी बातें हैं। जो मुश्किल से भी न हो निवृत्ति से, उसे यह कहना ऐसा है। भाई! बापू! भव के अभाव (करने का) मार्ग को अलग है। आहाहा!

अभी तो उस सड़क पर कुत्ते कुचल जाते हैं। कौन जाने क्या अभी से बड़े-बड़े डाघा। ट्रक निकलते होंगे। मर जाए, सिर पर फिर जाते हैं। वापस अवतरित हो जहाँ-तहाँ तिर्यंच में। आहाहा! ऐसे अवतार अनन्त किये, स्वयं ने, हों! आहाहा! स्वरूप का क्या

स्वभाव है और उसका क्या माहात्म्य है, उसकी महिमा आयी नहीं और स्व की महिमा आये बिना राग की महिमा टूटती नहीं। आहाहा! स्व का माहात्म्य आये बिना शुभराग का माहात्म्य या महिमा छूटती नहीं। आहाहा!

'सः' वह पुरुष नियम से सर्व अपराधों से रहित होता हुआ,... आहाहा! जो परद्रव्य से हटकर स्वद्रव्य में रमता है, वह सर्व अपराध से रहित हुआ है। आहाहा! एक स्वद्रव्य और एक परद्रव्य, दो बात। फिर एक तो स्वद्रव्य का आश्रय ले तो वह कल्याण का कारण है। परद्रव्य का आश्रय ले, वह अशुद्धता का कारण है, अकल्याण का कारण है। आता है, आवे तो सही न! भरत और बाहुबलीजी समकिती थे तो भी युद्ध किया। ऐसा चारित्रमोह का उदय होता है। आहाहा! स्वामीपने नहीं होता, स्वस्वामीसम्बन्ध राग के साथ नहीं होता, धर्मी को स्वस्वामीसम्बन्ध अपने गुण और पवित्र के साथ होता है। अज्ञानी को स्व राग और राग का फल, वह उसका स्वामी होता है। आहाहा! पुण्य और पाप के फलरूप से पैसा और अनुकूल सामग्री मिली, इसलिए उसे ऐसा लगता है कि ओहोहो! मैं कितने का मालिक, मैं कितने का मालिक हूँ। कितने का मालिक? एक का भी मालिक नहीं। कल्पना से तूने माना है। आहाहा!

यहाँ यह कहते हैं, जो **स्वद्रव्य में लीन होता है, वह पुरुष नियम से सर्व अपराधों से रहित होता हुआ,...** है? **'सर्व-अपराध-च्युतः'** स्वद्रव्य का आश्रय लेता है, वह सर्व अपराध से च्युत होता है। आहाहा! पुरुषार्थसिद्धि में कहा है कि पर की दया का भाव, पर की दया का भाव, वह राग हिंसा है। क्योंकि पर को कर नहीं सकता। उसकी क्रिया तो उसका आयुष्य हो तो निभे। मात्र तुझे भाव आवे, वह राग है; राग है, वह स्वरूप की हिंसा है, अमृतचन्द्राचार्य पुरुषार्थसिद्धि उपाय में (कहते हैं)। आहाहा! यह सब सेवाभावी और पशुगृहवाले और व्यवस्थापक, व्यवस्था करनेवाले व्यवस्थापक को कठिन लगे, ऐसा है। व्यवस्थापक कहे न, हम यह व्यवस्था करते हैं, यह व्यवस्था करते हैं। व्यवस्था चल ही रही है, उसमें व्यवस्था करनी कहाँ है? पदार्थ में व्यवस्था-विशेष अवस्था जिस समय में जो होनी है, वह अवस्था विशेष हुआ ही करती है। उसमें दूसरा उसकी व्यवस्था करे, यह नहीं होता। सब अलग प्रकार है, भाई! आहाहा! परन्तु मानने से ही छुटकारा है। इसके बिना जन्म-मरण मिटे, ऐसा नहीं है। क्या कहा?

मुमुक्षु : आराम करने की बात है।

पूज्य गुरुदेवश्री : अन्दर में आराम की बात है। (आराम) बाहर में कहाँ था? आहाहा!

सर्व अपराधों से रहित होता हुआ,... 'बन्ध-ध्वंसम् उपेत्य नित्यम् उदितः' बन्ध के नाश को प्राप्त होकर नित्य-उदित (सदा प्रकाशमान होता हुआ,)... आहाहा! सदा प्रकाशमान। प्रभु तो त्रिकाल प्रकाशमान वस्तु है। नित्य परमार्थ परिपूर्णस्वरूप भगवान नित्य प्रकाशमान ध्रुव है। आहाहा! वह पर का आश्रय छोड़कर, स्व का आश्रय करनेवाला है। नित्य प्रकाशमान ज्योति प्रगट होगी, ऐसा कहते हैं। है? **'नित्यम् उदितः' (सदा प्रकाशमान होता हुआ,)...** आहाहा! अन्दर पुरुषार्थ से उस स्वभाव की ओर ढला है। इससे नित्य प्रकाशमान ऐसा आत्मा प्रगट हुआ होने से **'स्व-ज्योतिः-अच्छ-उच्छलत्-चैतन्य-अमृत-पूर-पूर्ण-महिमा'** आहाहा! **अपनी ज्योति से (आत्मस्वरूप के प्रकाश से) निर्मलतया...** वह स्वयं प्रकाश की ज्योति वह स्वयं है।

अपनी ज्योति से (आत्मस्वरूप के प्रकाश से) निर्मलतया उछलता हुआ... आहाहा! **जो चैतन्यरूपी अमृत के प्रवाह...** आहाहा! कहते हैं कि जो परद्रव्य का आश्रय छोड़कर स्वद्रव्य के आश्रय में जाता है, उसके बन्धन का नाश होकर इस ओर आत्मा खिल निकलता है। बन्धन का इस ओर नाश होता है और इस ओर खिल निकलता है। आहाहा! है न? आहाहा! **निर्मलतया उछलता हुआ जो चैतन्यरूपी अमृत के प्रवाह...** अमृत का प्रवाह है, कहते हैं। आहाहा! जैसे पानी का प्रवाह ऐसे चलता जाता है, वैसे यह ध्रुव... ध्रुव... ध्रुव... ध्रुव... ध्रुव... ध्रुव... अनित्य की पर्याय ऐसा जानती है कि यह नित्य ध्रुव... ध्रुव... ध्रुव... ध्रुव... ध्रुव... ध्रुव है। यह ऐसा-ऐसा प्रवाह है। आड़ा प्रवाह नहीं, पानी का प्रवाह ऐसे आड़ा जाता है। इसका प्रवाह ध्रुव... ध्रुव... ध्रुव... ध्रुव... ध्रुव... ध्रुव... ध्रुव... है, वह पर्याय उसे देखती है। उस स्वज्योति से... आहाहा! **जो चैतन्यरूपी अमृत के प्रवाह द्वारा जिसकी पूर्ण महिमा है...** पूर्ण स्वरूप कहते हैं न? अत्यन्त परद्रव्य का अवलम्बन पूर्ण छोड़कर स्वद्रव्य का पूर्ण अवलम्बन लेकर पूर्ण जिसकी महिमा **ऐसा शुद्ध होता हुआ,...** लो! **कर्मों से छूटता है-मुक्त होता है।** मोक्ष अधिकार है न? कर्मों से छूटता है। मुक्त होता है।

भावार्थ :– जो पुरुष, पहले समस्त परद्रव्य का त्याग करके... उपदेश में क्या आवे? पहले एक ओर कहते हैं कि परद्रव्य का त्याग-ग्रहण आत्मा में नहीं है। यहाँ तो वहाँ संयोग है, इसलिए ऐसा बतलाते हैं। **समस्त परद्रव्य का त्याग करके निज द्रव्य में (आत्मस्वरूप में) लीन होता है,...** निज द्रव्य आनन्दकन्द प्रभु में जो **लीन होता है, वह पुरुष समस्त रागादिक अपराधों से रहित होकर...** सर्व रागादि अपराध। पुण्य और पाप आदि दोनों। **आगामी बन्ध का नाश करता है...** भविष्य का बन्धन है, उसका वह नाश करता है।

और नित्य उदयरूप केवलज्ञान को प्राप्त करके,... देखा? पहला अर्थ किया यह कि **निर्मलतया उछलता हुआ जो चैतन्यरूपी अमृत के प्रवाह द्वारा जिसकी पूर्ण महिमा है...** यह। **नित्य उदयरूप केवलज्ञान को प्राप्त करके, शुद्ध होकर, समस्त कर्मों का नाश करके, मोक्ष को प्राप्त करता है। यह, मोक्ष होने का अनुक्रम है।** यह मोक्ष होने का यह अनुक्रम है। पहले समस्त परद्रव्य त्याग करके निज द्रव्य में लीन हो, वह पुरुष सर्व रागादिक अपराधों से रहित होकर आगामी बन्ध का नाश करे। यह क्रम। **और नित्य उदयरूप केवलज्ञान को प्राप्त करके, शुद्ध होकर, समस्त कर्मों का नाश करके, मोक्ष को प्राप्त करता है। यह, मोक्ष होने का अनुक्रम है।**

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

कलश - १९२

(मन्दाक्रान्ता)

बन्धच्छेदात्कलय-दतुलं मोक्ष-मक्षय्यमेत-
न्नित्योद्योतस्फुटितसहजावस्थमेकान्तशुद्धम्।
एकाकार-स्व-रस-भरतो-ऽत्यन्त-गम्भीर-धीरं,
पूर्णं ज्ञानं ज्वलितमचले स्वस्य लीनं महिम्नि॥१९२॥

इति मोक्षो निष्क्रान्तः।

इति श्रीमदमृतचन्द्रसूरिविरचितायां समयसारव्याख्यायामात्मख्यातौ मोक्षप्ररूपकः अष्टमोऽङ्कः।

अब, मोक्ष अधिकार को पूर्ण करते हुए उसके अन्तिम मंगलरूप पूर्ण ज्ञान की महिमा का (सर्वथा शुद्ध हुए आत्मद्रव्य की महिमा का) कलशरूप काव्य कहते हैं-

श्लोकार्थ : [बन्धच्छेदात् अतुलम् अक्षय्यम् मोक्षम् कलयत्] कर्मबन्ध के छेदने से अतुल अक्षय (अविनाशी) मोक्ष का अनुभव करता हुआ, [नित्य-उद्योत-स्फुटित-सहज-अवस्थम्] नित्य उद्योतवाली (जिसका प्रकाश नित्य है ऐसी) सहज अवस्था जिसकी खिल उठी है ऐसा, [एकान्त-शुद्धम्] एकान्त शुद्ध (कर्ममल के न रहने से अत्यन्त शुद्ध), [एकाकार-स्व-रस-भरतः अत्यन्त-गम्भीर-धीरम्] और एकाकार (एक ज्ञानमात्र आकार में परिणमित) निजरस की अतिशयता से जो अत्यन्त गम्भीर और धीर है, ऐसा [एतत् पूर्णं ज्ञानम्] यह पूर्ण ज्ञान [ज्वलितम्] प्रकाशित हो उठा है (सर्वथा शुद्ध आत्मद्रव्य जाज्वल्यमान प्रगट हुआ है), और [स्वस्य अचले महिम्नि लीनम्] अपनी अचल महिमा में लीन हुआ है।

भावार्थ : कर्म का नाश करके मोक्ष का अनुभव करता हुआ, अपनी स्वाभाविक अवस्थारूप, अत्यन्त शुद्ध, समस्त ज्ञेयकारों को गौण करता हुआ, अत्यन्त गम्भीर (जिसका पार नहीं है ऐसा) और धीर (आकुलतारहित) - ऐसा पूर्ण ज्ञान प्रगट दैदीप्यमान होता हुआ, अपनी महिमा में लीन हो गया।।१९२।।

टीका : इस प्रकार मोक्ष (रंगभूमि में से) बाहर निकल गया।

भावार्थ : रंगभूमि में मोक्षतत्त्व का स्वाँग आया था। जहाँ ज्ञान प्रगट हुआ, वहाँ उस मोक्ष का स्वाँग रंगभूमि से बाहर निकल गया।

(सवैया)

ज्यों नर कोय पर्‌यो दृढ़बंधन बंधस्वरूप लखै दुखकारी,
चिंत करै निति कैम कटे यह तौऊ छिदै नहि नैक टिकारी।
छेदनकूं गहि आयुध धाय चलाय निशंक करै दुय धारी,
यों बुध बुद्धि धसाय दुधा करि कर्म रु आतम आप गहारी।।

इस प्रकार श्री समयसार की (श्रीमत्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवप्रणीत श्री समयसार परमागम की) श्रीमद् अमृतचन्द्राचार्यदेवविरचित आत्मख्याति नामक टीका में मोक्ष का प्ररूपक आठवाँ अंक समाप्त हुआ।

प्रवचन नं. ३७८, श्लोक- १९२, १९३ मंगलवार, पौष शुक्ल ७
दिनाङ्क - २५-१२-१९७९

समयसार, १९२ कलश।

बन्धच्छेदात्कलय-दतुलं मोक्ष-मक्षय्यमेत-
न्नित्योद्योतस्फुटितसहजावस्थमेकान्तशुद्धम्।
एकाकार-स्व-रस-भरतो-ऽत्यन्त-गम्भीर-धीरं,
पूर्णं ज्ञानं ज्वलितमचले स्वस्य लीनं महिम्नि॥१९२॥

अन्तिम कलश है न यह तो? इसका अन्तिम कलश है। **'बन्धच्छेदात् अतुलम्' कर्मबन्ध के छेदने से अतुल अक्षय (अविनाशी) मोक्ष का अनुभव करता हुआ,...** ज्ञान, पूर्ण ज्ञान। आहाहा! जिसमें पंचाचार से सम्यग्ज्ञान, दर्शन, चारित्र, वीर्य, तप—ऐसे पंचाचार शुद्ध, हों! उनसे जिसे परम शुद्ध उपयोग प्रगट हुआ है। आहाहा! उसे यहाँ आचार्य, उपाध्याय और साधु कहा है। उसे यहाँ कहते हैं कि **मोक्ष का अनुभव करता हुआ,...** (वह) जब इस अनुसार परम शुद्ध उपयोग में रमता है, उसे मोक्ष होता है। तो वह ज्ञान **मोक्ष का अनुभव करता हुआ, 'नित्य-उद्योत-स्फुटित-सहज-अवस्थम्' नित्य उद्योतवाली सहज अवस्था...** नित्य उद्योत होने से कायम रहनेवाला है। वह ज्ञान जो केवलज्ञान मोक्ष में हुआ, वह तो कायम रहनेवाला है।

(जिसका प्रकाश नित्य है ऐसी) सहज अवस्था जिसकी... (जिसका प्रकाश नित्य है ऐसी) सहज अवस्था जिसकी खिल उठी है... यह पर्याय में अवस्था खिल निकली है। आहाहा! **ऐसा, एकान्त शुद्ध...** लो! इसमें अनेकान्त एकान्त शुद्ध और कथंचित् अशुद्ध, ऐसा नहीं आया। कथंचित् एकान्त शुद्ध और एकान्त अशुद्ध, (ऐसा नहीं आया)। यह तो सर्वथा एकान्त आया। **एकान्त शुद्ध (कर्ममल के न रहने से अत्यन्त शुद्ध है ऐसा),...** क्या? ज्ञान। आत्मा कहो या ज्ञान कहो सब एक है। मूल ज्ञान की बात

ली है। **ऐसा और... 'एकाकार-स्व-रस-भरतः अत्यन्त-गम्भीर-धीरम्' एकाकार (एक ज्ञानमात्र आकार में परिणमित)...** ज्ञान अर्थात् आत्मा। अकेले आत्मा के अनन्त स्वभावरूप परिणमित। आहाहा! यह मोक्ष की व्याख्या है।

निजरस की अतिशयता से... अतिशय गम्भीर है। आत्मा के ज्ञान और आनन्द के निजरस की विशेषता से, अतिशयता से अर्थात् विशेषता से। आहाहा! **जो अत्यन्त गम्भीर...** है। केवलज्ञान अत्यन्त गम्भीर है। आहाहा! **और धीर है...** धीर है। शाश्वत है। प्रगट हुआ, सो प्रगट हुआ, ऐसा। **ऐसा यह पूर्ण ज्ञान...** केवलज्ञान। अभी यहाँ वजन है। इस पूर्ण ज्ञान का अर्थ यहाँ। यह सब विशेषण उसके हैं। **प्रकाशित हो उठा है...** आहाहा! चैतन्यस्वरूप भगवान आत्मा का ज्ञान, दर्शन, आनन्द आदि आचार करते हुए परम शुद्ध उपयोग होकर उसे केवलज्ञान उत्पन्न होता है, वह केवलज्ञान ऐसा होता है। आहाहा! अब अभी तो कहते हैं कि शुद्ध उपयोग ही नहीं होता। यहाँ कहते हैं कि सच्चे पाँच आचार पालन करे, उसे परम शुद्ध उपयोग होता है।

मुमुक्षु : आचार्य को स्वयं को है, ऐसा आचार्य प्रसिद्ध करते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह स्वयं को प्रसिद्ध करते हैं न! पंचम काल में हैं, ऐसा प्रसिद्ध करते हैं। नहीं है, ऐसा नहीं है। भले थोड़ा, थोड़ा भी। यहाँ यही कहते हैं। आहाहा!

यह पूर्ण ज्ञान प्रकाशित हो उठा है... किसके कारण? जो ज्ञान, दर्शन, चारित्र, तप और वीर्य, यह पाँच प्रकार के आचार की निर्मलता से। आहाहा! और परम शुद्ध उपयोग से यह केवलज्ञान जगमगा उठा। आहाहा! पाँच महाव्रत पालने से या ऐसी एक भी बात इसमें नहीं आयी। पाँच महाव्रत पालने से है इसमें? **यह पूर्ण ज्ञान प्रकाशित हो उठा है (सर्वथा शुद्ध आत्मद्रव्य जाज्वल्यमान प्रगट हुआ है),... 'स्वस्य अचले महिम्नि लीनम्' अपनी अचल महिमा में लीन हुआ है।** अपनी अचल महिमा में लीन हुआ। जो बाहर में भटकता था, राग और द्वेष में अटकता था, वह अटकता-भटकता रुक गया, वह अपने स्वरूप में लीन हो गया। आहाहा! इसका नाम मोक्ष और यह मोक्ष का उपाय। आहाहा!

परम दर्शन, परम ज्ञान, परम चारित्र, वीर्य, तप, इन पाँच आचार की उत्कृष्ट दशा, तथापि जो परम शुद्ध उपयोग हो... आहाहा! लड़कों को छुट्टी है आज? हाँ, छुट्टी है। छुट्टी

है। वहाँ आहार है न आज। नाताल का दिन है। आहाहा! एक स्वरूप भगवान द्रव्यस्वभाव है, वह पर्याय में पूर्ण ज्ञान, दर्शन, चारित्र को आराधकर परम शुद्ध उपयोग द्वारा जिसने केवलज्ञान प्रगट किया है। अब उसमें कहीं व्यवहार से होगा और उससे होगा, यह तो बात कुछ आती नहीं। कि निमित्त से होगा और व्यवहार करे तो होगा, ऐसा आता नहीं इसमें।

मुमुक्षु : उसका अभाव करे व्यवहार में तो होगा।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह न ही हो। यहाँ नजर करे, वहाँ वह कहाँ होगा? आया था न कहीं वह? व्यवहार से निश्चय आया था कहीं। वह व्यवहार से निश्चय (नहीं)। एक यही उपाय है। बस! आत्मा ज्ञानस्वरूप, आनन्दस्वरूप, वीतराग मूर्ति, अनन्त स्वच्छ, अन्दर अनन्त... अनन्त... पवित्रता का आत्मा पिण्ड है। उसकी पर्याय में अन्तर है परन्तु उसकी वस्तु यह है। उस वस्तु का ज्ञान, उसकी प्रतीति, उसकी स्थिरता, उसका तप और उसका वीर्याचरण, उसके पुरुषार्थ का आचरण वहाँ है। उसके कारण उसे परम शुद्ध उपयोग होकर केवलज्ञान होता है। बाकी कोई क्रियाकाण्ड से, व्यवहार से नहीं होता। आहाहा! यह बड़ा विवाद चला है। कल बड़ा लेख आया है। शुभ उपयोग को इनकार करते हैं परन्तु शुभ उपयोग धर्म ही अभी होता है, शुभ उपयोग के अतिरिक्त दूसरा अभी धर्म होता नहीं। कहो, अब ऐसा।

मुमुक्षु : शुद्ध उपयोग न हो तो सम्यग्दर्शन भी न हो।

पूज्य गुरुदेवश्री : सम्यग्दर्शन, वह तो शुद्ध उपयोग में होता है। अरे! प्रभु! क्या करता है? ऐसा अन्ध खाता चलता है। आहाहा!

अपना स्वभाव शुद्ध चैतन्यमूर्ति अतीन्द्रिय आनन्दकन्द की दृष्टि देने पर, उसका स्वीकार करने से दर्शन, ज्ञान, चारित्र आदि प्रगट होकर, परम शुद्ध उपयोग होकर और केवलज्ञान होता है, वह इसका उपाय है। बहुत संक्षिप्त में संक्षिप्त यह उपाय, दूसरा उपाय नहीं है। तब कहते हैं, अभी नहीं हो सकता। परन्तु नहीं हो सकता किन्तु श्रद्धा तो करो कि यह ही मार्ग है और दूसरा मार्ग नहीं। इस रास्ते से अन्दर में जाने से ही कल्याण है, बाहर के विकल्प से बिल्कुल कल्याण नहीं है। ऐसी इसकी श्रद्धा में तो इसका अमल करे पहले तो आगे बढ़े। परन्तु पहले से कहे, नहीं। यह शुभभाव ही धर्म है... शुभभाव धर्म है... शुभभाव धर्म है... अब उसे आगे बढ़ना कहाँ रहा?

भावार्थ :- कर्म का नाश करके मोक्ष का अनुभव करता हुआ, (ज्ञान) अपनी स्वाभाविक अवस्थारूप,... दशा। अवस्था है न मोक्ष? **अत्यन्त शुद्ध,...** अत्यन्त शुद्ध। शुद्ध तो नीचे भी थोड़ा ज्ञान जो है स्वभाव, वह तो ज्ञान का क्षयोपशम का अंश है, उसे भी केवलज्ञान का अंश कहा है। क्षयोपशम का अंश केवलज्ञान का अंश है। चिट्ठी में आता है। वह जो उघाड़ है, वह केवलज्ञान में मिलता है। ऐसे यहाँ यथाख्यात चारित्र का अंश यहाँ शुभ में हो, जरा शुद्धता (होवे) तो वह जाकर यथाख्यात होता है। आहाहा! समझ में आया इसमें? शुभभाव में शुद्धता का अंश है सही, परन्तु वह ग्रन्थिभेद होने के बाद वह काम करता है। आहाहा! स्वभाव की एकाग्रता करे, पश्चात् वह शुद्धता काम करती है। वह शुद्धता बढ़कर परम शुद्धता में यथाख्यातचारित्र होता है। यह ज्ञान कहा। और आचरण में भी इतना शुभ में जरा शुद्ध का अंश है, वह ग्रन्थिभेद होने पर वह अंश आगे बढ़कर यथाख्यातचारित्र को पाता है। वह अंश। निमित्त से नहीं और ज्ञान से नहीं तो फिर दूसरे से कहाँ रहा? उसमें आया है, कि यह ज्ञान बढ़े और चारित्र उसके कारण बढ़े, ऐसा नहीं होता।

आता है न मोक्षमार्गप्रकाशक में? पीछे (प्रकाशित) चिट्ठी (में आता है।) ज्ञान बढ़े और ज्ञान के कारण चारित्र बढ़े, ऐसा नहीं है। वह ज्ञान का अंश जैसे शुद्ध स्वभाव है और बढ़ता है, ऐसे वह शुद्ध स्वभाव अन्दर अंश होना चाहिए, वह आगे बढ़े। ज्ञान बढ़ा, इसलिए चारित्र बढ़ता है—ऐसा नहीं है। आहाहा! समझ में आया? चारित्र का अंश उन्होंने शुभभाव में गिना है अनादि से, परन्तु यदि ग्रन्थिभेद करे—मिथ्यात्व टाले तो वह अंश शुद्ध अंश काम करे, नहीं तो अनादि से बन्ध का कारण है। आहाहा! ऐसी सब बात में कहाँ सिरपच्ची करना? कुछ कर डालो, करो। बस! क्या करे? सुन तो सही! तू कौन है अन्दर और कैसे होता है पर्याय में? तेरी नजर कहाँ है? नजर में क्या लिया है? नजर में यह क्या आने पर भाव कैसे होते हैं? पर की नजर करने से भाव कैसे होते हैं? स्व की नजर करने से भाव कैसे होते हैं? आहाहा! उसका ज्ञान भी नहीं होता, उसकी पहिचान नहीं होती और अब उसे धर्म हो जाए!

यहाँ तो कहते हैं कि **अपनी स्वाभाविक अवस्थारूप, अत्यन्त शुद्ध, समस्त ज्ञेयकारों को गौण करता हुआ,...** अर्थात् ज्ञेय उसमें ज्ञात होते हैं परन्तु उन्हें गौण करता

हुआ। अकेला ज्ञान ही है, ज्ञान। ज्ञेय का ज्ञान, वह उसका ज्ञान। ज्ञेय का ज्ञान, वह उसका ज्ञान है, वह ज्ञेय का ज्ञान नहीं है। **समस्त ज्ञेयकारों को गौण करता हुआ, अत्यन्त गम्भीर (जिसका पार नहीं है ऐसा)...** आहाहा! केवलज्ञान अर्थात् अनन्त आनन्दसहित, अनन्त वीर्यसहित, अनन्त स्थिरतासहित ऐसा जो केवलज्ञान, उसकी अपार महिमा है। **और धीर...** है। उसमें आकुलता नहीं। सुख है, केवलज्ञान में सुख है, आत्मा में सुख है, सुख अन्यत्र कहीं नहीं।

आत्मा में सुख-आनन्द है, उसके अतिरिक्त कहीं तीन काल में किसी जगह सुख नहीं है। पैसे में नहीं, स्त्री में नहीं, पुत्र में नहीं, इज्जत में नहीं, कुटुम्ब-कबीला में कहीं सुख नहीं। सुख है एक आत्मा में। आहाहा! जिसे सुखी होना हो, उसे तो स्वद्रव्य को पकड़ना चाहिए, जिसमें सुख भरा है। आहाहा! वह सुखी होकर धीर होता है। देखो न! आकुलता रहित होता है। **आकुलतारहित) – ऐसा पूर्ण ज्ञान प्रगट दैदीप्यमान होता हुआ, अपनी महिमा में लीन हो गया।** जैसा था, वैसा महिमा में लीन हुआ। आहाहा! महिमा तो ऐसी थी ही, परन्तु ऐसी पर्याय में लीन हुआ। द्रव्यस्वभाव में ज्ञान है, उसकी महिमा तो अपार है। स्वभाव में ज्ञान है शक्ति अपार है। अब उसकी पर्याय में भी महिमा का पार नहीं, पर्याय रह गयी। आहाहा!

टीका :– इस प्रकार मोक्ष (रंगभूमि में से) बाहर निकल गया। लो! मोक्ष का भी स्वांग गिना, एक वेष गिना। भगवान नित्यानन्द प्रभु के ऊपर यह सब वेष हैं, पर्यायें हैं। आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध, मोक्ष सब पर्यायें हैं, उसका वेष है, वह त्रिकाली वस्तु नहीं है। त्रिकाली वस्तु तो ध्रुव नित्यानन्द प्रभु है। उसमें यह वेष अन्दर में नहीं है। आहाहा! ऐसा धर्म का उपदेश?

वह मोक्ष है। **रंगभूमि में मोक्षतत्त्व का स्वाँग आया था।** देखा? स्वांग-एक वेष है। मोक्ष भी एक आत्मा का एक स्वांग है, मोक्ष वह कहीं त्रिकाली तत्त्व नहीं है। त्रिकाली तत्त्व तो शुद्ध जो त्रिकाल अनादि-अनन्त पड़ा है, वह तो नित्यानन्द प्रभु है, निर्मल ही है। उसे कहीं इसमें निर्मलता करनी है और मलिनता टालनी है, ऐसा ध्रुव में कुछ नहीं है। ध्रुव के लक्ष्य से मलिनता टलती है और निर्मलता प्रगट होती है, वह तो पर्याय में होती है। मोक्ष

पर्याय, यह मोक्ष एक स्वांग है। मोक्ष एक स्वांग है, वेष है जीव में। आहाहा! वह **स्वाँग रंगभूमि से बाहर निकल गया।** स्वांग ज्ञात हो गया इसलिए निकल गया, ऐसा कहते हैं।

ज्यों नर कोय परयो दृढ़बंधन बंधस्वरूप लखै दुखकारी,
चिंत करै निति कैम कटे यह तौऊ छिदै नहि नैक टिकारी।
छेदनकूं गहि आयुध धाय चलाय निशंक करै दुय धारी,
यों बुध बुद्धि धसाय दुधा करि कर्म रु आतम आप गहारी।।

ज्यों नर कोय परयो दृढ़बंधन... कोई बन्धन में पड़ा हो उसमें **दुखकारी,...** वह दुःखरूप जाने। **चिंत करै...** उसे दुःखरूप जाना करे, इससे कहीं छिदता नहीं है। बन्धन को दुःखरूप जाने और जाना करे, इसलिए बन्धन छिदता नहीं है। तथा उसका चिन्तन किया करे तो भी छिदता नहीं है। दो बातें आ गयी है न पहले? **निति कैम कटे यह तौऊ छिदै नहि नैक टिकारी।** उसकी - बन्ध की चिन्ता किया करे, बन्धन ऐसा है और वैसा है, कर्म का उदय सत्ता है और ऐसी कर्म की और बन्ध की बातें किया करे, इससे छिदता नहीं है, कहते हैं। उसकी-बन्ध की चिन्ता किया करे तो भी वह कर्म छिदता नहीं है।

छेदनकूं गहि आयुध धाय... परन्तु छेदनकूं गहि आयुध होय तो छेदे। **चलाय निशंक करै दुय धारी,...** दो भाग कर डाले। **यों बुध बुद्धि धसाय दुधा करि...** यों ज्ञानी बुद्धि द्वारा दुधा करके—कर्म और आत्मा दोनों को भिन्न करके। आहाहा! भिन्न हैं परन्तु (एक) माने हैं, इसलिए उन्हें भिन्न करके, आहाहा! दो द्रव्य कभी एक हुए नहीं परन्तु माना है। उसकी दृष्टि द्रव्य के ऊपर नहीं और पर के ऊपर है, इसलिए उसे छेदा। पर के ऊपर की कर्म की जो बुद्धि थी, उसे छेदकर भेदज्ञान किया। **आतम आप गहारी।** आत्मा को पकड़ा। पर को दूर करके, कर्मबन्धन को दूर करके आत्मा को अनुभव किया, उसका नाम मोक्ष है। लो!

इस प्रकार श्री समयसार की (श्रीमत्भगवत्कुन्दकुन्दाचार्यदेवप्रणीत श्री समयसार परमागम की) श्रीमद् अमृतचन्द्राचार्यदेवविरचित आत्मख्याति नामक टीका में मोक्ष का प्ररूपक आठवाँ अंक समाप्त हुआ। लो!

– ९ –
सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार

अथ प्रविशति सर्वविशुद्धज्ञानम्।

(मन्दाक्रान्ता)

नीत्वा सम्यक् प्रलयमखिलान् कर्तृभोक्त्रादिभावान्,
दूरीभूतः प्रतिपद–मयं बन्ध–मोक्ष–प्रक्लृप्तेः।
शुद्धः शुद्धः स्वरस–विसरापूर्ण–पुण्याचलार्चि–
ष्टङ्कोत्कीर्ण–प्रकट–महिमा स्फूर्जति ज्ञान–पुञ्जः ॥१९३॥

सर्वविशुद्ध सुज्ञानमय, सदा आतमाराम।
परकूं करै न भोगवै, जानै जपि तसु नाम॥

प्रथम टीकाकार आचार्यदेव कहते हैं कि–'अब सर्वविशुद्धज्ञान प्रवेश करता है।'

मोक्षतत्त्व के स्वांग के निकल जाने के बाद सर्वविशुद्धज्ञान प्रवेश करता है। रंगभूमि में जीव–अजीव, कर्ताकर्म, पुण्य–पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष – आठ स्वांग आये, उनका नृत्य हुआ और वे अपना अपना स्वरूप बताकर निकल गये। अब सर्व स्वाँग के दूर होने पर एकाकार सर्वविशुद्धज्ञान प्रवेश करता है।

उसमें प्रथम ही, मंगलरूप से ज्ञानपुञ्ज आत्मा की महिमा का काव्य कहते हैं–

श्लोकार्थ : [अखिलान् कर्तृ–भोक्तृ–आदि–भावान् सम्यक् प्रलयम् नीत्वा] समस्त कर्ता–भोक्ता आदि भावों को सम्यक् प्रकार से (भलीभाँति) नाश को प्राप्त कराके [प्रतिपदम्] पद पद पर (अर्थात् कर्मों के क्षयोपशम के निमित्त से होनेवाली प्रत्येक पर्याय में) [बन्ध–मोक्ष–प्रक्लृप्तेः दूरीभूतः] बन्ध–मोक्ष की रचना से दूर वर्तता हुआ, [शुद्धः शुद्धः] शुद्ध–शुद्ध (अर्थात् रागादि मल तथा आवरण से रहित) [स्वरस–विसर–आपूर्ण–पुण्य–अचल–अर्चिः] जिसका पवित्र अचल तेज निजरस के (ज्ञानरस

के, ज्ञानचेतनारूपी रस के) विस्तार से परिपूर्ण है ऐसा, और [टंकोत्कीर्ण-प्रकट-महिमा] जिसकी महिमा टंकोत्कीर्ण प्रगट है ऐसा यह, [अयं ज्ञानपुञ्जः स्फूर्जति] ज्ञानपुञ्ज आत्मा प्रगट होता है।

भावार्थ : शुद्धनय का विषय जो ज्ञानस्वरूप आत्मा है, वह कर्तृत्व-भोक्तृत्व के भावों से रहित है; बन्ध-मोक्ष की रचना से रहित है; परद्रव्य से और परद्रव्य के समस्त भावों से रहित होने से शुद्ध है; निजरस के प्रवाह से पूर्ण दैदीप्यमान ज्योतिरूप है और टंकोत्कीर्ण महिमामय है। ऐसा ज्ञानपुञ्ज आत्मा प्रगट होता है।।१९३।।

कलश - १९३ पर प्रवचन

सर्वविशुद्ध अपने आ गया है तो भी फिर से (लेते हैं)। इसमें—कक्षा में आ गया है। सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार। सब स्वांग निकल गये। अकेला ज्ञाता-दृष्टा था, वह रह गया। उसे यहाँ सर्वविशुद्धज्ञान कहते हैं। सर्वविशुद्ध—जिस ज्ञान को बन्ध और मोक्ष भी जिसमें नहीं। आहाहा! बन्ध, मोक्ष वह पर्याय है। जिस ज्ञान में वह बन्ध और मोक्ष का वेश नहीं है, ऐसा त्रिकाली ज्ञान, ऐसी पूर्ण पवित्र दशा (हुई), उसे यहाँ सर्वविशुद्धज्ञान कहते हैं।

सर्वविशुद्ध सुज्ञानमय, सदा आतमाराम।
परकूं करै न भोगवै, जानै जपि तसु नाम।।

सर्वविशुद्धज्ञानमय। आत्मा तो सर्वविशुद्धज्ञानमय है, चैतन्य प्रकाश का पूर है। चैतन्य के प्रकाश के नूर का तेज का पूर है। तब क्यों दिखाई नहीं देता? कहा था न डॉक्टर चन्दुभाई ने! ऐसा स्तम्भ। चित्त को स्तम्भ से बाँधा, ऐसा आया था न? आहाहा! परन्तु वह नजर कब की है अन्दर? जहाँ है, वहाँ नजर की नहीं, फिर दिखता नहीं—इसका अर्थ क्या? जहाँ है, वहाँ नजर करे तो दिखाई न दे, ऐसा नहीं रहता। वह दिखता ही है। आहाहा! वस्तु तो अन्दर है राग, पुण्य, दया, दान के विकल्प से भी अन्दर भिन्न है और जहाँ है, वहाँ नजर न करे; नहीं है, वहाँ नजर करे और फिर (कहे) दिखाई नहीं देता। आहाहा! बाहर की चीज़ में यदि ठीक होवे तो आँखें ऐसे टक... टक... टक... देखा करती है। ऐसी चीज़ हो, नाटक या यह फिल्म, फिल्म (होती है)... आहाहा! वहाँ आँखें पर को देखने के लिये

टक... टक... किया करती है। अपने को देखने के लिये कभी फुरसत नहीं निकालता। आहाहा!

अपने को देखने के लिये वह स्वयं कौन है? अन्दर ज्ञानानन्दस्वरूप सच्चिदानन्द प्रभु परम शुद्ध परमात्मा है। वह आत्मा अन्दर स्वयं परम आत्मा अर्थात् परम स्वरूप है। आहाहा! अन्दर देह में आत्मा है, वह तो परम स्वरूप परमात्मा है, उसकी अवस्था पर्याय में सब भूल है। आहाहा! फिर कहे, क्यों दिखाई (नहीं देता)? कितने ही कहते हैं, परन्तु मैं नहीं, मुझे दिखता नहीं। परन्तु 'मैं नहीं'—ऐसा किस सत्ता में तूने मैं नहीं का निर्णय किया? उस ज्ञान की सत्ता में 'मैं नहीं' ऐसा निर्णय होता है। ज्ञान का अस्तित्व, उसमें निर्णय होता है। अज्ञान अन्धकार में होगा? 'मैं नहीं', वहाँ ही कहा कि मैं हूँ। आहाहा!

मुमुक्षु : आपने मुँह बन्द कर दिया।

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु बात ही पूरी वस्तु... यह सब ज्ञात होता है। कहाँ जड़ में कहाँ गया है यह? जड़ को स्पर्श कब करता है? वह तो वास्तव में अपनी ज्ञान की पर्याय को ही जानता है। आहाहा! यह बड़ा अन्तर, पूर्व-पश्चिम का अन्तर है। यह सब जिसकी सत्ता में ज्ञात होता है, वह सत्ता ज्ञान सत्ता है। वह यह सब सत्ता से, इसकी सत्ता भिन्न है। जाननेवाले की सत्ता और जानने में आवे, उसकी सत्ता दोनों की भिन्न है। तो भी जो ज्ञात होता है, ऐसा कहना वह व्यवहार है। आहाहा! मेरे ज्ञान की पर्याय ही उसे जानने की ओर झुकी हुई है, पर्याय ही मेरी ऐसी है। परको जानती नहीं, अपनी पर्याय को जानती है। पर को जानना कहना, वह असद्भूत व्यवहारनय है, निमित्तपना बतलाने को (कहा जाता है)। आहाहा! ऐसा कठिन काम। अब दूसरा धन्धा नहीं करना? अमुक नहीं करना?

पर को जानना, वह भी तेरा ज्ञान है, वह कहीं पर के कारण तू नहीं जानता। वह तेरा ज्ञान है, वह ज्ञान जानता है। ज्ञान में ज्ञान कर्ता होकर, ज्ञान कर्म होकर स्वयं अपने कार्य को करता है। और वह ज्ञान होता हुआ ज्ञान स्वयं अपने में रखता है। वह कहीं जिसे जानता है, व्यवहार से जानता है, उसके साथ ज्ञान मिलता नहीं है। आहाहा! बहुत कठिन काम।

चैतन्यस्वरूप भगवान आत्मा चैतन्य का पूर है, नूर का तेज है। उसमें जो कुछ पर ज्ञात होता है—ऐसा कहना, वह व्यवहार है। वह स्वयं ही अपने को जानता है। स्वयं ज्ञेय,

स्वयं ज्ञान, स्वयं ज्ञाता। गाथा आती है। स्वयं ज्ञेय—ज्ञात होने योग्य तो भी स्वयं, जाननेवाला भी स्वयं और जानने का साधन ज्ञान वह स्वयं। आहाहा! यह कहते हैं, देखो!

सर्वविशुद्ध सुज्ञानमय, सदा आतमाराम, सदा आतमाराम,... सदा आत्माराम सर्वविशुद्ध सुज्ञानमय है। वह तो सदा सुज्ञानमय ही है और सर्वविशुद्ध ही है। आहाहा! चैतन्य द्रव्यस्वभाव सर्वविशुद्ध और सुज्ञानमय है। **सदा आतमाराम। परकूं करै न भोगवै,...** आहाहा! उस आत्मा के अतिरिक्त शरीर का, वाणी का, कर्म का, स्त्री-कुटुम्ब-परिवार का, गाँव का, देश का कुछ कर नहीं सकता, पर का कुछ नहीं कर सकता। आहाहा! यह पूरा समय उसमें जाता है कि इसका करता हूँ, इसका करता हूँ, इसका करूँ, इसके लिये करता हूँ, इसके लिये करता हूँ। इसके लिये करता हूँ, परन्तु यह इसके लिये करता हूँ, यह भाव किसका है? भाव तो तेरा है। आहाहा! बहुत कठिन काम।

करै न भोगवै,... पर को तो करे नहीं और पर को तो भोगे नहीं, ऐसा आत्मा है। राग को भी करे नहीं और राग को भी भोगे नहीं, ऐसा आत्मा है। आहाहा! अरे! बन्ध को करे नहीं और मोक्ष को करे नहीं, ऐसा आत्मा है। आहाहा! त्रिकाली स्वरूप है, उसे बन्ध-मोक्ष कैसा? और पर्याय में भी जब सर्वविशुद्धज्ञान हुआ अर्थात् पर्याय को जाननेवाला हुआ। जानता है कि यह राग है, यह बन्ध है; मोक्ष की पर्याय निर्मल है, ऐसा केवलज्ञान में ज्ञात होता है परन्तु स्वयं जाननेवाला बन्ध में है, ऐसा नहीं। वह तो एक समय की पर्याय में बन्ध में है, ऐसा अपना ज्ञान भिन्न जानता है। जाननेवाला बन्ध में नहीं है, बन्ध में तो एक समय की पर्याय है। इसी तरह मोक्ष की पर्याय में मोक्ष, मोक्ष जाननेवाले में मोक्ष नहीं है। यह क्या कहा यह? जाननेवाला भगवान है, उसमें मोक्ष नहीं है। वह तो मोक्ष की तो पर्याय है, उसे वह जानता है। अरे... अरे...! ऐसी बातें। पकड़ना कठिन। क्या करना यह? **परकूं करै न भोगवै, जानै जपि तसु नाम।** यह विशेष कितना व्यवहार करे? उसे जाने, जैसा है वैसा जाने, बस!

प्रथम टीकाकार आचार्यदेव कहते हैं कि-'अब सर्वविशुद्धान प्रवेश करता है।'

नीत्वा सम्यक् प्रलयमखिलान् कर्तृभोक्त्रादिभावान्,
दूरीभूतः प्रतिपद-मयं बन्ध-मोक्ष-प्रक्लृप्तेः।

शुद्धः शुद्धः स्वरस-विसरापूर्ण-पुण्याचलार्चि-
ष्टङ्कोत्कीर्ण-प्रकट-महिमा स्फूर्जति ज्ञान-पुञ्जः ॥१९३॥

यह सर्वविशुद्ध का मांगलिक किया।

मोक्षतत्त्व के स्वांग के निकल जाने... लो! ठीक। एक समय की पर्याय थी। वह द्रव्य में कहाँ है द्रव्य में? आहाहा! और द्रव्य में नहीं तथा पर्याय में है, क्या यह तो बातें? किसी प्रकार की यह बात? कभी सुनी न हो। वह सुना हो कि सामायिक करो, प्रौषध करो और प्रतिक्रमण करो तथा छह परबी ब्रह्मचर्य पालन करो और छह परबी अमुक करो, ऐसा क्रियाकाण्ड का-राग का सुना हो, उसमें कहीं वहाँ आत्मा नहीं है। आहाहा!

यहाँ कहते हैं, 'मोक्षतत्त्व का स्वांग निकल गया', आत्मा में एक समय की पर्याय, वह स्वांग थी। वस्तु है, वह त्रिकाली आनन्दकन्द है; मोक्ष एक समय की पर्याय है। भले वह पर्याय सादि-अनन्त रहे। परन्तु वह पर्याय वहाँ दो पर्यायें इकट्ठी नहीं होती। क्या कहा? द्रव्यस्वभाव है, वह तो एकरूप अनन्त गुण का पिण्ड पूरा है और इसलिए उसे मोक्ष है, इसलिए एक समय की पर्याय है। वह स्वांग निकल गया अर्थात् एक समय की पर्याय है, वह दूसरे समय में नहीं होती। दो समय का इकट्ठा नहीं होता। यहाँ तो अनन्त गुणों का इकट्ठा (एकरूप) आत्मा है। आहाहा!

अनन्त गुण का स्वामी आत्मा अन्दर, उसे मोक्ष तो एक समय की पर्याय है। ज्ञान में जान लिया, यह मोक्ष है, जाना बस! करने का कुछ नहीं उसे। जाना। आहाहा! मोक्ष भी करना नहीं, हों! हो गया, उसे जानता है। आहाहा! क्योंकि केवलज्ञान हो, वह भी एक समय की पर्याय है। केवलज्ञान दो समय इकट्ठा नहीं रहता। और यह तो अनन्त गुण का पिण्ड एक साथ इकट्ठा रहता है। आहाहा! अनन्त... अनन्त... अनन्त... गुण का पिण्ड इकट्ठा एक समय में है। आहाहा! उसे यह पर्याय है, वह एक समय की है। केवलज्ञान हो तो भी वह, क्षायिक समकित हो तो भी वह और केवलदर्शन हो तो, अनन्त वीर्य हो तो वह। एक समय की पर्याय दूसरे समय साथ में इकट्ठी नहीं होती। इसलिए ज्ञानी उसे जानता है, उसे करता-भोगता नहीं है। जानता है, उसे अपने भाव को कर्ता-भोक्ता जानता है, कर्ता-भोक्ता होता है।

मोक्षतत्त्व के स्वांग के निकल जाने के बाद सर्वविशुद्धज्ञान प्रवेश करता है। रंगभूमि में... जीव-अजीव अधिकार आ गया। कर्ता-कर्म आया, पुण्य-पाप का आ गया, आस्रव का आ गया, संवर का, निर्जरा का, बन्ध का और मोक्ष—ये आठ स्वांग कहे, लो! यह भगवान आत्मा के आठों ही स्वांग हैं। जैसा बन्ध का स्वांग, वैसा मोक्ष का स्वांग। आहाहा! दया, दान के परिणाम हैं, वे बन्ध के कारण हैं, वह भी बन्ध का स्वांग है। क्योंकि वह विकार है और मोक्ष है, वह निर्विकार है, वह भी एक स्वांग है, एक पर्याय उस समय की है। आहाहा!

आठ स्वांग आये, उनका नृत्य हुआ... अर्थात् कि उसका परिणमन ज्ञात हुआ। **और वे अपना अपना स्वरूप बताकर निकल गये।** आहाहा! अकेला ज्ञायकभाव रह गया। उन आठों स्वांगों को जाना। अकेला ज्ञायकस्वरूप भगवान सच्चिदानन्द प्रभु अनन्त गुण का गम्भीर समुद्र एक रह गया, कहते हैं। आहाहा! है? **अपना-अपना स्वरूप बताकर निकल गये। अब सर्व स्वाँग के दूर होने पर एकाकार सर्वविशुद्धान प्रवेश करता है।** आहाहा! सूक्ष्म बात है।

(उसमें प्रथम ही, मंगलरूप से ज्ञानपुञ्ज आत्मा की महिमा का काव्य कहते हैं-)

नीत्वा सम्यक् प्रलयमखिलान् कर्तृभोक्त्रादिभावान्,
दूरीभूतः प्रतिपद-मयं बन्ध-मोक्ष-प्रक्लृप्तेः।
शुद्धः शुद्धः स्वरस-विसरापूर्ण-पुण्याचलार्चि-
ष्टङ्कोत्कीर्ण-प्रकट-महिमा स्फूर्जति ज्ञान-पुञ्जः॥१९३॥

नीचे **अर्थ :- 'अखिलान् कर्तृ-भोक्तृ-आदि-भावान् सम्यक् प्रलयम् नीत्वा' समस्त कर्ता-भोक्ता आदि भावों को सम्यक् प्रकार से (भलीभाँति) नाश को प्राप्त कराके...** आहाहा! एक रजकण को मैं हिलाऊँ या छोड़ूँ, यह मेरे अधिकार की बात नहीं है।

मुमुक्षु : रजकण तो कहाँ पकड़ सकता है?

पूज्य गुरुदेवश्री : है ही नहीं, पकड़ना है कहाँ?

मुमुक्षु : भेदज्ञान होना चाहिए?

पूज्य गुरुदेवश्री : भेदज्ञान ही वस्तुस्वरूप ही यह है। भेदस्वरूप ही है। यहाँ तो भेदस्वरूप कहा इतना। आहाहा!

समस्त कर्ता-भोक्ता आदि भावों को सम्यक् प्रकार से (भलीभाँति) नाश को प्राप्त कराके... आहाहा! समस्त मेरे द्रव्य के अतिरिक्त दूसरे सब द्रव्यों का कुछ भी कर्ता-भोक्तापना आत्मा में है नहीं। आहाहा! यहाँ तो यह ज्ञानस्वरूप ऐसा प्रगट हुआ, वह तो बन्ध को, मोक्ष को, उदय को, निर्जरा को जानेगा, जानता है। आहाहा!

क्योंकि जिस समय में जो पर्याय होनी है, सम्यग्दृष्टि ने भी जो द्रव्य का स्वभाव पकड़ा है और इससे उसमें भाव नाम का गुण है, उस गुण के कारणजो पर्याय होनेवाली है, वह होती ही है। मैं करूँ तो होती है, न करूँ तो नहीं होती, वहाँ ऐसा है ही नहीं। आहाहा! उस भाव नाम के गुण का स्वरूप ही ऐसा है कि जो द्रव्यदृष्टि हुई अर्थात् भाव गुण अन्दर था, वह समय-समय में जो पर्याय आनेवाली है, वह भावगुण के कारण पर्याय आती ही है, पर्याय होती ही है। पर्याय करूँ तो होती है, ऐसा नहीं, पर्याय होती ही है। अरे.. अरे..! ऐसा कठिन काम।

समस्त कर्ता-भोक्ता आदि भावों को सम्यक् प्रकार से (भलीभाँति) नाश को प्राप्त कराके... तथा भोक्ता, आहार का भोक्ता, स्त्री के शरीर का भोक्ता, मकान का भोक्ता यह आत्मा नहीं है। आहाहा! वह तो जड़ की अवस्था है। जड़ की अवस्था आत्मा भोग नहीं सकता। आहाहा! रोटी, दाल, भात, सब्जी, यह आत्मा भोग नहीं सकता और रोटी के दो टुकड़े आत्मा कर नहीं सकता, उसका कर्ता हो सकता नहीं। आहाहा! ऐसी चीज़ कठिन पड़ती है। सब पूरे दिन करना और कहे कि नहीं कर सकता। करना तू मानता है पूरे दिन। है कहाँ? वह तो ज्ञानस्वरूप भगवान तो है। जाननेवाला जानता है कि यह है, ऐसा जानता है। उसमें करना कहाँ आया? भोगने का, पर को भोगने का कहाँ आया अन्दर में? आत्मा पर को स्पर्श करता है? आत्मा पर को छूता है, कि भोगे? स्पर्श करे, वह भोगे। आहाहा! भारी बात यह?

समस्त कर्ता-भोक्ता आदि भावों को सम्यक् प्रकार से (भलीभाँति) नाश

को प्राप्त कराके... देखा? सम्यक् प्रकार से कहा न? '**सम्यक् प्रलयम्**' है न इसमें? **सम्यक् प्रकार से (भलीभाँति) नाश को प्राप्त कराके...** जैसे वस्तु है, उस प्रकार से जानकर नाश प्राप्त कराकर। धारणा में अकेली बात ले लेवे, ऐसा नहीं—ऐसा कहते हैं। आहाहा! धारणा में बात ले लेवे कि आत्मा कर्ता-भोक्ता नहीं है। यह नहीं है। यहाँ तो **सम्यक् प्रकार से (भलीभाँति) नाश को प्राप्त कराके...** यह आचार्य की शैली ऐसी है। ऐसा सब जहाँ आवे, तब 'सम्यक्' शब्द रखते हैं। सम्यक् प्रकार से जानकर, सम्यक् प्रकार से देखकर, सम्यक् प्रकार से श्रद्धा करके। आहाहा! (इसका अर्थ) परिणमन कर, ऐसा कहते हैं। अकेला जानपना ही न रखे। अकेला जानपना रहे, वह तो ज्ञान का उघाड़ क्षयोपशम है। वह कोई चीज़ आत्मा नहीं है। आहाहा! ऐसा क्षयोपशम तो अभव्य को भी होता है। अभव्य को क्षयोपशम है, इससे वह क्षयोपशम आत्मा को लाभ करे, ऐसा कुछ नहीं है। आहाहा!

कर्ता-भोक्ता आदि भावों को सम्यक् प्रकार से (भलीभाँति) नाश को प्राप्त कराके... आहाहा! '**सम्यक् प्रलयम् नीत्वा**' आहाहा! चैतन्य आनन्दकन्द प्रभु का पूर्ण आश्रय लेकर इन सब रागादि का नाश करे और उसका कर्ता तथा भोक्ता न हो। आहाहा!

'प्रतिपदम्' पद पद पर (अर्थात् कर्मों के क्षयोपशम के निमित्त से होनेवाली प्रत्येक पर्याय में) 'बन्ध-मोक्ष-प्रक्लृप्तेः' बन्ध-मोक्ष की रचना से दूर वर्तता हुआ,... आहाहा! कहते हैं, समय-समय में जो आत्मा है, वह बन्ध और मोक्ष की पर्याय से दूर वर्तता है। बन्ध और मोक्ष, वह पर्याय है। आहाहा! ऐसा कठिन काम। मोक्ष, वह पर्याय है, उससे दूर वर्तता हुआ—मोक्ष से दूर वर्तता हुआ। आहाहा! '**बन्ध-मोक्ष प्रक्लृप्तेः दूरीभूतः**' संस्कृत है न? **बन्ध-मोक्ष की रचना से दूर...** बन्ध को रचे और मोक्ष को रचे, उससे भगवान दूर है। आहाहा! वह तो ज्ञायकस्वभाव, चैतन्यस्वभाव, आनन्दस्वभाव, नित्यानन्द प्रभु ज्ञानदर्पण, त्रिकाली ध्रुव, वह बन्ध और मोक्ष को नहीं करता। आहाहा! है?

कर्ता-भोक्ता आदि भावों को सम्यक् प्रकार से (भलीभाँति) नाश को प्राप्त कराके... आहा! **प्रत्येक पर्याय में बन्ध-मोक्ष की रचना से दूर वर्तता हुआ,...** ओहोहो! प्रत्येक समय में द्रव्य अर्थात् आत्मा में दृष्टि के कारण आत्मा का अनुभव होने से

पर्याय में बन्ध और मोक्ष की रचना से रहित है। है? **बन्ध-मोक्ष की रचना से दूर वर्तता हुआ,...** कहो! अब मोक्षमार्ग तो कहीं रह गया, निश्चय, हों! व्यवहारनय तो कहीं रह गया। व्यवहारमोक्षमार्ग तो कहीं (रह गया)। यह व्यवहार है ही नहीं। निश्चयमोक्षमार्ग है, वह पर्याय है, उससे भी आत्मा दूर वर्तता है। आहाहा! सत्य को शोधना नहीं, और जिसमें वाड़ा में पड़े, उस वाड़ा में सिर पर (कहे जानेवाला गुरु जो) कहे, हाँ-हाँ करके जिन्दगी निकाले। आहाहा! जिस चारा डालने की जगह में घास डाले भैंस उसे खाये, ढोर वह खाये। जिस गमाण (चारा-पानी डालने की जगह) में जो पड़ा हो, उसे ढ़ोर खाये न? इसी प्रकार जिस सम्प्रदाय में जो बात मिले, उसे वह माने। आहाहा! परन्तु तुलना की नहीं कि यह सत्य क्या है? असत्य क्या है? आहाहा!

बन्ध-मोक्ष की रचना से दूर वर्तता हुआ,... गजब शब्द है। **शुद्ध-शुद्ध (अर्थात् रागादि मल तथा आवरण से रहित है ऐसा)** दो शब्द है न? एक में तो रागादि मल से रहित है और दूसरे में आवरण जड़कर्म, दोनों से रहित है। आहाहा! प्रभु में तो अन्दर आवरण भी नहीं और मल भी नहीं। दया, दान का मल भी उसमें नहीं और जड़कर्म का आवरण, वह भी नहीं। आहाहा!

आया न? उसमें आया न? लोग्गस में आया। 'विहुयरयमला'। लोग्गस है न? हे भगवान! आपने विहुय अर्थात् टाले हैं। रज, रज—कर्म टाले हैं। यह भी एक अपेक्षित वचन है। कर्म और मैल। मैल, वह राग-द्वेष है, रज अर्थात् जड़-कर्म। 'विहुयरयमला' लोग्गस है, वह इसका अर्थ यह है, प्रभु! भगवान की स्तुति करते हैं, कि आप कर्म के रज से दूर हो, टाले हैं और पुण्य और पाप का मैल है, वह भी आपने टाला है। आहाहा!

बन्ध-मोक्ष से दूर वर्तता शुद्ध, शुद्ध। देखो! **'स्वरस-विसर-आपूर्ण-पुण्य-अचल-अर्चिः' जिसका पवित्र अचल तेज निजरस के...** जिसका पवित्र अचल तेज, पवित्र अचल तेज चैतन्य का तेज अन्दर है। आहाहा! जानन-देखन का तेज, अन्दर चन्द्रमा शीतल / ठण्डा पड़ा है। आहाहा! **पवित्र अचल तेज निजरस के (ज्ञानरस के, ज्ञानचेतनारूपी रस के) विस्तार से परिपूर्ण है ऐसा,...** आहाहा! यह तो ज्ञान में, अनुभव में भरपूर है। वह पर का कर्ता-भोक्ता नहीं है। आहाहा! अपना जो ज्ञानस्वभाव, उसके रस में पूर्ण है।

ज्ञानचेतनारूपी रस के विस्तार... देखा? '**स्वरस-विसर**' है न? '**आपूर्ण-पुण्य-अचल-अर्चि:**' पूर्ण हो जाता है उसका। आहाहा! वह सर्वज्ञस्वभावी, आत्मा सर्वज्ञस्वभावी ही है। उस द्रव्य पर दृष्टि जाने से सर्वज्ञस्वभाव पर्याय में आता है अर्थात् पूर्ण ज्ञान हो जाता है। आहाहा! परन्तु उसका उपाय क्या? उसका उपाय कहा न?—ऐसे शुद्ध स्वरूप की श्रद्धा, ज्ञान और उसका आचरण, वह उसका उपाय है; दूसरा उपाय कुछ है नहीं। आहाहा! बाहर की क्रियाकाण्ड के आडम्बर, बड़े आडम्बर चले जाएँ, उसमें जरा भी धर्म नहीं है। आहाहा! आडम्बर हैं, सब आडम्बर।

जिसका पवित्र अचल तेज निजरस के विस्तार से परिपूर्ण है ऐसा, और... 'टंकोत्कीर्ण-प्रकट-महिमा' जिसकी महिमा (शाश्वत्) टंकोत्कीर्ण प्रगट है... टंकोत्कीर्ण (अर्थात्) जिसकी महिमा शाश्वत् है। आहाहा! किसी से घड़ाई हुआ नहीं है, किसी से घड़तर से खड़ा नहीं हुआ है। आहाहा! ऐसा जो भगवान शाश्वत् प्रगट है। शाश्वत् अन्दर प्रभु प्रगट है, उस शाश्वत् वस्तु पर नजर न करके, अपना शाश्वत्पना न रखकर, स्वयं शाश्वत है, इसलिए दूसरी चीज़ को भी नित्य सिद्ध करना चाहता है। मेरे पास दूसरी सब चीजें रहना। पैसा, इज्जत, कीर्ति (रहना), क्योंकि यह नित्य है, इस नित्य का भान नहीं। पश्चात् उस चीज़ को नित्य सिद्ध करना चाहता है। बाहर की चीज़ पैसा, इज्जत, कीर्ति मेरे पास रहना। यह मूढ़ता है, अज्ञान है। आहाहा! स्वयं शाश्वत् है, नित्य है, ऐसा स्वयं जानता नहीं; इसलिए सामने की चीज़ को नित्य-कायम टिके—ऐसा करना चाहता है। शरीर टिके, वाणी टिके, पैसा टिके, इज्जत टिके, स्त्री-पुत्र सम्हालना, यह सब ठीक से टिके—ऐसा इसे नित्य का उद्यम है। यह नित्य का उद्यम छोड़कर उस नित्य का (उद्यम) करने का मिथ्या प्रयत्न करता है। वह नित्य कभी होता नहीं और इसका पुरुषार्थ सुलटा होता नहीं। आहाहा! ऐसा तो बाबा होवे तो समझ में आवे। बाबा ही है, ऐसा यहाँ कहा न? बन्ध-मोक्ष का भी कर्ता नहीं, फिर तुझे प्रश्न क्या? बाबा ही है। आहाहा! बन्ध-मोक्ष को जाननेवालाा। आहाहा! यह तो बात है! बन्ध-मोक्ष को जाननेवाला, बन्ध-मोक्ष को जाननेवाला। प्रगट जिसकी शाश्वत महिमा है। **यह ज्ञानपुञ्ज आत्मा प्रगट होता है।** लो! ऐसा भगवान ज्ञानपुंज जो है, वह प्रगट होता है।

भावार्थ :– शुद्धनय का विषय जो ज्ञानस्वरूप आत्मा है,... क्या कहते हैं अब ? कि सम्यग्दर्शन, इस दर्शन की अपेक्षा से; ज्ञान की अपेक्षा से शुद्धनय, उसका विषय ज्ञानस्वरूप आत्मा। अकेला आत्मा सम्यग्दर्शन का विषय है, पर्याय नहीं। दया, दान के विकल्प तो कहीं रह गये, वह तो विकार है। आहाहा! शुद्धनय का विषय कहो, समकित का विषय कहो। सम्यग्दृष्टि का ध्येय / विषय ज्ञानस्वरूप आत्मा है। आहाहा! वह तो ज्ञानस्वरूपी प्रभु, ऐसा साथ में ले लिया कि आत्मा अर्थात् क्या ? ज्ञानस्वरूप, ऐसा। आत्मा ध्येय में है परन्तु वह कैसा ? कि वह ज्ञानस्वरूप आत्मा है। वह ज्ञानस्वरूप आत्मा, वह सम्यग्दृष्टि का विषय है / ध्येय है। पहले धर्म की श्रेणी। शुरुआत की धर्म की पहली श्रेणी, पहला सोपान। आहाहा!

उसे **शुद्धनय का विषय जो ज्ञानस्वरूप आत्मा है, वह कर्तृत्व–भोक्तृत्व के भावों से रहित है,...** ऐसा जो ज्ञान, वह पर के कर्ता–भोक्तापने से रहित है। आहाहा! यह सब व्यवस्थापक व्यवस्था करनेवाले निकलते हैं न गाँव–गाँव में ? कार्यकर्ता नहीं कहते ? ढेबरभाई और सबको कार्यकर्ता कहते हैं न ? आते थे न, यहाँ आते थे, व्याख्यान में भी आते। कार्यकर्ता, व्यवस्थापक, अमुक संस्था के व्यवस्थापक हैं, अमुक संस्थान के वे देखरेख करनेवाले और बनानेवाले हैं। यह दुनिया से बहुत उल्टा है। जो व्यवस्थित है, उसकी व्यवस्था करे कौन ? क्या कहा यह ? जगत के जड़–चैतन्य की अवस्था तो व्यवस्थित है। जिस अनुसार होनी है, वह व्यवस्थित होती ही है। किसी की की हुई होती है, ऐसा नहीं तथा उल्टी–सीधी होती है, ऐसा नहीं। आहाहा! भारी कठिन काम। यह सब मण्डल के नायक होते हैं बड़े, प्रमुख होते हैं। सब काम करे, नहीं ? अच्छे काम करे। आहाहा! कहते हैं, वह कुछ नहीं होता।

इन **कर्तृत्व–भोक्तृत्व के भावों से रहित है, बन्ध मोक्ष की रचना से रहित है,...** त्रिकाली स्वभाव में वह कहाँ है ? त्रिकाली स्वभाव पर दृष्टि होने से बन्ध–मोक्ष की रचना भी नहीं है। आहाहा! भाव मोक्ष, हों! आहाहा! उसकी रचना से रहित है। आहाहा! **परद्रव्य से और परद्रव्य के समस्त भावों से रहित होने से...** परद्रव्य से... आहाहा! शरीर, वाणी, स्त्री, कुटुम्ब, परिवार, देश। यह मेरा देश है, यह मेरा देश है... 'हमची मुम्बई'!

मुम्बई में चलता है न? तुम्हारे महाराष्ट्रवाले, महाराष्ट्रवाले सब। (कहते हैं) 'हमची मुम्बई'! धूल की मुम्बई। आहाहा! ऐसा वहाँ बोलते हैं। हमारा राजकोट, हमारा वढवाण, हमारा लीमडी। कहाँ लीमडी और वढवाण?

परद्रव्य से और परद्रव्य के समस्त भावों से रहित होने से... परद्रव्य और परद्रव्य के भाव। जैसे परमाणु में वर्ण, गन्ध आदि। दूसरे आत्मा में ज्ञान, दर्शन आदि। वे सब परभाव। उन **परद्रव्य के समस्त भावों से रहित होने से...** आहाहा! परजीव से तो रहित है, परन्तु परजीव के भाव से भी रहित है। आहाहा! परजीव भाव के भाव को आत्मा करे, ऐसा बने नहीं, ऐसा कहते हैं। आहाहा! कठिन लगे। यह सर्वविशुद्ध अधिकार है न? सब अधिकार पूरा होने के बाद शिखर में मन्दिर पर कलश चढ़ाते हैं न? यह बड़ा कलश है।

निजरस के प्रवाह से... भगवान आत्मा स्वरस अर्थात् आनन्दरस, अतीन्द्रिय आनन्द। आत्मा तो अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप है। जो यह इन्द्रिय के विषय हैं, वे तो जहर हैं। इन्द्रियों के विषय का भोग तो जहर का प्याला पीता है और मानता है कि हमें मजा आता है। आहाहा! यह तो अतीन्द्रिय अपने स्वरस का प्रवाह, आनन्दरस का प्रवाह आता है। आहाहा! प्रवाह अर्थात् ऐसे ध्रुव आनन्द की धारा बहती है। **निजरस के प्रवाह से पूर्ण दैदीप्यमान ज्योतिरूप है...** आहाहा! **और टंकोत्कीर्ण महिमामय है।** शाश्वत् महिमावाला है। **ऐसा ज्ञानपुञ्ज आत्मा प्रगट होता है।** लो! **ऐसा आत्मा प्रगट होता है।** इसकी विशेष व्याख्या आयेगी..... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

कलश - १९४

अब सर्वविशुद्धज्ञान को प्रगट करते हैं। उसमें प्रथम, 'आत्मा कर्ता-भोक्ता-भाव से रहित है' इस अर्थ का, आगामी गाथाओं का सूचक श्लोक कहते हैं-

(अनुष्टुप्)

कर्तृत्वं न स्वभावोऽस्य चितो वेदयितृत्ववत्।
अज्ञाना-देव कर्तायं तदभावा-दकारकाः ॥१९४॥

श्लोकार्थ : [कर्तृत्वं अस्य चितः स्वभावः न] कर्तृत्व इस चित्स्वरूप आत्मा का स्वभाव नहीं है, [वेदयितृत्ववत्] जैसे भोक्तृत्व स्वभाव नहीं है। [अज्ञानात् एव अयं कर्ता] वह अज्ञान से ही कर्ता है, [तद्-अभावात् अकारकः] अज्ञान का अभाव होने पर अकर्ता है॥१९४॥

प्रवचन नं. ३७९, श्लोक- १९४, गाथा - ३०८ से ३११ गुरुवार, पौष शुक्ल ९
दिनाङ्क - २७-१२-१९७९

समयसार, सर्वविशुद्ध अधिकार। १९४ कलश है, १९४।

कर्तृत्वं न स्वभावोऽस्य चितो वेदयितृत्ववत्।
अज्ञाना-देव कर्तायं तदभावा-दकारकाः ॥१९४॥

'**कर्तृत्वं अस्य चितः स्वभावः न**' आत्मा पर का कुछ कर सके, यह स्वभाव नहीं है। आहाहा! यह क्रमबद्ध में आयेगा। यह यहाँ सिद्ध करना है। आत्मा शरीर, मन, वाणी, कर्म या परपदार्थ का कुछ कर नहीं सकता। आहाहा! '**कर्तृत्वं अस्य चितः स्वभावः न**' उसका स्वभाव नहीं है। वह तो ज्ञान, दर्शन और आनन्दस्वरूप है। पर का कर्ता नहीं। आहाहा! तथा भोक्ता भी नहीं। परवस्तु को भोगे आत्मा, तो आत्मा तो अरूपी है। रंग, गन्ध, रसरहित और ज्ञान और आनन्द उसका रूप है। वह किसे भोगे?

पर का कर्ता नहीं और पर का भोक्ता नहीं। आहाहा! संसार की सब बातें उड़ जाए न? उसमें आयेगा।

वह अज्ञान से ही कर्ता है,... अज्ञान से। स्वरूप का भान नहीं, इसलिए कर्ता मानता है कि मैं यह शरीर का करूँ, देश का रूप, परिवार का करूँ... आहाहा! पर की दया पालूँ, ऐसे अनेक भाव अज्ञानरूप से करता है। आहाहा! **'तद्-अभावात् अकारकः' अज्ञान का अभाव होने पर अकर्ता है।** स्वयं स्वरूप से अकर्ता है। अभाव होने पर स्वरूप से अकर्ता है। कुछ भी पर को (करता नहीं)। आहाहा! एक पज़ा तोड़ने की भी आत्मा में शक्ति नहीं है। पत्र.. पत्र..। नीम का कोई पज़ा तोड़ने की शक्ति नहीं है। आहाहा! वह तो जड़ की क्रिया है। उसका भाव है तो उसके पास रहा, परन्तु क्रिया नहीं कर सकता। ओहोहो! लौकी की सब्ज़ी बनाते हैं न? छुरी से ऐसे (टुकड़ें करें), वह आत्मा नहीं कर सकता। लौकी के टुकड़े आत्मा नहीं कर सकता तथा गुड़ मुँह में डाले और दाँत से पतला करे, वह आत्मा नहीं कर सकता। आहाहा! यह गाथा है, हों!

गाथा - ३०८ से ३११

अथात्मनोऽकर्तृत्वं दृष्टान्तपुरस्सरमाख्याति -

दवियं जं उप्पज्जइ गुणेहिं तं तेहिं जाणसु अणण्णं।
जह कडयादीहिं दु पज्जएहिं कणयं अणण्णमिह ।।३०८।।

जीवस्साजीवस्स दु जे परिणामा दु देसिदा सुत्ते।
तं जीव-मजीवं वा तेहि-मणण्णं वियाणाहि ।।३०९।।

ण कुदोचि वि उप्पण्णो जम्हा कज्जं ण तेण सो आदा।
उप्पादेदि ण किंचि वि कारणमवि तेण ण स होदि ।।३१०।।

कम्मं पडुच्च कत्ता कत्तारं तह पडुच्च कम्माणि।
उप्पज्जंति य णियमा सिद्धी दु ण दीसदे अण्णा ।।३११।।

द्रव्यं यदुत्पद्यते गुणैस्तत्तैर्जानीह्यनन्यत्।
यथा कटकादिभिस्तु पर्यायैः कनक-मनन्यदिह ।।३०८।।

जीवस्याजीवस्य तु ये परिणामास्तु दर्शिताः सूत्रे।
तं जीव-मजीवं तैरनन्यं विजानीहि ।।३०९।।

न कुतश्चिदप्युत्पन्नो यस्मात्कार्यं न तेन स आत्मा।
उत्पादयति न किञ्चिदपि कारणमपि तेन न स भवति ।।३१०।।

कर्म प्रतीत्य कर्ता कर्तारं तथा प्रतीत्य कर्माणि।
उत्पद्यन्ते च नियमात्सिद्धिस्तु न दृश्यतेऽन्या ।।३११।।

जीवो हि तावत्क्रमनियमितात्मपरिणामैरुत्पद्यमानो जीव एव, नाजीवः, एवमजीवोऽपि क्रमनियमितात्मपरिणामैरुत्पद्यमानोऽजीव एव, न जीवः; सर्वद्रव्याणां स्वपरिणामैः सह तादात्म्यात् कङ्कणादिपरिणामैः काञ्चनवत्।

एवं हि स्वपरिणामैरुत्पद्यमानस्याप्यजीवेन सह कार्यकारणभावो न सिध्यति, सर्वद्रव्याणां द्रव्यान्तरेण सहोत्पाद्योत्पादकभावाभावात्; तदसिद्धौ चाजीवस्य जीवकर्मत्वं न सिध्यति; तदसिद्धौ च कर्तृकर्मणोरनन्यापेक्षसिद्धत्वात् जीवस्याजीवकर्तृत्वं न सिध्यति।

अतो जीवोऽकर्ता अवतिष्ठते ।।३०८-३११ ।।

अब, आत्मा का अकर्तृत्व दृष्टान्तपूर्वक कहते हैं-

जो द्रव्य उपजे जिन गुणों से, उनसे जान अनन्य वो।
है जगत में कटकादि, पर्यायों से कनक अनन्य ज्यों।।३०८।।

जीव-अजीव के परिणाम जो, शास्त्रोंविषैं जिनवर कहे।
वे जीव और अजीव जान, अनन्य उन परिणाम से।।३०९।।

उपजै न आत्मा कोइसे, इससे न आत्मा कार्य है।
उपजावता नहिं कोइको, इससे न कारण भी बने।।३१०।।

रे! कर्म-आश्रित होय कर्ता, कर्म भी करतार के।
आश्रित हुवे उपजे नियम से, अन्य नहिं सिद्धी दिखै।।३११।।

गाथार्थ : [यत् द्रव्यं] जो द्रव्य [गुणैः] जिन गुणों से [उत्पद्यते] उत्पन्न होता है, [तैः] उन गुणों से [तत्] उसे [अनन्यत् जानीहि] अनन्य जानो; [यथा] जैसे [इह] जगत में [कटकादिभिः पर्यायैः तु] कड़ा इत्यादि पर्यायों से [कनकम्] सुवर्ण [अनन्यत्] अनन्य है वैसे।

[जीवस्य अजीवस्य तु] जीव और अजीव के [ये परिणामाः तु] जो परिणाम [सूत्रे दर्शिताः] सूत्र में बताये हैं, [तैः] उन परिणामों से [तं जीवम् अजीवं वा] उस जीव अथवा अजीव को [अनन्यं विजानीहि] अनन्य जानो।

[यस्मात्] क्योंकि [कुतश्चिद् अपि] किसी से भी [न उत्पन्नः] उत्पन्न नहीं हुआ, [तेन] इसलिए [सः आत्मा] वह आत्मा [कार्यं न] (किसी का) कार्य नहीं है, [किंचित् अपि] और किसी को [न उत्पादयतिः] उत्पन्न नहीं करता, [तेन] इसलिए [सः] वह [कारणम् अपि] (किसी का) कारण भी [न भवति] नहीं है।

[नियमात्] नियम से [कर्म प्रतीत्य] कर्म के आश्रय से (कर्म का अवलम्बन लेकर) [कर्ता] कर्ता होता है; [तथा च] और [कर्तारं प्रतीत्य] कर्ता के आश्रय से [कर्माणि उत्पद्यंते] कर्म उत्पन्न होते हैं; [अन्या तु] अन्य किसी प्रकार से [सिद्धिः] कर्ताकर्म की सिद्धि [न दृश्यते] नहीं देखी जाती।

टीका : प्रथम तो जीव क्रमबद्ध ऐसे अपने परिणामों से उत्पन्न होता हुआ जीव ही है, अजीव नहीं; इसी प्रकार अजीव भी क्रमबद्ध अपने परिणामों से उत्पन्न होता हुआ अजीव ही है, जीव नहीं; क्योंकि जैसे (कंकण आदि परिणामों से उत्पन्न होनेवाले ऐसे) सुवर्ण का कंकण आदि परिणामों के साथ तादात्म्य है, उसी प्रकार सर्व द्रव्यों का अपने परिणामों के साथ तादात्म्य है। इस प्रकार जीव अपने परिणामों से उत्पन्न होता है, तथापि उसका अजीव के साथ कार्यकारणभाव सिद्ध नहीं होता, क्योंकि सर्व द्रव्यों का अन्य द्रव्य के साथ उत्पाद्य-उत्पादक भाव का अभाव है; उसके (कार्यकारणभाव के) सिद्ध न होने पर, अजीव के जीव का कर्मत्व सिद्ध नहीं होता; और उसके (अजीव के जीव का कर्मत्व) सिद्ध न होने पर, कर्ता-कर्म की अन्य निरपेक्षतया (अन्य द्रव्य से निरपेक्षतया, स्वद्रव्य में ही) सिद्धि होने से जीव के अजीव का कर्तृत्व सिद्ध नहीं होता। इसलिए जीव अकर्ता सिद्ध होता है।

भावार्थ : सर्व द्रव्यों के परिणाम भिन्न-भिन्न हैं। सभी द्रव्य अपने-अपने परिणामों के कर्ता हैं; वे उन परिणामों के कर्ता हैं, वे परिणाम उनके कर्म हैं। निश्चय से किसी का किसी के साथ कर्ताकर्म सम्बन्ध नहीं है। इसलिए जीव अपने ही परिणामों का कर्ता है, और अपने परिणाम कर्म हैं। इसी प्रकार अजीव अपने परिणामों का ही कर्ता है, और अपने परिणाम कर्म हैं। इसी प्रकार जीव दूसरे के परिणामों का अकर्ता है।

गाथा - ३०८ से ३११ पर प्रवचन

अब, आत्मा का अकर्तृत्व... यह क्रमबद्ध की व्याख्या है, परन्तु यहाँ अकर्तापना सिद्ध करते हैं। **अब, आत्मा का अकर्तृत्व दृष्टान्तपूर्वक कहते हैं-** आत्मा अकर्ता है। शरीर, वाणी, मन, कर्म, परद्रव्य बिल्कुल परद्रव्य का (अकर्ता है)।

दवियं जं उप्पज्जइ गुणेहिं तं तेहिं जाणसु अणण्णं।
जह कडयादीहिं दु पज्जएहिं कणयं अणण्णमिह ।।३०८।।

जीवस्साजीवस्स दु जे परिणामा दु देसिदा सुत्ते।
तं जीव-मजीवं वा तेहि-मणण्णं वियाणाहि ।।३०९।।

ण कुदोचि वि उप्पण्णो जम्हा कज्जं ण तेण सो आदा।
उप्पादेदि ण किंचि वि कारणमवि तेण ण स होदि।।३१०।।

कम्मं पडुच्च कत्ता कत्तारं तह पडुच्च कम्माणि।
उप्पज्जंति य णियमा सिद्धी दु ण दीसदे अण्णा।।३११।।

नीचे हरिगीत

जो द्रव्य उपजे जिन गुणों से, उनसे जान अनन्य वो।
है जगत में कटकादि, पर्यायों से कनक अनन्य ज्यों।।३०८।।

जीव-अजीव के परिणाम जो, शास्त्रोंविषैं जिनवर कहे।
वे जीव और अजीव जान, अनन्य उन परिणाम से।।३०९।।

उपजै न आत्मा कोइसे, इससे न आत्मा कार्य है।
उपजावता नहिं कोइको, इससे न कारण भी बने।।३१०।।

रे! कर्म-आश्रित होय कर्ता, कर्म भी करतार के।
आश्रित हुवे उपजे नियम से, अन्य नहिं सिद्धी दिखै।।३११।।

आहाहा! **टीका :-** यह तो अभी शिविर में वाँचन हो गया है। वाँचन हो गया है, पहले वाँचन हो गया है। प्रत्येक पदार्थ परमाणु हो या आत्मा, प्रत्येक पदार्थ जो उसकी पर्याय उत्पन्न होने का काल है, उस समय में पर्याय उत्पन्न होती है। आत्मा कहे है कि मैं फेरफार करूँ। जिनेन्द्रदेव भी अपनी पर्याय में आगे-पीछे फेरफार नहीं कर सकते। आहाहा! जिस समय में जो पर्याय उत्पन्न (होनेवाली है), वह जन्मक्षण है। उस पर्याय में उत्पज्ञि का काल है। आहाहा! उसे नियतवाद हो जाता है। यह लोगों को नियत लगता है। परन्तु नियतवाद में पाँचों समवाय आ जाते हैं। उसमें एक नहीं, यह कहेंगे देखो!

प्रथम तो जीव क्रमबद्ध... क्रमबद्ध, यह सिद्धान्त है। प्रत्येक परमाणु और प्रत्येक आत्मा के क्रमसर परिणाम होते हैं। क्रमवृज्ञि तो पर्याय का धर्म ही है। क्रमवृज्ञि तो पर्याय का धर्म है परन्तु यहाँ तो क्रमबद्ध। उसमें विशेष (यह है कि) जिस समय में जो होना है, वह होता है। इसके लिये क्रमबद्ध कहा है। आहाहा! यह सब दुकान पर बैठकर व्यापार करते हैं, धन्धा करते हैं। कहते हैं, एक तिनके दो टुकड़े करने की आत्मा में ताकत

नहीं है। एक तिनका... तिनका, उसके दो टुकड़े करने की आत्मा में शक्ति नहीं है। उस समय में होनेवाली क्रिया, उससे दो टुकड़े होते हैं। उसे अज्ञानी मानता है कि मैं इन्हें करता हूँ। वह कर्ता अज्ञानी मानता है, वह कर नहीं सकता। आहाहा! बहुत कठिन बात।

प्रथम तो जीव क्रमबद्ध ऐसे... समय-समय में जो पर्याय होनेवाली है, उसे प्रवचनसार में तो ऐसा कहा है कि प्रत्येक द्रव्य की जो पर्याय उत्पन्न होती है, वह उसका जन्मक्षण है, उत्पज्ञि का काल है। वह पर्याय उत्पन्न (होने में) किसी निमिज़ की अपेक्षा या द्रव्य-गुण की अपेक्षा नहीं है। वह पर्याय स्वतन्त्र कर्ता होकर, उस समय में पर्याय उत्पन्न होती है। जिस समय में उत्पन्न होने का वह काल है, वह होती है और वह पर्याय उत्पन्न होनेवाली को द्रव्य की अपेक्षा नहीं है। आहाहा! निमिज़ की अपेक्षा तो नहीं, परन्तु द्रव्य की अपेक्षा नहीं है। आहाहा! ऐसा वह **जीव क्रमबद्ध**... आहाहा! जिस समय में जो पर्याय होनी है, उस समय में होती है। इसमें बड़ा विवाद था। विवाद है न? अभी आजकल बड़ा विवाद है। ऐसा होगा तो नियतवाद हो जाएगा, अमुक हो जाएगा, अमुक हो जाएगा। इसमें अकर्तापने का पुरुषार्थ है, भाई!

जिस समय में जो पर्याय जहाँ होती है, उसका आत्मा कर्ता नहीं, तब अकर्ता का वहाँ पुरुषार्थ है और अकर्तापना यहाँ सिद्ध करना है। ऊपर यह लिखा है न? अकर्तापना सिद्ध करना है। परजीव की ऐसे दया पालना या पर की हिंसा करना या पर को स्पर्श करना। आहाहा! एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को स्पर्श नहीं करता, चुम्बन नहीं करता, स्पर्श नहीं करता, छूता नहीं—स्पर्शता नहीं तो करे ज़्या? आहाहा! यह कठिन बात है।

जीव क्रमबद्ध ऐसे... भावार्थ में इसकी इतनी अधिक गम्भीरता नहीं लिखी है। उनके ख्याल में आयी नहीं। भावार्थ है, और साधारण है। जिसके परिणाम हों, उसके परिणाम हों... परन्तु क्रमबद्ध है, इसका अर्थ नहीं लिखा, ख्याल में आया नहीं। आहाहा! जो जीव क्रमबद्ध एक समय में जो पर्याय होती है, परन्तु ऐसा जिसका लक्ष्य हो कि क्रमबद्धपर्याय होनी है, वह होगी। स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा में भी ऐसा लिखा है। जिस समय में भगवान ने देखा, उस समय में वहाँ द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से होकर वहाँ होने का उस समय में होता है। आहाहा!

श्रोता : यह न माने तो मिथ्यादृष्टि...

पूज्य गुरुदेवश्री : न माने तो वहाँ मिथ्यादृष्टि कहा है। ऐसा न माने तो मिथ्यात्व और माने तो सम्यग्दृष्टि कहते हैं, ऐसा शब्द है। आहाहा! तब इसमें पुरुषार्थ ज्या? पुरुषार्थ आया। क्रमबद्ध अर्थात् पर्याय होती है, उसे करनी है कहाँ? होती है, उसे करना कहाँ है? अपनी भी होती है, वहाँ करना कहाँ है? पर की भी पर्याय होती है, वहाँ तो दूसरा कहाँ कर सके? दूसरे परमाणु और आत्मा की जिस समय में पर्याय होती है, वह होगी, उसे आत्मा किस प्रकार कर सके? आहाहा! लड़कों को उनके माता-पिता बड़े करते हैं न, छोटे हों उन्हें बड़े करते हों, यह भ्रमणा है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को कहीं कुछ नहीं करता; अकर्ता है। आहाहा!

वह अकर्ता **अपने परिणामों से उत्पन्न होता हुआ...** क्रमबद्ध ऐसे अपने समय में स्वतन्त्ररूप से, स्वतन्त्ररूप से... आहाहा! वह-वह द्रव्य उस समय की पर्याय स्वतन्त्ररूप से कर्ता होने से, **अपने परिणामों से उत्पन्न होता हुआ...** ऐसा कहते हैं। अपने परिणाम से, क्रमबद्ध और अपने परिणाम से उत्पन्न होता हुआ, **क्रमबद्ध ऐसे अपने परिणामों से उत्पन्न होता हुआ...** ऐसी भाषा है। है इसमें? ज्या कहा? क्रमबद्ध। **जीव क्रमबद्ध ऐसे अपने परिणामों से उत्पन्न होता हुआ...** बस। आहाहा! अपने परिणाम स्वयं क्रमसर होते हैं, उन्हें उपजावे। वे आनेवाले अथवा पर्याय होनेवाली, उसे उल्टी-सीधी नहीं कर सकता। ओहोहो! यह कठिन काम है।

यह **जीव क्रमबद्ध ऐसे अपने परिणामों से...** क्रमसर आनेवाले परिणाम, वे अपने परिणाम। आहाहा! जिस समय में जिसका भव-अन्त आनेवाला हो, वह आता है। जिस समय में जिसे भटकना हो, वह आता है। आहाहा! कालनय आया है न? नय आया, कालनय। जिस समय में उसका काल होता है, उसे उस समय में मोक्ष होता है। फिर अकालनय भी लिया है, परन्तु अकाल अर्थात् कहीं काल बदले, ऐसा नहीं है। काल के साथ पुरुषार्थ और स्वभाव लेकर अकाल कहा गया है। अकेला काल नहीं अर्थात्; बाकी अकाल (अर्थात्) आगे-पीछे मोक्ष होता है, अकाल में मोक्ष होता है—ऐसा नहीं है। अकाल में मृत्यु होती है, ऐसा भी नहीं है, देखो!

भगवती आराधना में ऐसा लिखा है कि अकाल में मृत्यु है, ऐसा न माने तो खोटा है—यह व्यवहार से बात की है, व्यवहार से बात है। परमाणु का संक्रमण इस प्रकार से

होने का था, इसलिए वहाँ हुआ है परन्तु आयुष्य कम हुआ और आयुष्य का क्रम टूट गया, इसलिए वह मर गया, देह छूटा - ऐसा नहीं। उसके वे परिणाम उसी समय में, वे ही छूटने के, उस क्षेत्र में, उस काल में, उस संयोग में, उस निमिज़ से (वैसे छूटेंगे)। उसमें कोई दूसरा फेरफार नहीं कर सकता, डॉज़्टर-वॉज़्टर कोई दवा और इंजेज़्शन देकर (बचा ले, ऐसा नहीं है)। डॉज़्टर नहीं कोई? कहो, समझ में आया?

क्रमबद्ध ऐसे अपने... आहाहा! यहाँ वजन वहाँ है। **जीव...** यहाँ पहले जीव का लिया है। जड़ का बाद में लेंगे। जड़ का कार्य कर नहीं सकता, यह बाद में कहेंगे। पहले तो **जीव क्रमबद्ध ऐसे...** एक के बाद एक अनुक्रम से। अनुक्रम कब कहलाता है? कि एक के बाद एक, एक के बाद एक जो होनेवाली पर्याय, वह होती है, उसे अनुक्रम कहते हैं, उसे क्रमबद्ध कहते हैं। आहाहा! यह टिकिट लेने बैठे हों तो ऐसे नम्बरवार होते हैं न? पहले खड़ा हो, उसकी पहली टिकिट, दूसरे को दूसरी, तीसरे को तीसरी। यह टिकिट रेल की या फिल्म की। हार... हार... होता है, जिसका पहला नम्बर हो, उसे दे, पश्चात् दूसरे को, तीसरे को, ऐसा लाईन में खड़ा रहने का (होता है)। छाछ लेने जाते हैं, वहाँ भी ऐसा होता है। यह छाछ की (दुकान) होती है न? वहाँ लोग एक के बाद एक खड़े हों, उन्हें देते हैं। आहाहा! है, देखा है। इसी प्रकार यहाँ आत्मा एक के बाद एक क्रमबद्ध अनुक्रम से आनेवाले जो परिणाम हैं, उन परिणामरूप वह उपजता हुआ। आहाहा! जरा सूक्ष्म बात है। अधिक स्पष्ट तो भाई हुकमचन्दजी ने लिखा है। क्रमबद्ध की पुस्तक बाहर प्रकाशित होनेवाली है। अपने भी पहले दो बार हो गया है। वैसे तो बहुत बार हो गया, परन्तु अभी दो बार ताजा-ताजा हुआ है।

ओहोहो! भगवान आत्मा **क्रमबद्ध ऐसे अपने परिणामों से...** क्रमबद्ध ऐसे अपने परिणाम। आहाहा! ऊपर कहा था न? अकर्ता सिद्ध करना है, ऐसा कहा था न? आत्मा का अकर्तापना दृष्टान्तपूर्वक सिद्ध करना है। क्रमबद्ध सिद्ध करना है, ऐसा नहीं आया। अकर्तापना सिद्ध करना है, उसमें क्रमबद्ध आया है। समझ में आया? आहाहा! आत्मा (के) अकर्तापने की पराकाष्ठा यहाँ है। जगत का ईश्वर कर्ता है, यह मान्यता जैसे झूठी है, वैसे एक आत्मा पर का कर सके, यह बात झूठी है। वैसे यह द्रव्य, पर्याय को आगे-पीछे कर सके, यह भी झूठ है और उस पर्याय को द्रव्य करता है, यह भी नहीं; पर्याय, पर्याय

को करती है। यह अकर्तापना सिद्ध करना है। ठेठ अकर्तापना लेते हैं। आहाहा!

यह पुस्तक आत्मा बना नहीं सकता, ऐसा कहते हैं। आहाहा! यह वकील वकालत कर नहीं सकते, ऐसा कहते हैं। भाषावर्गणा बोले, वह तो जड़ की पर्याय है; आत्मा नहीं, आत्मा नहीं। आहाहा! डॉज़्टर इंजेज़्शन देते हैं, उससे कुछ पर में होता है, (ऐसा नहीं है)। इंजेज़्शन शरीर को स्पर्श नहीं करता, आत्मा इंजेज़्शन दे नहीं सकता। आहाहा! ऐसी बात! पंगु हो गया, पर के लिये पंगु; अपने लिये परमेश्वर। अपना कार्य करने के लिये परमेश्वर, दूसरे के कार्य के लिये पंगु। आहाहा! ऐसी बात सुनने को कहाँ मिले? करो, यह करो, यह करो। 'दया वह सुख की वेलड़ी, दया वह सुख की खान; अनन्त जीव मुक्ति गये...' वह पर की दया से नहीं। वे दया के परिणाम ही राग है।

यहाँ कहते हैं कि वह **क्रमबद्ध ऐसे अपने परिणामों से उत्पन्न होता हुआ...** भले उत्पन्न हो। वह **उत्पन्न होता हुआ जीव ही है,...** जीव क्रमसर-अनुक्रम से अपने परिणाम से उपजता हुआ जीव है। आहाहा! बहुत गहरा है। समझ में आया? इसमें एक लाईन में कितना भरा है! जीव प्रथम कहा न? **'तावत्'**, ऐसा। मुख्य बात यह कहनी है कि आहाहा! **जीव क्रमबद्ध ऐसे अपने परिणामों से... क्रमबद्ध ऐसे अपने परिणामों से...** आहाहा! होते हैं क्रमबद्ध ऐसे, अपने क्रमसर हों, ऐसे परिणामों से भी, **परिणामों से उत्पन्न होता हुआ...** जीव परिणामरूप उपजता हुआ। आहाहा! उत्पाद की पर्याय है न? **अपने परिणामों से उत्पन्न होता हुआ जीव ही है,...** आहाहा!

जीव खा नहीं सकता। कहो! रोटी, दाल, भात, सज़्जी खा नहीं सकता। चाय और दूध पी नहीं सकता। आत्मा तो अन्दर अकर्ता है। आहाहा! कठिन बात है, प्रभु! वीतराग की बात बहुत सूक्ष्म। आहाहा! सिर पर यह टोपी भी ओढ़ नहीं सकता, टोपी को घुमा नहीं सकता, कपड़े को ऐसे बदल नहीं सकता। कपड़ा ऐसे पहिनना या ऐसे पहिनना। आहाहा! बहुत कठिन काम। इसमें बहुत भरा है।

जीव क्रमबद्ध ऐसे... क्रमबद्ध ऐसे अपने परिणामों से... वापस वे अपने परिणाम। आहाहा! उनसे **उत्पन्न होता हुआ जीव ही है,...** वह जीव ही है। **अजीव नहीं;...** वह जीव ही है और अजीव नहीं अर्थात् वहाँ अजीव की परिणाम की सहायता है, यह जरा भी बिल्कुल नहीं है। आहाहा! सम्यग्दर्शन की पर्याय क्रमसर अपने परिणाम

से उत्पन्न होती है। उसमें कहते हैं दूसरे कर्म की बिल्कुल अपेक्षा है नहीं। आहाहा! इस क्रमबद्ध में सम्यग्दर्शन की पर्याय आयी, वह परिणाम स्वयं अपने को स्वयं उत्पन्न की है और वह उपजता हुआ स्वयं स्वरूप है। पर के कारण वह ज्ञान की पर्याय या सम्यग्दर्शन की (पर्याय) उत्पन्न नहीं होती। आहाहा!

सुनने से ज्ञान की पर्याय उत्पन्न नहीं होती, ऐसा कहते हैं। आहाहा! वह तो क्रमबद्ध ऐसे अपने परिणाम से उत्पन्न होती है। इसे ऐसा भ्रम पड़ता है कि मैं बाहर था और मेरे दूसरे परिणाम थे और यहाँ आया, वहाँ मुझे यह सुनने के परिणाम हुए, इसलिए यह सुनने से यह परिणाम हुए, ऐसा नहीं है। आहाहा! भारी कठिन बात।

जीव अपने परिणामों से उत्पन्न होता हुआ जीव ही है,... उसमें अजीव की बिल्कुल अपेक्षा नहीं है। अजीव शब्द से? अजीव तो सही, यहाँ अजीव को सिद्ध करना है। बाकी इस जीव के अतिरिक्त दूसरे सब अजीव, जीव नहीं, उनका भी आत्मा कुछ नहीं कर सकता। आहाहा! ऐसा है। लड़के को पढ़ा नहीं सकता, बड़ा नहीं कर सकता, विवाह नहीं कर सकता। अरे... अरे...! आहाहा!

अपने परिणामों से उत्पन्न होता हुआ... बहुवचन है न? एक ही प्रकार के परिणाम नहीं, अनन्त परिणाम हैं, अनन्त गुण हैं। उन अनन्त गुण के अनन्त परिणाम (एक) समय में है। ज्या कहा, समझ में आया? जीवद्रव्य एक है परन्तु गुण अनन्त है। ज्ञान, दर्शन, चारित्र, आनन्द आदि। इन अनन्त गुणों की क्रमबद्ध अपने परिणामों से... इसलिए तो बहुवचन है। इन अनन्त गुणों की उस समय की जो पर्याय ज्ञान की होनेवाली, दर्शन की, शान्ति की, चारित्र की, आनन्द की, वीर्य की। जिस समय में जो पर्याय होनेवाली है, वह आत्मा ही है, वह आत्मा उस प्रकार से उसमें उत्पन्न होता है। आहाहा! गजब बात की है न! (कोई ऐसा कहता है), क्रमबद्ध पाठ नहीं है। परन्तु पाठ में क्रमनियमित है न? क्रमनियमित है, वही क्रमबद्ध है, दूसरा ज्या? लोग ऐसा कहते हैं, क्रमबद्ध रखना, क्रमबद्ध कहाँ कहा है? पाठ में तो क्रम भी कहा नहीं, ऐसा कहते हैं। अकर्तापना कहा है। परन्तु टीकाकार अमृतचन्द्राचार्य कहते हैं। है, उसमें है, वह कहते हैं या दूसरा नया कहते हैं? जो भाव उसमें भरे हैं, उसे खोलते हैं, उसे खोलते हैं, छनावट करते हैं। आहाहा! बहुत बात आयी।

जीव क्रमबद्ध ऐसे अपने... अर्थात् अनन्त गुणों के। ओहोहो! जितने गुण की

संख्या अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... गुण हैं, उन प्रत्येक की पर्याय, वह अपने समय में अपने परिणाम से जीव उत्पन्न होता है। आहाहा! किसी गुण की पर्याय दूसरे से होती है, ऐसा नहीं है। इस प्रकार वह **जीव ही है, अजीव नहीं;...** उसमें शब्द आया न? जीव ही है। परिणाम से अनन्त गुणों की पर्याय जो उत्पन्न हुई, वह जीव ही है, अजीव नहीं। आहाहा!

एक ओर कहना कि राग है, वह पुद्गल है। वह तो स्वभाव में नहीं है, इसलिए उसे निकाल डालने की बात है। बाकी राग भी उसके समय में होता है। परन्तु जिसे उस समय में होता है, उसकी बुद्धि में उसका अकर्तापना होता है, तब उसके समय में होता है, ऐसा उसका निर्णय सच्चा है। अकर्ता ज्ञातादृष्टा है। अकर्ता का दूसरा अर्थ ज्ञातादृष्टा है। जानने-देखनेवाला है, बस! बाकी दूसरा कुछ करनेवाला आत्मा नहीं है। ओहोहो!

इसी प्रकार अजीव भी... पाँच द्रव्य अजीव। धर्मास्ति, अधर्मास्ति, काल, आकाश और पुद्गल। इसमें मूल तो पुद्गल की बात अधिक है। **अजीव भी क्रमबद्ध अपने...** आहाहा! यह शरीर की पर्याय, वाणी की पर्याय, वह **क्रमबद्ध अपने परिणामों से उत्पन्न होता हुआ अजीव...** आहाहा! यह भाषा जो बोली जाती है, वह आत्मा से नहीं। आहाहा! भाषा तो आत्मा कह नहीं सकता। आत्मा शरीर को हिला नहीं सकता। आहाहा! डोरी ऐसे हिलती हो, उसे पकड़ रखे, डोरी ऐसे स्थिर हो जाए, वह कर नहीं सकता, कहते हैं। डोरी होती है, डोरी ऐसे हिलती हो, उसे स्थिर रखे। वह कर नहीं सकता। वह तो उस समय की उसकी पर्याय वैसी होनेवाली है। आहाहा! अजीव, अजीव की बात है न यह तो? यह डोरी अजीव है। आहाहा! ऐसी व्याख्या लोगों को कठिन पड़ती है। कर्ताबुद्धि है न पूरे दिन। यह करूँ और यह करूँ। यहाँ भी मन्दिर बनाऊँ और मूर्ति बनाऊँ और यह बनाऊँ और वह बनाऊँ। सब कर्ताबुद्धि से होता है।

मुमुक्षु : ...

पूज्य गुरुदेवश्री : बन नहीं गया, अपने आप बनने का था और बन गया है। यह रामजीभाई से नहीं बना है। कहो, समझ में आया? आहाहा!

अजीव भी... शरीर भी, वाणी, शरीर दाल-भात, रोटी, लड्डू चूरमा और पापड़, वह उसके समय में **अजीव भी क्रमबद्ध ऐसा...** अनुक्रम से उस परमाणु की पर्याय

आवे, वह अपने परिणामों से (आती है), ज्योंकि उसमें अनन्त गुण हैं। परमाणु में भी अनन्त गुण हैं। जितने गुण जीव में हैं, उतने ही गुण परमाणु में हैं। वह जड़ है और यह चेतन है। बाकी जितनी संख्या गुण की जीव में है, उतनी संख्या गुण की परमाणु में है। एक परमाणु। यह तो अनन्त परमाणु इकट्ठे हैं। इकट्ठे लगते हैं, है नहीं, पृथक्-पृथक् हैं। परमाणु उसमें-स्कन्ध में पृथक्-पृथक् हैं। आहाहा! वह आता है न? ८७ गाथा में, नहीं? परमाणु स्कन्ध में रहा होने पर भी पृथक् काम करता है, अपनी पर्याय से काम करता है, पर के कारण नहीं। आहाहा! यह आता है न? जिस परमाणु में दो गुण स्निग्धता हो, वह चार गुण स्निग्धतावाले को मिले तो चार गुण हो जाते हैं। इसलिए देखो! पर के कारण होता है, ऐसा (लोग) कहते हैं। उस समय में उस परमाणु में चार गुनी स्निग्धता होने के क्रमबद्ध उपजने के अपने परिणाम से वह उत्पन्न हुआ है। साथ में चार गुण जो स्निग्धता परमाणु था, वह उसके कारण यहाँ चार गुण हुए, गुण अर्थात् भाग—चार प्रकार। एक, दो, तीन ऐसे अनन्त-अनन्त अविभाग प्रतिच्छेद हैं। अनन्त अविभाग प्रतिच्छेद हैं परन्तु उस-उस समय में उसके अपने से अपने में होते हैं। आहाहा! ऐसा कठिन है।

अजीव भी क्रमबद्ध... वह भी क्रमबद्ध अपने परिणाम, वह भी क्रमसर, अनुक्रम से। अजीव में भी अनुक्रम से **अपने परिणामों से उत्पन्न होता हुआ अजीव ही है,...** आहाहा! दो बोल में तो चौदह पूर्व का सब समाहित कर दिया है। आहाहा! धीर हो, धीर हो, भाई! तू ज्ञानस्वरूप है न, प्रभु! तेरा स्वरूप तो ज्ञान और आनन्द है। वह ज्ञान, ज्ञान वह करे - कर्ता किसका करे? उसे कर्ता—काम सौंपना, वह किस प्रकार ज्ञान करे? तेरा अज्ञान है, वह उसे ज्ञान में माने कि मैं कर सकता हूँ। आहाहा! समझ में आया? पहले आ गया था। **अज्ञान की कोई गहन महिमा...** है। आया था न? पहले आया था। इस श्लोक में (आया था)। इसके पहले श्लोक में। १९५ कलश है? १९५ कलश तो अब आयेगा। परन्तु यह तो ज्ञान की महिमा... वाँचन हो गया होगा, वाँचन हो गया होगा न इसलिए... **गहन महिमा...** यह देखो! **वह वास्तव में अज्ञान की कोई गहन महिमा...** आहाहा!

वस्तु ज्ञानस्वरूप चैतन्यमूर्ति लोकालोक को एक समय में अनुक्रम से आनेवाली पर्याय का जाननेवाला, देखनेवाला है। आहाहा! उसे राग करना या दूसरे का करना या अल्पज्ञपने की विकारी पर्याय का कर्ता होना। आहाहा! अविकारी पर्याय पर्याय से होती है।

यहाँ कहते हैं कि अजीव क्रमबद्ध... यह आ गया। उसमें क्रमबद्ध, ऐसा है न? **क्रमबद्ध ऐसा अपने परिणामों से...** यहाँ भी ऐसा लेना **अजीव भी क्रमबद्ध अपने परिणामों से...** देखा? वे अजीव के परिणाम हैं। आहाहा! पृष्ठ ऐसा फिरे, वह अजीव के परिणाम हैं, उसे आत्मा फिरा नहीं सकता। आत्मा पृष्ठ को ऐसे फिरा नहीं सकता। अकेला निश्चय रह गया, कहते हैं। परन्तु निश्चय वही सत्य है। व्यवहार तो सब आरोपित कथन है। व्यवहार है अवश्य, व्यवहार नहीं है, ऐसा नहीं है। बोला जाता है, भाषा बोली जाती है, ऐसा बोले। ज्ञानी हो वह ऐसा भी बोले, भाई! यह मेरा पुत्र है, यह मेरी पुत्री है। बोले, मानने में नहीं। आहाहा! यह मेरा घर है, यह मेरे समधी हैं, ऐसा ज्ञानी भी बोले। बोलना अलग और मानना अलग। मान्यता में ऐसा है ही नहीं। आहाहा! अब ऐसा अन्तर पाड़ना।

अजीव भी क्रमबद्ध अपने परिणामों से उत्पन्न होता... अजीव है न ऊपर। **होता हुआ अजीव ही है,...** अजीव प्रत्येक अजीव परमाणु, एक परमाणु से लेकर अनन्त परमाणु के जो स्कन्ध हों, दो परमाणु इकट्ठे, तीन परमाणु इकट्ठे, चार आदि क्रमबद्ध उसके परिणाम में जो होनेवाले हैं, उस जगह उत्पन्न होते हैं। आहाहा! आत्मा ऐसा कहता है कि भाई! तू लड्डू बाँध नहीं सकता। आहाहा! यह तो हाथ है, जड़ है। वह हाथ भी लड्डू बना नहीं सकता तो फिर आत्मा किस प्रकार करे? आहाहा!

मुमुक्षु : आत्मा प्रेरणा तो करे न?

पूज्य गुरुदेवश्री : प्रेरणा बिल्कुल नहीं करता। प्रेरणा... प्रेरणा से जरा भी नहीं... आहाहा! एक-दूसरे में अत्यन्त अभावरूप नास्ति है। एक द्रव्य और दूसरे द्रव्य के बीच अत्यन्त अभाव है। अत्यन्त अभाव का विशाल किला पड़ा है। उसमें दूसरा किस प्रकार प्रवेश करे? आहाहा! कठिन काम है। यह अधिकार ही सूक्ष्म है।

मुमुक्षु : सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार है।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, सर्वविशुद्ध है न! एकदम यहाँ तो, बन्ध और मोक्ष का भी जाननेवाला, यहाँ तक लिया है। आहाहा! एकदम भगवान चैतन्य दल जाननस्वभाववाला तत्त्व, वह जानने की पर्याय को करे, ऐसा कहना, वह अभी व्यवहार है। वह पर्याय पर्याय के काल में पर्याय वहाँ होती ही है। आहाहा! उसमें भाव नाम का गुण है, उस गुण के

कारण द्रव्य की जहाँ दृष्टि हुई, द्रव्य का-वस्तु का स्वीकार हुआ तो उसमें भाव नाम का एक गुण है कि जिससे पर्याय होती ही है। करूँ तो हो, न करूँ तो (न) हो, यह कुछ प्रश्न है नहीं। आहाहा! कठिन काम है। यशपालजी! ऐसा कुछ सुना है कभी? कठिन बात है। लोग मजाक करें ऐसा है। पूरे दिन यह करते हैं और कहे, करता नहीं, करता नहीं। करो, बापू!

मुमुक्षु : स्वयं अपनी मजाक करता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, परन्तु ज़्या करे? यह सब जानने के बाद तो विरोध करे। क्रमबद्ध का विरोध करते हैं। क्रमबद्ध का लेखन भाई ने - हुकमचन्दजी ने विद्यानन्दजी को दिया था। विरोध किया। खोटा है, कहे। ज़्योंकि उनकी मानी हुई एक भी बात सत्य नहीं रहती। उन्हें सबको सुधारना है, ऐसा करना है, ऐसा करके बाहर में प्रसिद्ध होना है, लोकरंजन करना है। यहाँ लोकरंजन हो, ऐसा इसमें नहीं है; आत्मरंजन हो, ऐसा है। आहाहा! ज़्या हो? भाई! ऐसी बात सुनने के लिये भी लोग थोड़े होते हैं और साधारण जैसी बात करे, ऐसा करो, दया पालो, ऐसा करो, मण्डल बाँधो, एक-दूसरे को सहायता करो, कपड़े दो, खाने को दो... (ऐसा) समझाये तो लोग ज्यादा इकट्ठे हों। अब यह कहते हैं कि कपड़ा-फपड़ा किसी को कुछ दे नहीं सकता, किसी को अनाज दे नहीं सकता, पानी दे नहीं सकता। ठीक! आहाहा! अनाज, पानी, औषध और कपड़ा, स्थल कुछ दे, अच्छी जगह रहने के लिये दे। यहाँ कहते हैं कि वह चीज़ तो उसके समय में उस काल में अजीव की होनेवाली वह अजीव के अपने परिणाम से वह अजीव उत्पन्न हुआ है। तू जाने कि मुझसे उत्पन्न हुआ है। आहाहा! यह मकान छज़्बीस लाख का बना है, वह उसके कारण से उत्पन्न हुआ है।

मुमुक्षु : छज़्बीस लाख आपने कहा, उसमें छज़्बीस लाख पैसा देखा ऐसा।

पूज्य गुरुदेवश्री : छज़्बीस लाख भी उसमें से आनेवाले थे वे आये। आहाहा! आत्मा छज़्बीस लाख को खर्च नहीं करता। आत्मा पैसा ले नहीं सकता, पैसा दे नहीं सकता। ऐसी बातें! बहुत कठिन काम! आहाहा! निश्चय से तो मन्दिर और प्रतिमा स्थापित करना, वह आत्मा कर नहीं सकता, ऐसा कहते हैं। मात्र उसका शुभभाव हो, तब उसकी क्रिया होनेवाली हो तो होती है। उसका शुभभाव पुण्य; धर्म नहीं है। आहाहा! ऐसी बातें हैं।

अपने परिणामों से... अर्थात् बहुवचन (लिया है)। परिणाम से नहीं। अजीव में भी अनन्त गुण हैं, इसलिए वह अजीव भी अनुक्रम से... भी लिया न? भी। भी ज़्यों लिया?—कि पहले जीव कहा इसलिए। जैसे जीव के परिणाम कहे, वैसे अजीव भी, ऐसा। इसलिए 'भी' लिया है। **क्रमबद्ध अपने परिणामों से...** यह भी बहुवचन। अनन्त गुण परमाणु यह रंग, गन्ध, रस, स्पर्श, अस्तित्व, वस्तुत्व—वह प्रत्येक गुण **अपने परिणामों से उत्पन्न होता हुआ अजीव ही है, जीव नहीं;...** जीव नहीं, जीव उसका कर्ता नहीं। आहाहा! परमाणु और शरीर आदि की पर्याय का कर्ता नहीं, अकर्ता है। आहाहा! इस अकर्तापने में क्रमबद्ध का सिद्धान्त आ जाता है। आहाहा!

क्योंकि... दृष्टान्त कहते थे न? लिखा था न ऊपर? कि अकर्तापना दृष्टान्तपूर्वक कहेंगे। अब दृष्टान्त कहते हैं। ऊपर लिखा था ऊपर। ऊपर आया था। अकर्तापना दृष्टान्तपूर्वक आया था न? **आत्मा का अकर्तत्व दृष्टान्तपूर्वक कहते हैं...** ऐसा आया था न? गाथा के ऊपर, गाथा के ऊपर। आहाहा! गाथा के ऊपर ही वह (आया था)। अकर्तापना दृष्टान्तपूर्वक कहते हैं। अब दृष्टान्त देते हैं। पहले अकर्तापना सिद्ध किया, अब उसका दृष्टान्त देते हैं।

क्योंकि जैसे (कंकण आदि परिणामों से उत्पन्न)... सोने से सोने का कंकण हो या गहना हो। दागीना को ज़्या कहते हैं? जेवर। उस **सुवर्ण का कंकण आदि परिणामों के साथ तादात्म्य है...** सोने के जेवर को-गहनों को, स्वर्ण को कंकण आदि परिणामों के साथ सम्बन्ध है। उस सोने को उसके परिणाम के साथ सम्बन्ध है। उस सोनी ने कंकण बनाया नहीं है। आहाहा! समझ में आया? उस सोनी ने किया नहीं है, कहते हैं। आहाहा!

मुमुक्षु : हथौड़े न किया है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह किया, उसे सोने ने किया है, अरे! सोने के परिणाम ने किया है। सोने ने नहीं, सोने के परिणाम ने किया है। ऐसी बात है। दुनिया से जिनेश्वर का वीतरागमार्ग अलग प्रकार है, भाई! आहाहा! दुनिया तो बाहर से चलाती है। यह करो, यह अपवास करो और अमुक करो और अमुक करो, आठ-दस अपवास किये तो ओहोहो! विशाल शोभायात्रा निकालो, पताशा की, अमुक की, पेड़े की प्रभावना करो, यह सब धर्म

है। उसमें धर्म कहाँ था? वह तो शुभभाव है। वह भी उस काल में वह होनेवाला है, वह-वह होता है। उसमें तेरा भाव होवे तो शुभभाव होता है। पुण्य; धर्म नहीं। आहाहा! करोड़ों रुपये का दान दे, तो भी उसे राग की मन्दता हो तो पुण्य है, धर्म नहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : वापस पुण्य को भी आपने पाप में डाल दिया।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह पुण्य तो किस अपेक्षा से? पवित्रता की पवित्रता से नीचे गिरता है इसलिए। पुण्य के परिणाम शुभभाव भी, पवित्र प्रभु है, वहाँ से हट जाए - पतित हो, तब शुभ होता है। इसलिए फिर कहते हैं कि भाई! 'पाप को पाप तो सब कहे, परन्तु अनुभवी जन तो पुण्य को पाप कहे।' यह कठिन बातें हैं। दुनिया से अलग प्रकार है। कठिन बात। कितनों को पहले सुनना ही कठिन पड़ती है। पूरे दिन यह बाहर के क्रियाकाण्ड में लगे पड़े हों, रचे-पचे हों। आहाहा! एक तो संसार की क्रिया में निवृज़ नहीं होता, निवृज़ हो और घण्टे भर सुनने जाए तो मिले ऐसा क्रियाकाण्ड और सब बातें। वह घण्टा लुट जाता है, हो गया। आहाहा! पूरी जिन्दगी व्यर्थ ढोर की तरह जाती है। जैसे ढोर जाए, वैसे जिन्दगी जाती है। आहाहा! और मरकर वापस ढोर होता है। ज़्योंकि सम्यग्दर्शन नहीं है तथा सत्समागम रोज दो-दो, तीन-तीन, चार-चार घण्टे करना चाहिए, चार-चार घण्टे पढ़ना चाहिए, तो इसे पुण्य भी हो, तो पुण्य-पुण्य हो, हों! आहाहा! ऐसा कठिन है।

दृष्टान्त दिया है। सोने का जो कंकण हुआ, **सुवर्ण का कंकण आदि परिणामों के साथ तादात्म्य है...** उस स्वर्ण को कंकण अर्थात् कड़ा लो, कड़ा लो, कोई भी सोने की अँगूठी लो, वह सोने के साथ उसका तन्मय है। उससे भिन्न नहीं। वे द्रव्य के ही परिणाम हैं, उस सोने के ही वे परिणाम हैं। उस समय में क्रमसर अनुक्रम से आते हुए वह कड़ा हुआ, कंकण हुआ इत्यादि-इत्यादि। आहाहा!

कंकण आदि... आदि है न? कड़ा हो, अँगूठी हो इत्यादि। गहना हो, सोने का कड़ा हो, पैर में ज़्या कहलाता है पैर में वह? बहिनें पैर में पहनती हैं। नहीं? कड़ा नहीं, दूसरा वह कडला, कडला। कहते थे न पहले? पहले कडला पहनते थे। वह फिर बदल गया परन्तु वह कडला-बडला आत्मा से हुआ नहीं। आहाहा! सोनी ने घढ़ा नहीं, सोनी ने उस ऐरण को स्पर्श नहीं किया, सोनी उस सोने को स्पर्श नहीं करता।.... आहाहा! और

कंकण होता है। क्रमबद्ध ऐसे अजीव के परिणाम उस काल में, होने के काल में अपने परिणाम में परिणाम उपजते हैं। आहाहा! कहो, पुनातर! ऐसी कठिन बात है।

मुमुक्षु : सिद्धान्त तो ऐसा है—परस्परोग्रहो जीवानाम।

पूज्य गुरुदेवश्री : उपग्रहो, यही सब डालते हैं न! अभी सवेरे ही पढ़ा था। उस उपग्रह का अर्थ निमिज़, एक-दूसरे को निमिज़ है, ऐसा कहते हैं। उपग्रह का अर्थ उपकार है, ऐसा नहीं है परन्तु सब अब यह डालते हैं। चौदह ब्रह्माण्ड का चित्र डालकर पीछे (लिखते हैं) परस्परोग्रहो। उपग्रह का अर्थ ही भाई ने किया है सर्वार्थसिद्धि (वचनिका) में। सर्वार्थसिद्धि में इसका अर्थ किया है। वह निमिज़ है, उसे ऐसे उपग्रहो कहा, बाकी उससे कुछ होता है, ऐसा कुछ नहीं है। परस्पर उपग्रह, परस्पर निमिज़-नैमिज़िक सम्बन्ध है। वह निमिज़ सम्बन्ध है, उसका अर्थ यह कि निमिज़ उसमें कुछ करता नहीं, इसलिए उसे निमिज़-नैमिज़िक सम्बन्ध कहा जाता है। सामने पर्याय होती है, तब जो निमिज़ होता है, उसे निमिज़ से नैमिज़िक कहा जाता है। कर्म के निमिज़ से विकार हुआ, ऐसा कहा जाता है परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। उस निमिज़-नैमिज़िक सम्बन्ध से कहा गया है। वास्तव में तो विकार विकार से हुआ है, कर्म से विकार हुआ ही नहीं। आहाहा! कहो, ऐसी बात है।

मुमुक्षु : दूसरा विकार कैसे करता है? दोनों इकट्ठे मिलें तो विकार होवे न?

पूज्य गुरुदेवश्री : दोनों कभी इकट्ठे मिलते ही नहीं। दो के बीच अत्यन्त अभाव है। अत्यन्त अभाव है, उसमें भाव कहाँ से लाना? स्पर्श करे, वह तो भाव हो गया। आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई! बहुत सूक्ष्म तज़्व है। वीतराग का तज़्व बहुत सूक्ष्म है। उसमें भी दर्शनशुद्धि पहले करना, वह तो महावस्तु है। दर्शनशुद्धि से इस धर्म की शुरुआत होती है। इस दर्शनशुद्धि का जिसके ठिकाना नहीं, उसके तो ज्ञान भी खोटा, चारित्र भी खोटा, सब खोटा है। आहाहा!

है या नहीं? सामने पुस्तक है। **सुवर्ण का कंकण आदि परिणामों के साथ तादात्म्य है...** तादात्म्य है। ठीक! पर्याय को और द्रव्य को तादात्म्य कहा। परिणाम को और परिणामी को तादात्म्य कहा। वास्तव में तो पर्याय, पर्याय में तादात्म्य है और द्रव्य, द्रव्य में तादात्म्य है। तथापि मात्र दूसरे से भिन्न करने के लिये तादात्म्य है, (ऐसा कहा)। स्वर्ण

को कंकण आदि परिणामों के साथ तादात्म्य है। वह अजीव के साथ नहीं, ऐसा सिद्ध करना है, अजीव के साथ उसे है नहीं, ऐसा सिद्ध करना है। आहाहा!

उसी प्रकार... जैसे सोने का दृष्टान्त दिया। **उसी प्रकार सर्व द्रव्यों का...** सभी द्रव्यों को। परमाणु, आत्मा, धर्मास्ति, अधर्मास्ति, आकाश, काल **सर्व द्रव्यों का अपने परिणामों के साथ तादात्म्य है।** जैसे सोने को उसके परिणाम के साथ तद्रूप है, वैसे प्रत्येक द्रव्य को अपने परिणाम के साथ तद्रूप है। यहाँ तो अभी परिणाम की बात सिद्ध करनी है न? पश्चात् परिणाम और द्रव्य की बात सिद्ध करनी हो, तब दूसरी बात आती है। आहाहा! तब तो ऐसा कहते हैं कि आत्मा बन्ध और मोक्ष के परिणाम को करता नहीं। ३२० गाथा। परिणाम, परिणाम को करता है; परिणाम द्रव्य को पर्याय को करता नहीं परन्तु यहाँ तो मात्र अभी दूसरे से भिन्न पाड़कर अपने परिणाम को स्वयं करता है। पर के परिणाम को नहीं (करता), इतना यहाँ सिद्ध करना है। आहाहा!

इस प्रकार पद्धतिसर घण्टे भर भाषण दे, वह बराबर घण्टे भर दे सकता है। आहाहा! गजब! भाषा का काल हो, निकलने का क्रम (हो), तद्नुसार भाषा निकलती है; आत्मा के कारण नहीं। आहाहा! आत्मा उसका कर्ता नहीं। कठिन तो पड़ेगा, बापू! ज़्या हो? यह अधिकार ही कठिन है। सब कथन थोड़ा-थोड़ा आ गया है। विशेष तो क्रमबद्ध की पुस्तक छपती है, तब आयेगा। आहाहा! सर्व द्रव्य अर्थात् प्रत्येक द्रव्य। ओहोहो! एक ओर नियमसार में ऐसा कहते हैं कि अब काल न हो तो परिणाम नहीं होते। कालद्रव्य नहीं हो तो परिणाम नहीं होते, इसलिए कालद्रव्य चाहिए।

मुमुक्षु : वह तो काल की सिद्धि के लिये है।

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु ऐसा आया, लो! वह तो काल है, निमिज़रूप से वस्तु एक सिद्ध करनी है, इतना। परन्तु परिणाम उस काल के कारण परिणमता है? प्रत्येक वस्तु परिणामी तो स्वभाव है, नित्य परिणामी तो अपना स्वभाव है। नित्य परिणामी— टिककर बदलना, वह तो प्रत्येक द्रव्य का स्वतः स्वयंसिद्ध स्वभाव है। समझ में आया? तो भी वहाँ ऐसा कहते हैं कि कालद्रव्य के बिना परिणाम (नहीं होते)। वह तो कालद्रव्य को सिद्ध करना है। कालद्रव्य के बिना दूसरे न परिणमे तो परिणमनस्वभाववाला द्रव्य नहीं

है ? पाठ तो ऐसा है, लो! आहाहा! प्रत्येक द्रव्य अपने परिणाम से परिणमता हुआ दूसरे द्रव्य की कोई आशा है नहीं। आहाहा! ऐसा उत्साह और हर्ष। लड़के का विवाह हो और पैसा (रुपये) पचास-पचास हजार खर्च करना हो... देखो! तुम्हारे हर्ष और हर्ष, हर्ष। मानो हम ज़्या करते हैं! आहाहा! बापू! कर कुछ नहीं सकता, अभिमान करता है, मिथ्यात्व सेवन करता है। मैं यह करता हूँ, यह तो मिथ्यात्व है। आहाहा!

मुमुक्षु : यह तो जिसे संसार छोड़ना हो, उसकी बात है।

पूज्य गुरुदेवश्री : जिसे भटकना मिटाना हो, उसके लिये है। संसार अर्थात् स्त्री, पुत्र—ऐसा नहीं। स्त्री, पुत्र कहीं संसार नहीं है। स्त्री, पुत्र, परिवार, पैसा वह संसार नहीं है। संसार तो पर्याय में मिथ्यात्वभाव, वह संसार है। समयसार में (आ गया), मिथ्यात्व वह संसार है। स्त्री, कुटुम्ब, परिवार वह परद्रव्य, वह कहीं संसार नहीं है। इसकी पर्याय में रहनेवाला मिथ्यात्वभाव, वह संसार है। आहाहा! उसे छोड़ना हो तो यह समझना पड़ेगा। संसार छोड़ो। संसार कैसा ? आहाहा! आत्मा की भूल आत्मा में रहती है या बाहर रहती है ? मिथ्या भ्रमणा करे (कि) मैंने किया, तो भ्रमणा तो इसकी पर्याय में रहती है। बाहर की चीज़ को ज़्या सम्बन्ध है ? आहाहा! ऐसा है।

सर्व द्रव्यों का... आहाहा! **अपने परिणामों के साथ तादात्म्य है।** प्रत्येक द्रव्य को। उसमें कोई बाकी नहीं। धर्मास्ति, अधर्मास्ति, आकाश, काल, इत्यादि। आहाहा! धर्मास्तिकाय नहीं, इसलिए सिद्ध ऊपर नहीं जाते, ऐसा नहीं है। बहुत से ऐसा कहते हैं न ? धर्मास्तिकाय नहीं है, इसलिए ऊपर नहीं जाते। (ऊपर) जाने का ऊर्ध्वस्वभाव है, ऊर्ध्वस्वभाव है परन्तु ऊर्ध्वस्वभाव (होने पर भी) धर्मास्तिकाय का अभाव है, (इसलिए नहीं जाते)। परन्तु उसकी पर्याय रहने का स्वभाव ही इतना वहाँ तक है। ऊर्ध्वस्वभाव में वहाँ तक रहने का इतना उसका क्रम में स्वभाव है; आगे जाने का स्वभाव नहीं है। धर्मास्तिकाय होता तो जाते, परन्तु वह नहीं है, और वहाँ होता तो जाते—प्रश्न कहाँ आया ? आहाहा! बहुत विवाद उठाया है। आहाहा!

इस प्रकार जीव अपने परिणामों से उत्पन्न होता है... है न ? **इस प्रकार जीव अपने परिणामों से उत्पन्न होता है, तथापि उसका अजीव के साथ कार्यकारणभाव सिद्ध नहीं होता,...** लो! (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ३८०, गाथा - ३०८-३११ शुक्रवार, पौष शुक्ल १०
दिनाङ्क - २८-१२-१९७९

सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार, समयसार। चार लाईनें चली है। थोड़ा इसके साथ मिलान करने को फिर से लेते हैं। **प्रथम तो जीव...** यह जीव की अस्ति है न? आत्मा है न अन्दर? जिसमें, जिसमें ज्ञात होता है, वह चीज़ जाननेवाली है न? ऐसी जो जाननेवाली चीज़, वह शाश्वत् है, नित्य शाश्वत्। वह **जीव क्रमबद्ध ऐसे अपने परिणामों से...** उसकी पर्यायें होती हैं, बदलने की दशा होती है। **क्रमबद्ध ऐसे अपने परिणामों से उत्पन्न होता हुआ...** क्रमसर-अनुक्रम से जो परिणाम अवस्था होनी है, वह वहाँ होगी, उल्टी-सीधी नहीं होगी। थोड़ी सूक्ष्म बात है।

क्रमबद्ध ऐसे अपने परिणाम से। अनुक्रम से जो होते परिणाम, **अपने परिणामों से उत्पन्न होता हुआ जीव ही है,...** इस अजीव के कारण से वे परिणाम होते हैं, पर के कारण से होते हैं—ऐसा नहीं है। जो जानने-देखने के, राग के-द्वेष के इत्यादि जीव में परिणाम होते हैं, वे परिणाम जीव के हैं। उन परिणाम का कर्ता जीव है, उन परिणाम का कर्ता परजीव और परजड़ नहीं है। आहाहा! अजीव नहीं है, वह जीव (कर्ता) है। अपनी परिणाम की पर्याय का; पर्याय अर्थात् अवस्था, द्रव्य अर्थात् त्रिकाली नित्य वस्तु। उसका परिणमन / बदलने की बदलती दशा—अवस्था उस अवस्था को स्वयं अपने से करता है। उसमें उसे अजीव नहीं करता।

इसी प्रकार अजीव भी... जड़, शरीर, वाणी, मन यह सब पुद्गल **क्रमबद्ध अपने परिणामों से...** वे भी क्रमसर अनुक्रम से। उसके अनुक्रम में जो आये हुए परिणाम, उनसे उपजता हुआ अजीव है। जीव उसके-जड़ के परिणाम को उपजा सके, वह नहीं उपजाता। आहाहा! बहुत सूक्ष्म। यह शरीर है, वाणी है, यह जड़ है, यह जड़ की पर्याय जो होती है, उसे आत्मा नहीं कर सकता। क्योंकि जड़ के परिणाम जड़ में और चैतन्य के परिणाम चैतन्य में एक समय में साथ होने पर भी एक-दूसरे के कर्ता-कर्म नहीं हैं। कर्ता आत्मा और कार्य जड़ का अथवा जड़ कर्ता और कार्य आत्मा का, ऐसा नहीं है। अज्ञानी को अनादि की भ्रमणा है। आहाहा!

मुमुक्षु : साबुन लगाने से शरीर साफ होता है ?

पूज्य गुरुदेवश्री : साबुन को स्पर्श नहीं कर सकता। बहुत सूक्ष्म बात पड़ेगी, बापू! एक द्रव्य, एक तत्त्व, दूसरे तत्त्व की अस्ति है और अपनी भी अस्ति है, सत्ता है, अस्तिपने है, वह अस्तिपने है, उसके द्रव्य अर्थात् वस्तु अस्तिरूप है, गुण—शक्ति अस्तिरूप है और उसकी वर्तमान पर्याय—परिणाम अस्तिरूप है। उस अस्तिपने के तीन में किसी का अधिकार है नहीं। आहाहा! बहुत सूक्ष्म बात है, भाई! अभी तो बहुत गड़बड़ चली है।

जीव वस्तु है। जीव शब्द है, वह तो वाचक है। उसका वाक्य आत्मा अन्दर है, वह आत्मा वस्तु है तो वह द्रव्य अर्थात् वस्तु कायम रहनेवाली (है)। गुण अर्थात् ज्ञान, दर्शन कायम रहनेवाले और पर्याय अर्थात् उसकी बदलती दशा। अब इन तीनों का कर्ता जीव है, दूसरा नहीं। आहाहा! दूसरे परिणाम का कर्ता दूसरा है, ऐसा नहीं, अजीव नहीं। वह अजीव भी, वह शरीर, वाणी, मन **अपने परिणामों से उत्पन्न होता हुआ अजीव ही है,...** आहाहा! बात बहुत सूक्ष्म पड़े। क्या हो ?

एक तत्त्व अपना अस्तित्व धारता है, इसलिए दूसरे तत्त्व का अस्तित्व है, उसमें उसका अधिकार नहीं है। वह पदार्थ जो है, वह है। है में उसकी जो स्थिति है, द्रव्य-गुण तो त्रिकाल है और पर्याय वर्तमान है। है, उसकी वर्तमान पर्याय की सत्ता में उसका कर्ता वह स्वयं है, दूसरा नहीं है। हाय... हाय..! ऐसी सूक्ष्म बात है।

इसी प्रकार अजीव भी क्रमबद्ध अपने परिणामों से उत्पन्न होता हुआ अजीव ही है,... अजीव भी सत्ता है न ? यह परमाणु अस्ति दिखते हैं न ? अस्ति है या नहीं यह ? तो है अस्ति तो उसकी कोई शक्ति है या नहीं ? एक-एक परमाणु है। इसका टुकड़ा करते-करते अन्तिम पॉईन्ट, अन्तिम पॉईन्ट को परमाणु कहते हैं। परम अणु। और उसमें रंग, गन्ध, रस, स्पर्श यह उसके गुण हैं और यह अवस्था है। पहले धूल की अवस्था थी, पश्चात् गेहूँ की हुई, अभी आटा की हुई, पश्चात् यह खून की हुई। अवस्था बदलती है। यह अवस्था उसकी सत्ता की ही अवस्था है, अजीव की सत्ता की अवस्था है। उस अवस्था को जड़-चेतन करें, ऐसा तीन काल में नहीं होता।

मुमुक्षु : रोटियाँ खावे और शान्ति कैसे मिले ?

पूज्य गुरुदेवश्री : रोटियाँ कौन खाता है ? धूल भी शान्ति नहीं मिलती। कल्पना करता है। आहाहा! बहुत सूक्ष्म बात है, बापू!

यह तो जो तत्त्व है, अस्ति है, है, सत्ता है। है, उसकी आदि नहीं, अन्त नहीं—ऐसा स्वरूप है। जड़ और चेतन दोनों। उसमें है, उसकी पर्याय वर्तमान में जो है, वह भी उसकी है। चेतन की वर्तमान अवस्था भी है और जड़ की वर्तमान अवस्था भी है। अतः चेतन की वर्तमान अवस्था को जड़ करे, ऐसा नहीं होता। तथा जड़ है, उसकी अवस्थ है, अवस्था है। जैसे द्रव्य और गुण है, वैसे अवसथा भी वर्तमान है। उसके द्रव्य-गुण त्रिकाल है। जैसे त्रिकाल है, वैसे उसकी वर्तमान अवस्था भले एक समय की है परन्तु यहाँ त्रिकाल सत्ता को जैसे दूसरे की कोई अपेक्षा नहीं है, वैसे उसकी वर्तमान अवस्था की सत्ता को दूसरे की अपेक्षा नहीं है। सूक्ष्म बात है, बापू! जगत से अलग प्रकार है। आहाहा! समझ में आया ?

मुमुक्षु : दोनों द्रव्य की स्वतन्त्रता....

पूज्य गुरुदेवश्री : दोनों स्वतन्त्र हैं। परन्तु है कहा न ? अस्ति वस्तु है, ऐसा कहो तो उसका अस्तित्व सिद्ध हुआ। अस्तित्व सिद्ध हुआ तो वह द्रव्य और गुण का अस्तित्व त्रिकाल और वर्तमान पर्याय का, उसी काल का, उसी समय का अस्तित्व प्रमाण, आगे-पीछे नहीं। आहाहा! आगे-पीछे नहीं परन्तु दूसरे से नहीं। नहीं तो सत्ता सिद्ध नहीं होगी। आहाहा! सूक्ष्म बात है। है, ऐसी जब वस्तु है, वह त्रिकाल है। जीव है, वह त्रिकाल है और जीव में ज्ञान, दर्शन, आनन्द, सच्चिदानन्द प्रभु है, उसका गुण आनन्द आदि, शान्ति आदि है, वह भी त्रिकाल है। उसकी वर्तमान अवस्था बदलती है, वह पर्याय एक समय की है। जैसे त्रिकाल, त्रिकालरूप से है, वैसे एक समय की अवस्था वर्तमान, वर्तमानरूप से है। वह वर्तमानरूप से है, वह दूसरे से नहीं है। जैसे त्रिकाल द्रव्य-गुण भी द्रव्य-गुणरूप से है। वैसे पर्याय, पर्यायरूप से है, वह सत्ता है। वह दूसरे से है, ऐसा नहीं है। आहाहा! पूरे दिन यह सब काम करते हैं। कर नहीं सकता, मानता है, इसकी भ्रमणा है। आहाहा!

एक तत्त्व, दूसरे अनेक तत्त्व यदि मानो तो एक तत्त्व और दूसरे तत्त्व के बीच तो अभाव है। अभाव न होवे तो वह तत्त्व सिद्ध ही नहीं होगा। एक यह अँगुली है, उसका अस्तित्व सिद्ध करना हो तो वह स्वयं से है और इस अँगुली से नहीं, तब उसका (अस्तित्व)

सिद्ध होगा, नहीं तो सिद्ध नहीं होगा। इसी तरह आत्मा, आत्मा के द्रव्य-गुण-पर्याय से है और परद्रव्य गुण पर्याय से नहीं। मूल विवाद तो पर्याय का है न! आहाहा!

इसी प्रकार जड़। जड़ है, उसकी वस्तु से। द्रव्य अर्थात् कायम रहनेवाला, गुण अर्थात् शक्ति। जब वह है तो उसकी पर्याय (भी है)। (वस्तु) त्रिकाल है तो यह वर्तमान है। वह त्रिकाल बदलती नहीं, यह वर्तमान बदलती नहीं। त्रिकाल किसी से नहीं होता, (वैसे) वर्तमान किसी से नहीं होता। आहाहा! थोड़ा नया आया। पढ़ते-पढ़ते कब आवे? वह का वह आवे ऐसा कुछ है? आहाहा! बहुत सरस बात है, हों! आहाहा!

अजीव अपने परिणाम से उपजता हुआ। यह जड़ जो है, भाषा बोली जाती है, यह हाथ हिलता है, यह सब परमाणुओं की अवस्था है। यह अस्ति है न? होवे, वह ज्ञात हो या न होवे, वह ज्ञात हो? तब होता है, यह है ऐसा ज्ञात होता है। यह होता है, वह क्या चीज़ है? कि यह परमाणु का पिण्ड है। इन परमाणु में एक-एक भिन्न परमाणु है, वह प्रत्येक परमाणु कायम रहनेवाला है। उसकी वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, शक्ति भी कायम रहनेवाली है। जब कायम रहनेवाले त्रिकाली अपनी सत्ता को दूसरे के स्वीकार की आवश्यकता नहीं तो उसकी वर्तमान पर्याय को अपने अस्तित्व में दूसरे के स्वीकार की आवश्यकता नहीं। आहाहा! ऐसा कठिन है। बात तो ऐसी है। आहाहा!

क्रमबद्ध ऐसे अपने परिणामों से उत्पन्न होता हुआ... भाषा तो ऐसी है कि उत्पादव्ययध्रुवयुक्तं सत्। ऐसा आता है न? नयी अवस्था नयी उत्पन्न होती है, पुरानी अवस्था जाती है और ध्रुव रहे ध्रुव। ये तीनों सत् है न? तो सत् है, उसे पर की कोई अपेक्षा नहीं होती। उसके द्रव्य-गुण को तो नहीं होती परन्तु वर्तमान परिणाम बदले, उन्हें भी पर की अपेक्षा नहीं होती। अपने काल में, अपनी योग्यता से, अपने परिणामरूपी पर्याय को वह-वह द्रव्य करता है। आहाहा! भारी कठिन काम जगत से। पूरे दिन यह सब व्यापार करते हैं, सब वकालात करते नहीं थे? रामजीभाई वकालात करते थे। दो सौ रुपये लेते थे। कोर्ट में जाते थे। ये सब करते थे या नहीं कुछ? यह तो मान्यता थी अन्दर। करे कौन? पर को करे कौन? इस होंठ को हिलावे कौन? यह अस्ति है या नहीं? सत्ता है या नहीं? सत्ता है तो उस वस्तु में कोई उसकी शक्ति है या नहीं? वस्तु है तो उसकी कोई शक्ति / गुण है

या नहीं ? और है शक्ति तो वह त्रिकाल तत्त्व है। शक्ति और परमाणु, वह स्वयं त्रिकाल है। तो उसका कोई वर्तमान है या नहीं ? त्रिकाली चीज़ का वर्तमान है या नहीं ? जैसे त्रिकाल को अपेक्षा नहीं, वैसे वर्तमान को किसी की अपेक्षा नहीं। आहाहा! ऐसी चीज़ है। दृष्टान्त देते हैं।

क्योंकि जैसे (कंकण आदि परिणामों से उत्पन्न होनेवाले ऐसे) सुवर्ण का... सोना जो कुण्डल आदि से उपजे, सोना कुण्डल की पर्याय से उपजे। **आदि परिणामों के साथ तादात्म्य है...** वह अपनी पर्याय के साथ तद्रूप है। क्या कहते हैं ? सोना जो है सोना, वह कुण्डलरूप से उपजे, उस कुण्डल की पर्याय उस सोने के साथ तद्रूप है। वह दूसरे के साथ तद्रूप (नहीं), दूसरे के साथ उसे कुछ सम्बन्ध नहीं। उस कंकण आदि की पर्याय का सम्बन्ध स्वर्ण के साथ है। जैसे सोना कायम है, वैसे उसके परिणाम उस काल में स्वयं से होते हुए स्वर्ण के साथ तादात्म्य है। उस कुण्डल को सोनी ने घड़ा है, ऐसा नहीं। आहाहा! गजब बात है। सोनी ने घड़ा नहीं, ऐसा कहते हैं। सोनी भिन्न तत्त्व है, सोना भिन्न तत्त्व है। भिन्न तत्त्व की अस्ति स्वयं से है। अस्ति जब स्वयं से है तो उसकी वर्तमान होती अवस्था की अस्ति भी स्वयं से है। पर की अस्ति से उसकी अस्ति है, ऐसा है नहीं। आहाहा! गजब बात है न! अभी तो भाषा बैठना कठिन पड़े। यह तो मुद्दे का माल है।

सुवर्ण का कंकण... अर्थात् कुण्डल आदि, कड़ा आदि **परिणामों के साथ...** सोने का गहना होता है, वह गहना उस सोने की पर्याय है, सोने का परिणाम है। क्योंकि वर्तमान स्वयं परिणाम है। वापस बदल जाता है। जो त्रिकाल सोना है, उसके जो कंकण आदि वर्तमान परिणाम है, उस परिणाम के साथ सोने को तद्रूप है। आहाहा!

इसी प्रकार जीव के परिणाम के साथ जीव को तद्रूप है, अजीव के परिणाम के साथ अजीव को (तद्रूप है)। परिणाम अर्थात् पर्याय। उस अजीव की पर्याय के साथ अजीव को तन्मय है। ऐ... देवीलालजी! यहाँ पर्याय और द्रव्य तन्मय कहे। पर से भिन्न करने को (ऐसा कहा)। आहाहा! यह तो ख्याल है। यह तो सूक्ष्म बात पड़े। पर्याय भी द्रव्य न करे। पर्याय, पर्याय को करे। दो अस्ति है न ? सत् है न ? सत् को पर की अपेक्षा नहीं होती। है, उसे पर की अपेक्षा नहीं होती। नहीं है, उसे पर की अपेक्षा नहीं होती। नहीं अर्थात्

है ही नहीं वह। है, वह त्रिकाल है। और त्रिकाल है, वह स्वयं से है और अपने परिणाम क्षण-क्षण में बदलता है, वह स्वयं से बदलता है; पर के कारण नहीं। आहाहा! निवृत्त ठोस अत्यन्त भिन्न है। पूरे दिन अभिमान यह करूँ, यह किया... यह किया... यह किया... यह किया... आहाहा!

सुवर्ण का कंकण आदि परिणामों के साथ तादात्म्य है, उसी प्रकार सर्व द्रव्यों का... सर्व द्रव्य अर्थात् वस्तु। आत्मा अनन्त, अनन्त परमाणु। ये परमाणु अनन्त हैं, आत्मा भी जगत में अनन्त हैं। एक शरीर में एक, ऐसे अनन्त हैं, वैसे यह परमाणु (शरीरादि) जो है, वह अनन्त-अनन्त रजकणों का दल है, वह एक चीज़ नहीं है। टुकड़े करते... करते... करते... अन्तिम पॉइन्ट रहे उसे परम अणु, परम अणु—उत्कृष्ट छोटा, उसे परमाणु उसे कहा जाता है। वह परमाणु भी अपने परिणाम के साथ तादात्म्यरूप है। आहाहा! यह कंकण आदि परिणामों से उपजते **सुवर्ण का कंकण आदि परिणामों के साथ तादात्म्य है, उसी प्रकार सर्व द्रव्यों का...** आहाहा! बड़े सिद्धान्त, महा सिद्धान्त हैं। जैसे कुण्डल की पर्याय हुई, कुण्डल पर्याय कहो या परिणाम कहो। कुण्डल की पर्याय हुई, वह सोने के साथ तद्रूप है। वह परद्रव्य के साथ तद्रूप नहीं, उसके अपने द्रव्य के साथ तद्रूप है।

उसी प्रकार सर्व द्रव्यों का... आहाहा! **अपने परिणामों के साथ तादात्म्य है।** आहाहा! प्रत्येक पदार्थ अपने वर्तमान परिणाम बदलती दशा के साथ, पलटती अवस्था के साथ उस तत्त्व के तद्रूप है। दोनों भिन्न नहीं हैं, तद्रूप है। वह पररूप नहीं, तद्रूप है। उस-उस तत्त्व के, उस-उस समय के उपजते परिणाम, उन परिणाम को और द्रव्य को तद्रूप है, अन्यरूप नहीं। और अन्यरूप नहीं, इसलिए अन्य से हुए नहीं, स्वर्ण से हुए हैं। आहाहा! यशपालजी! ऐसा सुना था या नहीं वहाँ कहीं? कल वह आया था न? भाई! क्षुल्लक। वह कहे, मुझे अफ्रीका साथ में आना है। वह अफ्रीका के लिये आया था। क्या कहलाता है वह? पासपोर्ट तो लिये गये हैं। बहुत लोग अफ्रीका आनेवाले हैं।

यहाँ कहते हैं, बापू! किसी का कोई कुछ कर सके... परोपकार, परोपकार तो मूल चीज़ है। मण्डल के अधिकारी हो और परोपकार करे, एक दूसरे को मदद करे, सहायता

करे। यहाँ कहते हैं कि एक तत्त्व का, एक तत्त्व की वर्तमान अवस्था की अस्ति को; जैसे उसके द्रव्य और गुण को अस्ति को कोई अपेक्षा नहीं; वैसे उसकी वर्तमान अवस्था की दशा को कोई अपेक्षा ही नहीं है। जैसे स्वतन्त्र वस्तु परमाणु आदि अनादि से है, वैसे वह पर्याय भी उस काल की, उस काल की सत्... सत्... सत्... है। आहाहा! ऐसा उपदेश। वस्तु ऐसी है, बापू! दुनिया को अभी कहाँ दरकार पड़ी है? क्या तत्त्व है और मैं क्या कर रहा हूँ और इसका क्या परिणाम आयेगा, उसे कहाँ पड़ी है। आहाहा!

भगवान आत्मा...! कहते हैं कि वह आत्मा और परमाणु सर्व द्रव्यों को। सबका आया न? उसमें सिद्ध भी आये न? सिद्ध। सिद्ध भी ऊपर नहीं जाते, वे अपने परिणाम की योग्यता से, वे परिणाम वहाँ तक के ही हैं। धर्मास्तिकाय ऊपर नहीं है, इसलिए नहीं जाते, यह बात मिथ्या है। आहाहा!

सर्व द्रव्यों का... सर्व द्रव्य अर्थात् बहुत द्रव्यों को। अनन्त हैं। आत्मायें एक-एक शरीर में ऐसे भगवानरूप से अन्दर है, ऐसे अनन्त-अनन्त आत्मायें हैं। उससे अनन्त गुणे अनन्त परमाणु हैं। आत्मा की संख्या जो अनन्त है, उसकी अपेक्षा परमाणु यह अन्तिम परमाणु ऐसी उसकी संख्या अनन्त-अनन्त गुणी है। उन सब द्रव्यों को अपने परिणामों के साथ तादात्म्य है। आहाहा! ओहोहो! कठिन काम, बापू! दाढ़ से रोटी के दो टुकड़े नहीं होते। दाढ़ के रजकण अलग हैं, रोटी के अलग हैं। टुकड़े की जो पर्याय होती है वह, उन-उन परमाणुओं की स्वयं से-अस्ति से होती है। परमाणु द्रव्य-गुण का अस्तित्व है, उसके साथ अस्तिवाली पर्याय उससे होती है, दाढ़ से नहीं। दाढ़ की अस्ति तो दाढ़ के कारण है। ऐसा तो सुना नहीं होगा। आहाहा! ऐसा मार्ग है, बापू!

आचार्यों ने तो इसमें बहुत भर दिया है। बहुत दृष्टान्त देने जाए तो पार नहीं आवे। आहाहा! एक पैर चलता है न, पैर? वह चलता है, वह पैर के रजकण हैं, उनका अस्तित्व है, उसकी अवस्था होती है, उसकी अवस्था के कारण चलता है। जीव की प्रेरणा से चलता है, यह बात अत्यन्त झूठ है। क्योंकि उसका अस्तित्व है, परमाणु का अस्तित्व है। यह अँगुली हिलती है, देखो! इसके परमाणुओं का अस्तित्व है। अस्तित्व है तो उसकी इस पर्याय का भी अस्तित्व है। इस पर्याय के अस्तित्व को-सत्ता को दूसरी सत्ता दें, सत्ता, वह

सत्ता है उसे दूसरा उसे सत्त्व दे, ऐसा तीन काल में नहीं होता। आहाहा! निवृत्त हो जाए, ऐसा है। परन्तु माने तब न। आहाहा!

इस प्रकार जीव... यहाँ तक तो अपने आया था। **इस प्रकार जीव अपने परिणामों से उत्पन्न होता है, तथापि...** अब क्या कहते हैं? कि यह जीव जो है आत्मा; आत्मा कहो या जीव कहो, वह अपने परिणाम से तो उपजता है न? बदलती है न दशा? दशा बदलती है तो दूसरे को भी बदलावे। स्वयं बदलता न हो तो अलग बात है। स्वयं बदले, दूसरे को बदलावे, ऐसा शिष्य का प्रश्न है। आहाहा! क्या कहा? ऐसे अपने परिणाम से उपजता होने पर भी। प्रत्येक आत्मा अपनी वर्तमान अवस्था / दशा / परिणाम / अंश जो है, वर्तमान अंश उसे करता हुआ। **तथापि उसका अजीव के साथ कार्यकारणभाव सिद्ध नहीं होता,...** ऐसा अपना परिणाम बदलने पर भी पर के साथ बदलना, वह कार्य सिद्ध नहीं होता। कोई कहे कि स्वयं बदलता है, साथ ही दूसरे को बदलावे। आहाहा! ऐसा नहीं होता, ऐसा है नहीं। वस्तु की मर्यादा में यह बात है नहीं। (बात) बैठना कठिन पड़े, बापू! उसमें पहला-पहला सुने उसे तो यह क्या कहते हैं? यह तो किस प्रकार का (उपदेश)? आहाहा! पूरे दिन अभिमान करता हो, यह किया और यह किया और यह किया। आहाहा!

प्रभु! तू चैतन्य है न! ज्ञानानन्द, सहजानन्द मूर्ति है। तुझमें तेरे परिणाम तेरी जाति के होते हैं, जीव की जाति के, जीव की जाति के (होते हैं) परन्तु कहीं जड़ जाति के परिणाम तुझमें नहीं होते। इसी प्रकार जड़ में जड़ की जाति के परिणाम होते हैं, वे चैतन्य के कारण उसके परिणाम बदलें, ऐसा नहीं होता। आहाहा!

यह सिद्धान्त क्या कहा अन्तिम? कि **इस प्रकार जीव अपने परिणामों से उत्पन्न होता है, तथापि...** उपजता तो है, पर्याय करती तो है पर्याय। जीव पर्याय करता तो है। उपजता है अर्थात् करता तो है। तो साथ में उस अजीव के साथ कारणकार्यभाव करे तो आपत्ति क्या है? (तो कहते हैं), **उसका अजीव के साथ कार्यकारणभाव सिद्ध नहीं होता,...** आहाहा! स्वयं परिणमता होने पर भी, बदलता होने पर भी परपदार्थ के साथ परपदार्थ कार्य और आत्मा कारण, आत्मा कर्ता और परपदार्थ कर्म अर्थात् कार्य, इस

प्रकार से बात सिद्ध नहीं होती। यह तो सिद्धान्तों के सिद्धान्त हैं, बापू! यह कोई बात नहीं है, यह कुछ वार्ता नहीं है। आहाहा! सूक्ष्म बात है।

जब स्वयं जीव आत्मा है, (उसके) विचार तो बदलते हैं, परिणाम बदलते हैं। अतः बदलते हैं तो साथ में दूसरे को बदलावे, (उसमें) आपत्ति क्या है? (तो कहते हैं), स्वयं भले बदले, तथापि अभी पर के साथ कार्यकारणभाव सिद्ध नहीं होता। ऐसे कर्ता और परमाणु के कार्य जीव करे, उसके परिणाम को, वह (कार्यकारणभाव) सिद्ध नहीं होता। यह हाथ हिलना, वह आत्मा से हिलता है, यह बात सिद्ध नहीं होती। यह भाषा निकलती है, वह जड़ की पर्याय है। उसका कर्ता आत्मा है, ऐसा कर्ताकर्मपना सिद्ध नहीं होता। आहाहा! पर की दया पाल सकता है, ऐसा नहीं बनता, ऐसा कहते हैं। आहाहा! वह तो परवस्तु है, परजीव है।

मुमुक्षु : आपके प्रभाव से तो हम सब आये हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह सब निमित्त की बातें। आहाहा! मार्ग ऐसा है, बापू! क्या हो? प्रभु! तेरी पद्धति ही ऐसी है। 'प्रभुता प्रभु तारी तो खरी' पहले सीखते थे न? ७८ वर्ष पहले की बात है। बारह वर्ष की उम्र थी न जब, ७८ वर्ष पहले दलपतराम थे। दलपत कवि, कवि। कदडा, कदडा अर्थात् कवि दलपतराम डाह्याभाई थे। उनके लड़के हैं न? वढवाण में हैं। नानाभाई। वे ऐसा कहते थे, एक स्तुति बनायी थी। 'प्रभुता प्रभु तारी तो खरी, मुजरो मुझ रोग ले हरी।' वे तो कर्ता माननेवाले न! 'प्रभुता प्रभुता प्रभु तारी (तो खरी)। यहाँ आत्मा में 'प्रभुता प्रभु तारी तो खरी, मुजरो मुझ रोग...' अज्ञान है, राग हर ले तो तू प्रभु कहलाये, तू प्रभु है। आहाहा! पर का अभिमान और पर को करता हूँ।

मुमुक्षु : रागरूपी रोग।

पूज्य गुरुदेवश्री : राग रोग है। चाहे तो दया, दान, व्रत, भक्ति का राग भी रोग है। भगवान तो रागरहित निर्विकल्प आनन्दस्वरूप है, अन्दर सच्चिदाननद प्रभु है। न होवे तो पूर्णानन्द पवित्र न होवे तो पूर्णानन्द पवित्र होगा कहाँ से? बाहर से कहीं हो, ऐसा है? अन्दर में शक्ति है, उसमें से वह होता है। आहाहा! छोटी पीपर में चोसठ पहरी चरपराहट भरी है। भले कद में छोटी (हो), परन्तु चरपराहट चोसठ पहरी भरी है। इसलिए घोंटते-

घोंटते चौसठ पहरी बाहर आती है। वह है, वह बाहर आती है। प्राप्त की प्राप्ति है। उसी प्रकार भगवान आत्मा में केवलज्ञान और केवलदर्शन होने की शक्ति है। वह केवलज्ञान, केवलदर्शन जब होता है, तब अन्दर प्राप्त है, उसमें से प्राप्ति होती है। आहाहा! बहुत कठिन बात है। दुनिया को साधारण मस्तिष्कवालों को तो कठिन लगता है।

इस प्रकार जीव अपने परिणामों से उत्पन्न होता है, तथापि उसका अजीव के साथ... अजीव शरीर, वाणी, मन, कर्म, दाल, भात, सब्जी। यह दाल, भात और सब्जी आत्मा खा नहीं सकता, ऐसा कहते हैं। उसे स्पर्श नहीं करता, कहते हैं। वह तो जड़ की क्रिया जड़ में उसके कारण से होती है। अरे! कठिन बात, बापू! बहुत कठिन, प्रभु! हमने दुनिया को देखा है। नहीं कोई देखा? बहुत प्रकार से देखा है। ९० वर्ष हुए। ७२ वर्ष से तो निवृत्ति है। अठारह वर्ष की उम्र से निवृत्ति है। घर की दुकान पालेज में है न? तब दुकान पर शास्त्र पढ़ता था। देखा, बहुत देखा दुनिया का। यह चीज़ अलग, बापू! आहाहा! यह मार्ग अलग, वह मार्ग अलग। आहाहा!

अजीव के साथ कार्यकारणभाव सिद्ध नहीं होता, क्योंकि सर्व द्रव्यों का अन्य द्रव्य के साथ उत्पाद्य-उत्पादक भाव का अभाव है;... क्या कहते हैं? सर्व द्रव्यों को अन्य द्रव्य के साथ उत्पाद अर्थात् उत्पन्न होना और उत्पादक अर्थात् उत्पन्न करना। उत्पाद्य अर्थात् उत्पन्न होना और उत्पादक अर्थात् उत्पन्न करना, ऐसा है नहीं। एक उत्पादक द्रव्य है और दूसरा उत्पाद्य है, उत्पन्न करनेवाला, ऐसा है नहीं। उत्पाद्य उत्पादक है नहीं। आहाहा! दूसरे प्रकार से कहें तो उत्पादक कारण और उत्पाद्य वह कार्य—कर्म, यह कार्य—कर्म ऐसा है ही नहीं। आहाहा! यह पूरे दिन धन्धा करे तो कौन करता होगा यह? शान्तिभाई! पागल-पागल कहे। ऐसी बातें (करते हैं)। आहाहा! बापू! सब खबर है सबकी। वस्तुस्थिति ऐसी है। आहाहा!

यह यहाँ कहते हैं, **सर्व द्रव्यों का अन्य द्रव्य के साथ उत्पाद्य...** अर्थात् कार्य और उत्पादक अर्थात् उसका उत्पाद करनेवाला कारण। उत्पाद्य अर्थात् कर्म और उत्पादक अर्थात् कारण, उनका अभाव है। आहाहा! उस प्रत्येक द्रव्य में उत्पाद्य अर्थात् उत्पन्न होने की योग्यता और दूसरा उसका उत्पादक, ऐसा अभाव है। आहाहा! यह लकड़ी जो ऊँची

होती है, उसमें उत्पाद्य जो यह दशा हुई, उसका उत्पादक उसका परमाणु है। उसका उत्पादक यह अँगुली नहीं। आत्मा नहीं और अंगुली नहीं। आहाहा! यह किस प्रकार का यह सिद्धान्त?

वीतराग तीन लोक के नाथ जिनेश्वर परमेश्वर केवलज्ञानी परमात्मा के मुख से निकला हुआ तत्त्व है। साधारण जनता को तो सुनने को मिला नहीं। साधारण जनता अपने में लवलीन। उसमें दो-पाँच-दस हजार का वेतन हो, महीने में दस, बीस हजार का (होवे) तो हो गया, मानो हम जीत गये और आगे चले, गहरे। धूल में भी कुछ नहीं वहाँ। लाखों-करोड़ों रुपयों हो तो वह क्या है? आहाहा! करोड़, वे तो जड़ हैं। जड़ के कार्य तू रख सके? आहाहा! उस जड़ को ले सकूँ, जड़ को रख सकूँ, जड़ का ब्याज उपजा सकूँ और वह ब्याज मैं ले सकूँ, कहते हैं कि ऐसा आत्मा और जड़ के बीच कार्यकारण सम्बन्ध नहीं है। आहाहा! ऐसा तो कठिन लगे।

मुमुक्षु : यह समझने से लाभ क्या होगा?

पूज्य गुरुदेवश्री : लाभ स्वतन्त्र अकेला मैं हूँ, परिणाम को बदलाकर अन्दर में रखूँ। मेरे परिणाम हैं, वे मुझसे बदलते हैं। मैं कौन हूँ? मैं आत्मा त्रिकाली हूँ। वहाँ (उस ओर) उस परिणाम को झुकाना और अनुभव करना, यह इसका सार है। आहाहा! मेरे अतिरिक्त कोई भी परमाणु और आत्मा का मैं कर्ता नहीं। उसकी पर्याय का जो परिणाम होता है, उसका कर्ता वह है। अर्थात् पर का कर्ता उड़ गया, अर्थात् अकर्ता हुआ। यह पुरुषार्थ है। इसमें यह आया न? अकर्ता सिद्ध करना है, पहले आ गया है।

पर का कर्ता नहीं परन्तु अन्दर राग और द्वेष के परिणाम हों—दया, दान, काम, क्रोध के, उनका भी आत्मा कर्ता नहीं है। वह अज्ञान में कर्ता (होता है)। गहन विषय कोई अज्ञान कि अज्ञानी उसे मानता है। आहाहा! वस्तु चैतन्य सच्चिदानन्द प्रभु सत् अर्थात् कायम रहनेवाला ज्ञान और आनन्द का कन्द प्रभु है। ऐसे पर का करना, वह कुछ भी है नहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : जैनदर्शन तो दया प्रधान है।

पूज्य गुरुदेवश्री : दया प्रधान, वह दया आत्मा की। आत्मा की दया—यह राग नहीं

करना, वह आत्मा की दया। राग करना, वह आत्मा की हिंसा। यह सब व्याख्या दूसरी है। आहाहा! कितनों को तो कान में पहली-पहली पड़ी होगी। आहाहा! ऐसा मार्ग है, प्रभु! प्रभुता प्रभु तेरी तो महिमा है परन्तु उस तेरी महिमा की तुझे खबर नहीं है। आहाहा! अनन्त तू और पर सबका जाननेवाला है, जाननेवाले के अतिरिक्त तेरा कोई काम है ही नहीं। राग करना और पर का करना और वह तो कुछ तेरी चीज़ में है ही नहीं। आहाहा! तेरा ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव है, जानना-देखना स्वभाव है। वह भी अपने को वास्तव में तो जानना-देखना, वह स्वभाव है, पर को जानना-देखना वह अपेक्षित है। आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई! परन्तु समझना पड़ेगी या नहीं?

बापू! मर जाएगा चौरासी के अवतार में। अवतार कर-करके अभी तक कचूमर निकल गया है। कौवे के, कुत्ते के, नरक के, निगोद के अनन्त भव किये हैं। क्योंकि आज से पहले भवरहित कहीं रहा नहीं। भव रहित होवे तो फिर से अवतार होगा नहीं। जो चने का बीज जल गया हो, वह कभी उगेगा नहीं। चना पक्का हो गया (वह) उगता नहीं। इसी प्रकार यदि मोक्ष होवे तो फिर से अवतार नहीं होता। भव ही अनन्त किये हैं। अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... अनन्त... भूतकाल में कहीं अन्त नहीं। इस मिथ्यात्व के कारण, भ्रमणा के कारण, असत्य की दृष्टि के कारण। आहाहा! सत् दृष्टि की खबर नहीं होती, इसलिए असत् दृष्टि में रचा-पचा पड़ा हो, जिन्दगी पूरी कर डाले, जाओ। आहाहा!

सर्व द्रव्यों का अन्य द्रव्य के साथ उत्पाद्य... अर्थात् कि उपजने के योग्य और उत्पादक, उसे उपजानेवाला, इसका अभाव है। दूसरे द्रव्य उत्पाद्य—उत्पन्न होने के योग्य और दूसरा उसे उत्पन्न करनेवाला, इसका अभाव है। आहाहा! यहाँ तो जरा दो, पाँच, दस लाख हो वहाँ मानो, ओहो! हम कैसे सुखी हैं और कैसे (हैं)! आहाहा! अज्ञानी की भ्रमणा है, अज्ञान की मूढ़ता है। आहाहा! और स्त्री से विवाह करे तो, ओहोहो! सब दुर्घटना खड़ी हुई। यह स्त्री और मेरा यह और मेरा यह। प्रभु! किसका कौन है किसी का? आहाहा! उसका आत्मा स्वतन्त्र है, उसके शरीर के रजकण स्वतन्त्र हैं। तेरा आत्मा स्वतन्त्र है, तेरे शरीर के रजकण, दूसरे के उसके रजकण भी स्वतन्त्र भिन्न हैं। आहाहा! ऐसा है।

उत्पाद्य-उत्पादक भाव का अभाव है; उसके (कार्यकारणभाव के) सिद्ध न होने पर,... जब कार्यकारणभाव सिद्ध नहीं होता, किसी भी तत्त्व का कार्य अर्थात् पर्याय दूसरे का कारण होकर हो, यह बात साबित नहीं होती। समझ में आया? कार्यकारण— किसी भी द्रव्य की पर्याय अर्थात् वर्तमान परिणाम, वर्तमान दशा, वर्तमान पर्याय, उसे दूसरा द्रव्य कारण हो, ऐसा किसी प्रकार से बनता नहीं। आहाहा! हम कारण तो होवे न? निमित्त कारण तो होवे न? ऐसा कितने ही कहते हैं। हम भले करते नहीं परन्तु निमित्त कारण तो है। यही यहाँ इन्कार करते हैं।

मुमुक्षु : ढेबरभाई कहते थे।

पूज्य गुरुदेवश्री : ढेबरभाई कहते थे, ढेबरभाई यहाँ आते थे न? वे कहते कि हम निमित्त तो होवे न, निमित्त तो होंगे न? परन्तु किसका निमित्त होगा? उसकी पर्याय उसके काल में होती है। तुम्हारे से होती है? तुम निमित्त थे, इसलिए होती है? तब तो फिर इसके परिणाम और उस परिणाम में कर्ता-कर्म हो गया। आहाहा! कठिन काम है, भाई! दुनिया से अभी चलता प्रवाह है (उससे अलग प्रकार है)। आहाहा!

उसके (कार्यकारणभाव के) सिद्ध न होने पर, अजीव के जीव का कर्मत्व सिद्ध नहीं होता;... क्या कहते हैं? अजीव का कार्य जीव का, यह सिद्ध नहीं होता। अजीव का कार्य जीव का यह सिद्ध नहीं होता। यहाँ इतनी बात ली है। अजीव को जीव का कार्य, अजीव को जीव का कार्यपना सिद्ध नहीं होता। अर्थात् आत्मा जड़ का, शरीर का, वाणी का, मन का, किसी का, कुटुम्ब का, कबीले का, स्त्री का, किसी का कर सके, यह बात साबित नहीं होती। लॉजिक और न्याय से वस्तु को सिद्ध करने पर, वस्तु जब सत्ता और अस्तित्व से है, वस्तु अपनी सत्ता से है। बदलती है, तब भी अपनी सत्ता से है। उसे दूसरे से बदलना, यह सिद्ध नहीं होता। आहाहा! जगत को कठिन पड़ता है।

मुमुक्षु : नरसिंह मेहता ने कहा है कि किसी का नहीं कर सकता।

पूज्य गुरुदेवश्री : 'मैं करूँ, मैं करूँ, यही अज्ञान है।' यह बात अलग। वह साधारण बात है।

अजीव के जीव का कर्मत्व... अर्थात्? जीव का कार्य अजीव का, जीव का

कार्य अजीव का सिद्ध नहीं होता। समझ में आया? इतना यहाँ योगफल लेना है। अजीव जितने शरीर, वाणी, मन, अरे! कर्म, कर्म बन्धन को भी जीव करे, यह सिद्ध नहीं होता। यह जीव है, वह अज्ञानभाव से पुण्य-पाप के भाव करे और इससे कर्मबन्धन हो, उसे जीव कर नहीं सकता। कर्म के बन्धन के परमाणु कर्म के स्वतन्त्र हैं कर्मबन्धन में। आहाहा!

वास्तव में तो पुण्य और पाप के भाव भी विकार है। उसका भी कर्ता जीव नहीं है। जीव तो ज्ञान और आनन्दस्वरूप प्रभु है। त्रिकाली जानन और आनन्दस्वरूप है, वीतराग मूर्ति है, वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्शरहित चीज़ है, तो भी अनन्त गुण का खजाना, गोदाम है। अनन्त गुण का गोदाम है। आहाहा! उस जीव को अजीव का कार्यपना सिद्ध नहीं होता। वह जीव चाहे जैसा तुम बड़ा स्थापित करो—ऐसा है, अनन्त बल है, परन्तु वह स्वयं के लिये है, पर के लिये कुछ नहीं है। आहाहा! है?

अजीव के जीव का कर्मत्व... अजीव को जीव का कार्यपना। अर्थात् जीव को अजीव का कार्यपना सिद्ध नहीं होता। आहाहा! इसे मेल ऐसा लगे। इच्छा हो और पैर चले, इच्छा हो और भाषा बोली जाए। यह हाथ हिलता है, वह जड़ की पर्याय / अवस्था है। परमाणु अस्तित्व है, उसमें वर्ण, गन्ध, रस, गुण है। और वह ऐसे हुई, वह अवस्था है। पहली इस परमाणु की धूल की अवस्था थी। बाद में गेहूँ की हुई, बाद में आटा की हुई, बाद में खून की हुई, अभी अंगुली कही हुई। यह अवस्थाएँ बदलती हैं, वस्तु कायम रहती है। उस अवस्था को, यहाँ यह कहते हैं। आहाहा! उस जड़ की अवस्था का कार्य जीव का किसी प्रकार सिद्ध नहीं होता। वह अजीव का कर्म-कार्य, वह जीव का है, यह सिद्ध नहीं होता। आहाहा! कठिन लगे न? यह ऐसे-ऐसे होता है, वह तो जड़ का कार्य है। भाषा जड़... जड़ है, यह होंठ मिट्टी है। उसका कर्म अजीव का कर्म अर्थात् यह कार्य जीव का तो सिद्ध नहीं होता। जीव के कारण वह ऐसे-ऐसे होता है, यह बात साबित नहीं होती। आहाहा!

न्याय रखे हैं न अकेले। न्याय का विषय है। लॉजिक है, न्याय है। न्याय का अर्थ नि धातु है उसमें। नि धातु अर्थात् जैसी वस्तु की स्थिति है, वहाँ ज्ञान को ले जाना, ले जाना, इसका नाम न्याय है। यह सरकार में न्याय-ब्याय किये, वह नहीं। यह तो वस्तु का जैसा

स्वभाव है, जैसा उसका स्वरूप है, उसमें वह न्याय अर्थात् नि धातु, उसे ज्ञान में उसको ले जाना और इस प्रकार से है, ऐसे ले जाने का नाम न्याय। न्याय से यह सिद्ध होता है। आहाहा! अन्याय से चाहे जिस प्रकार से अज्ञानी माने, वह वस्तुस्थिति बदले, ऐसा नहीं है। आहाहा! देखो! यह पृष्ठ है तो अपने आप ऐसे फिरेगा? हाथ के बिना फिरेगा? हाँ। हाथ और इन दोनों की पर्याय का कार्य जीव का नहीं है। अजीव को, इस अजीव को जीव का कार्यपना अर्थात् जीव का यह कार्यपना ऐसे होना, वह सिद्ध नहीं होता। आहाहा! ऐसा काम है।

और उसके (अजीव के जीव का कर्मत्व) सिद्ध न होने पर,... अजीव का कार्य जीव का सिद्ध नहीं होने से। अजीव की अवस्था जीव से हो, यह साबित नहीं होने से। आहाहा! अजीव में जो वर्तमान अवस्था है... आहाहा! पानी अग्नि से गर्म नहीं होता, ऐसा कहते हैं। पानी के द्रव्य अलग हैं, अग्नि के अलग हैं। अपनी-अपनी पर्याय का कर्ता स्वयं है, दूसरा द्रव्य उसका कर्ता नहीं है। आहाहा! गजब बात! दुनिया को गले उतरना (कठिन पड़े), ऐसी बात है। क्योंकि सर्व द्रव्य भिन्न है न? सर्व द्रव्य अर्थात् यह पानी के द्रव्य भिन्न हैं, यह अग्नि के परमाणु भिन्न हैं। यह परमाणु हैं। तो एक परमाणु से दूसरे परमाणु की पर्याय हो, उसका यहाँ निषेध है। आहाहा!

वास्तव में तो अग्नि पानी को स्पर्श नहीं करती और पानी गर्म होता है। वह गर्म तो पानी का स्पर्शगुण का परिणमन है, गर्म है। अग्नि के कारण नहीं। अरे! ऐसी कठिन बात। दुनिया से अलग प्रकार की बात। क्या हो? मार्ग यह है। कठिन पड़े, न पड़े। हमें क्या करना पूरे दिन? पूरे दिन क्या करे? कर ही कहाँ सकता है? जान कि होता है, जान कि यह होता है। होता है, उसे जान। आहाहा! होवे, उसे करता हूँ-यह बात छोड़ दे। आहाहा! परन्तु यह कुछ बात नहीं है, यह कहीं बातों से वड़ा बने, ऐसा नहीं है। अन्दर पुरुषार्थ चाहिए है।

चैतन्य भगवान ज्ञानस्वरूप है, प्रज्ञाब्रह्मस्वरूप है। प्रज्ञा अर्थात् ज्ञान और ब्रह्म अर्थात् आनन्द। प्रज्ञाब्रह्म आनन्दस्वरूप है, वह क्या करे? जाने-देखे। आहाहा! पर की अवस्था को करे, यह तो बात ही नहीं है परन्तु पर को स्पर्श करे, यह बात ही नहीं है। आहाहा! एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को स्पर्श करे, यह भी वस्तु के स्वरूप में नहीं है। आहाहा!

(अजीव के जीव का कर्मत्व) सिद्ध न होने पर, कर्ता-कर्म की अन्य निरपेक्षतया... गजब भाषा देखो! **कर्ता-कर्म की अन्य निरपेक्षतया (अन्यद्रव्य से निरपेक्षतया, स्वद्रव्य में ही) सिद्धि होने से...** अब यह क्या कहा? प्रत्येक पदार्थ स्वयं कर्ता और स्वयं पर्याय उसका कर्म। इस कर्ता-कर्म में पर की अपेक्षा नहीं है, निरपेक्षरूप से सिद्ध होता है। एक द्रव्य के परिणाम दूसरा करे, ऐसा नहीं है। निरपेक्षरूप से स्वतन्त्र सिद्ध होता है। आहाहा! ऐसा कठिन। हाथ को ऐसे हिलाना, कहते हैं, उसकी अवस्था को जीव के साथ कर्ता-कर्म की अन्यनिरपेक्ष है। पर की अपेक्षा बिना जड़ स्वयं के कारण से अवस्था वहाँ करता है। वह पर्याय / अवस्था बदलती है। आत्मा से कुछ नहीं होता उससे। आहाहा! अन्तिम शब्द देखा?

कर्ता-कर्म की अन्य निरपेक्षतया... एक द्रव्य से दूसरे द्रव्य का निरपेक्षरूप से कर्ता-कर्म होता है। अर्थात् प्रत्येक वस्तु कर्ता अर्थात् रचनेवाला और कर्म अर्थात् उसकी पर्याय परिणाम हों, वह उसका कर्म। उस कर्ता-कर्म की अन्य निरपेक्षपने (अर्थात् कि) दूसरे द्रव्य की अपेक्षा बिना, दूसरे तत्त्व की अपेक्षा बिना स्वतः तत्त्व अपने परिणाम को स्वयं करता है, पर के साथ कुछ सम्बन्ध नहीं है। अरे... अरे! ऐसा सूक्ष्म है। इतने शब्दों में (इतना भरा है)।

कोई कहे कि इतनी अपेक्षा तो है न? अपेक्षा तो है न? उसे निकाल डालना। **कर्ता-कर्म की अन्य निरपेक्षतया...** परद्रव्य की अपेक्षा है नहीं। जिसमें अपने परिणाम होते हैं जीव को तो उसमें कर्म की भी अपेक्षा नहीं है। कर्म बन्धन होता है, उसमें जीव की अपेक्षा नहीं है। शरीर की अँगुली हिलती है, उसमें जीव और दूसरे परमाणु की भी अपेक्षा नहीं है। निरपेक्षरूप से प्रत्येक पदार्थ दूसरे की अपेक्षा बिना... आहाहा! स्वद्रव्य में ही सिद्धि होने से। प्रत्येक द्रव्य अपने परिणाम स्वयं करे, यह सिद्धि होने से। आहाहा! अन्तिम बोल सिद्ध बहुत ही, बहुत ही किया है।

कर्ता-कर्म की अन्य निरपेक्षतया... परमाणु और आत्मा समय-समय में, क्षण-क्षण में जो बदलने के परिणाम परमाणु और आत्मा में होते हैं, वे कर्ता परमाणु और पर्याय कर्म। ऐसे जीव के परिणाम जीव को परन्तु जीव के परिणाम जीव। वह उनका जीव कर्ता और परिणाम कर्म। अन्य द्रव्य के साथ कर्ता-कर्म निरपेक्ष है। आहाहा! यह आत्मा है तो

यह हाथ हिलता है, वह निरपेक्ष है। इसके कारण से इसकी स्वयं की पर्याय है, वह होती है। आहाहा!

करवत से लकड़ी के दो टुकड़े होते हैं, यह बात सिद्ध नहीं होती, ऐसा कहते हैं। करवत के रजकण अलग हैं, वे (लकड़ी के) रजकण अलग हैं। प्रत्येक रजकण की पर्याय स्वयं से कार्य-कारण में स्वयं है; पर कारण है - ऐसा है नहीं। आहाहा! यह महिलाएँ होशियार हों, वे करे न? यह पापड़ और वड़ी नहीं करतीं? वड़ी, पापड़... वह क्या कहलाता है? पुडला। अच्छा पुडला करे। हलका हाथ जिसका हो और पुडला करे, और भजिया बनावे। बनती है या नहीं। भगवान... भगवान... भगवान.. भगवान... अभिमान करता है। आहाहा! यह कहा न? कर्ता-कर्म की अन्य निरपेक्ष। दूसरे तत्त्व की अपेक्षा ही जिसे नहीं है। इस प्रकार सब चीज़ों की पर्याय हुआ करती है। आहाहा! यह एक बात समझे तो सब निर्णय / हल हो जाए। कठिन बात है, भाई!

यह क्रमबद्ध का अधिकार ही सूक्ष्म है। शुरु हुआ है, शुरु हुआ तब से... (संवत्) २००० में बाहर विस्तार रखा था। छत्तीस वर्ष हुए। वहाँ खलबलाहट... खलबलाहट हो गयी। क्रमबद्ध हुआ, बस! तब तो फिर यह आत्मा कुछ कर नहीं सकता। होना हो वह होगा? होनेयोग्य होगा, ऐसा ही है। परन्तु होनेयोग्य होगा, उसकी दृष्टि कहाँ? पर के ऊपर नहीं। उसकी आत्मा पर दृष्टि (होती है)। मैं तो ज्ञान हूँ, आनन्द हूँ, सच्चिदानन्द प्रभु हूँ, ऐसी मेरी सत्ता ज्ञानमय है—ऐसी जिसे दृष्टि हो, उसे यह क्रमबद्ध के कर्ता-कर्मपने का भाव भलीभाँति बैठ जाता है कि, कर्ता-कर्म एक दूसरे नहीं हैं। है न? आहाहा!

कर्ता-कर्म की अन्य निरपेक्षतया... अन्य की अपेक्षा नहीं। आहा! लोग कहते हैं न? कुछ अपेक्षा तो रखो, निमित्त की कुछ अपेक्षा रखो। ढेबरभाई ऐसा कहते थे। यह सुनते तब कहे निमित्त है, निमित्त रखो। उसके साथ दूसरे एक थे, वे तो बेचारे बैठते, दूसरे नहीं थे एक? आये थे। आहाहा! मैं दूसरे का भला कर सकूँ, यह बात ही झूठ है। भाव आवे। भाव आवे, उसका ज्ञाता रहे, जाननेवाला रहे। उसका वह कर्ता न हो। भाव आवे, उसका कर्ता न हो। पर का भला तो कर तो नहीं सकता परन्तु भला करने का भाव आवे, उसका भी कर्ता होवे तो मिथ्यादृष्टि है। क्योंकि विकार का कर्ता होता है। आहाहा! प्रभु तो ज्ञानस्वरूप सच्चिदानन्द है, उसे राग का कर्तापना सौंपना, वह विपरीत दृष्टि है। आहाहा!

अर्थात् कि एक दूसरे के कार्य में पर की अपेक्षा है ही नहीं। गजब शब्द है। अन्य की अपेक्षा ही नहीं। किंचित् कथंचित् ऐसा है और कथंचित् ऐसा है—ऐसा आता है न? तुम्हारे उसमें भी आता है। तुम्हारा क्या था? विकास... कथंचित् (यह) और कथंचित् यह। आहाहा! दुनिया बैठी, पूरी दुनिया को (यह बात) बैठी है। यह कहीं नया नहीं है। यह बात एकदम नयी है। **जीव के अजीव का कर्तृत्व का सिद्ध नहीं होता। इसलिए जीव अकर्ता सिद्ध होता है।** लो! (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ३८१, श्लोक - १९३, १९४, गाथा - ३०८ से ३११ शुक्रवार, माघ शुक्ल १
दिनाङ्क - ०१-०२-१९८०

सर्वविशुद्धज्ञान प्रगट होता है, वह भी है पर्याय परन्तु त्रिकाली को जानता है, इसलिए उसे सर्वविशुद्धज्ञान कहने में आया है। जानता है त्रिकाली को, उसके साथ मोक्ष की पर्याय को भी जाना, तथापि वह स्वांग है। अरे! निश्चय से तो वह मोक्ष की पर्याय भी एक स्वांग है। आहाहा! क्योंकि एक समय, परन्तु वह जाननेवाली पर्याय रहती है। त्रिकाली भगवान ध्रुव है, वह तो वह जैसा है, वैसा ही उतना अनादि काल से अनन्त काल एक ही रूप है। निगोद से लेकर सिद्ध तक में द्रव्य तो त्रिकाली निरावरण जैसा है, वैसा ही है। उसमें कुछ हेरफेर नहीं होता। इसलिए (ऐसा कहा कि) '**सर्वविशुद्धज्ञान प्रवेश करता है।**' वह भी (प्रवेश करता है)। जैसे मोक्ष का स्वांग प्रवेश करता है और जान लिया, वैसे यह भी सर्वविशुद्धज्ञान प्रवेश करता है, यह भी एक पर्याय हुई। आहाहा!

रंगभूमि में जीव-अजीव, यह अधिकार आ गया। कर्ताकर्म, पुण्य-पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्ष—यह आठ स्वांग आये, आठ स्वांग आये। आहाहा! भगवान आत्मद्रव्य त्रिकाली नित्यानन्द प्रभु में यह आठ स्वांग आये, आठ वेश आये, आठ अवस्थायें आयीं। आहाहा! **उनका नृत्य हुआ...** आठ का नृत्य हुआ अर्थात् पर्याय प्रगट हुई और परिणमित हुई, यह उनका नृत्य। पर्याय हुई और प्रगट हुई, यह उनका नृत्य। आहाहा!

और वे अपना अपना स्वरूप बताकर निकल गये। ले। आठों ही पर्याय वापस निकल गयी। टिकता तत्त्व वह पर्याय नहीं, इसलिए निकल गयीऐसा कहा। टिकता तत्त्व जो ध्रुव त्रिकाल है, उसकी अपेक्षा से तो आठों पर्यायें निकल गयीं। आहाहा! ऐसी बात अब, लो! अब यहाँ कभी दया, दान, व्रत, भक्ति और पूजा से धर्म होगा! कहाँ यह बात और कहाँ यह बात! पूर्व-पश्चिम का अन्तर है। यहाँ तो कहते हैं संवर, निर्जरा और मोक्ष का वेष भी निकल गया। एक समय में आकर दूसरे समय में वह नहीं रहता। आहाहा! इससे वह स्वांग निकल गया, ऐसा कहने में आता है। ध्रुव कहीं निकल नहीं जाता और जो जानता है, वह है तो पर्याय परन्तु वह पर्याय सब स्वांग को वह जाननेवाली है। इस अपेक्षा से ऐसा कहकर उसे सर्वविशुद्धज्ञान कहने में आया है।

अपना अपना स्वरूप बताकर निकल गये। ठीक। संवर, निर्जरा और मोक्ष तीनों निकल गये। आस्रव, बन्ध तो भले निकल गये। आस्रव अर्थात् पुण्य-पाप, आस्रव और बन्ध चार, वे तो मलिन हैं, वे तो निकल गये परन्तु संवर, निर्जरा और मोक्ष की पर्याय निकल गयी। एक समय में आयी और चली गयी, एक समय में आकर चली गयी। आहाहा! भगवान ध्रुवरूप रहा और पर्याय एक समय में आकर चली गयी। आहाहा! उसे जाननेवाला ज्ञान, वह है तो वर्तमान पर्याय। उस पर्याय में, उन पर्यायों को जाना कि ऐसा हुआ। किया नहीं, जाननेवाली पर्याय ने उन्हें किया नहीं। संवर, निर्जरा, मोक्ष के स्वांग को भी जाननेवाली पर्याय ने किया नहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : जैसे मोक्ष की पर्याय निकल जाती है, गुरुदेव! वैसे उसे जाननेवाली ज्ञान की पर्याय, वह भी निकल जाती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : यहाँ जाननेवाली पर्याय पलटती तो है, यह तो कहा। पर्याय है न वह? परन्तु वह कायम रहनेवाली है, ऐसी की ऐसी जाननेवाली... जाननेवाली (रहती है), इसलिए उसे (ऐसा कहा कि) स्वांग निकल गया और सर्वविशुद्धज्ञान रह गया। इसलिए वास्तव में तो त्रिकाली ज्ञान रह गया है परन्तु त्रिकाली ज्ञान का ज्ञान जो है, वह पर्याय है। त्रिकाली को जाननेवाली पर्याय रही, वह स्वांग निकल गये, तथापि उन्हें जाननेवाली पर्याय रही। है तो वह भी स्वांग।

मुमुक्षु : जाननेवाली पर्याय भी स्वांग ? मोक्ष भी स्वांग और मोक्ष को जाननेवाली पर्यायें स्वांग ?

पूज्य गुरुदेवश्री : ध्रुव में कहाँ जानना है ? वह भी पर्याय है, मोक्ष को जाननेवाली भी पर्याय है, यहाँ संवर, निर्जरा को जाननेवाली पर्याय है, ध्रुव जाननेवाला नहीं है। आहाहा!

मुमुक्षु : गुरुदेव! मोक्ष की पर्याय को जो ज्ञान की पर्याय जानती है, वह मोक्ष की पर्याय अर्थात् कौन सी लेना ?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह निर्मल पूर्ण हुआ, ऐसा ज्ञान ने जाना, किया नहीं।

मुमुक्षु : निर्मलता में कौन सी पर्याय लेना ?

पूज्य गुरुदेवश्री : मोक्ष की पूर्ण, पूर्ण शुद्ध। मोक्ष की पर्याय अर्थात् पूर्ण शुद्ध।

मुमुक्षु : सब गुणों की ?

पूज्य गुरुदेवश्री : पूर्ण शुद्ध। सब गुणों की पर्याय पूर्ण शुद्ध।

मुमुक्षु : ज्ञानगुण की पर्याय....

पूज्य गुरुदेवश्री : ...ज्ञान भी शामिल है परन्तु ज्ञान को यहाँ प्रधानरूप से कहना है। उसे जाननेवाला रखना है न ? जाननेवाला रखना है। जाननेवाला है, वह कहीं ध्रुव नहीं है। जाननेवाले की पर्याय में ध्रुव को जाना। वह पर्याय पलट जाती है, तथापि वह पर्याय दूसरे स्वांग को जानती है, इसलिए उस स्वांग को कायम रहनेवाला कहने में आया है, इस अपेक्षा से। आहाहा! सूक्ष्म बात है न ? समझ में आया ? मोक्ष का स्वांग निकल गया। निकल गया, उसे जाना किसने ? उस पर्याय ने। कहीं ध्रुव जानता नहीं है। तथापि पर्याय भी क्रमसर है, वह जाननेवाली पर्याय भी क्रमसर है और उस जाननेवाली पर्याय के साथ अनन्त पर्यायें हैं, वे अक्रम हैं। जाननेवाली पर्याय के साथ अनन्त गुणों की पर्याय एक समय में है, इसलिए वे अक्रम है। अकेला क्रमबद्ध ही है, ऐसा नहीं, अक्रम भी है। अक्रम का अर्थ एकसाथ। क्रम का अर्थ एक के बाद एक। आहाहा! ऐसा है।

यह तो सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार है। **अब सर्व स्वाँग के दूर होने पर एकाकार**

सर्वविशुद्धज्ञान प्रवेश करता है। यह सर्वविशुद्धज्ञान प्रवेश करता है, यह प्रगट हुआ प्रवेश करता है, ऐसा। सब स्वांग को जाननेवाला ज्ञान, वह प्रवेश करता है। आहाहा! है तो जाननेवाला वह ज्ञान पर्याय है, वह कहीं जाननेवाला ध्रुव नहीं है। सबको जाननेवाली पर्याय प्रगट होती है। अपने में रहकर स्वयं पर में मिले बिना अपनी सत्ता के सामर्थ्य से स्वांग सबको जानता है। वह स्वांग है, इसलिए उन्हें जानता हैऐसा नहीं है। उस पर्याय की सामर्थ्य ही ऐसी है कि सर्व स्वांग को स्वांग का अस्तित्व है, इसलिए जानता है - ऐसा नहीं है। उस पर्याय का अपना अस्तित्व इतना ताकतवाला है कि सब स्वांग को अपने में रहकर, पर को स्पर्श किये बिना जानता है, ऐसा है। एकाकार कहा न अब? वह फेरफार होता था। इसमें एकाकार है। यह भी है तो पर्याय परन्तु सर्वविशुद्धज्ञान (पर्याय है)। ध्रुव, ध्रुव को सिद्ध करना है। ध्रुव को जाननेवाला ज्ञान, उसे प्रसिद्ध करना है। ध्रुव को जाननेवाला ज्ञान प्रवेश करता है, ऐसा यहाँ सिद्ध करना है। आहाहा! है सूक्ष्म, भाई! समझ में आया? आहाहा!

उसमें प्रथम ही, मंगलरूप से ज्ञानपुञ्ज आत्मा की महिमा का काव्य कहते हैं-

श्लोकार्थ : 'अखिलान् कर्तृ-भोक्तृ-आदि-भावान् सम्यक् प्रलयम् नीत्वा' समस्त कर्ता-भोक्ता आदि भावों को सम्यक् प्रकार से (भलीभाँति) नाश को प्राप्त कराके पद पद पर (अर्थात् कर्मों के क्षयोपशम के निमित्त से होनेवाली प्रत्येक पर्याय में) 'बन्ध-मोक्ष-प्रक्लृप्तेः' बन्ध-मोक्ष की रचना से दूर वर्तता हुआ,... आहाहा! जाननेवाली पर्याय (का) ध्रुव के ऊपर जोर है, इसलिए उस पर्याय को-स्वाँग को दूर करता, **बन्ध-मोक्ष की रचना से दूर वर्तता हुआ,...** आहाहा! ध्रुव को जाननेवाला ज्ञान, वह बन्ध-मोक्ष आदि पर्याय से वह ज्ञान दूर वर्तता हुआ है। आहाहा!

कर्ता-भोक्ता आदि भावों को सम्यक् प्रकार से (भलीभाँति) नाश को प्राप्त कराके पद पद पर (अर्थात् कर्मों के क्षयोपशम के निमित्त से होनेवाली प्रत्येक पर्याय में) 'बन्ध-मोक्ष-प्रक्लृप्तेः' बन्ध-मोक्ष की रचना से दूर वर्तता हुआ,... आहाहा! यह पर्याय तो जानती ही है। है तो पर्याय, जाननेवाली है तो पर्याय परन्तु उस पर्याय का जोर ध्रुव के ऊपर है। इसलिए उस बन्ध-मोक्ष की पर्याय से दूर वर्तता, ऐसा कहा। है

तो वह पर्याय परन्तु ध्रुव के ऊपर जोर होने से... है तो पर्याय, पर्याय का लक्ष्य / ध्येय ध्रुव होने से बन्ध-मोक्ष आदि पर्याय से दूर वर्तता, नहीं करता हुआ। बन्ध-मोक्ष की पर्याय को भी वह ज्ञान पर्याय सर्वविशुद्धज्ञान नहीं करता, दूर वर्तता है। आहाहा! ऐसा है। है?

'**बन्ध-मोक्ष-प्रक्लृप्तेः दूरीभूतः**' है। आहाहा! **बन्ध-मोक्ष की रचना से दूर वर्तता हुआ, शुद्ध-शुद्ध (अर्थात् रागादि मल तथा आवरण से रहित)**... आवरण से रहित और रागादिक मल से रहित, ऐसा '**स्वरस-विसर-आपूर्ण-पुण्य-अचल-अर्चिः**' **जिसका पवित्र अचल तेज निजरस के**... पवित्र अचल तेज निजरस **(ज्ञानरस के, ज्ञानचेतनारूपी रस के) विस्तार से परिपूर्ण है**... देखा? है तो ज्ञानचेतना पर्याय। आहाहा! उस पर्याय की इतनी ताकत है (कि) मोक्ष और संवर-निर्जरा आदि से दूर वर्तता। उनमें मिलता नहीं। वह ज्ञान स्वयं अपने आपको जानता हुआ पर को अपने में रहकर जानता हुआ, पर से दूर वर्तता हुआ (प्रवर्तता है)। आहाहा! मोक्ष की पर्याय को जानता हुआ भी वह ज्ञान मोक्ष की पर्याय से दूर वर्तता हुआ। सर्वविशुद्ध अधिकार सूक्ष्म अधिकार है। एकदम पूर्ण ध्रुव पर (जिसका जोर है), है पर्याय परन्तु उस पर्याय का ध्येय ध्रुव है, इसलिए उस पर्याय को बन्ध-मोक्ष की पर्याय से दूर वर्तता, ऐसा कहा है, ध्रुव के समीप वर्तता और इस पर्याय से दूर वर्तता हुआ। समझ में आया? ऐसा विषय है।

जिसका पवित्र अचल तेज निजरस के (ज्ञानरस के, ज्ञानचेतनारूपी रस के) विस्तार से परिपूर्ण है... आहाहा! **और**... '**टंकोत्कीर्ण-प्रकट-महिमा**' **जिसकी महिमा टंकोत्कीर्ण (शाश्वत्) प्रगट है**... वस्तु है, उसकी महिमा शाश्वत है परन्तु जिसने जानी है, जानी है, उसे शाश्वत् है। जिसके ज्ञान में पर्यायों से दूर वर्तते ध्रुव को जानता हुआ; ध्रुव है, उसे जानता हुआ, उसके फैलाव से। ध्रुव ऐसा कि कारण है, ध्रुव है परन्तु ध्रुव है तो वह जिसने जाना, उसे ध्रुव है। जिसने नहीं जाना, उसे ध्रुव है कहाँ? समझ में आया? आहाहा!

(ज्ञानचेतनारूपी रस के) विस्तार से परिपूर्ण है ऐसा, और जिसकी महिमा टंकोत्कीर्ण प्रगट है... ध्रुव, शाश्वत् ऐसा। '**अयं ज्ञानपुञ्जः स्फूर्जति**' **यह ज्ञानपुञ्ज आत्मा प्रगट होता है।** ज्ञानपुंज आत्मा प्रगट होता है। अर्थात् ध्रुव तो है परन्तु ध्रुव पर दृष्टि

पड़ी, तब प्रगट होता है—ऐसा कहने में आया। है, वह है - ऐसा धारणा में लिया, उसे है वह लक्ष्य में आया नहीं। समझ में आया?

है, प्रश्न किया था न भाई ने? त्रिभुवनभाई ने। ऐसा कि कारणपरमात्मा है तो कार्य तो आना चाहिए। कारणपरमात्मा है, परन्तु किसे? जिसे कारणपरमात्मा है, ऐसा भान हुआ, उसे कार्य आवे। कारणपरमात्मा है, वह तो है परन्तु है—ऐसी प्रतीति किसे हुई? उसके ख्याल में वह चीज़ ही नहीं आयी है कहाँ? जिसके ख्याल में वह वस्तु आयी नहीं, उसे है कहाँ? आहाहा! वह है, यह ख्याल में आवे उसे है; न आवे, उसे है नहीं। है, तथापि उसे कहाँ है? जिसके ख्याल में यह वस्तु इतनी है, यह मूल ख्याल में ही उसका ज्ञेय आया नहीं, उसे वह है आया कहाँ? आहाहा! ऐसा सूक्ष्म है।

कारणपरमात्मा है—ऐसा ज्ञान हो, उसे कारणपरमात्मा है। दूसरा आत्मा ऐसा सबको कहे, कि सब कारणपरमात्मा है परन्तु उसे ऐसे जाने बिना उसे कारणपरमात्मा नहीं है। दूसरा आत्मा कहे, कारणपरमात्मा ध्रुव को जाननेवाला ऐसा कहे, कि सब भगवान हैं, सब आत्मायें परमात्मा है। वह तो स्वयं ने जाना है, इस अपेक्षा से पर को परमात्मा कहता है। परन्तु जाना है, उस स्थिति से इस पद्धति की मर्यादावाला तत्त्व है, ऐसा ही सबका मार्यादावाला तत्त्व है—ऐसा जाना है, वह दूसरे के तत्त्व को शुद्ध ध्रुवरूप से जानता है। समझ में आया? आहाहा!

ज्ञानपुञ्ज आत्मा प्रगट होता है। ऐसा कहा न? है तो सही परन्तु जिसे दृष्टि में आया, उसे प्रगट होता है—ऐसा कहने में आया है। जिसकी दृष्टि में ही आया नहीं (कि) विषय क्या चीज़ है यह, उसे प्रगट कहाँ है? वह उसे तो अप्रगट—है ही नहीं। उसे प्रगट है, वह पर्याय है और रागादि वे प्रगट हैं। आहाहा! पूर्ण परमात्मा स्वरूप ज्ञानपुंज। ज्ञानपुंज कहा न? ऐसा ज्ञानपुंज आत्मा जिसे दृष्टि में आया, उसे प्रगट है, उसको है—ऐसा आया, वह प्रगट है, ऐसा आया। पर्याय में ज्ञात हुआ, इसलिए उसे प्रगट है, ऐसा आया। पर्याय में जो ध्रुव ज्ञात नहीं होता, उसे तो ध्रुव है नहीं। उसे ध्रुव नहीं है।

ध्रुव को देखनेवाला, उसके ध्रुव को ध्रुव कहते हैं। ध्रुव को देखनेवाला, सब आत्मा को इस प्रकार से भगवान ध्रुव है, ऐसा देखता है। वह तो पर्यायबुद्धि गयी है, ध्रुवबुद्धि हुई

है, वह भी है पर्याय परन्तु उस पर्याय में ध्रुव ज्ञात हुआ है, इसलिए सब आत्मायें ध्रुव स्वरूप भगवान है, (ऐसा जानता है)। द्रव्यसंग्रह में आ गया। द्रव्यसंग्रह में धर्मध्यान का अवायविचार करते हुए (कहा है)। आज्ञा, अवाय, विपाक, ऐसा विचार है न? धर्मध्यान का भेद है। वह धर्मध्यान भी है तो निर्मल पर्याय, परन्तु उस पर्याय ने जाना है ध्रुव, पकड़ा है। पूरी चीज़ इतनी है, यह पर्याय में जो जाना है, वह कहता है कि सभी आत्मायें भगवानस्वरूप है। मैं भी अब थोड़े काल में पूर्ण भगवानस्वरूप होनेवाला हूँ। स्वभाव भगवान है, ऐसा जाना है, वह ऐसा कहता है कि शक्तिरूप से जो भगवान है, उसे मैंने जाना है तो मैं व्यक्तरूप से भगवान होनेवाला ही हूँ। वैसे सब भगवान होओ! उस ध्रुव को जाननेवाला तो ऐसा कहता है। है जाननेवाली पर्याय परन्तु उस पर्याय ने जाना है ध्रुव। आहाहा!

३२० गाथा में यह आया न? कि पर्याय ऐसा मानती है कि त्रिकाल सर्व आवरणरहित अविनश्वर स्वरूप प्रत्यक्ष प्रतिभासमय शुद्ध पारिणामिक परमभावलक्षण निज परमात्मद्रव्य वह मैं हूँ, ऐसा पर्याय कहती है। पर्याय ऐसा नहीं (कहती कि) मैं पर्याय हूँ। पर्याय ऐसा जिसका लक्ष्य वहाँ है कि यही यह मैं हूँ। आहाहा! वह परमात्मद्रव्य जिसने जाना है, उसे यह ज्ञानपुंज आत्मा प्रगट होता है। उसे प्रगट हुआ है। समझ में आया? है तो सही परन्तु दृष्टि में, अनुभव में आया है, उसे प्रगट होता है। नहीं तो वस्तु तो है। है तथापि उसे दृष्टि में अस्तिपना आया नहीं। उसका जितना अस्तिपने का सामर्थ्य है, उतना जिसकी पर्याय में, दृष्टि में, ज्ञान में आया नहीं, उसे तो वह है कहाँ? वह भगवान पूर्णानन्दस्वरूप पर्याय में, दृष्टि में आया है, उसे ज्ञानपुंज प्रगट होता है और वह ऐसा ही जानता है कि सब भगवान ज्ञानपुंज हैं। पर्याय में भूल है, उसे एक ओर रखो। ज्ञानपुंज भगवान है। और इसीलिए तो ऐसा भी कहा, सब भगवान होओ। मैं होनेवाला हूँ, तुम होओ। आहाहा! द्रव्यसंग्रह में धर्मध्यान का बोल है। **ऐसा ज्ञानपुञ्ज आत्मा प्रगट होता है।**

भावार्थ :– शुद्धनय का विषय... सम्यग्ज्ञान का जो शुद्धनय है; नय है, वह तो ज्ञान का अंश है परन्तु उसका विषय ज्ञानस्वरूप आत्मा है। शुद्धनय है ज्ञान की पर्याय, परन्तु उसका विषय ज्ञानस्वरूप भगवान है। पूर्णानन्द का नाथ ज्ञानस्वरूप भगवान उसका विषय है। पर्याय का विषय है, इसलिए पर्याय ऐसा मानती है कि यह तो मैं हूँ। जिसमें मेरी नजर पहुँची, जिसमें मेरी नजर पहुँच गई, वह मैं हूँ। आहाहा!

वह कर्तृत्व-भोक्तृत्व के भावों से रहित है,... राग और अन्य का तो कर्ता-भोक्ता नहीं परन्तु **बन्ध मोक्ष की रचना से रहित है,...** आहाहा! यह पंचम काल के सन्त पंचम काल के अप्रतिबुद्ध शिष्य को यह कहते हैं। यहाँ तो पंचम काल के हैं न साधु? कोई कहे कि यह बात तो चौथे काल की है। पंचम काल के सन्त, पंचम काल के अप्रतिबुद्ध जीव को कहते हैं। भगवान! तू पूर्ण है। मैंने जाना है कि पूर्ण है तो तू भी पूर्ण है। आहाहा! बन्ध और मोक्ष की रचना से रहित है। आहाहा! वस्तु जो है, (यह) आता है ख्याल में ज्ञान में, पर्याय में। पर्याय में ख्याल में आने पर भी वह पर्याय बन्ध-मोक्ष की रचना से दूर है। आहाहा!

परद्रव्य से और परद्रव्य के समस्त भावों से रहित होने से शुद्ध है,... परद्रव्य से और परद्रव्य के समस्त भावों से रहित होने से शुद्ध है, निजरस के प्रवाह से... अपना ज्ञान, आनन्दरस जो ध्रुव है, उसका प्रवाह। पानी का प्रवाह ऐसे तिरछा जाता है, इसका प्रवाह ऐसे ध्रुव जाता है। शाश्वत् का ध्रुव प्रवाह अनादि-अनन्त एकरूप है। आहाहा! **निजरस के प्रवाह से पूर्ण दैदीप्यमान ज्योतिरूप है...** आहाहा! जैसा भगवान आत्मा अनन्त-अनन्त शक्ति का सागर है, वैसा ज्ञात हुआ है, इसलिए उसे वही आत्मा है, ऐसा प्रतीति में, अनुभव में आ गया है। अनुभव में आये बिना 'यह है', ऐसी प्रतीति कैसे, कहाँ से ले? जो चीज़ ज्ञात हुई नहीं, उसकी प्रतीति किस प्रकार ले? जानने में आई हो, उस चीज़ की प्रतीति होती है कि यह चीज़ इतनी है। समझ में आया?

निजरस के... रस अर्थात् स्वभाव। उसके **प्रवाह से पूर्ण दैदीप्यमान...** अपने स्वभाव से पूर्ण देदीप्यमान है। आहाहा! **दैदीप्यमान ज्योतिरूप है और टंकोत्कीर्ण महिमामय है।** शाश्वत् जिसकी महिमा है परन्तु जानता है कौन? पर्याय। आहाहा! टंकोत्कीर्ण महिमावाला है, शाश्वत महिमा है जिसकी, ऐसा जिसने ज्ञान में जाना, उसे (प्रतीति में) आया कि यह शाश्वत महिमावाला तत्त्व है। आहाहा! **ऐसा ज्ञानपुञ्ज आत्मा प्रगट होता है।** यह तो अर्थ का भावार्थ किया है।

अब सर्वविशुद्धज्ञान को प्रगट करते हैं। उसमें प्रथम, 'आत्मा कर्ता-भोक्ताभाव से रहित है' इस अर्थ का, आगामी गाथाओं का सूचक श्लोक कहते हैं-

कर्तृत्वं न स्वभावोऽस्य चितो वेदयितृत्ववत्।
अज्ञाना-देव कर्तायं तदभावा-दकारकाः ।।१९४।।

कर्तृत्व इस चित्स्वरूप आत्मा का स्वभाव नहीं है,... आहाहा! कठिन बातें हैं। ऐसा ज्ञान की पर्याय जानती है, जाने हुए को जाननेवाला ज्ञान, जाने हुए को जाननेवाला ज्ञान कहता है कि मैं तो कर्ता-भोक्ता रहित हूँ। बन्ध-मोक्ष के कर्तापने से भी रहित ही हूँ। आहाहा! **जैसे भोक्तृत्व स्वभाव नहीं है।** यह न्याय रखा। भगवान आत्मा राग को भोगे ऐसा उसका स्वभाव ही नहीं है। आहाहा! संसार को भोगे, ऐसा उसका स्वभाव नहीं है, भोक्तापना स्वभाव नहीं है। **'अज्ञानात् एव अयं कर्ता' वह अज्ञान से ही कर्ता है,..** आहाहा! कर्तापना, करूँ—यह अज्ञान से है। आहाहा! **'तद्-अभावात् अकारकः' अज्ञान का अभाव होने पर अकर्ता है।** आहाहा! सर्वविशुद्ध अधिकार अलौकिक है।

अब, आत्मा का अकर्तृत्व दृष्टान्तपूर्वक कहते हैं-

दवियं जं उप्पज्जइ गुणेहिं तं तेहिं जाणसु अणण्णं।
जह कडयादीहिं दु पज्जएहिं कणयं अणण्णमिह ।।३०८।।

जीवस्साजीवस्स दु जे परिणामा दु देसिदा सुत्ते।
तं जीव-मजीवं वा तेहि-मणण्णं वियाणाहि ।।३०९।।

ण कुदोचि वि उप्पण्णो जम्हा कज्जं ण तेण सो आदा।
उप्पादेदि ण किंचि वि कारणमवि तेण ण स होदि ।।३१०।।

कम्मं पडुच्च कत्ता कत्तारं तह पडुच्च कम्माणि।
उप्पज्जंति य णियमा सिद्धी दु ण दीसदे अण्णा ।।३११।।

नीचे हरिगीत

जो द्रव्य उपजे जिन गुणों से, उनसे जान अनन्य वो।
है जगत में कटकादि, पर्यायों से कनक अनन्य ज्यों।।३०८।।

जीव-अजीव के परिणाम जो, शास्त्रोंविषैं जिनवर कहे।
वे जीव और अजीव जान, अनन्य उन परिणाम से।।३०९।।

उपजै न आत्मा कोइसे, इससे न आत्मा कार्य है।
उपजावता नहिं कोइको, इससे न कारण भी बने।।३१०।।
रे! कर्म-आश्रित होय कर्ता, कर्म भी करतार के।
आश्रित हुवे उपजे नियम से, अन्य नहिं सिद्धी दिखै।।३११।।

टीका :- प्रथम तो जीव क्रमबद्ध ऐसे... इसमें सब विवाद है अभी। क्रमबद्ध होता है, उसमें फिर अपने करने का कहाँ रहा? क्रमबद्ध हो, अपने आप होना होगा, वह होगा। प्रत्येक द्रव्य की पर्याय क्रमबद्ध है। जिस काल में और जिस समय में और जिस क्षेत्र में तथा जिस संयोग में और जिस निमित्त की अपेक्षा में, भले अपेक्षा उसे न हो परन्तु निमित्त में जिस समय में जो पर्याय होनेवाली है, वह वहाँ क्रमबद्ध में होनेवाली है। (उसे) आगे-पीछे करने इन्द्र, नरेन्द्र, जिनेन्द्र समर्थ नहीं है। आहाहा! पर्याय क्रमबद्ध होने में उल्टी-सीधी करने में समर्थ जिनेन्द्र, नरेन्द्र भी नहीं है! जिनेन्द्र नहीं-पश्चात् क्या? आहाहा! परन्तु उसकी दृष्टि कहाँ होती है? ज्ञायकभाव पर, अकर्ता पर दृष्टि होती है। सिद्ध करना है अकर्तापना। क्रमबद्ध तो फिर इसके अन्तर्भेद में आया है। समझ में आया? ऊपर है न?

आत्मा का अकर्तृत्व दृष्टान्तपूर्वक कहते हैं। अकर्तापना दृष्टान्तपूर्वक कहते हैं। क्रमबद्ध कहते हैं, यह बात नहीं ली है। **अकर्तृत्व दृष्टान्तपूर्वक कहते हैं।** ऊपर लिखा है? आहाहा! अकर्तापना सिद्ध करते हैं। जैनदर्शन की सर्वोत्कृष्टता (यह है) कि किसी पर्याय का भी कर्ता नहीं, ऐसी सर्वोत्कृष्टता यहाँ सिद्ध की है। पर का कर्ता तो नहीं, राग का कर्ता नहीं, परन्तु निर्मल पर्याय का भी कर्ता नहीं। अकर्ता वस्तु स्वभाव है, ऐसा यहाँ जैन दर्शन का अकर्तापना सर्वोत्कृष्टता है, वह बताते हैं। आहाहा!

प्रथम... अर्थात् मुख्य बात तो यह है कि '**तावत**' शब्द है न? '**जीवो हि तावत**' अन्दर संस्कृत में है। '**तावत**' अर्थात् **प्रथम तो...** हमारे मुख्य प्रयोजनभूत कहना है, वह तो **जीव क्रमबद्ध...** आहाहा! जीव की पर्याय क्रमसर (होती है)। अन्यत्र भले सहवर्ती और क्रमवर्ती कहा, यहाँ क्रमनियमित कहकर क्रमबद्ध—जो पर्याय जिस समय में होनी है, वह होगी। उसे क्रमनियमित कहा। यह गुण है, वह सहवर्ती है; पर्याय क्रमवर्ती है,

इसके अर्थ में कोई उसे निकाल डाले (कि) भले क्रमवर्ती है परन्तु हम बदल सकते हैं, आगे-पीछे चाहे जिस काल में कर सकते हैं। उसका निषेध करने के लिये मुख्य तो तात्पर्य तो यह कहना है कि **क्रमबद्ध ऐसे अपने परिणामों से उत्पन्न होता...** आहाहा! जीव अपने परिणामों से उपजता हुआ। जीव क्रमबद्ध ऐसे अपने परिणाम। वापस भाषा देखी?

जीव क्रमबद्ध ऐसे अपने परिणामों से उत्पन्न होता... पहले कहते थे कि बन्ध-मोक्ष के परिणाम का कर्ता नहीं है। और विशेष स्पष्ट दूसरे इस प्रकार से करते हैं। द्रव्य अपने परिणाम से उपजता है। अपने परिणाम से उस काल में, उस समय में, उस क्षेत्र में, उस संयोग में, उस निमित्त में अपने परिणाम से वह जीव उपजता है। उसे कोई पर की अपेक्षा नहीं है। निरपेक्षरूप से जीवद्रव्य **क्रमबद्ध ऐसे अपने परिणामों से...** आहाहा! महासिद्धान्त रखा है। कोई कहे, क्रमबद्ध कहाँ से निकाला? कोई कहे, इसमें तो क्रमनियमित है। अकेला 'क्रम' शब्द पड़ा नहीं। संस्कृत। क्रमनियमित है, उसमें साधारण शब्द में क्रमवर्ती है। गुण सहवर्ती, पर्याय क्रमवर्ती। तो क्रमवर्ती (अर्थात्) क्रम से वर्ते इतना। यहाँ तो क्रमनियमित (शब्द है)। जिस समय में जो पर्याय आनेवाली है, वह होनेवाली है, ऐसा नियमित कहकर सिद्ध यह किया। नहीं तो क्रम से तो भले हो परन्तु आड़ी-टेड़ी है, चाहे जो हो, ऐसा नहीं है। इसलिए क्रम के साथ नियमित शब्द प्रयोग किया है। क्रम से परन्तु निश्चित जो होनेवाली है, वह होनेवाली है। आहाहा! ऐसा उपदेश। वह तो दया पालो और व्रत करो, भक्ति करो और पूजा करो... यह मार्ग और यह मार्ग। नियतिवाद लगे, नियतवाद। यह तो नियतवाद हो गया। जिस समय में जो होना होगा, वह होगा।—यह तो नियतवाद (हुआ), अब अपने क्या कर सकते हैं अपने? परन्तु इस क्रमबद्ध के नियम में पाँचों ही समवाय साथ में होते हैं। जिस समय में पर्याय होती है, उस समय में स्वभाव भी है, पुरुषार्थ स्वसन्मुख है, निमित्त भी है सामने, भवितव्यता भी उस समय की है और काललब्धि भी उस समय की है।

जीव क्रमबद्ध ऐसे अपने परिणामों से उत्पन्न होता हुआ जीव ही है,... इसमें से कितने ही निकालते हैं न? यह तो अपने परिणाम से उपजता है, इतनी ही बात यहाँ लेना। जो जीव अपने परिणाम से उपजता है ऐसा, पर के परिणाम से नहीं। परन्तु यहाँ क्रम

और नियमित दो शब्द उसके साथ जोड़े हैं। क्रम-क्रम से और नियमित अर्थात् जो होनेवाली है वही होगी। आहाहा! ऐसा वह जीव है। ऐसा वह जीव ही है, जीव का ऐसा स्वभाव ही है। ऐसा कहा न? **प्रथम तो जीव क्रमबद्ध ऐसे अपने परिणामों से उत्पन्न होता हुआ जीव ही है,...** 'ही' शब्द प्रयोग किया है। जीव है इतना नहीं, जीव ही है। अपने परिणाम से उपजता हुआ, पर को नहीं उपजाता हुआ, पर से नहीं उपजता हुआ, पर को नहीं उपजाता हुआ, पर से नहीं उपजता हुआ अपने परिणाम से उपजता हुआ वह जीव है। विशेष कहेंगे...

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ३८२, गाथा - ३०८-३११ शनिवार, माघ शुक्ल २
दिनाङ्क - ०२-०२-१९८०

समयसार, सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार। जिस प्रकार दूसरे अधिकार आये, जीव-अजीव-मोक्ष प्रवेश किया इनका, स्वाँग पूरा हो गया। सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार का स्वाँग पूरा नहीं होता। दूसरों की भाँति यह अधिकार नहीं। मोक्ष का स्वाँग प्रवेश किया, सर्वविशुद्धज्ञान ने प्रवेश किया अर्थात् जैसे मोक्ष का जाननेवाला रह गया, वैसे सर्वविशुद्ध को जाननेवाली दूसरी (चीज़) रह गयी, ऐसा नहीं है। 'सर्वविशुद्धज्ञान' प्रगट किया वह किया, बस। समझ में आया? जो सर्वविशुद्धज्ञान प्रगट हुआ, वह तो ऐसा का ऐसा सदा रहा है। उसे दूसरे वेश की भाँति वेश नहीं है। प्रवेश किया, इसलिए उसे अन्त आ गया— ऐसा नहीं है।

यह तो सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार। पूर्ण आनन्द और पूर्ण ज्ञान की पर्याय प्रगट हो, उसे भी जाने, यह शैली यहाँ ली है। वह जानने की पर्याय सादि-अनन्त है, उसका अन्त नहीं है। मोक्ष के स्वाँग का अन्त आया, प्रवेश निकल गया - ऐसा कहा न? मोक्ष का स्वाँग निकल गया, ऐसे सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार का स्वांग निकल गया, ऐसा नहीं है। इन दो अधिकारों में यह अन्तर है। क्यों? कि वस्तु भले ध्रुव नहीं ली, परन्तु उस ध्रुव का जो ज्ञान हुआ और मोक्ष या निर्जरा, उदय या बन्ध का वह ज्ञान... ज्ञान... ज्ञान... ज्ञान... ज्ञान... ज्ञान...

सदा ही (रहता है), उसका उस वेश का अन्त आ जाए, ऐसा नहीं है। समझ में आया? इस प्रकार सर्वविशुद्धज्ञान प्रवेश करता है, भले ऐसी भाषा ली है। जैसे मोक्ष स्वाँग प्रवेश करता है, ऐसी (भाषा) ली, तो भी दोनों में बड़ा अन्तर है।

दूसरे अधिकारों का स्वांग प्रवेश किया, प्रवेश हुआ, उसे जान लिया। इस जाननेवाले को अब इसका अन्त आकर जाना, ऐसा नहीं है। समझ में आया? सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार, है पर्याय, परन्तु वह ऐसी की ऐसी सादि-अनन्त प्रगट हुई दशा, वह हुई, वह मोक्ष को जाने, बन्ध को जाने, संवर को जाने, निर्जरा को जाने, वह जाननेवाली पर्याय जो है सर्वविशुद्धज्ञान, वह प्रवेश अर्थात् कि प्रगट हुआ परन्तु उसका अब अन्त नहीं है। जैसे दूसरों का अन्त आ गया, मोक्ष का वेश प्रवेश पूरा हो गया, वैसे यह स्वाँग 'सर्वविशुद्ध अधिकार का' पूरा प्रवेश हुआ, इसलिए पूरा हो जाएगा, ऐसा नहीं है। बड़ा अन्तर है। समझ में आया?

टीका :- '**तावत**' तात्पर्य तो यह कहना है अथवा मुख्य मुद्दे की रकम यह कहनी है। प्रथम अर्थात् '**तावत**' शब्द संस्कृत में है। **क्रमबद्ध ऐसे अपने परिणामों से उत्पन्न होता हुआ...** आहाहा! जीव अपनी पर्याय में क्रमबद्ध जिस समय में जो होनेवाली है, वह होकर रहती है। आहाहा! वह क्रमबद्ध अपने परिणामों से उपजता हुआ, उस परिणाम को पर की कोई अपेक्षा नहीं है। क्रमबद्ध परिणाम हैं, उसे पूर्व पर्याय की अपेक्षा नहीं। स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा में ऐसा आता है न? 'पूर्व परिणामयुक्त द्रव्य कारण और उत्तर परिणामयुक्त द्रव्य कार्य' यह तो व्यवहार की अपेक्षा कहनी है। इसका अन्त ही नहीं है यह तो, इसे कोई अपेक्षा ही नहीं है। पूर्व पर्याय की, बाद की पर्याय की या निमित्त की अथवा द्रव्य-गुण की भी अपेक्षा नहीं है। आहाहा! ऐसा अधिकार है।

'**तावत**' मूल पाठ में '**तावत**' शब्द है। '**जीवो हि तावत**' है न संस्कृत में? **प्रथम तो...** '**तावत**' अर्थात् प्रथम तो। कहना है तात्पर्य उसमें जीव का पहले कहा, अजीव का बाद में कहेंगे। क्योंकि जाननेवाला जीव है। आहाहा! क्रमबद्ध को जाननेवाला जीव है, क्रमबद्ध को जाननेवाला अजीव नहीं है। अजीव के क्रमबद्ध को जाननेवाला भी जीव है। आहाहा! इसलिए पहले जीव मुख्य '**तावत**' क्रमबद्ध (लिया है)।

कोई ऐसा कहता है कि भाई! क्रमबद्ध शब्द क्यों डाला इसमें? क्रमनियमित है न?

यह चर्चा है। क्रम है, बस! परन्तु नियमित है, इसका अर्थ ही बद्ध। जिस समय में जो पर्याय होनी है, वह क्रमसर (होनी है)। आहाहा! उसे कोई अपेक्षा ही नहीं है। सर्वविशुद्धज्ञान प्रवेश करता है। आहाहा! और ऐसा का ऐसा रहता है, सर्वविशुद्धज्ञान जो प्रगट करता है, वह ऐसा का ऐसा रहता है। मोक्ष भले ऐसा का ऐसा रहे तो भी उसके प्रवेश का अन्त आ गया, ज्ञान उसे जानता है। प्रधानता यहाँ दी है। ज्ञान उसे जानता है परन्तु जाननेवाले का अन्त नहीं है, जाननेवाला तो जानता ही है। आहाहा! यह पर्याय से, हों!

क्रमबद्ध ऐसे अपने परिणामों से उत्पन्न होता हुआ जीव ही है,... परिणामों से उपजता हुआ वह जीव ही है। परिणाम है, वह उपजता हुआ वह जीव ही है। आहाहा! **अजीव नहीं;...** क्रमबद्ध परिणाम होते हैं, उसमें कोई अजीव नहीं है। जीव ही क्रमबद्ध अपने परिणाम से स्वयंसिद्ध स्वतन्त्र उपजता हुआ, अपने परिणाम से उपजता हुआ जीव ही है। उस परिणाम से उपजता हुआ जीव ही है। आहाहा! **अजीव नहीं;...** यह अनेकान्त किया। क्रमबद्ध भी है और अक्रमबद्ध भी है, ऐसा नहीं। अक्रमबद्ध है अवश्य परन्तु अक्रमबद्ध की व्याख्या—एक समय में अनन्त गुणों की पर्यायें एक साथ होती है, इस अपेक्षा से अक्रम। अनन्त गुण की पर्याय क्रम-क्रम से पहली एक गुण की, दूसरी दूसरे गुण की, तीसरी तीसरे गुण की—ऐसे क्रम नहीं है। इस अपेक्षा से जैसे गुण अक्रम है, सहवर्ती -साथ में रहनेवाले हैं, वैसे अनन्त पर्यायें भी साथ में रहनेवाली हैं, वे भी सहवर्ती हैं। आहाहा! परन्तु है क्रमबद्ध। आहाहा!

इसी प्रकार... पहले तो जीव—जाननेवाले को रखा। **अजीव भी...** 'भी' क्यों कहा? पहले जीव कहा था न। **अजीव भी क्रमबद्ध अपने परिणामों से उत्पन्न होता हुआ अजीव ही है,...** आहाहा! अजीव को जिस समय पर्याय उपजती है, उसे जीव की पर्याय की कोई अपेक्षा है ही नहीं। आहाहा! अजीव को भी उपजते हुए उसकी पर्याय के क्रम में उसकी पूर्व पर्याय की भी अपेक्षा नहीं है, उसे जीव के परिणाम की भी अपेक्षा नहीं है। उस-उस समय के वे परिणाम (होते हैं)। लोगों को बहुत कठिन लगे।

यह हाथ हिले, यह लकड़ी हिले, कहते हैं कि उस समय की उसकी पर्याय क्रमबद्ध में उसके कारण से आयी है। वह आत्मा की इच्छा और आत्मा के ज्ञान के कारण से नहीं। **अजीव भी...** 'भी' क्यों कहा? पहले जीव का कहा था न, इसलिए **अजीव**

भी... एक जीव ही नहीं, अजीव भी **क्रमबद्ध अपने परिणामों से उत्पन्न होता...** आहाहा! जिस-जिस समय में जो जड़ के परिणाम होते हैं, वे स्वयं से उपजे हुए हैं, उन्हें कोई निमित्त की अपेक्षा नहीं है। निमित्त हो, ऐसा कहलाता है परन्तु उसकी अपेक्षा नहीं है उसे कि निमित्त है, इसलिए यह पर्याय हुई। शास्त्र भाषा में इतना सब आवे, कर्म के निमित्त से राग होता है—ऐसी भाषा आवे। कर्म के निमित्त से राग होता है, कर्म के निमित्त से मिथ्यात्व होता है, ऐसे शब्द बहुत आते हैं। वह तो एक निमित्त है, उसका ज्ञान कराया है। परन्तु यहाँ जो परिणाम होते हैं, उसमें उसे निमित्त की अपेक्षा नहीं है। आहाहा! ऐसा सूक्ष्म।

क्रमबद्ध अपने परिणामों से उत्पन्न होता हुआ... जड़, जड़ के परिणाम से उपजता हुआ। पर्याय, परिणाम अर्थात् पर्याय। **क्रमबद्ध अपने परिणामों से उत्पन्न होता हुआ अजीव ही है, जीव नहीं;...** आहाहा! इसमें बहुत विवाद लेते हैं कि यह क्रमबद्ध कहाँ कहा है इसमें? क्रमनियमित है, ऐसा कहते हैं। परन्तु क्रमनियमित का अर्थ ही बद्ध है। उस समय में वह पर्याय बँधी हुई अर्थात् होने के योग्य ही है। आहाहा! कोई भी जड़ की पर्याय, उसकी पर्याय होने में जीव की अपेक्षा तो नहीं परन्तु उसकी पूर्व की पर्याय की अपेक्षा उसे नहीं है। उस अजीव में भी अनन्त पर्यायें होती हैं। क्योंकि अजीव में भी अनन्त गुण हैं, और इस अपेक्षा से एक समय में अनन्त पर्यायें अक्रम से रहनेवाली, क्रम से उत्पन्न होनेवाली, अक्रम से रहनेवाली, क्रम से उत्पन्न होनेवाली (पर्यायें हैं)। आहाहा! ऐसी बात है। सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार है। आहाहा! जिसमें जिसके परिणाम में दूसरे की अपेक्षा ही नहीं है।

मुमुक्षु : जीव के परिणाम तो समुच्चय लेने है न? जीव के क्या परिणाम लेना?

पूज्य गुरुदेवश्री : सब। निर्मल। समस्त अनन्त गुणों के परिणाम, अनन्त गुणों के परिणाम अक्रम से (होते हैं)।

मुमुक्षु : शुद्ध और अशुद्ध दोनों परिणाम?

पूज्य गुरुदेवश्री : शुद्ध-अशुद्ध दोनों। परन्तु उस अशुद्ध का जाननेवाला साथ में, उसकी मुख्यता है। अशुद्धता है अवश्य। क्रमबद्ध में अशुद्धता भी आती है, अशुद्धता नहीं आती—ऐसा नहीं है, परन्तु उसे भी जाननेवाला सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार जो जाननेवाला

जीव है। जीव जाननेवाला है, उसकी यहाँ प्रधानता है। आहाहा! समझ में आया? अब ऐसी बातें। वह जीवदया पालो और व्रत पालो और भक्ति करो और मन्दिर बनाओ... मन्दिर में धमाल लगती है। आहाहा! पच्चीस-पच्चीस लाख के मन्दिर होते हैं। धामधूम चले, उसमें रस लगता है परन्तु यह तो उसके क्रमबद्ध में पर्याय होती है, तुझसे कुछ हुई नहीं उसमें। आहाहा! यह वाजिंत्र बजता है, वह जीव से नहीं, इस डंके से नहीं। डंका ऐसा पड़ता है, उससे भी नहीं। आहाहा! वहाँ जीव को एकदम अटकने का रस पड़ जाता है। बाहर में ऐसा दिखता है कि आहाहा! पचास लाख का मन्दिर बना। उसके समय में वह पर्याय होती है, वे परिणाम उसके ही हैं।

अजीव भी क्रमबद्ध अपने परिणामों से उत्पन्न होता हुआ अजीव ही है, जीव नहीं;... अजीव के परिणाम का क्रमसर अनन्त पर्यायों का (रहना) अक्रम, परन्तु उत्पन्न होने में क्रम है। उसमें जीव की अपेक्षा उसके-अजीव के परिणाम को बिल्कुल नहीं है। पैर है, वह जमीन को स्पर्श करके चलते हैं, यह बात मिथ्या है। इसी प्रकार यह होंठ है, वे इस होंठ को स्पर्श करते हैं, यह बात भी खोटी है। होंठ होंठ को स्पर्श नहीं करता। एक रजकण दूसरे रजकण की पर्याय को स्पर्श नहीं करता। यह पर्याय उसके काल में स्वतन्त्र स्वयंसिद्ध होती है, ऐसा सर्वविशुद्धज्ञान जानता है। अजीव को कहाँ जानना है? जीव के परिणाम उपजने का काल और अजीव के सबको जाननेवाला ज्ञान है। 'सर्वविशुद्धज्ञान' है। आहाहा! वह ज्ञान ऐसा का ऐसा कायम रहनेवाला है। दूसरे वेष जैसे गये, वैसे यह वेष भी जाए—ऐसा नहीं है। प्रवेश किया है, ऐसा है। प्रवेश अर्थात् उस समय में प्रगट हुआ है परन्तु रहनेवाला है ऐसा का ऐसा। आहाहा! जैसे ध्रुव को अपेक्षा नहीं, वैसे उसके परिणाम को भी पर की कोई अपेक्षा नहीं है। इतना लिया कि अजीव के परिणाम से उपजता हुआ अजीव है, जीव के परिणाम से उपजता हुआ, वह जीव है। इतना यहाँ लिया है। समझ में आया?

दृष्टान्त देते हैं। क्योंकि पाठ में पहले कहा था न शुरुआत में? कि अब अकर्तापने का दृष्टान्त सहित... ऐसा कहा था न? गाथार्थ करने से पहले। **आत्मा का अकर्तृत्व दृष्टान्तपूर्वक कहते हैं।** गाथा के पहले। आत्मा का अकर्तापना, वह अकर्तापना दृष्टान्तपूर्वक कहते हैं, परन्तु वह अकर्तापना... आहाहा! वह पर का कर्ता नहीं और सर्व जाननेवाला ही

है। आहाहा! ऐसा यहाँ जीव की सर्व जानने की पर्याय को सिद्ध करना है। आहाहा! वह पर्याय पर्याय को जाने, वह पर्याय एकसाथ अनन्त पर्याय हुई है, उसे जाने, वह पर्याय लोकालोक को जाने, वह पर्याय द्रव्य-गुण पूरे को जाने, एक ही पर्याय मानो जगत में पूरी हो, एक ही वह (ऐसा है)। आहाहा! गजब है। एक ही पर्याय सब आ गयी उसमें। क्योंकि लोकालोक को जानने का भी पर्याय का सामर्थ्य है। लोकालोक है, इसलिए नहीं; अपना सामर्थ्य ही इतना है और द्रव्य-गुण को जानने का सामर्थ्य भी द्रव्य-गुण है, इसलिए नहीं। उस पर्याय का इतना सामर्थ्य है कि द्रव्य-गुण और पर की अपेक्षा बिना स्वयं जाने, ऐसी उसकी ताकत है। यह सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार है। आहाहा! और उस पर्याय का यह अधिकार है, ध्रुव का नहीं। आहाहा! ऐसी एक समय की जो पर्याय, उसे अब दृष्टान्तसहित सिद्ध करते हैं। अकर्तापना। सिद्ध करना है अकर्तापना, उसमें क्रमबद्ध आया है। अकर्तापना सिद्ध करने में क्रमबद्ध आया है। क्रमबद्ध सिद्ध करने में अकर्तापना आया है, ऐसा नहीं, अन्तर इतना है। आहाहा!

जैनदर्शन की सर्वोत्कृष्ट अकर्तापने की स्थिति का यह वर्णन है। ईश्वर तो कर्ता नहीं परन्तु द्रव्य उसकी पर्याय का कर्ता नहीं, ऐसा उत्कृष्ट स्वयंसिद्ध वस्तु के अकर्तापने को दृष्टान्त सहित सिद्ध करके सिद्ध करते हैं। आहाहा! इसमें धर्म क्या आया परन्तु अब ऐसी बात में? ऐसा लोग कहते हैं। यही आया, बापू! प्रभु! आहाहा! स्वयं अपने परिणाम को उपजता हुआ, उस धर्म के परिणाम को उपजता हुआ। वे जीव के परिणाम, उन धर्म के परिणाम उपजता हुआ। भले अशुद्ध हो परन्तु अशुद्ध को जानने का ज्ञान उपजता हुआ। आहाहा! ज्ञान उपजता हुआ न? अशुद्धपना उपजता हुआ, ऐसा नहीं। अशुद्धपने को और शुद्धपने की पर्याय को जानता हुआ ज्ञान प्रगट होता है। आहाहा! यह कहेंगे, कर्ता, कर्म अपना अपने में है। कर्ता स्वयं और कर्म दूसरे का अथवा कर्ता दूसरा और कर्म अर्थात् कार्य दूसरे का, करनेवाला दूसरा और कार्य दूसरे का—ऐसा स्वरूप नहीं है। जो कर्ता है, उसका कार्य उसमें उससे स्वतन्त्र होता है। आहाहा! सूक्ष्म उपदेश है, भाई! यह गाथाएँ सूक्ष्म हैं।

दृष्टान्त कहते हैं। **क्योंकि जैसे...** भावार्थ में बहुत विशेष नहीं लिया। जैसी गम्भीरता टीका की है, वैसी गम्भीरता भावार्थ में नहीं ली। इसलिए लोग बहुत अलग नहीं कर सकते। **(कंकण आदि परिणामों से उत्पन्न होनेवाले ऐसे) सुवर्ण का...** सोना

कंकण से उपजता हुआ; सोनी से उपजता हुआ नहीं। ऐरण से उसे उस लोहे के घन से गहने की अवस्था उत्पन्न नहीं होती। आहाहा! **कंकण आदि परिणामों...** कुण्डल आदि परिणाम, अँगूठी आदि परिणामों से उपजता हुआ। **सुवर्ण का कंकण आदि परिणामों के साथ तादात्म्य है...** सोने को उस पर्याय के साथ तद्रूप है, उत्पन्न होता है सोने से और वे परिणाम सोने के साथ तादात्म्य हैं। आहाहा! है ?

सुवर्ण का कंकण आदि परिणामों के साथ तादात्म्य है... उसस्वरूप है, तत्स्वरूप है। आहाहा! सोना में कंकण आदि तत्स्वरूप है, सोनास्वरूप है। अभी यह दृष्टान्त है।

मुमुक्षु : पर्याय अलग नहीं रही अभी।

पूज्य गुरुदेवश्री : नहीं तो परिणाम परिणाम ही है, द्रव्य द्रव्य है। परन्तु यहाँ सोने से जो परिणाम हुए, वे सुवर्ण ही हैं, दूसरी चीज़ नहीं—ऐसा सिद्ध करने के लिये यह सुवर्ण है, ऐसा कहा। आहाहा! समझ में आया ?

सुवर्ण का... सोने को **कंकण आदि परिणामों...** आदि (अर्थात्) जो परिणाम होनेवाले हैं वे। कुण्डल, कंकण, अँगूठी। उन परिणामों के साथ तादात्म्य है। देखो! यहाँ पर्याय को और द्रव्य को तादात्म्य कहा। एक ओर द्रव्य तथा पर्याय दोनों भिन्न हैं, (ऐसा कहे)। पर्याय द्रव्य में तादात्म्य नहीं होती, तो भी यहाँ पर से भिन्न करने के लिये वे परिणाम तादात्म्य द्रव्य के (साथ) हैं। **आदि परिणामों के साथ तादात्म्य है...** परिणामों के साथ सुवर्ण तादात्म्य है। आहाहा! लो! पर्याय के साथ द्रव्य तादात्म्य है। यहाँ किस अपेक्षा सिद्ध करना है ? सर्वथा ऐसा लेना चाहे कि वे परिणाम तादात्म्य है, द्रव्य के साथ तद्रूप हो जाते हैं (तो) ऐसा नहीं है। परन्तु द्रव्य के परिणाम हैं, इसलिए द्रव्य के साथ तादात्म्य है और उस समय उससे उत्पन्न हुए हैं, वही उत्पन्न होने का उसका काल है; इसलिए उस परिणाम को उसके द्रव्य के साथ तादात्म्य है, ऐसा कहने में आया है। समझ में आया ? आहाहा!

३२० गाथा में पर्याय को द्रव्य से कथंचित् भिन्न कहा है, कथंचित्। और चिद्विलास में द्रव्य से परिणाम सर्वथा भिन्न ही है। द्रव्य ध्रुव है और तो एक समय की पर्याय है। दोनों

भिन्न-भिन्न हैं। वाचक दो भिन्न है, वैसे वाच्य भी दोनों भिन्न है। वहाँ आगे दो (भिन्न) कहना है। यहाँ एकमेक कहना है, वहाँ भिन्न कहना है। आहाहा! यहाँ जिससे परिणाम उत्पन्न हुए, वे परिणाम उस द्रव्य से तादात्म्य है, दूसरे से तादात्म्य नहीं—ऐसा सिद्ध करने को (कहा है)। तथा वे परिणाम पूर्व की पर्याय के साथ भी तादात्म्य नहीं है। आहाहा! वे परिणाम—पर्याय, उस द्रव्य के साथ तादात्म्य है, दूसरे द्रव्य के साथ नहीं और दूसरे द्रव्य की अपेक्षा से वे परिणाम हुए नहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : इतनी सब बात की, उसमें सच्ची बात कौन सी?

पूज्य गुरुदेवश्री : सब एक-एक बात सच्ची है। किस अपेक्षा से कही है? द्रव्य के परिणाम, परिणाम वे पर के नहीं; इसलिए उसके हैं, इसलिए तादात्म्य। पर से भिन्न करने के लिये उनका तादात्म्य (कहा) और अपने में दोनों में भिन्न करने के लिये दो भिन्न (कहते हैं)। ऐसा है। आहाहा!

मुमुक्षु : जैनदर्शन में कोई एक बात नहीं की, घडीक में ऐसा और घड़ीक में ऐसा।

पूज्य गुरुदेवश्री : घड़ीक में ऐसा और घड़ीक में ऐसा नहीं। किस अपेक्षा से है, वह अपेक्षा दूसरी है और यह अपेक्षा दूसरी है। यह अपेक्षा दूसरी है। घड़ीक में ऐसा और घड़ीक में ऐसा, ऐसा नहीं।

मुमुक्षु : यह तो ऐसा कहते हैं, कुछ निश्चित ही नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : दोनों निश्चित ही है, दोनों निश्चित है। वे परिणाम तादात्म्य है, यह भी निश्चित है, दूसरे के साथ सम्बन्ध नहीं है, इस अपेक्षा से। और वे परिणाम द्रव्य से भिन्न हैं, इस अपेक्षा से भिन्न हैं। वह भी इस प्रकार से सत्य है। आहाहा! दोनों इस प्रकार से सत्य है। आहाहा! समझ में आया? गाथा तो यह मूल (अकर्तापने को सिद्ध करनेवाली है)।

क्रमबद्ध का पूरा विवाद ही यह उठा है न? क्रमबद्ध होवे तो फिर यह हमारे पुरुषार्थ करने का फेरफार तो रहता नहीं, होना होगा तब होगा, हमारा पुरुषार्थ करना तो रहा नहीं। परन्तु होना होगा, इसका निर्णय ज्ञायकस्वभाव पर जाए, तब इसका निर्णय सच्चा होता है, तब उसमें पाँचों ही समवाय इकट्ठे आ जाते हैं। आहाहा! समझ में आया?

जिस समय में जो पर्याय होती है, उसमें पुरुषार्थ भी है, स्वभाव भी है, भवितव्यता है, काललब्धि है, निमित्त की अपेक्षा और अनअपेक्षा (भी है)। अर्थात् कि निमित्त है भी सही और निमित्त की अपेक्षा उसे नहीं, यह भी सही। आहाहा! ऐसा मार्ग है। वीतराग मार्ग जैनदर्शन सूक्ष्म है, गम्भीर है। आहाहा! यह तो अन्तर के अनुभव की बातें हैं। यह कहीं अकेली भाषावर्गणा, धारी हुई धारणा, वह यह मार्ग नहीं है। आहाहा!

भगवान स्वयं आत्मा उसके परिणाम से उपजता हुआ तादात्म्य है। अजीव अपने परिणाम से उत्पन्न होता अजीवद्रव्य के साथ तादात्म्य है। परद्रव्य के साथ तादात्म्य नहीं, इतनी अपेक्षा से तादात्म्य सिद्ध करना है। आहाहा! परन्तु जब उसे भिन्न सिद्ध करना हो, तब द्रव्य से परिणाम के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव भिन्न है। यह द्रव्य अर्थात् वस्तु उसकी। वह पर्याय, उसे द्रव्य कहना है। उसका क्षेत्र भिन्न है, उसका काल एक समय है, भाव—उसकी शक्ति भिन्न है। आहाहा! ऐसा है। ऐसा समझ में आवे नहीं, इसलिए एकान्तपना टलता नहीं। और कहीं न कहीं मैं कर सकता हूँ और मुझसे यह हुआ, यह इसका अभिमान अन्दर से गलता नहीं। आहाहा! अभिमान टलता नहीं। जहाँ तहाँ मैं कर्ता... मैं कर्ता... मैं कर्ता।

व्यवस्थापक व्यवस्था करने में तैयार है, वह मिथ्या है। व्यवस्था हो रही है, उसे व्यवस्थापक कहे कि हम करते हैं। व्यवस्थापक होवे न? मण्डल के व्यवस्थापक, कार्य के व्यवस्थापक। आहाहा! व्यवस्था, व्यवस्था करे कौन? व्यवस्था, व्यवस्था के कारण से, काल में हो रही है उसमें व्यवस्थापक कहे कि मुझसे हुई है।

मुमुक्षु : व्यवस्थापक ने क्या किया?

पूज्य गुरुदेवश्री : व्यवस्थापक ने किया अभिमान। किया उसने। आहाहा! व्यवस्थापक अर्थात् विशेष अवस्था उस-उस समय की वहाँ-वहाँ होती है, उसमें व्यवस्थापक करे क्या? ऐई! शान्तिभाई! बड़े लोगों को व्यवस्थापक स्थापित करते हैं न कहीं सर्वत्र? यह व्यवस्था तुम्हें करना, यह व्यवस्था तुम्हें करना। थालियाँ लाने की तुम्हें करना, दाल पकाने का ध्यान तुम्हें रखना, लड्डू बाँधने में ध्यान, बनाने में ध्यान तुम्हें रखना। आहाहा!

मुमुक्षु : काम की व्यवस्था तो करनी ही पड़े।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, यही कहते हैं कि व्यवस्था हो, उसे करनी पड़े—यह लाया कहाँ से तू?

मुमुक्षु : यह तो मुनियों ने लिखा हुआ है। मुनि ऐसा काम नहीं करते।

पूज्य गुरुदेवश्री : मुनियों ने लिखा हुआ है, यह वस्तु की स्थिति लिखी है। मुनिपने के लिये यह बात है, ऐसा नहीं है। वस्तु की स्थिति ही इस प्रकार से है। तीनों काल में जीव के लिये यह व्यवस्था है। आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई! तथा यह सर्वविशुद्धज्ञान हुआ, उसका अन्त आ जाएगा, ऐसा भी नहीं है। (अन्त आ जाएगा), यह भी झूठ बात है। आहाहा! व्यवस्था के काल में व्यवस्था हो, उसे सर्वविशुद्धज्ञान जाने, जाने। आहाहा! तथापि यहाँ परिणाम को द्रव्य के साथ तादात्म्य कहा। तो भी उसे जाने। यह सर्वविशुद्धज्ञान उन्हें करे नहीं। तादात्म्य कहा, तथापि करे नहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : द्रव्य और पर्याय दोनों को जाने या अकेले द्रव्य को जाने?

पूज्य गुरुदेवश्री : दोनों को जाने, सबको जाने। पहले कहा था न? एक ही पर्याय सब-सब जगत पूरा एक पर्याय (जानती है)। वह पर्याय, पर्याय को जाने, वह पर्याय लोकालोक को जाने, वह पर्याय अनन्त पर्याय को जाने, वह पर्याय द्रव्य-गुण को जाने। इतनी एक समय की ज्ञान की पर्याय में ताकत है। ऐसी श्रद्धा की एक समय की पर्याय में सब पूर्ण इस प्रकार से श्रद्धा करना, ऐसी उसकी ताकत है। एक समय की जानने की ताकत है, एक समय की श्रद्धा की ताकत इतनी है। ऐसे एक समय... आहाहा! इतनी ताकत है। अनन्त गुण में स्थिर होना, वह पर्याय की ताकत है। आहाहा! और उस-उस समय में पूर्व की पर्याय की अपेक्षा रखे बिना (वह पर्याय उत्पन्न होती है)। मोक्षमार्ग की पर्याय है, इसलिए मोक्ष होता है—ऐसा नहीं। समझ में आया? मोक्षमार्ग की पर्याय है अभेद। कल आया था। भगवान ने कहा हुआ अभेद मार्ग, वह भी जाननेयोग्य है, उसे मैं परिणमता हूँ। ऐसा आया था न? दोपहर में। आहाहा!

वह समय-समय की पर्याय, उसका सत्त्व स्व से है। समय-समय की पर्याय क्रमसर होने की और उसका सत्त्व स्व से है। भले लोकालोक को जाने, भले अनन्त पर्याय को जाने, भले द्रव्य-गुण को जाने तो भी उस पर्याय का सत्त्व स्व से है, पर से नहीं। आहाहा! इस प्रकार 'सर्वविशुद्धज्ञान' जानता है। आहाहा!

मुमुक्षु : भावना का फल मोक्ष आता ही है, कुदरत बँधी हुई है।

पूज्य गुरुदेवश्री : इसका अर्थ हुआ। परन्तु यह तो वस्तु बतायी। परिणाम है तो उस परिणाम की पूर्ण दशा आवे ही, तथापि वह अपेक्षित बात है। मोक्षमार्ग से मोक्ष होता है, यह भी अपेक्षित है। मोक्ष की पर्याय मोक्ष से होती है, मोक्षमार्ग से नहीं। क्योंकि मोक्षमार्ग की पर्याय का व्यय होता है और मोक्ष का उत्पाद होता है। उस उत्पाद में व्यय का कारण नहीं है। आहाहा! उसमें भाव का कारण गिने तो द्रव्य है और उसका कारण न गिने तो पर्याय का कारण पर्याय है। आहाहा!

मुमुक्षु : सब लम्बा-लम्बा बहुत है।

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसी चीज़ ही है। यह वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है। लम्बी कहो या बड़ी कहो या संक्षिप्त कहो या है, ऐसा कहो। वस्तु इस प्रकार से है, दूसरे प्रकार से किसी प्रकार वस्तु की सिद्धि नहीं होती। आहाहा! क्योंकि पर्याय भी सत् है और सत् है, वह अहेतुक होता है। सत् को हेतु नहीं होता। है, उसे भी हेतु होवे तो उस है का सामर्थ्य नहीं रहता। चन्दुभाई! आहाहा! ऐसा आता है। है, समयसार में बन्ध अधिकार में आया है। पर्याय भी सत् अहेतुक है, उसे द्रव्य का हेतु भी नहीं। आहाहा! और जाननेवाले को जाननेवाला उसे जानता है। उस जानने की पर्याय को भी पर का हेतु नहीं है। वह जाननेवाले की पर्याय, वह स्वयंसिद्ध स्वतन्त्र सामर्थ्यवाली है। आहाहा! व्यवहार के रसिकों को तो कठिन लगे ऐसा है। व्यवहार का तो कहीं भुक्का उड़ जाता है। आहाहा!

मुमुक्षु : व्यवहार उड़ जाए तो ही व्यवहार का सफलपना है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह उड़ जाए, इसका नाम ही व्यवहार है। व्यवहार रहता नहीं। निश्चय सर्वविशुद्धज्ञान ही रहता है। आहाहा! अब वह सदा रहता है। 'सर्वविशुद्धज्ञान' सदा ही रहता है। प्रवेश किया, इसलिए उसका अन्त आ गया, मोक्ष की भाँति अन्त आ जाएगा, ऐसा नहीं है। बड़ा पूर्व-पश्चिम का अन्तर है। आहाहा! समझ में आया?

यह अधिकार ही सूक्ष्म है। सर्वविशुद्ध की शुरुआत की, उसमें अकर्तापना ही शुरु किया। सर्वविशुद्धज्ञान कहा न? ज्ञान। तो ज्ञान है, वह अकर्ता है। आहाहा! और अकर्तापने में क्रमबद्ध आया है। आहाहा! और वह वीतराग जैनदर्शन, सर्वज्ञदर्शन, त्रिलोकनाथ का दर्शन, वह अकर्तापने की पराकाष्ठा को बतलाता है। अकर्तापने की पराकाष्ठा को बतलाता

है कि द्रव्य भी पर्याय का कर्ता नहीं, ऐसा अकर्तापना (सिद्ध करता है)। आहाहा! ईश्वर कर्ता तो नहीं परन्तु द्रव्य उसकी पर्याय का कर्ता नहीं, इतना अकर्तापने का सर्वोत्कृष्टपना जैनदर्शन, विश्वदर्शन यह बतलाता है। आहाहा! यह सब गाथाएँ सूक्ष्म हैं। यह सब सूक्ष्म इकट्ठा आया। एक तो सर्वविशुद्ध है और क्रमबद्ध है। सर्वविशुद्ध अधिकार है और क्रमबद्ध अधिकार है। आहाहा!

यहाँ तो अपने यहाँ आया है कि **(कंकण आदि परिणामों से उत्पन्न होनेवाले ऐसे) सुवर्ण का कंकण आदि परिणामों के साथ तादात्म्य है, उसी प्रकार...** यह तो दृष्टान्त कहा। सिद्धान्त अकर्ता सिद्ध करना है। **उसी प्रकार सर्व द्रव्यों का...** सब पदार्थों को। सर्व द्रव्य में कौन सा बाकी रह गया? निगोद का जीव, काल का द्रव्य, परमाणु द्रव्य। आहाहा! निगोद का जीव भी अपनी पर्याय के साथ तादात्म्य है, वह कर्म के साथ तादात्म्य है ही नहीं। निगोद के अनन्त जीव एक अक्षर के, एक अंगुल के असंख्यवें भाग में अनन्त आत्मायें और एक-एक आत्मा के साथ तैजस, कार्मणशरीर। एक अंगुल के असंख्य भाग में अनन्त आत्मा और अनन्त तैजस, कार्मणशरीर (रहे हुए हैं)... आहाहा! तथापि प्रत्येक के परिणाम उसके द्रव्य के साथ तादात्म्य हैं। आहाहा! निगोद के जीव के सबका श्वास एक, आहार एक तो भी उनके परिणाम उसके साथ—दूसरे से भिन्न हैं, और उसके साथ अभिन्न हैं। द्रव्य से अभिन्न हैं, दूसरे से भिन्न है। भले एक शरीर में इकट्ठे रहे हुए (हों), अनन्त इकट्ठे (रहे हैं)। आहाहा! और अनन्त तैजस तथा कार्मणशरीर साथ में इकट्ठे हैं। एक-एक कर्म का तैजस का, कार्मण का परमाणु अपने परिणाम के साथ तादात्म्य है, पर के साथ कुछ है ही नहीं।

इस प्रकार सर्व द्रव्यों का अपने परिणामों के साथ तादात्म्य है। देखा? यहाँ परिणाम को द्रव्य के साथ तादात्म्य लिया। अनेकान्त है। किस अपेक्षा से अनेकान्त सिद्ध करना है? आहाहा! एक ओर ऐसा कहे कि द्रव्य परिणाम का कर्ता है ही नहीं और द्रव्य में वे परिणाम हैं ही नहीं। द्रव्य में वे परिणाम है ही नहीं, परिणाम में द्रव्य है ही नहीं। जैनमार्ग, अनेकान्त वस्तुस्थिति ही ऐसी है। आहाहा! यह कुछ घड़कर नहीं निकाला है। वस्तु का स्वरूप जैसा है, वैसा जाना, वैसा कहने में आया।

इस प्रकार जीव अपने परिणामों से उत्पन्न होता है तथापि... यह क्या कहा?

पहले कहा सर्व द्रव्यों के अपने परिणाम के साथ तादात्म्य है। **इस प्रकार जीव अपने परिणामों से उत्पन्न होता है...** अर्थात् परिणाम से उपजता तो है, तो फिर एक को उपजे तो एक गाय का (ग्वाल हो वह साथ में) दो गाय का (ग्वाल हो)। अपने परिणाम से उपजता है तो दूसरे को भी उपजाने में क्या बाधा? उपजता न हो, तब तो दूसरे को भले न उपजावे, परन्तु उपजता है। आहाहा! **जीव अपने परिणामों से उत्पन्न होता है तथापि...** यह उपजाने का कार्य होने पर भी **उसका अजीव के साथ कार्यकारणभाव सिद्ध नहीं होता,...** उपजने का कार्य करने पर भी, उपजने का कार्य करता होने पर भी, अजीव के साथ कार्यकारणभाव का सम्बन्ध नहीं है। आहाहा! कितना समाहित किया है इसमें!

इस प्रकार जीव अपने परिणामों से उत्पन्न होता है तथापि... अपने परिणाम शब्द लिया है। अपने परिणाम, द्रव्य के परिणाम। पर से भिन्न करके उसका स्वतन्त्र सिद्ध करना है न। **अपने परिणामों से उत्पन्न होता है तथापि...** होने पर भी क्यों कहा? वह उपजने का काम तो करता है तो फिर दूसरे को साथ में उपजावे, इसके साथ क्या दिक्कत है? एक गाय का ग्वाल, वह पाँच गाय का ग्वाल, ऐसे साथ में साथ-साथ चार गायों को (चरावे उसमें बाधा क्या?) नहीं उपजता हो, तब तो न उपजावे परन्तु उपजता है। आहाहा! ऐसी बात है। आहाहा! वीतराग मार्ग अपूर्व और अलौकिक है। आहाहा! इसके सिवाय कहीं नहीं है। अभी तो इसमें भी बड़ी गड़बड़ उठी है। यह मार्ग अन्यत्र कहीं नहीं, वीतराग के अतिरिक्त कहीं सत्य नहीं। आहाहा! वीतराग मार्ग में भी अभी तो गड़बड़ उठ गयी है।

मुमुक्षु : प्रत्येक धर्मवाले ऐसा ही कहते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : कहते हैं तो भी वस्तु यह है। प्रत्येक अपनी-अपनी कल्पना से कहे (कि) हमारा सत्य है। परन्तु यह वस्तु तो वस्तु की स्थिति है।

उत्पादव्ययध्रुवयुक्तं सत् स्वतः है। उत्पादव्ययध्रुवयुक्तं सत् स्वतः है। ऐसी बात अन्यत्र कहीं है नहीं। उस-उस समय का उत्पाद... आहाहा! उस-उस समय का व्यय, वह उत्पाद की अपेक्षा नहीं रखता। उत्पाद, व्यय की अपेक्षा नहीं रखता। आहाहा! यह भी प्रवचनसार में १०१ गाथा में कहा है। यहाँ परिणाम को तादात्म्य लिया है। वहाँ लिया है कि, उत्पाद, वह ध्रुव की अपेक्षा नहीं रखता, वह व्यय की अपेक्षा नहीं रखता। प्रवचनसार १०१ गाथा। आहाहा!

इस प्रकार जीव अपने परिणामों से उत्पन्न होता है तथापि... ऐसा कि न उपजता हो, तब तो भले न उपजावे। कूटस्थ है, वह तो भले न उपजावे परन्तु उपजता है, वह पर्याय में उपजे तो बदलता तो है। कूटस्थ जो द्रव्य है, वह तो न बदले, परिणमे नहीं। भले परिणाम के साथ तादात्म्य होने पर भी, वह कुछ परिणमे नहीं। यह तो **अपने परिणामों से उत्पन्न होता है, तथापि उसका अजीव के साथ कार्यकारणभाव सिद्ध नहीं होता,...** आहाहा! जीव कारण और अजीव कार्य, अजीव की पर्याय कार्य—(ऐसा नहीं है)। आहाहा! जीव का ज्ञान कारण और ज्ञान में ऐसा मुझे चलना है, वह चलने की क्रिया उसका कार्य किसी प्रकार सिद्ध नहीं होता। जीव का ज्ञान कारण (और) चलने की क्रिया कार्य, वह जीव के साथ अजीव का कार्यकारणपना किसी प्रकार सिद्ध नहीं होता। आहाहा!

मुमुक्षु : धक्का मारे तो चले।

पूज्य गुरुदेवश्री : बिल्कुल झूठ बात है। धक्का कौन मार सकता है? यह है, वह यहाँ पड़ा है, उसे ऐसे करे कौन? अँगुली ऐसा करे नहीं और आत्मा तो करे ही नहीं उसे। आहाहा! ऐसी बात है।

जीव अपने परिणामों से उत्पन्न होता है तथापि... ऐसा क्यों कहा? कि परिणाम यदि परिणाम से उपजता न हो, द्रव्य कूटस्थ रहे, तब तो पर का न करे परन्तु परिणमता तो है। उस-उस समय में वह उपजता तो है, तो उपजता है, साथ में दूसरे को उपजावे। वह **उत्पन्न होता है तथापि...** अपने-अपने परिणाम को उस-उस समय में उस परिणाम को उपजाता होने पर भी। आहाहा! **अजीव के साथ कार्यकारणभाव सिद्ध नहीं होता,...** जीव के परिणाम उपजे, इतना उपजाने का कार्य करे तो साथ में जड़ का भी कार्य करे, यह बात सिद्ध नहीं होती। आहाहा! उसके स्वयं के परिणाम बदले तो साथ में दूसरे के परिणाम भी बदलावे, (ऐसा नहीं है)। इसलिए ऐसा लिया न, उपजता होने पर भी, स्वयं अपने परिणाम से उपजता होने पर भी, उपजने का कार्य करने पर भी। आहाहा! उपजता ही न हो, द्रव्य है वह कूटस्थ है, वह तो अलग, परन्तु यह तो परिणाम से उपजता होने पर भी दूसरे के परिणाम के कारणरूप नहीं होता। आहाहा! समझ में आया?

अजीव के साथ कार्यकारणभाव सिद्ध नहीं होता,... आहाहा! **क्योंकि सर्व**

द्रव्यों का अन्य द्रव्य के साथ उत्पाद्य-उत्पादक भाव का अभाव है;... सर्व द्रव्यों को अन्य द्रव्य के साथ उत्पाद्य—उत्पन्न होने के योग्य, उत्पादक—उत्पन्न करनेवाला। उत्पाद्य अर्थात् उत्पन्न होने योग्य और उत्पादक अर्थात् उत्पन्न करनेवाला, ऐसे भाव का अभाव है। आहाहा! पर का उत्पाद्य और जीव उत्पादक, इसका अभाव है। पर उत्पन्न होनेयोग्य, वह उत्पाद्य; जीव उत्पादक, इसका अभाव है। इस कार्यकारण का अभाव है। उत्पाद्य जो है, वह कार्य है; उत्पादक है, वह कारण है। उत्पाद्य है, वह कार्य है; उत्पादक है, वह कारण है। इस कारणकार्य का जीव को अजीव के साथ उत्पाद्य-उत्पादक—कार्य का कारण सिद्ध नहीं होता। आहाहा! ऐसा है। विशेष कहेंगे....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ३८३, गाथा - ३०८-३११ रविवार, माघ शुक्ल ३
दिनाङ्क - ०३-०२-१९८०

समयसार, ३०८ गाथा। फिर से लेते हैं। लोग नये आये हैं। **प्रथम तो जीव...** आत्मा। क्रमबद्ध में जाननेवाले को पहले लिया है। ज्ञात होता है अजीव और जीव परन्तु जाननेवाले को पहले लिया है। सर्वविशुद्ध है न? **प्रथम तो जीव क्रमबद्ध ऐसे अपने परिणामों से उत्पन्न होता हुआ...** जीव में क्रमबद्ध जिस समय में जो परिणाम होनेवाले हैं, वे क्रमसर वे ही आनेवाले हैं, वे ही होनेवाले हैं—ऐसा उनका स्वभाव है। **क्रमबद्ध ऐसे अपने परिणामों से उत्पन्न होता हुआ जीव ही है,...** भले कहे कि अपने परिणाम से क्रमसर उपजे परन्तु वह परिणाम, वह जीव ही है। जीव के हैं, वह जीव ही है। अभी यह सिद्ध करना है। परिणाम और परिणामी भिन्न, यह अभी सिद्ध नहीं करना है।

क्रमबद्ध बहुत सूक्ष्म वस्तु है। प्रत्येक द्रव्य में, प्रत्येक समय में जो पर्याय होनेवाली है, वह होगी। उसे जिनेन्द्र भी बदल नहीं सकते। अपनी जो पर्याय जिस समय में जो होती है, उसे आगे-पीछे जिनेन्द्र भी नहीं कर सकते। क्योंकि वस्तु का स्वभाव ही यह है। क्रमसर, नम्बरवार जिस पर्याय का नम्बर आवे, वही पर्याय वह आती है। नम्बरवार एक,

दो, तीन, चार, पाँच, छह ऐसे जिस समय जिसकी पर्याय आनेवाली है, वह नम्बरवार में आती है। उल्टी-सीधी पर्याय करने जाए तो नहीं होती, मान्यता इसकी फेरफार हो जाए। आहाहा! यह कहेंगे कि अज्ञान कोई गहन विषय है, कि ऐसी चीज़ में भी जो अन्दर कर्तापना मानता है, उसे है वह कोई अज्ञान का गहन विषय है। बाकी तो आत्मा उसका जो समय है, उस समय की पर्याय में उस प्रकार की पर्याय से उपजता हुआ जीव है। दूसरे की पर्याय से उपजता हुआ, वह तो है ही नहीं। अपनी पर्याय भी क्रमसर में नम्बरवार आवे, वह आनेवाली है। जिसका नम्बर, उस पर्याय में आने का, वही आनेवाली है। आहाहा! परन्तु ऐसी प्रतीति करनेवाले को ज्ञायकभाव सत्स्वरूप जो त्रिकाली सत् सत्ता है, उसके ऊपर इसकी दृष्टि यदि होवे तो वह क्रमसर परिणाम हों, उसका यह जाननेवाला होता है।

पर्याय का निर्णय पर्याय से नहीं होता। जिस समय में जो पर्याय होनेवाली है, वह होती है परन्तु उसका निर्णय पर्याय के लक्ष्य से नहीं होता। उसका निर्णय, अनुभव ज्ञायक जो सत्ता त्रिकाली है, उसकी सत्ता के स्वीकार में दृष्टि जाने पर क्रमबद्ध का निर्णय उसे अकर्तारूप से आता है। अर्थात् कि वह पर्याय होती है, उसका भी कर्ता नहीं है। होती है, उसे क्या करना? होती है, उसे क्या करना? है; है, उसे क्या करना? आहाहा!

इसलिए पहले जीव क्रमसर, नम्बरवार, **क्रमबद्ध ऐसे अपने परिणामों से उत्पन्न होता हुआ जीव ही है,...** उसे परिणाम उपजने में परद्रव्य की कोई अपेक्षा है ही नहीं। जीव के नम्बरवार परिणाम उपजने में दूसरे किसी द्रव्य की अपेक्षा है ही नहीं, पहले यह सिद्ध करते हैं। पश्चात सिद्ध तो दूसरा करना है कि अजीव का कर्म उसका नहीं है। बात तो यह सिद्ध करनी है परन्तु पहले उसके ही परिणाम का स्वयं उस समय के परिणाम उपजे, वे जीव हैं, वे जीव हैं। वे-वे परिणाम उस-उस समय में उपजते हैं, उनकी दृष्टि ज्ञायक पर है, इसलिए वह जीव है। उल्टा-सीधा करने जाए तो वह जीव नहीं है तथा पर्याय का क्रमबद्ध का (निर्णय) पर्याय के लक्ष्य से करने जाए तो भी वह जीव नहीं है। आहाहा! त्रिकाली जीव जो स्वभाव है, उसकी दृष्टि करने से जो नम्बरवार पर्याय आती है, उसे वह जाननेवाला है। ऐसी कठिन बातें हैं।

अजीव नहीं;... वे परिणाम जो आवें, वह अजीव नहीं है। भले अशुद्ध हो परन्तु उनका जाननेवाले के रूप से जानने की पर्याय भी साथ में खड़ी होती है, उसे अजीव की

अपेक्षा नहीं है तथा वास्तव में तो अशुद्ध परिणाम जो उपजते हैं और उनका जो जीव ज्ञायकरूप से जो निर्णय करके ज्ञान होता है, उस ज्ञान में भी उस अशुद्ध परिणाम की अपेक्षा नहीं है। आहाहा! ऐसी वस्तु है।

इसी प्रकार अजीव भी... जैसे जीव कहा, वैसे अजीव भी। शरीर, कर्म, परमाणु, बाहर की सब पुद्गल की चीज़ें, वह **अजीव भी क्रमबद्ध अपने परिणामों से उत्पन्न होता हुआ...** वह भी नम्बरवार परिणाम आवें, उनसे वह उपजता है। इसलिए वह अजीव है। उस परिणाम को जीव की कोई अपेक्षा नहीं है। कर्मबन्धन जो होता है, वह यहाँ राग है, इसलिए कर्मबन्धन की पर्याय होती है, ऐसी अपेक्षा नहीं है। कर्मबन्धन के समय भी उस परमाणु की पर्याय अजीव की कर्मरूप से होने के योग्य से हुई है, इसलिए वह अजीव है। जीव के राग की अपेक्षा हुई, इसलिए यहाँ कर्मबन्धन हुआ, ऐसी अपेक्षा नहीं है। आहाहा!

एक ओर ऐसा कहा जाता है कि ज्ञानावरणीय आदि छह कारण से बँधता है। आता है या नहीं? ज्ञान का निह्नव करे, ढाँके, ज्ञान विपरीत करे, ऐसे भाव से ज्ञानावरणीय बँधता है—ऐसा आता है। यहाँ कहते हैं कि वह ज्ञानावरणीय जो बँधता है, वह अजीव अपने उस समय के उन परिणाम से उपजता हुआ कर्म होता है। साथ में राग है या मिथ्यात्व है, इसलिए यह कर्म की पर्याय ऐसी होती है, ऐसा नहीं है। वे परमाणु के उस समय के परिणाम नम्बर से आये हैं। जैसे पहले नम्बर का... लड़कों को कहे, पहला नम्बर? कि हाँ। दूसरा, तीसरा, चौथा नम्बर से। आहाहा! इसी प्रकार टिकिट लेने जाए, वहाँ भी नम्बर से खड़े होते हैं न ऐसे? उसे क्रमसर मिलता है। यहाँ तो अभी तो दूध लेने जाते हैं तो उसे लाईन में क्रमसर पहला, दूसरा (होवे) उसे वह मिले, आड़ा-टेड़ा होकर तीसरे नम्बर का पहले नम्बर में घुस जाए तो सिर पर मार पड़ती है।

उसी प्रकार इस जीव में भी क्रमबद्ध अपने परिणाम उसी समय में, उसी प्रकार, उसी जाति के परिणाम जो हुए, उसी जाति के होनेवाले, वे हुए हैं। इसलिए उन परिणामों से अजीव उपजता हुआ वह अजीव है। क्रमबद्ध अपने परिणामों से उपजता हुआ वह अजीव ही है। आहाहा! कर्मबन्धन होता है, उसे जीव के राग की अपेक्षा नहीं है, कहते हैं। वह तो उसका पर्याय का काल है। परमाणुओं का कर्मरूप से परिणमने की पर्याय का नम्बर

से परमाणु में है, इसलिए वे-वे ज्ञानावरणीय आदि बँधते हैं। ऐसा कहे, छह प्रकार से ज्ञानावरणीय बँधता है, छह प्रकार से दर्शनावरणीय बँधता है, ग्यारह प्रकार से वेदनीय बँधता है। आता है न बोल? आहाहा! वह तो निमित्त कौन था, उसका ज्ञान कराया है। बाकी तो उस समय में अजीव के परिणाम उसी जाति के, उसी प्रकार के, उसी काल में, वही पर्याय होनेवाली थी। आहाहा!

यह प्रश्न हुआ था। जीव राग न करे, तो वहाँ कर्मबन्धन कहाँ बँधता है? इतना अन्तर पड़ता है या नहीं? यह प्रश्न हुआ था। राजकोट (संवत्) २००६ के वर्ष। खबर है? खबर नहीं होगी। मूलशंकर ने प्रश्न किया था। २००६ के वर्ष, मन्दिर के समय। ऐसा कि आत्मा राग न करे तो वहाँ बँधता नहीं। इतनी अपेक्षा है या नहीं? परन्तु यह अपेक्षा वहाँ है ही नहीं। न करे, करने का प्रश्न ही नहीं। उस समय में परमाणु की पर्याय कर्मरूप से होनेवाली है वह हुई, होनेवाली वह होगी ही, उसे राग की अपेक्षा नहीं है। आहाहा! जब कर्मरूप पर्याय होती है, पश्चात् उसका प्रश्न क्या? कि राग न करे तो नहीं होती, यह प्रश्न ही नहीं है, यह बात ही अत्यन्त असत्य और झूठी है। आहाहा! उस जिस समय में कर्म की पर्याय जिस प्रकार से होनेवाली है, वह होती है, इसलिए उसे अजीव कहा जाता है। **अजीव भी...** 'भी' अर्थात् पहले जीव कहा है, इसलिए **अजीव भी क्रमबद्ध अपने परिणामों से उत्पन्न होता हुआ अजीव ही है, जीव नहीं;...** उसे जीव की अपेक्षा बिल्कुल नहीं है, ऐसा कहते हैं। आहाहा!

क्योंकि जैसे (कंकण आदि परिणामों से उत्पन्न होनेवाले ऐसे) सुवर्ण का... सोना जो है, कुण्डल और अँगूठी आदि से उपजता है। वह **आदि परिणामों के साथ (सुवर्ण) तादात्म्य है...** अभी उन परिणाम को उस द्रव्य से तादात्म्य सिद्ध करना है। परिणामी परिणामरूप से आता नहीं, होता नहीं और परिणाम परिणाम से होता है, यह बात अभी सिद्ध नहीं करना है। अभी तो वे परिणाम तादात्म्य हैं। क्योंकि सुवर्ण के जो परिणाम कंकण आदि होते हैं, वे परिणाम स्वर्ण से तादात्म्य हैं। तादात्म्य अर्थात् तदस्वरूप, तद्स्वरूप। तादात्म्य तद्स्वरूप ही वह तो है। आहाहा! वह कंकण आदि की पर्याय सोना स्वरूप ही है, सोना उस रूप तादात्म्य है। आहाहा! वह कंकण आदि हुए, उसमें सोनी का अधिकार नहीं है। सोनी है; इसलिए कंकण हुआ या अन्तर नीचे... क्या कहा? लोहे की

ऐरण, ऐरण है; इसलिए वहाँ सोने का गहना हुआ, ऐसी उसे अपेक्षा है ही नहीं। आहाहा! उस समय में उस सोने के परिणाम का नम्बर से कंकण होने का नम्बर था, इसलिए हुआ है। इसलिए वह परिणाम सोने के साथ तादात्म्य है। पर के साथ नहीं, ऐसा सिद्ध करने को तादात्मय है, ऐसा कहा। नहीं तो तादात्म्य नहीं है। परिणाम और परिणामी भी भिन्न है। परन्तु पर से हुए नहीं और पर की अपेक्षा रखकर वे परिणाम हुए नहीं। आहाहा! सोनी है, हथौड़ा है, ऐरण है; इसलिए गहना हुआ—ऐसा नहीं है। उस काल में वह परिणाम सोने के परिणाम होने का वही परिणाम होने का काल (था); इसलिए वे परिणाम उस सोने के साथ तादात्म्य है, तद्रूप ही है। आहाहा! सोने का कंकण सोनेरूप ही है।

उसी प्रकार सर्व द्रव्यों का... इसकी भाँति सर्व द्रव्यों को। जीव या अजीव, परमाणु या धर्मास्ति, कर्म का बन्धन या जीव के परिणाम का। **सर्व द्रव्यों का अपने परिणामों के साथ तादात्म्य है।** प्रत्येक द्रव्य को उसकी पर्याय के साथ वह द्रव्य नम्बरवार आता है और उसके साथ तादात्म्य है। आहाहा! पर के साथ कुछ उसकी अपेक्षा नहीं है। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को स्पर्श नहीं करता। आहाहा! पानी शीतल है, अग्नि आकर गर्म होता है। वह अग्नि उसे स्पर्श नहीं करती। अग्नि से गर्म हुआ नहीं, अग्नि के कारण वह पानी गर्म हुआ नहीं। उस पानी के परिणाम उष्णरूप से होनेवाले (थे, इसलिए हुए हैं)। पानी के साथ तादात्म्य है, उस अग्नि से तादात्म्य है, नहीं। आहाहा! **सर्व द्रव्यों का अपने परिणामों के साथ तादात्म्य है।**

इस प्रकार जीव अपने परिणामों से उत्पन्न होता है तथापि... अब क्या कहते हैं? कि उपजने का कार्य तो करता है तो साथ में दूसरे का भी उपजने का कार्य करे, उसमें क्या बाधा है? कि नहीं। **अपने परिणामों से उत्पन्न होता है तथापि...** परिणमन से, **परिणामों से उत्पन्न होता है, तथापि उसका अजीव के साथ...** आहाहा! कर्म के साथ कुछ सम्बन्ध नहीं है। **कार्यकारणभाव सिद्ध नहीं होता,...** अजीव के साथ कार्यकारणभाव (अर्थात्) जीव कारण और अजीव की पर्याय कार्य। आहाहा! सोनी ने अँगूठी घड़ी या कुंडल बनाया, यह बात सिद्ध नहीं होती। आहाहा! और सत् है, उसे हेतु नहीं है, तथापि यहाँ द्रव्य को तादात्म्य के साथ सम्बन्ध कहा। वह तो तादात्म्य के साथ सम्बन्ध कहा। परन्तु द्रव्य से उत्पन्न होता है। अपने परिणाम उपजते हैं, ऐसा यहाँ सिद्ध

किया, इतना तो यहाँ सिद्ध किया है। आहाहा! अत्यन्त वीतरागभाव है। आहाहा! जगत के सब पदार्थों से उदास होकर स्वपरिणाम का कर्ता रहे, यह वीतरागपने का तात्पर्य है। आहाहा!

कोई भी पर को सुधार सके या बिगाड़ सके या व्यवस्थापक व्यवस्था कर सके, ऐसा होता नहीं। होशियार व्यवस्थापक होवे तो उसकी व्यवस्था बराबर हो, ऐसा नहीं है। आहाहा! ऐसा है। शिक्षण शिविर। सिखावे शिष्य को। गुरु पढ़ानेवाला दूसरे को सिखावे। कहते हैं, कि इससे उसे पर्याय वहाँ हुई है, ऐसा नहीं है। अरे..! अरे..! और अभी यहाँ सुनते हुए भी शब्द कान में पड़ते हैं, इसलिए उसे उस प्रकार का ज्ञान उपजता है, ऐसा नहीं है। आहाहा! गजब बात है। घर में थे, तब यह परिणाम नहीं थे, यहाँ परिणाम होते हैं। परिणाम आने का अन्तर नहीं पड़ा? दुकान में बैठा हो, वे परिणाम अलग और मन्दिर में जाए, वहाँ परिणाम अलग होते हैं। इतना कोई पर का असर है या नहीं? आहाहा!

मुमुक्षु : आप इनकार करते हो।

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा है ही नहीं, वस्तु के स्वरूप में ही यह नहीं है। जहाँ-जहाँ जो-जो द्रव्य हों, वहाँ-वहाँ उसके परिणाम उससे उपजे हुए, वे मन्दिर से उपजे नहीं। भगवान के दर्शन हुए, इसलिए शुभभाव हुआ, ऐसा नहीं है—ऐसा कहते हैं। आहाहा! उन परिणाम को उत्पन्न होने का काल ही है। तब वह सामने चीज़ है, उसे निमित्त कहा। निमित्त अर्थात् कि दूसरी चीज़ है, इतना ज्ञान करने के लिये (कहा)। उससे होता है, भगवान के दर्शन से शुभभाव होता है, ऐसा नहीं है। आहाहा! ऐसी बातें। (इसलिए) लोग तो फिर कहे ही न? सोनगढ़ का एकान्त है। वह तो शिक्षण शिविर (में) सीखो, ऐसा करो, यह करो, दुनिया को मदद करो, एक दूसरे मिलकर रहो, सुगठित रहो, एक-दूसरे को सहायता हो। यहाँ कहते हैं कि सहायक-फहायक कोई नहीं हो सकता। आहाहा! एक-दूसरे के साथ संगठन नहीं कर सकते। भिन्न-भिन्न है। आहाहा!

यह कहते हैं, **इस प्रकार जीव अपने परिणामों से उत्पन्न होता है तथापि...** अर्थात् कार्य तो करता ही है, कहते हैं। जीव अपने परिणाम से उपजता तो है। **उसका अजीव के साथ कार्यकारणभाव सिद्ध नहीं होता,...** भले अपना उपजने का कार्य करे परन्तु उसे पर के साथ कार्यकारण का सम्बन्ध नहीं होता। **क्योंकि सर्व द्रव्यों का**

अन्य द्रव्य के साथ... सर्व द्रव्यों को, सर्व पदार्थ, छह द्रव्यों को, अनन्त को। अनन्त-अनन्तरूप से तब रह सकते हैं कि अपनी-अपनी पर्याय में तादात्म्य हों तो भी वे रह सकते हैं; नहीं तो अनन्तपना नहीं रहता। आहाहा! अनन्त आत्मायें, अनन्त परमाणु वे कब रह सकते हैं? कि जिसे पर की अपेक्षा बिना अपने परिणाम अपने से होते हैं और अपने से टिकते हैं, तब वह अनन्तपना अनन्तरूप से रह सकता है। एक द्रव्य भी दूसरे द्रव्य को कुछ करे तो वह दूसरे को करे, दूसरा तीसरे को करे, ऐसा करके अनन्त द्रव्य सब अपने भिन्न अस्तित्व को गँवा बैठेंगे। आहाहा! बहुत कठिन बात।

क्योंकि सर्व द्रव्यों का अन्य द्रव्य के साथ उत्पाद्य... अर्थात्? दूसरे द्रव्य के परिणाम उत्पन्न होने के योग्य और दूसरे द्रव्य उसे उत्पाद करनेवाले, ऐसा है नहीं। उत्पाद्य अर्थात् होने के योग्य, उत्पादक (अर्थात्) उसे करनेवाला, ऐसे भाव का अभाव है। आहाहा! उत्पाद्य और उत्पादकभाव का अभाव है। आहाहा! जयसेनाचार्य की टीका में लिखा है कि कोई भी एक भाव यदि पूरा समझे तो सब भाव बराबर समझे, जयसेनाचार्य की टीका में है। कोई भी एक बोल बराबर समझे—जैसा है, वैसा पर्याय समझे; जैसा है, वैसा द्रव्य समझे; जैसा है, वैसा गुण समझे, एक भाव बराबर समझे तो उसे सब भाव समझने में सरीखा आ जाए। ऐसा जयसेनाचार्य की टीका में है। आहाहा!

सर्व द्रव्यों का अन्य द्रव्य के साथ उत्पाद्य... अर्थात् उत्पन्न होने की योग्यता और उत्पादक करनेवाला। कार्य और कारण (उसका) अभाव है। उत्पाद्य, वह कार्य और उत्पादक, वह कारण। उसका... है? **अभाव है; उसके (कार्यकारणभाव के) सिद्ध न होने पर,...** उत्पाद्य अर्थात् कार्य। उत्पादक अर्थात् कारण। उत्पन्न करनेवाला कारण, उत्पाद्य अर्थात् उत्पन्न हुआ कार्य। उत्पन्न हुआ कार्य और उत्पादक करनेवाला। ऐसा कार्यकारणभाव सिद्ध नहीं होता। उत्पाद्य शब्द से कार्य और उत्पादक शब्द से कारण। आहाहा!

सर्व द्रव्यों का अन्य द्रव्य के साथ उत्पाद्य-उत्पादक भाव का अभाव है;... एक जीव कार्य और दूसरा जीव उसका कारण, इसका अभाव है। अजीव कार्य और जीव उसका कारण, इसका अभाव है। अजीव कारण और जीव कार्य, इसका अभाव है। आहाहा! **(कार्यकारणभाव के) सिद्ध न होने पर,...** उत्पाद्य अर्थात् कार्य, उत्पादक

अर्थात् कारण। **उसके (कार्यकारणभाव के) सिद्ध न होने पर, अजीव के...** सिद्ध तो यह करना है। **जीव का कर्मत्व सिद्ध नहीं होता;...** अजीव को जीव का कार्य, ऐसा सिद्ध नहीं होता। अजीव का कार्य जीव का कार्य है, ऐसा सिद्ध नहीं होता। अजीव को जीव का कर्मपना, कर्मपना अर्थात् काय, अजीव को जीव का कार्यपना, अजीव को जीव का कार्यपना सिद्ध नहीं होता। आहाहा! इतने सब अजीव हैं, इसलिए यह शब्द प्रयोग किया है। ऐसे देखनेवाला एक और दिखते हैं अनन्त पदार्थ, तो वह अजीव का कार्य जीव का कारण, ऐसा सिद्ध नहीं होता। आहाहा! है?

अजीव के जीव का कर्मत्व... जीव को जीव का कार्यपना। आहाहा! अजीव का कार्य जीव का है, ऐसा सिद्ध नहीं होता। आहाहा! पानी गर्म होता है, ठण्डा मिटकर कर्म होता है, वह अग्नि से गर्म नहीं हुआ, अग्नि ने पानी को स्पर्श नहीं किया, पानी को अग्नि ने छुआ ही नहीं। पानी का कार्य और अग्नि कारण, पानी गर्म (हुआ) वह कार्य, अग्नि कारण—ऐसा सिद्ध नहीं होता। अथवा कार्य उष्णता और जीव आकर अग्नि का संयोग कराकर गर्म हुआ, ऐसा जीव का, अजीव का कार्य सिद्ध नहीं होता। जीव को अजीव का कार्य सिद्ध नहीं होता। आहाहा! पूरे दिन यह सब किया करते हैं न?

मुमुक्षु : वकील और डॉक्टर तो बहुत करते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : वकील और डॉक्टर करे, अभिमान। इंजेक्शन लगाते हैं, यह करते हैं और अमुक करते हैं। वकील दलील करते हैं। आहाहा!

अजीव का किसी भी समय का कार्य अजीव के समय में होता है। उसमें जीव का कार्यपना—कर्मपना बिल्कुल नहीं है। आहाहा! सिद्ध तो ऐसा किया है, देखा? **अजीव के जीव का कर्मत्व...** अजीव का कार्य जीव करे, यह सिद्ध नहीं होता। आहाहा! यह कोट पहनते हैं और टोपी ओढ़ते हैं, वह क्रिया अजीव का कार्य है, उसे जीव नहीं करता। अजीव का कर्म, जीव का कार्य है—ऐसा सिद्ध नहीं होता। आहाहा! योगफल में वापस बात यह ली है। जीव का कार्य अजीव करे, यह बात नहीं है। परन्तु अजीव का कार्य जीव करे, यह बात सिद्ध नहीं होती। क्योंकि जीव होशियार मनुष्य बहुत गिना जाता है न? और सब जो व्यवस्थित काम करना हो तो बराबर करे। आहाहा!

सुई में ऐसे बराबर ध्यान रखकर डोरा पिरोना हो, डोरा पतला बारीक करके फिर

खेंचे। कहते हैं कि (उसकी) सत्ता भिन्न है, ज्ञायक सत्ता भिन्न है। जड़ के कार्य बिना का कार्य है, जड़ का कार्य जीव का नहीं है। जीव स्वतन्त्र भिन्न सत्ता है, ऐसे अहम्पने की सत्ता की श्रद्धा उसे नहीं होती। आहाहा! क्षण में और पल में अजीव बदलता जाए, वस्त्र बदले, आँख बदले, शरीर बदले, उस बदलने में भी मेरा ध्यान नहीं रहा, इसलिए बदला; खाने में ध्यान नहीं रहा, इसलिए ऐसा हुआ। क्षण और पल में पर के कार्य के कारण का जीव में अभाव है। अजीव के कार्य में जीव के कार्य का अभाव है। शब्द देखा? **अजीव के जीव का कर्मत्व...** अजीव का कार्य वह जीव का कार्य सिद्ध नहीं होता। अजीव का कार्य वह जीव का कार्य सिद्ध नहीं होता। इस शब्द का यह अर्थ है। समझ में आया? आहाहा!

एक ही सिद्धान्त गजब करते हैं न! पूरी दुनिया को विभाजित कर डाला। प्रत्येक द्रव्य अपनी-अपनी पर्याय को करे और वह पर्याय तादात्म्य द्रव्य के साथ भले हो। बस! बाकी पर के साथ उसका कुछ (सम्बन्ध नहीं है)। शब्द तो यहाँ अजीव का कार्य जीव करे नहीं, ऐसा कहा है। परन्तु दूसरे जीव का कार्य भी दूसरा जीव करे, ऐसा भी नहीं है। यह ऐसे अधिक लिया। क्योंकि अजीव बहुत अधिक हैं। जीव से अनन्तगुणे अजीव हैं। आहाहा! और अनन्तगुणे अजीव के कार्य समय-समय में भिन्न-भिन्न होते देखना मेरी व्यवस्था है, इसलिए यह भिन्न-भिन्न होते हैं, मेरा लक्ष्य बराबर वहाँ है, इसलिए वे व्यवस्थित जड़ के कार्य (होते) हैं, ऐसा माननेवाले को यहाँ झूठा सिद्ध करते हैं। समझ में आया? आहाहा!

अजीव के जीव का कर्मत्व... जीव का कर्मपना अजीव के, ऐसा नहीं लिया। परन्तु अजीव का कार्य जीव का सिद्ध नहीं होता। आहाहा! है या नहीं अन्दर? देखो न! आहाहा! अब यहाँ कहे कि पर की दया पालो। जीव पर की दया पाल नहीं सकता। जीव को दया के भाव आवें, वह भी राग और जीव की स्वयं की हिंसा है। आहाहा! पर की (दया) कर सकता तो नहीं परन्तु पर जीव की दया का भाव आवे तो कहते हैं कि वह भी काम राग है। परन्तु यहाँ तो यह सिद्ध नहीं करना किन्तु उसकी गौणता में यह सब आ जाता है। अजीव का कर्म जीव का नहीं, इतना यहाँ सिद्ध करना है क्योंकि अधिक अजीव हैं। सब ऐसे अनन्तगुणे दिखने में आते हैं और जहाँ हो, वहाँ उसे सवेरे उठे, मुँह साफ करे। क्या आता है वह? ब्रश। कहते हैं कि वह कार्य जीव का नहीं है, ऐसा सिद्ध करते हैं।

मुमुक्षु : जीव का नहीं परन्तु ब्रश का है।

पूज्य गुरुदेवश्री : ब्रश का भी नहीं। यहाँ तो अजीव का कार्य जीव (का) नहीं, इतना सिद्ध करना है, परन्तु उसमें सब भाग आ जाते हैं। आहाहा! कंघा उन बालों को खेंचता नहीं, बाल को छूता भी नहीं और बाल पृथक् पड़ते हैं। आहाहा! अब पूरे दिन इस धन्धे में तो 'मैं करूँ, मैं करूँ यही अज्ञान है, मैं करूँ, मैं करूँ यही अज्ञान है, गाड़ी का भार ज्यों श्वान खींचे।' यह गाड़ी चलती हो और नीचे ठूठ से, पीछे कुत्ता नीचे खड़ा हो तो उसे वह ठूठ स्पर्श करता हो (तो मानता है कि) उसके कारण गाड़ी चलती है। इसी प्रकार यह दुकान पर बैठा। नौकर व्यवस्थित काम नहीं कर सकता, ऐसा मैं बराबर व्यवस्थित काम कर सकता हूँ। ग्राहक को सम्हाल सकता हूँ, ले-दे सकता हूँ। आहाहा! ऐसे अजीव के काम को, अजीव की पर्याय को जीव कारण होकर करे, यह सिद्ध नहीं होता। आहाहा! यह सब कारखाने चलाते हैं। ऐसे चांप दबाये, वहाँ चले, चांप ऐसे करे वहाँ बन्द हो जाए, लो! आहाहा!

यह बात सिद्ध करके सिद्ध इतना करना है। जीव का कार्य जीव करे परन्तु जीव अजीव का न करे, यह सिद्ध करना है। ऐसे अजीव का अजीव कर्ता और जीव का कर्म कर्म, ऐसा नहीं है। परन्तु जीव कर्ता और अजीव का कर्म, वह किसी प्रकार सिद्ध नहीं होता। आहाहा! क्योंकि अधिक तो पूरा चलता ही यह है न, इसलिए (ऐसा कहा है)। पूरे दिन हाथ-पैर हिले, ऐसे हिलाना, ऐसे हिलावे। खाने के समय भी रोटी को अंगुलियाँ ऐसे-ऐसे करे, टुकड़े करे, टुकड़े करे, वह अजीव का कार्य, जीव का कार्य सिद्ध नहीं होता। आहाहा! अँगुली को जैसे मोड़ना हो तो मुड़े, सब्जी को स्पर्श करे। क्या कहलाता है वह? चटनी। चटनी को ले, तब ऐसे ले; सब्जी को ले, तब ऐसे ले; रोटी लेते हुए ऐसे टुकड़े करे, रोटी के टुकड़े ऐसे करे, उसे तोड़े। वह अजीव की पर्याय का कर्म अर्थात् कार्य उस-उस समय में वह पर्याय उस अजीव में होती, उसका कर्म जीव को सिद्ध नहीं होता। आहाहा! ऐसी बात है। एकान्त है, ऐसा करके निकाल डालता है। लोग एकान्त है, अनेकान्त चाहिए। कथंचित निश्चय से कर नहीं सकता, व्यवहार से कर सकता है।

मुमुक्षु : व्यवहार से ऐसा कहा जाता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : कहा जाता है, वह तो बोला जाता है। उसमें क्या है? बोले, वह

कौन बोलता है ? बोलता है दूसरा। आत्मा कहाँ बोलता है ? आहाहा! वीतराग मार्ग इसके अतिरिक्त कहीं अन्यत्र सत् है ही नहीं। परमात्मा त्रिलोकनाथ... आहाहा! मुनि को भी यह दरकार नहीं है। मुनि तो भगवान करके बुलाकर (कहते हैं कि) प्रभु! तेरा कार्य अजीव का नहीं है, हों! आहाहा! भगवान! अजीव अनन्त यह जो दिखते हैं, परमाणु, होंठ, शरीर, वाणी, मन, पैसा, लक्ष्मी, दाल, भात, सब्जी, वस्त्र, कपड़े, गहने, मकान... आहाहा! उसके उस-उस समय का वह कार्य जीव का कर्म अर्थात् कार्य; जीव का नहीं है। आहाहा!

मुमुक्षु : जीव अपने में अपनी पर्याय चाहे जैसी कर सकता है, पर में नहीं कर सकता।

पूज्य गुरुदेवश्री : चाहे जैसी नहीं। वह पर्याय आती है, उसे ही कर सकता है। चाहे जैसी नहीं। जिस समय की वह पर्याय आती है, उसी रूप परिणमता है।

मुमुक्षु : उसके ऊपर जोर क्यों नहीं देते ?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह आ गया अन्दर। सर्व द्रव्य आया न ? **सर्व द्रव्यों का अपने परिणामों के साथ तादात्म्य है।** अपने-अपने परिणाम के साथ (तादात्म्य है), पर के साथ कुछ सम्बन्ध नहीं है। यह पहले सामान्य आ गया। और यह अब अजीव का (कार्य) बहुत है, पूरे दिन अजीव का खाना, पीना, बोलना, चलना, पुस्तक लिखना, गहने, लेना-देना, ग्राहक, माल आया, माल दिया और माल रखा और इतना रखा तथा इतना दिया और इतना... ऐई! शान्तिभाई! इतने जवाहरात बिके और इतने काम करनेवाले पच्चीस व्यक्ति हैं और उनसे इतने गहने साफ हुए और इतने पैसे गये तथा इतने पैदा हुए। आहाहा! बहुत कठिन काम।

यहाँ यह शब्द लेना है। **अजीव के जीव का कर्मत्व...** आहाहा! समझ में आया ? परमाणु से लेकर स्कन्ध। रोटी, दाल, भात, सब्जी, हाथ, दाढ़, जीभ किसी भी जड़ का कार्य जीव का सिद्ध नहीं होता। क्योंकि अजीव में उस-उस समय में वह पर्याय उसमें उत्पन्न होती है। आहाहा! इसलिए अजीव को जीव का कार्यपना (सिद्ध नहीं होता)। वजन यहाँ दिया है। यह सब कहा सब। कोई द्रव्य किसी द्रव्य का करता नहीं, ऐसी बात तो सब आयी, परन्तु अधिक वजन यहाँ दिया है। क्योंकि यह बाहर में सर्वत्र अजीव की चीज़ में क्षण-क्षण में इसे अभिमान होता है। आहाहा! लिखने में, बोलने में, खाने में, पीने में, बाँटने

में, माल लाने में। ऐई! कान्तिभाई! जंगल में से लकड़ियाँ लाने में। आहाहा! इसका यह किया और इसका यह किया और इसका यह किया। आहाहा! यह तो स्थिर हो गये की बातें हैं, बापू!

तू तेरे परिणाम में रहे। उस परिणाम के साथ तादात्म्य तुझे है। दूसरे के परिणाम के साथ तादात्म्य नहीं। इसलिए उस परिणाम का कार्य तेरा नहीं है। वह अजीव का कार्य जीव का नहीं है। आहाहा! योगफल यहाँ लिया है। पहले सर्व द्रव्यों का लेकर अन्त में अजीव बहुत है (और) पूरे दिन इसकी नजरें वहाँ ही जाती है। आहाहा! श्वास ले सकता हूँ, श्वास छोड़ सकता हूँ, श्वास रोक सकता हूँ। आहाहा! ऐसे अजीव के कार्य को जीव का कार्यपना सिद्ध नहीं होता। आहाहा! अभी पाँच मिनिट की देर है न? पौने नौ में पाँच... आहाहा!

और उसके (अजीव के जीव का कर्मत्व) सिद्ध न होने पर, कर्ता-कर्म की अन्य निरपेक्षतया... आहाहा! टीका तो टीका है। **कर्ता-कर्म की अन्य निरपेक्षतया...** पर का कार्य जीव की अपेक्षा बिना, इसी तरह जीव का कार्य पर की अपेक्षा बिना निरपेक्षरूप से—अपेक्षा ही नहीं, कि यह है, इसलिए यह हुआ—ऐसी अपेक्षा ही नहीं है। आहाहा! यह लकड़ी अपने आप क्यों ऊँची नहीं होती? कहते हैं, अपने आप ऊँची होती है। इस ऊँची का कर्म जीव का कार्य नहीं है। आहाहा! उस समय का अजीव का कर्म जीव का नहीं है। जीव ने उस लकड़ी को ऊँचा किया नहीं है। आहाहा! ऐसी बात है।

मुमुक्षु : जीव को भावशक्तिरहित सिद्ध किया।

पूज्य गुरुदेवश्री : भावशक्तिवाला सिद्ध किया। अनन्त भावशक्ति है। पर का कार्य नहीं और उसका ज्ञाता-दृष्टा (रहे), ऐसी अनन्त शक्ति है। अनन्त-अनन्त आत्मा से विरुद्ध अनन्त अजीव, वे अनन्त-अनन्तगुणे अजीव के—कर्म के—कार्य को नहीं करता उस काल में, उस काल में उसे जानता हुआ, देखता हुआ अनन्त सामर्थ्यवाला भगवान है। जानने-देखनेवाला अनन्त सामर्थ्यवाला है। पर के काम करने के सामर्थ्यवाला नहीं है। पर के कार्य के लिये पंगु है। परन्तु पर और स्व को जानने के लिये... आहाहा! अनन्त पुरुषार्थ है, अनन्त पुरुषार्थी है।

यहाँ योगफल तो यह लिया न? **(अजीव के जीव का कर्मत्व) सिद्ध न होने**

पर, कर्ता-कर्म की अन्य निरपेक्षतया... जड़ का कार्य जीव की अपेक्षा बिना होता है। यह हाथ हिलता है, वह आत्मा की अपेक्षा बिना हाथ हिलता है। आहाहा! 'दया वह सुख की बेलडी, दया वह सुख की खान, अनन्त जीव मुक्ति गये, दया के प्रमाण।' यहाँ कहते हैं कि पर की दया का कार्य जीव का है ही नहीं। वह परजीव का कार्य इसका है ही नहीं। आहाहा! इसका शरीर जो निभा और टिका, तूने कुछ मदद की इसलिए टिका है—ऐसा है ही नहीं। आहाहा! एक-दूसरे के सहयोग से रह सके तो शान्ति रहे, एक-दूसरे को सहायक हो तो शान्ति रहे। यह यहाँ है ही नहीं, ऐसा कहते हैं। आहाहा! शान्ति तो स्वयं से स्वयं में रहती है। पर का कार्य मेरा नहीं है। आहाहा! मेरा तो जानने-देखने का कार्य है। वह जानने-देखने के परिणाम के साथ तादात्म्य हूँ। उन जानने-देखने के कार्य का कर्ता हूँ, इतना यहाँ सिद्ध करना है। परन्तु पर के साथ कुछ सम्बन्ध नहीं है। विशेष कहेंगे.....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ३८४, श्लोक-१९५, गाथा - ३०८ से ३१३ सोमवार, माघ शुक्ल ४
दिनाङ्क - ०४-०२-१९८०

भावार्थ :- समयसार ३०८ से ३११ गाथा का भावार्थ। **सर्व द्रव्यों के...** सभी द्रव्य लिये हैं, छहों द्रव्य। **परिणाम भिन्न-भिन्न हैं।** प्रत्येक द्रव्य के परिणाम भिन्न-भिन्न हैं। **सभी द्रव्य अपने-अपने परिणामों के कर्ता हैं;...** प्रत्येक द्रव्य अपने-अपने परिणाम अर्थात् पर्याय का कर्ता वह द्रव्य है। **वे उन परिणामों के कर्ता हैं,...** वह-वह द्रव्य उस-उस परिणाम का कर्ता है और **वे परिणाम उनके कर्म (कार्य) हैं।** कर्ता और कर्म अभिन्न कहा। उन परिणामों का कर्ता वह है और परिणाम उसका कार्य है। अर्थात् कर्ताकर्म सब अभिन्न है। कर्ता दूसरा और कर्म-कार्य दूसरे का, दूसरे में—ऐसा कोई सम्बन्ध नहीं है।

निश्चय से किसी का किसी के साथ कर्ताकर्म सम्बन्ध नहीं है। व्यवहार से कथन कहने में आता है परन्तु वह कुछ वस्तु नहीं है। **निश्चय से किसी का किसी के साथ कर्ताकर्म सम्बन्ध नहीं है।** आहाहा! **इसलिए जीव अपने ही परिणामों का**

कर्ता है,... जीव तो अपने को जो परिणाम होते हैं, उसका उसे कर्ता कहने में आता है। अभी यह बात सिद्ध करनी है। पर से भिन्न। बाकी परिणाम, परिणाम का कर्ता है, यह बात यहाँ गौण रखी है। **जीव अपने ही परिणामों का कर्ता है,...** यहाँ तो द्रव्य जो है, द्रव्य, उस होते हुए परिणाम का वह कर्ता है, ऐसा कहकर दूसरा द्रव्य उसका कर्ता नहीं है, (ऐसा सिद्ध करना है)। आहाहा! समय-समय में प्रत्येक जीव के परिणाम उसका कार्य है और कर्ता वह जीवद्रव्य है। परद्रव्य के परिणाम के साथ उसे कुछ सम्बन्ध नहीं है। आहाहा! इस शरीर के, वाणी के, कर्म के, मन के परिणाम के साथ जीव को कोई सम्बन्ध नहीं है। अपने परिणाम कर्ता और स्वयं उसका कर्म।

इसी प्रकार अजीव अपने परिणामों का ही कर्ता है,... परमाणु, यह प्रत्येक शरीर आदि उसकी जो यह पर्याय होती है उसका कर्ता वह अजीव है। हिलने—चलने की क्रिया होती है, बोलने की क्रिया होती है, उसका कर्ता वह अजीव है, जीव नहीं। आहाहा! ऐसा पर से अत्यन्त निवृत्त। एक समय में दो के परिणाम साथ में होने पर भी दूसरे के परिणाम का दूसरा जीव कर्ता नहीं है। उसके परिणाम का कर्ता वह और इसके परिणाम का कर्ता जीव। **इसी प्रकार अजीव अपने परिणामों का ही कर्ता है,...** शरीर, यह वाणी, यह मन। आहाहा! उस-उस काल में उस परिणाम का वह कर्ता वह द्रव्य अजीव है। अजीव के परिणाम का कर्ता जीव निमित्तरूप से दिखता है, इसलिए वह कर्ता नहीं है। निमित्तरूप से भले हो। निमित्तपना कहेंगे परन्तु कर्ता नहीं है। निमित्त उसका कर्ता नहीं है, नहीं तो निमित्त नहीं कहलायेगा। नहीं तो उपादान हो जाएगा। यह कहेंगे।

अपने परिणाम कर्म हैं। अपने परिणाम कर्ता और उसका कर्म स्वयं कर्म-कार्य, कर्म अर्थात् कार्य। **इसी प्रकार जीव दूसरे के परिणामों का अकर्ता है।** आहाहा! धन्धा-पानी, यह व्यापार, इन सब पदार्थ का कर्ता आत्मा नहीं है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! खाने-पीने की क्रिया, बोलने की, चलने की क्रिया, उस परिणाम का कर्ता आत्मा नहीं है। उस-उस काल में वे अजीव के परिणाम उसका कर्म और उसका कर्ता वह अजीव है। निमित्ताधीन दृष्टिवाले को निमित्त से होता है, ऐसा उसे मानता है। निमित्त आया, इसलिए वे परिणाम हुए। यहाँ कहते हैं, उसके परिणाम (हों), उस काल में भले निमित्त हो, निमित्त कहेंगे आगे कहेंगे। तथापि उस निमित्त से परिणाम होते नहीं। **इसी प्रकार जीव दूसरे के परिणामों का अकर्ता है।**

कलश - १९५

'इस प्रकार जीव अकर्ता है, तथापि उसे बन्ध होता है, यह अज्ञान की महिमा है' इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं-

(शिखरिणी)

अकर्ता जीवोऽयं स्थित इति विशुद्धः स्वरसतः,
स्फुरच्चिज्ज्योतिर्भिश्छुरितभुवनाभोगभवनः ।
तथाप्यस्यासौ स्याद्यदिह किल बन्धः प्रकृतिभिः,
स खल्वज्ञानस्य स्फुरति महिमा कोऽपि गहनः ।।१९५।।

श्लोकार्थ : [स्वरसतः विशुद्धः] जो निजरस से विशुद्ध है, और [स्फुरत्-चित्-ज्योतिर्भिः छुरित-भुवन्-आभोग-भवनः] जिसकी स्फुरायमान होती हुई चैतन्य ज्योतियों के द्वारा लोक का समस्त विस्तार व्याप्त हो जाता है, ऐसा जिसका स्वभाव है, [अयं जीवः] ऐसा यह जीव [इति] पूर्वोक्त प्रकार से (परद्रव्य का तथा परभावों का) [अकर्ता स्थितः] अकर्ता सिद्ध हुआ, [तथापि] तथापि [अस्य] उसे [इह] इस जगत में [प्रकृतिभिः] कर्म प्रकृतियों के साथ [यद् असौ बन्धः किल स्यात्] जो यह (प्रगट) बन्ध होता है। [सः खलु अज्ञानस्य कः अपि गहनः महिमा स्फुरति] सो वह वास्तव में अज्ञान की कोई गहन महिमा स्फुरायमान है।

भावार्थ : जिसका ज्ञान सर्व ज्ञेयों में व्याप्त होनेवाला है, ऐसा यह जीव शुद्धनय से परद्रव्य का कर्ता नहीं है, तथापि उसे कर्म का बन्ध होता है, यह अज्ञान की कोई गहन महिमा है-जिसका पार नहीं पाया जाता।।१९५।।

कलश - १९५ पर प्रवचन

इस प्रकार जीव अकर्ता है... जीव का उसका स्वभाव पर का अकर्ता है। **तथापि उसे बन्ध होता है,...** क्या है यह ? विस्मयता यह तो क्या ? जीव दूसरे द्रव्य के परिणाम का कर्ता नहीं है, तथापि... आहाहा! उसे बन्ध होता है। उनके परिणाम का कर्ता नहीं, तथापि बन्ध होता है। **यह अज्ञान की महिमा है...** आहाहा! गहन महिमा है, ऐसा

कहेंगे। आहाहा! कलश में तो ऐसा कहेंगे। क्या कहते हैं यह? प्रत्येक परमाणु अपनी पर्याय को करे, उसका कर्ता वह और निमित्त उसका कर्ता नहीं, तथापि उस आत्मा में बन्ध होता है, वह कोई अज्ञान की गहन महिमा है। अज्ञान की कोई गहन (महिमा है) कि कर्तापना नहीं होने पर भी उसे बन्ध होता है, यह अज्ञान की महिमा है। आहाहा! **इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं–**

अकर्ता जीवोऽयं स्थित इति विशुद्धः स्वरसतः,
स्फुरच्चिज्ज्योतिर्भिश्छुरितभुवनाभोगभवनः।
तथाप्यस्यासौ स्याद्यदिह किल बन्धः प्रकृतिभिः,
स खल्वज्ञानस्य स्फुरति महिमा कोऽपि गहनः॥१९५॥

आहाहा! क्या है यह तो? कर्ता नहीं और बन्ध होता है! परद्रव्य का कर्ता नहीं, कर्म का और कर्म की प्रकृति का जीव के साथ बन्ध होता है। कर्ता नहीं और बन्ध होता है, यह अज्ञान की महिमा है, ऐसा कहते हैं। आहाहा!

'**स्वरसतः विशुद्धः**' भगवान आत्मा **जो निजरस से विशुद्ध है,...** अपने स्वभाव से शुद्ध स्वभाव से स्वरस—स्वशक्ति, स्वसामर्थ्य के स्वरस से तो वह विशुद्ध है। आहाहा! प्रत्येक भगवान आत्मा निजरस से तो विशुद्ध है। अपने रस के स्वभाव से ज्ञानरस है, आनन्दरस, शान्तरस, वीतरागरस... आहाहा! ऐसे निजरस से तो वह विशुद्ध ही है। विशुद्ध (शब्द) तो शुभभाव को भी प्रयोग किया जाता है परन्तु यहाँ वह नहीं है, यहाँ शुद्ध को विशुद्ध कहा है। विशुद्ध, शुभभाव को भी विशुद्ध कहने में आता है। अशुभ की अपेक्षा से। परन्तु यह विशुद्ध है, वह तो निर्मल है। आहाहा! स्वरस से—अपनी ताकत से, अपने स्वभाव के सामर्थ्य से भगवान आत्मा अपने स्वभाव के सामर्थ्य से विशुद्ध है। उसकी विशुद्धता के लिये किसी द्रव्य की अपेक्षा नहीं है। निजरस से ही विशुद्ध है, अपने स्वभाव से ही वह विशुद्ध है।

और... 'स्फुरत्–चित्–ज्योतिर्भिः छुरित–भुवन्–आभोग–भवनः' जिसकी चैतन्य ज्योति प्रगट होने पर **स्फुरायमान होती हुई चैतन्य ज्योतियों के...** आहाहा! विशुद्ध चैतन्य स्वभाव, उसकी प्रगट होती **चैतन्य ज्योतियों के द्वारा लोक का समस्त**

विस्तार व्याप्त हो जाता है... अर्थात् कि सबको जान लेता है। सबको जाननेवाला है। पूरे लोकालोक को वह जाननेवाला है। चैतन्य की विशुद्ध ज्योति द्वारा लोकालोक को वह जाननेवाला है। आहाहा!

ऐसा जिसका स्वभाव है,... ऐसा जिसका स्वभाव है। विशुद्ध है, निजरस से और लोकालोक को जाने, ऐसा उसका स्वत: स्वभाव है—ऐसा कहते हैं। है न? **ऐसा जिसका स्वभाव है,...** वह जीव, तथापि... आहाहा! स्वरस से विशुद्ध त्रिकाल और जिसकी चैतन्य ज्योतियाँ प्रगट होने से लोकालोक को जाने, ऐसा उसका स्वभाव है। पर्याय का भी ऐसा उसका स्वभाव है। चैतन्य ज्योति प्रगट होने पर वस्तु शुद्ध है, वैसे पर्याय भी शुद्ध लोकालोक को जानने को स्वयं के कारण से समर्थ है। लोकालोक है, इसलिए जानता है, ऐसा भी नहीं है। आहाहा! उसका स्वभाव ही ऐसा है, ऐसा कहते हैं। कहा न?

लोक का समस्त विस्तार व्याप्त हो जाता है, ऐसा जिसका स्वभाव है,... ऐसा कहा। आहाहा! इस लोक को जानने के लिये, लोक है, इसलिए (जानता है)—ऐसा भी नहीं है, उसका स्वभाव ही ऐसा है। चैतन्य ज्योति प्रगट होती है, वह लोकालोक को जाने—ऐसा जिसका स्वभाव है; करे—ऐसा उसका स्वभाव नहीं है। किसी चीज़ को करे... आहाहा! ऐसा उसका स्वभाव नहीं है परन्तु यह स्वभाव है। सब चीज़ों को जानना, ऐसा उसका स्वभाव है। बाकी रखे बिना, अपनी चैतन्य ज्योति से सबको विस्तार से जानना, ऐसा स्फुरायमान जिसका स्वभाव है। आहाहा!

'**अयं जीव:**' अरेरे! यह ऐसा जीव होने पर भी; द्रव्य से शुद्ध है और पर्याय की प्रगट ज्योति होने पर सबको जाने, ऐसा जिसका स्वभाव है-ऐसा कहते हैं। आहाहा! वस्तु शुद्ध है और उसकी प्रगट होती चैतन्य ज्योतियाँ लोकालोक को जाने, ऐसा उसका अपना स्वभाव है। लोकालोक के कारण से नहीं, स्वयं का ही ऐसा स्वभाव है। ऐसा होने पर भी, द्रव्य और पर्याय में ऐसी ताकत होने पर भी। आहाहा!

ऐसा यह जीव पूर्वोक्त प्रकार से (परद्रव्य का तथा परभावों का) अकर्ता... सिद्ध है। इस प्रकार से परभावों का आत्मा अकर्ता सिद्ध हुआ। सिद्ध है अर्थात् सिद्ध हुआ। अर्थात् ऐसा ही है। आहाहा! वस्तु से शुद्ध है और उसकी पर्यायें प्रगट होने पर लोकालोक

को जाने, ऐसा उसका स्वभाव है, इस प्रकार से वह जीव सिद्ध है, इस प्रकार से जीव सिद्ध है। आहाहा! उसे ऐसा होने पर भी, **तथापि...** ऐसा कहा न? आहाहा! द्रव्य विशुद्ध और चैतन्य ज्योति की प्रगटता भी सर्व को जाने, ऐसा जिसका स्वतः अपना स्वभाव ही ऐसा है। ऐसा जीव होने पर भी **तथापि उसे इस जगत में कर्म प्रकृतियों के साथ...** आहाहा! जो यह बन्ध होता है, अरे रे! यह क्या? कहते हैं। जिसका द्रव्य और पर्याय तो ऐसा है, शक्ति ऐसी है, तथापि उसे कर्म की प्रकृति के साथ बन्ध होता है। आहाहा! **बन्ध होता है।**

'**यद् असौ बन्धः किल स्यात्**' निश्चय से प्रगट बन्ध होता दिखता है। '**सः खलु अज्ञानस्य कः अपि गहनः महिमा स्फुरति**' आहाहा! अन्दर में कोई ऐसी अज्ञानदशा की गहन महिमा (है कि) जिसे प्रकृति का सम्बन्ध होता है। सम्बन्ध होता है, वह बन्ध होता है, ऐसा। नहीं तो सम्बन्ध नहीं है। उसे तो ज्ञेय-ज्ञायक सम्बन्ध है। यह पर को जानना, ऐसा स्वतः अपना स्वभाव है। ऐसा होने पर भी उसे प्रकृति के साथ जो बन्ध होता है, वह कोई अज्ञान की गहन महिमा है। आहाहा!

वह वास्तव में अज्ञान की कोई गहन महिमा स्फुरायमान है। आहाहा! यह उसे प्रगट है, कहते हैं। है सबको जाननेवाला स्वभाव, तो भी किसी अज्ञान की ऐसी कोई महिमा उसके स्फुरायमान है कि जिसके प्रकृति के साथ सम्बन्ध दिखता है। प्रकृति के साथ बन्ध ऐसा सम्बन्ध दिखता है। आहाहा! चैतन्यज्योति स्वयं स्फुरायमान, स्वयं स्वतः उसकी चैतन्य ज्योतियाँ भी स्वतः स्वभाव है, तो भी उसे कोई प्रकृति के साथ सम्बन्ध (होता है), उसका स्वभाव और प्रगट ज्योतियों में स्वभाव नहीं तो भी वह बन्ध होता है, यह कोई अज्ञान की महिमा है। आहाहा! यह वस्तु के स्वरूप का अज्ञान, वह ऐसी चीज़ है, उसका अज्ञान, वह बन्ध का निमित्त होता है। आहाहा! वास्तव में अज्ञान की कोई अगम्य महिमा है। यह अज्ञान की महिमा वास्तव में पर के कारण है, ऐसा भी नहीं है।

वास्तव में, ऐसा कहा न? '**खलु अज्ञानस्य**' अपनी अज्ञान की कोई गहन महिमा है। आहाहा! उसकी पर्याय में अज्ञान की कोई गहन महिमा है कि जो प्रकृति का सम्बन्ध हो, ऐसा अज्ञान गजब होता है, कहते हैं। आहाहा! जिसके द्रव्य और पर्याय में ऐसा स्वभाव नहीं है, द्रव्य और पर्याय दोनों में ऐसा स्वभाव नहीं है, तथापि किसी पर्याय में ऐसी अज्ञान

महिमा स्वयं के कारण से... आहाहा! कर्म के कारण से नहीं। गहन अज्ञान महिमा, जिसकी खबर नहीं, जिसकी खबर नहीं, ऐसी कोई अज्ञान महिमा है। ऐसा भगवान आत्मा द्रव्य और पर्याय से शुद्ध और स्फुट—प्रगट होने पर भी उसकी स्वयं की कोई अज्ञान महिमा के कारण प्रकृति का सम्बन्ध, बन्ध दिखता है। आहाहा! विस्मयता बताता है। प्रकृति का सम्बन्ध तो कोई विस्मय है। कहते हैं, वस्तु को यह होता नहीं। आहाहा! वह वस्तु देखने पर उसे यह होता ही नहीं, यह वस्तु और वस्तु की प्रगटता, चैतन्य ज्योतियों की प्रगटता, उसे देखने पर उसको कर्म का सम्बन्ध होता ही नहीं। आहाहा! परन्तु कोई अज्ञान की गहन महिमा स्फुरायमान है। वह भी प्रगट की है, कहते हैं। पहला जो प्रगट होना चाहिए, सबको जानना ऐसा स्फुरायमान—प्रगट होना चाहिए। उसके बदले अज्ञान की महिमा स्फुरायमान है, उसके स्थान में, उसकी जगह... आहाहा! अज्ञान की महिमा स्फुरायमान है। कर्म के कारण नहीं। ऐसा नहीं। प्रकृति के कारण नहीं, कर्म के कारण नहीं। उसका ही अपना स्वभाव ऐसा होने पर भी, अज्ञान की महिमा स्फुरायमान होती है, वह प्रगट होती है, कहते हैं। आहाहा! अज्ञान कोई इस प्रकार से प्रगट होता है, कि जिससे उसे कर्म का सम्बन्ध होता है। आहाहा! यह कोई गहन महिमा है। आहाहा! गहन महिमा का अर्थ टीकाकार (करते हैं)।

भावार्थ :– जिसका ज्ञान सर्व ज्ञेयों में व्याप्त होनेवाला है... यह तो शुद्ध प्रभु, द्रव्य तो शुद्ध है परन्तु सर्व ज्ञेयों को जानने में व्यापनेवाला है, ऐसा जिसका स्वतः स्वयंसिद्ध स्वभाव है। आहाहा! सर्व ज्ञेयों-प्रकृति से लेकर सब। सर्व ज्ञेयों को... आहाहा! व्यापनेवाला अर्थात् जाननेवाला है। **ऐसा यह जीव शुद्धनय से परद्रव्य का कर्ता नहीं है,...** अपने स्वभाव की दृष्टि से देखें तो वह परद्रव्य का कर्ता नहीं है। शुद्धनय अर्थात् स्वभावदृष्टि। स्वभावदृष्टि से देखें तो वह पर का कर्ता नहीं है। **तथापि उसे कर्म का बन्ध होता है,...** आहाहा! **यह अज्ञान की कोई गहन महिमा है...** उसकी पर्याय में, हों! यह। कर्म के कारण नहीं। आहाहा! कर्म के कारण कोई अज्ञान महिमा प्रगट हुई है, ऐसा नहीं है। आहाहा! ऐसा जो चेतन द्रव्य और स्फुरायमान चैतन्य ज्योति से सर्व ज्ञेयों को व्यापनेवाला, जाननेवाला ऐसा तत्त्व होने पर भी कोई अज्ञान की महिमा है। उस स्वरूप का जिसे ज्ञान नहीं है, ऐसे अज्ञान की कोई गहन महिमा है। आहाहा!

अर्थकार तो जरा कहते हैं। **तथापि उसे कर्म का बन्ध होता है, यह अज्ञान की कोई गहन महिमा है–जिसका पार नहीं पाया जाता।** ऐसा कर डाला। वस्तु शुद्ध, चैतन्यज्योति प्रगट पर्याय स्फुरायमान शुद्ध, ऐसा जिसका स्वरूप होने पर भी अज्ञान उसमें से कोई प्रगट होता है, यह क्या है ? जिसमें ज्ञान प्रगट होना, अज्ञान वह कोई द्रव्य और गुण पर्याय में है नहीं... आहाहा! परन्तु पर्याय में कोई अज्ञान की गहन महिमा पर्याय में प्रगट होती है। है वह, हों! ऐसा कहते हैं। वापस नहीं है, ऐसा नहीं है। अज्ञान की महिमा इसकी पर्याय में है। आहाहा! अज्ञान की गहन महिमा है तो है वह। वापस ऐसा कहा कि द्रव्य ऐसा और चैतन्य ऐसा, इसलिए उसमें अज्ञानपना है ही नहीं उसमें, पर्याय में अनादि संसार नहीं है—ऐसा नहीं है। अज्ञानपना है। आहाहा! जिसकी गहन महिमा है, जिसका पार पाना मुश्किल है। यहाँ तो कहते हैं पार पाना (ऐसा) तो नहीं, वह तो ठीक। इतना मुश्किल है। पार नहीं पाया जाता, ऐसा नहीं, परन्तु जिसका पार पाना महा गहन है। कोई अलौकिक कोई अचिन्त्य पुरुषार्थ उसमें है। आहाहा! जो अज्ञान की महिमा अचिन्त्य पुरुषार्थ से तोड़ डालता है, ऐसा जिसका स्वभाव है, उसमें भी जो अज्ञान महिमा उत्पन्न होती है, उसे अज्ञानपने में पार नहीं पाया जाता, भान होने पर उसका पार पा सकता है। आहाहा! उस स्वरूप का अज्ञान है, तब तक उसे पर्याय में गहन महिमा प्रकृति के सम्बन्ध का अज्ञान उत्पन्न होता है, तथापि इसकी शक्ति ऐसी है.... आहाहा! कि उस अज्ञान महिमा को क्षण में तोड़ सकता है। आहाहा! क्योंकि वह कोई मूल जाति नहीं है। वह कोई टिकती चीज़ नहीं है। टिकती चीज़ तो शुद्ध है और चैतनय ज्योतियाँ प्रगटे, वह टिकती हैं। चैतन्य द्रव्य शुद्ध है और उसकी चैतन्य ज्योतियाँ प्रगट हों, वे-वे टिकती हैं। यह अज्ञान टिकती चीज़ नहीं है। आहाहा! परन्तु कोई ऐसी अज्ञान महिमा खड़ी होती है। आहाहा!

ऐसा भगवान भरपूर आनन्द और ज्ञान का सागर, अनन्त गुण से भरपूर सागर, जिसकी प्रगटता में भी चैतन्यज्योतियाँ ही प्रगट होती हैं। आहाहा! ऐसा जिसका स्वरूप है, तथापि कोई उसकी पर्याय में... आहाहा! क्या होता है यह ? कि यह अज्ञान की महिमा है। स्वरूप का भान नहीं, इसलिए उसे अज्ञान की महिमा में कर्म का सम्बन्ध दिखाई देता है। बाकी वह कर्म सम्बन्धरहित भगवान है। आहाहा! उसका द्रव्य, गुण और पर्याय पर के सम्बन्धरहित है परन्तु कोई अज्ञान, स्वरूप के अज्ञान के कारण कर्म का सम्बन्ध है, वह

गहन है। उसे पार पाना महापुरुषार्थ है, ऐसा कहते हैं। पार नहीं पाया जाता अर्थात् ऐसा नहीं है। उसे पार पाने के लिये गहन पुरुषार्थ है।

जाति को देखना, जाति को देखने से अज्ञान का पार पा जाता है, ऐसी इसमें शक्ति है। आहाहा! इसकी जाति को देखने पर अज्ञान की गन्ध जिसमें नहीं, ऐसी इसमें ताकत है। यह अज्ञान को पार पा जाता है, अज्ञान का नाश कर सकता है, ऐसा कहते हैं। आहाहा! यह तो बात (हुई), परन्तु करना क्या इसमें? दया पालना या यह व्रत पालना? यह तो कहते हैं कि ये विकल्प इसके स्वरूप में है ही नहीं। यह प्रगट होता है तो चैतन्यज्योति प्रगट होती है, इसमें व्रत और अव्रत का विकल्प उत्पन्न हो, ऐसा तो इसका स्वरूप है ही नहीं। आहाहा! परन्तु कोई अज्ञान के कारण से उस स्वरूप का ख्याल नहीं है। वह चैतन्य महाप्रभु का इसे ख्याल नहीं है। यह कोई अलौकिक ख्यालवाली चीज़ में ख्याल नहीं, ऐसा कहते हैं। आहाहा! क्या कहा यह?

जो ख्यालवाली चीज़ है, ख्यालवाली ही चीज़ है, जाननेवाली चीज़ है। स्व-पर को जानने के स्वभाव से स्वतः भरपूर स्वभाव ही है। उस जाननेवाले को यह अजानपना, क्या हुआ यह? ऐसा कहते हैं। आहाहा! ऐसा जाननेवाला भगवान भरपूर भरा हुआ और उसकी स्फुरायमान ज्योतियाँ भी चैतन्य ही होती है। उसमें यह अज्ञान की स्फुरणा क्या हुई? आहाहा! यह अज्ञान उसमें आया कहाँ से? प्रकृति के कारण नहीं, द्रव्य की पर्याय के कारण नहीं; तथापि कोई पर्याय में अज्ञान (महिमा है)। आहाहा! इसकी पर्याय तो चैतन्यज्योति कही। प्रकाश... प्रकाश ऐसी जिसकी पर्यायें है, ज्योति है, उसमें अज्ञान क्या है? कोई गहन चीज़ है। आहाहा! जिसका पार ज्ञानी पा सकते हैं, अज्ञानी को पता नहीं लगता। आहाहा! ऐसा कहते हैं। पार नहीं पाता, इसका अर्थ पार पा जाता है। परन्तु अज्ञान यह क्या है वह? ज्ञानस्वरूप में यह अज्ञान क्या? ऐसा कहते हैं। जाननेवाला स्वभाव, जाननेवाला स्वभाव शक्ति, उसमें यह अज्ञान अर्थात् नहीं जानना, विपरीत जानना, वह क्या है यह? कोई गहन है, कहते हैं। परन्तु उसका पार पाया जा सकता है, उसका पार पाया जा सकता है। आहाहा!

गाथा - ३१२-३१३

चेदा दु पयडीअट्ठं उप्पज्जइ विणस्सइ।
पयडी वि चेययट्ठं उप्पज्जइ विणस्सइ।।३१२।।

एवं बंधो उ दोण्हं पि अण्णोण्णप्पच्चया हवे।
अप्पणो पयडीए य संसारो तेण जायदे।।३१३।।

चेतयिता तु प्रकृत्यर्थ-मुत्पद्यते विनश्यति।
प्रकृतिरपि चेतकार्थ-मुत्पद्यते विनश्यति।।३१२।।

एवं बन्धस्तु द्वयोरपि अन्योन्य-प्रत्ययाद्भवेत्।
आत्मनः प्रकृतेश्च सन्सारस्तेन जायते।।३१३।।

अयं हि आसन्सारत एव प्रतिनियतस्वलक्षणानिर्ज्ञानेन परात्मनोरेकत्वाध्यासस्य करणात्कर्ता सन् चेतयिता प्रकृतिनिमित्तमुत्पत्तिविनाशावासादयति; प्रकृतिरपि चेतयितृनिमित्तमुत्पत्तिविनाशावा-सादयति। एवमनयोरात्मप्रकृत्योः कर्तृकर्मभावाभावे-ऽप्यन्योऽन्यनिमित्तनैमित्तिकभावेन द्वयोरपि बन्धो दृष्टः, ततः सन्सारः, तत एव च तयोः कर्तृकर्मव्यवहारः।।३१२-३१३।।

(अब, अज्ञान की इस महिमा को प्रगट करते हैं-)

पर जीव प्रकृति के निमित्त जु, उपजता नशता अरे!
अरु प्रकृति का जीव के निमित्त, विनाश अरु उत्पाद है।।३१२।।

अन्योन्य के जु निमित्त से यों, बंध दोनों का बने।
इस जीव प्रकृती उभय का, संसार इससे होय है।।३१३।।

गाथार्थ : [चेतयिता तु] चेतक अर्थात् आत्मा [प्रकृत्यर्थम्] प्रकृति के निमित्त से [उत्पद्यते] उत्पन्न होता है [विनश्यति] और नष्ट होता है, [प्रकृतिः अपि] तथा प्रकृति भी [चेतकार्यम्] चेतक अर्थात् आत्मा के निमित्त से [उत्पद्यते] उत्पन्न होती है [विनश्यति] तथा नष्ट होती है। [एवं] इस प्रकार [अन्योन्यप्रत्ययात्] परस्पर निमित्त से [द्वयोः अपि]

दोनों का-[आत्मनः प्रकृतेः च] आत्मा का और प्रकृति का-[बन्धः तु भवेत्] बन्ध होता है, [तेन] और इससे [संसारः] संसार [जायते] उत्पन्न होता है।

टीका : यह आत्मा, (उसे) अनादि संसार से ही (अपने और पर के भिन्न-भिन्न) निश्चित स्वलक्षणों का ज्ञान (भेदज्ञान) न होने से दूसरे का और अपना एकत्व का अध्यास करने से कर्ता होता हुआ, प्रकृति के निमित्त से उत्पत्ति-विनाश को प्राप्त होता है; प्रकृति भी आत्मा के निमित्त से उत्पत्ति-विनाश को प्राप्त होती है (अर्थात् आत्मा के परिणामानुसार परिणमित होती है।) इस प्रकार-यद्यपि वे आत्मा और प्रकृति के कर्ताकर्मभाव का अभाव है, तथापि -परस्पर निमित्तनैमित्तिकभाव से दोनों के बन्ध देखा जाता है, इससे संसार है और इसी से उनके (आत्मा और प्रकृति के) कर्ताकर्म का व्यवहार है।

भावार्थ : आत्मा के और ज्ञानावरणादि कर्मों की प्रकृतियों के परमार्थ से कर्ता-कर्मभाव का अभाव है, तथापि परस्पर निमित्तनैमित्तिकभाव के कारण बन्ध होता है, इससे संसार है और इसी से कर्ताकर्मपन का व्यवहार है।

गाथा - ३१२-३१३ पर प्रवचन

(अब, अज्ञान की इस महिमा को प्रगट करते हैं-) ऐसा कैसे होता है? यह अज्ञान कैसे प्रगट होता है? स्वरूप में यह है नहीं, पर्याय में होने का स्वभाव नहीं। पर्याय में भी उसका अज्ञान होने का स्वभाव नहीं है, ऐसा कहते हैं। पर्याय में भी चैतन्यज्योतियाँ प्रगट हों, ऐसा उसका स्वभाव है। आहाहा! तथापि अज्ञान क्या हुआ? कैसे होता है? यह कहते हैं।

चेदा दु पयडीअट्ठं उप्पज्जइ विणस्सइ।
पयडी वि चेययट्ठं उप्पज्जइ विणस्सइ।।३१२।।
एवं बंधो उ दोण्हं पि अण्णोण्णप्पच्चया हवे।
अप्पणो पयडीए य संसारो तेण जायदे।।३१३।।

देखो, चेदा—चेतन, आत्मा **पयडीअट्ठं**—प्रकृति के लक्ष्य से।

नीचे हरिगीत। **पर जीव प्रकृति के निमित्त....** निमित्त जैसा शब्द आया, इसलिए

निमित्त का अर्थ (यह कि) अपना लक्ष्य वहाँ जाता है, ऐसा कहते हैं। निमित्त उसे कराता नहीं है, निमित्त करता नहीं है। लक्ष्य इस चैतन्य द्रव्य और उसकी ज्योतियाँ प्रगट प्रकाशमान होना चाहिए, वहाँ इसका लक्ष्य जाता नहीं, इसलिए इसका लक्ष्य निमित्त में जाता है। निमित्त से होता है, ऐसा नहीं। समझ में आया? आहाहा!

पर जीव प्रकृति के निमित्त जु, उपजता नशता अरे!
अरु प्रकृति का जीव के निमित्त, विनाश अरु उत्पाद है॥३१२॥

अन्योन्य के जु निमित्त से यों, बंध दोनों का बने।
इस जीव प्रकृती उभय का, संसार इससे होय है॥३१३॥

इसमें (से) निमित्तवाले निकालते हैं।

टीका :- यह आत्मा, (उसे) अनादि संसार से ही... ऐसा कहते हैं। यह कुछ नया नहीं, कहते हैं। अनादि संसार से ही **(अपने और पर के भिन्न-भिन्न) निश्चित स्वलक्षणों का ज्ञान (भेदज्ञान) न होने से...** इस कारण से। अज्ञान उत्पन्न होता है, इस कारण से (होता है)। किसी प्रकृति के कारण से नहीं। वह निमित्त है, 'चेदा अट्ठं' निमित्त के लक्ष्य से। निमित्त से नहीं, निमित्त के द्वारा नहीं, निमित्त के लक्ष्य से। आहाहा! **(अपने और पर के भिन्न-भिन्न) निश्चित स्वलक्षणों का ज्ञान (भेदज्ञान) न होने से दूसरे का और अपना एकत्व का अध्यास करने से...** देखो! पर का और अपना एकपने का अध्यास करने से, प्रकृति से नहीं। आहाहा! उसके द्रव्य, गुण, पर्याय से भी नहीं। मात्र पर के और अपने एकत्व का अध्यास करने से। इसने अध्यास किया है, वास्तविक स्वरूप नहीं है। इसमें पर्याय में पर का अध्यास—एकत्वबुद्धि की है।

एकत्व का अध्यास करने से कर्ता होता हुआ,... अज्ञान का। **प्रकृति के निमित्त से उत्पत्ति-विनाश को प्राप्त होता है;...** यहाँ निमित्तवाले जोर देते हैं। परन्तु यहाँ तो मात्र ऐसा कहना है कि प्रकृति के निमित्त से। स्वभाव नहीं, परन्तु प्रकृति के ऊपर उसका लक्ष्य जाता है। ऐसे लक्ष्य जाता नहीं तो ऐसे जाता है, ऐसा कहते हैं। जो वस्तु है, वहाँ लक्ष्य नहीं है, इसलिए इसका लक्ष्य तो कहीं जाना तो चाहिए, वह ऐसे निमित्त में जाता है। निमित्त द्वारा... है? **प्रकृति के निमित्त से...** अर्थात् प्रकृति के लक्ष्य से, स्वभाव के लक्ष्य को छोड़कर। आहाहा!

उत्पत्ति-विनाश को प्राप्त होता है;... प्रकृति के निमित्त से, इसमें जरा वजन है। प्रकृति के निमित्त से अर्थात् अपने स्वभाव से नहीं, परन्तु प्रकृति के लक्ष्य में जाने से। इसका लक्ष्य यहाँ जाना चाहिए, उसके बदले लक्ष्य ऐसे जाता है। चैतन्यस्वभाव पर ऐसे लक्ष्य लेना चाहिए, वह न जाने से अज्ञान के कारण पर के ऊपर लक्ष्य जाता है। पर से होता नहीं, पर के कारण होता नहीं, पर इसे स्पर्श नहीं करता, पर को यह स्पर्श नहीं करता। आहाहा! तथापि **प्रकृति के निमित्त से...** यह निमित्तवाले यहाँ जोर देते हैं। प्रकृति के निमित्त का अर्थ यह। अपना लक्ष्य छोड़कर पर का लक्ष्य करता है, इसलिए वह निमित्त हुआ। किया लक्ष्य पर के ऊपर, इसलिए निमित्त हुआ, ऐसा। निमित्त ने किया है और कराया है, ऐसा नहीं है। आहाहा!

प्रकृति के निमित्त से उत्पत्ति-विनाश को प्राप्त होता है;... आहाहा! स्वयं पर में लक्ष्य करने से प्रकृति के निमित्त से अर्थात् प्रकृति का तो निमित्त है, उसके लक्ष्य से। आहाहा! उत्पत्ति-विनाश होता है। विकार उत्पन्न करे और विकार का नाश हो, यह निमित्त के लक्ष्य से है, वस्तु में है नहीं। आहाहा! पर्यायबुद्धि, वह निमित्त का लक्ष्य है, ऐसा कहते हैं। उसकी पर्यायबुद्धि है, द्रव्यबुद्धि नहीं, वस्तु की स्वभावबुद्धि नहीं; इसलिए पर्यायबुद्धिवाला पर के लक्ष्य में जाता है। आहाहा! पर के लक्ष्यवाला जीव उसके लक्ष्य से उत्पत्ति-विनाश पाता है। पर के लक्ष्य से उत्पत्ति और विनाश होता है। पर से नहीं, पर में नहीं, पर के कारण नहीं। आहाहा! मात्र पर के लक्ष्य से उत्पत्ति-विनाश पाता है। आहाहा! अपना जो लक्ष्य चाहिए चैतन्यमूर्ति भगवान शुद्ध स्फुरायमान ज्योति चैतन्य ज्योति, चैतन्य ज्योति उसमें प्रगट होना चाहिए। ऐसा न होने से पर के लक्ष्य से उत्पत्ति और विनाश, विकार को उत्पन्न करे और विकार नाश पावे, वह पर के लक्ष्य से करता है। पर उसे कराता नहीं है, उसका कर्ता पर नहीं है। आहाहा!

प्रकृति के निमित्त से... दोनों में निमित्त लेंगे, हों! पाठ में है न? '**चेदा दु पयडीअट्ठं उप्पज्जइ**' प्रकृति के लिये उपजता है, ऐसा पाठ है। लिये अर्थात् निमित्त से, ऐसा। '**चेदा दु पयडीअट्ठं उप्पज्जइ**' प्रकृति के लिये उपजे, विनशे। '**पयडी वि चेययट्ठं**' प्रकृति भी चेतना के लिये उपजे और विनशे। लिये उपजती है, इसका अर्थ यहाँ निमित्त किया। समझ में आया? आहाहा! गम्भीर बात है, भाई!

अनादि संसार से ही... पहले पर्याय में शुद्ध था और पश्चात यह अशुद्धता हुई, ऐसा नहीं है। **अनादि संसार से ही (अपने और पर के भिन्न-भिन्न) निश्चित स्वलक्षणों का ज्ञान न होने से...** आहाहा! स्वयं भगवान चैतन्य आनन्द, ज्ञानस्वरूपी विज्ञानघन, विज्ञानसागर का लक्ष्य नहीं होने से, राग से भिन्न पड़कर भेदज्ञान नहीं होने से **दूसरे का और अपना एकत्व का अध्यास...** राग और आत्मा के एकत्व का अध्यास **कर्ता होता हुआ,...** आहाहा! राग का कर्ता होता हुआ। राग का कर्ता अज्ञानरूप से कर्ता होता हुआ, परन्तु प्रकृति का नहीं, प्रकृति से यहाँ नहीं। आहाहा! यह आत्मा की पहली बात है।

प्रकृति के निमित्त से उत्पत्ति-विनाश को प्राप्त होता है;... अर्थात् यह क्या कहा? कि आत्मा को समय-समय में चैतन्यज्योति का उत्पाद होना चाहिए, उसके बदले निमित्त के लक्ष्य से विकार को उत्पन्न करे और विकार को नाश पाता है। आहाहा! निमित्त से नहीं, परन्तु अपनी पर्याय में, अपने अज्ञान के कारण प्रकृति के निमित्त का लक्ष्य करके प्रकृति के निमित्त से उपजता है—विनशता है। उसके लक्ष्य से उपजता और विनशता है अर्थात् विकार को उपजाता है और विकार को नाश करता है, मात्र पर के लक्ष्य से। पर से नहीं। समझ में आया? इसमें बड़ा अन्तर है। अर्थ करने में बड़ा अन्तर करते हैं। देखो! निमित्त से यहाँ कहा है।

प्रकृति के निमित्त से... निमित्त से है न? अर्थात् कि प्रकृति के लक्ष्य से। कोई द्रव्य किसी द्रव्य को स्पर्श नहीं करता, पर्याय पर्याय को स्पर्श नहीं करती। प्रकृति का निमित्त है, वह आत्मा निमित्त को कुछ स्पर्श नहीं करता, मात्र लक्ष्य करता है। आहाहा! अपना लक्ष्य छोड़कर, अपना भगवान परमानन्द ज्ञानस्वरूप है, उसकी चैतन्यज्योति, उसके लक्ष्य से—स्व के लक्ष्य से प्रगट होनी चाहिए, उस स्व के लक्ष्य से उत्पन्न होना चाहिए, उसे छोड़कर पर के लक्ष्य से राग और द्वेष उत्पन्न होता है तथा नाश होता है। आहाहा! इसका अर्थ करने में लोग बहुत अन्तर करते हैं।

प्रकृति के निमित्त से उत्पत्ति-विनाश को प्राप्त होता है;... प्रकृति के निमित्त से, जोर यहाँ देते हैं। अर्थात् प्रकृति के लक्ष्य से, ऐसा। निमित्त पर चीज़ है, उसके लक्ष्य से उत्पत्ति और विनाश पाते हैं। **प्रकृति भी आत्मा के निमित्त से...** अर्थात् आत्मा की उपस्थिति से। उसे वहाँ लक्ष्य नहीं है, प्रकृति को कुछ लक्ष्य नहीं है। परन्तु **आत्मा के**

निमित्त से... आहाहा! **उत्पत्ति-विनाश को प्राप्त होती है...** क्योंकि आत्मा जब पर के लक्ष्य से राग-द्वेष से उत्पन्न-विनाश पाता है, तब प्रकृति भी यह उत्पाद और विकार उत्पन्न-विनाश होता है, उसके निमित्त से, उसके आश्रय से प्रकृति भी उत्पन्न होती है। आहाहा! आत्मा के निमित्त से अर्थात् आत्मा के विकार के लक्ष्य से। लक्ष्य अर्थात् विकार के आश्रय से। लक्ष्य तो यहाँ जड़ है। आत्मा के आश्रय से, आत्मा की विकारदशा के आश्रय से **उत्पत्ति-विनाश को प्राप्त होती है...** प्रकृति आत्मा के विकार के आश्रय से उत्पत्ति और विनाश पाती है। आहाहा! दोनों में निमित्त शब्द प्रयोग किया है, निमित्त से नहीं। द्रव्य निमित्त को स्पर्श भी नहीं करता। निमित्त तो पहले सिद्ध किया। कोई किसी को स्पर्श नहीं करता है। आहाहा!

प्रकृति भी आत्मा के... 'भी' क्यों कहा? जैसे आत्मा प्रकृति के लक्ष्य से उत्पत्ति-विनाश पाता है, वैसे प्रकृति भी आत्मा के विकार के आश्रय से, आत्मा के विकार के आश्रय से, निमित्त अर्थात् आश्रय से उत्पत्ति-विनाश प्रकृति में होता है। आहाहा! गाथा सादी है परन्तु उसका भाव ऊँचा है, जरा गहरा है। आहाहा!

भगवान आत्मा चैतन्यज्योति स्फुरायमान प्रगट चैतन्य पर्याय (होती है), ऐसा ही उसका स्वभाव है। ऐसा होने पर भी, प्रकृति के लक्ष्य से विकार को उत्पन्न करे और नाश करता है। तथा प्रकृति भी जीव के विकार के आश्रय से उत्पत्ति और विनाश पाती है। यहाँ राग करे तो वहाँ तत्प्रमाण कर्म बँधता है। राग छूटे तो वहाँ कर्म छूटता है, ऐसा निमित्त-निमित्त सम्बन्ध है। कोई किसी का कर्ता-कर्म नहीं है। निमित्त-निमित्त सम्बन्ध है, कोई किसी का कर्ता-कर्म नहीं है। आहाहा! निमित्त-निमित्त सम्बन्ध एक अलग चीज़ है, कर्ता-कर्म अलग चीज़ है।

प्रकृति भी... आहाहा! कर्म के परमाणु भी आत्मा के विकार के आश्रय से अपने उपादान से उत्पत्ति और विनाश पाते हैं। समझ में आया इसमें? एक-दूसरे के निमित्त से होते हैं; इसलिए निमित्त से होते हैं—ऐसा नहीं है। निमित्त से होते हैं, ऐसा नहीं है। बड़ा घोटाला है। आहाहा! निमित्त के लक्ष्य से होते हैं और प्रकृति भी जीव के विकार के आश्रय से होती है। यहाँ विकार करते हैं, उसके आश्रय से प्रकृति स्वयं अपने कारण से उत्पत्ति और विनाश को पाती है। आहाहा! **प्रकृति भी आत्मा के निमित्त से...** आत्मा के परिणाम

अनुसार—ऐसा अर्थ किया न? **(अर्थात् आत्मा के परिणामानुसार परिणमित होती है।)** ऐसा। प्रकृति भी आत्मा के विकार के जो परिणाम हैं, तत्प्रमाण परिणमती है; तथापि वह परिणमना स्वयं को स्वयं की पर्याय का काल क्रमबद्ध का है। (तब) अनुसार उसका निमित्त, परन्तु परिणमने की योग्यता तो स्वयं की, उस कर्म की उस प्रकार से, उस समय में, वह पर्याय होने की योग्यता से प्रकृति परिणमती है। पाठ में ही ऐसा अर्थ है न? आत्मा प्रकृति के लिये और प्रकृति भी आत्मा के लिये, ऐसा पाठ है। है न? लिये अर्थात् यह। आत्मा पर के लक्ष्य से विकार उत्पन्न और विनाश पावे तथा प्रकृति कर्म के विकार के आश्रय से उत्पन्न और विनाश स्वयं के उपादान से स्वयं में होता है।

आत्मा के परिणाम विकार निमित्त है, इसलिए यहाँ कर्म का होना होता है, ऐसा नहीं है। मात्र विकार के आश्रय से, विकार के अनुसार, अपनी उसकी योग्यता से प्रकृति प्रकृतिरूप से उत्पन्न और विनाश पाती है। आहाहा! गाथा तो सादी है।

मुमुक्षु : विस्तार अच्छा आया।

पूज्य गुरुदेवश्री : विस्तार अच्छा आया। वस्तु ऐसी है—वस्तुस्थिति ऐसी है। आहाहा!

(आत्मा के परिणामानुसार...) प्रकृति को लक्ष्य तो है, इसलिए यहाँ जो परिणाम हुए, उनके अनुसार परिणमता है। परन्तु उस अनुसार यहाँ है, इसलिए परिणमता है? परन्तु वह परिणमने का उसका उस समय का कर्मरूपी होने का पर्याय का उसका काल है, तब वह जीव के विकारी परिणाम निमित्त कहने में आते हैं। निमित्त से वहाँ होता नहीं। समझ में आया? परिणाम अनुसार अर्थात् यहाँ विकार परिणाम के अनुसार जैसे जितने प्रमाण में विकार हुए, उतने ही प्रमाण में यहाँ कर्म की प्रकृति स्वयं बँधती है। परन्तु वह स्वयं के कारण से (बँधती है)। यह (विकार) तो निमित्तमात्र है। आहाहा! आश्रयमात्र है। नयी प्रकृति बँधने में विकारी परिणाम आश्रयमात्र है। बाकी बँधती है, वह स्वयं अपने उपादान की योग्यता से, उस समय में उस कर्म की पर्याय उस प्रकार से परिणमने की योग्यता के कारण परिणमती है। आहाहा! कहो, इसमें तो निमित्त भी है न? ऐसा अर्थ....

मुमुक्षु : स्वभावभाव नहीं, ऐसा बताते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : यहाँ तो मात्र एक दूसरे का आश्रय (बताते हैं)। करनेवाला

आश्रय करता है, आश्रय देनेवाला आश्रय देता नहीं। आहाहा! आश्रय करनेवाला आश्रय करता है, आश्रय देनेवाला आश्रय देता नहीं—उसमें बड़ा अन्तर है। अर्थात् कि आत्मा को विकार परिणाम हुए, वे भले कर्म के अनुसार हुए परन्तु कर्म तो निमित्तमात्र—उसके लक्ष्य से हुए, परन्तु वहाँ लक्ष्य है, इसलिए यहाँ जीव के विकार परिणाम हुए, ऐसा नहीं है। तथा जीव के विकार के कारण कर्म प्रकृति उपजती है अर्थात् कि जैसे यहाँ परिणाम हुए, तद्नुसार उस प्रकृति का उपादान स्वयं का उस प्रकार की पर्याय का उत्पन्न होने का है, वैसे उपजती है। आहाहा!

इसमें पहले अकर्ता सिद्ध करके, क्रमबद्ध सिद्ध करके यह बात करते हैं। क्रमबद्ध सिद्ध करके यह बात करते हैं न? क्रमबद्ध में क्या आया? स्वयं अपना स्वभाव भूला, तब क्रम में विकार आया। और उस विकार का निमित्त, प्रकृति के कारण प्रकृति को उस प्रकार से परिणमने का उपादान उस क्रमबद्ध में उस कर्म की पर्याय में उसी प्रकार से परिणमने का उपादान उसी प्रकार से परिणमा। जीव के विकार परिणाम हैं, इसलिए यहाँ कर्म परिणमा, ऐसा नहीं है और कर्म प्रकृति है, इसलिए यहाँ जीव को विकार परिणाम हुए, ऐसा नहीं है। आहाहा! हो गया समय, हो गया समय, लो! (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ३८५, गाथा - ३१२ से ३१५ मंगलवार, माघ शुक्ल ४
दिनाङ्क - ०५-०२-१९८०

समयसार, ३१२ और ३१३ की (टीका) फिर से। **यह आत्मा, (उसे) अनादि संसार से ही (अपने और पर के भिन्न-भिन्न) निश्चित स्वलक्षणों का ज्ञान (भेदज्ञान) न होने से...** प्रकृति का स्वभाव रागादि (और) भगवान चैतन्य का स्वभाव ज्ञान, इन दो के भिन्न लक्षण भिन्न नहीं जानने के कारण, **दूसरे का और अपना एकत्व का अध्यास करने से...** भिन्नपने के भान बिना राग और ज्ञान को एकरूप मानना, ऐसा **एकत्व का अध्यास करने से कर्ता होता हुआ, प्रकृति के निमित्त से उत्पत्ति-विनाश को प्राप्त होता है;...** प्रकृति का निमित्त अर्थात् कि लक्ष्य। पर के आश्रय से, पर का आश्रय करने से उत्पत्ति और विनाश (अर्थात्) विकार उत्पन्न करे और विकार नाश करे, ऐसी दशा उत्पन्न हुई है।

प्रकृति भी आत्मा के निमित्त से... अर्थात् आत्मा के आश्रय से। **उत्पत्ति-विनाश को प्राप्त होती है...** निमित्त से नहीं। निमित्त से होवे तो कर्ता-कर्म हो जाए। मात्र उसके आश्रय से उत्पत्ति और विनाश, जीव के राग के आश्रय से प्रकृति नवीन बँधती है और पुरानी नाश पाती है। **(अर्थात् आत्मा के परिणामानुसार परिणमित होती है।)** यहाँ तक आया था।

इस प्रकार-यद्यपि वे आत्मा और प्रकृति के कर्ताकर्मभाव का अभाव है,... इस प्रकार यद्यपि आत्मा और प्रकृति को, आत्मा प्रकृति को करे और प्रकृति आत्मा के राग को करे, इसका अभाव है। **तथापि -परस्पर निमित्तनैमित्तिकभाव से दोनों के बन्ध...** परन्तु यह निमित्त-नैमित्तिकपना सम्बन्ध है इतना। पर के आश्रय से विकार करे और विकार के आश्रय से कर्म बँधे, इतना निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है, कर्ताकर्म सम्बन्ध नहीं। प्रकृति के आश्रय से जीव विकार करे और विकार के आश्रय से प्रकृति बँधे, इतना निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध होने के कारण। आहाहा! दोनों को कर्ता-कर्म का तो अभाव है। जीव के राग को प्रकृति करे और प्रकृति के परिणाम को राग करे, यह तो अभाव है, यह वस्तुस्वरूप है नहीं।

तथापि-परस्पर निमित्तनैमित्तिकभाव से... मात्र निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध के कारण **दोनों के बन्ध देखा जाता है,...** संसार की दशा जीव अज्ञान से करता है, परन्तु उसमें यह निमित्त है, कर्म प्रकृति निमित्त है। और कर्म भी अपनी पर्याय होने के योग्य वह कर्म परिणमता है। परन्तु उसमें निमित्त जीव के राग और द्वेष (होते हैं) इतना निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। वह बन्ध देखने में आता है। **परस्पर निमित्तनैमित्तिकभाव से...** निमित्त कर्ता और नैमित्तिक कार्य, ऐसा नहीं है। इस प्रकार **निमित्तनैमित्तिकभाव से दोनों के बन्ध देखा जाता है, इससे संसार है...** इसलिए मिथ्यात्व आदि संसार है। प्रकृति के निमित्त से मिथ्यात्व करे, मिथ्यात्व के निमित्त से कर्म अपनी पर्याय से उत्पन्न हो, इतना निमित्त-नैमित्तिकभाव का सम्बन्ध होने के कारण बन्ध देखने में आता है। आहाहा! **इससे संसार है...** यह मिथ्यात्व, वह संसार है। कर्म के निमित्त से उत्पन्न होता मिथ्यात्व भाव; निमित्त अर्थात् लक्ष्य, उत्पन्न होता है स्वयं से, मात्र आश्रय / लक्ष्य पर के ऊपर है, वह संसार है। आहाहा! और प्रकृति भी उस समय में अपनी योग्यता से बँधती है। अपनी उपादान की

पर्याय की उस समय उत्पन्न होने की योग्यता से बँधती है परन्तु उसमें जीव के राग और विकार का निमित्त है, इतने सम्बन्ध से उसे बन्ध देखने में आता है। **इससे संसार है...** आहाहा!

इसमें बड़ा घोटाला उठता है। कर्म के कारण विकार होता है, ज्ञानावरणीय से ज्ञान रुकता है। गोम्मटसार में ऐसे तो शब्द हैं। ज्ञानावरणीय कहा है न? ज्ञान को आवृत्त करनेवाला ज्ञानावरणीय कर्म, ऐसा पाठ है। वह तो निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध बताया है। ज्ञानावरणीय कर्म है, वह तो स्वतन्त्र अपनी पर्याय से परिणमता है। यहाँ ज्ञानावरणीय में निमित्तरूप से जो विकार किया, वह स्वतन्त्ररूप से स्वयं उस काल में वह करने की योग्यता से हुआ है। परन्तु एक दूसरे के निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध से बन्ध देखने के कारण वह संसार है। वह निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है, वह संसार है। वह है अपना स्वतन्त्र भाव, कर्म का भी स्वतन्त्र परिणमन का भाव, तथापि उस निमित्त का आश्रय है, इसलिए विकार जीव करता है, वह संसार है। कर्मकाण्ड में तो इतना पूरा भरा हो। ज्ञानावरणीय से ज्ञान रुकता है और दर्शनावरणीय से दर्शन, वेदनीय से यह संयोग मिलता है, मोहनीय से दर्शन और चारित्र का वेदन उत्पन्न होता है। यह सब निमित्त-नैमित्तिक की व्याख्या है, कर्ताकर्म नहीं। आहाहा!

तथापि -परस्पर निमित्तनैमित्तिकभाव से दोनों के बन्ध देखा जाता है,... जीव को और प्रकृति को। प्रकृति में भी बन्धन निमित्त के लक्ष्य से, आश्रय से दिखता है और प्रकृति के आश्रय से जीव में विकार दिखता है, वह संसार है। आहाहा! और इसीलिए इस कारण से निमित्त-नैमित्तिकभाव से बन्ध देखने में आता है। **इससे संसार है और इसी से उनके (आत्मा और प्रकृति के) कर्ताकर्म का व्यवहार है।** कर्ताकर्म है नहीं। आहाहा! कर्ताकर्म का व्यवहार। राग, मिथ्यात्व का कर्ता मिथ्यादर्शनमोहनीय और मिथ्यादर्शन -मोहनीय की उत्पत्ति का कारण मिथ्यात्व, ऐसा संसार है। दोनों का ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध संसार है। आहाहा! **इसी से उनके कर्ताकर्म का व्यवहार है।** परमार्थ से नहीं। कर्म के कारण विकार और विकार के कारण कर्म बँधे, ऐसा नहीं है। आहाहा! परन्तु निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध के कारण एक-दूसरे को कर्ताकर्म का व्यवहार—उपचार से कहने में आता है। यह बड़ा घोटाला है। ज्ञानावरणीय, भाषा ऐसी है न? ज्ञानावरणीय ज्ञान

को आवृत करता है। ज्ञानावरणीय के उदय के कारण ज्ञान रुका है। ऐसा निमित्त-नैमित्तिक से कहने में आता है। तथापि एक-दूसरे में कर्ताकर्मपना नहीं है, परन्तु इस निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध के कारण व्यवहार से कर्ताकर्म की भाषा की जाती है। बड़ा अन्तर है कर्म में। आहाहा!

यह बड़ा प्रश्न (संवत्) १९७२ में हुआ था, कि इस कर्म के कारण ही यह मिथ्यात्व होता है, ऐसा वे लोग कहते थे। कर्म का उदय है, उसके कारण यहाँ मिथ्यात्व होता है। तब कहा था कि भाई! ऐसा नहीं है। स्वयं मिथ्यात्व करता है, इसलिए कर्म को निमित्त कहने में आता है। यह तो १९७२ की बात है। आहाहा! बड़ी चर्चा चली थी। मूलचन्दजी ने यह तूफान किया था। मैंने कहा, तुम चाहे जैसा कहो परन्तु मुझे मान्य नहीं है। कर्म से विकार होता है और विकार हुआ; इसलिए प्रकृति बँधती है, यह मुझे मान्य नहीं है। दोनों स्वतन्त्र हैं, कोई किसी के आधीन कोई नहीं है। मात्र निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध होने से कर्ताकर्म का व्यवहार, व्यवहार बोलने में, कहने में आता है, स्वभाव में नहीं है। आहाहा!

ऐसा कि यह ज्ञानावरणीय कर्म है, भाषा सिद्धान्त गोम्मटसार में है। ज्ञान को कर्म आवृत करता है। पाठ तो ऐसा है—ज्ञानावरणीय। कहा, यह निमित्त का कथन है। आत्मा की ज्ञानपर्याय को ज्ञानावरणीय कर्म जो भिन्न चीज़ है, वह इसे आवृत करे, यह बात किसी प्रकार से वस्तु में नहीं बैठती। वस्तु का यह स्वरूप ही है नहीं। मात्र निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध देखकर कर्ताकर्म का व्यवहार किया जाता है। परन्तु इतना गहरा कौन विचार करे? वह तो जो ऊपर कहे, उसे जय नारायण। दर्शनमोह के उदय के कारण मिथ्यात्व होता है। शास्त्र में शब्द भी ऐसे आते हैं। यहाँ आया न?

प्रकृति के निमित्त से उत्पत्ति-विनाश को प्राप्त होता है;... ऐसा आया न? निमित्त का अर्थ क्या? कर्ता नहीं। प्रकृति विकार की कर्ता नहीं। मात्र प्रकृति का निमित्त है और विकार स्वयं अपने उपादान से स्वतन्त्र उस समय की पर्याय होने की योग्यता से, वह होता है। जैनधर्म में कर्म की व्याख्या बहुत प्रधान हो गयी है। जहाँ हो वहाँ कर्म... कर्म। स्थानकवासी में स्तुति बोलते हैं न? उसमें ऐसा बोलते हैं, 'कर्म ने डाला आड़ा अंक' ऐसा उसमें आता है। दूसरी भाषा भूल गये। 'कर्म से राजा, कर्म से रंक, कर्म ने डाला आड़ा

अंक'। यह तो निमित्त के कथन हैं। परद्रव्य को और स्वद्रव्य को बिल्कुल अत्यन्त अभाव है, एक-दूसरे के बीच अत्यन्त अभाव है।

अन्तराय कर्म आत्मा को रोकता है, यह भी निमित्त के कथन हैं। अन्तराय कर्म की पर्याय कर्म में है और आत्मा की पर्याय रुकती है, वह अपने उपादान के कारण से रुकती है। अन्तराय कर्म तो उसे निमित्तमात्र कहने में आता है। ऐसा निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध देखकर व्यवहार से कर्ताकर्म कहा जाता है, परमार्थ से कर्ताकर्म है नहीं। आहाहा!

चारित्रमोह के उदय के कारण। आता है न? ज्ञानी को भी चारित्रमोह के उदय के कारण विकार होता है, ऐसा आता है। यह तो निमित्त की बात है। चारित्रमोह का निमित्त है परन्तु करनेवाला तो स्वयं करता है, तब उसे निमित्त कहने में आता है। ज्ञानी भी राग स्वयं करता है। अपनी कमजोरी में विकार के कारण से विकार उत्पन्न होता है, उसमें प्रकृति को निमित्त कहने में आता है। निमित्त सम्बन्ध कहने से वह कर्ता है, ऐसा नहीं है। यह बड़ा विवाद है। निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है, उसमें कर्ताकर्म जोड़ देते हैं। सातावेदनीय के उदय के कारण अनुकूल संयोग मिलते हैं, ऐसा लिखते हैं, कथन में आता है। यह निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। सातावेदनीय का उदय निमित्त है और जो संयोग आते हैं, वे स्वतन्त्र अपने परमाणु की वह पर्याय, उस जगह आने की योग्यता से आती है। सातावेदनीय तो निमित्त है। यह निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध देखकर कर्ताकर्म का सम्बन्ध जगत ने खड़ा किया है। यहाँ कहा कि उसे देखकर व्यवहार कहने में आता है।

इससे संसार है और इसी से उनके (आत्मा और प्रकृति के) कर्ताकर्म का व्यवहार है। व्यवहार है न? परन्तु व्यवहार है अर्थात् क्या? निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध देखकर निमित्त का व्यवहार कहने में आया है। निमित्त कर्ता नहीं। तथा विकारी परिणाम कर्म को बाँधे, विकार न हो तो कर्म न बँधे, विकार होवे तो कर्म बँधे तो इतना तो विकार के कारण से कारण हुआ या नहीं वहाँ? कि, नहीं। उस समय भी कर्म प्रकृति के परमाणु में कर्म होने की योग्यता से बँधे हुए हैं। जीव ने स्वयं अपने से विकार और राग किया है। इतना निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध देखकर व्यवहार से कर्ताकर्म कहने में आता है। यह कर्म का बड़ा जोर है। जैन में तो कर्म... कर्म। दूसरे में ईश्वर और इसमें कर्म। उनका ईश्वर

चैतन्य और इनका कर्म जड़। कर्म के कारण होता है, कर्म के कारण होता है। आत्मा में कर्म और परद्रव्य के कारण आत्मा में होता है, यह बिल्कुल झूठ बात है।

ज्ञानावरणीय का क्षयोपशम—उघाड़ होवे तो यहाँ जीव में उघाड़ दिखता है और उघाड़ दिखता है तब वहाँ कर्म का क्षयोपशम भी है, इतना निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है परन्तु कर्म का क्षयोपशम है, इसलिए ज्ञान का उघाड़ हुआ और ज्ञान का उघाड़ हुआ; इसलिए वहाँ कर्म का क्षयोपशम है, ऐसा है नहीं। यह तो निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध से कथन किया जाता है। इसी तरह आठों ही (कर्म की) प्रकृति, १४८ प्रकृति स्वतन्त्र अपने परिणाम से होती है। जीव अपने परिणाम उस समय के अपने स्वतन्त्र परिणाम से वे परिणाम करता है। दो के बीच का निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध देखकर कर्ताकर्म कहने में आता है। इसमें बड़ा झगड़ा है।

वर्णीजी के साथ चर्चा हुई, तब भी ऐसा बोले थे, निमित्त भी किसी समय पर में नुकसान करता है। तब दो बड़ी बातें हुई थी। (संवत्) २०१३ के वर्ष। कथंचित् निमित्त भी कर्ता है। कहा, कर्ता निमित्त नहीं। और क्रमबद्ध में भी क्रमसर जो पर्याय होनेवाली हो, होगी - ऐसा नहीं है। वह तो जैसा अपना पुरुषार्थ हो, वैसी होती है। कहा, ऐसा नहीं है। जो होनेवाली हो, वही होती है, पुरुषार्थ वैसा ही होता है। पहले-पश्चात् जो होनेवाली हो, वह होती है। वे कहें, पहले-पश्चात् जो होनेवाली हो, वह नहीं। पहले-बाद की होनी हो वह होती अवश्य है परन्तु वही होनेवाली थी, वह हुई - ऐसा नहीं है। यह बड़ी चर्चा हुई थी। नहीं जँचता था, सबको नहीं जँचता था। मक्खनलालजी, कैलाशचन्दजी सब बैठे थे। सब हाँ करते थे। किसी ने विरोध नहीं किया था। एक विरोध भाई ने किया था फूलचन्दजी ने, उन्होंने किया। पंचास्तिकाय की ६२वीं गाथा में यह लेख है, वह बात उस दिन रखी थी। (संवत्) २०१३ के वर्ष की बात है। वहाँ तो कहा पंचास्तिकाय तो ऐसा कहता है कि वह अपने-अपने कारण से षट्कारक से विकार परिणमता है, कर्म के कारण नहीं।

धर्म तो स्वतन्त्र है, परन्तु विकार भी पर्याय में उस समय में षट्कारक के कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान से विकार स्वयं षट्कारक से स्वयं परिणमता है। उसे द्रव्य-गुण की अपेक्षा नहीं, उसे निमित्त की अपेक्षा नहीं। परकारकों की अपेक्षा नहीं, ऐसा पाठ है। वहाँ उस दिन रखा था। नहीं जँचा। एक फूलचन्दजी ने हाँ किया, कि स्वामीजी ऐसा कहते हैं

कि निश्चय से विकार पर के कारक की अपेक्षा बिना स्वयं से स्वयं में विकार होता है। यह बात नहीं जँची। विकार स्वयं से होगा? देखो! ६२वीं गाथा। षट्कारक से विकार स्वयं अपने से परिणमे, उसे पर कारकों की अपेक्षा नहीं है, ऐसा पाठ है। ६२वीं गाथा। नहीं जँचा। इन गाथाओं में बड़ा झगड़ा है। ऐसा कहा न वापस कि निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है। इसका अर्थ क्या? यहाँ किया—करता है, तब सामने चीज़ है, बस इतना। और सामने चीज़ है, इसलिए यहाँ (विकार) करता है, ऐसा नहीं है। बड़ा अन्तर है। जैन में तो कर्म... कर्म। अन्य में ईश्वर और जैन में कर्म। उन्हें चैतन्य ईश्वर।

एक बार (संवत्) १९६८ में स्वामी नारायण के मन्दिर में देखने गये। 'गढडा' मैं और मगनभाई साथ में थे। वहाँ मुझे देखकर वे स्वामी नारायण साधु धोते थे। उन्हें खबर, कि यह जैन है, ऐसी उन्हें खबर थी। 'यह पत्ता भी ईश्वर के बिना नहीं हिलता।' ऐसा बोले। १९६८ की बात है। 'पत्ता भी ईश्वर के बिना नहीं हिलता।' उनके साथ कहाँ बात करना? ईश्वर कर्ता माने न? ईश्वर से पत्ता हिलता है, ईश्वर की प्रेरणा से जगत के प्राणी परिणाम करते हैं। ईश्वर की प्रेरणा बिना कुछ भी पत्ता हिल नहीं सकता। ऐसा मुझे देखकर, जैन है—ऐसा देखकर स्वामी नारायण (के) साधु बोले थे। उनके साथ क्या बात करना? परन्तु जैन में यह बोलते हैं न? कर्म के कारण ही आत्मा में विकार होता है। और अर्थ में ऐसा आता भी है।

(समयसार) ७५-७६ गाथा में ऐसा आता है, कर्म व्यापक है और विकार व्याप्य, उसका कार्य है। ७५ में ऐसा आता है। वह तो स्वभाव की दृष्टि हुई है; इसलिए स्वभाव, वह कर्ता और उसका कार्य स्वभाव निर्मलपर्याय, वह उसका कार्य। उसे कुछ कर्म का सम्बन्ध है नहीं। यह स्वभाव की दृष्टि की अपेक्षा से (बात है)। स्वभाव चैतन्य है, ऐसा भान हुआ, इसलिए उसका व्याप्य स्वभाव है। पश्चात् थोड़ा राग बाकी रहा, उसका व्याप्य कर्म है, ऐसा कहकर दोनों को निकाल डाला है। ७५, ७६, ७७, ७८ (गाथा)। कर्म व्यापक है। यह बड़ी चर्चा हुई थी, भाई के साथ, 'खारा... खारा!' खारा नहीं? भाई! जामनगर में वे थे। वे नौकर थे। नौकरी थी न बड़ी पदवी की?

मुमुक्षु : सोमचन्दभाई नाम है।

पूज्य गुरुदेवश्री : सोमचन्दभाई है ऐसा न? वे सोमचन्दभाई कहे कि देखो! इस

शास्त्र में ७५ गाथा तो ऐसा कहा, कर्म व्यापक है और विकार व्याप्य। विकार का कर्ता तो कर्म है, ऐसा यहाँ कहा है। और एक जगह तुम ऐसा कहते हो कि कर्म के कारण नहीं होता। भाई! यह किस अपेक्षा से कहा? सोमचन्दभाई नौकर थे न? जामनगर। वहाँ नौकरी थी।

विकार की पर्याय अपना व्याप्य, वह कर्म का व्याप्य वहाँ कह दिया। क्योंकि स्वभावदृष्टि हुई है, इसलिए उसका लक्ष्य विकार और निमित्त पर नहीं है; इसलिए उस विकार का कार्य करनेवाला कर्म और विकार व्याप्य। वह विकार उसका व्याप्य अवस्था है, ऐसा करके निकाल डाला। इससे वह कर्म का ही कार्य है, ऐसा सिद्ध करना है, ऐसा नहीं होता, कहा। सोमचन्दभाई के साथ (चर्चा) हुई थी। जामनगर। यह ७५ गाथा में आया न कि उसमें तो ऐसा आया है कि कर्म व्यापक है और विकार व्याप्य है और तुम इनकार करते हो, कर्म व्यापक नहीं। कहा, यहाँ तो स्वभाव की दृष्टि जहाँ हुई है तो स्वभाव की दृष्टिवन्त का व्याप्य स्वभाव है। उसका व्याप्य (स्वभाव है)। कोई गुण अनन्त गुण में से कोई गुण अपवित्र नहीं अथवा अपवित्र को प्रगट करे, ऐसा कोई गुण नहीं। इसलिए अनन्त गुण की संख्यावाला तत्त्व, वह स्वभावदृष्टि हुई, उसका व्याप्य स्वभाव ही है। उसका व्याप्य-कार्य विकार नहीं है। इस अपेक्षा से कर्म का कार्य विकार है, ऐसा कहा है। निकाल डालने के लिये (ऐसा कहा है)। समझ में आया? आहाहा! यह यहाँ है।

भावार्थ :- आत्मा के और ज्ञानावरणादि कर्मों की प्रकृतियों के परमार्थ से कर्ता-कर्मभाव का अभाव है... वास्तव में तो अभाव है। आहाहा! **तथापि परस्पर निमित्तनैमित्तिकभाव के कारण...** निमित्त-नैमित्तिकसम्बन्ध के व्यवहार के कारण **बन्ध होता है, इससे संसार है और इसी से कर्ताकर्मपन का व्यवहार है।** निश्चय नहीं है। आहाहा!

गाथा - ३१४-३१५

जा एस पयडीअट्ठं चेदा णेव विमुंचए।
अयाणओ हवे ताव मिच्छादिट्ठी असंजओ ।।३१४।।

जदा विमुंचए चेदा कम्मप्फल-मणंतयं।
तदा विमुत्तो हवदि जाणओ पासओ मुणी ।।३१५।।

यावदेष प्रकृत्यर्थं चेतयिता नैव विमुञ्चति।
अज्ञायको भवेत्तावन्मिथ्यादृष्टि-रसंयतः ।।३१४।।

यदा विमुञ्चति चेतयिता कर्मफलमनन्तकम्।
तदा विमुक्तो भवति ज्ञायको दर्शको मुनिः ।।३१५।।

यावदयं चेतयिता प्रतिनियतस्वलक्षणानिर्ज्ञानात् प्रकृतिस्वभावमात्मनो बन्धनिमित्तं न मुञ्चति, तावत्स्वपरयोरेकत्वज्ञानेनाज्ञायको भवति, स्वपरयोरेकत्वदर्शनेन मिथ्यादृष्टि-र्भवति, स्वपरयोरेकत्व-परिणत्या चासंयतो भवति; तावदेव च परात्मनोरेकत्वाध्यासस्य करणात्कर्ता भवति।

यदा त्वयमेव प्रतिनियतस्वलक्षणनिर्ज्ञानात् प्रकृतिस्वभावमात्मनो बन्धनिमित्तं मुञ्चति, तदा स्वपरयोर्विभागज्ञानेन ज्ञायको भवति, स्वपरयोर्विभागदर्शनेन दर्शको भवति, स्वपरयोर्विभागपरिणत्या च संयतो भवति; तदैव च परात्मनोरेकत्वाध्यासस्याकरणादकर्ता भवति ।।३१४-३१५ ।।

(अब यह कहते हैं कि - 'जब तक आत्मा प्रकृति के निमित्त से उपजता-विनाशना न छोड़े, तबतक वह अज्ञानी, मिथ्यादृष्टि, असंयत है'-)

उत्पाद-व्यय प्रकृतीनिमित्त जु, जब हि तक नहिं परितजे।
अज्ञानि, मिथ्यात्वी, असंयत, तब हि तक वो जीव रहे।।३१४।।

ये आतमा जब ही करम का, फल अनंता परितजे।
ज्ञायक तथा दर्शक तथा मुनि वो हि कर्मविमुक्त है।।३१५।।

गाथार्थ : [यावत्] जब तक [एषः चेतयिता] यह आत्मा [प्रकृत्यर्थं] प्रकृति के

निमित्त से उपजना-विनशना [न एव विमुञ्चति] नहीं छोड़ता, [तावत्] तब तक वह [अज्ञायकः] अज्ञायक (अज्ञानी) है, [मिथ्यादृष्टिः] मिथ्यादृष्टि है, [असंयतः भवेत्] असंयत है।

[यदा] जब [चेतयिता] आत्मा [अनन्तकम् कर्मफलम्] अनन्त कर्मफल को [विमुञ्चति] छोड़ता है, [तदा] तब वह [ज्ञायकः] ज्ञायक है, [दर्शकः] दर्शक है, [मुनिः] मुनि है, [विमुक्तः भवति] विमुक्त अर्थात् बन्ध से रहित है।

टीका : जब तक यह आत्मा (स्व-पर के भिन्न भिन्न) निश्चित स्वलक्षणों का ज्ञान (भेदज्ञान) न होने से, प्रकृति के स्वभाव को-जो कि अपने को बन्ध का निमित्त है उसको-नहीं छोड़ता, तब तक स्व-पर के एकत्व ज्ञान से अज्ञायक (अज्ञानी) है, स्व-पर के एकत्वदर्शन से (एकत्वरूप श्रद्धान से) मिथ्यादृष्टि है और स्व-पर की एकत्व परिणति से असंयत है; और तभी तक पर के तथा अपने एकत्व का अभ्यास करने से कर्ता है। और जब यही आत्मा (अपने और पर के भिन्न भिन्न) निश्चित स्वलक्षणों के ज्ञान के (भेदज्ञान के) कारण प्रकृति के स्वभाव को-जो कि अपने को बन्ध का निमित्त है उसको-छोड़ता है, तब स्व-पर के विभाग ज्ञान से (भेदज्ञान से) ज्ञायक है, स्व-पर के विभागदर्शन से (भेददर्शन से) दर्शक है और स्व-पर की विभागपरिणति से (भेदपरिणति से) संयत है; और तभी स्व-पर के एकत्व का अध्यास न करने से अकर्ता है।

भावार्थ : जब तक यह आत्मा स्व-पर के लक्षण को नहीं जानता, तब तक वह भेदज्ञान के अभाव के कारण कर्मप्रकृति के उदय को अपना समझकर परिणमित होता है; इस प्रकार मिथ्यादृष्टि, अज्ञानी, असंयमी होकर, कर्ता होकर, कर्म का बन्ध करता है। और जब आत्मा को भेदज्ञान होता है, तब वह कर्ता नहीं होता, इसलिए कर्म का बन्ध नहीं करता, ज्ञातादृष्टारूप से परिणमित होता है।

गाथा - ३१४-३१५ पर प्रवचन

अब ३१४-१५। **जब तक आत्मा प्रकृति के निमित्त से उपजता-विनाशना न छोड़े...** देखा? उसमें प्रकृति के निमित्त से उपजता-विनशता है, ऐसा कहा है। अब

स्वयं **आत्मा प्रकृति के निमित्त से उपजता-विनाशना न छोड़े तबतक वह अज्ञानी,...** है। आहाहा! पर के आश्रय से विकार उत्पन्न करे, वह तो अज्ञानी है, कहते हैं। आहाहा! **मिथ्यादृष्टि, असंयत है...** तीन लिये हैं। **अब यह (गाथाओं में) कहते हैं कि-** ३१४-३१५

जा एस पयडीअट्ठं चेदा णेव विमुंचए।
अयाणओ हवे ताव मिच्छादिट्ठी असंजओ।।३१४।।

जदा विमुंचए चेदा कम्मप्फल-मणंतयं।
तदा विमुत्तो हवदि जाणओ पासओ मुणी।।३१५।।

नीचे हरिगीत।

उत्पाद-व्यय प्रकृतीनिमित्त जु, जब हि तक नहिं परितजे।
अज्ञानि, मिथ्यात्वी, असंयत, तब हि तक वो जीव रहे।।३१४।।

ये आतमा जब ही करम का, फल अनंता परितजे।
ज्ञायक तथा दर्शक तथा मुनि वो हि कर्मविमुक्त है।।३१५।।

टीका :- जब तक यह आत्मा (स्व-पर के भिन्न भिन्न) निश्चित स्वलक्षणों का ज्ञान (भेदज्ञान) न होने से,... इस कारण से, ऐसा कहते हैं। जब तक **(स्व-पर के भिन्न भिन्न) निश्चित स्वलक्षणों का ज्ञान (भेदज्ञान) न होने से,...** इस कारण से **प्रकृति के स्वभाव को-जो कि अपने को बन्ध का निमित्त है...** प्रकृति का स्वभाव तो बन्ध का निमित्त है, बन्ध का मूलकारण नहीं। आहाहा! भाषा सादी है परन्तु वस्तु सिद्धान्त इसका (रखा है)। प्रकृति के स्वभाव को जब तक भेदज्ञान करके न तजे, उसका आश्रय न छोड़े। आश्रय स्वयं करता है। इसलिए उसे—सामनेवाले को निमित्त कहने में आता है। जब तक यह आश्रय छोड़ नहीं दे, तब तक निमित्त के आश्रय से किया करता है।

निश्चित स्वलक्षणों का ज्ञान (भेदज्ञान) न होने से,... आत्मा आनन्द और ज्ञान की सत्तावाला है, उसमें विकार और कर्म का तो अभाव है, ऐसा जब तक स्वलक्षण का और पर के लक्षण का **ज्ञान (भेदज्ञान) न होने से, प्रकृति के स्वभाव को-जो कि अपने को बन्ध का निमित्त है...** देखो! इसमें निमित्त की व्याख्या बहुत आयी। प्रकृति

का स्वभाव जो कि बन्ध का निमित्त है। बन्ध का उपादान मूलकारण तो स्वयं है। प्रकृति तो तब उसे निमित्त कहने में आती है। निमित्त कहा, इसलिए उससे होता है, तो वह निमित्त ही नहीं रहता। आहाहा!

जब तक यह आत्मा (स्व-पर के भिन्न भिन्न) निश्चित स्वलक्षणों का ज्ञान (भेदज्ञान) न होने से,... इस कारण से **प्रकृति के स्वभाव को-जो कि अपने को बन्ध का निमित्त है उसको-नहीं छोड़ता,...** आहाहा! भेदज्ञान नहीं करता, तब तक प्रकृति के स्वभाव का राग को लक्ष्य में से आश्रय करना नहीं छोड़ता। प्रकृति का आश्रय करना नहीं छोड़ता। परन्तु प्रकृति का लक्षण और स्वभाव चैतन्य का (लक्षण) दोनों का भिन्न है, उसके भेदज्ञान के अभाव के कारण पर के आश्रय से होते उसे—भाव को नहीं छोड़ता। पर के आश्रय से होते भाव को अपना मानता है, परन्तु छोड़ता नहीं। आहाहा!

यह सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार है। **जब तक...** कब तक? कि स्वयं आत्मा पर का आश्रय नहीं छोड़ता, पर का-निमित्त की ओर का लक्ष्य नहीं छोड़ता, इस कारण से। **जब तक...** ऐसा कहा न? जब तक कर्म का उदय है, तब तक—ऐसा कहा नहीं। जब तक आत्मा और कर्म का भिन्न भाव जानता नहीं, भिन्न लक्षण करता नहीं, तब तक। यह तो अपने ऊपर आया। समझ में आया?

तब तक स्व-पर के एकत्व ज्ञान से... पर और स्व के भेदज्ञान के अभाव के कारण। पर राग और आत्मा दोनों को एक मानता हुआ। आहाहा! **एकत्व ज्ञान से अज्ञायक (अज्ञानी) है,...** राग, वह वास्तव में अपना स्वरूप नहीं है परन्तु निमित्त के आश्रय से अपने में अपने से होता है। इसलिए वह उसका वास्तविक स्वरूप लक्षण नहीं है। ऐसा लक्षण का भान नहीं होने के कारण। आहाहा! भाषा सब सादी है, परन्तु है अन्दर मर्म। दोनों की भिन्नता, समय-समय की दोनों की भिन्नता। किसी के कारण से कोई पर्याय उत्पन्न हो, यह तीन काल में नहीं है। कर्म के कारण विकार हो और विकार के कारण कर्म को होना पड़े, ऐसा तीन काल में नहीं है। आहाहा!

स्व-पर के एकत्व ज्ञान से अज्ञायक (अज्ञानी) है,... प्रकृति के आश्रय से जो विकार करता है, वह विकार और आत्मा का स्वभाव दोनों भिन्न है, ऐसा नहीं जानता, तब

तक निमित्त के आश्रय से होता विकार और ज्ञान, दोनों को एक मानकर। क्या कहा यह ? निमित्त को नहीं परन्तु निमित्त के आश्रय से होता जो विकार और जो आत्मा का ज्ञान, उसे एकत्व ज्ञान से, उन दोनों का एकपने का ज्ञान है, वह अज्ञायक है, वह ज्ञायक नहीं है। आहाहा! अब ऐसा सब (समझना)। कर्म के कारण होता है, कर्म के कारण होता है, जैन में तो पहले से यह पुकार है। स्थानकवासी में यह, मन्दिरमार्गी में यह, दिगम्बर में यह, तीनों में यह है। कर्म के कारण होता है।

यहाँ तो (कहते हैं), स्व-पर के एकत्व ज्ञान से अज्ञायक है, कर्म के कारण नहीं। कर्म के कारण अज्ञायक है, ऐसा नहीं। **स्व-पर के एकत्व ज्ञान से अज्ञायक (अज्ञानी) है,...** स्वयं ज्ञायकस्वरूप है और विकार, वह विपरीत स्वभाव है। वह निमित्त के आश्रय से विकार होता है, इसका स्वभाव नहीं है। ऐसा जब तक विकार का और स्वभाव का एकत्वज्ञान है, तब तक वह अज्ञानी है। आहाहा! प्रकृति को और आत्मा को, ऐसा नहीं कहा। यहाँ तो स्व-पर के एकत्वज्ञान से (कहा है)। पर के निमित्त के आश्रय से होनेवाला जो विकार और स्वभाव दो का एकत्व ज्ञान है। आहाहा! तब तक वह अज्ञायक है। है ? वह पर तो बन्ध का निमित्त है, उपादान तो स्वयं है। अतः उस निमित्त के आश्रय से होते विकार को अपना मानकर भेदज्ञान नहीं करता, तब तक उसके एकत्वज्ञान से अज्ञायक है, वह अज्ञानी है। आहाहा! ऐसा सब लम्बा-लम्बा कहाँ करने जाए ? निवृत्ति कहाँ है ? फुरसत नहीं मिलती। इसलिए फिर कर्म... कर्म... कर्म... कर्म... बस... जहाँ हो वहाँ सामने बात कर्म की ही रखे। कर्म के कारण से होता है। आत्मा तो शुद्ध है। यह अशुद्धता तो कर्म के कारण होती है। यह बात सच्ची, निमित्तपने के लक्ष्य से होती है, इतना सत्य, परन्तु निमित्त से होता है, यह झूठ। आहाहा! कहाँ अन्तर है, यह जरा सा समझने योग्य है। कहाँ दरकार की है ? यह कर्म और निमित्त क्या है, उसका निर्णय कब किया है ? आहाहा! क्या कहा ?

जब तक यह आत्मा... जब तक यह आत्मा। जब तक कर्म का भाग है, तब तक—ऐसा नहीं कहा। **जब तक यह आत्मा (स्व-पर के भिन्न भिन्न) निश्चित स्वलक्षणों का ज्ञान (भेदज्ञान) न होने से, प्रकृति के स्वभाव को-जो कि अपने**

को बन्ध का निमित्त है... प्रकृति के निमित्त से हुआ भाव, वह तो बन्ध का कारण है। प्रकृति के निमित्त से हुआ भाव, वह तो बन्ध का कारण है। और उसे वह छोड़ता नहीं। किसे? निमित्त के आश्रय से हुआ विकार, उसे वह छोड़ता नहीं। आहाहा!

तब तक स्व-पर के एकत्व ज्ञान से अज्ञायक (अज्ञानी) है, स्व-पर के एकत्व दर्शन से (एकत्वरूप श्रद्धान से) मिथ्यादृष्टि है... आहाहा! उस निमित्त के आश्रय से हुआ भाव; कर्ता निमित्त नहीं परन्तु निमित्त के आश्रय से हुआ भाव और स्वाभाविक भाव, दोनों के भेदज्ञान के अभाव के कारण उस विभाव को नहीं छोड़ता। आहाहा! विभाव होता है निमित्त के आश्रय से; निमित्त से नहीं, दोनों में बड़ा अन्तर है। निमित्त से और निमित्त के आश्रय से। निमित्त के आश्रय से, वहाँ स्वाधीन स्वयं निमित्त का लक्ष्य करता है और निमित्त से होवे तो पराधीन हो जाता है। उसे निमित्त विकार करावे, ऐसा हो जाता है। आहाहा!

स्व-पर के एकत्व ज्ञान से अज्ञायक (अज्ञानी) है,... बन्ध का निमित्त है उसको-नहीं छोड़ता,... ऐसा कहा है। बन्ध को छोड़ता नहीं, ऐसा नहीं कहा। **प्रकृति के स्वभाव को-जो कि अपने को बन्ध का निमित्त है...** आहाहा! उसे—निमित्त को लक्ष्य में से छोड़ता नहीं, इसलिए विकार को छोड़ता नहीं। निमित्त को लक्ष्य में से छोड़ता नहीं, इसलिए इसे (विकार को) छोड़ता नहीं। आहाहा! ऐसा सब अज्ञान।

मुमुक्षु : स्वयं को बन्ध का निमित्त है, भावबन्ध का निमित्त है?

पूज्य गुरुदेवश्री : भावबन्ध का निमित्त है। निमित्त अर्थात् स्वयं करता है, वह पर का लक्ष्य है, ऐसा। इसलिए उस निमित्त की ओर का लक्ष्य नहीं छोड़ता, इसलिए उसकी ओर से होता अपना विकार, उस लक्ष्य से उसे भी वह नहीं छोड़ता। आहाहा! समझ में आया? **बन्ध का निमित्त है उसको-नहीं छोड़ता,...** बन्ध का निमित्त प्रकृति नहीं है, प्रकृति के आश्रय से हुआ विकार, वह बन्ध का निमित्त है। आहाहा!

जब तक यह आत्मा (स्व-पर के भिन्न भिन्न) निश्चित स्वलक्षणों का ज्ञान (भेदज्ञान) न होने से, प्रकृति के स्वभाव को-जो कि अपने को बन्ध का निमित्त है... उस प्रकृति के आश्रय से होता भाव, वह बन्ध का कारण है। उसे वह छोड़ता नहीं।

निमित्त को छोड़ता नहीं, ऐसा नहीं है। निमित्त से होते भाव को। स्वयं निमित्त के आश्रय से होता भाव, उसे छोड़ता नहीं। आहाहा! प्रकृति को छोड़ता नहीं और ग्रहण करता नहीं, यह प्रश्न है ही नहीं। उस प्रकृति का ग्रहण करना-छोड़ना आत्मा में है ही नहीं परन्तु प्रकृति के निमित्त से होते भाव को छोड़ता नहीं। आहाहा! वह विकार बन्ध का निमित्त है, वह आत्मा का स्वभाव नहीं है।

मुमुक्षु : बन्ध का निमित्त है अर्थात् नये बन्ध का निमित्त है?

पूज्य गुरुदेवश्री : भाव, भावबन्ध का निमित्त है न। प्रकृति के निमित्त के आश्रय से होता भाव, बन्ध का निमित्त है। उसे प्रकृति का आश्रय नहीं छोड़ता, इसलिए उस विकार को भी नहीं छोड़ता। आहाहा! कर्म को छोड़ना और ग्रहण करना नहीं। परद्रव्य का ग्रहण-त्याग आत्मा में है ही नहीं। त्याग-उपादान शून्यत्वशक्ति। पर का त्याग और पर का ग्रहण, वह तो शून्य है। परन्तु प्रकृति के निमित्त से होता जो विकार स्वभाव, उसे अपना मानता है, वह निमित्त के आधीन हुआ विकार है, वह स्वभाव के आधीन हुई दशा नहीं है। हुई है दशा अपने से अपने में, परन्तु निमित्त के आधीन हुई है। विकार स्वभाव के आधीन नहीं होता। आहाहा! ऐसा सब याद रखना।

मुमुक्षु : उसे स्व-पर के भेदज्ञान का अभाव है।

पूज्य गुरुदेवश्री : उसे स्वयं को स्व-पर का भान नहीं है। निमित्त के आश्रय से हुआ विकार, वह अपना स्वभाव नहीं है, विकार है। होता है स्वयं से परन्तु निमित्त के आश्रय से होता है; स्वभाव के आश्रय से नहीं। आहाहा! समझ में आया? बन्ध का निमित्त है। प्रकृति का जो निमित्त के आश्रय से हुआ स्वभाव / बन्धरूप विभाव, वह बन्ध का निमित्त है, उसे नहीं छोड़ता। **तब तक स्व-पर के एकत्व ज्ञान से अज्ञायक है, स्व-पर के एकत्वदर्शन से मिथ्यादृष्टि है...** आहाहा! प्रकृति के लक्ष्य से हुआ विकार, वह मेरा स्वभाव है, मेरा स्वरूप है—ऐसी दोनों की एकत्वबुद्धि जिसकी है, वह मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! हुआ है अपने में, परन्तु निमित्त के आश्रय से हुआ है। वह वास्तविक स्वभाव से हुआ नहीं है। समझ में आया इसमें?

मुमुक्षु : तो फिर विकार को सापेक्ष कहने में क्या बाधा है?

पूज्य गुरुदेवश्री : विकार स्वतन्त्र है। निमित्त कहा वहाँ स्वतन्त्र है। उपादान स्वतन्त्र है। निमित्त की अपेक्षा—तो स्वयं ने की है—लक्ष्य। निमित्त की अपेक्षा है, इसलिए विकार होता है, ऐसा नहीं है। यह लक्ष्य करता है। यह लक्ष्य करता है, वह निमित्त के आश्रय से करता है, वह बन्ध का कारण है। इसलिए वह उसे छोड़ता नहीं। निमित्त को छोड़ता नहीं, ग्रहता नहीं—यह नहीं आया। आहाहा! परद्रव्य को ग्रहण करने-छोड़ने का प्रश्न यहाँ है ही नहीं। आहाहा!

पर के लक्ष्य से होता जो विकार, उसे जब तक निमित्ताधीन हुए विकार को छोड़ता नहीं, तब तक विकार और स्वभाव का भेदज्ञान नहीं है। तब तक वह अज्ञानी है, तब तक वह मिथ्यादृष्टि है। निमित्त के आधीन हुआ भाव, निमित्त से नहीं, निमित्त के आधीन से हुआ भाव, निमित्त के वश हुआ भाव। वश आता है, जयसेनाचार्य की टीका में 'कर्म के वश से' ऐसा शब्द आता है। कर्म से नहीं, कर्म के वश से। कर्म से नहीं और कर्म के वश से, इसमें बड़ा अन्तर है। स्वयं वश होता है। आहाहा! ऐसा बहुत सूक्ष्म, भाई! अब ऐसी सूक्ष्म बातें कहाँ (याद रखना?) दया पालो, व्रत करो, भक्ति करो, पूजा करो... हो गया। आहाहा! परन्तु यह कहते हैं कि यह भाव प्रकृति के निमित्त से हुआ है। अर्थात् कि पर के आश्रय से हुआ है, तेरा स्वभावभाव नहीं है। हुआ है तेरी पर्याय में प्रकृति के आश्रय से, परन्तु स्वभावभाव नहीं है। इसलिए उसे इस भाव और स्वभाव के भेदज्ञान का अभाव है। आहाहा!

इसलिए वह **मिथ्यादृष्टि है और स्व-पर की एकत्व परिणति से असंयत है;...** आहाहा! निमित्त के आधीन हुआ भाव, उसको और अपने स्वभाव की एकत्व परिणति है, वह असंयती है, वह संयती नहीं। आहाहा! वह असाधु है। साधु हुआ परन्तु प्रकृति के निमित्त से हुआ भाव अपना अपनी पर्याय में परन्तु उसे भी स्वभाव से भिन्न नहीं जानता और एकत्व मानता है, वह असंयमी, मिथ्यादृष्टि असंयमी है। आहाहा! अभ्यास नहीं; इसलिए विषय जरा कठिन पड़ता है। आहाहा!

और तभी तक... जब तक, ऐसा कहा था न? **तभी तक पर के तथा अपने एकत्व का अभ्यास करने से कर्ता है।** किसका? परिणाम का। निमित्त का कर्ता है, यह

नहीं। निमित्त के आधीन हुआ विकार, उससे भेदज्ञान नहीं है, उसको छोड़ता नहीं है, तब तक उसका कर्ता अज्ञानी होता है। विकार का कर्ता, हों! प्रकृति का नहीं, निमित्त का नहीं। यह तो पहले से निषेध ही किया कि निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध है, कर्ता-कर्म सम्बन्ध नहीं है। निमित्त और प्रकृति के साथ। आहाहा! ऐसा इतना सब याद रखना। वह तो संक्षिप्त था—दया पालना, व्रत पालना और भक्ति करना, पूजा करना। जाओ! परन्तु कहते हैं कि यह सब भाव निमित्त के आधीन हुआ है, तेरा स्वभाव नहीं है। निमित्त से हुआ नहीं, तेरा स्वभाव नहीं। निमित्त के आधीन हुआ भाव और स्वभावभाव का भेदज्ञान नहीं, तब तक वह अज्ञानी मिथ्यादृष्टि और असंयमी है। आहाहा!

तभी तक पर के तथा अपने एकत्व का अभ्यास करने से कर्ता है। कर्ता सिद्ध करना है न? परन्तु किसका कर्ता? निमित्त का नहीं, निमित्ताधीन हुए विकार का कर्ता है। आहाहा! **तभी तक पर के तथा अपने एकत्व का अभ्यास करने से कर्ता है। और जब यही आत्मा (अपने और पर के भिन्न भिन्न) निश्चित स्वलक्षणों के ज्ञान के (भेदज्ञान के) कारण प्रकृति के स्वभाव को...** यह प्रकृति का स्वभाव निमित्ताधीन हुआ, उसे कहा। वह अपना स्वभाव नहीं है। प्रकृति के निमित्त से अर्थात् प्रकृति के निमित्त का स्वभाव। आहाहा! **प्रकृति के स्वभाव को-जो कि अपने को बन्ध का निमित्त है...** कौन? विकार। **उसको-छोड़ता है,...** जब प्रकृति के आश्रय से होता अपना स्वभाव विकार जो कि अपने को बन्ध का निमित्त है। प्रकृति निमित्त है, ऐसा नहीं, बन्ध का निमित्त उसका भाव-विकारी भाव बन्ध का निमित्त है।

जब छोड़ता है, **तब स्व-पर के विभाग ज्ञान से (भेदज्ञान से)...** अपने और पर के भिन्न ज्ञान (से) **ज्ञायक है,...** जाननेवाला है। निमित्त का कर्ता तो नहीं परन्तु विकार का भी कर्ता नहीं। आहाहा! यह ज्ञायक कहा न? पहले कर्ता कहा उस विकार का और यह ज्ञायक कहा, वह विकार का कर्ता नहीं। पर तो निमित्त मात्र एक चीज़ है, इतना। आहाहा!

स्व-पर के विभागदर्शन से (भेददर्शन से) दर्शक है... निमित्त के आश्रय से हुए विकार और स्वभाव के भेदज्ञान से वह सम्यग्दृष्टि है। **और स्व-पर की विभागपरिणति**

से (भेदपरिणति से) संयत है;... प्रकृति के निमित्त से हुआ विकार और स्वभाव का भेदज्ञान होने से और स्वभाव में परिणति होने से वह संयत है। **और तभी स्व-पर के एकत्व का अध्यास न करने से अकर्ता है।** किसका? विकार का। आहाहा! विशेष आयेगा.... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ३८६, कलश-१९६, गाथा - ३१४ से ३१६ बुधवार, माघ शुक्ल ५
दिनाङ्क - ०६-०२-१९८०

समयसार, ३१४-३१५ का भावार्थ है। **जब तक यह आत्मा स्व-पर के लक्षण को नहीं जानता...** ऐसा नहीं लिया कि जब तक कर्म का जोर है।

मुमुक्षु : .....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह बात ही नहीं है। एक द्रव्य का दूसरे द्रव्य पर जोर है ही नहीं। इसलिए **जब तक यह आत्मा...** ऐसा लिया, जब तक कर्म का जोर है, तब तक भेदज्ञान करता नहीं—ऐसा नहीं लिया। पाठ में यह आ गया है। **जब तक यह आत्मा...** वह यह आत्मा कहकर दूसरे आत्माओं से भिन्न करना, सब एक नहीं हैं।

जब तक यह आत्मा स्व-पर के लक्षण को नहीं जानता, तब तक वह भेदज्ञान के अभाव के कारण कर्मप्रकृति के उदय को अपना समझकर परिणमित होता है;... अपना समझकर परिणमता है। **इस प्रकार मिथ्यादृष्टि,...** अपना ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव, उसे छोड़कर और प्रकृति का जो स्वभाव, वह विकार है। है तो जीव की पर्याय का परन्तु वह प्रकृति का स्वभाव है, आत्मा का स्वभाव नहीं, ऐसा भेद करना है। जो प्रकृति के स्वभाव को अपना समझकर परिणमता है। **इस प्रकार मिथ्यादृष्टि, अज्ञानी, असंयमी होकर,...** स्वयं ही मिथ्यादृष्टि झूठी दृष्टि जो स्वभावदृष्टि छोड़कर विभाव प्रकृति के स्वभाव को अपना मानता है, तब तक वह मिथ्यादृष्टि, असंयमी और अज्ञानी होकर, **कर्ता होकर, कर्म का बन्ध करता है।** वह विकार का कर्ता होकर कर्म का बन्ध होता है। आहाहा! कर्ता होकर विकार की परिणति का (बन्ध करता है) स्व

आश्रय छोड़कर और पर आश्रय के अवलम्बन में जाने से वह विकार का कर्ता (होता है)। ज्ञातापना भासित नहीं हुआ, इसलिए कर्तापना तो उसे हो सकता है। इसलिए विकार का कर्ता होकर कर्म का बन्ध करता है। कर्म का बन्ध करता है, यह समझाया है। बाकी कर्मबन्ध तो उसके कारण से होता है। यह स्वयं मानता है तत्प्रमाण, उस काल में कर्म के बन्धन के रजकणों की पर्यायों का कर्मरूप से होने का (काल) है, उसे कर्म को बाँधता है, ऐसा कहते हैं। समझ में आया?

और जब आत्मा को भेदज्ञान होता है,... कर्म शिथिल पड़ते हैं, ऐसी बात नहीं की है। स्वयं ही जब भेदज्ञान होता है, इसमें सब आ गया। क्रमबद्ध भी आयी, सर्वज्ञस्वभावी का निर्णय भी आया। सर्वज्ञस्वभाव आत्मा को राग से भिन्न करके उसका भेदज्ञान करता है। **तब वह कर्ता नहीं होता,...** तब विकार परिणाम होने पर भी प्रकृति के, निमित्त के आश्रय से विकार होने पर भी उसका कर्ता नहीं होता। आहाहा! शब्द तो बहुत सादा है परन्तु यह मूल माल है।

स्व का आश्रय न करके पर का आश्रय करता है, वह राग का कर्ता होता है। और जब भेदज्ञान होता है, प्रकृति का स्वभाव जो विकार होना, उससे भेदज्ञान होता है, तब वह कर्ता नहीं होता। परिणति होती है। प्रकृति के निमित्त की अपनी पर्याय में, अपनी कमजोरी से विकार होता है परन्तु कर्ता नहीं होता। आहाहा! **इसलिए कर्म का बन्ध नहीं करता,...** इसलिए उसे कर्मबन्ध नहीं होता। करता नहीं अर्थात् होता नहीं। आहाहा! **ज्ञातादृष्टारूप से परिणमित होता है।** भेदज्ञान होने पर, यह आ गया। क्रमबद्ध भी इसमें आ गया। वहाँ से शुरु किया है न? शुरुआत, गाथा से शुरुआत (की है)। क्रमबद्ध में स्व का शरण है, वह शरण लिया है, इससे ज्ञाता-दृष्टारूप से परिणमता है। वही उसके क्रमबद्ध में जानना-देखना, वही उसकी परिणति हो, उसे उस प्रकृति के स्वभाव को अपने में रहकर, ज्ञान और दर्शन में रहकर उसे जानता है। यह कर्ता की व्याख्या की।

कलश - १९६

'इसी प्रकार भोक्तृत्व भी आत्मा का स्वभाव नहीं है' इस अर्थ का, आगामी गाथा का सूचक श्लोक कहते हैं–

(अनुष्टुप्)

भोक्तृत्वं न स्वभावोऽस्य स्मृतः कर्तृत्ववच्चितः।
अज्ञाना–देव भोक्तायं तदभावा–दवेदकः ।।१९६।।

श्लोकार्थ : [कर्तृत्ववत्] कर्तृत्व की भाँति [भोक्तृत्वं अस्य चितः स्वभावः स्मृतः न] भोक्तृत्व भी इस चैतन्य का (चित्स्वरूप आत्मा का) स्वभाव नहीं कहा है। [अज्ञानात् एव अयं भोक्ता] वह अज्ञान से ही भोक्ता है, [तद्–अभावात् अवेदकः] अज्ञान का अभाव होने पर वह अभोक्ता है।।१९६।।

कलश - १९६ पर प्रवचन

'इसी प्रकार भोक्तृत्व भी आत्मा का स्वभाव नहीं है'... प्रकृति के आश्रय से होता विकार, उसका भोक्तापना इस जीव का स्वभाव नहीं है। शरीर, वाणी और मन परद्रव्य का भोक्तापना तो है ही नहीं, उसका तो यहाँ प्रश्न है ही नहीं। क्योंकि उन्हें तो यह स्पर्श भी नहीं करता और उनका तो अत्यन्त अभाव है, परन्तु इसकी पर्याय में कर्म के प्रकृति के निमित्त से कमजोरी से होता विकार है, उसका भोक्तापना भी आत्मा का स्वभाव नहीं है। उस विकार का भोगना, वह जीव का स्वभाव नहीं है। आहाहा!

इस अर्थ का, आगामी गाथा का सूचक श्लोक कहते हैं– बाद की गाथा में कहेंगे, उसकी सूचना पहले बताते हैं। बाद की गाथा में कहेंगे उसकी यह सूचना कहते हैं। १९६।

भोक्तृत्वं न स्वभावोऽस्य स्मृतः कर्तृत्ववच्चितः।
अज्ञाना–देव भोक्तायं तदभावा–दवेदकः ।।१९६।।

कर्तृत्व की भाँति भोक्तृत्व भी इस चैतन्य का... राग, दया, दान, काम, क्रोध

के परिणाम का भोक्तापना, वह जीव का स्वभाव नहीं है। आहाहा! जैसे कर्तापना उसका स्वभाव नहीं है, उसी प्रकार उनका वेदना, विकार का वेदना, वह कहीं जीव का स्वभाव नहीं है। आहाहा! '**भोक्तृत्वं अस्य चितः स्वभावः स्मृतः न**' **भोक्तृत्व भी इस चैतन्य का (चित्स्वरूप आत्मा का) स्वभाव नहीं कहा है।** आहाहा! दया, दान के राग को भी भोगे, ऐसा उसका स्वभाव नहीं है। त्रिकाली स्वभाव ज्ञाता-दृष्टा हूँ, ऐसा जहाँ इसे ज्ञान में भेदज्ञान हुआ, इसलिए यह ज्ञाता-दृष्टा को भोगे परन्तु प्रकृति के स्वभाव को नहीं भोगता। परिणाम होता है, प्रकृति के निमित्त से, अपनी कमजोरी से विकार भाव होता है, परन्तु उसे भोगने का स्वभाव नहीं कहा है, उसे भोगने का स्वभाव कहा नहीं है।

'**अज्ञानात् एव अयं भोक्ता**' राग का अनुभव करना, वह अज्ञान से है। आहाहा! क्योंकि राग उसके स्वभाव में नहीं है। वह तो प्रकृति के निमित्त से हुई उपाधि है। उसे भोगना इसका स्वभाव नहीं है। आहाहा! शरीर, वाणी आदि परद्रव्य को भोगना, यह तो बात है ही नहीं। जैसे उनका कर्ता नहीं, वैसे भोक्ता (नहीं), उनके साथ कुछ सम्बन्ध ही नहीं है। मात्र प्रकृति के निमित्त के आश्रय से जो प्रकृति का स्वभाव, चैतन्य का स्वभाव नहीं परन्तु उस प्रकृति का स्वभाव है, ऐसा। उसे भोगने का स्वभाव भगवान ने कहा नहीं और उसमें है नहीं। भोक्तापना चैतन्य का स्वभाव कहा नहीं। आहाहा!

कोई ऐसा कहे कि यह तो ऊपर की बातें हैं। ऊपर के ऊँचे गुणस्थान की (बात है)। यहाँ ऐसा नहीं है, यहाँ तो पहले से ही यह बात है। सम्यग्ज्ञान हुआ, तब से प्रकृति के स्वभाव का भोक्ता नहीं है, उसका जाननेवाला है। आहाहा! जो अपने अस्तित्व में है, उसका वह कर्ता और भोक्ता है। यह विकार अपने अस्तित्व स्वभाव में नहीं है। अपनी सत्ता के स्वभाव में वह नहीं है। इसलिए प्रकृति के निमित्त से होता विकृत स्वभाव, उसका भोक्तापना भगवान ने कहा नहीं है। अर्थात् कि उसके स्वभाव में नहीं है। इसलिए कहते हैं, ज्ञानी राग को भोगता नहीं, ऐसा भगवान ने कहा है और ऐसा है। **स्वभाव नहीं कहा है।** ऐसा कहा न?

'**भोक्तृत्वं अस्य चितः स्वभावः स्मृतः न**' '**स्मृतः न**' '**स्मृतः**' अर्थात् स्मरण में आवे, कि इसकी अपेक्षा ऐसा भगवान ने कहा नहीं और ऐसा उसका स्वभाव है ही नहीं।

आहाहा! कितने ही यह बात सातवें गुणस्थान की है, ऐसा कहते हैं कि यह बात सातवें (गुणस्थान) की बात है। निर्विकल्प सम्यग्दर्शन वहाँ होता है, वहाँ आगे उसे कर्ता-भोक्ता नहीं है, ऐसा इस गाथा के अर्थ में कहते हैं। (परन्तु) ऐसा नहीं है। क्योंकि चैतन्य का स्वभाव ही आनन्द और ज्ञान और दर्शनस्वभाव है। उस स्वभाव का भोक्ता और कर्ता तो उसका स्वरूप है। प्रकृति के निमित्त से होती विकृत दशा का वह कर्ता और भोक्ता समकिती चौथे गुणस्थान से नहीं है। समझ में आया? कोई उसे ऊँचे गुणस्थान में कहते हैं कि भाई! सातवें की बात है। चौथे में अनुभूति नहीं है, ऐसा कहते हैं। है न एक? विद्यासागर जवान है। वे ऐसा कहते हैं, चौथे गुणस्थान में अनुभूति नहीं है। यहाँ चौथे से ही सब बात ली है। सम्यग्दर्शन-ज्ञान से बात ली है।

(चित्स्वरूप आत्मा का)... भगवान तो चित्स्वरूप है, आत्मा तो चित्-ज्ञान स्वरूप है। ज्ञानस्वरूप है, ऐसा जो भान हुआ, वह राग को कैसे भोगे? आहाहा! यह राग आता अवश्य है। साधक है, इसलिए होता अवश्य है, परन्तु उसे जानता है। जानने के अस्तित्व में उसे जानता है कि यह राग है। नहीं है, ऐसा नहीं है तथा भोगता है, ऐसा भी नहीं है। है, तो भी भोगता नहीं। आहाहा! क्योंकि ज्ञाता-दृष्टा ऐसा चैतन्यस्वभाव, प्रकृति के स्वभाव से भेदज्ञान किया है और क्रमबद्ध का फल ही भेदज्ञान है। वहाँ से शुरु किया है न? क्रमबद्ध का परिणाम ही अकर्तापना है। राग और राग का फल, उसका करना और भोगना वह जीव का स्वभाव नहीं है। क्रमबद्ध में यह आ गया है। शुरुआत में क्रमबद्ध सिद्ध करने में अकर्तापना सिद्ध किया है। उसकी यह सब व्याख्या विस्तार है। आहाहा!

जिस समय में जो पर्याय होनेवाली है, वह होती है, उसे जाननेवाला जानता है। रागादि को जानता है, भोगता नहीं। आहाहा! होता है, होता है (परन्तु) भोगता नहीं। उससे भिन्न सत्ता स्वभाव का भान है, उस चैतन्य की महासत्ता प्रभु है, उसे स्वयं करे और भोगे, ऐसा उसे व्यवहार से हो जाता है। आहाहा!

मुमुक्षु : दीपचन्दजी सेठिया ऐसा ही कहते थे न कि राग को वेदता नहीं है।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, वे कहते थे। उनकी इसमें बड़ी भूल आयी थी न। न्यालभाई के कारण। न्यालभाई ने ऐसा कहा न कि शुभभाव है, वह भट्टी है। वह उन्हें रुचिकर नहीं

हुआ। शुभभाव, वह भट्टी है। तो वे कहें कि नहीं। दुःख है, वह शुभभाव दुःख है। तो यह कहे कि दुःख का वेदन ज्ञानी को नहीं होता, ऐसा कहते थे।

मुमुक्षु : दर्शन अपेक्षा से नहीं होता परन्तु ज्ञान अपेक्षा से होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : किसी अपेक्षा से वेदन नहीं होता। दुःख का जाननेवाला है। वेदन भी है, वेदन है परन्तु उसका जाननेवाला है। वेदन नहीं है, ऐसा नहीं है। बिल्कुल वेदन ही नहीं है, ऐसा नहीं है तथा वेदन होने पर भी है वेदन, उसे जानता है। है उसे जाने या न हो उसे जाने? वेदन है। तो वे ऐसा कहते थे कि दुःख का वेदन करे, वह तीव्र कषायी जीव है, ऐसा कि वह समकिती नहीं है—ऐसा वे कहते थे। तथापि उनके साथ यह सुमेरुमल वह बेचारा कहता था कि भाई! हम इसके स्पष्टीकरण के लिये महाराज के पास जाएँ। ऐसी बात उन्होंने की थी, परन्तु वे कुछ आ नहीं सके। ऐसा वे कहते थे।

मुमुक्षु : आपने फरमाया न कि राग का जाननेवाला है, वेदन करनेवाला नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : जाननेवाला भी वेदन है, पर्याय में वेदन बिल्कुल नहीं (ऐसा नहीं)। जाननेवाला है, वह तो ज्ञान की अपेक्षा से कहा, परन्तु वेदन न होवे तो पूर्ण वीतरागता हो। मिथ्यादृष्टि को अकेला पूर्ण वेदन है (विकार का); केवली को पूर्ण वेदन है अकेला शान्ति का; मिथ्यादृष्टि को पूर्ण वेदन है अकेला विकार का; साधक को वेदन शुद्धता का और अशुद्धता का दोनों का है। यहाँ तो उसे ज्ञाता-दृष्टारूप से बतलाना है इसलिए। प्रकृति में वेदन है। वेदन न होवे तो पूर्ण वेदन वीतराग होना चाहिए। पूर्ण वीतराग वेदन में राग का वेदन नहीं होता, परन्तु जहाँ अधूरी दशा है, वहाँ वेदन भी है और उसका ज्ञाता भी है। आहाहा!

मुमुक्षु : ऐसा मानते हैं कि वेदे नहीं परन्तु छेदे?

पूज्य गुरुदेवश्री : है उसको कहाँ छेदना है? पश्चात् छिदता है, बाद में। है, उसकी यहाँ तो अस्ति बतानी है, उसे छेदना कहाँ है? छेदे तो बाद में। है उस समय छिदता है? आहाहा! यहाँ तो प्रकृति का वेदन है तो सही, उसे जानता है, ऐसा कहा; तो है, उसको जानता है या न हो, उसे जानता है? आहाहा! यह थोड़े से अन्तर में बड़ा अन्तर है। एक न्याय भी बदले तो पूरा तत्त्व बदल जाता है।

साधक को बाधकपना साथ में है, केवली को बाधकपना नहीं है। साधक नहीं उसे—मिथ्यादृष्टि को अकेला बाधकपना है। सम्यग्दृष्टि को साधकपना है, वहाँ बाधकपना भी है। यह श्लोक पहले आ गया है। वे दोनों एक साथ रहें, उसमें विरोध नहीं है। ज्ञान (धारा) और कर्मधारा दोनों एक साथ रहने में विरोध नहीं है। सम्यग्ज्ञान और मिथ्याज्ञान एक साथ रहने में विरोध है। परन्तु ज्ञानधारा और कर्मधारा के रहने में विरोध नहीं है। यह श्लोक आ गया है। जब तक कर्म की विरति पूर्ण न हो, राग की निवृत्ति पूर्ण न हो, तब तक कर्मधारा और ज्ञानधारा दोनों का वेदन है। परन्तु वह मेरे रूप है, ऐसा वेदन में तो नहीं है। समझ में आया? आहाहा!

यह तो सुमेरुमल कहते हैं कि उस समय मैंने उनसे कहा था। इन्हें नहीं बैठता। उन्हें कहा था कि भाई! यह अन्तर है, अपन महाराज के पास जाएँ। आ नहीं सके। बात ऐसी कठिन है और उसमें पकड़ होकर वापस छोड़े (नहीं तो) कठिन पड़े, बहुत कठिन पड़े। (ज्ञानी को दुःख का) वेदन नहीं है, ऐसा कहा है, वह तो ज्ञाता-दृष्टा की प्रधानता से कहा है। परन्तु वेदन न होवे तो निर्जरा अधिकार में कहा है कि सुख-दुःख का वेदन होता ही है। दूसरी गाथा में है, निर्जरा की दूसरी गाथा। पहली गाथा में द्रव्य निर्जरा, दूसरी में भाव निर्जरा (ली है)। वहाँ सुख-दुःख का वेदन, सुख-दुःख का भाव होता ही है, तथापि वह खिर जाता है। ज्ञाता-दृष्टा है न! दूसरी गाथा में है न? सुख-दुःख को उल्लंघता नहीं है। होता है परन्तु खिर जाता है। आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि राग का, प्रकृति के निमित्त से होती उपाधि का भोक्तापना इस चैतन्य का स्वभाव नहीं है, इसका स्वभाव तो ऐसा नहीं है। **वह अज्ञान से ही भोक्ता है,...** उसमें है, वह वेदन है, उसे जानता है और वेदन है। यह तो अकेला अज्ञान से भोक्ता है। प्रकृति के स्वभाव को अज्ञान से भोगता है। अपने स्वरूप की खबर नहीं, आनन्द स्वरूप भगवान, ज्ञानस्वरूपी प्रभु, त्रिकाली ज्ञानस्वभाव परम पंचमभाव में उस प्रकृति का स्वभाव मिश्रित होता नहीं। इस अपेक्षा से उसे भिन्न रखकर जानता है, ऐसा कहा है। बाकी वेदता भी है; वेदे नहीं तो है, उसे वेदे नहीं? जाने अवश्य। आहाहा!

समयसार की शैली अन्तर की अलौकिक है। यह कोई बाहर से यह बात कहीं

मिलान खाये, ऐसा नहीं है। आहाहा! उसकी सत्ता, महासत्ता अकेली आनन्द और ज्ञानमय है। इससे उसे प्रकृति के स्वभाव का वेदन नहीं है, ऐसा कहा, वह आत्मा के स्वभाव की अपेक्षा से (कहा है)। बाकी तो कर्मधारा में वेदन है, ऐसा भी कहा है। दोनों हैं। राग का वेदन है और आस्रव अधिकार में यहाँ तक कहा कि जब तक यथाख्यातचारित्र नहीं, तब तक जघन्यरूप से वेदन है, उसमें राग का वेदन भी है। आस्रव अधिकार। आहाहा! है और नहीं; नहीं और है, यह अपेक्षा है। आहाहा! उसका स्वभाव कहा नहीं, वेदन करना, उसका स्वभाव कहा नहीं। होता है, वह वेदन बिना होता है? राग हुआ, वह वेदन बिना हुआ? परन्तु उसका स्वभाव नहीं है, ऐसा यहाँ कहना है। आत्मा का स्वभाव नहीं कहा। **वह अज्ञान से ही भोक्ता है,** उसका भोक्तापना स्वभाव को भूलकर अकेला राग का भोक्ता होता है, वह अज्ञान से होता है। आहाहा! बात साधारण है परन्तु बात मुद्दे की है। ऐसे तो कर्ता नहीं और भोक्ता नहीं, ऐसा सुना तो बहुत बार होगा। बहुत बार यह बात हो गयी है। परन्तु इसका मूल मर्म जब तक न समझे... कि वस्तु है, वह प्रकृति के स्वभाव को करे और वेदे, यह वस्तु का स्वभाव नहीं है। वस्तु का स्वभाव नहीं है परन्तु पर्याय में वेदन और परिणमन है, उसे जानता है। आहाहा!

गाथा - ३१६

अण्णाणी कम्म-फलं पयडिसहावट्ठिदो दु वेदेदि।
णाणी पुण कम्मफलं जाणदि उदिदं ण वेदेदि।।३१६।।

अज्ञानी कर्मफलं प्रकृतिस्वभावस्थितस्तु वेदयते।
ज्ञानी पुनः कर्मफलं जानाति उदितं न वेदयते।।३१६।।

अज्ञानी हि शुद्धात्मज्ञानाभावात् स्वपरयोरेकत्वज्ञानेन, स्वपरयोरेकत्वदर्शनेन, स्वपर-योरेकत्वपरिणत्या च प्रकृतिस्वभावे स्थितत्वात् प्रकृतिस्वभावमप्यहन्तया अनुभवन् कर्मफलं वेदयते।

ज्ञानी तु शुद्धात्मज्ञानसद्भावात् स्वपरयोर्विभागज्ञानेन, स्वपरयोर्विभागदर्शनेन, स्वपरयोर्विभाग-परिणत्या च प्रकृतिस्वभावादपसृतत्वात् शुद्धात्मस्वभावमेकमेवाहन्तया अनुभवन् कर्मफलमुदितं ज्ञेयमात्रत्वात् जानात्येव, न पुनः तस्याहन्तयाऽनुभवितुम-शक्यत्वाद्वेदयते।।३१६।।

अब, इसी अर्थ को गाथा द्वारा कहते हैं-

अज्ञानी स्थित प्रकृती स्वभाव सु, कर्मफल को वेदता।
अरु ज्ञानि तो जाने उदयगत कर्मफल, नहिं भोगता।।३१६।।

गाथार्थ : [अज्ञानी] अज्ञानी [प्रकृतिस्वभावस्थितः तु] प्रकृति के स्वभाव में स्थित रहता हुआ [कर्मफलं] कर्मफल को [वेदयते] वेदता (भोगता) है [पुनः ज्ञानी] और ज्ञानी तो [उदितं कर्मफलं] उदित में आये हुए (उदयागत) कर्मफल को [जानाति] जानता है, [न वेदयते] भोगता नहीं।

टीका : अज्ञानी शुद्ध आत्मा के ज्ञान के अभाव के कारण स्व-पर के एकत्वज्ञान से, स्व-पर के एकत्व दर्शन से और स्व-पर की एकत्वपरिणति से प्रकृति के स्वभाव में स्थित होने से प्रकृति के स्वभाव को भी 'अहं' रूप से अनुभव करता हुआ (अर्थात् प्रकृति के स्वभाव को भी 'यह मैं हूँ' इस प्रकार अनुभवन करता हुआ) कर्मफल को वेदता-भोगता है; और ज्ञानी तो शुद्धात्मा के ज्ञान के सद्भाव के कारण स्व-पर के

विभाग ज्ञान से, स्व-पर के विभाग-दर्शन से और स्व-पर की विभागपरिणति से प्रकृति के स्वभाव से निवृत्त (दूरवर्ती) होने से शुद्ध आत्मा के स्वभाव को एक को ही 'अहं' रूप से अनुभव करता हुआ उदित कर्मफल को, उसके ज्ञेयमात्रता के कारण, जानता ही है, किन्तु उसका 'अहं' रूप से अनुभव में आना अशक्य होने से, (उसे) नहीं भोगता।

भावार्थ : अज्ञानी को तो शुद्धात्मा का ज्ञान नहीं है, इसलिए जो कर्म उदय में आता है, उसी को वह निजरूप जानकर भोगता है; और ज्ञानी को शुद्ध आत्मा का अनुभव हो गया है, इसलिए वह उस प्रकृति के उदय को अपना स्वभाव नहीं जानता हुआ उसका मात्र ज्ञाता ही रहता है; भोक्ता नहीं होता।

गाथा - ३१६ पर प्रवचन

अब, इसी अर्थ को गाथा द्वारा कहते हैं-

अण्णाणी कम्म-फलं पयडिसहावट्ठिदो दु वेदेदि।
णाणी पुण कम्मफलं जाणदि उदिदं ण वेदेदि।।३१६।।

यहाँ तो यह सिद्ध करना है न?

अज्ञानी स्थित प्रकृती स्वभाव सु, कर्मफल को वेदता।
अरु ज्ञानि तो जाने उदयगत कर्मफल, नहिं भोगता।।३१६।।

मेरेरूप से वेदता नहीं है। वेदन तो है। आस्रव अधिकार में ले लिया है। जब तक जघन्य है, तब तक वेदन है। यथाख्यातचारित्र न हो, तब तक उसे यह वेदन है। परन्तु यह वास्तव में ज्ञाता-दृष्टारूप से लेने पर उसका जाननेवाला है, ऐसा कहने में आया है। उसके ज्ञाता-दृष्टा के स्वभाव के कारण उसके स्वभाव में वह वेदन का नहीं है, इस अपेक्षा से वेदन नहीं है, ऐसा कहा है। परन्तु पर्याय की अपेक्षा से अन्दर वेदन है, यह बात भी कहीं झूठ नहीं है। न हो तो आत्मा का पूर्ण वेदन चाहिए। जहाँ पूर्ण वीतरागी वेदन नहीं, वहाँ आगे दो प्रकार है। आहाह **अज्ञानी स्थित प्रकृती स्वभाव सु, कर्मफल को वेदता...** देखा? प्रकृतिस्वभावे स्थित रही। **अरु ज्ञानि तो जाने उदयगत कर्मफल, नहिं भोगता।**

टीका :- अज्ञानी शुद्ध आत्मा के ज्ञान के अभाव के कारण... शुद्ध आत्मा।

आत्मा तो शुद्ध है, पवित्र है, अनन्त गुण का धनी, वह तो पवित्र है। अनन्त गुण सब संख्या से भले अनन्त अपार नहीं ऐसे असंख्य भी सब पवित्र है। अनन्त! असंख्य प्रदेश में असंख्य गुण, पार नहीं इतने भी हैं सब गुण पवित्र। अनन्त गुण में से कोई गुण अपवित्र है, ऐसा नहीं है।

अज्ञानी शुद्ध आत्मा के ज्ञान के अभाव के कारण स्व-पर के एकत्वज्ञान से,... राग और ज्ञान के एकत्वभाव से। **स्व-पर के एकत्व दर्शन से...** ज्ञान और राग के एकत्व श्रद्धा से। **और स्व-पर की एकत्वपरिणति से...** चारित्र। स्व और राग की एकत्वपरिणति से **प्रकृति के स्वभाव में स्थित होने से...** स्व-पर की एकत्वपरिणति। वहाँ स्व शब्द से स्वभाव प्रगट है, ऐसा नहीं।

मात्र ज्ञाता है, उसके साथ शामिल प्रकृति के स्वभाव को वेदता है, बस! और स्व-पर की एकत्व परिणति अर्थात् स्व की शुद्धता परिणति और पर की अशुद्धता परिणति, ऐसा नहीं। **स्व-पर की एकत्वपरिणति से...** ज्ञाता-दृष्टा को भूलकर प्रकृति के स्वभाव को वेदता है, वह स्व-पर की एकत्वबुद्धि है। इसका अर्थ ऐसा नहीं है कि अज्ञानी को शुद्ध परिणति भी है और अशुद्ध भी है। यहाँ तो अज्ञानी की बात है, तथापि भाषा तो ऐसी है— स्व-पर की एकत्व परिणति से। स्व अर्थात् शुद्ध परिणति साथ में है, ऐसा नहीं है। आहाहा!

अज्ञान में तो अकेली स्व के साथ विकार की एकत्व की परिणति से **प्रकृति के स्वभाव में स्थित होने से...** देखा? स्व-पर शब्द कहा तो स्व में किंचित् स्थित है, ऐसा नहीं है। आहाहा! प्रकृति के स्वभाव में स्थित रहकर, अपनी पर्याय में बिल्कुल स्थित रहे बिना। प्रकृति के स्वभाव—विकार, राग और द्वेष प्रकृति का स्वभाव है, चैतन्य का स्वभाव नहीं—ऐसी बात है। तथा प्रकृति से हुआ है, ऐसा भी नहीं है। हुआ है स्वयं से, परन्तु उस प्रकृति के लक्ष्य से हुआ है, इसका स्वभाव नहीं है। इसमें से ऐसा निकालते हैं कि उस प्रकृति के कारण ही विकार होता है अथवा निमित्त के कारण विकार होता है, ऐसा कोई निकाले तो ऐसा नहीं है। आहाहा!

स्व-पर की एकत्वपरिणति से प्रकृति के स्वभाव में स्थित होने से प्रकृति के स्वभाव को भी... देखा? इतनी बात है। प्रकृति का स्वभाव जो विकृत है, उसको **'अहं' रूप से अनुभव करता हुआ...** उस विकार को 'अहं' रूप से जानकर अनुभव करता हुआ। इसे ज्ञाता-दृष्टा की खबर नहीं। मेरी सत्ता विकार से भिन्न मेरी सत्ता है, मेरा

सत्त्व ही अत्यन्त शुद्ध है उसकी तो इसे खबर नहीं। इसलिए वह प्रकृति के स्वभाव को (मैंपने अनुभव करता है)। कहीं मैंपने (तो अनुभव करेगा)। जब यहाँ मैंपना स्वभाव है, ऐसा तो ख्याल नहीं, तब कहीं मैंपने तो इसे वेदन करना पड़ेगा। **'अहं' रूप से अनुभव करता हुआ (अर्थात् प्रकृति के स्वभाव को भी 'यह मैं हूँ' इस प्रकार अनुभवन करता हुआ)**.. यह 'भी' क्यों लिया? कि प्रकृति का स्वभाव इसका नहीं है, तथापि प्रकृति के स्वभाव को भी, ऐसा। उसके साथ स्वभाव का भान है, ऐसा नहीं। यहाँ तो अज्ञानी की बात है न?

अज्ञानी प्रकृति के स्वभाव को भी **'अहं' रूप से अनुभव करता हुआ (अर्थात् प्रकृति के स्वभाव को भी 'यह मैं हूँ' इस प्रकार अनुभवन करता हुआ)**... वस्तु तो देखी नहीं, वस्तु की ओर नजर की नहीं, प्रभु की महासत्ता पड़ी है, उसके सामने देखा नहीं। इसलिए पर्यायबुद्धिवाला तो प्रकृति के स्वभाव को ही मैंपने वेदता है। आहाहा! कथन सादा है परन्तु है मर्मवाला, सूक्ष्म मर्मवाला है। यह प्रकृति के स्वभाव को मैंपने वेदता है। स्वयं कौन है, उसकी इसे खबर नहीं है। अज्ञान के कारण... कहा न? **अज्ञानी शुद्ध आत्मा के ज्ञान के अभाव के कारण**... अर्थात् शुद्ध सत्ता के भान के अभाव के कारण। चैतन्य की शुद्ध सत्ता, वह चैतन्य है। ऐसे आत्मा के शुद्धस्वभाव के ज्ञान के अभाव के कारण। उसका ज्ञान ही नहीं है। आहाहा!

स्व-पर के एकत्वज्ञान से,... स्वयं ज्ञाता उसके साथ राग को मिलाकर **स्व-पर के एकत्व दर्शन से और स्व-पर की एकत्वपरिणति से प्रकृति के स्वभाव में स्थित होने से**... यह तो प्रकृति—राग में स्थित है। आहाहा! राग बिनारहित चीज़ ज्ञाता-दृष्टा महासत्ता प्रभु उस शुद्ध का उसे ज्ञान नहीं है। आहाहा! पर्यायबुद्धिवाला, उसे शुद्धस्वभाव की सत्ता का ज्ञान नहीं है। इसलिए पर्यायबुद्धि में रहा हुआ वह प्रकृति के स्वभाव में स्थित रहकर। ऐसे (-स्वभाव में स्थिर होना चाहिए, वह नहीं तो ऐसे स्थित रहकर) प्रकृति का स्वभाव राग और द्वेष, पुण्य और पाप, दया और दान, काम और क्रोध में स्थित रहकर, स्थित होने से।

प्रकृति के स्वभाव को भी 'अहं' रूप से अनुभव करता हुआ (अर्थात् प्रकृति के स्वभाव को भी 'यह मैं हूँ' इस प्रकार अनुभवन करता हुआ) कर्मफल

को वेदता है;... कर्म के फल को वेदता है। भगवान चैतन्य का आनन्द का फल शान्ति... आहाहा! ज्ञानचेतना का वेदन उसे नहीं है, अर्थात् आत्मा का वेदन नहीं है, इसलिए कर्म की प्रकृति का वेदन उसको है। प्रकृति अर्थात् उसके निमित्त से होता स्वभाव। **कर्मफल को वेदता है;...** अज्ञानी तो **कर्मफल को वेदता-भोगता है;...** आहाहा!

और ज्ञानी तो शुद्धात्मा के ज्ञान के सद्भाव के कारण... धर्मी को शुद्ध आत्मा के ज्ञान के सद्भाव के कारण। शुद्ध आत्मा की अस्ति वही मैं हूँ। धर्मी को शुद्ध आत्मा की सत्ता, वही मैं हूँ। राग का प्रकृति का जो स्वभाव, वह मैं नहीं, मेरा स्वरूप नहीं, मेरा स्वभाव नहीं। आहाहा! **शुद्धात्मा के ज्ञान के सद्भाव के कारण स्व-पर के विभाग ज्ञान से,...** लो! इसमें तो पृथक् किया, इसमें स्व का वेदन है और राग भिन्न है, ऐसे दोनों हैं। उसमें (अज्ञानी के स्वरूप में) स्व-पर कहा था परतु स्व शब्द से ज्ञातादृष्टा है इतना, परिणति नहीं। यहाँ तो परिणति है। **स्व-पर के विभाग ज्ञान से,...** स्व-पर का विभाग का ज्ञान है, प्रगट हुआ है। ज्ञाता-दृष्टा और राग का स्वभाव दोनों का भिन्नपने का भान, ज्ञान परिणमा है। आहाहा!

स्व-पर के विभाग-दर्शन से... स्व-पर के विभाग श्रद्धा से। ऐसे लो तो दर्शन का स्वभाव तो वह मात्र स्व को पूर्ण रूप से श्रद्धा करना, उसमें कुछ पर आता है नहीं है। यहाँ तो दोनों लिये हैं। ज्ञानप्रधान कथन है (इसलिए) दोनों साथ में लिये हैं। **स्व-पर के विभाग-दर्शन से...** स्व का आनन्द का वेदन और प्रकृति, दोनों के भिन्न दर्शन से। देखो! इस श्रद्धा में दो भाग कर डाले। ऐसे समकित का विषय एक अभेद ग्यारहवीं गाथा में कहा। '**भूदत्थ मस्सिदो खलु...**' अकेला भूतार्थ, वह सम्यक्त्व का विषय है। यहाँ कहते हैं, समकित के विषय में स्व-पर का विभाग दोनों है। आहाहा! किस अपेक्षा से कहाँ कैसे है, ऐसा जानना चाहिए न। आहाहा!

स्व-पर के विभाग-दर्शन से... दो आये। समकित के विषय में तो दो आये। आहाहा! स्व-पर का विभाग। उसमें एक ही (आया)। समकित में अकेला भूतार्थ अकेला आया। प्रवचनसार में आता है न? ज्ञान और ज्ञेय की श्रद्धा। उसे दोनों की श्रद्धा ली है। पाठ में टीका है। ज्ञानस्वरूप और ज्ञेय, उसका जो ज्ञान और आत्मा का ज्ञान, दोनों की श्रद्धा उसे है। एक जगह श्रद्धा का विषय एक ही दर्शन, त्रिकाली ज्ञायक भूतार्थ है—ऐसा कहा;

और यहाँ कहा कि ज्ञान अपना और ज्ञेय का ज्ञान, दोनों की श्रद्धा, वह समकित है। आहाहा! ऐसा है।

मुमुक्षु : दोनों की श्रद्धा, वह निश्चय सम्यक् या व्यवहार सम्यक?

पूज्य गुरुदेवश्री : निश्चय... निश्चय। यह निश्चय है। स्व-पर के विभाग का दर्शन, यह निश्चय है। वहाँ यह कहा है, ज्ञान और ज्ञेय, दो की श्रद्धा (वह) समकित, यह भी निश्चय है, व्यवहार नहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : ज्ञानप्रधान श्रद्धा हुई?

पूज्य गुरुदेवश्री : ज्ञानप्रधान कथन में यह आता है, ऐसा ही आता है। वहाँ दोनों का इकट्ठा लिया है। ज्ञान पर्याय का स्वभाव है कि जो पर को जाने, वह ज्ञान और स्वयं वस्तु, दोनों की श्रद्धा, वह समकित है, वहाँ ऐसा लिया है। आहाहा! कहाँ कितनी अपेक्षाएँ पड़ती हैं। लोग उलझ जाते हैं।

मुमुक्षु : एक गुण में अनन्त गुण का रूप होता है, इसलिए ऐसा वहाँ कहा?

पूज्य गुरुदेवश्री : ऐसा नहीं। वह दूसरी बात, यह दूसरी बात। वह तो एक गुण में दूसरे गुण का रूप है। इसमें ऐसा नहीं है। यहाँ तो परिणति में शुद्ध परिणति है, तथापि उसके साथ राग भी है और शुद्ध परिणति में राग का ज्ञान है। वह ज्ञान और श्रद्धा त्रिकाली दो होकर समकित है, ऐसा कहा है। रूप की बात यहाँ नहीं है। आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई!

स्व-पर के विभाग-दर्शन से... यह तो समयसार में भी आता है। स्व-पर की दोनों की श्रद्धा। ज्ञान की पर्याय में उसका ज्ञान होता है, इसलिए जो पर सम्बन्धी का ज्ञान और अपना ज्ञान, दोनों की श्रद्धा वह समकित है इसलिए वह वस्तु हुई, पूरी वस्तु आ गयी। ऐसे समकित के विषय में यह पर की, दो की भेद का अपेक्षा किसी जगह बिल्कुल इनकार करते हैं। पर की, भेद की अपेक्षा है ही नहीं। और यहाँ कहते हैं कि दो इकट्ठे हैं ज्ञान और ज्ञेय, आत्मा दोनों की श्रद्धा। यह विभाग, यह दोनों का भिन्न उठाया है। इसका नाम समकित है, ऐसा आया न? स्व-पर के विभाग के दर्शन से। आहाहा!

मुमुक्षु : स्पष्ट बात है।

पूज्य गुरुदेवश्री : है, यह भी है, एकान्त नहीं है। अनेकान्त में भी सम्यक् एकान्त

ऐसा समाहित हो जाता है। आहा! स्वयं अपना ज्ञान और पर का ज्ञान सब होकर समकित का विषय है—ऐसा भी कहते हैं। तथा एक ओर अकेला भूतार्थ त्रिकाल सत्ता, वह समकित का विषय है—ऐसा भी कहते हैं। दर्शनप्रधान से ऐसा कहते हैं, ज्ञानप्रधान से ऐसा कहते हैं। दोनों अपेक्षा जाननी चाहिए। दोनों मिथ्या नहीं है, दोनों यथार्थ है। आहाहा!

मुमुक्षु : राजमलजी ने सात तत्त्व की श्रद्धा को मिथ्यात्व कहा।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो कहा, भेदवाली (श्रद्धा)। सात तत्त्व का भेद, वह श्रद्धा मिथ्यात्व है। परन्तु यहाँ मोक्षमार्ग में नव तत्त्व की श्रद्धा, वह समकित है। परन्तु यहाँ मोक्षमार्ग में नव तत्त्व की श्रद्धा वह समकित है। कहा या नहीं? यह तत्त्वार्थसूत्र में एकवचन है, एकवचन अर्थात् सब अभेद, अभेद की श्रद्धा हुई। आहाहा! १३वीं गाथा कहा न? 'भूदत्थेणाभिगदा'। भूतार्थ को जानने से अर्थात् आत्मा को जानना और दूसरी चीज़ (जो) उसमें नहीं है, उसका ज्ञान उसमें हो जाता है। आत्मा का ज्ञान होने से दूसरी पर्यायें और दूसरा भाव उसमें नहीं है, उसका ज्ञान साथ में हो जाता है। इसलिए उसे ज्ञान और आत्मा की श्रद्धा को समकित कहा, दोनों इकट्ठे मिलकर समकित कहा। है भाई! सब बात ख्याल में तो है। आहाहा!

मुमुक्षु : यहाँ तो दो भिन्न करने की श्रद्धा को समकित कहा।

पूज्य गुरुदेवश्री : यहाँ तो भिन्न करने की श्रद्धा को सम्यग्दर्शन कहा। भेदज्ञान के भी दो प्रकार हैं। राजमलजी ने टीका में लिखा है कि एक भेदज्ञान विकल्पवाला है। केवलज्ञान की भाँति वह नहीं है। राजमलजी की टीका में है। और एक भेदज्ञान जयसेनाचार्य की टीका में (कहा है कि) भेदज्ञान, वही अभेदज्ञान है। पर से भिन्न किया, वही स्वभाव का अभेदज्ञान है। जयसेनाचार्य की टीका में ऐसा है। है, खबर है। आहाहा! विशाल... विशाल। अनेकान्तमार्ग जिस प्रकार से कहा, उस प्रकार से उसे समझना चाहिए, अपनी कल्पना उसमें नहीं डालना चाहिए।

यहाँ तो **स्व-पर के विभाग-दर्शन से समकित है और स्व-पर की विभाग-परिणति से प्रकृति के स्वभाव से निवृत्त (दूरवर्ती) होने से...** चारित्र में। स्व की रमणता (है और) पर से **निवृत्त (दूरवर्ती) होने से...** है। प्रकृति के स्वभाव से निवर्त गया हुआ **होने से शुद्ध आत्मा के स्वभाव को...** देखा? **शुद्ध आत्मा के स्वभाव को एक**

को ही 'अहं' रूप से अनुभव करता हुआ... चारित्र। एक को ही मैं अनुभवता हुआ। आनन्द और ज्ञान यह चैतन्य का स्वरूप एकरूप है, उसे अनुभवता हुआ। गाथायें सादी हैं परन्तु भाव जरा गहरा है। आहाहा!

शुद्ध आत्मा के स्वभाव को एक को ही... देखा? विभाग बताये सही, परन्तु एक को ही **'अहं' रूप से अनुभव करता हुआ उदित कर्मफल को, उसके ज्ञेयमात्रता के कारण,...** कर्म का फल है, वह तो ज्ञान का ज्ञेय है। रागादि आया है, वह ज्ञान का परज्ञेय है, स्वज्ञेय नहीं। परज्ञेयरूप से उसे जानता है। देखा? **उसके ज्ञेयमात्रता के कारण,...** ज्ञेयमात्रपने के कारण। राग आया, वह तो ज्ञेयमात्र कर्मफल है। ज्ञेयमात्र—जाननेमात्र ही है। आहाहा! **जानता ही है,...** ज्ञान में राग **ज्ञेयमात्रता के कारण,...** राग को जानता ही है, **किन्तु उसका 'अहं' रूप से अनुभव में आना अशक्य होने से,...** उस राग को मेरेपने अनुभव करना अशक्य होने से। आहाहा! वेदन है परन्तु मेरेपने वेदन (होना अशक्य है)। वह मेरा स्वरूप है, इस प्रकार से अनुभवना अशक्य होने से, **(उसे) नहीं भोगता।** इस अपेक्षा से उसे वेदता नहीं, ऐसा कहा है। समझ में आया?

तीनों बोल लिये। सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्र। तीनों में स्व-पर का विभाग लिया। स्व-पर का विभाग वह ज्ञान है; स्व-पर का विभाग वह दर्शन है और स्व-पर का विभाग प्रकृति का भिन्नपने का जो सेवन, वह चारित्र है। आहाहा! और उसमें राग आता है, यह राग आता है, उसे जानता है। **ज्ञेयमात्रता के...** ऐसा आया न? **ज्ञेयमात्रता के कारण,...** अकेला ज्ञेयमात्र है। परज्ञेय, हों! स्वज्ञेय तो त्रिकाली शुद्ध, वह नहीं। आहाहा! पर **ज्ञेयमात्रता के कारण, जानता ही है,...** आहाहा! **किन्तु उसका 'अहं' रूप से अनुभव में आना अशक्य होने से, (उसे) नहीं भोगता।** 'मैंपने' अनुभवता-वेदता नहीं हूँ। यह राग मेरा स्वभाव है, ऐसा अनुभवता नहीं है। आहाहा! एक ओर कहते हैं कि दोनों को वेदता है, एक ओर कहते हैं कि एक को—स्व को ही वेदता है और पर को तो ज्ञेयमात्ररूप से जानता ही है।

मुमुक्षु : दोनों में क्या सच्चा है?

पूज्य गुरुदेवश्री : दोनों सच्चा है। भावार्थ विशेष कहेंगे....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ३८७, कलश-१९७, गाथा - ३१६ से ३१७ गुरुवार, माघ शुक्ल ६
दिनाङ्क - ०७-०२-१९८०

३१६ गाथा का भावार्थ। समयसार। **अज्ञानी को तो शुद्धात्मा का ज्ञान नहीं है...** अज्ञानी अर्थात् जिसे आत्मा क्या चीज़ है, इसका ज्ञान नहीं है। पर्याय और राग पर दृष्टि होने से उसे शुद्ध आत्मा का ज्ञान नहीं है। **इसलिए जो कर्म उदय में आता है,...** जो वस्तु है, वह दृष्टि में नहीं आती, आयी नहीं; इसलिए कहीं तो अपना अस्तित्व मानना पड़ेगा। उस प्रकृति के उदय में स्वयं अपनेरूप जानता है। ऐसा चैतन्य आनन्दस्वरूप है, उसका अस्तित्व, उसकी मौजूदगी को नहीं मानकर, इस ओर प्रकृति के निमित्त से उत्पन्न हुआ विकारी भाव, उसे अपना मानता है। आहाहा! (उसे) **निजरूप जानकर...** स्वयं आनन्द और ज्ञानस्वरूप है, उसका ज्ञान नहीं होने से प्रकृति के निमित्त से हुई स्वभाव प्रकृति राग-द्वेष आदि को **निजरूप जानकर भोगता है;...** आहाहा! पर को तो कुछ भोग नहीं सकता। शरीर को, वाणी को, पर को तो आत्मा भोग नहीं सकता। क्योंकि परद्रव्य है। परद्रव्य को तो स्पर्श नहीं कर सकता। मात्र अपने में अपनेपने का भान नहीं होने से अपने में प्रकृति का स्वभाव उत्पन्न होने से उसे अपना मानकर उसे अनुभव करता है।

मुमुक्षु : विभावभाव को अपना मानता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : स्वयं यहाँ इस ओर क्या है, उसे जाना नहीं। अन्तर चीज महाप्रभु आनन्दस्वरूप, चैतन्यस्वरूप है, उसकी सत्ता, उसका अस्तित्व, उसकी मौजूदगी त्रिकाली है, उसकी जिसे खबर नहीं, उस ओर नजर नहीं, उस ओर की पहिचान भी नहीं कि यह मैं कौन हूँ? क्या है यह वह? इससे जो प्रकृति के निमित्त से जो विकार होता है, उसे अपनेरूप जानकर भोगता है। आहाहा! आनन्द का भोग छोड़कर राग और विकार को भोगता है। आनन्दस्वरूप भगवान को तो जाना नहीं, उसे लक्ष्य में लिया नहीं; इसलिए जहाँ लक्ष्य है उसे वह भोगता है। उसका लक्ष्य प्रकृति के स्वभाव पर राग और द्वेष (होता है, उसके ऊपर है)। प्रकृति तो निमित्त है परन्तु यहाँ उसकी ओर का स्वभाव लेना है न! उसकी ओर के झुकाव का विभाव। उसे अपनेरूप जानकर भोगता हैै। आहाहा!

और ज्ञानी को शुद्ध आत्मा का अनुभव हो गया है... आत्मा सच्चिदानन्द

शुद्ध प्रभु पवित्र धाम, पवित्र सत्ता का अनुभव हुआ है, उस सन्मुख के झुकाव से उस चीज़ की सत्ता का सामर्थ्य अनुभव में आया है। **इसलिए वह उस प्रकृति के उदय को...** इससे उस प्रकृति के उदय को **अपना स्वभाव नहीं जानता हुआ...** राग होता है, प्रकृति के निमित्त के उदय से राग-द्वेष होते हैं परन्तु **वह उस प्रकृति के उदय को अपना स्वभाव नहीं जानता हुआ उसका मात्र ज्ञाता ही रहता है;...** आहाहा! यहाँ अभी यह सिद्ध करना है और जितना दु:ख है, उतना वेदन है। परन्तु यहाँ तो एकदम ज्ञातापने को सिद्ध करना है। आत्मा तो ज्ञान और दर्शन, अतीन्द्रिय आनन्द का भरा हुआ भरपूर भगवान है। उसकी इसे खबर नहीं; इसलिए प्रकृति के स्वभाव को अपना स्वभाव जानता और अपने स्वभाव को नहीं जानता हुआ, प्रकृति के स्वभाव को अपना जानता हुआ और अपने स्वभाव को नहीं जानता हुआ। आहाहा!

उसका ज्ञाता होकर रहता है। राग अपना स्वभाव नहीं और अपना स्वभाव आनन्द और ज्ञान है, ऐसा जानने में आया है, इसलिए उस राग और द्वेष के भाव को अपना स्वभाव नहीं जानता, उसका ज्ञाता रहता है। आहाहा! संक्षिप्त शब्दों में भाव तो पूरे दो भरे हैं। इस ओर की खबर नहीं, चैतन्य सत्ता के सामर्थ्य की खबर नहीं; इसलिए प्रकृति के स्वभाव को भोगता है। जिसे चैतन्य के सामर्थ्य का भान हुआ है, उसे प्रकृति का स्वभाव आवे परन्तु उसे वह वेदता नहीं। अपनेरूप से जानकर वेदता नहीं, उसे अपनेरूप से मानता नहीं। ऐसा स्वरूप है। आहाहा!

उसका **भोक्ता नहीं होता।** धर्मी आत्मा की सत्ता के सामर्थ्य के भानवाला, आत्मा के अस्तित्व के ज्ञानवाला, वह प्रकृति के स्वभाव को अपना मानकर नहीं भोगता। वह भोक्ता नहीं होता। आहाहा! गजब! यहाँ तो बाहर का यह करना और यह करना, वहाँ रुका है। कर सकता नहीं, वहाँ रुका है। यह कर सकता है, वह अपने भान को। अपनी सत्ता अन्दर प्रगट प्रसिद्ध है। ज्ञाता-दृष्टा स्वभाव से भरपूर भगवान सत्ता में विराजमान है, सदा एकरूप है, सदा जिसके रूप में फेरफार चलाचल नहीं होता, उसे नहीं जानते हुए प्रकृति के स्वभाव को चलाचलवाला जानकर भोगता है। ज्ञानी भोक्ता नहीं है। अन्तिम यह आया न?

कलश - १९७

अब इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं-

(शार्दूलविक्रीडित)

अज्ञानी प्रकृतिस्वभावनिरतो नित्यं भवेद्वेदको,
ज्ञानी तु प्रकृतिस्वभावविरतो नो जातुचिद्वेदकः।
इत्येवं नियमं निरूप्य निपुणैरज्ञानिता त्यज्यतां,
शुद्धैकात्ममये महस्यचलितैरासेव्यतां ज्ञानिता ।।१९७।।

श्लोकार्थ : [अज्ञानी प्रकृति-स्वभाव-निरतः नित्यं वेदकः भवेत्] अज्ञानी प्रकृति स्वभाव में लीन-रक्त होने से (उसी को अपना स्वभाव जानता है इसलिए) सदा वेदक है, [तु] और [ज्ञानी प्रकृति-स्वभाव-विरतः जातुचित् वेदकः नो] ज्ञानी तो प्रकृति स्वभाव से विरक्त होने से (उसे पर का स्वभाव जानता है इसलिए) कदापि वेदक नहीं है। [इति एवं नियमं निरूप्य] इस प्रकार के नियम को भलीभाँति विचार करके-निश्चय करके [निपुणैः अज्ञानिता त्यज्यताम्] निपुण पुरुषो! अज्ञानीपन को छोड़ दो और [शुद्ध-एक-आत्ममये महसि] शुद्ध-एक-आत्मामय तेज में [अचलितैः] निश्चल होकर [ज्ञानिता आसेव्यताम्] ज्ञानीपने का सेवन करो।।१९७।।

कलश - १९७ पर प्रवचन

अब इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं-

अज्ञानी प्रकृतिस्वभावनिरतो नित्यं भवेद्वेदको,
ज्ञानी तु प्रकृतिस्वभावविरतो नो जातुचिद्वेदकः।
इत्येवं नियमं निरूप्य निपुणैरज्ञानिता त्यज्यतां,
शुद्धैकात्ममये महस्यचलितैरासेव्यतां ज्ञानिता ।।१९७।।

अन्तिम गाथाएँ हैं, इसलिए बहुत संक्षिप्त सारवाली है। '**अज्ञानी प्रकृति-स्वभाव-निरतः नित्यं वेदकः भवेत्**' स्वरूप की खबर नहीं। अनादि की बाहर पर नजर होने से।

नजर है अपनी पर्याय परन्तु उसकी नजरें बाहर होने से अकेले राग और द्वेष को जानता हुआ उसे अनुभवता है और उसे भोगता है। इसमें पर को भोगता है, ऐसा नहीं कहा। शरीर को भोग सकता है, दाल, भात, रोटी को भोग सकता है, ऐसा है नहीं। मात्र प्रकृति के निमित्त से, स्वभाव के भान बिना जो निमित्त से विभाव होता है, उसे अपनेरूप जानकर भोगे, वह संसार है, वह संसार है। आहाहा!

यहाँ तो बाहर से इससे होता है और इससे होता है... यह ऐसा कहे, व्यवहार भी सच्चा है। यह कहा जा सकता है। व्यवहार है परन्तु है न वह? किया जा सकता है ऐसा मानता है। कर सके वह राग और द्वेष को भोगे। पर को तो करे नहीं और भोगे नहीं और स्पर्श करे नहीं, ऐसा उसका स्वरूप अनादि है। आहाहा!

अज्ञानी—स्वरूप के भानरहित महा आनन्द की मूर्ति प्रभु, अतीन्द्रिय आनन्द का सागर आत्मा, उसे नहीं जानता हुआ। आहाहा! यह मूल चीज़ जो पूरी अपनी है, उसे नहीं जानता। **अज्ञानी प्रकृति स्वभाव में लीन-रक्त होने से...** वह तो राग-द्वेष और पुण्य-पाप के भाव में (लीन है)। उसमें पुण्य शामिल आ गया। (वह) प्रकृति का स्वभाव है। शुभ-अशुभभाव, वह सब प्रकृति के निमित्त से होता प्रकृति का स्वभाव कहने में आता है। वह आत्म स्वभाव नहीं है।

(अज्ञानी) **प्रकृति स्वभाव में लीन-रक्त होने से (उसी को अपना स्वभाव जानता है इसलिए)...** चैतन्य के वास्तविक प्रज्ञाब्रह्म स्वरूप प्रभु को नहीं जानता हुआ **प्रकृति स्वभाव में लीन-रक्त होने से (उसी को अपना स्वभाव जानता है इसलिए) सदा वेदक है...** ओहो! संक्षिप्त बहुत किया। पर्यायबुद्धिवाला द्रव्य की बुद्धि नहीं, द्रव्य स्वभाव की दृष्टि और उसकी सत्ता की पहिचान, सम्हाल ली नहीं, इसलिए उस प्रकृति के स्वभाव की पहचान और सम्हाल रखा करता है। आहाहा! भाषा बहुत संक्षिप्त है, अन्दर भाव गहरा है। आहाहा!

अपनी शाश्वत सत्ता आनन्दमय, उसके सामने न देखकर, उसका आश्रय न लेकर, उसके पक्ष में जानकारी में न जाकर, प्रकृति के स्वभाव और जानकारी में अपने को मानता है, उसमें वह जानकारी मानता है। आहाहा! राग और द्वेष, रति-अरति इत्यादि। काम,

क्रोध, मान, माया, लोभ आदि प्रकृति का स्वभाव है, भगवान का वह स्वभाव नहीं है। इसलिए (उसमें) लीन होने से, उसको (अपना) स्वभाव जानता होने से **सदा वेदक है,...** अज्ञानी सदा विकार का वेदक है। अर्थात् कि प्रकृति के निमित्त से होता स्वभाव, उसका वह वेदक और अनुभवी है। आहाहा! पर का करना या भोगने की तो बात है ही नहीं। और अभी यह पूरी धामधूम... बाहर में धमाधम... धर्म के नाम से धमाधम चलती है। मन्दिर बनाना और शोभायात्रा निकालना और पैसा खर्च करना, उसमें मानो कुछ धर्म होगा, ऐसा मानकर वहाँ रुक गया है। आहाहा!

अन्तर वस्तु पूरी निवृत्तस्वरूप है। राग और पुण्य-पाप के विकल्प से भी निवृत्तस्वरूप है। राग और विकल्प है, वह तो प्रकृति की ओर का झुकाववालाा विभाव, विकार है। अपने स्वभाव सन्मुख में तो आनन्द और शान्ति है। उसे न जानकर प्रकृति स्वभाव में लीन होने से उसका वेदक है। उसमें लीन होने से, उसमें अपनापने मानने से, स्वभाव को अपनेपने न जानकर विभाव को अपनेरूप जानकर, **सदा वेदक है,...** उसका वह वेदन करनेवाला है। आहाहा! यह पैसा भोग सकता है या स्त्री का शरीर भोग सकता है, यह बात तो तीन काल में है नहीं। आहाहा!

अन्दर में और अन्दर में स्वभाव से विपरीत विभाव, बस! उसे अपना जानकर; स्वभाव अपना है, उसे जाना नहीं। त्रिकाली चैतन्य प्रभु का अस्तित्व अन्तर में जाना नहीं, इसलिए प्रकृति स्वभाव में अस्तित्वरूप से जानकर सदा वेदक है। **सदा वेदक है,...** ऐसा कहा न? **और... 'ज्ञानी प्रकृति-स्वभाव-विरतः'** वह (अज्ञानी) **'स्वभाव-निरतः', 'अज्ञानी प्रकृति-स्वभाव-निरतः', 'ज्ञानी प्रकृति-स्वभाव-विरतः'** निरत और विरत, बस। आहाहा! धर्मी जीव आत्मा के स्वभाव को जानता हुआ... है? **'ज्ञानी प्रकृति-स्वभाव-विरतः'** है। प्रकृति के स्वभाव से अर्थात् पुण्य-पाप के विभाव से धर्मी विरक्त है। अज्ञानी रक्त है, निरत है, निरत है, सदा उसमें लीन है। ज्ञानी उससे विरक्त है। आहाहा! ऐसा स्वरूप है।

ज्ञानी तो प्रकृति स्वभाव से विराम प्राप्त... आत्मस्वभाव की दृष्टि होने पर प्रकृति के स्वभाव से विराम प्राप्त, निवर्त हुआ। आहाहा! **विरक्त होने से (उसे पर का**

स्वभाव जानता है इसलिए)... विरक्त होने से (उसे पर का स्वभाव जानता है इसलिए) कदापि वेदक नहीं है। यहाँ तो यह सिद्ध करना है न? वह (अज्ञानी) वेदक है और यह (ज्ञानी) वेदक नहीं है इतना। नहीं तो (ज्ञानी भी) वेदक तो है। जितने अंश में राग है, (उतने अंश में वेदक है) परन्तु मेरेपने वेदक नहीं है। कमजोरीरूप से पर्याय में वेदक है परन्तु मेरेपने वेदक नहीं है, इसलिए वेदक नहीं है, ऐसा कहा है। आहाहा!

प्रकृति स्वभाव से विराम प्राप्त-विरक्त होने से (उसे पर का स्वभाव जानता है इसलिए)... यह पुण्य और पाप के भाव को, रति-अरति के भाव को, शोक और हर्ष के भाव को, उत्साह हर्ष का और शोक का, इन भावों को पर का स्वभाव जानता हुआ **कदापि वेदक नहीं है। (पर का स्वभाव जानता है, इसलिए) कदापि वेदक नहीं है।** ऐसा। इसमें से ऐसा निकालते हैं कि ज्ञानी बिल्कुल पर का वेदक है ही नहीं। एकान्त ऐसा नहीं है। यह तो पर को अपना जानकर वेदता नहीं, इतनी अपेक्षा सिद्ध करनी है। ज्ञानी वेदक है। जितना भाव कचाश से प्रकृति के संग से उत्पन्न हुआ भाव और असंग ऐसा भगवान, उससे उत्पन्न हुआ भाव, दोनों को वेदता है। साधक है न? परन्तु यहाँ एक का ही सिद्ध करना है। उसे जानता है, वेदता ही नहीं—ऐसा इतना ही सिद्ध करना है। उसे अनुभवता नहीं, मालिकपना नहीं, स्वामीपना नहीं इतना सिद्ध करने के लिये वेदक नहीं है, ऐसा कहा है।

'इति एवं नियमं निरूप्य' इस प्रकार के नियम को भलीभाँति... 'निरूप्य' अर्थात् **निश्चय करके...** ऐसा नियम भलीभाँति विचार कर, ऐसा नियम भलीभाँति निश्चित करके। आहाहा! बाहर का यह सब भवका वह श्मशान की हड्डियों जैसी चमक जैसा है। उसमें यह रुका हुआ है, उसके कारण से नहीं; रुका है राग में और राग को वेदता है, या प्रतिकूलता देखकर द्वेष को वेदता है, पर को नहीं। आहाहा! आत्मा शरीर को तो स्पर्शा ही नहीं। यह अपना शरीर है, उसे भी स्पर्शा नहीं तो पर के शरीर को तो कैसे स्पर्श करे? और कैसे भोगे? मात्र उसके प्रकृति के निमित्त से होती विकृति, उस विकृति को जानता है। जानता है और वेदक नहीं, ऐसा यहाँ सिद्ध करना है। जानता है।

कदापि वेदक नहीं है। इस प्रकार के नियम को भलीभाँति निश्चय करके...

'**निपुणैः अज्ञानिता त्यज्यताम्**' आहाहा! हे **निपुण पुरुषो!** आहाहा! दो बात करके आचार्य (कहते हैं), हे विचिक्षण निपुण पुरुष! आहा! '**अज्ञानिता त्यज्यताम्**' हे निपुण पुरुष! अज्ञान को छोड़ दे। आहाहा! उसे यहाँ निपुण विचिक्षण कहा है। '**निपुणैः अज्ञानिता त्यज्यताम्**' निपुण पुरुष उसे कहते हैं... आहाहा! प्रवीण पुरुष उसे कहते हैं, कि जो अज्ञानभाव को छोड़ दे। आहाहा! जानपना विशेष हो, न हो, उसके साथ यहाँ सम्बन्ध नहीं है। मात्र अपने स्वभाव को जानकर और इस अज्ञानभाव को छोड़ दे, बस! इतना उसे ज्ञान अन्दर इतना चाहिए, बस!

निपुण पुरुषो! अज्ञानीपन को छोड़ दो... आहाहा! आचार्य श्रोता को सुनाते हैं। श्रोता कितनी हद का है, ऐसा नहीं देखते। उसकी हद बेहद की ही है आत्मा। आहाहा! अपरिमित / बेहद का धरनेवाला भगवान अन्दर है। हे निपुण पुरुषों! आहाहा! अज्ञानीपने को तजो। पर को तजो—ऐसा नहीं कहा। अज्ञानीपन को तजो। जो आत्मा के स्वभाव से विरुद्ध स्वभाव का भाव मेरा मानकर अनुभव करते हो, वह अज्ञानीपना छोड़ो। आहाहा! ऐसी बात है। करना क्या इसमें बाहर में? बाहर में करने की बात ही कहाँ है? अन्दर में राग का वेदक है। हे निपुण पुरुष! स्वरूप को जानकर उसका वेदन छोड़, बस! आहाहा! उसका स्वामीपना छोड़, मालिकपना छोड़ तो उसका वेदकपना भी छोड़। आहाहा! मेरेपने से वेदनपना छोड़, वेदन रहेगा। आहाहा! मेरेपनेरूप से उस प्रकृति का स्वभाव, ऐसे भाव को छोड़ दे। आहाहा! है न?

'**त्यज्यताम्**' **छोड़ दो...** लो! यह उपदेश। प्रकृति के स्वभाव में रक्त है; विरक्त हो। यह बात है। यहाँ जो विरक्त है, (वह) प्रकृति के स्वभाव में रक्त है। स्वभाव में से विरक्त है, विभाव में रक्त है, उस विभाव में विरक्त हो, स्वभाव में रक्त हो। आहाहा! पंचम काल के सन्त, पंचम काल के शिष्य को भी ऐसा कहते हैं। पाँचवाँ काल है, इसलिए नहीं हो सकता—(ऐसा नहीं है)। एक साधु है, वह ऐसा कहता है, अभी तो साधु को सबको शुभभाव ही है। शुद्ध-बुद्ध अभी है नहीं, शुभभाव ही है। समाचार-पत्र में आया है। आहाहा! शुभभाव है तो धर्म नहीं है, इसका अर्थ (ऐसा) हुआ। आहाहा! शुभभाव तो अभव्य को भी होता है। उसमें वह चीज़ कोई अपूर्व, अपूर्व नहीं है। आहाहा! यहाँ तो उसे

छोड़, वह अपूर्व है। शुभभाव '**त्यज्यताम्**' शुभभाव को छोड़। आहाहा! और शुद्धभाव में रक्त हो। यह करने का है। पूरे जैनदर्शन का रहस्य तत्त्व तो यह है। आहाहा!

निपुण पुरुषो! अज्ञानीपन को छोड़ दो और... 'शुद्ध-एक-आत्ममये महसि' क्या शब्द लिया? उसमें एक शब्द नहीं था। उसमें अनेकपने के विभाव थे, इस ओर में **शुद्ध-एक-आत्मामय...** एकरूप शुद्ध चैतन्य है, उसमें दोपना भी जिसमें नहीं है। आहाहा! **'शुद्ध-एक-आत्ममये महसि' 'शुद्ध-एक-आत्ममये महसि' 'महसि'** अर्थात् तेज **शुद्ध-एक-आत्मामय तेज में...** आहाहा! **'अचलितैः' निश्चल होकर...** शुद्ध आत्मा के एकरूप तेज को (सेवन करो)। विकार है, वह तो अतेज है, पर है। यह चैतन्यरूपी एकरूप तेज जो अन्दर है, ज्ञान का मूल का तेज एकरूप जो विराजता है, उसमें **निश्चल होकर... 'ज्ञानिता आसेव्यताम्' ज्ञानीपने का सेवन करो।** आहाहा! ऐसा सीधा उपदेश तो किया है।

ऐसे धीरे-धीरे राग मन्द करते जाओ और फिर होगा, यह बात नहीं ली है। ली नहीं है, वह है नहीं; इसलिए नहीं ली है। राग मन्द करते जाओ, पश्चात् शुद्धता प्रगट होगी, ऐसा नहीं कहा। यहाँ तो (कहते हैं) अज्ञानीपना छोड़ और आत्मा के ज्ञानीपने के भाव को सेवन कर। आहाहा! क्रियाकाण्ड के आडम्बर के कारण चैतन्य भगवान अन्दर महाप्रभु ज्ञातादृष्टा है, जिसमें क्रिया के आडम्बर का अभाव है। उस स्वभाव की गम नहीं पड़ती और यह गम पड़ती है। अनादि का अभ्यास है। दया, दान, व्रत, भक्ति आदि अनादि का अभ्यास है। यह भी सहजरूप से अभ्यास हो गया है। जैसे अशुभ का भी सहज अभ्यास हुआ, वैसे शुभ का भी सहज हो गया है। इस ओर शुद्ध का सहज हो जाता है, इस ओर शुभ का सहज हो जाता है। इसलिए शुभ को ही मानो हम कुछ करते हैं और हम धर्म में हैं, धर्म के किसी भी अंश को सेवन करते हैं, ऐसा शुभभाव में आकर मानता है। आहाहा!

एक शुद्ध आत्मा '**महसि**' अर्थात् तेज। सहज एक आत्मामय तेज। स्वाभाविक एक आत्मामय तेज, उसे सेवन कर। आहाहा! उसे अविचल रीति से ज्ञानीपने को सेवन करो। आहाहा! यह सेवना करो। ज्ञानस्वभाव की मूर्ति प्रभु है, उसकी सेवा करो, उसमें रक्त होओ। और अज्ञान, पुण्य-पाप भाव अज्ञान है, उसमें तो ज्ञान का अंश है नहीं, प्रकृति

स्वभाव है, उससे विरक्त होओ और इसमें निरत होओ, रक्त होओ। आहाहा! **ज्ञानीपने का सेवन करो।** इसमें ऐसा कुछ कहा नहीं कि ऐसे पहले देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा करो, यह करो, वह करो। आहाहा! इतना शास्त्र का ज्ञान करो, यह कहा नहीं।

यहाँ तो आत्मा भगवान अन्दर विराजता है। ज्ञानीपने की सेवना कर, बस! अज्ञानपने को तज दे, यह पूरा करने का हो तो यह है। जैनदर्शन अर्थात् वीतरागस्वरूपी भगवान को सेवन करना, रहना, वह जैनदर्शन है। राग में रहना, वह जैनदर्शन नहीं। राग को सेवन करना और मानना कि धर्म है, वह तो अन्यमत है; वह जैनमत नहीं है। आहाहा! यह तो पूरे दिन णमो अरिहंताणं, णमो सिद्धाणं रटा करता है, अनुपूर्वी करे, पाठ बोले, तिक्खुत्तो, णमो अरिहंताणं, इरिया, इच्छामि, तस्सूतरी, लोगस्स, णमोत्थुणं... ये सब विकल्प हैं, वह तो प्रकृति का स्वभाव है। आहाहा! आत्मा का स्वभाव उस प्रकृति के स्वभाव से विपरीत / विरुद्ध है।

एकरूप सदा शुद्ध है, ऐसा कहा न? ऐसा कहा न? देखो न! '**शुद्ध-एक-आत्ममये महसि**' एकरूप शुद्ध '**महसि**' अर्थात् तेज, जिसका तेज अन्दर एकरूप है, चैतन्य का तेज एकरूप विराजता है, उसमें भेद और भंग नहीं है। आहाहा! '**शुद्ध-एक-आत्ममये महसि**' अर्थात् तेज में। '**ज्ञानिता आसेव्यताम्**' वह ज्ञानीपना ज्ञान का सेवन कर। आहाहा! राग और पुण्य आदि के परिणाम, वह तो प्रकृति का स्वभाव है, वह आत्मा का स्वभाव नहीं। आहाहा! प्रकृति के स्वभाव से आत्मा का स्वभाव हो, ऐसा नहीं होता। जिसमें जो हो, उसमें से वह बनता है। उसमें तो वीतरागता है, स्वभाव है, शुद्ध है। जिसमें जो हो, उससे वह मिलता है; जिसमें जो नहीं है, उससे वह प्राप्त हो—ऐसा कदापि नहीं है। आहाहा!

ऐसा साहित्य घर-घर पहुँच गया है। बहुत वर्ष हो गये न! कितनों को अब खटकता है। यह झगड़ा खड़ा हुआ। यह साहित्य तो पहले का है, कहीं नया नहीं है। यह तो इसके स्पष्टीकरण की व्याख्या बाहर आयी, बाकी वस्तु तो इसमें पड़ी है। पर को मदद करो और पर के—दुःखी के आँसू पोंछो; क्षुधावन्त को आहार दो; तृषावन्त को पानी; स्थान न मिले, उसे स्थान दो; कपड़ा न मिले, उसे कपड़ा दो; रोगी को औषध दो, यह बात तो यहाँ कुछ

है नहीं। आहाहा! कहते हैं। यह तो सब विकल्प प्रकृति का स्वभाव है। उसे तो **'त्यज्यताम्'** प्रकृति का स्वभाव है, उसे तो छोड़। आहाहा!

अब इसमें वाद-विवाद करने जाए तो कुछ पार पड़े, ऐसा नहीं है। वाद-विवाद करे। व्यवहार से भी होता है। क्यों? कि अन्तिम, अनुभव हो, तब तो व्यवहार होता है, तब अशुभभाव नहीं होता; इसलिए उस शुभभाव से अनुभव होता है—ऐसा करने में क्या बाधा? अनुभव के समय अन्तिम अशुभभाव नहीं होता, शुभभाव होता है परन्तु उसे छोड़कर, छोड़कर कहा जाता है। उसे रखकर, उसका लक्ष्य रखकर यहाँ (आत्मा का) लक्ष्य हो सके, (ऐसा नहीं होता)। आहाहा! इसमें तो तीर्थ और तीर्थ की यात्रा और सम्मेदशिखर की और अन्तरिक्ष की, मक्षी की यात्रा का भाव प्रकृति का स्वभाव है। आहाहा! यहाँ तो ऐसा बेधड़क कहते हैं, उसे छोड़। ले! सम्मेदशिखर की यात्रा का भाव, गिरनार का, पालीताना का सुनने-पढ़ने का भाव विकल्प है, (उसे) छोड़। आहाहा!

यह ज्ञान अर्थात् एकरूप ज्ञान है, जिसमें दोरूप नहीं। दोरूप तो विकार में दोरूप और करूप है। आहाहा! यह एकरूप भगवान चैतन्य है, उसे सेवन कर, अज्ञान को छोड़। आहाहा! बहुत संक्षिप्त। बारह अंग में यह कहना है। चाहे जितना वाँचन और चाहे जितना जानपना करके तो यह (करना) है। अन्दर (अज्ञान को) छोड़ और यहाँ जाना। परसन्मुख का लक्ष्य छोड़ दे। आहाहा!

गाथा - ३१७

अज्ञानी वेदक एवेति नियम्यते –

ण मुयदि पयडिमभव्वो सुट्ठु वि अज्झाइदूण सत्थाणि।
गुडदुद्धं पि पिबंता ण पण्णया णिव्विसा होंति।।३१७।।

न मुञ्चति प्रकृतिमभव्यः सुष्ठ्वपि अधीत्य शास्त्राणि।
गुडदुग्ध–मपि पिबन्तो न पन्नगा निर्विषा भवन्ति।।३१७।।

यथात्र विषधरो विषभावं स्वयमेव न मुञ्चति, विषभावमोचनसमर्थसशर्कर–क्षीरपानाच्च न मुञ्चति; तथा किलाभव्यः प्रकृतिस्वभावं स्वयमेव न मुञ्चति, प्रकृति–स्वभावमोचनसमर्थद्रव्य–श्रुतज्ञानाच्च न मुञ्चति, नित्यमेव भावश्रुतज्ञानलक्षणशुद्धात्म–ज्ञानाभावेनाज्ञानित्वात्। अतो नियम्यते–ऽज्ञानी प्रकृतिस्वभावे स्थितत्वाद्वेदक एव।।३१७।।

अब, यह नियम बताया जाता है कि 'अज्ञानी वेदक ही है' (अर्थात् अज्ञानी भोक्ता ही है, ऐसा नियम है)–

सद्रीत पढ़कर शास्त्र भी, प्रकृति अभव्य नहीं तजे।
ज्यों दूध–गुड़ पीता हुआ भी सर्प नहिं निर्विष बने।।३१७।।

गाथार्थ : [सुष्ठु] भलीभाँति [शास्त्राणि] शास्त्रों को [अधीत्य अपि] पढ़कर भी [अभव्यः] अभव्य जीव [प्रकृतिं] प्रकृति को (अर्थात् प्रकृति के स्वभाव को) [न मुञ्चति] नहीं छोड़ता, [गुड़दुग्धं] जैसे मीठे दूध को [पिबंतः अपि] पीते हुए भी [पन्नगाः] सर्प [निर्विषाः] निर्विष [न भवंति] नहीं होते।

टीका : जैसे इस जगत में सर्प विषभाव को अपने आप नहीं छोड़ता, और विषभाव के मिटाने में समर्थ–मिश्री सहित दुग्धपान से भी नहीं छोड़ता; इसी प्रकार वास्तव में अभव्य जीव प्रकृति स्वभाव को अपने आप नहीं छोड़ता और प्रकृति स्वभाव को छुड़ाने में समर्थभूत द्रव्यश्रुत के ज्ञान से भी नहीं छोड़ता; क्योंकि उसे सदा ही, भावश्रुतज्ञानस्वरूप शुद्धात्मज्ञान के अभाव के कारण अज्ञानीपन है। इसलिए यह नियम किया जाता है (ऐसा नियम सिद्ध होता है) कि अज्ञानी प्रकृतिस्वभाव में स्थिर होने से वेदक (भोक्ता) ही है।

भावार्थ : इस गाथा में, यह नियम बताया है कि अज्ञानी कर्मफल का भोक्ता ही

है।–यहाँ अभव्य का उदाहरण युक्त है। जैसे–अभव्य का स्वयमेव यह स्वभाव होता है कि द्रव्यश्रुत का ज्ञान आदि बाह्य कारणों के मिलने पर भी अभव्य जीव, शुद्ध आत्मा के ज्ञान के अभाव के कारण, कर्मोदय को भोगने के स्वभाव को नहीं बदलता; इसलिए इस उदाहरण से स्पष्ट हुआ कि शास्त्रों का ज्ञान इत्यादि होने पर भी जब तक जीव को शुद्ध आत्मा का ज्ञान नहीं है अर्थात् अज्ञानीपन है, तब तक वह नियम से भोक्ता ही है।

गाथा - ३१७ पर प्रवचन

अब, यह नियम बताया जाता है कि 'अज्ञानी वेदक ही है'... अज्ञानी राग का या विकार का, प्रकृति स्वभाव का वेदक ही है, उसे ही वह वेदता है। शरीर को या दाल-भात को या... आहाहा! स्त्री के शरीर को आत्मा भोग सके, (यह) तीन काल में नहीं है। आहाहा! यहाँ तो अज्ञानपने का त्याग, ज्ञानपने का सेवन, बस! एक ही बात, बाहर की बात कुछ है नहीं। **यह नियम बताया जाता है कि 'अज्ञानी वेदक ही है' (अर्थात् अज्ञानी भोक्ता ही है,...)** वह राग का, प्रकृति स्वभाव का, क्षणिक कृत्रिम स्वभाव का; अकृत्रिम अनादि वस्तु को छोड़कर कृत्रिम का वेदक है। अकृत्रिम वस्तु जो त्रिकाली शुद्ध परमात्मस्वरूप... आहाहा! उसे छोड़कर **(अज्ञानी भोक्ता ही है, ऐसा नियम है) यह नियम बताया जाता है।**

ण मुयदि पयडिमभव्वो सुट्ठु वि अज्झाइदूण सत्थाणि।
गुडदुद्धं पि पिबंता ण पण्णया णिव्विसा होंति।।३१७।।

सद्रीत पढ़कर शास्त्र भी, प्रकृति अभव्य नहीं तजे।
ज्यों दूध-गुड़ पीता हुआ भी सर्प नहिं निर्विष बने।।३१७।।

दृष्टान्त कड़क दिया है। **जैसे इस जगत में सर्प विषभाव को अपने आप नहीं छोड़ता,...** यह तो ठीक परन्तु **और विषभाव के मिटाने में समर्थ-मिश्री सहित दुग्धपान से भी (नहीं छोड़ता,...)** आहाहा! **मिश्री सहित दुग्धपान से भी नहीं छोड़ता,...** यह तो दृष्टान्त कहा। आहाहा! **इसी प्रकार वास्तव में अभव्य जीव प्रकृति स्वभाव को...** यह तो दृष्टान्त है, हों! अभव्य अर्थात् कि अभव्य करता नहीं, उस अनुसार अज्ञानी करता नहीं, ऐसा कहना है।

इसी प्रकार वास्तव में अभव्य जीव प्रकृति स्वभाव को अपने आप नहीं छोड़ता... आहाहा! सर्प अपने आप जहर को छोड़ता नहीं, परन्तु मिश्रीवाले दूध को भी छोड़ता नहीं। इसी प्रकार अभव्य प्रकृति के स्वभाव को अपने आप तो छोड़ता नहीं। **और प्रकृति स्वभाव को छुड़ाने में समर्थभूत द्रव्यश्रुत के ज्ञान से भी नहीं छोड़ता;...** द्रव्यश्रुत का ज्ञान, हों! आहाहा! शास्त्र का ज्ञान कान में पड़ा, उसे ज्ञान में आया। आहाहा! तथापि उस द्रव्यश्रुत के ज्ञान से भी छोड़ता नहीं। पर का वेदन छोड़ता नहीं, पर का भोक्ता द्रव्यश्रुत के ज्ञान से भी छोड़ता नहीं, शास्त्र का ज्ञान हुआ... आहाहा! शास्त्र के ज्ञान में आया, सुना, शास्त्रज्ञान हुआ। अरे! ग्यारह अंग नौ पूर्व तक का द्रव्यश्रुत ज्ञान हुआ। तथापि द्रव्यश्रुत के ज्ञान से भी छोड़ता नहीं। मिश्रीसहित दूध को पीने पर भी सर्प अपने जहर को नहीं छोड़ता। आहाहा! इसी प्रकार इस द्रव्यश्रुत के ज्ञान से भी (नहीं छोड़ता)। द्रव्यश्रुत इसके ख्याल में आया है कि ऐसा कहते हैं, शास्त्र ऐसा कहते हैं, शास्त्र ऐसा मानते हैं। शास्त्र कहते हैं कि अज्ञान को छोड़ और स्वभाव को सेवन कर, ऐसा शास्त्र का ज्ञान हुआ होने पर भी वह अन्तर से अज्ञानपने को नहीं छोड़ता। आहाहा! भारी बात! समझ में आया?

सर्प अपने आप अपना जहर नहीं छोड़ता परन्तु मिश्रीसहित दूध पीने पर भी विष को नहीं छोड़ता। उसी प्रकार जीव अपने आप मिथ्यात्व और प्रकृति के स्वभाव को नहीं छोड़ता परन्तु द्रव्यश्रुत का ज्ञान करके भी नहीं छोड़ता। आहाहा! शास्त्र भगवान के कहे हुए, भगवान के कहे हुए द्रव्यश्रुत, हों! आहाहा! भाषा तो ऐसी है कि **प्रकृति स्वभाव को छुड़ाने में समर्थभूत...** छुड़ाने में समर्थ—निमित्त। द्रव्यश्रुत—भगवान का द्रव्यश्रुत, उसमें कहने का यह आशय है कि राग को छोड़ और स्वभाव में आ जा। परन्तु वह ऐसा सुनता है, तथापि उसे छोड़ता नहीं।

मिश्रीसहित दूध को पीकर भी सर्प जहर को नहीं छोड़ता; इसी प्रकार यह जहरीला जीव अज्ञानी, वीतराग की वाणी सुनता है कि प्रकृति स्वभाव छोड़नेयोग्य है और भगवान आत्मा शुद्ध चैतन्य एकरूप को सेवन करनेयोग्य है, ऐसा सुनकर भी छोड़ता नहीं। आहाहा! यहाँ तक ले गये। शुभभाव तो ठीक, द्रव्यश्रुत का ज्ञान लिया। शुभभाव तो छोड़। उससे कुछ आत्मा को लाभ हो, ऐसा नहीं है। दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा, यात्रा का चाहे जो भाव, वह आत्मा को कुछ लाभ नहीं करता।

मुमुक्षु : नुकसान तो करता है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : नुकसान करनेवाले है, पुण्य है, बन्धन है, बेड़ी है। लोहे की बेड़ी, वैसे सोने की भी वह बेड़ी है। आहाहा! यह तो नहीं छोड़ दिया परन्तु वीतराग का द्रव्यश्रुत सुनकर भी, द्रव्यश्रुत के ज्ञान से भी, ऐसा। उसे द्रव्यश्रुत का ज्ञान हुआ, जानने में आया... आहाहा! कि शास्त्र राग को छोड़ने का कहते हैं और स्वभाव को आदरने का कहते हैं। ऐसा द्रव्यश्रुत का ज्ञान हुआ। आहाहा!

भगवान की वाणी को सुनकर, भगवान की वाणी। कल्पित शास्त्र हैं, उन्हें नहीं। यह तो भगवान की वाणी जो है, उसे सुनकर भी ज्ञान हुआ। ज्ञान अर्थात् उस ओर का जानपना, सम्यग्ज्ञान नहीं। द्रव्यश्रुत के ज्ञान से भी अज्ञानी राग को नहीं छोड़ता। राग के रस का रसिया स्वभाव का विरोधी ऐसा राग, उसको नहीं छोड़ता। चैतन्यस्वभाव अन्दर वीतरागमूर्ति प्रभु, अनाकुल आनन्द का सागर, उस ओर नजर नहीं करता और इस राग की ओर की नजर नहीं छोड़ता।

छुड़ानेवाला मिले। छुड़ाने को समर्थ है, ऐसा कहा न? (प्रकृति) स्वभाव छुड़ाने को समर्थ—निमित्त। इस शास्त्र में निमित्तपने की ताकत इतनी ही है। भगवान की वाणी में; दूसरे की वाणी नहीं। भगवान की वाणी निमित्तरूप से राग को छुड़ाने में समर्थ है। उसका ज्ञान होने पर भी अज्ञानी राग को छोड़ता नहीं और आत्मा को सेवन नहीं करता। आहाहा! ऐसी बात है। यहाँ तो अभी कहीं शुभ-अशुभ का ठिकाना नहीं होता, खबर भी नहीं होती कि यह क्या करता हूँ, कहाँ जाऊँगा और कहाँ रहूँगा और कहाँ रहता हूँ? कहाँ रहता हूँ? और किसे मैंने छोड़ दिया है? इसकी खबर नहीं।

स्वभाव को छोड़ दिया है और राग का जाल, कर्मजाल, पुण्य और पाप के दोनों भाव कर्मजाल, उसे द्रव्यश्रुत के ज्ञान से भी (छोड़ता नहीं)। द्रव्यश्रुत है, वह राग को छुड़ाने में निमित्तरूप है। समर्थ कहा न? **प्रकृति स्वभाव को छुड़ाने में समर्थभूत...** निमित्तरूप से। ऐसे द्रव्यश्रुत के ज्ञान से भी अज्ञानी राग को छोड़कर आत्मा को आदरता नहीं। अन्दर राग विकल्प है, उससे रहित प्रभु है, वह दया, दान और व्रत, भक्ति का भी विकल्प राग है; वह कहीं धर्म नहीं है। आहाहा! उसे छोड़कर द्रव्यश्रुत छोड़ने का कहते हैं, ऐसा कहते हैं।

इस प्रकार सिद्धान्त क्या लिया? कि द्रव्यश्रुत भी, भावश्रुत तो करे परन्तु द्रव्यश्रुत भी राग को छुड़ाने का कहता है, उसका कथन राग को छुड़ाने का है। आहाहा! शुभराग भी

छुड़ाने का है। वीतराग की वाणी द्रव्यश्रुत भी शुभराग दया, दान, व्रत, भक्ति, यात्रा, पूजा का भाव; वह द्रव्यश्रुत भी उसे छुड़ाने को समर्थ है, तथापि छोड़ता नहीं है। उसका ज्ञान ख्याल में आता है। आहाहा! धारणा में आता है, परन्तु भाव में नहीं आता, ऐसा कहते हैं। आहाहा! दो-तीन मिनिट की देरी है, नहीं? पाँच मिनिट की देरी है।

आहाहा! कितना भरा है! वीतराग की वाणी द्रव्यश्रुत इसके कान में पड़ती है और उसका इसे ज्ञान भी होता है। उस ज्ञान में इसकी धारणा में भी ऐसा आया होता है कि राग छोड़ना और आत्मा के स्वभाव में जाना, तथापि यह राग छोड़ता नहीं और स्वभाव में आता नहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : वीर्य उस ओर ढलता नहीं या ढालता नहीं?

पूज्य गुरुदेवश्री : स्वयं स्वतः ढलता नहीं। अपने राग के रस में आत्मा के रस की ओर आता ही नहीं। राग, वह दया, दान, व्रत, भक्ति... बहुत तो अशुभराग छोड़े और उसमें यह दया, दान, व्रत, भक्ति, यात्रा का भाव आवे तो मानो कि हमने बहुत किया। यह भी विकार और दुःख है। द्रव्यश्रुत उसे छुड़ाने को समर्थ है, द्रव्यश्रुत उसे छुड़ाने को समर्थ है; द्रव्यश्रुत उसे रखाने को समर्थ नहीं। आहाहा!

यहाँ तो अभी इसके संसार के, धन्धे के पाप। पूरे दिन पाप। व्यापार-धन्धा सबेरे से शाम तक अकेला पाप। स्त्री-पुत्र को प्रसन्न रखने में पाप, उस पाप में से निवृत्त नहीं होता। यहाँ तो कहते हैं कदाचित् पुण्य में आया और द्रव्यश्रुत ने इसे कहा, उसके ख्याल में आया कि राग छुड़ाते हैं; तथापि वह राग छोड़ता नहीं है। आहाहा! कहो, शान्तिभाई! आज ऐसी बात आयी। आहाहा!

एक तो यह (बात) आयी कि द्रव्यश्रुत जो है, वह राग करने को नहीं कहता, वह राग छोड़ने को कहता है। शुभराग भी छोड़ने को कहता है, एक तो यह बात आयी। और वह इसके कान में पड़ी और इसके ज्ञान में भी आयी कि यह राग छोड़ने को यह (शास्त्र) कहते हैं। तथापि वह ज्ञान होने पर भी राग को छोड़ता नहीं। अन्तर का रस आता नहीं और राग का रस छोड़ता नहीं। आहाहा! उसी और उसी में भटका करता है। आहाहा!

क्योंकि उसे सदा ही, भावश्रुतज्ञानस्वरूप शुद्धात्मज्ञान के (शुद्ध आत्मा के ज्ञान के) अभाव के कारण... आहाहा! द्रव्यश्रुत धारणा हुई परन्तु भावश्रुतज्ञान इसे प्रगट

नहीं हुआ। अन्दर आत्मा आनन्द का नाथ सागर है, उसका जो ज्ञान होना चाहिए, भावश्रुतज्ञान जो आनन्द के साथ हो, वह ज्ञान इसे हुआ नहीं। भावश्रुतज्ञान के अभाव के कारण। देखा? **अज्ञानीपन है।** आहाहा! विशेष कहेंगे... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

नोंध - ३८८ नम्बर का प्रवचन ३२० गाथा का है, इसलिए उसे ३२० गाथा के प्रवचन के साथ आगे लिया गया है।

प्रवचन नं. ३८९, गाथा - ३१७ से ३१८ सोमवार, ज्येष्ठ शुक्ल ५
दिनाङ्क - १९-०५-१९८०

समयसार, गाथा ३१७। **अब, 'अज्ञानी वेदक ही है'** क्या कहते हैं? जिसे यह आत्मा—ज्ञान राग से भिन्न है, ऐसी खबर नहीं, वह अज्ञानी राग का और विकार का ही वेदक है। **यह नियम बताया जाता है कि (अर्थात् अज्ञानी भोक्ता ही है, ऐसा नियम है-ऐसा कहते हैं) -**

ण मुयदि पयडिमभव्वो सुट्ठु वि अज्झाइदूण सत्थाणि।
गुडदुद्धं पि पिबंता ण पण्णया णिव्विसा होंति॥३१७॥

सद्रीत पढ़कर शास्त्र भी, प्रकृति अभव्य नहीं तजे।
ज्यों दूध-गुड़ पीता हुआ भी सर्प नहिं निर्विष बने॥३१७॥

आहाहा! **टीका :- जैसे इस जगत में सर्प विषभाव को अपने आप नहीं छोड़ता,...** विष अपने आप नहीं छोड़ता। **और विषभाव के मिटाने में समर्थ-मिश्री सहित दुग्धपान से भी नहीं छोड़ता,...** आहाहा! अपने आप तो जहर छोड़ता नहीं परन्तु मिश्रीसहित दूध पिलाया जाए तो भी वह जहर को छोड़ता नहीं, यह दृष्टान्त हुआ। आहाहा! **इसी प्रकार...** दृष्टान्त अभव्य का देते हैं, सिद्धान्त तो सबको लागू पड़ता है। जो अज्ञानी श्रुत शब्द पढ़े, श्रुत को जाने, ग्यारह अंग आदि पढ़े, उसमें यह बात आयी हो कि राग से भगवान अन्दर भिन्न है, ऐसा सुना हो, धारण किया हो; तथापि राग से भिन्न आत्मा का वेदन न करे, आहाहा! तो श्रुत क्या करे?

इसी प्रकार वास्तव में अभव्य जीव प्रकृति स्वभाव को अपने आप नहीं छोड़ता.. अभव्य जो है, वह प्रकृति को **अपने आप नहीं छोड़ता और प्रकृति स्वभाव को छुड़ाने में समर्थभूत...** प्रकृति के स्वभाव को छुड़ाने में समर्थ। अभव्य प्रकृति अपने आप तो नहीं छोड़ता परन्तु प्रकृति स्वभाव छुड़ाने को समर्थ। लो! वाणी को लिया। वाणी निमित्त है, उसे प्रकृति छुड़ाने में, स्वभाव में निमित्त है, ऐसा वह सुनता है। **छुड़ाने में समर्थभूत द्रव्यश्रुत के ज्ञान से भी...** शास्त्र कान में पड़े, पढ़े, वाँचन करे... आहाहा! तथापि राग की एकता छोड़ता नहीं। अपने आप राग तो छोड़ता नहीं परन्तु द्रव्यश्रुत राग छुड़ाने को समर्थ है, उसे भी सुनकर भी छोड़ता नहीं, ऐसा कहते हैं। आहाहा! अनादि काल का...

क्योंकि उसे सदा ही, भावश्रुतज्ञानस्वरूप शुद्धात्मज्ञान के (शुद्ध आत्मा के ज्ञान के) अभाव के कारण... आहाहा! क्या कहा? शास्त्र—द्रव्यश्रुत सुनता है, धारण करता है तो भी राग से रहित भावश्रुतज्ञान, वह भाव शुद्धात्मज्ञान के अभाव के कारण, **भावश्रुतज्ञानस्वरूप शुद्धात्मज्ञान के अभाव के कारण अज्ञानीपन है।** आहाहा! **भावश्रुतज्ञानस्वरूप शुद्धात्मज्ञान...** भावश्रुतज्ञान का फल शुद्धात्मा का ज्ञान है। पवित्र आनन्दस्वरूप प्रभु का उसे ज्ञान भावश्रुत का फल, वह उसको नहीं आया, उसके **अभाव के कारण...** आहाहा! **अज्ञानीपन है।**

ग्यारह अंग पढ़ा, नौ पूर्व भी धारण किये परन्तु भगवान आत्मा आनन्दस्वरूप है, उसके भावश्रुतज्ञान का फल अतीन्द्रिय आनन्द का स्वाद और राग की एकता का टूटना, वह इसने किया नहीं। आहाहा! अनादि काल से राग की एकता मानी है, एकता हुई नहीं। राग और आनन्द प्रभु दोनों के बीच सांध है, सन्धि है, एक हुए नहीं, तथापि भावश्रुतज्ञान के अभाव के कारण वह राग की एकता नहीं तोड़ता। आहाहा! सूक्ष्म बात है, यह मूल बात है। चाहे जो क्रिया करे, पंच महाव्रत पाले, अट्ठाईस मूलगुण पाले, वह तो सब राग है। आहाहा! और शास्त्र का ज्ञान होने पर भी भावश्रुतज्ञान जो आत्मा का (होना चाहिए), उसका उसे अभाव है। आहाहा! चैतन्यस्वरूप अतीन्द्रिय आनन्दमूर्ति प्रभु का उसके अज्ञान के कारण स्वाद और अनुभव नहीं आता। आहाहा!

मुमुक्षु : प्रकृति स्वभाव...

पूज्य गुरुदेवश्री : स्वभाव है, वह इसने जाना नहीं। अन्तर आनन्दस्वरूप है, वह शास्त्र पढ़ने पर भी, उसमें आया था वह बात धारणा में (आयी), तो भी राग से भिन्न आनन्द का स्वाद भावश्रुतज्ञानस्वरूप से नहीं लिया। आहाहा! यह मूल बात बाकी रह गयी, वृक्ष के सब पत्ते तोड़े, मूल सुरक्षित (रहा)। आहाहा! इसी प्रकार राग की मन्दता तो अज्ञानी को भी (हुई)। राग की मन्दता और मिथ्यात्व की मन्दता अज्ञानी को भी होती है। आहाहा! वह कोई चीज़ नहीं, वह तो तीव्र और मन्द कर्मचक्र है। उससे भिन्न भावश्रुतज्ञानस्वरूप से आत्मा का जो आनन्द का स्वाद लेना चाहिए... आहाहा! जो द्रव्यश्रुतज्ञान, उस राग को तुड़ाने में निमित्तरूप है, ऐसा इसने नहीं किया। आहाहा!

मुमुक्षु : काललब्धि नहीं आयी।

पूज्य गुरुदेवश्री : काललब्धि में अन्दर पुरुषार्थ (नहीं किया), इसलिए काललब्धि नहीं आयी। पुरुषार्थ की कमी है, इसलिए काललब्धि नहीं आयी। काललब्धि अर्थात्? टोडरमलजी ने तो ऐसा कहा, काललब्धि और भव्यता (भवितव्यता) कोई चीज़ नहीं है। अन्तर्मुख ढलने पर जिस काल में आत्मा को आनन्द आवे, वह काललब्धि और भाव आया, वह भवितव्यता। आहाहा! क्योंकि काललब्धि शब्द लिया, भाषा धारण की परन्तु उसका— काललब्धि का वास्तविक ज्ञान होवे कब? आहाहा!

यह तो बहुत वर्ष से कहते है। बहुत लोग पहले से काललब्धि, काललब्धि (बोलते हैं)। परन्तु काललब्धि का ज्ञान होता किसे है? जिसने आत्मा के आनन्दस्वरूप का झुकाव होकर भावश्रुतज्ञान द्वारा आत्मा का अनुभव किया है, उसे काललब्धि का ज्ञान सच्चा होता है। दूसरा धार रखे काललब्धि, काललब्धि। परन्तु धारे, उस धारणा में क्या उसका अर्थ? आहाहा!...

भावश्रुतज्ञानस्वरूप शुद्धात्मज्ञान के (शुद्ध आत्मा के ज्ञान के) अभाव के कारण अज्ञानीपन है। आहाहा! द्रव्यश्रुत सुनने में आया और उसका सामर्थ्य भी इतना है कि वह राग के जहर को उतार डाले, और आत्मा के आनन्द को उग्ररूप से ऊपर लावे। राग के जहर को छोड़ दे और आनन्द के भाव को ऊपर लावे। आहाहा! ऐसा द्रव्यश्रुत का सामर्थ्य है। तथापि यह शास्त्र सुने, धारण किये और... परन्तु उससे राग से भिन्न है, ऐसा भावश्रुतज्ञान द्वारा शुद्धात्मा का ज्ञान नहीं किया। आहाहा! ऐसी बात है।

ग्यारह अंग पढ़ा, नौ पूर्व भी पढ़ा, क्रियाएँ भी पंच महाव्रत की अनन्त बार कीं, अट्ठाईस मूलगुण साधु के जो हैं, वे भी अनन्त बार किये परन्तु वह तो सब क्रिया राग की है, वह कहीं आत्मा नहीं है। आहाहा! उसके शास्त्र का पठन होने पर भी और शास्त्र की ताकत भी यह है कि राग का जहर उतार डाले। जैसे मन्त्र से बिच्छु का जहर उतर जाता है, सर्प का जहर भी मन्त्र से उतरे, ऐसे सूत्र, मन्त्र हैं, उस मन्त्र से भी इसे जहर उतरा नहीं, कहते हैं। आहाहा!

इसलिए यह नियम किया जाता है... इससे ऐसा पक्का नियम किया जाता है, नियम है कि **अज्ञानी प्रकृतिस्वभाव में स्थिर होने से...** अज्ञानी प्रकृति का स्वभाव जो राग और द्वेष, दया, दान, पुण्य और पाप—ऐसा जो भाव, वह प्रकृति का स्वभाव है। आहाहा! वह आत्मा का स्वभाव नहीं है। दया, दान, भक्ति, पूजा, व्रत वह सब प्रकृति का स्वभाव-राग है। कठिन काम है। ऐसा प्रकृति का जो स्वभाव, (उसमें) स्थित होने से, आहाहा! अज्ञानी राग की प्रकृति में से पृथक् पड़ा नहीं। राग की प्रकृति में स्थित होने से, **यह राग का वेदक (भोक्ता) ही है।** आत्मा का वेदक नहीं। आहाहा! आत्मा जो आनन्दस्वरूप जो प्रभु, उसका अनुभव नहीं, राग का अनुभव है। आहाहा! है ?

प्रकृतिस्वभाव में स्थिर होने से... वेदक का न्याय दिया कि वह स्वयं अपने आत्मस्वभाव में वेदक में नहीं होने से और प्रकृति का जो स्वभाव रागादि है, वह होने से उसमें उसका उसे भोक्ता और वेदक कहने में आता है। आहाहा! ऐसी बात है। **प्रकृतिस्वभाव में स्थिर...** भाषा देखी!

मुमुक्षु : प्रकृतिस्वभाव अर्थात ?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह पुण्य और पाप के भाव प्रकृतिस्वभाव; यह आत्मस्वभाव नहीं। आहाहा! शुभ और अशुभभाव दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा, यात्रा, यह सब राग प्रकृति का स्वभाव है। आहाहा! यह तो राग है, यह कहीं आत्मा नहीं है। इस प्रकृति स्वभाव में... आहाहा! स्थित होने से आत्मस्वभाव का उसे अनादर है। **वेदक (भोक्ता) ही है। प्रकृतिस्वभाव में स्थिर होने से वेदक (भोक्ता) ही है।** कर्म का भोक्ता है। धर्म का भोक्ता नहीं इसलिए कर्म का भोक्ता ही है। आहाहा!

यहाँ तो ऐसा कहना है कि जहाँ आत्मा के आनन्द का अनुभव नहीं, वहाँ यह राग,

राग का ही वेदक और अनुभव है। आहाहा! विकार का ही अनुभव, वह प्रकृति का अनुभव, वह आत्मा का अनुभव नहीं। आहाहा! ऐसी कठिन बातें। धन्धे के कारण अभी पुण्य करने को भी निवृत्त नहीं। व्यापार, धन्धा और स्त्री-पुत्र को सम्हालने में, उनके ध्यान में अभी पुण्य / शुभभाव करने को निवृत्त नहीं। यहाँ तो कहते हैं, शुभभाव अनन्त बार किया तथापि वह तो प्रकृति का स्वभाव है, वह तो कर्म का स्वभाव है, वह आत्मा का स्वभाव नहीं। आहाहा! इसलिए वह **कर्म का वेदक (भोक्ता) ही है।**

भावार्थ :- इस गाथा में, अज्ञानी कर्मफल का भोक्ता ही है। आहाहा! **यह नियम बताया है...** ऐसा निश्चय कहो, ऐसा निश्चय कहा, निश्चय यही है। अज्ञानी राग को भोगे, यह निश्चय है। आहाहा! **यह नियम बताया है। यहाँ अभव्य का उदाहरण युक्त है।** अभव्य का तो उदाहरण दिया परन्तु तद्नुसार सभी प्राणी प्रकृति के स्वभाव को- राग को वेदते हैं, वह आत्मा को नहीं जानता। आत्मा अन्दर सच्चिदानन्द आनन्दस्वरूप को वह नहीं पहिचानते तथा नहीं वेदते। आहाहा! उदाहरण अभव्य का है क्योंकि वह तो कभी प्रकृति का स्वभाव छोड़ता नहीं। इसलिए उसका यह उदाहरण यहाँ दिया है।

अभव्य का स्वयमेव यह स्वभाव होता है... अभव्य का तो स्वयमेव स्वभाव है। कर्म के कारण नहीं, उसके कारण नहीं। आहाहा! **स्वयमेव यह स्वभाव होता है कि द्रव्यश्रुत का ज्ञान आदि...** भगवान की वाणी कान में पड़ी, धारण किया, आया कि, ऐसा कहते हैं। **आदि बाह्य कारणों के मिलने पर भी...** आहाहा! **अभव्य जीव, शुद्ध आत्मा के ज्ञान के अभाव के कारण,...** ज्ञान तो शुद्ध चैतन्य प्रभु प्रत्यक्ष वस्तु अन्दर पड़ी है। आहाहा! 'अनुभव में आ रहा है तो भी' ऐसा शब्द कल आया था। नहीं? किसमें आया था?

मुमुक्षु : ४९ गाथा में, अव्यक्त के छठवें बोल में।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ वह, छठवें बोल में यह आया था कि आत्मा अनुभव में, प्रत्यक्ष अनुभव में आ रहा है। अन्दर परमात्मा आनन्दकन्द प्रभु चिदानन्द स्थित है। वह प्रत्यक्ष अनुभव में आ रहा है, तो भी उसका ध्यान और लक्ष्य नहीं करता। आहाहा! छठवाँ बोल था न? ४९ (गाथा)। छठवाँ बोल है नीचे।

स्वयं अपने से ही बाह्य-अभ्यन्तर स्पष्ट अनुभव में आ रहा है, तथापि...

आहाहा! कल आया था। नहीं? **अपने से ही बाह्य-अभ्यन्तर स्पष्ट अनुभव में आ रहा है, तथापि...** आहाहा! भगवान अन्दर चैतन्यज्योति विराजमान है, प्रत्यक्ष! राग और विकार, वह तो ऊपर ऊपर तेल के बिन्दु की तरह पानी के दल में दिखाई दे परन्तु वे तेल के बिन्दु कहीं पानी में गये नहीं हैं, और पानी कहीं तेल के बिन्दुरूप हुआ नहीं है। इसी प्रकार भगवान आत्मा पुण्य और पाप के विकार भाव तेल जैसे चिकने, उनरूप आत्मा हुआ नहीं है। आहाहा! तथापि अन्तरस्वरूप तो अनुभव में आ रहा है, ऐसी चीज़ है। तथापि उसका आदर उसके ऊपर नहीं है। आहाहा! यह अव्यक्त का छठा बोल था। आहाहा!

शुद्ध आत्मा के ज्ञान के अभाव के कारण, कर्मोदय को भोगने के स्वभाव को नहीं बदलता;... अनन्त काल व्यतीत हुआ। अनादि काल चौरासी के अवतार में एक-एक अवतार अनन्त किये। दिगम्बर जैन साधु भी अनन्त बार हुआ परन्तु अन्दर में राग की एकता को तोड़ा नहीं। यह यह दया, दान, व्रत, महाव्रत और यह नग्नपना, इस क्रिया से मुक्ति होगी, ऐसा अज्ञानरूप से प्रकृति के स्वभाव को छोड़ा नहीं। आहाहा!

अन्दर का स्वभाव; प्रकृति का स्वभाव तो क्षणिक है, भगवान का स्वभाव तो त्रिकाल है। आहाहा! अतीन्द्रिय आनन्दस्वरूप आत्मा का स्वभाव तो त्रिकाल ध्रुव है और प्रकृति का (स्वभाव) एक क्षणिक है। अनुभव में आये और जाए, अनुभव में आये और जाए। आहाहा! तो क्षणिक पर्यायबुद्धि में अज्ञानी को राग का एक का वेदन है। चाहे तो जैन का दिगम्बर साधु हो, नग्न हो, हजारो रानियाँ छोड़कर साधु हुआ परन्तु अन्दर में राग की एकता तोड़ी नहीं और स्वभाव की एकता ग्रहण की नहीं। आहाहा! इससे वह अज्ञानी है, वह कर्म का भोक्ता है। पंच महाव्रत और अट्ठाईस मूलगुण पालनेवाला कर्म का भोक्ता है। आहाहा! वह तो कर्म की प्रकृति का स्वभाव है। पंच महाव्रत दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा, यात्रा, वह सब भाव तो राग है, वह तो प्रकृति का स्वभाव है। आहाहा! कठिन बात है, भाई! इस राग को अपना मानकर अनुभव किया है। है प्रकृति का स्वभाव, इसे अपना स्वभाव जानकर अनुभव किया है। आहाहा!

अभव्य का स्वयमेव यह स्वभाव... स्वयमेव अपने से है, कर्म के कारण नहीं। **ज्ञान के अभाव के कारण,...** चैतन्य आत्मा आनन्दस्वरूप के ज्ञान के अभाव के कारण। **कर्मोदय को भोगने के स्वभाव को नहीं बदलता;...** आहाहा! कर्म के उदय

को भोगने का स्वभाव पलटता, बदलता नहीं। **इसलिए इस उदाहरण से स्पष्ट हुआ कि शास्त्रों का ज्ञान इत्यादि होने पर भी...** इत्यादि अर्थात् पंच महाव्रत पालता हो, अट्ठाईस मूलगुण हों, उसके लिये चौका बनाकर (आहार) लेता भी न हो, आहार-बाहार उसके लिये बनाया हो, उसे लेता न हो तो भी वह अज्ञानी है। आहाहा! क्योंकि वह प्रकृति राग है। परसन्मुख का झुकाव, वह प्रकृति का स्वभाव है, उसे ही स्वयं अनुभव करता है। आहाहा! ऐसी कठिन बात है।

हजारों रानी छोड़े, पंच महाव्रत पालन करे, कोई चमड़ी उतारकर नमक छिड़के तो भी क्रोध न करे, तो भी यह प्रकृति का स्वभाव अनुभव करता है। आहाहा! प्रकृति के स्वभाव से भिन्न भगवान स्वभाव आनन्द और ज्ञान की मूर्ति प्रभु जिसका स्वयमेव स्वभाव है। जैसे अभव्य को भी स्वयमेव प्रकृति को अनुभव करे, वह स्वयमेव स्वभाव है, वह कहीं कोई कर्म के कारण या उसके कारण नहीं है। आहाहा! अभव्य का स्वयमेव स्वभाव है कि प्रकृति को वेदे। आहाहा! इसी तरह आत्मा का स्वयमेव स्वभाव है कि आनन्द को ही वेदे। आहाहा! शुद्ध चैतन्यस्वरूप भगवान अन्दर है। आहाहा! परन्तु उसके सामने देखने का समय कहाँ? बाहर की प्रवृत्ति छोड़ी, परन्तु अन्दर की प्रवृत्ति प्रकृति का स्वभाव (छोड़ा नहीं)। पुण्य के भाव, वह प्रकृति का स्वभाव है। आहाहा! दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा, यात्रा, यह सम्मेदशिखर की और शत्रुंजय की और गिरनार की यात्रा, वह भाव राग है, वह प्रकृति का स्वभाव है; वह आत्मा का स्वभाव नहीं। आहाहा! चिल्लाहट मचा जाए, ऐसा है या नहीं?

मुमुक्षु : चिल्लाहट करता ही नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : चिल्लाहट करता नहीं अर्थात्? चिल्लाहट करता है अर्थात्? अन्दर इसे खटक जाए कि अर..र..र..! ऐसा करे तो भी धर्म नहीं? ऐसा। पंच महाव्रत पाले, दिगम्बर साधु नग्न मुनि अट्ठाईस मूलगुण (पालन करे), यात्रा करे। आहाहा! और उसके लिये बनाये गये चौका का आहार भी न ले। उसके लिये बनाये हुए चौका का आहार (उद्दिष्ट आहार) ले तो व्यवहार का भी ठिकाना नहीं। वह तो निश्चय तो झूठा ही है और व्यवहार भी झूठा है। परन्तु यह तो वह भी न करे, तो भी अन्दर राग का वेदन, वह प्रकृति का स्वभाव है। आहाहा!

मुमुक्षु : द्रव्यलिंगी ने तर्क में तो बराबर बैठाया होता है न?

पूज्य गुरुदेवश्री : शास्त्र की भाषा बराबर जानता है परन्तु उसका भाव समझता नहीं। भाषा-भाषा जाने, ऐसा कहा। उसका भाव तो राग से भिन्न पड़कर आत्मा का वेदन करना, वह शास्त्र का भाव है। यह तो आया या नहीं? द्रव्यश्रुत तो राग के जहर को उतारने के लिये निमित्त है। भगवान का द्रव्यश्रुत राग का जहर उतारने के लिये निमित्त है। यह दया, दान और भक्ति का, पूजा का भाव राग है, यह जहर है। भगवान अमृतस्वरूप है। इस अमृत से विरुद्ध भाव राग है। उस जहर को उतारने में समर्थ होने पर भी स्वयं उसे छोड़ता नहीं। आहाहा! कठिन बात ली है। यह सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार है न?

इसलिए इस उदाहरण से स्पष्ट हुआ कि शास्त्रों का ज्ञान इत्यादि... अर्थात् क्रिया, पंच महाव्रत। प्राण जाए तो उसके लिये बनाया हुआ आहार ले नहीं। प्राण जाए तो (उद्दिष्ट) आहार न ले, ऐसी क्रिया (पालन की) परन्तु वह सब राग है। आत्मा अन्दर जो आनन्द स्वरूप है, उसकी उसे खबर नहीं है। ऐसा कान में पड़ना मुश्किल है। बात कान में कहाँ पड़ती है? यह करो और यह करो और यह करो और यह मजदूरी करो, गिरनार जाओ और सम्मेदशिखर जाओ और पालीताणा जाओ।

मुमुक्षु : आप व्यापार को भी मजदूरी कहते हो और यात्रा को भी मजदूरी कहते हो।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह मजदूरी राग की है। राग है। ज्ञानी को आता है परन्तु उस राग को दुःख जानता है। जब तक वीतराग न हो, तब तक ज्ञानी को भी यात्रा आदि का राग तो आता है परन्तु उसे दुःख जानता है। उसे धर्म का कारण और धर्म नहीं जानता। धर्म का कारण और धर्म जाने तो वह मिथ्यादृष्टि अज्ञानी है। आहाहा! ऐसी बात है। कठिन पड़े— ऐसी है, बापू! आहाहा!

शास्त्रों का ज्ञान इत्यादि होने पर भी जब तक जीव को शुद्ध आत्मा का ज्ञान नहीं है... शुद्ध भगवान प्रकृति के स्वभाव से भिन्न, उस पुण्य और पाप के भाव से भिन्न भगवान आत्मा है। क्योंकि वह तो ज्ञायकतत्त्व है। नव तत्त्व। पुण्य-पाप, आस्रवतत्त्व से तो भिन्न तत्त्व है। उस तत्त्व को जब तक जाना नहीं, अनुभव नहीं किया... आहाहा! तब तक **अज्ञानीपन है...**

जीव को शुद्ध... कहा? **शुद्ध आत्मा का ज्ञान नहीं है...** आहाहा! **अज्ञानीपन**

है, तब तक वह नियम से भोक्ता ही है। निश्चित वह राग का ही अनुभव करनेवाला है। भले ही नग्न मुनि हो, अट्ठाईस मूलगुण पालता हो परन्तु अन्तर आत्मा की शुद्धता की खबर नहीं। वह प्रकृति का स्वभाव राग, राग को अनुभव करता है। राग का ही भोक्ता है। आहाहा! ऐसा नियम किया जाता है। शास्त्र कहते हैं कि वह निश्चित ऐसा ही है। उसमें कोई फेरफार माने तो उसकी दृष्टि में सब फेरफार है। वस्तु में फेरफार नहीं। आहाहा!

जितनी बाह्य दिशा की ओर दशा है, बाह्य दिशा की ओर झुकाव होता है, वह सब राग की दशा है। अन्तर दिशा की ओर दशा हो, वह अराग की दशा और शुद्ध ज्ञान है। आहाहा! दोनों की दशा की दिशा में अन्तर है। राग की दशा, दिशा पर है। भगवान की भक्ति, पूजा और दान, वह सब दिशा परसन्मुख है। और धर्म की दशा की दिशा स्व है। आहाहा! आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द मूर्ति प्रभु, वह सम्यग्दर्शन की दिशा है। दशा सम्यग्दर्शन, उसकी दिशा यह। आहाहा! कहाँ इतना निवृत्त है? बाहर का करने से अभी निवृत्ति नहीं मिलती और यह अत्यन्त विकल्पातीत प्रभु, उसे विकल्प से अनुभव करना, वह अज्ञान है, वैसा नियम निश्चय है, यह निश्चय है। कथंचित् अज्ञान और कुछ करता है, इसलिए कथंचित् लाभ है—ऐसा नहीं है। आहाहा!

जब तक जीव को शुद्ध आत्मा का ज्ञान नहीं है... आत्मा तो शुद्ध चैतन्यमूर्ति है, परमात्मस्वरूप है, भगवानस्वरूप है। उसका स्वरूप ही भगवान है। उसे जब तक अनुभव नहीं करता, उसका ज्ञान नहीं है। आहाहा! तब तक **अज्ञानीपन है, तब तक वह नियम से भोक्ता ही है।** नियम से राग का ही भोक्ता है। अनादि से अनन्त बार मुनिपना लिया। आहाहा!

मुनिव्रत धार अनन्त बार ग्रीवक उपजायौ;
पै निज आतमज्ञान बिना, सुख लेश न पायौ।

'मुनिव्रत धार...' द्रव्यलिंगी नग्न मुनि पंच महाव्रत बराबर धारण किये। 'मुनिव्रत धार अनंत बार ग्रीवक उपजायौ;'... ग्रैवेयक में गया... गर्दन के स्थान में जहाँ देव है, वहाँ उत्पन्न हुआ अनन्त बार, परन्तु 'आत्मज्ञान बिना, सुख लेश न पायौ।' वह दुःखी है, वह पंच महाव्रत पालनेवाला दुःखी है। आहाहा! क्योंकि राग है और वह आस्रव है; आस्रव है, वह दुःख है। आहाहा! ऐसा नियम किया जाता है कि अज्ञानी भी प्रकृति के स्वभाव का वेदक है। ज्ञानी प्रकृति के स्वभाव का वेदक नहीं। आहाहा!

गाथा - ३१८

ज्ञानी त्ववेदक एवेति नियम्यते -

णिव्वेय-समावण्णो णाणी कम्मप्फलं वियाणेदि।
महुरं कडुयं बहु-विह-मवेयओ तेण सो होइ॥३१८॥

निर्वेद-समापन्नो ज्ञानी कर्म-फलं विजानाति।
मधुरं कटुकं बहुविध-मवेदकस्तेन स भवति॥३१८॥

ज्ञानी तु निरस्तभेदभावश्रुतज्ञानलक्षणशुद्धात्मज्ञानसद्भावेन परतोऽत्यन्तविरक्तत्वात् प्रकृतिस्वभावं स्वयमेव मुञ्चति, ततोऽमधुरं मधुरं वा कर्मफलमुदितं ज्ञातृत्वात् केवलमेव जानाति, न पुनर्ज्ञाने सति परद्रव्यस्याहन्तयाऽनुभवितुमयोग्यत्वाद्वेदयते।

अतो ज्ञानी प्रकृतिस्वभावविरक्तत्वादवेदक एव॥३१८॥

अब, यह नियम करते हैं कि-ज्ञानी तो कर्मफल का अवेदक ही है-

वैराग्यप्राप्त जु ज्ञानिजन है, कर्मफल को जानता।
कड़वे-मधुर बहुभाँति को, इससे अवेदक है अहा॥३१८॥

गाथार्थ : [निर्वेदसमापन्नः] निर्वेद (वैराग्य) को प्राप्त [ज्ञानी] ज्ञानी [मधुरं कटुकं] मीठे-कड़वे [बहुविधम्] अनेक प्रकार के [कर्मफलं] कर्म फल को [विजानाति] जानता है; [तेन] इसलिए [सः] वह [अवेदकः भवति] अवेदक है।

टीका : ज्ञानी तो जिसमें से भेद दूर हो गये हैं, ऐसा भावश्रुतज्ञान जिसका स्वरूप है, ऐसे शुद्धात्मज्ञान के सद्भाव के कारण, पर से अत्यन्त विरक्त होने से प्रकृति (कर्मोदय) के स्वभाव को स्वयमेव छोड़ देता है। इसलिए उदय में आये हुए अमधुर या मधुर कर्मफल को ज्ञातापने के कारण मात्र जानता ही है, किन्तु ज्ञान के होने पर (ज्ञान हो तब) परद्रव्य को 'अहं' रूप से अनुभव करने की अयोग्यता होने से (उस कर्म फल को) नहीं वेदता। इसलिए, ज्ञानी प्रकृतिस्वभाव से विरक्त होने से अवेदक ही है।

भावार्थ : जो जिससे विरक्त होता है, उसे वह अपने वश तो भोगता नहीं है, और यदि परवश होकर भोगता है तो वह परमार्थ से भोक्ता नहीं कहलाता। इस न्याय से

ज्ञानी–जो कि प्रकृति स्वभाव को (कर्मोदय) को अपना न जानने से उससे विरक्त है वह–स्वयमेव तो प्रकृति स्वभाव को नहीं भोगता, और उदय की बलबत्ता से परवश होता हुआ निर्बलता से भोगता है तो उसे परमार्थ से भोक्ता नहीं कहा जा सकता, व्यवहार से भोक्ता कहलाता है। किन्तु व्यवहार का तो यहाँ शुद्धनय के कथन में अधिकार ही नहीं है; इसलिए ज्ञानी अभोक्ता ही है।

गाथा - ३१८ पर प्रवचन

अब, यह नियम करते हैं कि–ज्ञानी तो कर्मफल का अवेदक ही है– यह ३१८।

णिव्वेय–समावण्णो णाणी कम्मप्फलं वियाणेदि।
महुरं कडुयं बहु–विह–मवेयओ तेण सो होइ॥३१८॥

वैराग्यप्राप्त जु ज्ञानिजन है, कर्मफल को जानता।
कड़वे–मधुर बहुभाँति को, इससे अवेदक है अहा॥३१८॥

सम्यग्दृष्टि राग का वेदक नहीं है, इस अपेक्षा से कहा है। राग को 'मेरा' मानकर वेदता नहीं है। अधूरा है, तब तक राग का वेदन है। केवलज्ञान नहीं है, तब तक आत्मज्ञान का वेदन है और राग का वेदन, दोनों साथ में है। मिथ्यादृष्टि को अकेली प्रकृति के स्वभाव का वेदन है; भगवान केवली को अकेले आत्मा के स्वभाव का वेदन है; साधक जीव को आत्मज्ञान है, कि राग से भिन्न है, राग मेरी चीज़ नहीं है, राग की क्रिया वह तो प्रकृति का स्वभाव है—ऐसे आत्मा का स्वरूप जाना और वेदन किया है, तथापि पूर्ण नहीं है; इसलिए राग का वेदन है परन्तु उसे यहाँ निश्चय से सिद्ध नहीं किया है। समझ में आया? उसका वह जाननेवाला रहता है, ऐसा। आहाहा!

अब, यह नियम करते हैं कि–ज्ञानी तो कर्मफल का अवेदक ही है–

टीका :– ज्ञानी तो जिसमें से भेद दूर हो गये हैं.. आहाहा! आत्मा ज्ञायकस्वरूप अभेद चिदानन्द आनन्द उसमें से जिसे भेद दूर हुए हैं। यह राग है और यह आत्मा है, ऐसा भेद भी जिसमें से विकल्प उठ गया है। यह गुणी है और उसमें ज्ञान है, ऐसा भेद भी जिसमें

से निकल गया है। आहाहा! **ज्ञानी तो जिसमें से भेद दूर हो गये हैं, ऐसा भावश्रुतज्ञान...** देखा? भावश्रुतज्ञान उसे कहते हैं कि जिसमें भेद रहते नहीं। कि यह गुणी है, इसके गुण हैं, मैं आत्मा हूँ और यह राग है—ऐसा भेद उसमें नहीं है। अकेला भगावन आत्मा अभेद स्वरूप गुण-गुणी का भेद भी जहाँ दृष्टि में नहीं ऐसा। भेद दूर हुए ऐसा। क्या ऐसा? **भावश्रुतज्ञान जिसका स्वरूप है,...** आहाहा! यह सब श्लोक कठिन है।

ज्ञानी तो जिसमें से भेद दूर हो गये हैं... राग तो दूर हुआ है परन्तु गुण-गुणी के भेद भी जिसमें से दूर हो गये हैं। आहाहा! **ऐसा भावश्रुतज्ञान...** ऐसा भावश्रुतज्ञान। यहाँ केवलज्ञान की बात नहीं है, यहाँ तो अभी साधक की बात है। आहाहा! धर्मी जीव तो उसे कहते हैं, **जिसमें से भेद दूर हो गये हैं, ऐसा भावश्रुतज्ञान जिसका स्वरूप है, ऐसे शुद्धात्मज्ञान के सद्भाव के कारण, ऐसे (शुद्ध आत्मा के ज्ञान के) सद्भाव के कारण,...** आहाहा! प्रकृति के स्वभाव से भिन्न पड़कर, ज्ञान के स्वभाव में भी गुण-गुणी के भेद को दूर करके, अभेद ऐसे भावश्रुतज्ञान का जहाँ अनुभव है। आहाहा! उसे यहाँ भावश्रुतज्ञान कहते हैं। अभेद को; भेद को दूर करे उसे। आहाहा!

ज्ञानी तो जिसमें से भेद दूर हो गये हैं, ऐसा भावश्रुतज्ञान... आहाहा! आत्मा का ज्ञान। भावश्रुतज्ञान उसे कहते हैं कि जिसकी दृष्टि में से भेद दूर हुए हैं। जिसकी दृष्टि में अभेद आत्मा दृष्टि में रहा है। आहाहा! पुण्य-पाप तो नहीं परन्तु गुण-गुणी का भेद भी जिसकी दृष्टि के विषय में नहीं है। भावश्रुतज्ञान का वह विषय ही नहीं है। आहाहा! ऐसा कठिन काम।

मुमुक्षु : ज्ञान तो भेदाभेद सबको जानता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : जानता है परन्तु रागसहित जानता है, अज्ञानी राग की एकतासहित जानता है और ज्ञानी राग से भिन्नता होकर जानता है। जानने-जानने में अन्तर है। अज्ञानी राग में एकाकार होकर पर को जानता है। धर्मी राग से भिन्न पड़कर अपने स्वरूप में रहकर जानता है। आहाहा! ऐसी बातें हैं, तब कठिन लगता है न?

धर्मी तो... आहाहा! **जिसमें से भेद दूर हो गये हैं...** राग तो दूर हो गया परन्तु जिसके गुण-गुणी के भेद, कि यह पर्याय है और यह द्रव्य है—ऐसा भेद भी जिसमें दूर हो गया है। उसकी दृष्टि तो अन्दर अभेद पर है। आहाहा! पर्याय का ज्ञान भी यथार्थ उसे

कहते हैं कि जिसे द्रव्य का ज्ञान यथार्थ हो उसे। आता है न? भाई! नियमसार में (आता है)। वहाँ बहुत चर्चा हो गयी, राजकोट में बहुत (चर्चा हुई)। लोग बहुत आते थे। चर्चा बहुत सूक्ष्म निकालते, भाई-चन्दुभाई। सूक्ष्म... सूक्ष्म... सूक्ष्म... सूक्ष्म... वांचन बहुत है न! चार-चार घण्टे प्रतिदिन पढ़ते हैं, डॉक्टर होने पर भी (पढ़ते हैं)। रात्रि के प्रश्न बहुत सूक्ष्म करते थे। बहुत सूक्ष्म, बहुत सूक्ष्म। वहाँ भी यह बात आयी थी। आहाहा!

ज्ञानी तो जिसमें से भेद दूर हो गये हैं, ऐसा भावश्रुतज्ञान जिसका स्वरूप है,... आहाहा! किसका? **ऐसे शुद्धात्मज्ञान...** कहते हैं, जिसमें से भेद दूर हुए और भावश्रुतज्ञान हुआ, वह जिसका स्वरूप है। भेद दूर हुए और भावश्रुतज्ञान जिसका स्वरूप है। किसका? **ऐसे शुद्धात्मज्ञान...** आहाहा! ऐसा शुद्ध आत्मा का ज्ञान। जिसमें से रागादि और गुण-गुणी के भेद और पर्याय तथा द्रव्य का भेद दो भी जिसमें से दूर हुए हैं, ऐसा भावश्रुतज्ञान जिसका स्वरूप है, वैसा आत्मा का ज्ञान। आहाहा!

ऐसे शुद्धात्मज्ञान के सद्भाव के कारण, (शुद्ध आत्मा के ज्ञान के) सद्भाव के कारण,... आहाहा! **पर से अत्यन्त विरक्त होने से प्रकृति के स्वभाव को स्वयमेव छोड़ देता है।** आहाहा! प्रकृति छूटे तो छोड़ता है, ऐसा नहीं। स्वयं उसके ऊपर से दृष्टि छोड़ देता है। आहाहा! स्वयमेव छोड़ता है। राग छूटता है, इसलिए उसके ऊपर छोड़ने का लक्ष्य है, ऐसा नहीं। स्वयं अपने शुद्धात्मज्ञान के सद्भाव के कारण प्रकृति को स्वयमेव छोड़ता है। आहाहा! है न? **पर से अत्यन्त विरक्त होने से प्रकृति के स्वभाव को...** आहाहा! धर्मी तो उसे कहते हैं (कि) राग और राग के फलरूप से संसार की यह सब सामग्री, सब ओर से जिसकी दृष्टि उठ गयी है। आहाहा! प्रकृति का स्वभाव रागादि और उसका फल यह संयोग, पैसा, लक्ष्मी, इज्जत, धूल, मकान, धूल... धूल यह सब पैसा, पाँच, पच्चीस लाख और करोड़-करोड़ रुपये... आहाहा!

मुमुक्षु : रुपये के दाने आते हैं, अनाज आता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : दाना उसका नहीं आता। पैसा होवे तो भी दाना नहीं आता। दुष्काल की एक बात नहीं आयी? एक लड़की के घर में बेचारे को कुछ नहीं था और उसके पिता के पास गयी। बारह वर्ष का दुष्काल पड़ा था। एक सूपड़ा मोती, सच्चे मोती लेकर गयी। मोती सूपड़ा भरकर (लेकर गयी)। बापू! मुझे एक सूपड़ा ज्वार दे।

बाजरा दे। पिता कहता है, अरे! लड़की! हमारे घर में अभी अनाज है ही इतना। यही करने का, खाने का ही यह है, दूसरा मेरे पास है नहीं। आहाहा! जब बारह वर्ष का दुष्काल पड़ा, (तब की बात है)।

मुमुक्षु : कितने वर्ष पहले की बात है।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, भले अनन्त काल पहले की हो, परन्तु अनन्त काल में था या नहीं यह? अनन्त काल में था या नहीं यह? या अनन्त काल पहले की बात है, इसलिए नहीं था वहाँ यह? आहाहा! अनन्त काल पहले से है सब स्थिति में। आहाहा! परन्तु कभी स्वभावसन्मुख देखने की दरकार नहीं की। आहाहा!

इससे **प्रकृति के स्वभाव को स्वयमेव छोड़ देता है।** अर्थात् की छूट जाता है। छोड़ता है, ऐसा कहना वह व्यवहार है। अन्तर स्वभावसन्मुख झुकाव है, इसलिए प्रकृति का स्वभाव आकर छूट जाता है। आहाहा! उसे छोड़ता है, ऐसा कहते हैं। बाकी वह प्रकृति का स्वभाव है और मैं छोड़ूँ तो यह अभी लक्ष्य पर के ऊपर है। ऐसा भी नहीं। मेरा प्रभु चैतन्य आनन्दमूर्ति है, उसकी दृष्टि के कारण प्रकृति का स्वभाव छूट जाता है, उसे छोड़ता है—ऐसा कहने में आता है। आहाहा!

मुमुक्षु : दिखता है। राग, विकल्प होता ही नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : राग होता है परन्तु छोड़ देता है। अभी साधक है न! भावश्रुतज्ञान है न? भावश्रुतज्ञान है न? साधक है न? केवली नहीं है। राग होता है परन्तु लक्ष्य में नहीं लेता, छूट जाता है। आहाहा!

स्वयमेव छोड़ देता है। इसलिए उदय में आये हुए... देखो! **अमधुर या मधुर कर्मफल को ज्ञातापने के कारण मात्र जानता ही है,...** अमधुर अर्थात् अशुभभाव हो, मधुर—शुभभाव हो, दोनों को ज्ञानी जानता है। आहाहा! है? **इसलिए उदय में आये हुए...** देखो! उदय में आता तो है। अमधुर अर्थात् कड़वा अशुभभाव। मधुर अर्थात् शुभ। आहाहा! उस **कर्मफल को...** वह तो कर्म का फल है, वह चैतन्य का फल नहीं है। आहाहा! अरे! ऐसी बात सुनने में एकान्त लगे। यह तो एकान्त है, कहता है। व्यवहार से होता है, यह तो इसमें आता नहीं। अरे! प्रभु! सुन, भाई! ऐसी बात सुनने को मिलती नहीं

और सुनने को मिले तो एकान्त लगता है। अरे! यह भक्ति, पूजा, दान, दया यह सब बन्ध? बन्ध का कारण? आहाहा! अज्ञानी को एकान्त लगे। एक तो सुनना मुश्किल पड़े, सुनने को मिले नहीं। बाहर में यह करो और यह करो, यह करो और यह करो। यह सुनने को मिले तो एकान्त लगता है। आहाहा! यह अनेकान्त नहीं है। व्यवहार से भी होता है, निश्चय से भी होता—ऐसा अनेकान्त चाहिए। आहाहा! यहाँ कहते हैं कि निश्चय से होता है और व्यवहार से आत्मलाभ नहीं होता। व्यवहार से बन्ध होता है। आहाहा! ऐसी बात है।

उदय में आये हुए अमधुर या मधुर... आहाहा! शुभभाव तीर्थंकरगोत्र बाँधने का आया—मधुर, (उसे) छोड़ता है। क्योंकि उसका फल बन्धन है और बन्धन है वह प्रकृति है और प्रकृति है वह विष का-जहर का वृक्ष है। १४८ प्रकृति जहर का वृक्ष है, भगवान अमृत का वृक्ष है। आहाहा! आत्मा अमृत का जीवन, जीव का जीवन अमृतस्वरूप उसका जीवन है और यह प्रकृति है, (वह) जहर का वृक्ष है। आहाहा! तीर्थंकरप्रकृति पड़ी है, वह भी जहर का वृक्ष है। १४८ प्रकृति में आया न, १४८ प्रकृति में आया है। १४८ प्रकृति सब जहर का वृक्ष है। क्योंकि जो शुभभाव से प्रकृति बँधी, उस प्रकृति का उदय वह शुभभाव छोड़कर केवल (ज्ञान) होगा, तब प्रकृति का उदय आयेगा। तो क्या शुभभाव ने क्या किया? जिस शुभभाव से ज्ञानी को प्रकृति बँधी, उस प्रकृति के कारणरूप जो शुभभाव, उसका नाश करके वीतराग होगा, तब उस प्रकृति का उदय आयेगा। अब उसे क्या काम है? आहाहा! कठिन बात है, भाई! वीतराग के सिद्धान्त दुनिया से—पूरी जाति से बात अलग है। सुनते हैं, अब लोग सुनते तो हैं कि कुछ कहा जाता है, कुछ है अवश्य। अफ्रीका जैसे में गये तो भी हजारों लोग (आते थे)। बहिनें तो दो, तीन हजार। कौन जाने ऐसे खचाखच भरता था। पुरुष थोड़े पाँच सौ, सात सौ। दोपहर के, दोपहर में पकाना न हो, (इसलिए) बहिनें बहुत आती थीं। सब सुनते थे। विरोध कुछ नहीं, विरोध जरा भी नहीं। आहाहा! मार्ग यह है। आहाहा!

और उनका वाँचनकार है। कैसा कहा? वेलजीभाई, बहुत होशियार है। छोटी उम्र परन्तु बहुत अच्छा वाँचन, लोग प्रसन्न (हो जाए)। ऐसा सरस वाँचन (करता है)। जड़ और चैतन्य और राग को भिन्न करके बात करता है। वहाँ अफ्रीका में! लन्दन में तो यह प्रेमचन्दभाई, भाई आये न यह? वहाँ लन्दन में गये थे न। इनकी लाईन तो बहुत... रस ऐसा

इन्हें ऐसा रस है। लन्दन में महाजन। वहाँ वीरचन्दभाई जा आये न? कितने दिन रहे? सवा महीने लन्दन में? ठीक! यह व्यक्ति ऐसा है कोई। यहाँ आया था। वैराग्य, वैराग्य... बात अन्दर... आहाहा! यह वस्तु ही है, ऐसी चीज़ है, ऐसा कहते हैं। और मुख में वैराग्य तथा लन्दन में वाँचन करते हैं। यह चीज़ है। जहाँ हो, वहाँ आत्मा है, वहाँ है। यह कहाँ वहाँ बाहर है! आहाहा! जहाँ आत्मा है, वहाँ आत्मा के स्वरूप की वार्ता, ऐसा उसका वेदन है। आहाहा!

यहाँ कहते हैं, **स्वयमेव छोड़ देता है। इसलिए उदय में आये हुए अमधुर या मधुर कर्मफल को ज्ञातापने के कारण मात्र जानता ही है, किन्तु ज्ञान के होने पर (ज्ञान हो तब) परद्रव्य को 'अहं' रूप से अनुभव करने की अयोग्यता...** देखो! आत्मज्ञान होने पर राग को अपनेरूप अनुभव करने की अयोग्यता है। है? **अनुभव करने की अयोग्यता होने से (उस कर्म फल को) नहीं वेदता। इसलिए, ज्ञानी प्रकृतिस्वभाव से विरक्त होने से अवेदक ही है।** यह भी अपेक्षा से कहा, हों! थोड़ा सा है, उसे जानता है, वह यहाँ लेना नहीं। अन्दर थोड़ा वेदक भी है, और थोड़ा अवेदक है। राग का थोड़ा वेदक है, आनन्द का थोड़ा वेदक है परन्तु यहाँ तो अत्यन्त बिल्कुल वेदक नहीं है; जाननेवाला है, ऐसा यहाँ सिद्ध करना है। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ३९०, श्लोक - १९८, गाथा - ३१८ मंगलवार, ज्येष्ठ शुक्ल ६
दिनाङ्क - २०-०५-१९८०

---

३१८ (गाथा) थोड़ा चला है। फिर से। **ज्ञानी तो जिसमें से भेद दूर हो गये हैं...** धर्मी जीव की दृष्टि अभेद के ऊपर होती है। ध्येय जो ध्रुव है, ध्येय जो ध्रुव है, वह अभेद है और अभेद पर धर्मी की दृष्टि होती है। दूसरा सब जाने भले और दृष्टि में तो ध्रुव ही तैरता होता है, इससे उसे भेद नहीं होते। **ज्ञानी तो जिसमें से भेद दूर हो गये...** आहाहा! परवस्तु तो दूर रही; दया, दान के भक्ति के भाव—राग वे दूर रहे परन्तु वस्तु जो अभेद ध्रुव अखण्ड है, उसमें भेद भी जिसमें नहीं पड़ता। आहाहा!

ऐसा भावश्रुतज्ञान जिसका स्वरूप है,... भेद दूर होते हैं, ऐसा जो अन्तर्लक्ष्यी भावश्रुतज्ञान स्वरूप है, **ऐसे शुद्धात्मज्ञान के सद्भाव के कारण,...** धर्मी की अस्ति तो शुद्धात्मा है, उसका सद्भाव, वह मेरा स्वरूप है। शुद्ध आत्मा है त्रिकाली, वह मैं हूँ। आहाहा! पर्याय जितना मैं नहीं। दया, दान, व्रत, आदि के परिणाम तो विकार हैं, उनके ऊपर उसकी दृष्टि नहीं है, उसमें उसका आदर नहीं है; इसलिए कहते हैं **शुद्धात्मज्ञान के सद्भाव के कारण,...** भावश्रुतज्ञानस्वरूप ऐसा जो शुद्धात्मद्रव्य मलिनता और भेद से रहित है।

पर से अत्यन्त विरक्त होने से... आहाहा! ज्ञानी—समकिती चौथे गुणस्थानवाला गृहस्थाश्रम में भले हो परन्तु तो भी पर से अत्यन्त विरक्त है। स्वरूप में रक्त और पर से विरक्त है। आहाहा! ऐसा स्वरूप। शुद्धात्म भावश्रुतज्ञानस्वरूप ऐसा जो शुद्धात्मज्ञान, उसमें रक्त है और अनन्त जो पर हैं, उनसे विरक्त है। आहाहा!

विरक्त होने से प्रकृति के स्वभाव को... पर से विरक्त के कारण से स्वभाव में एकाग्रता के, रति के कारण से और परभाव से विरक्त के कारण से **प्रकृति के स्वभाव को स्वमेव छोड़ देता है।** कर्म का उदय आवे, उसे अपना स्वीकारता नहीं है। अपना शुद्ध आनन्दस्वरूप, उसका जहाँ स्वाद आया... आहाहा! शुद्धभाव, शुद्धस्वरूप, शुद्ध आत्मा, भावशुद्धस्वरूप शुद्ध आत्मा का जहाँ भान हुआ, स्वाद आया, उसके समक्ष सभी चीज़ों से विरक्तपना (हुआ), उनमें कहीं आत्मा का स्वाद नहीं है। दूसरी चीज़ की ओर लक्ष्य जाएगा तो इसे राग और दुःख होगा। आहाहा!

स्वयमेव छोड़ देता है। पहले ऐसा लिया छोड़ता है अर्थात् कि यहाँ आदरता है, शुद्धात्मस्वरूप को आदरता है, तब रागादि को—प्रकृति स्वभाव को छोड़ता है। स्वभाव अपना है, उसे जब अन्तर में आदरता है, तब प्रकृति के स्वभाव को छोड़ता है। आहाहा! भाषा संक्षिप्त परन्तु भाव गम्भीर है। वीतराग का मार्ग अलौकिक है। यहाँ तो जन्म-मरणरहित होने की बात है, भाई! जन्म-मरण कर-करके अनन्त भव हुए। वह प्रकृति के स्वभाव को अपना मानकर अनन्त संसार हुआ।

यह है न कलश में? अब कलश आयेगा, उस कलश के अर्थ में है। कलश-टीका

में १९८ कलश आता है न? उसके अर्थ में कलश टीका है। मिथ्यात्व संसार है। आहाहा! और मिथ्यात्व जाने से सिद्ध सदृश है, उसमें ऐसा है। यह १९८ है न? इसकी टीका में है। एक विवक्षा की शैली कथन की पद्धति (ऐसी की है) कि मिथ्यात्व, वह संसार और मिथ्यात्व जाने से सिद्ध सदृश तथा एक ओर चौदहवें गुणस्थान तक असिद्ध है, ऐसा कहे। आहाहा! यह विवक्षा, क्या अपेक्षा? विवक्षा अर्थात् कथन, कथन में क्या अपेक्षा है, उसे न जाने तो एकान्त हो जाएगा। यहाँ कहते हैं मिथ्यात्व, संसार है; मिथ्यात्व जाने से सिद्ध सदृश है। कलश-टीका में है।

१९८ कलश है। **सम्यग्दृष्टि जीव को मिटा है इस कारण से...** विकार का स्वामीपना सम्यग्दृष्टि को मिट गया है। क्योंकि भगवान जो यह शुद्ध चैतन्यस्वरूप, वह जहाँ दृष्टि में आया, उसके साथ मेल नहीं खाते पुण्य और पाप के भाव स्वभाव के साथ अनमेल—मेल नहीं खाते, उनका उसे आदर नहीं होता। है न? **सम्यग्दृष्टि जीव को मिटा है इस कारण से। भावार्थ ऐसा है कि मिथ्यात्व संसार है; मिथ्यात्व मिटने पर जीव सिद्धसदृश है।** मिथ्यात्व मिटने पर सिद्ध सदृश है। एक ओर विवक्षा का कथन यह एक ही पकड़ ले (तो एकान्त हो जाए)। बहुतों को ख्याल में ऐसा आता है कि समकिती को आस्रव-बन्ध नहीं है। परन्तु यह तो एक विवक्षा का कथन है। दृष्टि की अपेक्षा से कथन है। बाकी तो जब तक पूर्ण यथाख्यातचारित्र न हो, तब तक ज्ञानी को भी राग आता है और उसका वेदन है, उसका बन्धन है, उसका आस्रव है। आहाहा! विवक्षा के कथन की अपेक्षा न समझे और एक ओर लेकर बैठे... यहाँ कहा कि मिथ्यात्व जाने से सिद्ध सदृश है। दूसरी जगह कहा कि, चौदहवें गुणस्थान तक अभी असिद्ध है। यहाँ यद्यपि सिद्ध सदृश कहा है। सिद्ध नहीं परन्तु सिद्ध सदृश। आहाहा! एक ओर चौदहवें गुणस्थान में असिद्ध है, वह सिद्ध नहीं है। आहाहा! क्योंकि अभी चार कर्म का भी अंश है, मैल है, तब तक वह सिद्ध नहीं कहलाता। आहाहा! कथन की पद्धति न समझे तो एकान्त हो जाए, ऐसा है।

यहाँ कहते हैं, स्वयमेव छोड़ता है। प्रकृति है, उसका भाव आता है। उसका धर्मी स्वामी नहीं है, वह प्रकृति स्वभाव अपना नहीं है, प्रकृति स्वभाव दुःखमय है; प्रभु आत्मा

आनन्दमय है—ऐसे दो के विवेक के कारण वह दुःखमय प्रकृति के स्वभाव को छोड़ता है। आहाहा! ऐसी बातें हैं, ऐसा धर्म, लो!

इसलिए उदय में आये हुए अमधुर या मधुर कर्मफल को... यहाँ वापस लिया, देखो! **ज्ञातापने के कारण मात्र जानता ही है,...** यह छोड़ता है कहा, यहाँ कहा, केवल जानता ही है। है? **मात्र जानता ही है,...** वह तो जानता ही है। जानता है, ज्ञान का स्वभाव है। उस समय में ज्ञान की स्व-परप्रकाशक पर्याय ही ऐसी प्रगटी है कि वह छूटे उसका भी ज्ञान है, यह रहे उसका भी ज्ञान है और आत्मा में वह नहीं, उसका भी उसे ज्ञान है। आहाहा! अब ऐसा धर्म। लोगों को एकान्त लगता है। आहाहा!

कर्मफल को ज्ञातापने के कारण... धर्मी जीव तो ज्ञानस्वरूप चैतन्यमूर्ति है, उसमें उसे राग और विकार का भाव अनमेल देखकर उसका आदर नहीं करते। आहाहा! स्वभाव और विभाव का मेल नहीं खाता होने से, आनन्द के स्वाद के समक्ष विकार के स्वभाव के दुःख को छोड़ देता है अथवा उसे जानता है। आहाहा! **मात्र जानता ही है,...** ऐसा वापस देखा? जरा भी वेदता है, ऐसा यहाँ नहीं लिया। दूसरी जगह (ऐसा कहे), ठेठ वीतरागता न हो, तब तक अभी राग को वेदता है। दसवें गुणस्थान में भी राग का अंश है, तब तक वेदन है। उदय है, वह वेदन है परन्तु वहाँ आगे एक समय की पर्याय भले हो परन्तु वेदन में है। और यहाँ निकाल डाला है। यहाँ तो केवल जानता ही है, यह कथन की शैली है। इस कथन की पद्धति की रीति को न जाने तो कहीं का कहीं कर डाले। आहाहा!

किन्तु ज्ञान के होने पर... ज्ञान अर्थात् आत्मा शुद्ध चैतन्यस्वरूप है, ऐसा अन्तर में **ज्ञान के होने पर (ज्ञान हो तब) परद्रव्य को 'अहं' रूप से अनुभव करने की अयोग्यता होने से...** आहाहा! भगवान आत्मा अतीन्द्रिय आनन्द का ज्ञान होने पर, अतीन्द्रिय आनन्द की मूर्ति मैं हूँ। सर्वांग मेरे आत्मप्रदेश में आनन्द भरा है, अतीन्द्रिय आनन्द भरा है। आहाहा! **'अहं' रूप से अनुभव करने की अयोग्यता होने से...** इससे सर्वांग आनन्द और ज्ञान की मूर्ति मैं हूँ, इससे प्रकृति के स्वभाव को अनुभवने के अलायक है, अयोग्य है। स्वभाव को अनुभव करने के योग्य है, परन्तु विभाव को अनुभव करने के अयोग्य है। आहाहा! अब ऐसा धर्म। सूक्ष्म बात है, भाई!

धर्मी तो अपने आत्मस्वभाव शुद्ध आनन्द को जानता हुआ, मानता हुआ और वेदता हुआ... आहाहा! शुद्धचैतन्यघन भगवान को जानता हुआ, 'यह मैं हूँ'—ऐसा मानता हुआ... आहाहा! और उसे वेदता हुआ, प्रकृति के स्वभाव को जानता है, मानता है कि पर है। वेदन को भी अभी पर गिनने में आया है। वेदन नहीं है, ऐसी बात आयी वहाँ हो जाता है न? पहले हो गया था कि ज्ञानी को दुःख होता ही नहीं, ज्ञानी को जितना राग कषाय गया है, उतना दुःख नहीं परन्तु जितना कषाय है, उतना दुःख है। यहाँ तो उसे जानता है, या छोड़ता है या वेदता नहीं—ऐसे तीन लिये हैं। आहाहा!

मुमुक्षु : सेठियाजी का अभिप्राय ऐसा था कि छेदने की चीज़ को वेदे कैसे?

पूज्य गुरुदेवश्री : वह दुःख भोगता ही नहीं। इसका अर्थ कि धर्मी हुआ, समकिती को दुःख होता ही नहीं, ऐसा अभिप्राय था। उसे दुःख (नहीं है)। दुःख भोगे तो तीव्र कषाय है, ऐसा कहा। यह जरा फेरफार हो गया। यह वस्तु गजब है। मूल चीज़ को पहुँचना (वह अलौकिक है)। अनन्त-अनन्त संसार चला गया है, अनन्त-अनन्त भव चले गये। आहाहा! कहीं इसने अपना पता लिया नहीं। अपने पता बिना, दूसरे के पते में मिलाकर अपना यह पता यह मानो मेरी चीज़ है, (ऐसा माना)। पुण्य, दया, दान, व्रत मेरे भाव हैं और उनके फलरूप से पुण्य का फल आता है—यह बाह्य स्त्री, कुटुम्ब, पैसा, धूल, पैसा, यह मेरी चीज़ है, (ऐसा माना)। पैसा धूल है, मिट्टी है, पुद्गल है। आहाहा! अज्ञानी उसे अपने मानकर मजा मानता है। ज्ञानी उसे पर मानकर उस ओर के झुकाव के भाव को दुःख मानता है। आहाहा! ऐसा अन्तर है।

धर्मी को **परद्रव्य को 'अहं' रूप से अनुभव करने की अयोग्यता...** आहाहा! इसलिए **(उस कर्म फल को) नहीं वेदता।** परन्तु यहाँ से वापस सर्वथा वेदता नहीं, ऐसा ले लेवे तो वापस विवाद उठे न। अभी किस अपेक्षा से कथन चलता है? चैतन्य द्रव्य ज्ञायकभाव वस्तु है, और उसमें चैतन्य में आनन्द और ज्ञान आदि शान्ति... शान्ति... शान्ति... उस शान्ति के माल से भरपूर, अतीन्द्रिय आनन्द के भाव से भरपूर ऐसे भगवान का जिसे आदर हुआ, वह प्रकृति के स्वभाव का आदर नहीं करता। छोड़ता है, जानता है, वेदता नहीं—ऐसा यहाँ कहते हैं। आहाहा!

मुमुक्षु : दृष्टि की मुख्यता से बात की है।

पूज्य गुरुदेवश्री : दृष्टि की मुख्यता। यह अकेला अभी (लिया है)। आहाहा!

परद्रव्य को 'अहं' रूप से अनुभव करने की... आहाहा! समकित, ज्ञान होने पर, धर्म की पहली सीढ़ी होने पर, धर्म का पहला सोपान होने पर उसे विषय के भोग में भी दुःख लगता है। आहाहा! चक्रवर्ती समकिती को छियानवें हजार स्त्रियाँ होती हैं परन्तु अतीन्द्रिय आनन्द के स्वाद के समक्ष उस भोग पर मजा का भाव जो लोग मजा मानते हैं, वहाँ ज्ञानी को दुःख लगता है। आहाहा! परसन्मुख के झुकाव के भाव को ज्ञानी दुःख जानता है और स्वसन्मुख के झुकाव के भाव को सुख जानता है। आहाहा!

परद्रव्य को 'अहं' रूप से अनुभव करने की अयोग्यता होने से (उस कर्म फल को) नहीं वेदता। छोड़ता है, जानता है और वेदता नहीं, तीन बोल लिये। आहाहा!

मुमुक्षु : आप कहते हो कि वेदता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वेदता है। वह तो यहाँ तो दृष्टि की अपेक्षा से बात है। वेदता नहीं? तो राग हो, वेदता नहीं? निर्जरा अधिकार में दूसरी गाथा में आया नहीं? ज्ञानी को राग आने से सुख-दुःख का वेदन हुए बिना वह जाता नहीं। वहाँ अल्प बात ली है। जरा सा वेदकर छूट जाता है। परन्तु जब तक राग है, यथाख्यातचारित्र और केवलज्ञान नहीं है, तब तक राग का वेदन भी ज्ञानी को है। दसवें गुणस्थान में अबुद्धिपूर्वक राग है, लोभ का उदय है, उदय है परन्तु वेदन है या नहीं? आहाहा!

मुमुक्षु : वहाँ वेदन नहीं, ऐसा कैसे कहा?

पूज्य गुरुदेवश्री : वेदन नहीं तो वीतरागता हो, वीतरागता तो नहीं है। आहाहा! पक्षपात से बात करे, वह कोई यह चीज़ नहीं है। यह तो वीतराग का मार्ग सर्वज्ञ परमेश्वर ने (कहा हुआ मार्ग है)।

इसलिए, ज्ञानी... धर्मी उसे कहते हैं कि जिसे आत्मा आनन्द का नाथ हाथ लगा है। आहाहा! जो अतीन्द्रिय आनन्द से भरपूर भगवान का अनुभव हुआ है। **ज्ञानी प्रकृतिस्वभाव से विरक्त होने से...** प्रकृति अर्थात् राग—द्वेष परिणाम जो प्रकृतिस्वभाव

है, वह कहीं जीव का स्वभाव नहीं है। **प्रकृतिस्वभाव से विरक्त होने से अवेदक ही है।** आहाहा! यहाँ अभी यह सिद्ध करना है। **अवेदक ही है।** ऐसा सिद्ध करना है। परन्तु यह एकान्त ऐसा का ऐसा ले लेवे तो रागादि है, उसे वेदने में आता ही नहीं। तब न आवे तो राग हो किस प्रकार? राग हुआ वह वेदन में आवे, तब ही होता है। आहाहा! नहीं तो पूर्ण आनन्द होना चाहिए। पूर्ण आनन्द के अभाव में उतना दुःख तो है। ज्ञानी को भी उतना दुःख का वेदन है। आहाहा! आनन्द और दुःख दोनों का वेदन है। कहा था न कल? मिथ्यादृष्टि को अकेला दुःख का वेदन है, भगवान केवली परमात्मा को अकेला आनन्द है, साधक को आनन्द और दुःख दोनों इकट्ठा है। साधक है, वह बाधकपना इकट्ठा है। आहाहा! समझ में आया? आहाहा!

अनादि काल से अज्ञान में इसने तो राग का ही वेदन किया है, प्रकृति के स्वभाव का ही वेदन किया है। कभी आत्मा की ओर के झुकाव का वेदन नहीं किया। आहाहा! भले करोड़ोंपति-अरबोंपति, बड़े अधिकारी पचास-पचास लाख की आमदनी वाले हों, उससे क्या? अन्तर की चीज़ को इसने देखकर वेदन नहीं किया है। आहाहा! यह प्रकृति का स्वभाव जो पुण्य-पाप, दया-दान या काम-क्रोध, उसका ही इसे कर्तापना और वेदनपना है। आहाहा! यह सुखी नहीं है। यह पैसेवाला और अरबोंपति, ये सब सुखी नहीं हैं। आहाहा! एक हिसाब से तो पुण्य से इसे पैसा मिला है परन्तु पैसा है, वह परिग्रह में गिना है। बाह्य दस प्रकार का परिग्रह है, अतः इस हिसाब से तो वह पापी है, पैसेवाला पापी है। अर..र..र..! ऐसी बात। समझ में आया? क्योंकि जो पैसा है, उसे परिग्रह में गिना है और परिग्रह, वह पाप है। तब जो पैसा है अधिक, वैसे वह अधिक दुःखी है और उतना वह पापी है। अर..र..र..! ऐसे खम्मा-खम्मा होती हो, लो! परसों राजकोट में आठ मिनिट इन्दिरा (गाँधी) आयी थी। जोगवाई की चीज़ तो देखो! कहाँ-कहाँ भटक रहा है? भगवान आत्मा को पुण्य के परिणाम में कहीं अटवाड़ी दिया है। आहाहा!

यहाँ कहते हैं, **ज्ञानी प्रकृतिस्वभाव से विरक्त होने से...** इस कारण से अवेदक कहने में आता है। प्रकृति का स्वभाव, जितना पुरुषार्थ और कमजोरी है, उतना अन्दर राग-द्वेष होता है धर्मी को भी, परन्तु वह अवेदक है। क्यों? **प्रकृतिस्वभाव से**

विरक्त होने से... यह सिद्धान्त रखा। प्रकृति के स्वभाव से अन्तर्दृष्टि में विरक्त है, दृष्टि में उसका आदर नहीं है। दृष्टि का ध्येय तो द्रव्य के ऊपर है। इसलिए वह पर से विरक्त है। प्रकृति के स्वभाव से विरक्त होने से अवेदक है, यह न्याय रखा है। आहाहा! ऐसा उपदेश, ऐसी बात। वह तो दया पालो और व्रत करो, भक्ति करो, दान करो, समझ में तो आये। अब इसमें क्या समझना था? धूल। इसमें तो अनादि काल से करता आया है। राग और राग के फल को अनादि से करता और भोगता आया है। इसमें क्या समझने का था? आहाहा!

प्रभु आत्मा प्रकृति के स्वभाव से विरक्त होने से, स्वभाव के भाव में रक्त होने से। धर्मी जीव स्वभाव में, आनन्द में अतीन्द्रिय आनन्द का भोग—अनुभव करता होने से, वह प्रकृति के स्वभाव से विरक्त होने से अवेदक कहने में आता है। आहाहा!

भावार्थ :- जो जिससे विरक्त होता है,... आहाहा! **उसे वह अपने वश तो भोगता नहीं है,...** स्वयं स्ववश से भोगता नहीं। आहाहा! **और यदि परवश होकर भोगता है तो वह परमार्थ से भोक्ता नहीं कहलाता।** यह न्याय। परवश से भोगना पड़ता है। पुरुषार्थ की कमजोरी के कारण ज्ञानी को भी राग और द्वेष का वेदन भोगना होता है। परन्तु **परमार्थ से भोक्ता नहीं कहलाता।** परमार्थ से उसका भोक्ता है, ऐसा नहीं कहा जाता। आहाहा! **इस न्याय से ज्ञानी-जो कि प्रकृति स्वभाव को (कर्मोदय) को अपना न जानने से...** प्रकृतिस्वभाव अर्थात्? काम, क्रोध, दया, दान, व्रत, भक्ति यह सब परिणाम प्रकृति स्वभाव है, यह आत्मा का स्वभाव नहीं। आहाहा! कठिन काम है, भाई! वीतराग का धर्म बहुत अपूर्व और सूक्ष्म है। अपूर्व और सूक्ष्म है। आहाहा! धर्मी **प्रकृति स्वभाव को (कर्मोदय) को अपना न जानने से उससे विरक्त है वह-स्वयमेव तो प्रकृति स्वभाव को नहीं भोगता,...** अब आया। **और उदय की बलबत्ता से परवश होता हुआ...** देखा? अभी कर्म का उदय है, पुरुषार्थ की कमजोरी है, उसके कारण **उदय की बलबत्ता से परवश होता हुआ निर्बलता से भोगता है...** देखा? भोगता तो है ही निर्बलता से। आहाहा! **तो उसे परमार्थ से भोक्ता नहीं कहा जा सकता,...** प्रेम नहीं और रुचि नहीं और उससे दृष्टि में विरक्त है। राग के स्वभाव से दृष्टि

से विरक्त है परन्तु कमजोरी के कारण राग आता है, उसे व्यवहार से ऐसा कहा जाता है कि यह भोगता है। आहाहा!

उदय की बलबत्ता से... वह कहीं कर्म के कारण होता नहीं। परन्तु यहाँ ऐसा सिद्ध करना है कि धर्मी को जितना रागादि होता है, वह स्वाधीन सुख की बुद्धि में से नहीं होता। इसलिए उसे परवशरूप से होता है, ऐसा कहा जाता है। परवश अर्थात् कर्म से होता है, (ऐसा नहीं)। ऐसे होता है तो अपने से, परन्तु पर्याय में स्वभाव सन्मुख की दृष्टि के जोर के कारण पर्याय में रागादि होते हैं, उसका भी वह भोक्ता नहीं कहलाता। आहाहा! ऐसी बात है।

इसमें धर्म क्या करना? धर्म, धर्म कैसे होता है? यह ऐसे होता है। चैतन्य को प्रकृति के स्वभाव से विरक्त जानना। आहाहा! कर्म के निमित्त से होते उपाधि भाव से निरुपाधि भगवान अन्दर स्थित है सच्चिदानन्द प्रभु, उसे जानना, मानना और अनुभव करना, इसका नाम धर्म है; बाकी सब बातें हैं। आहाहा!

उदय की बलजोरी कही। वास्तव में तो एक द्रव्य के ऊपर दूसरे द्रव्य की बलजोरी लागू नहीं पड़ती। एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को स्पर्श नहीं करता। क्या कहा? कर्म का उदय आत्मा को स्पर्श भी नहीं करता, आत्मा उसे स्पर्श नहीं करता, क्योंकि द्रव्य भिन्न-भिन्न है। भिन्न द्रव्य में भिन्न द्रव्य का स्पर्श तीन काल में नहीं होता। आहाहा! परन्तु पुरुषार्थ की कमजोरी से प्रकृति का स्वभाव आत्मा के स्वभाव से विरुद्ध होने से हुआ इससे बलजोरी से हुआ—ऐसा कहने में आया है। उसे उत्साह नहीं, इस राग को करूँ और भोगूँ—ऐसा उत्साह नहीं। इसलिए होता है अपने पुरुषार्थ से, तथापि प्रकृति का स्वभाव... आहाहा! बलजोरी से प्रवर्तता है। यहाँ कहते हैं उदय की बलजोरी।

कोई कहे कि तुम (कहते हो कि) कर्म से विकार नहीं होता, (ऐसा कहते हो) यह किया, लो! आहाहा! निमित्त से पर में कुछ नहीं होता। यह यहाँ कहा। परमार्थ से देखा? **उदय की बलबत्ता से परवश होता हुआ...** इसका अर्थ—आत्मा ज्ञान और आनन्द का भान होने पर भी, उसका वेदन होने पर भी पुरुषार्थ की कमजोरी से जरा प्रकृति के ओर के झुकाववाला राग-द्वेष होता है, उसे यहाँ पर के बलजोरी से कहने में आया है। है तो अपने पुरुषार्थ की कमजोरी का कार्य। आहाहा!

शब्द-शब्द में विवाद उठाते हैं। कर्म की बलजोरी से विकार होता है। तीन काल में बात सत्य नहीं है। कर्म आत्मा को स्पर्श नहीं करता, आत्मा कर्म को छूता नहीं तीन काल-तीन लोक में। आहाहा! यह दो अँगुलियाँ हैं, यह अँगुली इसको स्पर्श नहीं करती। कौन माने? स्पर्श करती है, यह संयोग से देखता है, वह यहाँ से देखता है। नहीं स्पर्श करती वह यहाँ से देखता है। इसके साथ इसे कुछ सम्बन्ध नहीं है, इसलिए इस अँगुली को यह स्पर्श नहीं करती। परन्तु इससे ऐसे देखनेवाले को, इस संयोग से देखनेवाले को स्पर्श करती है, ऐसा दिखाई देता है। स्वभाव से देखनेवाले को स्पर्श नहीं करती, ऐसा दिखाई देता है। आहाहा!

पानी गर्म हुआ, वह अग्नि से हुआ—ऐसा जो देखता है, वह संयोग से देखता है और संयोग से नहीं देखनेवाला जो वस्तु का स्वभाव है, उससे देखनेवाला वह गर्म पानी अपने स्पर्शगुण की पर्याय में शीतल थी, उसने उष्ण किया। अग्नि के कारण पानी गर्म नहीं हुआ। आहाहा! ऐसे कर्म के कारण आत्मा में विकार नहीं हुआ परन्तु यहाँ आत्मा में आनन्द और ज्ञान का जोर होने से समकिती को उसका प्रेम नहीं तथा उसकी रुचि नहीं, इसलिए पुरुषार्थ की कमजोरी को कर्म की कमजोरी में डालकर निकाल डालना चाहते हैं। आहाहा!

मुमुक्षु : भावकर्म की बलजोरी से कहा जाता है?

पूज्य गुरुदेवश्री : भावकर्म की बात है यहाँ। यहाँ भावकर्म की बात है न? आहाहा!

उदय की बलबत्ता से परवश होता हुआ अपनी निर्बलता से... देखो! **भोगता है...** निर्बलता से राग आता है, उसे भोगता है। आहाहा! **तो उसे परमार्थ से भोक्ता नहीं कहा जा सकता,...** आहाहा! एक ओर कहा भोगा नहीं जाता, एक ओर कहते हैं कि भोगा जाता है। भोगा नहीं जाता जो कहा है, वह अपने स्वभाव के जोर से राग का प्रेम नहीं, इसलिए राग को भोगता नहीं—ऐसा कहा। परन्तु कमजोरी है, जब तक और राग होता है, उसे स्वयं वेदता है। कर्म के कारण होता नहीं, कर्म को जीव वेदता नहीं, कर्म तो जड़ है। मिट्टी जड़ है, धूल है। धूल को आत्मा वेदता नहीं। आत्मा अरूपी है। वह अरूपी अपनी भूल में स्थिरता के राग-द्वेष को वेदता है। अपने राग-द्वेष अपने से होते हैं, उन्हें वेदता है। कर्म के कारण से नहीं और कर्म को भोगता नहीं। आहाहा! ऐसा स्वरूप है।

यह ऐसा धर्म होगा वीतराग का? अरे...! यह एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, इच्छामि पडिकम्मणा... इरिया वीरिया तस्सूतरी करणेन... यह बोले वहाँ सामायिक हो गयी। सात पाठ बोलकर बैठा। धूल में भी नहीं सामायिक; मिथ्यात्व है। वहाँ सामायिक कैसी? अभी आत्मा राग का भी कर्ता नहीं—ऐसी दृष्टि हुई नहीं और अकर्ता है—ऐसा चैतन्यमूर्ति जिसे अनुभव में आया नहीं, उसे अन्दर में स्थिरता की क्रिया आवे कहाँ से? सामायिक और प्रोषध तो अन्दर स्वरूप में स्थिरता की क्रिया है। परन्तु वह स्वरूप ही अनुभव में आया नहीं, उसे स्थिरता की क्रिया होगी कहाँ से? आहाहा!

परमार्थ से भोक्ता नहीं कहा जा सकता, व्यवहार से भोक्ता कहलाता है। किन्तु व्यवहार का तो यहाँ शुद्धनय के कथन में अधिकार ही नहीं है;... यह तो शुद्धनय का कथन है। आहाहा! शुद्धनय का कथन में तो पर्याय झूठी है, ऐसा कहा। ११वीं गाथा। पर्याय झूठी, अभूतार्थ, असत्य, झूठी है। पर्याय झूठी होवे तो यह संसार किसका? मोक्ष किसका? मोक्ष और संसार पर्याय है। मोक्ष का मार्ग भी पर्याय है, मोक्ष पर्याय है, संसार पर्याय है और ११वीं गाथा में कहा, पर्याय झूठी है। वह किस अपेक्षा से? उसे लक्ष्य में नहीं लेने के लिये, उसको गौण करके व्यवहार कहकर 'नहीं' और त्रिकाल को मुख्य करके, निश्चय करके 'है' ऐसा कहा है। आहाहा! अरे..रे..! ऐसी बात (समझने को) कहाँ निवृत्त हो? बनिये को धन्धा आदि निवृत्ति नहीं होती। यह सवेरे से होली सुलगती है, मजदूरी। भले पाँच-पच्चीस हजार महीने में पैदा करता हो परन्तु मजदूर की भाँति, बड़ी मजदूरी है, बड़ा मजदूर। आहाहा! मजदूर तो आठ से बारह तक काम करे, दो से छह करे। यह सवेरे के छह बजे से रात के दस बजे तक काम करे।

मुमुक्षु : यह तो सेठ है न!

पूज्य गुरुदेवश्री : सेठिया हमारे कुँवरजीभाई थे न? सेठ। आहाहा! दुनिया क्या कर रही है और क्या मार्ग है, (इसका) जगत को पता नहीं। जिन्दगी चली जा रही है, आयुष्य पूरा हो जाएगा, देह छूट जाएगी। आत्मा की सत्ता कहीं नाश नहीं होगी। उसका अस्तित्व कहीं जाकर अवतरित होगा। यह सब ममता में जाएगा तो भटकेगा। सूकर और कौवे-कुत्ते में अवतरित होगा। आहाहा! अनादि-अनन्त सत्ता तत्त्व है। देह का नाश होगा।

भगवान का—आत्मा का नाश होगा ? (नाश नहीं होगा तो) उसकी सत्ता कहीं जाएगी या नहीं ? तो अकेली बाहर की ममता... ममता... ममता... की तो उसमें भटकेगा, वह तो पशु में जाएगा। यह तो माँस, शराब न खाता (-पीता) होवे, उसकी बात है, हों! परन्तु माँस, शराब खाता (पीता) होवे तो मरकर नरक में जानेवाला है। आहाहा! बड़े अमलदार, अधिकारी होते हैं। मछलियाँ और माँस खाते हों, वे नरक में जानेवाले हैं। नरक के अधिकारी हैं। आहाहा!

इस भगवान को जाने बिना और किस प्रकार पराधीन है, किस प्रकार स्वाधीन है, विकार कैसे होता है, विकार वह आत्मा का क्यों नहीं है ?—इसके न्याय और ज्ञान अन्दर से जाने न हो, वह तो मिथ्यात्व में उलझकर (भटकेगा)। और यह तो कहा था—मिथ्यात्व, वह संसार है। वह संसार है। भले स्त्री-पुत्र छोड़कर, दुकान-धन्धा छोड़कर, नग्न बाबा, नग्न मुनि दिगम्बर हो तो भी वह मिथ्यात्व है, वह संसार है। संसार छोड़ा, संसार कोई बाह्य नहीं है। स्त्री-पुत्र-पैसा वह कोई संसार नहीं है। संसार तो स्वरूप में से संसरण—हटकर राग और द्वेष को अपने मानना, इसका नाम संसार है। आहाहा! गजब बात है। समझ में आया ? संसार आत्मा की पर्याय से दूर नहीं होता। वह स्वयं पर्याय है, इसलिए दूर नहीं होता। संसार अर्थात् मिथ्यात्व और राग-द्वेष, पुण्य-पाप। वह पर्याय है, वह आत्मा की पर्याय है तो वह संसार आत्मा की पर्याय से पृथक् नहीं होता। स्त्री, पुत्र और मकान, पैसा, वह कोई संसार नहीं है, वे तो जड़ पदार्थ पर हैं। आहाहा! इसकी पर्याय में जो विकार होता है, वह विकार मेरा है और मैं वह कर्तव्य कर सकता हूँ, इसका नाम मिथ्यात्व और संसार की पर्याय है। आहाहा! **शुद्धनय के कथन में अधिकार ही नहीं है; इसलिए ज्ञानी अभोक्ता ही है।**

कलश -१९८

अब इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं-

(वसंततिलका)

ज्ञानी करोति न न वेदयते च कर्म,
जानाति केवलमयं किल तत्स्वभावम्।
जानन्परं करण-वेदनयो-रभावा-
च्छुद्धस्वभावनियतः स हि मुक्त एव॥१९८॥

श्लोकार्थ : [ज्ञानी कर्म न करोति च न वेदयते] ज्ञानी कर्म को न तो करता है और न भोगता है, [तत्स्वभावम् अयं किल केवलम् जानाति] वह कर्म के स्वभाव को मात्र जानता ही है। [परं जानन्] इस प्रकार मात्र जानता हुआ [करण-वेदनयोः अभावात्] करने और भोगने के अभाव के कारण [शुद्ध-स्वभाव-नियतः सः हि मुक्तः एव] शुद्ध स्वभाव में निश्चल ऐसा वह वास्तव में मुक्त ही है।

भावार्थ : ज्ञानी कर्म का स्वाधीनतया कर्ता-भोक्ता नहीं है, मात्र ज्ञाता ही है; इसलिए वह मात्र शुद्धस्वभावरूप होता हुआ मुक्त ही है। कर्म उदय में आता भी है, फिर भी वह ज्ञानी का क्या कर सकता है? जब तक निर्बलता रहती है, तब तक कर्म जोर चला ले; किन्तु ज्ञानी क्रमशः शक्ति बढ़ाकर अन्त में कर्म का समूल नाश करेगा ही॥१९८॥

कलश - १९८ पर प्रवचन

अब इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं- १९८।

ज्ञानी करोति न न वेदयते च कर्म,
जानाति केवलमयं किल तत्स्वभावम्।
जानन्परं करण-वेदनयो-रभावा-
च्छुद्धस्वभावनियतः स हि मुक्त एव॥१९८॥

आहाहा! ज्ञानी चौथे गुणस्थान में भले गृहस्थाश्रम में हो। भरत चक्रवर्ती और बाहुबली समकिती थे। छह खण्ड का राज था, छियानवें हजार स्त्रियाँ, छियानवें करोड़ सैनिक, छियानवें हजार स्त्रियाँ, तथापि ज्ञानी एक रजकण को-राग को अपना नहीं मानते थे। आहाहा! एक रजकण, यह तो बहुत रजकण से बनी हुई धूल है यह। यह अंगुली भी बहुत रजकण से बनी हुई यह धूल है। यह धूल है, धूल। आहाहा! उसमें एक रजकण को भी अपना मानता नहीं और राग का, दया का अंश आवे, उसे अपना मानता नहीं। राग और रजकण को धर्मी अपना नहीं मानता। अर..र..र..! आहाहा! अब ऐसी बातें। यह तो अपने आनन्द स्वरूप भगवान नित्यानन्द नित्य ध्रुव वस्तु जहाँ पकड़ी है, वह एक क्षणिक और विकृतवाली वस्तु को अपनी कैसे माने? आहाहा!

धर्मी जीव **कर्म को न तो करता है...** राग-द्वेष आदि को वह करता नहीं। पर को तो कर सकता नहीं। अज्ञानी आत्मा भी स्त्री, कुटुम्ब या धन्धे की क्रिया को कर नहीं सकता। पेढ़ी पर बैठकर अभिमान करे कि यह धन्धा मैंने किया और इससे यह पाँच हजार पैदा हुए और यह महीने के योगफल में लाख यह पैदा हुए और अमुक हुआ... आहाहा! ऐसी अज्ञानी परस्पर बातें करते हैं।

यहाँ कहते हैं **ज्ञानी कर्म को न तो करता है...** धर्मी जीव, कोई कार्य मैंने किया ऐसा है ही नहीं। आहाहा! जो शरीर के काम हैं हिलने-चलने के, वे जड़ के हैं, यह तो जड़ है। अँगुली ऐसे होती है यह तो जड़ की क्रिया है, आत्मा की नहीं, आत्मा इसे नहीं करता। आहाहा! तो बाह्य चीज़ जो है मकान और पैसा, गहने और कपड़े, उन्हें तो यह क्या करे? आहाहा!

मुमुक्षु : होशियार हो वह करे।

पूज्य गुरुदेवश्री : होशियार हो, वह अभिमान अधिक करे। सब देखा है न! यहाँ तो बहुत देखा है, यह पूरी दुनिया देखी है। शरीर को ९१ वर्ष चलते हैं। ६६ वर्ष से तो दीक्षा ली है, ६६ वर्ष से। और वैसे तो (संवत्) १९६४ के वर्ष से शास्त्र का अभ्यास है। दुकानें घर की, हमारी दुकान है न पालेज में? भरुच और वडोदरा के बीच पालेज है। क्या कहा?

मुमुक्षु : पाँच वर्ष...

पूज्य गुरुदेवश्री : पाँच वर्ष दुकान चलायी। १९६३ से १९६८। अभी बड़ी दुकान है, दुकान मेरे पिताजी की थी, फिर हमारे भागीदार थे, गुजर गये। अभी तो भागीदार के लड़के हैं। चालीस लाख रुपये अभी हैं, चार लाख की आमदनी है, ऐसी दुकान है। भरुच और वडोदरा के बीच पालेज है, वहाँ है। धूल में कुछ है नहीं। आहाहा! लड़के नरम हैं। सुनते हैं, रहते हैं तब तक कायम साथ में रहते हैं, ऐसे उठते हैं वहाँ रोते हैं। अरेरे! हमें सुनना चला जाता है बेचारा! पैसा है, चालीस लाख रुपये हैं। अभी लड़कों को बाँट दिया है। एक को लाख-सवा लाख की आमदनी है, आमदनी। पालेज में दुकान है, दुकान थी और पाँच वर्ष मैंने चलायी थी। ६३ से ६८। (संवत्) १९६८ में दुकान छोड़ी, ७० में दीक्षा (ली)। ६६ वर्ष तो दीक्षा को हुए। उसमें (—सम्प्रदाय में दीक्षा) ली थी न! पिताजी स्थानकवासी थे न। आहाहा!

यह मार्ग अलग, प्रभु! एकान्त लगे, कठिन लगे, बापू! परन्तु मार्ग कोई अलग है। यह जन्म-मरणरहित होने की इसकी पद्धति, इसकी पद्धति कोई अलौकिक है। आहाहा! साधारण लोग मान बैठे कहीं दया, व्रत और भक्ति करे, पैसा खर्च करे, दो, पाँच, दस लाख लो न, आहाहा! कहीं अभी गये नहीं थे हम? अफ्रीका। २६ दिन रहे थे। मनुष्य... मनुष्य... लोगों को प्रेम बहुत। २६ दिन में तो ४५ लाख रुपये इकट्ठे किये। यह अभी गये थे। ४५ लाख। पहले पन्द्रह लाख का मन्दिर बनाने का है। दिगम्बर मन्दिर पन्द्रह लाख का। यह खर्च दूसरा। इकट्ठे किये ४५ लाख दूसरे किये। वहाँ लखपति तो गरीब मनुष्य कहलाता है। लाख, दो लाख यह वहाँ गरीब कहलाता है। दस लाख, बीस लाख, पच्चीस लाख, पचास लाख... यह धूल बहुत इकट्ठी हुई। आहाहा! परन्तु उनसे स्पष्ट बात की यह तो तुम्हारे ४५ लाख क्या, करोड़ों रुपये खर्च तो धर्म नहीं है। उसमें राग की कदाचित मन्दता करोगे तो पुण्य होगा और पुण्य मेरा माने तो मिथ्यात्व है। ऐसी बात है, प्रभु!

तेरी प्रभुता की तो बलिहारी है परन्तु उसकी इसे खबर नहीं है। चैतन्य प्रभु अन्दर अनन्त शक्ति का धनी है। अनन्त आनन्द और अनन्त ज्ञान, अनन्त वीर्य से भरपूर भगवान है। आहाहा! वह यहाँ दो बीड़ी सरीखी पीवे... क्या कहलाता है? सिगरेट... सिगरेट। आहाहा! दो बीड़ी, सिगरेट पीवे तब भाई दस्त करने जाए। ऐसे अपलक्षण। अब उसे कहना

(कि) तू तीन लोक का नाथ। अरे! तू इन्द्र के इन्द्रासन को भी इच्छे नहीं। प्रभु! तेरी भावना में तो परमात्मपद की भावना (होती है), वह तू आत्मा है। आहाहा! प्रभु! तू आत्मा है न! आहाहा! तो उसकी शक्ति और उसका स्वभाव तो प्रभु का है, प्रभु के जैसा स्वभाव है। जो प्रभु हुए, प्रभु हुए अरिहन्त, वे कहाँ से हुए? बाहर से निकाला है कुछ? भगवान विराजते हैं महाविदेहक्षेत्र में सामने, सीमन्धर प्रभु विराजते हैं, हुए कहाँ से? है कुछ? अन्दर में अरिहन्त पद पड़ा है, वह अन्दर में से बाहर आता है। आहाहा! प्रभु! अन्दर में पाँच परमेष्ठी के पद पड़े हैं। आहाहा! उस शक्तिरूप से प्रभु! तू यह परमात्मा है अन्दर। आहाहा! उसकी जिसे दृष्टि हुई, उससे कहते हैं कि प्रकृति के स्वभाव को भोगना, वह उसे आत्मा नहीं है। वह तुच्छ तुच्छ (है)। आहाहा!

निम्न जाति की स्त्री हो, वह दो दाना... दो क्या कहलाता है? दातुन। दो-चार दातुन दे और एक रोटी, दो रोटी दे तो प्रसन्न हो जाए। यह ऐसे उस निम्न जाति की स्त्री जैसे हैं। कहीं पैसा मिले थोड़ा सा और स्त्री ठीक हो और कुछ अधिकार मिले, कुछ पाँच-पाँच दस हजार वेतन महीने का (मिले)... अरे! प्रभु! तू क्या करता है? आहाहा! यह अन्तर में अनन्त ऋद्धि पड़ी है, जिस ऋद्धि की बात सर्वज्ञ पूर्ण रीति से नहीं कह सकते। क्योंकि यह वाणी जड़ है, प्रभु तो चैतन्य है। वह अरूपी है और यह (वाणी) रूपी है। अरूपी की बातें, प्रभु! रूपी द्वारा कितनी करना? आहाहा!

यहाँ बात में दो अधिकार लिये हैं कि वह कमजोरी के कारण वेदन करता है, तथापि वह वेदता नहीं है, ऐसा भी वापस कहा। आहाहा! कहा न? **कर्म को न तो करता है और न भोगता है,...** आहाहा! **वह कर्म के स्वभाव को मात्र, मात्र जानता ही है।** आहाहा! बिल्कुल राग को अपना स्वीकार नहीं करता। दया, दान और भक्ति, प्रभु का वन्दन ऐसा विकल्प / राग उठे, उसे स्वीकार नहीं करता। मेरी चीज़ नहीं है। आहाहा! मेरी कमजोरी के कारण विकल्प, राग आता है परन्तु वह मेरे घर की चीज़ नहीं है। घर की हो वह अलग नहीं पड़ती, तो कभी सिद्ध होगा ही नहीं। परन्तु अलग पड़ती है, वह घर की नहीं है। आहाहा! समझ में आया? ऐसी बातें हैं, प्रभु!

धर्म की चीज़ प्रभु! बहुत सूक्ष्म है। लोक को एकान्त लगता है। यह तो वीतराग का

मार्ग है ? यह क्या है ? भाई ! तुझे खबर नहीं है, प्रभु ! वीतराग का मार्ग यह है, भाई ! अनन्त तीर्थंकर, अनन्त केवलियों का मार्ग यह है। लोगों को सुनने को मिला नहीं, इसलिए कहीं दूसरा हो जाएगा ? आहाहा !

केवल जानता हुआ... आहाहा ! है ? **वह कर्म के स्वभाव को मात्र जानता ही है।** केवल जानता हुआ। **करने और भोगने के (करने और भोगनेवाले के) अभाव के कारण...** यह दया, दान के, व्रत के परिणाम को भी करने को और वेदने को वह अशक्य है। आहाहा ! **करने और भोगने के अभाव के कारण शुद्ध स्वभाव में निश्चल...** स्थित। आहाहा ! परमानन्द का नाथ प्रभु शुद्ध स्वभाव में स्थित है। आहाहा ! नियत अर्थात् स्थित है। आहाहा ! **'शुद्ध-स्वभाव-नियतः सः हि मुक्तः एव'** आहाहा ! **शुद्ध स्वभाव में निश्चल ऐसा वह वास्तव में मुक्त ही है।** ज्ञानी मुक्त है। आहाहा ! एक ओर मुक्ति भगवान को कहना। 'सिद्धा सिद्धि मम् दिसंतु' एक ओर समकिती मुक्त है। क्योंकि राग और राग के फल से विरक्त है। आहाहा !

वह वास्तव में मुक्त ही है। भाषा है न ? **'सः हि मुक्तः एव'** 'सः' वह निश्चय से **'मुक्तः एव'** आहाहा ! कठिन लगे। बहुत विचार अपेक्षित है, बापू ! बहुत समय अपेक्षित है। आहाहा ! समागम चाहिए। **'मुक्तः एव'** अभी आत्मा राग से और पुण्य से मुक्त ही है। क्योंकि राग और पुण्य है, वह नव तत्त्व में आस्रव और पुण्य-पाप, बन्ध में जाते हैं। भगवान आत्मा अन्दर भिन्न स्थित है, ज्ञायकरूप से पृथक् स्थित है। इससे वास्तव में जिसे द्रव्य आत्मा अन्दर पकड़ में आया, समकित हुआ, वह मुक्त ही है। आहाहा ! विशेष कहेंगे... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव !)

गाथा-३१९

ण वि कुव्वइ ण वि वेयइ णाणी कम्माइं बहुपयाराइं।
जाणइ पुण कम्म-फलं बंधं पुण्णं च पावं च॥३१९॥

नापि करोति नापि वेदयते ज्ञानी कर्माणि बहुप्रकाराणि।
जानाति पुनः कर्मफलं बन्धं पुण्यं च पापं च॥३१९॥

ज्ञानि हि कर्मचेतनाशून्यत्वेन कर्मफलचेतनाशून्यत्वेन च स्वयमकर्तृत्वाद-वेदयितृत्वाच्च न कर्म करोति न वेदयते च; किन्तु ज्ञानचेतनामयत्वेन केवलं ज्ञातृत्वात्कर्मबन्धं कर्मफलं च शुभमशुभं वा केवलमेव जानाति॥३१९॥

अब इसी अर्थ को पुनः दृढ़ करते हैं-

करता नहीं, नहिं वेदता, ज्ञानी करम बहुभाँति को।
बस जानता ये बंध त्यों हि कर्मफल शुभ अशुभ को॥३१९॥

गाथार्थ : [ज्ञानी] ज्ञानी [बहु-प्रकाराणि] बहुत प्रकार के [कर्माणि] कर्मों को [न अपि करोति] न तो करता है, [न अपि वेदयति] और न भोगता ही है; [पुनः] किन्तु [पुण्यं च पापं च] पुण्य और पापरूप [बंधं] कर्मबन्ध को [कर्मफलं] तथा कर्मफल को [जानाति] जानता है।

टीका : ज्ञानी कर्मचेतना रहित होने से स्वयं अकर्ता है, और कर्मफलचेतना रहित होने से स्वयं अभोक्ता है, इसलिए वह कर्म को न तो करता है और न भोगता है; किन्तु ज्ञानचेतनामय होने से मात्र ज्ञाता ही है; इसलिए वह शुभ अथवा अशुभ कर्मबन्ध को तथा कर्मफल को मात्र जानता ही है।

प्रवचन नं. ३९१, गाथा - ३१९, ३२० बुधवार, ज्येष्ठ शुक्ल ७
दिनाङ्क - २१-०५-१९८०

समयसार, ३१९ (गाथा) **अब इसी अर्थ को पुनः दृढ़ करते हैं-** इस बात को विशेष स्पष्ट करते हैं।

ण वि कुव्वइ ण वि वेयइ णाणी कम्माइं बहुपयाराइं।
जाणइ पुण कम्म-फलं बंधं पुण्णं च पावं च।।३१९।।

करता नहीं, नहिं वेदता, ज्ञानी करम बहुभाँति को।
बस जानता ये बंध त्यों हि कर्मफल शुभ अशुभ को।।३१९।।

टीका : कर्मचेतना रहित होने से... राग को करना, भोगना, वह कर्मचेतना है। धर्मी उस कर्मचेतनारहित है।

मुमुक्षु : उसे कर्मचेतना है तो सही।

पूज्य गुरुदेवश्री : है,... अभी उसे वेदन और करना नहीं है, यह विवक्षा है। वरना तो एक अंश में कर्म का वेदन होता है, उसे भी ज्ञान जानता है, परन्तु अभी विवक्षा में दृष्टि के जोर की अपेक्षा से बात है। यहाँ दृष्टि के जोर की बात है।

कर्मचेतना... अर्थात् दया, दान, व्रत, भक्ति, पूजा या काम-क्रोध के परिणाम को चेतना अर्थात् उनमें एकाकार होना, ऐसी कर्मचेतना है, धर्मी **रहित होने से...** आहाहा! धर्मी अर्थात् ज्ञायकस्वरूप जो त्रिकाल शुद्ध चैतन्य है, परमपवित्र, परम पूर्ण स्वरूप है। उसमें एक जगह कलश में आता है। बढ़ाकर नहीं कहते। है ? यह शब्द उसमें आता है। आहाहा! कलश टीका है, उसमें आता है। सब याद रहता है ? भाव याद रहते हैं। हम बढ़ाकर नहीं कहते। जैसा स्वरूप है, उस प्रकार से कहते हैं। आहाहा!

यहाँ दृष्टि की मुख्यता के कथन की अपेक्षा से (कहा है) **कर्मचेतना रहित...** आहाहा! चाहे तो वह समकिती युद्ध में खड़ा हो, तो भी अभी तो दृष्टि की प्रधानता है, इसलिए उसे कर्मचेतना नहीं है। उस राग में एकाग्र होना उसमें नहीं है; इसलिए कर्मचेतना नहीं है। राग में एकाग्र हो और राग की मिठास आती हो तो वह कर्मचेतना कहलाती है। कर्म अर्थात् विकार में चेत गया, विकार में सुलग गया। चेतना अर्थात् विकार में डूब गया। आहाहा!

जिसे राग होता है, उस राग में जो चेत जाता है, अर्थात् उसमें ही अपना सर्वस्व मानकर प्रभु अपनी चीज़ को जला डालता है। आहाहा! चैतन्यस्वरूप भगवान विराजता है, उसका आदर न करके, उससे विरुद्ध जो पुण्य और पाप, दया और दान, व्रत और भक्ति,

पूजा, काम और क्रोध, विषयवासना ऐसा जो भाव, वह कर्म अर्थात् कार्य है, विकारी कार्य है। विकारी कार्य की चेतना—एकाग्रता धर्मी को होती नहीं। आहाहा! (राग) होता है, वेदता भी है परन्तु अभी यह बात नहीं लेनी है। विवक्षा—जिस प्रकार का कथन चलता हो, उसकी पुष्टि के लिये यह कथन चलता है। आहाहा!

एक ओर ऐसा कहे, यथाख्यातचारित्र न हो, तब तक उसे विकार का मैल होता है, इसलिए वह चेतता होता है कि यह मेरा स्वरूप नहीं है। वेदन है परन्तु मेरी कमजोरी के कारण है। होता है, वह भी मेरी कमजोरी के कारण। इस प्रकार एक ओर ज्ञान की बात चलती हो, तब यह भी कहा जाता है। विवक्षा-कथन की पद्धति है, उसे समझना चाहिए।

यहाँ तो, **कर्मचेतना रहित...** समकिती राजा, महाराजा हो। श्रेणिक राजा, हजारों राजा जिसे चँवर ढोरते थे और विशाल राज्य (था) तो भी समकिती थे। इसलिए उन्हें कर्मरहित कहा जाता है। राग में चेत जाता है, वह नहीं, वह ज्ञान में चेत जाता है। आहाहा! भगवानस्वरूप चैतन्य प्रभु, धर्मी उसमें चेत जाता है, एकाग्र है, उसका उसे वेदन है, उसकी योग्यता से कर्म जो चेतना के दया, दान, व्रत, भक्ति के परिणाम, ऐसे आने पर भी उनसे रहित होने से उन्हें अपने नहीं मानता। जगत से अलग चीज़ है। जगत के साथ मिलान खाये, ऐसा नहीं है।

कर्मचेतनारहित होने से स्वयं... कर्मचेतनारहित होने से स्वयं अकर्ता... अकर्ता की व्याख्या की है। धर्मी अकर्ता कैसे है? कि कर्मचेतनारहित होने के कारण। यह राग मेरा है, ऐसी चेतना में वह जुड़ता नहीं। आहाहा! 'मेरेरूप' से जुड़ता नहीं। कर्मचेतनारहित होने के कारण, ऐसा। **अकर्ता है,...** आहाहा! सम्यग्दृष्टि अकर्ता है। बहुत सूक्ष्म बात, भाई! आहाहा! यहाँ तो साधारण कोई दया पालने के भाव, व्रत और भक्ति के भाव आवें तो वे मेरे और उनसे मुझे धर्म होगा, (ऐसा माने) वह तो मिथ्यादृष्टि है, वह धर्मी नहीं, वह अधर्मी है। आहाहा! ऐसी बात है। एक बात।

विकार के परिणाम उसके नहीं, ऐसा उसे ज्ञान में ज्ञात होता है, इसलिए वह रहित होने से स्वयं अकर्ता है। **अकर्ता है, और कर्मफलचेतना रहित होने से...** आहाहा! प्रभु चैतन्यस्वरूप ज्ञाता आनन्द का सागर है। ऐसा जहाँ अन्तर में दृष्टि में आया तो

पूर्णस्वरूप का जहाँ साक्षात्कार हुआ, उसे कहते हैं, **अकर्ता है,...** बात कैसी ली है? **कर्मचेतना रहित होने से स्वयं अकर्ता है,...** राग को चेतकर एकाग्र नहीं है, इसलिए अकर्ता है। आहाहा! **कर्मचेतना रहित होने से स्वयं अकर्ता है,...** आहाहा! दया, दान, व्रत का विकल्प—राग आवे परन्तु उसका कार्य मेरा है—ऐसा नहीं मानता, इसलिए वह अकर्ता है। आहाहा!

मुमुक्षु : प्रवचनसार की १८९ गाथा बतायी न....

पूज्य गुरुदेवश्री : विभाव उसका है। वह तो वहाँ शुद्धनय में राग अपनी पर्याय में, अपने पुरुषार्थ से, पर की अपेक्षा बिना स्वयं से होता है, इतना बताने के लिये वह राग जीव का है, ऐसा कहा है। वह राग स्वयं करता है और राग को करने में किसी की अपेक्षा नहीं है और राग उसकी पर्याय में पुरुषार्थ से होता है, इसलिए शुद्धनय ने ऐसा कहा कि राग का कर्ता जीव है। वह तो उसका रागपना, उसका कर्तृत्व जड़ का या पर का नहीं, उसके अस्तित्व में—उसकी पर्याय के अस्तित्व में है, इतना बतलाने को कहा।

यहाँ तो द्रव्यदृष्टि की अपेक्षा से.... आहाहा! वस्तु का स्वभाव जैसा है, वैसा जाना है तो वस्तुस्वरूप तो ज्ञान और आनन्दस्वरूप है, उसे राग की एकता की चेतना नहीं होने के कारण वह अकर्ता होने से... आहाहा! कठिन बात है। **और कर्मफलचेतना रहित होने से...** वह राग का फल जो होश और हर्ष, इसका उसे वेदन नहीं है क्योंकि उसका होश और हर्ष है नहीं। आहाहा! शुभाशुभराग होता है, उसका होश और हर्ष नहीं हैं। इसलिए वह राग और द्वेष के फल को होश और हर्ष से नहीं वेदता, इसलिए वेदता नहीं है। आहाहा! ऐसी बातें हैं। धर्म की बातें बहुत सूक्ष्म, बापू! लोगों को कहाँ पड़ी है? जिन्दगी चली जाती है। आहाहा! आयुष्य पूरा होकर कहीं भटकेगा। इस शरीर में तो अमुक काल रहना है। अपनी स्थिति अनादि-अनन्त रहने की। वह अनादि-अनन्त रहेगा कहाँ? यदि आत्मकल्याण और धर्म न किया तो रहेगा कहा? नरक और निगोद में जाकर रहेगा। आहाहा!

इसलिए यहाँ कहते हैं, धर्म करनेवाले को इस प्रकार धर्म का फल आनन्द और शान्ति आने से उसे राग के फल को जोश से-उत्साह से वेदता नहीं है, इसलिए वह राग के

फल का अवेदक है। आहाहा! भाषा भले सादी परन्तु मार्ग तो जो है, वह है। कहा नहीं अभी? हम अधिक बढ़ाकर नहीं कहते। जैसा वस्तु का स्वरूप है, वैसा कहते हैं, बढ़ाकर हम नहीं कहते। आहाहा!

यह भगवान आत्मा चेतक में चेत गया, चेता... चेता... चेता... आहाहा! मैं तो चैतन्यस्वरूप, आनन्दस्वरूप हूँ, ऐसे अपने स्वरूप में चेत गया, ज्ञात हो गया। आहाहा! उसे यह राग का कर्तापना तो नहीं परन्तु उसके फलरूप हर्ष और शोक का भी उसे वेदन नहीं। अभी तो यह लेना है। आहाहा! दूसरी बात करे, तब (ऐसा कहे) जब तक यथाख्यातचारित्र न हो, तब तक राग दसवें गुणस्थान में भी है। लोभ का उदय है, उसे वह वेदता है। उदय है, वह वेदन किये बिना जाए कैसे? आहाहा! यहाँ चौथे गुणस्थान में वेदता नहीं, ऐसा कहते हैं। विवक्षा की क्या अपेक्षा है? कथन की क्या अपेक्षा है, यह इसे लक्ष्य में लेना चाहिए न? आहाहा!

कर्मफलचेतना रहित होने से... आहाहा! यह पुण्य के परिणाम में भी जिसे हर्ष नहीं, पुण्य के परिणाम का भी जिसे उत्साह नहीं, उसे उसका वेदक कैसे कहा जाए? ऐसा कहते हैं। समझ में आया? **कर्मफलचेतना रहित होने से स्वयं अभोक्ता है,...** आहाहा! सम्यग्दृष्टि धर्म की भले पहले दर्जे की (सीढ़ी में हो), परन्तु जिसे राग से प्रभु भिन्न पड़ गया है, भिन्न है—ऐसा ख्याल में, अनुभव में आ गया है। राग से तो प्रभु भिन्न ही है, एक हुआ नहीं, ऐसा मान्यता में, अनुभव में आया। मान्यता में था कि राग, वह मेरा कर्तव्य है, वह तो मिथ्यात्व है। आहाहा!

राग के विकल्प से भिन्न प्रभु, निर्विकल्प आनन्द का सागर, उसका जहाँ ज्ञान और अन्दर साक्षात्कार हुआ तो उसकी पर्याय का कर्ता और भोक्ता कहलाता है, परन्तु राग का कर्ता और उसके फल हर्ष-शोक का भोक्ता धर्मी को मुख्यरूप से नहीं कहा जाता। समझ में आया? गौणरूप से है। अभी गौणपना कहकर मुख्यता की पद्धति है। अकेला भगवान आत्मा ज्ञानस्वभाव, ज्ञानदल, ज्ञानदल वह क्या करे? जिसमें राग के कण का भी अभाव है और राग के फल के वेदन का भी जिसमें अभाव है। ऐसा जो भगवान आत्मा दृष्टि में, अनुभव में आया, वह अनुभवी जीव राग को कर्ता होकर नहीं करता, रचता नहीं, तथा

उसके फल को उत्साह से वेदता नहीं। आहाहा! ऐसा स्वरूप है। वीतराग सर्वज्ञ परमेश्वर त्रिलोकनाथ की यह वाणी आयी है। सन्त उनकी वाणी जगत के समक्ष प्रसिद्ध करते हैं। आहाहा! भगवान ऐसा कहते हैं, भगवान ऐसा कहते थे। आहाहा! और इस भगवान का भी ऐसा ही स्वभाव है, कहते हैं।

आनन्द और ज्ञान के स्वभाववाला प्रभु, वह विकार जो आनन्द से विरुद्ध ऐसे भाव का उत्साह नहीं, उसे कैसे करे? और उत्साह से कैसे वेदन करे? इसलिए धर्मी जीव विकार के परिणाम को कर्ता और भोक्ता नहीं है, ऐसा कहा है। आहाहा!

इसलिए वह (ज्ञानी) कर्म को न तो करता है और न भोगता है; यह कारण दिया। पहले कारण दिया न? **कर्मचेतना रहित होने से कर्मफलचेतना रहित होने से...** यह कारण दिया। धर्मी कर्मचेतनारहित है। क्योंकि राग है, उसे समकिती अपना नहीं मानता, उसे भिन्न मानता है; इसलिए राग का वेदन ही मेरा नहीं है। उससे भिन्न जानता है। इस कारण से... आहाहा! ज्ञानी राग को या विकार को करता नहीं तथा भोगता नहीं। आहाहा!

किन्तु ज्ञानचेतनामय होने से... देखो! तीनों चेतना लीं। **ज्ञानचेतनामय होने से...** अर्थात्? प्रभु आत्मा ज्ञानस्वरूप है, समझ का पिण्ड है। उसके ज्ञान की चेतना जागृत होने से यह ज्ञान मैं हूँ, ऐसा चेत गया, ज्ञात हो गया, अनुभव में आया, ऐसी **ज्ञानचेतनामय होने से...** भाषा देखी? ज्ञानचेतनावाला नहीं लिया। ज्ञानचेतनामय होने के कारण, (ऐसा) अभेद कर दिया। आहाहा! भगवान आत्मा, धर्मी जीव तो अकेली **ज्ञानचेतनामय होने से...** वह तो ज्ञानचेतनामय है। चेतनावाला भी नहीं। अभेद है। आहाहा! बहुत सूक्ष्म बात है, भाई!

धर्मी जीव **ज्ञानचेतनामय होने से मात्र...** पहले में कहा था न? **कर्मचेतना रहित होने से स्वयं अकर्ता है, और कर्मफलचेतना रहित होने से स्वयं अभोक्ता है, इसलिए वह कर्म को न तो करता है और न भोगता है;...** आहाहा! रहित है, उसे कर्ता और वेदता नहीं है। जो सहित माने, वह कर्ता और (भोक्ता होता है)। आहाहा! कठिन बात है। यह तो बाहर का कुछ किया या प्रतिक्रमण या प्रौषध या अपवास किये तो हो गया धर्म। धूल में भी धर्म नहीं, मिथ्यात्व है वहाँ। वह क्रिया राग की, उसे धर्म मानकर

कर्ता होता है। देह की क्रिया का कर्ता होता है। वह जड़ है। मैंने आहार नहीं लिया, मैंने छोड़ा, वह पर का कर्ता, छोड़ना मानना, वह मिथ्यात्व है। मिथ्यात्व सेवन करता है और मानता है कि कुछ धर्म करते हैं। ऐसी बात है, भाई! दुनिया से अलग है।

ज्ञानचेतनामय होने से... धर्मी तो ज्ञानचेतनामय अर्थात ज्ञानस्वरूप ही है। ज्ञानचेतनामय—ज्ञानस्वरूप है, वैसा चेत गया, जान लिया, उसका अनुभव हुआ है। **ज्ञानचेतनामय होने से मात्र ज्ञाता ही है...** धर्मी राग को और पुण्य-पाप के परिणाम को केवल जाननेवाला अपना स्वभाव होने से, अपना स्वभाव जाननेवाला होने से उनका वह जाननेवाला रहता है। आहाहा! ऐसी सूक्ष्म बातें। वे सब बड़ी-बड़ी बातें करते थे। इतने उपवास किये और छठ किये और अट्ठम किये और अमुक किया, और शोभायात्रा निकाली... मानो धर्म हो गया। आहाहा! प्रभु! मार्ग प्रभु तेरा अलग है, क्योंकि तू ज्ञानमय वस्तु है, रागमय नहीं। दया, दान के रागमय तू वस्तु नहीं है। तू ज्ञानमय वस्तु है। आहाहा! वह ज्ञानमय होने से... आहाहा!

मात्र ज्ञाता ही है... ज्ञानचेतनामय होने से मात्र ज्ञाता ही है, इसलिए वह शुभ अथवा अशुभ कर्मबन्ध को... आहाहा! वह कर्ता नहीं, शुभ और अशुभ कर्म को करता नहीं है और उनके फल को भी **मात्र जानता ही है।** शुभ-अशुभ कर्मबन्ध को जानता है। है अवश्य, शुभ-अशुभभाव हैं, तो भी ज्ञानमय चेतन की दृष्टि होने से, ज्ञानमय में यह राग का कर्तापना और भोक्तापना सम्भव नहीं है। ज्ञानमय चेतना में वह कैसे सम्भव हो? प्रभु! आहाहा! गजब बात है। परन्तु अन्तर का विश्वास आना चाहिए न?

अन्तर में मैं एक चैतन्यमूर्ति ज्ञानमय हूँ। मैं भगवानस्वरूप हूँ। भगवान जो पर्याय में-अवस्था में हुए, वे हुए किस प्रकार? कहाँ से आये? भगवानस्वरूप बाहर से आया है? स्वयं भगवानस्वरूप ही है, ज्ञानमय स्वरूप भगवान है। आहाहा! ज्ञानमय होने के कारण वह उनका कर्ता और भोक्ता नहीं होता। उनका जाननेवाला रहता है। है? **शुभ अथवा अशुभ कर्मबन्ध को तथा कर्मफल को मात्र जानता ही है।** इतना जानता ही है। इतना कहा। आहाहा! टीका में है न? '**शुभमशुभं वा केवलमेव जानाति**' 'एव' है? 'एव' शब्द है। आहाहा! यदि एक भाव भी बराबर समझ में आवे तो दूसरे सब भाव का

समाधान हो जाए। आहाहा! परन्तु एक भी भाव समझने में ठिकाना नहीं होता। सबमें घोटाला, गड़बड़ खड़ी करता है।

एक भाव समझने में आवे कि भगवान तो ज्ञानमय चैतन्यबिम्ब है। वह स्वयं उससे विरुद्ध भाव को उत्साह से और हर्ष से करे तथा वेदन करे, यह किस प्रकार बने? आहाहा! भगवान आनन्दमय है, अतीन्द्रिय आनन्दमय है, आनन्दवाला नहीं, आनन्दमय है। ऐसा प्रभु है। राग है, वह दुःखरूप है और राग का उत्साह करना, मैंने ऐसा किया, हर्ष लाना— यह भी दुःख है। आनन्दमय आत्मा के ज्ञान के प्रेम में उससे विरुद्ध का वेदन करना, उसे हो नहीं सकता। उस दुःख को करता नहीं, ऐसा कहते हैं। राग वह दुःख है। चाहे तो दया का राग हो, परन्तु है दुःख। गजब बात है। अरे! परमात्मा की भक्ति का राग दुःख है। आहाहा! आकुलता है। भगवान अनाकुलस्वरूप है। वह अनाकुलस्वरूप, आनन्दस्वरूप, ऐसी जिसे अपने अस्तित्व की मौजूदगी का जहाँ अनुभव हुआ कि मेरी अस्ति में राग और राग का रस, वह मेरी अस्ति में नहीं है। इसलिए उनका मैं जाननेवाला और देखनेवाला हूँ। समझ में आया? सूक्ष्म है, भाई! आहाहा! बाहर में धमाधम चलती हो। यहाँ कोई धमाधम नहीं होती। कितने लाख खर्च करके... लक्ष्मीचन्दभाई का पत्र आया है न? क्या कहलाता है वह? नैरोबी। ग्यारह × दस मेरी ओर से भी स्वयं लिखा है कि मुझे ठीक नहीं है। छाती में कुछ होता है। यह दवा कराने जाना पड़ेगा। परन्तु पैसा क्या करे? आहाहा! ज्ञेय है। एक लाख और दस हजार दिये। पत्र आया है और स्वयं मूर्ति स्थापित करके पाँच लाख पाँच हजार (दिये)। आहाहा! वहाँ तो लाखों की बातें। उसका लेख आया, मुझे कुछ छाती में हुआ है, मुझे ठीक नहीं है। डॉक्टर को बताया, जाना पड़ेगा। यह धूल। धूल में किस प्रकार रहे? धूल वह कहीं तेरी सावधानी से नहीं रहती। तू ध्यान रखे तो रहे और नहीं तो (न रहे), ऐसा नहीं है। ध्यान रखे तो भी होनेवाला होगा, वह होगा। ध्यान न रखे तो भी होनेवाला होगा, वह होगा। आहाहा! जड़ की पर्याय... यहाँ तो अन्दर राग और दया, दान के परिणाम को करता नहीं, वहाँ जड़ की पर्याय की बात तो क्या करना? आहाहा! इसके रखने से रहे और उसका ध्यान करे तो रहे, दवा से रहे... धूल में भी नहीं रहती।

मुमुक्षु : धन्धा करना हो तो सावधानी रखनी पड़ती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : रखने से रहता होगा? भले दवा करे। वह तो उस समय में जिसकी जो पर्याय जो होनेवाली है, वह होगी, उसे कोई रोक नहीं सकता। उसकी तो यहाँ बात भी नहीं कि शरीर को रखे और... वह तो तीन काल में बिल्कुल नहीं है। आहाहा! मात्र अन्दर में ज्ञानमय और आनन्दमय वस्तु है, उससे विरुद्ध भाव का भी कर्ता और भोक्ता नहीं है। क्योंकि जिसने उस विरुद्ध भाव से विरुद्ध, ज्ञानमय आनन्द का स्वाद लिया है... आहाहा! उस विरुद्ध भाव से विरुद्ध ज्ञान का स्वाद लिया है, उस स्वाद में राग का स्वाद उसे नहीं लगता। आहाहा! ऐसा है। साधारण को तो पागलपना लगे, हों! अनजाने व्यक्ति हों, वे कहे कि यह क्या कहते हैं? पूरे दिन यह करते हैं, दुकान का धन्धा करते हैं, दुकान की पैड़ी पर बैठकर सम्हालते हैं। धूल भी नहीं सम्हालता। सुन न! पैड़ी पर बैठे कौन? आहाहा!

भगवान अन्दर चैतन्यमय है, ऐसा जिसने जाना, उसे उसके स्वभाव से विरुद्ध भाव, एक म्यान में दो तलवार किस प्रकार रहे? कर्ता और भोक्ता... यहाँ अभी यह विवक्षा है। तथापि कमजोरी के कारण आता है, होता है, जानता है, मेरी कमजोरी है परन्तु वह मेरी चीज़ में नहीं है। आहाहा! मेरी वस्तु जो अन्दर है, उसमें वह नहीं है। आहाहा! ऐसा कब बैठे? निवृत्ति नहीं मिलती। आहाहा! पूरे दिन संसार के काम के कारण फुरसत नहीं मिलती और ऐसी बात सुनने को नहीं मिलती।

मुमुक्षु : सुनने को तो मिलती है परन्तु आता नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह तो सम्प्रदाय में तो यह बात है ही नहीं। वह तो सब देखा है न। वहाँ तो करो, करो और करो। यह व्रत करो और तप करो और अपवास करो। उसमें ऐसा कहे, भक्ति करो। सम्मेदशिखर की, शत्रुंजय की यात्रा करो। करो... करो... करो... यहाँ कहते हैं करो में मरो है। करने में कर्तव्यरूप से मेरा है, ऐसा मानता है, वहाँ आत्मा का मरण है। आहाहा!

ज्ञानचेतनामय होने से मात्र... यह कारण दिया। धर्मीजीव **ज्ञानचेतनामय होने से मात्र ज्ञाता ही है...** आहाहा! जाननेवाला रहने से, जाननेवाला रहने से **शुभ अथवा अशुभ कर्मबन्ध को तथा कर्मफल को मात्र जानता ही है।** अकेला भिन्न होकर जानता है कि... आहाहा!

गाथा-३२०

कुत एतत् ? -

दिट्ठी जहेव णाणं अकारयं तह अवेदयं चेव।
जाणइ य बंध-मोक्खं कम्मुदयं णिज्जरं चेव।।३२०।।

दृष्टिः यथैव ज्ञान-मकारकं तथाऽवेदकं चैव।
जानाति च बन्ध-मोक्षं कर्मोदयं निर्जरां चैव।।३२०।।

यथात्र लोके दृष्टिर्दृश्यादत्यन्तविभक्तत्वेन तत्करणवेदनयोरसमर्थत्वात् दृश्यं न करोति न वेदयते च, अन्यथाग्निदर्शनात्सन्धुक्षणवत् स्वयं ज्वलनकरणस्य, लोहपिण्डवत्स्वय-मौष्ण्यानुभवनस्य च दुर्निवारत्वात्, किन्तु केवलं दर्शनमात्रस्वभावत्वात् तत्सर्वं केवलमेव पश्यति; तथा ज्ञानमपि स्वयं द्रष्टृत्वात् कर्मणोऽत्यन्तविभक्तत्वेन निश्चयतस्तत्करण-वेदनयोरसमर्थत्वात्कर्म न करोति न वेदयते च, किन्तु केवलं ज्ञानमात्रस्वभावत्वात्कर्मबन्धं मोक्षं वा कर्मोदयं निर्जरां वा केवलमेव जानाति।।३२०।।

अब प्रश्न होता है कि - (ज्ञानी कर्ता-भोक्ता नहीं है, मात्र ज्ञाता ही है) यह कैसे है? इसका उत्तर दृष्टान्तपूर्वक कहते हैं :-

ज्यों नेत्र, त्यों ही ज्ञान नहिं कारक, नहीं वेदक अहो।
जाने हि कर्मोदय, निरजरा, बंध त्यों ही मोक्ष को।।३२०।।

गाथार्थ : [यथा एव दृष्टिः] जैसे नेत्र (दृश्य पदार्थों को करता-भोगता नहीं है, किन्तु देखता ही है), [तथा] उसी प्रकार [ज्ञानम्] ज्ञान [अकारकं] अकारक [अवेदकं च एव] तथा अवेदक है, [च] और [बंधमोक्षं] बन्ध, मोक्ष, [कर्मोदयं] कर्मोदय [निर्जरां च एव] तथा निर्जरा को [जानाति] जानता ही है।

टीका : जैसे इस जगत में नेत्र दृश्य पदार्थ से अत्यन्त भिन्नता के कारण उसे करने -वेदने (-भोगने) में असमर्थ होने से, दृश्य पदार्थ को न तो करता है और न भोगता है-यदि ऐसा न हो तो अग्नि को देखने, *संधु-क्षण की भाँति, अपने को (-नेत्र को)

---

* संधुक्षण=संधूकरण; अग्नि जलानेवाला पदार्थ; अग्नि को चेतानेवाली वस्तु।

अग्नि का कर्तृत्व (जलाना), और लोहे के गोले की भाँति अपने को (नेत्र को) अग्नि का अनुभव दुर्निवार होना चाहिए (अर्थात् यदि नेत्र दृश्य पदार्थ को करता और भोगता हो तो नेत्र के द्वारा अग्नि जलनी चाहिए और नेत्र को अग्नि की उष्णता का अनुभव अवश्य होना चाहिए; किन्तु ऐसा नहीं होता, इसलिए नेत्र दृश्य पदार्थ का कर्ता-भोक्ता नहीं है) - किन्तु केवल दर्शनमात्रस्वभाववाला होने से वह (नेत्र) सबको मात्र देखता ही है; इसी प्रकार ज्ञान भी, स्वयं (नेत्र की भाँति) देखनेवाला होने से कर्म से अत्यन्त भिन्नता के कारण निश्चय से उसके करने-वेदने (भोगने) में असमर्थ होने से, कर्म को न तो करता है और न वेदता (भोगता) है, किन्तु केवल ज्ञानमात्रस्वभाववाला (-जानने का स्वभाववाला) होने से कर्म के बन्ध को तथा मोक्ष को और कर्म के उदय को तथा निर्जरा को मात्र जानता ही है।

भावार्थ : ज्ञान का स्वभाव नेत्र की भाँति दूर से जानना है; इसलिए ज्ञान के कर्तृत्व-भोक्तृत्व नहीं है। कर्तृत्व-भोक्तृत्व मानना अज्ञान है।

यहाँ कोई पूछता है कि - ''ऐसा तो केवलज्ञान है। और शेष तो जब तक मोहकर्म का उदय है, तब तक सुखदुःख-रागादिरूप परिणमन होता ही है, तथा जब तक दर्शनावरण, ज्ञानावरण तथा वीर्यान्तराय का उदय है, तब तक अदर्शन, अज्ञान तथा असमर्थता होती ही है; तब फिर केवलज्ञान होने से पूर्व ज्ञातादृष्टापन कैसे कहा जा सकता है?''

उसका समाधान :- पहले से ही यह कहा जा रहा है कि जो स्वतन्त्रयतया करता-भोगता है, वह परमार्थ से कर्ता-भोक्ता कहलाता है। इसलिए जहाँ मिथ्यादृष्टिरूप अज्ञान का अभाव हुआ, वहाँ परद्रव्य के स्वामित्व का अभाव हो जाता है और तब जीव ज्ञानी होता हुआ स्वतन्त्रतया किसी का कर्ता-भोक्ता नहीं होता, तथा अपनी निर्बलता से कर्म के उदय की बलवत्ता से जो कार्य होता है, वह परमार्थदृष्टि से उसका कर्ता-भोक्ता नहीं कहा जाता। और उस कार्य के निमित्त से कुछ नवीन कर्मरज लगती भी है तो भी उसे यहाँ बन्ध में नहीं गिना जाता। मिथ्यात्व है, वही संसार है। मिथ्यात्व के जाने के बाद संसार का अभाव ही होता है। समुद्र में एक बूँद की गिनती ही क्या है?

और इतना विशेष जानना चाहिए कि - केवलज्ञानी तो साक्षात् शुद्धात्मस्वरूप ही हैं और श्रुतज्ञानी भी शुद्धनय के अवलम्बन से आत्मा को ऐसा ही अनुभव करते हैं; प्रत्यक्ष और परोक्ष का ही भेद है। इसलिए श्रुतज्ञानी को ज्ञान-श्रद्धान की अपेक्षा से

ज्ञाता-दृष्टापन ही है और चारित्र की अपेक्षा से प्रतिपक्षी कर्म का जितना उदय है, उतना घात है और उसे नष्ट करने का उद्यम भी है। जब कर्म का अभाव हो जायेगा, तब साक्षात् यथाख्यातचारित्र प्रगट होगा और तब केवलज्ञान प्रगट होगा। यहाँ सम्यग्दृष्टि को जो ज्ञानी कहा जाता है, सो वह मिथ्यात्व के अभाव की अपेक्षा से कहा जाता है। यदि ज्ञानसामान्य की अपेक्षा लें तो सभी जीव ज्ञानी हैं और विशेष की अपेक्षा लें तो जब तक किंचित्मात्र भी अज्ञान है, तब तक ज्ञानी नहीं कहा जा सकता - जैसे सिद्धान्त ग्रन्थों में भावों को वर्णन करते हुए, जब तक केवलज्ञान उत्पन्न न हो, तब तक अर्थात् बारहवें गुणस्थान तक अज्ञानभाव कहा है। इसलिए यहाँ जो ज्ञानी-अज्ञानीपन कहा है, वह सम्यक्त्व-मिथ्यात्व की अपेक्षा से ही जानना चाहिए।

गाथा - ३२० पर प्रवचन

यह ३२० गाथा, बहुत ऊँची है। यह तो पढ़ी जा चुकी है, जयसेनाचार्य की टीका। अब आज इसमें से लेना है। **अब प्रश्न होता है कि - (ज्ञानी कर्ता-भोक्ता नहीं है, मात्र ज्ञाता ही है) यह कैसे है?** यह तुमने यह क्या कहा? राग है, पुण्य है, पाप है, भाव होते हैं और तुम कहते हो कि इनका कर्ता और भोक्ता नहीं है। यह किस प्रकार है? किस पद्धति से आप कहना चाहते हो। यह क्या है? आहाहा! ज्ञानी कर्ता-भोक्ता नहीं और जानता ही है। आहाहा! यह किस प्रकार? ऐसा प्रश्नकार का (प्रश्न है)। प्रश्नकार को ख्याल में आया कि यह ऐसा कहते हैं। निकाल नहीं डाला, सुनकर निकाल नहीं डाला, ख्याल में ले लिया कि ज्ञानी ज्ञानचेतनामय होने से राग, दया, दान आदि के भाव को करता नहीं, भोगता नहीं। प्रभु! मैं पूछता हूँ, वह किस प्रकार से? इसका कोई दृष्टान्त है कि हमें समझ में आये? ऐसा पूछता है। देखो! **इसका उत्तर दृष्टान्तपूर्वक कहते हैं :-** ऐसे प्रश्नकार को समझना है, इसलिए दृष्टान्त देकर उसे समझाते हैं। ३२० (गाथा)।

दिट्ठी जहेव णाणं अकारयं तह अवेदयं चेव।
जाणइ य बंध-मोक्खं कम्मुदयं णिज्जरं चेव॥३२०॥

ज्यों नेत्र, त्यों ही ज्ञान नहिं कारक, नहीं वेदक अहो।
जाने हि कर्मोदय, निरजरा, बंध त्यों ही मोक्ष को॥३२०॥

आहाहा! प्रभु तो अकेला ज्ञानमय है न! वह ज्ञान क्या करे? कहते हैं कि वह तो मोक्ष को भी नहीं करता। आहाहा! ज्ञानस्वरूपी प्रभु है, अकेला प्रज्ञाचक्षु है, वह तो जानना-देखना, जानना-देखना, जानना-देखना इसकी दशा हुआ करती है। आहाहा!

टीका : जैसे इस जगत में नेत्र दृश्य पदार्थ से... यह जो आँख है, जिसे आँख देखती है, उससे **अत्यन्त भिन्नता के कारण...** आँख है, उसका जो दृश्य है—दिखनेयोग्य है, उससे तो यह नेत्र भिन्न है। अग्नि जो है, अग्नि देखे तब अग्निमय हो जाती है? बर्फ देखे तो कहीं ठण्डी हो जाती है? वह नेत्र तो मात्र दृश्य पदार्थ से अत्यन्त भिन्न। पहले दृष्टान्त सिद्ध करते हैं।

जैसे आँख **दृश्य पदार्थ से अत्यन्त भिन्नता के कारण उसे करने-वेदने (-भोगने) में असमर्थ होने से,...** आँख अग्नि को करे और अग्नि को जानते हुए वेदन करे, (इसका) अभाव है। आहाहा! अग्नि का करना और अग्नि का वेदना, आँख का काम नहीं है। आहाहा! आँख, कहते हैं देखनेवाली आँख दृश्य जो दिखता है, उसके साथ रही है। यह समझ में आये ऐसी बात है। आँख में जो दिखता है यह... यह... उसे जो देखती है, आँख दृष्ट है और यह दिखता है, वह दूसरी चीज़ है, उसका दृश्य है। आहाहा! आँख जिसे देखती है, उससे तो आँख अत्यन्त भिन्न है। आहाहा! आँख जिसे देखती है, सर्प देखे, अग्नि देखे, बिच्छु देखे (तो) सर्प और बिच्छु का आँख में जहर चढ़ जाता है? आहाहा!

जगत में नेत्र दृश्य पदार्थ... आँख से दिखनेयोग्य पदार्थ। उनसे **अत्यन्त भिन्नता के कारण...** आहाहा! आँख अग्नि को देखे, पानी का प्रपात चलता हो और नीचे कीचड़ हो अथवा गड्ढा पड़े (तो) ज्ञान देखता है या उसके कान में पड़ता है कहीं? आहाहा! देखनेवाली चीज़ को देखनेवाला, देखनेवाली चीज़ से तो देखनेवाला नेत्र भिन्न है। आहाहा! वापस अत्यन्त भिन्न, ऐसा। अकेला भिन्नपना नहीं। आँख है, वह अग्नि को देखती है, बिच्छु को देखती है, सर्प को देखती है परन्तु उनसे तो भिन्न है। आहाहा!

उसे करने-वेदने में असमर्थ है। आँख जिसे देखती है, उसे करने और भोगने के लिये असमर्थ है। क्योंकि जिसे देखती है, वह आँख से अत्यन्त भिन्न चीज़ है। आँख से भिन्न चीज़ है, वह आँख दूसरे को करना-भोगना कैसे कर सकती है? आँख देखती अवश्य है

कि यह चीज़ है। परन्तु वह अत्यन्त भिन्न होने से वह आँख उसे-अत्यन्त भिन्न है, उसे करे या भोगे—ऐसा कैसे होगा? आहाहा! यह तो वे कहते—बाबा हों, तब समझ में आये। यहाँ तो कहते हैं कि बाबा ही है, सुन न! ज्ञानमय चीज़ है, रागादि सर्वथा दूसरी चीज़ का अभाव है तो तू बाबा है। पर का त्याग, वह अभाव है। आहाहा! ज्ञान में पर का त्याग ही है। पर का भोग भी नहीं और कर्तापना भी नहीं। आहाहा!

अत्यन्त भिन्नता के कारण उसे करने-वेदने में असमर्थ होने से, दृश्य पदार्थ को न तो करता है... आँख जिसे देखती है, उसे करती नहीं है। क्योंकि दिखनेवाली जो चीज़ है, उससे प्रभु आँख तो भिन्न है। तो भिन्न आँख उसे क्या करे? आहाहा! पानी का एकदम प्रपात गिरता हो (उसे) आँख देखे। उस प्रपात को रोके? नीचे गड्ढा पाड़कर प्रपात को झेले? जो अत्यन्त भिन्न चीज़ है, उसे यह आँख करे क्या? आहाहा! यह तो लौकिक सादा दृष्टान्त दिया है। **दृश्य पदार्थ को न तो करता है और न भोगता है...** आँख है, वह जिसे देखती है, वह तो चीज़ है। अब है, उसे करे क्या? और जो भिन्न है, उसे वेदे क्या? आहाहा!

यदि ऐसा न हो... आँख है, वह दृश्य पदार्थ को देखती है, तथापि उस चीज़ को वह आँख कुछ कर नहीं सकती और वह आँख उसे कुछ भोग नहीं सकती, ऐसा तुझे आँख और पदार्थ दोनों की अत्यन्त भिन्नता नजर में दिखती है। आहाहा! जिसमें अत्यन्त भिन्नता, ऐसी आँख, तुझे प्रत्यक्ष दिखता है, वह जिसे देखती है, उसके साथ एकमेक क्यों होगी? उसका कर्ता कैसे हो? क्योंकि जो दिखती है, वह तो भिन्न चीज़ है। भिन्न चीज़, भिन्न चीज़ की कर्ता-भोक्ता कैसे होगी? आहाहा! सूक्ष्म बातें हैं, भाई!

यदि ऐसा न हो तो अग्नि को देखने,... देखा? अग्नि तो आँख से देखनेयोग्य है। आँख देखे। **यदि ऐसा न हो तो अग्नि को देखने, संधु-क्षण की भाँति,...** अग्नि सुलगानेवाला पदार्थ है न? हमने 'पेटलाद' में देखा था। अग्नि ऐसे हो, संधुक्षण में अग्नि (रखे)। पकाने के पहले अग्नि न हो तो संधुक्षण रखते हैं न? बारीक-बारीक चूरा। कण्डे में चूरा करके संधुक्षण रखते हैं।.... अग्नि चूल्हे में दबाकर रखते हैं, फिर जब पकाना हो, तब उसे खोलते हैं, उसमें पकाते हैं। कितने ही वह संधुक्षण नया करते हैं। कण्डे में बारीक

चूरा (करके) उसमें अग्नि रखे। तो कहते हैं कि आँख उसे देखती है या उसके कारण आँख जलती है ? आहाहा! संधुक्षण लिया है।

यहाँ तो दो बात है। सबके घर में नहीं होगी। कितने ही तो अग्नि को दबाकर रखते हैं। जब पकाना करना हो, तब राख निकाल डालते हैं। यह तो कहते हैं, अग्नि नहीं, उसमें से संधुक्षण करते हैं। कण्डे में बारीक चूरा (करके) उसमें अग्नि लगाते हैं। इससे आँख जलती है ? आँख देखती है कि ऐसा होता है। आहाहा! क्योंकि जो दिखता है, उससे तो भिन्न है। एक-दूसरे में अत्यन्त अभाव है। भाव में भाव के बीच स्पर्श करना कैसे बन सकता है ? एक चीज़ को दूसरी चीज़ के बीच तो अत्यन्त अभाव है। उसमें एक चीज़ दूसरी चीज़ को भोगने का कार्य कर नहीं सकती। वास्तव में तो यह शक्कर, मैसूर, रोटियाँ, दाल-भात आत्मा नहीं खाता। मात्र उन्हें देखकर, ठीक लगे तो राग करता है और ठीक न लगे तो 'यह दाल ठीक से एक रस नहीं हुई, चूरमा बराबर नहीं हुआ, अमुक नहीं हुआ—ऐसा द्वेष करे तो द्वेष को वेदे। ठीक है, ऐसा जानकर राग करे तो राग को वेदे परन्तु कहीं दाल-भात, सब्जी-रोटी खायी जाती होगी ? आत्मा खाता है ? आहाहा! पूरे दिन काम करे और कहे करता नहीं। आहाहा! अज्ञानी ने माना है। अपनी चीज़ अन्दर ज्ञान, नेत्र की भाँति भिन्न पड़ी है। वह नेत्र जैसे पर अग्नि को सुलगावे ? ऐसा होता है ?

अग्नि को देखने, संधु-क्षण की भाँति,... अग्नि सुलगानेवाला। इसी प्रकार आँख उसे सुलगावे, जैसे अग्नि सुलगानेवाला सुलगाता है न ? वैसे आँख उसे सुलगावे, ऐसा होता है ? अत्यन्त भिन्न है, इसलिए सुलगा नहीं सकता। **अपने को (-नेत्र को) अग्नि का कर्तृत्व (जलाना),...** नहीं है। **और लोहे के गोले की भाँति...** लोहे का गोला जब गर्म होता है, तब वह उष्ण है परन्तु आँख उसे देखती है, इसलिए कहीं आँख में वेदन होता है ? लोहे का गोला गर्म हुआ तो आँख ने देखा कि गर्म हुआ, परन्तु आँख गर्म को वेदती है ? वह लोहे का गोला अग्नि को वेदता है। आहाहा! अब ऐसी बातें।

मुमुक्षु : यह सब बात समझने जैसी है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वस्तु यह है, भाई! अभी प्रवाह चलता नहीं। प्रवृत्ति में एकदम रुककर जिन्दगी चली जाती है। आहाहा! और वह सब करने और भोगने के भाव में मिथ्यात्व को सेवन करते हैं। मिथ्यात्व का सेवन है। मिथ्यात्व है, वह अनन्त भव का गर्भ

है। उस मिथ्यात्व में अनन्त भव होने की ताकत है। आहाहा! उससे चेतता नहीं और खबर भी करता नहीं। आहाहा!

लोहे के गोले की भाँति अपने को (नेत्र को) अग्नि का अनुभव दुर्निवार होना चाहिए... लोहे का गोला गर्म हुआ, इसलिए अग्नि को अनुभवता है। उसी प्रकार आँख दूसरे को देखने पर उसका वेदन आवे तो आँख जल जाए। अग्नि का वेदन यहाँ आवे तो आँख जल जाए। आहाहा! दृष्टान्त है कुछ! कितना स्पष्ट किया! **अर्थात् यदि नेत्र दृश्य पदार्थ को करता और भोगता हो तो नेत्र के द्वारा अग्नि जलनी चाहिए...** नेत्र द्वारा अग्नि सुलगना चाहिए। आहाहा! **और नेत्र को अग्नि की उष्णता का अनुभव अवश्य होना चाहिए;...** आहा! वहाँ अग्नि का बड़ा ढ़ेर हो। धक... धक.. धक.. मकान सुलगता है न? आँख देखे। आँख देखे तो उसे करती है? आँख उसे शान्त कर सकती है? आहाहा! आँख तो देखती है। वे नलवाले आकर पानी छिड़कें तो आँख तो देखती है। कुछ करती है? तथा उसे भोगती है?

(नेत्र के द्वारा अग्नि जलनी चाहिए और नेत्र को अग्नि की उष्णता का अनुभव अवश्य होना चाहिए; किन्तु ऐसा नहीं होता, इसलिए नेत्र दृश्य पदार्थ का कर्ता भोक्ता नहीं है...) आहाहा! आँख है, वह दृश्य को कर्ता-भोक्ता नहीं है। क्योंकि दर्शनस्वभाववाली चीज़ परचीज़ को करे, भोगे—यह कहाँ से आवे? आहाहा! यह तो अभी दृष्टान्त है। इसलिए नेत्र तो केवल देखता ही है। आहाहा! **(नेत्र दृश्य पदार्थ का कर्ता भोक्ता नहीं है)-किन्तु केवल दर्शनमात्रस्वभाववाला...** कौन? आँख। वह तो देखने के स्वभाववाली है। किसी के करने और भोगने के स्वभाववाली नहीं है। आहाहा! ऐसी बातें! पकड़ना कठिन, उलझता है। पहली सीधीसट (बात थी), एकेन्द्रिय की दया पालो, इसका करो, दया पालो, पैसा दो, आहाहा! मूर्ति पधरायी, (उसमें) पाँच-साढ़े पाँच लाख दिये। लक्ष्मीचन्दभाई ने एक मूर्ति पधराने के साढ़े पाँच लाख (दिये)। पैसे बहुत, उसमें से कुछ पैसा उसने दिया है? आँख तो पैसा आया या गया, उसे देखे-जाने।

यहाँ तो कहेंगे, आँख दर्शनस्वभाववाला होने से। आँख है, वह केवल दर्शनस्वभावी है। आँख की बात करते हैं। भगवान में ऐसा लेंगे, केवलज्ञानमात्र स्वभाववाला है। वह आत्मा का बाद में कहेंगे। अभी तो अभी आँख की बात चलती है। **केवल दर्शनमात्र-**

स्वभाववाला होने से... कौन? आँख—नेत्र, **वह (नेत्र) सबको मात्र देखता ही है;...** आहाहा! आँख दर्शनस्वभाववाली होने से केवल दूसरे को देखती है—यह सिद्धान्त सिद्ध किया। आँख का दर्शनस्वभाव होने से दृश्य पदार्थ को देखती है। दृश्य पदार्थ को करे और भोगे, वह दर्शनस्वभाववाला नेत्र कर नहीं सकता। आहाहा!

इसी प्रकार... अब ज्ञान-आत्मा लेना है। वह दृष्टान्त था। ज्ञान अर्थात् आत्मा भी, **स्वयं (नेत्र की भाँति) देखनेवाला होने से...** ज्ञान तो देखनेवाला है। जो कुछ बने और उत्पन्न हो तथा जले या नाश हो, आहाहा! उसे वह देखनेवाला है। लड़का उत्पन्न हो और लड़का मर जाए, उसे ज्ञान जानता और देखता है। आहाहा! उस लड़के को उत्पन्न कर नहीं सकता तथा रख नहीं सकता। जलकर मर गया तो तेरे कारण से कुछ नहीं। उसे वेद नहीं सकता। आहाहा! दुःख के कारण ऐसे तड़फड़ाहट मारता हो, जीवित हो, उसकी माँ देखे, कुछ कर सकती है? आहाहा!

ज्ञान भी, स्वयं (नेत्र की भाँति) देखनेवाला होने से कर्म से अत्यन्त भिन्नता के कारण... उस आँख से दूसरी चीज़ अत्यन्त भिन्न थी। इसी प्रकार यह कर्म से अत्यन्त भिन्न है। भगवान आत्मा ज्ञानस्वरूपी... आहाहा! कर्म से अत्यन्त भिन्न है। फिर कर्म से राग हो या द्वेष हो या हर्ष हो, उन सबसे भिन्न। आहाहा! आँख जैसे पर से भिन्न, उसे देखे-जाने, तथापि पर का कुछ कर नहीं सकती; उसी प्रकार यह ज्ञान कर्म से भिन्न आत्मा और उससे भिन्न कर्म, ऐसा जाने। **कर्म से अत्यन्त भिन्नता के कारण...** आहाहा! यहाँ तो कहते हैं कि कर्म से तो आत्मा अत्यन्त भिन्न है। कर्म और आत्मा दोनों के बीच अत्यन्त अभाव है। भगवान आत्मा ज्ञानस्वभाववाला तत्त्व... आहाहा! वह अत्यन्त भिन्न तत्त्व है, **उसके करने-वेदने (भोगने) में असमर्थ होने से,...** आहाहा! वह ज्ञानतत्त्व इस हाथ को हिलाने को असमर्थ है। आँख की पलक झपकने में असमर्थ है। क्योंकि वह ज्ञानस्वभाववाला जो पदार्थ ज्ञात हो उससे भिन्न है। भिन्न उसे करे क्या? स्पर्श किये बिना करे क्या? उसे ज्ञान स्पर्श नहीं करता। आहाहा! गजब बात, भाई!

अत्यन्त भिन्नता के कारण... कौन? आँख की भाँति ज्ञान। आत्मा का ज्ञान अथवा आत्मा। **अत्यन्त भिन्नता के कारण निश्चय से उसके करने-वेदने (भोगने) में असमर्थ होने से, कर्म को न तो करता है और न वेदता (भोगता) है,...** आहाहा! उसको

कहा था न? केवल दर्शनस्वभाववाला नेत्र। यह है वह केवल ज्ञानमात्रस्वभाववाला (तत्त्व है)। आत्मा का केवल ज्ञान स्वभाव है। जाने-देखे ऐसा उसका स्वभाव है। बाकी किसी का करना उसका स्वभाव नहीं है। पूरे दिन यह दुकान पर बैठे, धन्धा करे। हमने किया, हमने किया, हमने किया... आहाहा!

मुमुक्षु : सलाह तो दे न?

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन सलाह दे? सलाह भाषा से, आत्मा भिन्न है। भाषा से ज्ञानतत्त्व भिन्न है। भिन्न, भिन्न का करे क्या? भाषा किस प्रकार कर सके? आहाहा! सलाह भी कौन दे? आहाहा!

केवल ज्ञानमात्र, वापस देखा? उसमें—आँख में दर्शनमात्र स्वभाव था। **केवल ज्ञानमात्रस्वभाववाला (-जानने का स्वभाववाला) होने से कर्म के बन्ध को...** आहाहा! कर्म बँधता है, उसे भी भिन्न रहकर जानता है और मोक्ष को भी भिन्न रहकर जानता है। आहाहा! वह मोक्ष को—बन्ध को करता नहीं। आहाहा! ज्ञान भगवान बन्ध को, मोक्ष को करता नहीं। **कर्म के उदय को तथा निर्जरा को मात्र जानता ही है।** विशेष बात आयेगी... (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ३८८, गाथा - ३२० शुक्रवार, ज्येष्ठ शुक्ल ७
दिनाङ्क - ०८-०२-१९८०

समयसार, ३२० गाथा। अब शिष्य पूछता है। इसका अर्थ यह है कि जिसे सुनने की गरज है, वह पूछता है। सुनने के लिये सुनने आना वह अलग चीज़ है और अपने आत्मा के लिये सुनना, वह बात कहते हैं। **अब प्रश्न होता है कि - (ज्ञानी कर्ता-भोक्ता नहीं है,...)** ऐसी अन्तर जिज्ञासा हुई है कि धर्मी रागादि-द्वेषादि को करता नहीं और भोगता नहीं। **(ज्ञाता ही है) यह कैसे है?** उसकी पद्धति क्या है? उसका प्रकार क्या है? ऐसी जानने की जिज्ञासा है। **इसका उत्तर दृष्टान्तपूर्वक कहते हैं :-** जिसकी यह सुनने की जिज्ञासा है, उसे यहाँ उत्तर दिया जाता है, ऐसी शैली कही है।

दिट्ठी जहेव णाणं अकारयं तह अवेदयं चेव।
जाणइ य बंध-मोक्खं कम्मुदयं णिज्जरं चेव॥३२०॥

ज्यों नेत्र, त्यों ही ज्ञान नहिं कारक, नहीं वेदक अहो।
जाने हि कर्मोदय, निरजरा, बंध त्यों ही मोक्ष को॥३२०॥

टीका - पहले दृष्टान्त देते हैं। पूछने का क्या है कि आत्मा यह सब करता है, वेदने में आता है, यह सब दिखता है और आप कहते हो कि आत्मा कर्ता नहीं और भोक्ता नहीं। पर को करता नहीं और राग को वेदता नहीं। यह क्या चीज़? यह क्या उसकी आश्चर्यता? उसका स्वभाव ऐसा विस्मयकारी क्या है? ऐसी शिष्य को जानने की जिज्ञासा हुई है, उसे कहते हैं।

जैसे इस जगत में... पहले जगत सिद्ध किया, यह जगत है। **इस जगत में...** अस्ति सिद्ध की, जगत की अस्ति सिद्ध की। उसमें **नेत्र दृश्य पदार्थ से अत्यन्त...** नेत्र जो आँख है, वह देखनेयोग्य **पदार्थ से अत्यन्त भिन्नता के कारण...** आँख जिसे देखती है, उस देखनेवाले पदार्थ से आँख तो अत्यन्त भिन्न है। **अत्यन्त भिन्नता के कारण उसे करने-वेदने (-भोगने) में असमर्थ होने से,...** सिद्धान्त यह कहा। आँख प्रत्येक पदार्थ को अत्यन्त भिन्न, प्रत्येक पदार्थ से आँख भिन्न है। वह आँख भिन्न को करे और भोगे कैसे? अपने में हो, उसे करे और भोगे परन्तु पर को करे और भोगे (नहीं क्योंकि) वह तो अत्यन्त भिन्न है। जिसे आँख स्पर्श भी नहीं करती, उसे करे-भोगे यह कैसे बने?

वह **अत्यन्त भिन्नता के कारण उसे करने-वेदने (-भोगने) में असमर्थ होने से,...** आँख जगत की चीज़ को देखती है, तथापि आँख से जगत की चीज़ कुछ की नहीं जाती तथा भोगी नहीं जाती। **दृश्य पदार्थ को न तो करता है...** उस देखनेयोग्य पदार्थ को आँख करती नहीं और भोगती नहीं। आहाहा! **यदि ऐसा न हो तो...** यदि आँख करे और भोगे तो, कर्ता और भोक्ता भिन्न से भिन्न पदार्थ को भिन्नता नहीं और कर्ता-भोक्ता होवे तो **अग्नि को देखने, संधु-क्षण की भाँति,...** अग्नि सुलगानेवाला, अग्नि चेतानेवाला अग्नि चेतती है उससे अग्नि चेतती है।

उसी प्रकार **अपने को (-नेत्र को) अग्नि का कर्तृत्व (जलाना),...** आँख को

सुलगानापना आवे। जैसे संधुक्षण अग्नि को सुलगाता है, उसी प्रकार आँख को पर से भिन्न है तो भी उसे करे और भोगे तो सुलगानापना आवे, तो आँख को सुलगानापना (आवे)। आँख ऐसे पड़े वहाँ दूसरा सुलगना चाहिए। आँख को सुलगानापना आवे। **और लोहे के गोले की भाँति अपने को (नेत्र को) अग्नि का अनुभव दुर्निवार होना चाहिए...** आँख भिन्न चीज़ को देखनेमात्र से उसे भोगे तो जैसे लोहे का गोला अग्नि में उष्ण हो जाता है, उसी प्रकार आँख भी अग्नि में अग्निमय हो जाए। आहाहा! **अग्नि का अनुभव दुर्निवार होना चाहिए...** आँख को भिन्न चीज़ का अनुभव करने का भाव आ जाए।

अर्थात् यदि नेत्र दृश्य पदार्थ को करता और भोगता हो... आँख है, वह दूसरी चीज़ को। आहाहा! किसी भी चीज़ को करती या भोगती हो **तो नेत्र के द्वारा अग्नि जलनी चाहिए...** आँख द्वारा अग्नि होना (चाहिए)। जैसे संधुक्षण करता है, वैसे आँख करे वहाँ अग्नि होना चाहिए। यदि अग्नि और वह भिन्न पदार्थ, उसे ऐसा सम्बन्ध होवे तो आँख ऐसे हो, वहाँ-वहाँ सुलगना चाहिए। **यदि नेत्र दृश्य पदार्थ को करता और भोगता हो तो नेत्र के द्वारा अग्नि जलनी चाहिए...** आँख द्वारा अग्नि होना चाहिए। जैसे वह संधुक्षण अग्नि सुलगाता है, वैसे ऐसे जहाँ आँख पड़े, वहाँ सुलगना चाहिए। आहाहा!

और नेत्र को अग्नि की उष्णता का अनुभव अवश्य होना चाहिए;... आँख है, वह अग्नि को देखती है परन्तु अग्नि का अनुभव नहीं है। यदि उसमें एकाकार होवे तो अनुभव हो। वह तो भिन्न चीज़ है। आँख और जो चीज़ अग्नि है, वह तो भिन्न है। भिन्न को अग्नि करे भी नहीं और भिन्न को अग्नि भोगे भी नहीं। यह तो दृष्टान्त है। आहाहा! **किन्तु ऐसा नहीं होता,...** आँख से सुलगता नहीं और आँख पर को वेदती नहीं। **नेत्र को अग्नि की उष्णता का अनुभव अवश्य होना चाहिए; किन्तु ऐसा नहीं होता, इसलिए नेत्र दृश्य पदार्थ का कर्ता भोक्ता नहीं है...** आँख है, वह तो देखनेयोग्य पदार्थ को, देखनेयोग्य इतना सम्बन्ध अवश्य, परन्तु तदुपरान्त उसे सुलगावे या जलावे, तब तो स्वयं अग्निमय हो जाए। आँख अग्निमय हो जाए, जल जाए। और आँख करे तो ऐसे आँख पड़े वहाँ अग्नि होना चाहिए। आहाहा! **किन्तु ऐसा नहीं होता, इसलिए नेत्र दृश्य पदार्थ का कर्ता-भोक्ता नहीं है...** आँख देखनेयोग्य पदार्थ को; देखनेयोग्य पदार्थ का सम्बन्ध रखा, परन्तु तदुपरान्त उसे सुलगावे या जलावे, ऐसा नहीं हो सकता।

किन्तु केवल दर्शनमात्रस्वभाववाला होने से... आँख तो **केवल दर्शनमात्र-स्वभाववाला होने से वह (नेत्र) सबको मात्र देखता ही है;...** यह दृष्टान्त कहा। आँख तो सभी चीज़ों को देखती ही है। किसी चीज़ को करती नहीं, किसी चीज़ को जलाती नहीं और किसी चीज़ से जलती नहीं। अग्नि से आँख जलती नहीं, अग्नि को आँख करती नहीं। आहाहा!

इसी प्रकार... यह तो दृष्टान्त था। अब सिद्धान्त आत्मा पर उतारते हैं। **ज्ञान...** अर्थात् आत्मा। आत्मा अर्थात् ज्ञानस्वभाव, आत्मा अर्थात् ज्ञानस्वरूप। जैसे नेत्र अग्नि को सुलगाता नहीं और अग्नि से जलता नहीं; उसी प्रकार आत्मा भी... आहाहा! **स्वयं (नेत्र की भाँति) देखनेवाला होने से...** देखनेवाला है, व्यवहार से पर को देखनेवाला है। जैसे आँख पर को देखती है, वैसे आत्मा पर को देखता अवश्य है। जिस काल में जो चीज़ है, उस काल में उसे आँख देखती है, उसी प्रकार आत्मा भी उसे देखता अवश्य है। आहाहा! देखने के उपरान्त करना या भोगना उसमें नहीं होता। देखने का सम्बन्ध है, एक बात तो ली है। आँख देखती है, वह अग्नि को करती नहीं, उसी प्रकार आत्मा देखता है—ऐसा तो है; देखता नहीं—ऐसा नहीं। आहाहा!

आत्मा अर्थात् ज्ञान भी **स्वयं (नेत्र की भाँति) देखनेवाला होने से...** इतना लिया। ज्ञान पर को देखता है, इतना लिया। यद्यपि पर को देखता है, यह अभी व्यवहार है, तथापि इतना सम्बन्ध लिया। तो जैसे पर को देखता है, ऐसा व्यवहार है तो पर को करे, ऐसा भी व्यवहार होना चाहिए। आहाहा! कि ऐसा नहीं है। आहाहा! आँख को देखने का सम्बन्ध है, इसलिए कहीं आँख दूसरे को सुलगावे या दूसरे को भोगे? इसी प्रकार आत्मा (को) देखने का सम्बन्ध है। आहाहा! इतना तो लिया। **देखनेवाला होने से...** आहाहा! **(नेत्र की भाँति) देखनेवाला होने से कर्म से अत्यन्त भिन्नता के कारण...** जैसे अग्नि परपदार्थ से भिन्न है। उसे देखने पर भी उससे सुलगती और जलती नहीं है, उसी प्रकार आत्मा कर्म को देखता अवश्य है। आहाहा!

कर्म से अत्यन्त भिन्नता के कारण... अकेला भिन्न नहीं लिया। प्रभु चैतन्य ज्ञानस्वरूप भगवान परपदार्थ से अत्यन्त भिन्नता के कारण, देखनेवाला होने पर भी, इतनी बात है। उसमें आया था कि एक (का) जब स्वयं करे तो फिर साथ में पर का भी करे। करता है

न ? अपना किये बिना रहता है ? यह आ गया था। करता है तो भी पर को तो करता-भोगता नहीं है। अपने परिणाम को भले करे और भोगे। आहाहा! यह यहाँ निर्मल परिणाम को करे और भोगे, उसकी बात है, मलिन की बात नहीं है।

आत्मा नेत्र की भाँति पर के साथ देखने के सम्बन्धमात्र से पर को देखता है; इसलिए पर का कुछ करे (ऐसा नहीं)। पर का देखना, ऐसा तो उसका सम्बन्ध है, परन्तु देखना सम्बन्ध है, इसलिए कुछ करे (-ऐसा नहीं है)। आहाहा! हाथ को हिलावे, पैर को हिलावे, आँख को हिलावे, बोले (ऐसा नहीं)। जो चीज़ है, उसे देखता है तो देखने पर भी जो चीज़ देखे, उसे ही देखे बराबर, उसके परिणाम में वही देखने का बराबर आवे। ऐसा होने पर भी। आहाहा! वह देखनेवाला होने पर भी कर्म को करता नहीं। आहाहा! रागादि, कर्म आदि को करता नहीं। करता नहीं कहा। क्यों करता नहीं, ऐसा नहीं कहा ? ज्ञान कहा सही न! ज्ञान अर्थात् आत्मा। अर्थात् ज्ञान ऐसे देखने का-जानने का सम्बन्ध इतना कहते हैं, तथापि देखनेमात्र के उपरान्त उसे करने और भोगने का **अत्यन्त भिन्नता के कारण निश्चय से उसके करने-वेदने (भोगने) में असमर्थ होने से,...** आहाहा! जीव ज्ञानस्वरूप होने से, कर्म का उदय हो, उसे देखे। देखने के सम्बन्धमात्र से कर्म के उदय को भोगे या करे, ऐसा नहीं है। आहाहा! अभी तो चार बोल लेंगे।

कर्म को न तो करता है और न वेदता (भोगता) है,... आहाहा! कर्म—पर को जानने-देखने का सम्बन्ध होने पर भी करता और भोगता बिल्कुल नहीं है। आहाहा! यह सब पूरे दिन यह धन्धा-व्यापार धमाल चलती है न ? दुकान पर बैठा। कहते हैं कि आत्मा को और उसे देखनेमात्र का सम्बन्ध है। देखने उपरान्त उसे करने और भोगने का बिल्कुल स्वभाव नहीं है। आहाहा! जैसे आँख अग्नि को कुछ करती नहीं, उसी प्रकार भगवान आत्मा कर्म और कर्म से प्राप्त चीज़ें, उन किसी चीज़ को, कर्म को करता-भोगता नहीं तो पर की तो बात क्या करना ? आहाहा!

करता है और न वेदता (भोगता) है, किन्तु केवल ज्ञानमात्रस्वभाववाला... आहाहा! **केवल ज्ञानमात्रस्वभाववाला(-जानने का स्वभाववाला) होने से...** भगवान तो जानने के स्वभाववाला है, बस! पूरी दुनिया को देखे, आहाहा! विषय-वासना के काल में संयोग को देखे। आहाहा! तथापि उस विषय-वासना को करता नहीं और सामने चीज़ को जो भोगता

है, ऐसा दिखता है, उसे वह आत्मा करता नहीं। आहाहा! केवल ज्ञानस्वभाव, एकान्त नहीं कहा? केवल ज्ञान लिया, अकेला ज्ञानस्वभाव। कथंचित् ज्ञान स्वभाव और कथंचित् कर्तापना। राग का कर्तापना, अरे! बन्ध और मोक्ष का कर्तापना कथंचित् (कहो) तो अनेकान्त कहलाये, ऐसा नहीं है। आहाहा!

भगवान आत्मा ज्ञानस्वभाववाला होने से जानने का काम करे, जानने के स्वभाववाला होने से जानने का काम करे। आहाहा! परन्तु वह बन्ध को करता नहीं। राग और बन्ध को करता नहीं तथा राग को वह ज्ञान वेदता नहीं। बन्ध को ज्ञान जानता है, जानने का स्वभाव होने से जानता है, इतना कहते हैं परन्तु वह राग को करे और भोगे—ऐसा उसका स्वरूप नहीं है। आहाहा! पर का करना तो कहीं रह गया। जवाहरात और... आहाहा! हीरा, माणेक जवाहरात और वस्त्र... उस एक रजकणमात्र को (करे नहीं)। देखे रजकण से लेकर पूरी दुनिया परन्तु एक रजकण को करे या राग को करे और भोगे (-ऐसा नहीं है) जानने के सम्बन्धमात्र से करने और भोगने का सम्बन्ध हो जाए, ऐसा नहीं है। आहाहा! पर को जानने और देखने का सम्बन्ध है, इतने मात्र से पर को करे और भोगे, यह है नहीं। आहाहा! है?

किन्तु केवल ज्ञानमात्रस्वभाववाला होने से कर्म के बन्ध को... यहाँ अब कठिन बात आयी। कर्म का बन्ध होता है, उसे जाने; बन्ध करे नहीं। बन्ध होता है, परज्ञेयरूप से बन्ध को जाने, बन्ध को करे नहीं। आहाहा! ज्ञानावरणीय कर्म से ज्ञान रुकता है, गोम्मटसार में तो सब यह (कथन) आते हैं। आठ कर्म से ऐसा होता है और आठ कर्म से ऐसा होता है। यह तो निमित्त का ज्ञान कराने के लिये (कहा है)। आहाहा!

यहाँ तो केवल ज्ञानस्वभाव, केवल ज्ञानमात्र। ज्ञानमात्र कहने से ज्ञान अकेला नहीं परन्तु ज्ञानमात्र कहने से दूसरे अविनाभावी गुण हैं, परन्तु ज्ञानमात्र कहने से राग को और पर को करता नहीं, इसलिए 'मात्र' कहा है। आहाहा! वह बोले नहीं, चले नहीं। आहाहा! दूसरे को शिक्षा दे नहीं, दूसरे से शिक्षा ले नहीं। लो, यहाँ तो यह आया। कल दोपहर को तो यह आया था—गुरु के वचनों को पाकर। वह तो मात्र सुदृष्टि का उपदेश दिया, वह उसने ले लिया, सुदृष्टि को कर लिया। इतनी बात कहने के लिये की।

यहाँ तो कहते हैं **केवल ज्ञानमात्रस्वभाववाला होने से कर्म के बन्ध को...** करता

नहीं, जानता है। शास्त्र में आवे कि चौथे गुणस्थान में इतनी प्रकृति सत्ता (में) होती है, इतना उदय होता है, इतना वेदन अन्दर वेदनेयोग्य अर्थात् अनुभाग होता है। परन्तु उसे जानता है। आहाहा! चौथे गुणस्थान में आठ प्रकृति में से इतनी कर्म की इतनी प्रकृति होती, इतनी छूटती है, इतनी बँधती है, इतनी सत्ता में रहती है, इतनी उदीरणा होती है, इतना उदय आता है। यह सब बात आवे परन्तु उसे जाने। आहाहा! अरे! नजदीक की चीज़ कर्म है, उसके उदय को भी जाने तो परचीज़ को यह करे और यह करना (यह तो करे कहाँ से?) आहाहा! आत्मा चले और आत्मा बोले और आत्मा पर के टुकड़े करे, पर का चूरा करे, मदद करे, पर से मदद ले, यह वस्तु के स्वरूप में नहीं है। आहाहा।

वह **बन्ध को तथा मोक्ष को,...** आहाहा! ज्ञान तो मोक्ष को करता नहीं। आहाहा! बात बहुत ऊँची है। ३२० गाथा। बन्ध को करे, मोक्ष को करे, यह भी नहीं। बन्ध को भले न करे, परन्तु मोक्ष को करे न? मोक्ष पूर्ण दशा (करे न?) कि, नहीं। उस काल में वह पर्याय होती ही है, उसे करे क्या? करे तो, न हो उसे करे। जिसकी स्थिति न हो, उसको करे, उसे किया कहा जाता है परन्तु जाननेवाले ज्ञानी को मोक्ष की पर्याय है, ऐसा जानता है, बस! है उसे जानता है। आहाहा! मोक्ष की पर्याय को भी करता नहीं। क्योंकि उसमें एक भाव नाम का एक गुण है, कि जिस गुण के कारण दृष्टि जो द्रव्य के ऊपर पड़ी और द्रव्य का स्वीकार हुआ, वहाँ जो बन्ध का रागादि है... आहाहा! उसे वह करता नहीं। आहाहा! उस गुणस्थान में उसके प्रमाण में कर्म का उदय आवे और उदीरणा हो, उसे वह करता नहीं। आहाहा! अन्तिम हद है। ज्ञानस्वभाव, ज्ञानस्वभाव। बहुत खींचकर तू कहे तो जाने-देखे—ऐसा हम कहते हैं। वास्तव में तो यह पर का जानना-देखना, वह व्यवहार है। आहाहा!

मुमुक्षु : जानता नहीं, यह व्यवहार?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह पर को जानता है, यह व्यवहार। करे और भोगने की तो बात ही नहीं है। स्वयं अपने को जानता है, यह निश्चय। आहाहा! परन्तु कहते हैं कि तू बहुत ले जाए तो देखे-जाने इतने तक रख। आहाहा!

आत्मतत्त्व ज्ञानस्वरूपी भगवान, वह मोक्ष को करे, यह भी नहीं। आहाहा! पुरुषार्थ कहाँ गया वहाँ? कहते हैं कि यह जानता है, यही इसका पुरुषार्थ है। जानता है कि यह

मोक्ष हुआ। उस समय उस काल में वही पर्याय शुभभाव के कारण, शुभभाव का स्वभाव है, शुभ-अशुभ आदि है न? उसके कारण पर्याय होती ही है। करूँ तो हो, विकल्प करूँ तो हो, बिना वजह करूँ तो हो... आहाहा! ऐसा स्वरूप में नहीं है। आहाहा! वह बन्ध को करता नहीं और मोक्ष को भी करता नहीं। आहाहा! क्योंकि मोक्ष की पर्याय उस काल में, वह होनेवाली ही है। होनेवाली ही है, उसे करे? तो होनेवाली है, वह होती है, होती है... होती है, उसे करता है अर्थात् क्या? आहाहा!

ज्ञान प्रभु, पर्याय होती है अथवा है; है, उसे करना क्या? मोक्ष की पर्याय है, जाननेवाले को वह मोक्ष की पर्याय वहाँ है। है, उसे करना क्या? आहाहा! सत्... सत् को करना क्या? तो है, वह नहीं हो—ऐसा हो जाए। मोक्ष की पर्याय भी उस काल में होती है, वही उसका स्वभाव है। द्रव्यदृष्टि हुई, इसलिए उसके अन्तर में गुण में ऐसा एक भाव नाम का गुण है कि वह पर्याय होती ही है। भाव नाम का गुण है, कि मोक्ष की शुद्धपर्याय उस काल में होती ही है। आहाहा! उस भाव नाम के गुण के कारण, पूरी द्रव्यदृष्टि हुई है, इसलिए वह मोक्ष की पर्याय होती है, होती है। होती है, उसे करता हूँ—ऐसे कैसे आवे? कहते हैं। आहाहा! ऐसा सूक्ष्म है। उस-उस काल में वह पर्याय होती ही है अथवा है अथवा सत् है, सत् है। आहाहा! सत् है, सत् को करे? आहाहा! ऐसी बात है। अभी तो लोग कहीं बाहर में मानकर, मनवाकर (पड़े हैं)।

यहाँ तो प्रभु ज्ञानस्वभाववाला होने से उस समय में मोक्ष की पर्याय होती है। होती है, उसे करता है—यह तो विरुद्ध हुआ। है, उसे करता है—यह तो विरुद्ध है। आहाहा! है, उसे जानता है। आहाहा! यह वस्तु का स्वरूप है। बन्ध और मोक्ष को। आहाहा! इसी प्रकार **कर्म के उदय को...** उदय भी है, उदय है, उसे जानता है। उसे ज्ञान में रहकर अपने को और उदय को द्विरूपता रूप से जानता है, इतना भले कहें। उदय को जानता है, इतना कहते हैं। इसके अतिरिक्त दूसरा तो कोई है ही नहीं। यहाँ तक आया कि, उदय को जानता है, बस! इतनी बात को ज्ञान में सिद्ध की, जाननेवाला आत्मा है, इस अपेक्षा से। आहाहा!

उदय को तथा निर्जरा को... आहाहा! आत्मा निर्जरा को करता नहीं। क्यों?—कि इस समय में अशुद्धता टलती है, शुद्धता बढ़ती है, कर्म खिरते हैं। यह निर्जरा के तीन प्रकार हैं। कर्म खिरना, एक प्रकार—बाह्य; अशुद्धता का गलना, एक प्रकार और शुद्ध का बढ़ना,

एक प्रकार। उस समय कहते हैं वे तीन हैं। उस एक समय में वे तीनों हैं। है, उसे करे क्या? आहाहा! सूक्ष्म बात है। आहाहा! यह सोने को और हीरे को घिसते हैं। कहते हैं कि वह पर्याय तो वहाँ है। अब है, उसे वह करे, इसका अर्थ क्या? नहीं है, उसे करे—ऐसा हो परन्तु वह पर्याय वहाँ है ही। आहाहा!

सत् निर्जरारूप पर्याय है। यहाँ शुद्धता की वृद्धि, वह निर्जरा। अशुद्धता का गलना, वह भी निर्जरा और कर्म का (खिरना, वह भी) निर्जरा, परन्तु वास्तविक तो शुद्धता का बढ़ना (वह है)। परन्तु यहाँ यह कहते हैं कि शुद्धता का बढ़ना, वह भी उस काल में है। आहाहा! निर्जरा के प्रकार तीन, उसमें वास्तविक तो शुद्धता का बढ़ना, वह निर्जरा है। अशुद्धता का गलना, वह तो व्यवहारनय से और कर्म का टलना, वह तो असद्भूतव्यवहारनय से। आहाहा! परन्तु यहाँ तो शुद्धता का बढ़ना, वह भी उस समय का उस समय में वह है। बढ़ना, वह है। आहाहा! शुद्ध उपयोग से वहाँ बढ़ता है, वह उस समय में है। है, उसे करना क्या? आहाहा!

मुमुक्षु : उपजता है, यह भी नहीं लेना?

पूज्य गुरुदेवश्री : उपजता है, उसे करता नहीं। यह बात तो आयी। यह बात तो सिद्ध की, कि उपजता है न? वह उपजता है न? है, उसे उपजता है करना? सूक्ष्म बात है, भाई! आहाहा! जो मोक्ष उपजता है... अरे! निर्जरा भी उपजती है। आहाहा! उपजती है, उसकी अस्ति तो है। अस्ति है, उसे करना है? सूक्ष्म बात है। आहाहा!

निर्जरा को... वापस भाषा कैसी है? केवल ज्ञानमात्रस्वभाववाला होने से। एक यहाँ लिया। यहाँ लिया **मात्र जानता ही है।** अन्तिम। **मात्र जानता ही है।** उस निर्जरा को भी करता है... होती है, वहाँ करता है, यह किस प्रकार? मोक्ष भी होता है, उस समय में सत् है। उसरूप वह क्रमबद्धता... क्रमबद्ध से उठाया है न यह सब? मोक्ष की पर्याय क्रमसर के काल में होती है। उसे करना क्या? निर्जरा के काल में निर्जरा शुद्धि की वृद्धि है, उसे करना क्या? आहाहा! ऐसी बात है। उसके बदले यहाँ तो कहे कि पर का करना, पर को सहायता करना, मदद करना, सबको सुगठित रखने के लिये एक-दूसरे की मदद करो तो सुगठित रहा जा सके। आहाहा! लोगों को ऐसा बाहर से मीठा लगता है। पराधीनता की दृष्टि है न! आहाहा! यहाँ कहते हैं, वह तो दृष्टि विरुद्ध है।

यहाँ तो सत् है। जैसे त्रिकाली ज्ञानस्वभाव सत् है, जैसे त्रिकाली आत्मा सत् है, उसे करना क्या? इसी प्रकार वह-वह पर्याय उस काल में वह सत् ही है। आहाहा! दोनों सत् है। यहाँ वस्तु त्रिकालीरूप सत् है; निर्जरा और मोक्ष, वह भी उस काल के समयरूप वह सत् है। है, उसे करना क्या? आहाहा! गजब बात की है।

सर्वविशुद्धज्ञान अधिकार है न? और वह भी, उसे जानने की पर्याय भी वास्तव में निर्जरा और मोक्ष को जानती है, ऐसा कहा; करती है, ऐसा नहीं कहा परन्तु फिर भी निर्जरा और मोक्ष के काल में वह ज्ञान की पर्याय भी उस प्रकार से वहाँ होनेवाली ही है। मोक्ष और निर्जरा को जाने, ऐसी ही पर्याय उस काल में होनेवाली ही है। आहाहा! जरा सूक्ष्म है। निर्जरा और मोक्ष की पर्याय तो है। है, उसे भले जाने, ऐसा कहना परन्तु जानने की पर्याय भी उस काल में है ही। तथापि इतना कहते हैं कि वह पर को जानती है, इतना कहो। वह पर को जानती है, इस प्रकार ही है। वह ज्ञान की पर्याय जो सर्वविशुद्धज्ञान है, वह पर को जानती है, इस प्रकार ही वह है। वह पर है; इसलिए पर को जानती है, ऐसा भी नहीं है। आहाहा! ऐसा मार्ग है।

सत् को सत्रूप से सिद्ध करते हैं। है, सत् है। आहाहा! इतना कहते हैं कि, जानता है, परन्तु जानता है, वह भी पर्याय सत् है। उसी प्रकार से उसी समय में उसे जानना—ऐसी ही पर्याय; वह है, उसे जाने इसलिए वह पर्याय उसे जानती है, यह भी व्यवहार है। आहाहा! वह जानने की पर्याय भी उस काल में क्रमसर में उसे जाने, ऐसा स्वयं अपनी पर्यायरूप है। आहाहा! बहुत सूक्ष्म है। आहाहा!

चारों ही बोल लिये, बाकी क्या रखा? बन्ध और मोक्ष। आहाहा! भावबन्ध; द्रव्यबन्ध से तो भिन्न है परन्तु भावबन्ध को भी उसी प्रकार से वह वहाँ जानता है। राग बँधता है, राग होता है, उस-उस काल में वह होता है, उसे उस-उस काल में जानने का काम वह ज्ञान की पर्याय उस काल में स्वयं से करती है। आहाहा! वह राग और बन्ध है, इसलिए उसकी अपेक्षा रखकर जानने की पर्याय होती है, यह व्यवहार है। समझ में आया? जानने की पर्याय होती है। आहाहा!

अनन्त गुणों को, अनन्त पर्यायों को, मोक्ष-निर्जरा आदि, उदय आदि को उस समय

में वह ज्ञान की पर्याय उसे उस प्रकार से जानती है, उस प्रकार से ही स्वयं उत्पन्न होती है। उस प्रकार से स्वयं अपने स्वतन्त्र उत्पन्न होती है। आहाहा! अब यहाँ बाहर में लोगों को अटकना तो (है)। इसको करना और इसको... एक जगह सुना था। इन्दौर में पचास पण्डित इकट्ठे हुए थे। उस समय यह चर्चा यहाँ के विरोध की रखी कि पर का कर्ता न माने, वह दिगम्बर जैन नहीं। आहाहा! अरे! प्रभु! तू क्या करता है? आहाहा!

कर्ता तो नहीं परन्तु वास्तव में तो उसका जाननेवाला भी नहीं है। जाननेवाला जाननेवाले को जानते हुए, जाननेवाले को-जाननेवाले को जानने की पर्याय सत् उत्पन्न होती है। परन्तु इतना यहाँ व्यवहार सिद्ध करना है कि मोक्ष को, निर्जरा को जानता है। जानने की पर्याय तथा मोक्ष और बन्ध की पर्याय और निर्जरा की (पर्याय) भिन्न है। अनन्त पर्याय एक समय में होती है। अनन्त गुण की अनन्त पर्यायें अक्रम से, अक्रम से एकसाथ होती है। आहाहा! निर्जरा की पर्याय को और मोक्ष की पर्याय को भी उस समय की पर्याय होती है, उसे जानता है, ऐसा कहने में आता है। आहाहा! थोड़ा सूक्ष्म तो है। ३२० (गाथा) उसे फिर (टेप) उतारना था न?

मुमुक्षु : कर्तापना तो गया परन्तु जानने में भी गर्भितरूप से कर्तापना पड़ा है?

पूज्य गुरुदेवश्री : जानना, वह जानना उसे भी करना, जानने का करना, जानने का करूँ, यह भी नहीं। वह जानने की पर्याय भी उस काल में सत्रूप से है और होती है। आहाहा! ऐसा है। इस दुनिया में मैं करूँ... मैं करूँ। पूरे दिन यह धन्धा मैंने किया और उसे मैंने किया और उसे मैंने किया, मैंने उन्हें सम्हाला, लड़कों को बड़ा किया, पाल-पोसकर, पढ़ाकर... सब गप्प है, यह तो कहते हैं। आहाहा!

जहाँ अपनी निर्जरा और मोक्ष की पर्याय (होती है)... आहाहा! उसे भी जानने का काम; करने का नहीं, जानने का काम करे। आहाहा! वह पर के रजकण को या पर के स्कन्ध को कुछ भी पलटावे, बदलावे, (ऐसा नहीं है)। आहाहा! आत्मा रोटी बना सके, लड्डू बाँध सके, यह तो है ही नहीं, कहते हैं। आहाहा! ऐसा सिद्ध करना है कि उस समय में उसका सत् है, उस प्रकार से होता है। उसका वह सत् है, उसमें तेरे हेतु की उसे क्या आवश्यकता है? इतना रख, तू ज्ञान है और वह ज्ञान नहीं है, इसलिए जानने का काम करे।

आहाहा! ऐसा मार्ग। कहाँ ले जाना इसे? यहाँ कहते हैं एकेन्द्रिय की दया पालो, दोइन्द्रिय की दया पालो, तीनइन्द्रिय की, चौइन्द्रिय की, पंचेन्द्रिय की... आहाहा! हिंसा न करो। यह सब व्यवहार के वचन हैं। आहाहा! उस समय में हिंसा होनेवाली थी ही नहीं। आहाहा! उसे ज्ञान जानता है। आहाहा! वह ज्ञान भी, हिंसा होनेवाली नहीं थी, यह अपेक्षा रखकर ज्ञान उत्पन्न हुआ है—ऐसा भी नहीं है।

अनन्त पर्यायें एक समय में उत्पन्न होती हैं, उनमें एक पर्याय को दूसरी पर्याय की भी अपेक्षा नहीं है। आहाहा! ऐसा उसका सत्स्वरूप है। ३२० गाथा। आहाहा! भाई ने रखा है न? जयसेनाचार्य की टीका में कि भाई! योगीन्द्रदेव ने भी ऐसा कहा है, कि आत्मा बन्ध और मोक्ष को नहीं करता। यह गाथा रखी है न? आहाहा! है न? इसमें है या नहीं? पृष्ठ है पृष्ठ... इस ओर है। श्री योगीन्द्रदेव ने भी कहा है कि

ण वि उप्पज्जइ ण वि मरइ बंधु ण मोक्खु करेइ।
जिउ परमत्थेँ जोइया जिणवरु एउँ भणेइ॥६८॥

जिनवर-तीन लोक के नाथ जिनेश्वर ऐसा कहते हैं। दूसरी भाषा क्या कहलाये? कहते हैं, ऐसा कहना है। वाणी, वाणी के कारण से आती है परन्तु वे वाणी के निमित्त हैं, इसलिए कहते हैं - ऐसा कहने में आता है। वाणी है अर्थात् भूतार्थ उस समय की उसकी पर्याय है, योग्यता से वह वाणी आती है। भगवान है, इसलिए आती है—ऐसा भी नहीं है। आहाहा! परन्तु भाषा क्या कहलाये? बड़े का नाम देना हो तब (ऐसा कहते हैं)।

'जिनवर ऐवुं भणेई' हे योगी! योगी अर्थात् योग को आत्मा में जोड़नेवाला। आहाहा! परमार्थ से जीव उपजता भी नहीं, परमार्थ से जीव निर्जरा और मोक्षरूप भी नहीं उपजता और मरता भी नहीं। आहाहा! तथा बन्ध-मोक्ष को करता नहीं, ऐसा श्री जिनवर कहते हैं। दृष्टान्त जिनवर का दिया। जिनवर ऐसा कहते हैं। बन्ध और मोक्ष को करता नहीं—ऐसा जिनवर कहते हैं। आहाहा! उसका अर्थ इतना कि आत्मा जो स्वभाव है, उसकी ओर जहाँ जानने का लक्ष्य हुआ, (वहाँ) सब छूट गया। बस! फिर जो है, उसे जाने। उस निर्जरा को जाने, मोक्ष को जाने; साधक के समय निर्जरा को जाने, साध्य के समय मोक्ष को जाने। आहाहा! वह जानने की पर्याय भी वैसी ही स्वयं उस काल में उस प्रकार की स्वयं से उपजती है।

आहाहा! जानने की पर्याय भी बन्ध को, मोक्ष को, निर्जरा को, उदय को जिनवर कहते हैं कि आत्मा करता नहीं, जानता ही है। वह जानता है, वह ज्ञान की पर्याय भी उस काल में, उसी प्रकार से अपनी उत्पन्न होने का काल था तो हुई है। आहाहा! जरा कठिन काम है।

उसमें ऐसा आया है कि एकदेश शुद्धनयाश्रित यह भावना। यह भावना अर्थात् ज्ञान की पर्याय आदि, श्रद्धा की पर्याय, चारित्र की पर्याय जो भावनारूप प्रगट हुई, वह आंशिक शुद्धिरूप परिणति है। वह निर्विकार स्वसंवेदनलक्षण क्षयोपशमिकज्ञानरूप होने से। वह क्षयोपशम ज्ञान है। वस्तुरूप से भले श्रद्धा उपशमरूप हो, क्षयोपशमरूप हो, क्षायिकरूप हो परन्तु उसे जाननेवाला ज्ञान क्षयोपशमज्ञान है, उसे जाननेवाला क्षायिकज्ञान अभी यहाँ नहीं है। क्या कहा, समझ में आया? आहाहा!

परमार्थ से जीव उपजता भी नहीं अर्थात् किसमें? पर्याय में उपजता नहीं और पर्याय को व्यय करता नहीं। आहाहा! प्रवचनसार में १०१ गाथा में ऐसा कहा कि जो पर्याय उत्पन्न होती है, उसे ध्रुव की अपेक्षा नहीं। जानने की अपेक्षा से यहाँ जानता है, वह ऐसा ज्ञेय आया, इसलिए यहाँ ज्ञान ऐसा होता है—ऐसी अपेक्षा नहीं है। जानने के ज्ञान में जो ज्ञात होने योग्य बराबर सामने आया, इसलिए उसे यहाँ जानता है, इतनी अपेक्षा से ज्ञान की उत्पत्ति हुई—ऐसा भी नहीं है। आहाहा!

यह कहा यहाँ, देखो न! आहाहा! एकदेश व्यक्तिरूप है। क्षयोपशमज्ञान की अपेक्षा से। भले क्षायिक समकित हुआ परन्तु ज्ञान की अपेक्षा से क्षयोपशमज्ञानरूप हुआ, तो भी ध्याता पुरुष ऐसे भाता है कि सकल निरावरण अखण्ड... आहाहा! भगवान आत्मा सकल निरावरण, सकल निरावरण, पूर्ण निरावरण अखण्ड एक प्रत्यक्ष प्रतिभासमय। अखण्ड है और एकरूप है। प्रत्यक्ष प्रतिभासमय-ज्ञान में प्रत्यक्ष प्रतिभासमय दिखता, ज्ञात होता है, ऐसा है। अविनश्वर शुद्ध पारिणामिक परमभावलक्षण-शुद्ध पारिणामिक सहज स्वभाव लक्षण निज परमात्मद्रव्य... आहाहा! निज परमात्मद्रव्य, वह मैं हूँ। पर तो नहीं, राग नहीं, पर्याय नहीं। आहाहा!

पर्याय ऐसा जानती है कि सकल निरावरण अखण्ड एक ज्ञानस्वरूप अविनश्वर परम पारिणामिकभाव लक्षण निज परमद्रव्य, परमात्मद्रव्य, वह मैं हूँ। पर्याय कहती है कि

मैं पर्याय हूँ—ऐसा भी नहीं। आहाहा! ऐसी बात है। निज परमात्मद्रव्य वही मैं हूँ। वही मैं हूँ। जो सकल निरावरण है, वही मैं हूँ। एकान्त कर डाला। कथंचित् ऐसा और कथंचित् (वैसा), ऐसा नहीं डाला। जो सकल निरावरण अखण्ड एक प्रत्यक्ष प्रतिभासमय... आहाहा! ज्ञान की पर्याय में उतना ही पूरा भासित होता है। आहाहा! वह प्रत्यक्ष ज्ञान में ज्ञात हो, ऐसा भगवान आत्मा अविनश्वर शुद्ध पारिणामिक परमभावलक्षण निज परमात्मद्रव्य, वही मैं हूँ, परन्तु ऐसा नहीं भाता कि खण्डज्ञान मैं हूँ। क्षयोपशमज्ञानरूप भी मैं हूँ, ऐसा नहीं भाता—ऐसा कहते हैं। आहाहा!

यहाँ तो कहा कि क्षयोपशमज्ञान में या क्षायिकज्ञान में ज्ञात होता है। जो है, वैसा ज्ञात होता है इतना। परन्तु तो भी धर्मी क्षयोपशमज्ञान को भी भाता नहीं। उसकी दृष्टि द्रव्य पर होती है। आहाहा! ३२० गाथा पढ़ी जा चुकी है। बहुत व्याख्यान हो गये हैं। यह तो योगीन्द्रदेव ने भी ऐसा कहा है, ऐसा।

ण वि उप्पज्जइ ण वि मरइ बंधु ण मोक्खु करेइ।
जिउ परमत्थेँ जोइया जिणवरु एउँ भणेइ॥६८॥

आहाहा! अकेला ज्ञानस्वरूप भगवान पूर्णानन्द का नाथ पूर्ण ज्ञान, उसे ज्ञान प्रधान से पूरा आत्मा तो लिया। क्योंकि उस पर्याय में अनन्त पर्याय और द्रव्य-गुण ज्ञात होते हैं, उस पर्याय को भी मैं उत्पन्न करता हूँ, ऐसा नहीं है। आहाहा! वह भी उस काल में है। है, उसे भी मैं जानता हूँ। आहाहा! ऐसा यहाँ कहा।

बन्ध को तथा मोक्ष को, और कर्म के उदय को तथा निर्जरा को मात्र जानता ही है। निर्जरा भी करता नहीं, मोक्ष करता नहीं। गजब बात है। उसके बदले यहाँ तो पर का करना, दया पालना, पर की दया पालना और पर को मदद करना और पर की सहायता करना... एकदम तत्त्व विरुद्ध है परन्तु अब क्या हो? विषय पूरा हो गया।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ३९२, श्लोक - १९९, गाथा - ३२० शुक्रवार, ज्येष्ठ शुक्ल ८
दिनाङ्क - २३-०५-१९८०

समयसार, ३२० गाथा। अन्तिम शब्द दो लाईनें। पहले पेराग्राफ में अन्तिम दो लाईनें फिर से। ज्ञानी करने-भोगने से भिन्न है, इसलिए विवक्षा भेद है। नहीं तो ज्ञानी जब तक जघन्य भाव से परिणमता है, तब तक उसे बन्धन है। आस्रव अधिकार में १७०-१७१ में आता है। परन्तु यहाँ ज्ञानप्रधान कथन है। इसलिए यहाँ कहते हैं कि ज्ञानी **केवल ज्ञानमात्रस्वभाववाला होने से...** अन्तिम दो लाईनें। जैसे नेत्र केवल दर्शन स्वभाववाला है, तो देखता है। उसी प्रकार ज्ञान **केवल ज्ञानमात्रस्वभाववाला होने से कर्म के बन्ध को...** कर्म के बन्ध को भी जानता है। आहाहा! मोक्ष को जानता है, मोक्ष का करता नहीं। यहाँ ज्ञान स्वभाव का मुख्य वर्णन है न! इसलिए बन्ध को करता नहीं और मोक्ष को करता नहीं।

मुमुक्षु : कर्म सम्बन्धी मोक्ष?

पूज्य गुरुदेवश्री : कर्म सम्बन्धी सब।

मुमुक्षु : भावकर्म, द्रव्यकर्म...

पूज्य गुरुदेवश्री : दोनों अभी नहीं। 'आस्रव अधिकार' आवे, तब उसमें आता है। जघन्य ज्ञान-दर्शन का परिणमन है, तब तक उसे बन्धन है, वेदन है। १७०-७१-७२ 'आस्रव अधिकार' मूल पाठ में है। जब तक जघन्यरूप परिणमन है, तब तक उसे यथाख्यात (चारित्र) नहीं है, तो उसे बन्धन और वेदन दोनों हैं। अथवा प्रवचनसार के ४७ नय में आया है। कर्ता, भोक्ता ज्ञानी है। आहाहा! कर्तानय राग का भी कर्ता, राग का भी भोक्ता है। ४७ नय। परन्तु यहाँ तो ज्ञान की मुख्यता से विवक्षा भेद से दूसरी बात को गौण करके ज्ञान जाननेवाला है, ऐसा बतलाना है। जैसे आँख—नेत्र दूरवर्ती पदार्थ को देखता है, उसी प्रकार ज्ञान बन्ध और मोक्ष को करता नहीं। आहाहा! होता है, उसे जानता है। मोक्ष को भी करता नहीं, मोक्ष के मार्ग को भी करता नहीं। आहाहा! जाननेवाले के रूप में लेना है न?

जाननेवाला, ज्ञात होता है, उससे दूर है; एकमेक नहीं। इसलिए (उस) ज्ञानस्वभाव में कर्म के बन्ध को जाने, मोक्ष को जाने, आहाहा! उदय को जाने और निर्जरा को जाने।

मात्र जानता ही है। यहाँ जरा करता है, वह यहाँ लेना नहीं है। यहाँ ज्ञानप्रधान कथन है। आहाहा! अकेला ज्ञान, आहाहा! चैतन्यस्वभाव।

नेत्र-आँख दूसरे पदार्थ से दूर रहती हुई दूसरे को जानती है, उसी प्रकार ज्ञानस्वभावी भगवान आत्मा बन्ध और मोक्ष आदि तथा उदय से दूर रहते हुए, उसे जानता है। आहाहा! ३२० गाथा है। वास्तव में तो मोक्ष को भी ज्ञान करता नहीं है और मोक्ष के मार्ग को भी करता नहीं है। टीका में आ गया है, जयसेनाचार्य की टीका में। बन्ध को करता नहीं, बन्ध के कारण को करता नहीं। मोक्ष को करता नहीं, मोक्ष के कारण को करता नहीं। यह चार बोल लिये हैं।

यहाँ, केवल ज्ञानस्वभाव। जैसे आँख दूर (वर्ती) पदार्थ को एकमेक हुए बिना भिन्न रहकर देखती है; उसी प्रकार ज्ञान बन्ध, मोक्ष और उदय निर्जरा, निर्जरा... आहाहा! मोक्ष को भी ज्ञान भिन्न रहकर जानता है। ज्ञानस्वभाव ऐसा है, कि वह तो जाननेवाला है। जब जाननेवाले स्वभाव की बात आवे, तब वह तो बन्ध से भी भिन्न है, मोक्ष से भी भिन्न है, निर्जरा से भी भिन्न है। भिन्न है, इतना नहीं परन्तु उसे जानता है, भिन्नरूप से जानता है। आहाहा! ३२० गाथा। यह अपने यहाँ तक आ गयी है।

केवल ज्ञानस्वभाववाला आत्मतत्त्व होने से कर्म के बन्ध को, मोक्ष को, कर्म के मोक्ष को। आहाहा! **कर्म के उदय को तथा निर्जरा को मात्र...** दूर रहकर जैसे आँख देखती है, उसी प्रकार पर में मिले बिना दूर रहकर ज्ञान उन्हें जानता है, उन्हें करता नहीं, मोक्ष को करता नहीं। आहाहा!

एक ओर प्रवचनसार ४७ नय में यह अधिकार आता है कि राग का कर्ता वह आत्मा ज्ञानी है और राग का भोक्ता वह ज्ञानी है। ४७ नय में। ४७ नय है न? प्रवचनसार। कर्ता और भोक्ता, वह ज्ञानी आत्मा है। आहाहा! और वहाँ तो यहाँ तक कहा है कि व्यवहार से भी मोक्ष होता है, निश्चय से भी होता है, ऐसा भी कहा है। प्रवचनसार ४७ नय। आहाहा! वहाँ तो क्रियानय से भी मोक्ष होता है, ज्ञाननय से भी होता है, ऐसी दोनों बातें ली है। क्योंकि वहाँ ज्ञान की अकेली जानने की बात (ली है)। इस अपेक्षा से आत्मा जितना राग में परिणमता है, उतना कर्ता है, उस क्रिया का करनेवाला है, उस क्रिया का वेदनेवाला है, उस क्रिया का भोगनेवाला है।

मुमुक्षु : यहाँ इनकार क्यों किया ?

पूज्य गुरुदेवश्री : यहाँ तो ज्ञानप्रधान बात है। जाननेवाला अकेला भिन्न है, यह बतलाना है और वहाँ तो कहा कि जघन्य ज्ञानभाव से परिणमे। है न ? आस्रव अधिकार में देखो! १७०-१७१।

चउविह अणेयभेयं बंधंते णाणदंसणगुणेहिं।
समए समए जम्हा तेण अबंधो त्ति णाणी दु।।१७०।।

समय-समय में ज्ञानी को भी 'णाणदंसणगुणेहिं' बन्धन है। १७० गाथा। १७१ में स्पष्ट (कहा)

जम्हा दु जहण्णादो णाणगुणादो पुणो वि परिणमदि।
अण्णत्तं णाणगुणो तेण दु सो बंधगो भणिदो।।१७१।।

१७१। ज्ञानी 'बंधगो भणिदो' यहाँ बन्ध को जानता है, ऐसा कहा। यह विवक्षा है। गौण-मुख्य करके विवक्षा है। यहाँ तो स्पष्ट बात है, देखो! **णाणगुणादो पुणो वि परिणमदि सो बंधगो भणिदो।** आहाहा! और १७२ में तो कहा।

दंसणणाणचरित्तं जं परिणमदे जहण्णभावेण।
णाणी तेण दु बज्झदि पोग्गलकम्मेण विविहेण।।१७२।।

जघन्य अर्थात् चौथे, पाँचवें, छठवें में। तब ज्ञानी नये कर्म से बँधता है। छठे गुणस्थान में; दसवें तक बँधता है। दसवें गुणस्थान में छह कर्म बँधते हैं। इतना जरा लोभ का अंश है, उसे गिनकर छह बँधते हैं, ऐसा कहा। यहाँ ज्ञानप्रधान कथन से आत्मा ज्ञानस्वभावी है, ऐसा कहकर मोक्ष का भी कर्ता आत्मा नहीं है—ज्ञान नहीं है। आहाहा! नय अधिकार में राग और द्वेष और दया, दान के परिणाम भी, ज्ञानी परिणमता है; इसलिए कर्ता है, ऐसा कहा। नय अधिकार।

मुमुक्षु : दोनों शास्त्र में अन्तर आया।

पूज्य गुरुदेवश्री : कुछ अन्तर नहीं आया, वहाँ तो अंश से अंश है, यह बतलाया। अंश उसका अपना है, वह पर का कहाँ है ? अपनी जघन्यता में जब तक राग है, वह कहीं कर्म के कारण नहीं है, स्वयं के कारण से है - ऐसा बतलाना है। इसमें भी अर्थ में आयेगा,

कर्म की बलजोरी से। यहाँ इसमें आयेगा। कमजोरी से कर्म के उदय से बलजोरी से कार्य होता है, उसमें कर्ता-भोक्ता परमार्थ से नहीं कहलाता। आहाहा!

यहाँ कहा कि, जघन्यभाव से परिणमे, उसे पुद्गल का बन्धन होता है आस्रव। ४७ नय में कहा कि ज्ञानी समकिती, छठवें गुणस्थान में मुनि, वह भी राग का कर्ता और राग का भोक्ता है। ४७ नय। किस अपेक्षा? उसमें लिखा है, कहीं है अवश्य, विवक्षा की विचित्रता। वहाँ आस्रव में विवक्षा की विचित्रता है, ऐसा शब्द है। २७६ पृष्ठ पर नीचे। (१७२ गाथा का भावार्थ) ऐसा कि एक ओर बन्धनरहित कहना... २७६ पृष्ठ, नीचे अन्त में, एकदम अन्त में।... यह विविक्षा का विचित्रपना है। यह कथन की शैली है। आहाहा! विविक्षा का विचित्रपना है, कथन पद्धति की विचित्रता है। वस्तु का स्वभाव जैसा है, वैसा जघन्य उत्कृष्ट वर्णन करते हैं।

ज्ञानी को जब जघन्य परिणमन होता है, तब बन्ध होता है और वेदन भी है। तथा जब बन्ध को गिनना न हो, ज्ञान को गिनना हो, तब चौथे गुणस्थान से बन्धन नहीं और आस्रव नहीं, ऐसा कहते हैं। वैसे दसवें गुणस्थान तक लोभ का उदय है, तो छह कर्म दसवें में बाँधता है, दसवें गुणस्थान में छह कर्म बाँधता है। विचित्रता, विवक्षा की कथन की पद्धति किस अपेक्षा से है, वह नहीं जाने तो गड़बड़ खड़ी हो जाए, गड़बड़ खड़ी हो।

यहाँ (१७२ गाथा के भावार्थ में) कहा न? **जब तक क्षायोपशमिक ज्ञान है, तब तक अबुद्धिपूर्वक (चारित्रमोह का) राग होने पर भी, बुद्धिपूर्वक राग के अभाव की अपेक्षा से ज्ञानी के निरास्रवत्व कहा है और अबुद्धिपूर्वक राग का अभाव होने पर तथा केवलज्ञान प्रगट होने पर सर्वथा निरास्रवत्व कहा है। यह, विवक्षा की विचित्रता है।** आहाहा!

यहाँ तो ऐसा कहते हैं। वहाँ तो जघन्यभाव से परिणमता है, तब तक बन्धन है— ऐसा भी कहा। यहाँ कहते हैं ज्ञान, मोक्ष को करता नहीं। आहाहा! जैसे वस्तु से आँख दूर रहकर देखती है; उसी प्रकार ज्ञानस्वभाव भगवान परचीज़ में मिले बिना, राग और शरीर आदि ज्ञेय में मिले बिना ज्ञान दूर रहकर मोक्ष को और निर्जरा को जानता है। उदय को तो जाने, बन्ध को तो जाने, परन्तु मोक्ष को, निर्जरा को जानता। आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई! तत्त्व ऐसी सूक्ष्म बात है।

यहाँ यह कहा। **कर्म के बन्ध को तथा मोक्ष को,...** आहाहा! कर्म का बन्ध होता तो है, उसे जानता है। मोक्ष होता है, पर्याय में कर्म नाश हो जाते हैं। उन्हें करता नहीं, नाश करता नहीं, जानता है। कर्म के उदय को, कर्म का उदय आवे, उसमें रागादि हों, उन्हें जानता है, दूर रहकर जानता है। आहाहा! और **निर्जरा को...** धर्म की पर्याय जो निर्जरा है शुद्धि की वृद्धि। संवर, वह शुद्धि की उत्पत्ति; निर्जरा, वह शुद्धि की वृद्धि; मोक्ष, वह शुद्धि की पूर्णता। परन्तु उस शुद्धि की वृद्धि को ज्ञानी केवल जानता है, उसे करता नहीं। आहाहा!

मुमुक्षु : दूसरे गुण की पर्याय को करे कैसे? ज्ञान तो जाने।

पूज्य गुरुदेवश्री : दूसरे करते हैं। यहाँ तो ज्ञान को अकेला बतलाना है, मिथ्यात्व के अभाव में। बाकी तो ज्ञान राग को करता है। जघन्यभाव बतलाया न? आस्रव। जघन्यभाव से चौथे, पाँचवें, छठवें में परिणमता है, तब तक राग करता है, राग का बन्धन है, कर्म बँधते हैं। ४७ नय का वर्णन चला है न? ४७ नय में कर्ता-भोक्ता (कहा है)। प्रवचनसार। कर्ता-भोक्ता आत्मा है राग और द्वेष का, ज्ञानी स्वयं कर्ता और भोक्ता है।

मुमुक्षु : १८९ गाथा में ऐसा कहा है कि वह शुद्धनय का कथन है।

पूज्य गुरुदेवश्री : इस समय शुद्धनय का हो, तब कर्ता-भोक्ता का निषेध करते हैं परन्तु ज्ञान बतलाना हो, तब कर्ता-भोक्ता तू है—ऐसा बतलाते हैं। प्रवचनसार में कर्ता-भोक्ता नय है। वहाँ तो ४७ नय में तो बहुत डाला है। व्यवहार डाला, निश्चय डाला, व्यवहार से मोक्ष, निश्चय से मोक्ष—ऐसा वहाँ कहा है। क्रिया से मोक्ष, ज्ञान से मोक्ष। लो! वहाँ तो ऐसा कहा। राग की क्रिया से मोक्ष, ऐसा वहाँ कहा। क्रियानय, ज्ञाननय। ज्ञान से मोक्ष होता है, उसमें साथ का साथ लिया है। दो नयों के साथ में ज्ञान का विचित्रपना है, इस प्रकार उसे ज्ञान में लेना चाहिए।

यहाँ तो मोक्ष को भी करता नहीं। आहाहा! और निर्जरा को करता नहीं और कर्म के उदय को तथा बन्ध को भी करता नहीं। है अवश्य, बन्ध होता है, उदय होता है, निर्जरा होती है, कर्म टलते हैं। जानता है। आहाहा! यहाँ तक तो कल आया था।

भावार्थ : ज्ञान का स्वभाव नेत्र की भाँति दूर से जानना है;... देखा? ज्ञान प्रभु चैतन्यमूर्ति (का स्वभाव) नेत्र की भाँति दूर से जानने का है। परचीज़ में मिले बिना

(जानने का है)। यद्यपि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को तीन काल में स्पर्श नहीं करता। एक शरीर को आत्मा स्पर्श नहीं करता। यहाँ तो सम्यग्दृष्टि आत्मा जब तक जघन्य भाव से परिणमता है, तब तक उसे उत्कृष्ट भाव का वेदन नहीं है; इसलिए उसे उतना बन्धन और आस्रव है। एक उस नय को बराबर जानना चाहिए। ४७ नय में यह नय लिया है। ४७ नय में तो क्रियानय से मोक्ष है, ऐसा भी कहा है। उसका अर्थ कि एक नय से ऐसी योग्यता गिनी है, योग्यता गिनी। आहाहा! ज्ञाननय से मोक्ष होता है, क्रियानय से मोक्ष होता है, व्यवहार से मोक्ष होता है, निश्चय से मोक्ष होता है—ऐसा ४७ नय में वर्णन है, प्रवचनसार। यह ज्ञान की शैली से समझाया है। वह है, राग है ज्ञानी को, जब तक वीतराग न हो, तब तक ज्ञान है, राग है, राग का वेदन है; इसलिए कर्ता-भोक्ता वहाँ सिद्ध किया है। समकिती को कर्ता-भोक्ता, हों! आहाहा! समकिती कर्ता-भोक्ता है, ऐसा सिद्ध किया है। ४७ नय।

मुमुक्षु : समयसार में तो समकिती जानता है, नहीं करता—ऐसा आता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : कहा न, दो प्रकार है। दोनों विवक्षाभेद है। विवक्षा की विचित्रता है। वहाँ पहले तो जघन्य भी दोष उसका है, ऐसा बतलाना है और यहाँ तो बन्ध और मोक्ष का जाननेवाला है, ऐसा बतलाना है। आहाहा!

ज्ञान का स्वभाव नेत्र की भाँति दूर से जानना है; देखा? भाषा। यहाँ यह लेना है। 'आस्रव अधिकार' में तो जघन्यभाव से परिणमता है, उसे कर्म का बन्धन होता है। चौथे, पाँचवें, छठवें को। ऐसा मूल पाठ, मूल पाठ है।

यहाँ **ज्ञान का स्वभाव नेत्र की भाँति दूर से जानना है; इसलिए ज्ञान के कर्तृत्व-भोक्तृत्व नहीं है।** जानता है। जाननेवाला करे ज्या और भोगे क्या? आहाहा! जाननेवाला ऐसा चैतन्यस्वभाव, वह करे क्या और भोगे क्या? वह तो जानता है। वह बात यहाँ ली है। मोक्ष को जाने, निर्जरा को जाने। वह निर्जरा को करे नहीं, मोक्ष को करे नहीं, मोक्ष के मार्ग को सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को भी ज्ञानी करता नहीं। किस अपेक्षा से? आहाहा! चार बोल लिये हैं न जयसेनाचार्य की टीका में? बन्ध और मोक्ष तथा बन्ध-मोक्ष के कारण को आत्मा करता नहीं। मोक्ष के कारण को—मोक्षमार्ग को करता नहीं, बन्ध को करता नहीं, बन्ध के कारण को करता नहीं। विवक्षा से भिन्न-भिन्न शैली है।

यहाँ कहते हैं कि **ज्ञान का स्वभाव नेत्र की भाँति दूर से जानना है;..** इसलिए

करना-भोगना ज्ञान को नहीं है। आहाहा! कर्ता-भोक्तापना मानना, वह अज्ञान है। राग का कर्तापना या मोक्ष और निर्जरा का कर्तापना भी नहीं है। आहाहा! चैतन्यस्वरूप, ज्ञानस्वरूप प्रभु! होता है, उसे जानता है। वह वास्तव में तो होता है, उसे दूर से जानता है। जैसे आँख दूर से देखती है, वैसे दूर से जाने, ऐसा उसका वास्तविक मूल स्वभाव है। आहाहा!

कर्तृत्व-भोक्तृत्व मानना अज्ञान है। अब यहाँ ४७ नय में कहा कि समकिती कर्ता-भोक्ता है। प्रवचनसार अन्तिम ४७ नय आता है न? इसमें (समयसार में) ४७ शक्ति आती है। यह तो समयसार है। इसमें समयसार (में) ४७ शक्ति वर्णन की है। प्रवचनसार में अन्त में ४७ नय वर्णन किये हैं। कर्ता नय से, **आत्मद्रव्य कर्तानय से रंगरेज की भाँति...** रंग, रंग का करनेवाला है। **रागादि परिणाम का करनेवाला है (अर्थात् आत्मा कर्तानय से रागादि परिणामों का कर्ता है, जैसे रंगरेज रंग के काम को करनेवाला है, उसी प्रकार)।** सम्यग्ज्ञान की बात है। इसी प्रकार भोक्ता। **आत्मद्रव्य भोक्तृनय से सुख-दुःखादि का भोगनेवाला है।** प्रवचनसार। आहाहा!

मुमुक्षु : समयसार ऐसा कहे कि कर्ता-भोक्ता नहीं है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह किस प्रकार? दृष्टि की प्रधानता से कर्ता-भोक्ता नहीं है परन्तु ज्ञान जानता है, कि यह परिणमन मुझमें है, राग का परिणमन मुझमें है और राग का वेदन मुझे है, वेदन जड़ को नहीं। कर्ता और भोक्ता समकिती को लिया है। ४७ नय। आहा! है?

मुमुक्षु : अकर्ता-अभोक्ता भी लिया है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह तो सामने है ही न। यह तो कर्ता है। कर्ता भी है और अकर्ता भी एक साथ है। कर्तानय साथ में है राग का और जाननेवाला एक साथ अकर्ता। भोक्ता राग का एक साथ, अभोक्ता उसके साथ एक साथ है। नय एक साथ होते हैं। सूक्ष्म बात है। यह ४७ नय का विस्तार आ गया है, पुस्तक प्रकाशित होगी, तब बाहर आयेगा। मुम्बई से प्रकाशित हो रही है।

कर्तृत्व-भोक्तृत्व मानना अज्ञान है। यहाँ कोई पूछता है कि - 'ऐसा तो केवलज्ञान है।' केवलज्ञान में करना-भोगना कुछ नहीं होता। तुम सीधा इतना अधिक ठहराते हो? **'और शेष तो जब तक मोहकर्म का उदय है, तब तक सुखदुःख-रागादिरूप परिणमन होता**

ही है,...' ज्ञानी को भी होता है। तब तक तो सुख और दुःख; सुख-दुःख क्या? विकारी, हों! आत्मा का सुख नहीं। विकारी सुख और विकारी दुःख रागादिरूप परिणमन होता ही है। आहाहा! '**तथा जब तक दर्शनावरण, ज्ञानावरण तथा वीर्यान्तराय का उदय है, तब तक अदर्शन,...**' समकिती को अभी अदर्शन भाव है। **अज्ञान...** अज्ञान भी है अर्थात् विपरीत ज्ञान, ऐसा नहीं; कम ज्ञान। **तथा असमर्थता...** वीर्य के कारण असमर्थपना '**होती ही है; तब फिर केवलज्ञान होने से पूर्व ज्ञातादृष्टापन कैसे कहा जा सकता है?**' यह प्रश्न पूछा है।

उसका समाधान :- पहले से ही यह कहा जा रहा है कि जो स्वतन्त्रयतया करता-भोगता है, वह परमार्थ से कर्ता-भोक्ता कहलाता है। हम इस विवक्षा से कहते हैं। स्वतन्त्ररूप से कर्ता। अपना मानकर स्वतन्त्ररूप से कर्ता-भोक्ता होता है, उसे हम कर्ता-भोक्ता कहते हैं। ज्ञानी अपना मानता नहीं, इसलिए उसे कर्ता-भोक्ता ज्ञान की अपेक्षा से नहीं कहते। परन्तु ४७ नय की अपेक्षा से ज्ञानी स्वयं राग का कर्ता-भोक्ता स्वयं अपना है। उसका कर्ता-भोक्ता कोई दूसरी चीज़ है नहीं। आहाहा! कितना अन्तर! एक ओर कहे मोक्ष और मोक्ष का कर्ता नहीं और एक ओर कहे कि राग का कर्ता ज्ञानी। आहाहा! बतलाया है। यहाँ यही पूछा है। स्वतन्त्ररूप से करे और भोगे इस अपेक्षा से हमने कहा है।

स्वतन्त्रयतया करता-भोगता है, वह परमार्थ से कर्ता-भोक्ता कहलाता है। इसलिए जहाँ मिथ्यादृष्टिरूप अज्ञान का अभाव हुआ, वहाँ परद्रव्य के स्वामित्व का अभाव हो जाता है... परद्रव्य का स्वामीपना, राग का स्वामीपना समकिती को नहीं है। आहाहा! तथा एक ओर मोक्ष का कर्ता नहीं है। सूक्ष्म बात है, भाई! स्याद्वाद मार्ग है, यह कहीं एकान्त मार्ग नहीं है। सब नय इसे एक समय में वर्तते हैं। एक ही समय में ४७ नय वर्तते हैं। आहाहा!

इसलिए जहाँ मिथ्यादृष्टिरूप अज्ञान का अभाव हुआ, वहाँ परद्रव्य के स्वामित्व का अभाव हो जाता है और तब जीव ज्ञानी होता हुआ स्वतन्त्रतया किसी का कर्ता-भोक्ता नहीं होता,... स्वतन्त्ररूप से यह राग ठीक है, राग सुखरूप है, मुझे सुखरूप होता है, ऐसी बुद्धि से कर्ता नहीं होता। **तथा अपनी निर्बलता से कर्म के उदय की बलवत्ता से...** आहाहा! लो! एक ओर कहे कर्म को आत्मा स्पर्श नहीं करता, आत्मा को कर्म स्पर्श नहीं करते। एक

द्रव्य दूसरे द्रव्य को तीन काल में स्पर्श नहीं करता। समयसार की तीसरी गाथा। स्वद्रव्य अपने धर्म को चूमता है, पर्याय को। पर को स्पर्श नहीं करता। यह अँगुली इस अँगुली को स्पर्श नहीं करती, कर्म आत्मा को स्पर्श नहीं करते, आत्मा कर्म को तीन काल में स्पर्श नहीं करता। आहाहा! एक रजकण इस दूसरे रजकण को स्पर्श नहीं करता। तीसरी गाथा।

प्रत्येक द्रव्य अपने गुण और पर्याय को चूमता है, अन्य द्रव्य की किसी भी पर्याय को वह स्पर्श ही नहीं करता। आहाहा! पूरे दिन यह... यह प्रश्न हुआ था वहाँ राजकोट। यह चलता है न? पैर जमीन को स्पर्श नहीं करता। यह चलता है, उसमें पैर जमीन को को स्पर्श नहीं करता। आहाहा! क्योंकि जमीन और पैर के बीच अभाव है, अत्यन्त अभाव है। वह पैर अपनी क्रिया से, वह ऐसे-ऐसे गति करता है और अपने आधार से गति करता है, जमीन के आधार से नहीं। अरर! ऐसी बात बैठना। छहों द्रव्य को समय-समय में पर्याय में षट्कारकपना परिणमन स्वतन्त्र होता है।

यहाँ कहते हैं कि ज्ञानी को **अपनी निर्बलता से कर्म के उदय की बलवत्ता से जो कार्य होता है...** आता है, **वह परमार्थदृष्टि से उसका कर्ता-भोक्ता नहीं कहा जाता।** परमार्थदृष्टि से कहलाता नहीं। **और उस कार्य के निमित्त से कुछ नवीन कर्मरज लगती भी है...** कर्म तो दसवें गुणस्थान तक बँधते हैं। आहाहा! दसवें गुणस्थान में भी वहाँ छह कर्म बँधते हैं, एक आयुष्य और मोह नहीं। जरा अबुद्धिपूर्वक लोभ का भाग है न? ध्यान में है, आनन्द में है, उपयोग अन्दर में है, जरा सा लोभ का भाग अभी बाकी है; इसलिए दसवें गुणस्थान में भी यह छह कर्म का बन्धन है। आहाहा! यहाँ कहते हैं कि समकिती को बन्धन नहीं है। वह मिथ्यात्व की अपेक्षा से बात की है। मिथ्यात्व, वह संसार है और उसके कारण अनन्त संसार भोगना पड़ता है, ऐसी दृष्टि से यहाँ बात की है। मिथ्यात्व जाने के बाद चारित्रमोह के कारण जो दोष उत्पन्न होता है, उसका बन्धन है, उसका वेदन है परन्तु यहाँ मिथ्यात्व जाने के बाद उसकी गिनती गिनी नहीं है। कहा न!

और उस कार्य के निमित्त से कुछ नवीन कर्मरज लगती भी है... धर्मी को भी **तो भी, उसे यहाँ बन्ध में नहीं गिना जाता।** देखा? क्यों?—कि **मिथ्यात्व है, वही संसार है।** अव्रत, प्रमाद और कषाय गौण कर डाले हैं। एक ओर चौदहवें गुणस्थान तक असिद्ध है। असिद्ध की जो व्याख्या आती है, उदय भाव के २१ बोल, तत्त्वार्थसूत्र। चौदहवें गुणस्थान

में असिद्ध है और यहाँ (कहे) मिथ्यात्व जाने के बाद आत्मा सिद्ध सदृश है। चौदहवें गुणस्थान में असिद्ध है, ऐसा पाठ २१ उदय के बोल में है। 'तत्त्वार्थसूत्र' (में) और यहाँ सिद्ध सदृश है। मिथ्यात्व गया, वहाँ सिद्ध सदृश है। अनन्त संसार का कारण गया, इस अपेक्षा से कहने में आया है। बाकी अभी संसार है। आहाहा!

मिथ्यात्व है, वही संसार है। भाषा देखो! अब ऐसे एक ओर बन्ध के पाँच कारण (कहे)—मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय और योग। बन्ध के कारण पाँच। और यहाँ कहते हैं **मिथ्यात्व है, वही संसार है।** इसका मुख्यपना बतलाना है और अव्रत, प्रमाद, कषाय का बन्ध है, उसे गौणरूप से है, अभावरूप से नहीं, उसे गौणरूप से रखकर 'नहीं है' ऐसा कहा।

मिथ्यात्व के जाने के बाद संसार का अभाव ही होता है। आहाहा! भ्रान्ति गयी और अखण्डानन्द प्रभु चैतन्यस्वरूप, आनन्द का सागर दृष्टि में आया, पूर्ण परमात्मा दृष्टि में आया, इस अपेक्षा से उसे मिथ्यात्व का नाश हुआ; इसलिए उसे संसार का अभाव हुआ—ऐसा कहा। एक ओर चौदहवें (गुणस्थान) तक संसार है, ऐसा कहा। चौदहवें गुणस्थान तक संसार है। आहाहा! असिद्ध कहो या संसार कहो। सिद्ध को संसार नहीं है। चौदहवें तक संसार है। उदय भाव है न जरा, चार अघातिकर्म का, उतना असिद्ध भाव है, असिद्ध भाव कहो या संसार कहो। यहाँ संसार का अभाव चौथे में कहते हैं। **मिथ्यात्व के जाने के बाद संसार का अभाव ही होता है। समुद्र में एक बूँद की गिनती ही क्या है?** देखो! बिन्दु है, परन्तु समुद्र में बिन्दु की गिनती क्या? वह लिया है यहाँ। और आस्रव में, नय में सब जगह....

मुमुक्षु : बिन्दु-बिन्दु जितना....

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, बिन्दु। संसार है न उतना? अभी राग, अव्रत, प्रमाद भाव है न। अव्रत भाव है, प्रमाद भाव है, कषाय भाव है, योग भाव है। (यद्यपि) समकित में अव्रत, प्रमाद, कषाय और योग का अंश नाश होता है। अंश, हों! जैसे मिथ्यात्व का नाश होता है उसी प्रकार अव्रत का, प्रमाद का, कषाय का, वैसे योग... योग.. योग... वह तेरहवें में योग, उसका आंशिक नाश होता है। आहाहा! क्योंकि सम्यग्दर्शन होने पर जितने अनन्त गुण हैं, उनका एक अंश व्यक्तरूप से प्रगट होता है, इसलिए वह कम्पन गुण जो योग का

है, उसका भी एक अंश प्रगट होता है, अकम्पपना (प्रगट होता है)। आहाहा!

मुमुक्षु : सर्व गुणांश वह सम्यक्त्व।

पूज्य गुरुदेवश्री : सर्व गुणांश वह समकित। रहस्यपूर्ण चिट्ठी में लिखा है, ज्ञानादि अनन्त गुण समकिती को आंशिक प्रगट है, केवली को पूर्ण प्रगट है। रहस्यपूर्ण चिट्ठी, टोडरमलजी।

यहाँ यह कहते हैं। आहाहा! **और इतना विशेष जानना चाहिए...** दूसरा पैराग्राफ। **केवलज्ञानी तो साक्षात् शुद्धात्मस्वरूप ही हैं...** आहाहा! **और श्रुतज्ञानी भी शुद्धनय के अवलम्बन से आत्मा को ऐसा ही अनुभव करते हैं; प्रत्यक्ष और परोक्ष का ही भेद है।** केवली को प्रत्यक्ष है और श्रुतज्ञानी को परोक्ष है। **इसलिए श्रुतज्ञानी को ज्ञान-श्रद्धान की अपेक्षा से ज्ञाता-दृष्टापन ही है...** श्रुतज्ञानी को श्रद्धा-ज्ञान की अपेक्षा से ज्ञाता-दृष्टापना है **और चारित्र की अपेक्षा से प्रतिपक्षी कर्म का जितना उदय है...** समकिती को। आहाहा! **उतना घात है...** आहाहा! एक ओर (कहते हैं) मोक्ष का कर्ता नहीं, एक ओर कहे समकिती को भी अभी, छठवें गुणस्थान में भी अभी घात है। उदय आता है, उसमें जुड़ता है। जुड़ता है; नहीं जुड़ता तो अकेली निर्जरा हो जाए, तो उदय रहे ही नहीं। आहाहा!

प्रतिपक्षी कर्म का जितना उदय है... आहाहा! एक ओर बाहुबली और भरत युद्ध करते हैं और समकित की अपेक्षा से उन्हें बन्ध और आस्रव नहीं है, ऐसा कहा जाता है। आहाहा! एक ओर दसवें गुणस्थान तक लोभ का उदय है, इसलिए उसे छह कर्म का बन्धन कहते हैं। आहाहा! क्या अपेक्षा-विवक्षा, कथन की शैली न जाने और एकान्त खींचे तो वह तो मिथ्यात्व हो जाए। आहाहा! युद्ध करे युद्ध, दो भाई समकिती हैं। उस युद्ध में विकारी भाव आता होगा या नहीं? विकारी भाव आये बिना कहीं युद्ध होता है? तथापि उन्हें बन्धन है, वह जितना विकार है, उसका बन्धन है, वेदन है।

वेदन के तीन प्रकार हैं। मिथ्यादृष्टि को अकेला दुःख का वेदन है, चाहे जैसा त्यागी हो, पंच महाव्रतधारी हो, दृष्टि मिथ्यात्व है—जब तक राग वह मैं और यह मैं, तब तक अकेला दुःख (भोगता है)। केवली को अकेला सुख है। आहाहा! और साधक को सुख और दुःख दोनों हैं। समझ में आया? दोनों का वेदन है। केवली को अकेले आनन्द का वेदन है, अकेला आनन्द। भले असिद्ध भाव है परन्तु आनन्द में कमी नहीं और जिसकी

श्रद्धा में एक छोटा शल्य जरा रह गया, उसे पूर्ण दुःख ही है। अंश भी सुख नहीं है और सम्यग्दृष्टि होने के पश्चात् सुख भी है; जितना स्व का आश्रय लिया, उतना सुख है, जितना अभी पर का आश्रय रह गया है, उतना दुःख है। आहाहा!

यहाँ यह कहते हैं **चारित्र की अपेक्षा से प्रतिपक्षी...** यह तो समकित की और ज्ञान की अपेक्षा से ज्ञाता-दृष्टा कहा। परन्तु **चारित्र की अपेक्षा से प्रतिपक्षी कर्म का जितना उदय है, उतना घात है...** समकिती को भी उतना घात है। आहाहा! छठवें गुणस्थान में भी संज्वलन का उदय है, उतना शान्ति का घात है। आहाहा! मुनि को संज्वलन का चौथे कषाय का उदय है, उतना अभी शान्ति का घात है। आहाहा! **जितना उदय है, उतना घात है और उसे नष्ट करने का उद्यम भी है।** देखा? घात होता है और उसे नाश करने का प्रयत्न भी है; रखने का प्रयत्न नहीं। आहाहा! ऐसी बातें हैं।

जब कर्म का अभाव हो जायेगा, तब साक्षात् यथाख्यातचारित्र प्रगट होगा और तब... कर्मबन्धन रूकेगा। **तब केवलज्ञान प्रगट होगा।** मूल तो ऐसा है, कहते हैं। **यहाँ सम्यग्दृष्टि को जो ज्ञानी कहा जाता है, सो वह मिथ्यात्व के अभाव की अपेक्षा से कहा जाता है।** मिथ्यात्व का नाश हुआ, इस अपेक्षा से उसे ज्ञानी कहा जाता है। **यदि ज्ञानसामान्य की अपेक्षा लें तो सभी जीव ज्ञानी हैं...** ठीक! सब जीव भगवान है। सब ज्ञानस्वरूप भगवान है, अभव्य भी भगवान है। द्रव्य तो ज्ञानस्वरूप है न? यह तो पर्याय में अन्तर है। आहाहा! क्या कहा?

सभी जीव ज्ञानी हैं... उसमें कोई बाकी रखा? आहाहा! कषाई जो हमेशा हजारों गायों को काटता है, तथापि वह ज्ञानी है। आहाहा! किस प्रकार से? अन्दर द्रव्यस्वरूप ज्ञान है, इस अपेक्षा से। पर्याय से तो मरकर नरक में जाएगा। आहाहा! सर्व जीव ज्ञानी कहे न? उसमें कोई बाकी रखा? आहाहा! उसका द्रव्य जो है, वह तो शुद्ध चैतन्यघन है, वे सब भगवान हैं। आहाहा! कहा नहीं? द्रव्यसंग्रह का नहीं कहा? द्रव्यसंग्रह में एक श्लोक है, (उसकी) टीका। अवाय, अवाय। धर्मध्यान के बोल हैं न? विपाक, अवाय। उसमें अवाय में ऐसा बोल है कि मैं तो आठों कर्म रहित होनेवाला हूँ।

धर्मी विचार करता है। परन्तु सभी भगवान होओ। आठों कर्मों का नाश करके तुम

भगवान होओ। वृहद्द्रव्यसंग्रह में है। धर्मध्यान के चार बोल हैं न? उसमें एक अवाय बोल है। विपाकविचय, संस्थानविचय, अपायविचय, उसमें अपायविचय के अर्थ में है। मैं तो आठ कर्म से रहित होनेवाला हूँ ही, परन्तु सभी जीव आठ कर्म रहित होओ, प्रभु! कोई दुःखी न होओ। कोई संसार में न रहो। ऐसा पाठ है। किसी को नरक और निगोद का दुःख ठीक लगता है? तो समकिती को ऐसा लगे कि, यह करे और नरक में जाए तो ठीक? दूसरे के दुःख को वेदन, वह भी करना नहीं चाहता। आहाहा!

दूसरे जीव भी कर्मों का नाश करके भगवान होओ! भगवानरूप से तो बुलाया है। ७२ गाथा, इसकी—समयसार की ७२ गाथा। तीन बार भगवान.. भगवान.. भगवान... (कहकर बुलाया है)। पुण्य और पाप अशुचि है, मैल है। ७२ गाथा में है। तब भगवान आत्मा निर्मलानन्द है, ऐसा भगवान आत्मा लिया है, ७२ गाथा। आहाहा! पुण्य और पाप अजीव है, जड़ है, भगवान आत्मा चैतन्य है, दूसरा बोल है। तीन बार भगवान आया। पुण्य-पाप, वह दुःख है। आहाहा! तब भगवान (आत्मा) आनन्द है, वह अनाकुल आनन्द का नाथ है। आहाहा! ऐसा दो के बीच विभाजन करके भिन्न करने के लिये ७२ गाथा में (कहा है)। भगवान अमृतचन्द्राचार्य ऐसा बोलते हैं। भगवान आत्मा! आहाहा!

पुण्य और पाप के मैल से भिन्न है, इसलिए भगवान है। पुण्य-पाप, वे जड़ हैं, क्योंकि पुण्य-पाप में चैतन्य का अंश नहीं है। वह पुण्य-पाप स्वयं (अपने को) नहीं जानते तथा दूसरे को नहीं जानते, दूसरे के द्वारा जानने में आते हैं, इसलिए जड़ हैं। आहाहा! गजब बात है, भाई! पुण्य-पाप दुःखरूप है; भगवान अनाकुल आनन्दस्वरूप है। भगवान रूप से तीन (बार बुलाया है)। टीका में तीन में भगवान बुलाया है। मूल पाठ है। अमृतचन्द्राचार्य। आहाहा! और अवाय में यही कहा है कि मैं तो आठ कर्मरहित होनेवाला हूँ ही। सब भगवान (आत्मा) आठ कर्मरहित होओ, कोई कर्मसहित न रहो। आहाहा! धर्मी ऐसी भावना भाता है। ऐसी भावना नहीं भाता की, वह मरकर नरक में जाए और दुर्गति में जाए... आहाहा!

मुमुक्षु : कुन्दकुन्दाचार्यदेव कहते हैं कि मेरे दुश्मन को भी द्रव्यलिंग न हो।

पूज्य गुरुदेवश्री : कोई है ही नहीं दुश्मन-बुश्मन। दुनिया में कोई शत्रु है ही नहीं,

सब द्रव्यस्वभाव भगवान है। द्रव्य से तो सब साधर्मी हैं, द्रव्यदृष्टि से तो सब साधर्मी हैं, पूरी दुनिया। आहाहा! कठिन बातें हैं, बापू! पर्यायदृष्टि से देखे तो चौदहवें गुणस्थान तक अभी असिद्ध है। आहाहा! कितना अन्तर?

यहाँ कहते हैं कि **यहाँ सम्यग्दृष्टि को जो ज्ञानी कहा जाता है, सो वह मिथ्यात्व के अभाव की अपेक्षा से कहा जाता है। यदि ज्ञानसामान्य की अपेक्षा लें तो सभी जीव ज्ञानी हैं...** देखो! सर्व जीव ज्ञानी हैं। सब ज्ञानस्वरूप ही है, उसे आत्मा कहते हैं। और राग-द्वेष आदि होते हैं, वह तो पुण्य-पापतत्त्व है। नव तत्त्व में वह तो पुण्य-पाप और आस्रवतत्त्व है, भगवान तो ज्ञान तत्त्व है। आहाहा! **सभी जीव ज्ञानी हैं और विशेष की अपेक्षा लें तो जब तक किंचित्मात्र भी अज्ञान है, तब तक ज्ञानी नहीं कहा जा सकता...** आहाहा! **जैसे सिद्धान्त ग्रन्थों में भावों को वर्णन करते हुए, जब तक केवलज्ञान उत्पन्न न हो, तब तक अर्थात् बारहवें गुणस्थान तक अज्ञानभाव कहा है।** आहाहा! बारहवें गुणस्थान तक अज्ञान अर्थात् मिथ्यात्व वह नहीं, अल्प ज्ञान। बारहवें में अज्ञान कहा और समकिती को ज्ञान कहा। यह अपेक्षा है, बापू! यह एकान्त नहीं खींचा जाता। किस अपेक्षा से कहा है? आहाहा!

बारहवें गुणस्थान तक अज्ञानभाव (कहा)। अज्ञान अर्थात्? मिथ्यात्व नहीं, अल्प ज्ञान, कम / अल्प ज्ञान को वहाँ अज्ञान कहा है। **इसलिए यहाँ जो ज्ञानी-अज्ञानीपन कहा है वह सम्यक्त्व-मिथ्यात्व की अपेक्षा से ही जानना चाहिए।** चारित्रदोष बीच में आता है, उसे यहाँ नहीं लेना। चारित्रदोष तो फिर छठवें गुणस्थान में है और दसवें गुणस्थान में है। आहाहा! चारित्र का दोष तो दसवें गुणस्थान तक छह कर्म बँधते हैं। ग्यारह से बन्ध... ग्यारह, बारह गुणस्थान से बन्ध, अबन्ध है। एक ईर्यापथ आस्रव बँधता है। **केवलज्ञान उत्पन्न न हो तब तक अर्थात् बारहवें गुणस्थान तक अज्ञानभाव कहा है।** यह अज्ञान अर्थात् मिथ्यात्व नहीं, हों! अज्ञान अर्थात् विपरीत भाव नहीं, अज्ञान अर्थात् अल्प ज्ञान। परिपूर्ण नहीं, इतनी अपेक्षा से अज्ञान कहा है। **इसलिए यहाँ जो ज्ञानी-अज्ञानीपन कहा है, वह सम्यक्त्व-मिथ्यात्व की अपेक्षा से ही जानना चाहिए।** समकित और मिथ्यात्व की अपेक्षा से जानना चाहिए। सब अपेक्षा से उसे अज्ञानी कहा, ऐसा नहीं जानना। आहाहा! स्पष्टीकरण कैसा सरस किया है। आहाहा!

कलश–१९९

अब, जो–जैन साधु भी–सर्वथा एकान्त के आशय से आत्मा को कर्ता ही मानते हैं, उनका निषेध करते हुए, आगामी गाथा का सूचक श्लोक कहते हैं –

(अनुष्टुप्)

ये तु कर्तार–मात्मानं पश्यन्ति तमसा तता:।
सामान्य–जनवत्तेषां न मोक्षोऽपि मुमुक्षुताम् ।।१९९।।

श्लोकार्थ : [ये तु तमसा तता: आत्मानं कर्तारम् पश्यन्ति] जो अज्ञान–अन्धकार से आच्छादित होते हुए आत्मा को कर्ता मानते हैं, [मुमुक्षताम् अपि] वे भले ही मोक्ष के इच्छुक हों, तथापि [सामान्यजनवत्] सामान्य (लौकिक) जनों की भाँति [तेषां मोक्ष: न] उनकी भी मुक्ति नहीं होती।।१९९।।

श्लोक - १९९ पर प्रवचन

अब, जो–जैन साधु भी–सर्वथा एकान्त के आशय से आत्मा को कर्ता ही मानते हैं,... छह काय की दया का पालनेवाला हूँ—ऐसा माने, वह भी मिथ्यादृष्टि है। जैसे अन्यमति ईश्वर को कर्ता मानता है, वैसे यदि तू छह काय की दया पाल सके तो कर्ता हुआ, तू भी मिथ्यादृष्टि हुआ। आहाहा! ईश्वर कर्ता नहीं, उसी प्रकार छह द्रव्य की दया तू पाल नहीं सकता क्योंकि वह तो परद्रव्य है। परद्रव्य की दया पाल नहीं सकता परन्तु दया का भाव आवे, वह भी हिंसा है। गजब बात है। पुरुषार्थसिद्धियुपाय में पाठ है कि दया का भाव, वह हिंसा है। पुरुषार्थसिद्धियुपाय, अमृतचन्द्राचार्य। आहाहा!

अब यहाँ कहते हैं कि दया से धर्म होता है। स्वदया। अपना (आत्मा) आनन्दनाथ, राग के आस्रव से भिन्न है, ऐसा भान हुआ। भले थोड़ी आस्रव चीज़ रह गयी परन्तु राग और पुण्य से भिन्न मेरी चीज़ है, वह मैं हूँ; राग और पुण्य मेरी चीज़ नहीं है। मेरी चीज़ होवे तो वह मुझसे भिन्न पड़े नहीं; भिन्न पड़े, वह मेरी चीज़ नहीं। ज्ञान और आनन्द वह कभी भिन्न नहीं पड़ते। आहाहा! राग और द्वेष तो भिन्न पड़ जाते हैं, इसलिए मेरी चीज़ नहीं है। ऐसा ज्ञानी जानते हैं, उसे ज्ञानी कहने में आता है, ऐसा कहते हैं।

जैन साधु भी–सर्वथा एकान्त के आशय से आत्मा को कर्ता ही मानते हैं, उनका निषेध करते हुए, आगामी गाथा का सूचक श्लोक कहते हैं– जैन के अतिरिक्त दूसरे ईश्वर आदि को कर्ता मानते हैं, कोई देवी-देवता को कर्ता मानते हैं और जैन का साधु छह काय की दया को पाल सकता हूँ, ऐसा मानता है, वे दोनों कर्ता हैं। आहाहा! यह कहते हैं। १९९ श्लोक।

ये तु कर्तार–मात्मानं पश्यन्ति तमसा ततः।
सामान्य–जनवत्तेषां न मोक्षोऽपि मुमुक्षुताम्॥१९९॥

जो अज्ञान–अन्धकार से आच्छादित होते हुए आत्मा को कर्ता मानते हैं, वे भले ही मोक्ष के इच्छुक हों, तथापि सामान्य (लौकिक) जनों की भाँति... सामान्य लौकिक जैसे ईश्वर को कर्ता मानते हैं और मिथ्यादृष्टि हैं, उसी प्रकार हमारे जैन के साधु भी या कोई जैन नाम धरानेवाले परद्रव्य की क्रिया कर सकता हूँ, (ऐसा माने), वे सब ईश्वर कर्ता माननेवाले जैसे हैं। आहाहा! अपना राग-द्वेष करे, कमजोरी है तब तक, परन्तु पर को तो किंचित् स्पर्श भी नहीं करता। यह छह काय के जीव के शरीर, उन्हें यह जीव स्पर्श नहीं कर सकता, स्पर्श किये बिना उन्हें मारे किस प्रकार? आहाहा! भारी कठिन। अग्नि पानी को स्पर्श नहीं करती और पानी गर्म होता है। गजब बात है। अग्नि पानी को स्पर्श नहीं करती। क्योंकि दोनों के बीच अत्यन्त अभाव है, दो द्रव्य भिन्न हैं। आहाहा!

मुमुक्षु : चूल्हे पर ऐसा का ऐसा अग्नि बिना रखे रहो...

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन, रखे कौन? और हटावे कौन? चूल्हा ही धूल है। उसके ऊपर रहना, वह भी उसकी जड़ की पर्याय की योग्यता हो तो रहे। रखनेवाला कहे कि मैं उसे रखूँ (तो वह) मिथ्यात्व भाव है। आहाहा! यहाँ ईश्वर के साथ डाला है। जैसे ईश्वर कर्ता माननेवाले हैं, वैसे हमारे साधु और गृहस्थ परद्रव्य की किसी भी पर्याय को मैं कर सकता हूँ... आहाहा! मिथ्यादृष्टि है। ईश्वर के कर्तापने के साथ के, ईश्वर के कर्तापने के साथ का वह है। आहाहा!

मुमुक्षु : ईश्वर कर्तावादी माननेवाले तो गृहीत मिथ्यादृष्टि हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह भले गृहीत परन्तु यह मिथ्यात्व की बात है न।

वे भले ही मोक्ष के इच्छुक हों, तथापि सामान्य (लौकिक) जनों की... जो ईश्वर को (कर्ता) माननेवाले हैं, कर्ता तो कोई है नहीं तो भी कर्ता मानते हैं, उनकी **भाँति उनकी भी मुक्ति नहीं होती।** पर को कर्ता माने, अपनी पर्याय में राग-द्वेष का कर्ता जाने, वह अलग बात है परन्तु पर को कुछ स्पर्श करके, कुछ करूँ, एक जरा परमाणु की पर्याय करूँ। एक परमाणु दूसरे परमाणु को स्पर्श नहीं करता उसमें। आहाहा! एक यह जीव इस शरीर को कभी स्पर्शता नहीं है। यह जीव कर्म को कभी स्पर्शता नहीं है, छुआ नहीं है; कर्म जीव को छुआ नहीं है। आहाहा! मात्र अपनी दृष्टि में विपरीतता सेवन करता है और मानता है कि मैं उसे जिलाता हूँ या उसे मार सकता हूँ, तो उसकी तो कर्ताबुद्धि है। विशेष कहेंगे....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ३९३, श्लोक - १९९, गाथा - ३२१ से ३२३ शनिवार, ज्येष्ठ शुक्ल १०
दिनाङ्क - २४-०५-१९८०

समयसार, १९९ कलश है। **अब, जो-जैन साधु भी-सर्वथा एकान्त के आशय से आत्मा को कर्ता ही मानते हैं,...** व्यवहारचारित्र पालता हो, व्यवहार समकिती कहलाता हो परन्तु निश्चय आत्मज्ञान बिना शुभ क्रिया के कर्ता होते हैं और छह काय के जीव की रक्षा कर सकता हूँ, छह काय के जीव की रक्षा—दया पाल सकता हूँ, यह मान्यता मिथ्यात्व है, यह कहते हैं। वह **कर्ता ही मानते हैं, उनका निषेध करते हुए, आगामी गाथा का सूचक श्लोक कहते हैं-**

ये तु कर्तार-मात्मानं पश्यन्ति तमसा ततः।
सामान्य-जनवत्तेषां न मोक्षोऽपि मुमुक्षुताम्॥१९९॥

जो अज्ञान-अन्धकार से (ढँक गये) आच्छादित होते हुए... आहाहा! **आत्मा को कर्ता मानते हैं,...** आत्मा ज्ञानस्वरूप है, उसे राग का कर्ता और छह काय जीव की दया का पालनेवाला मानते हैं। आहाहा! ऐसे तो कहा जाता है, छह काय के पीहर और छह काय के रक्षक। संवत्सरी पत्र में लिखते थे। यहाँ कहते हैं, छह काय का रक्षक माने, छह काय

का दया पालनेवाला माने, छह काय को रखता हूँ—ऐसा माने, वह ईश्वर कर्ता माननेवाले जैसा कर्ता है। आहाहा! मिथ्यादृष्टि है।

आत्मा को कर्ता मानते हैं, वे भले ही मोक्ष के इच्छुक हों, तथापि सामान्य (लौकिक) जनों की भाँति उनकी भी मुक्ति नहीं होती। और पुराने समयसार नाटक में इसका ऐसा अर्थ किया है। **हृदय के अन्ध अज्ञानी जीव मिथ्यात्व से व्याकुल होकर मन में अनेक प्रकार के झूठे विकल्प उत्पन्न करता है। और एकान्त पक्ष ग्रहण करके आत्मा को कर्म का कर्ता मानकर नीची गति का पन्थ पकड़ता है।** उन्होंने इस प्रकार लिया है। यह व्यवहार समकित, ऐसा लिया है। वास्तव में तो निश्चय बिना व्यवहार होता नहीं परन्तु देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा (है, इसलिए) व्यवहार समकिती गिना है। **व्यवहार समकिती भावचारित्र बिना...** देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा आदि बराबर करे, व्यवहार समकित बराबर हो। आहाहा! परन्तु भावचारित्र के बिना, अन्तर आनन्द की रमणता बिना, अतीन्द्रिय आनन्द की श्रद्धा-ज्ञान और रमणता बिना **बाह्य चारित्र को स्वीकार करके...** बाह्य चारित्र— पंच महाव्रत व्यवहार; पंच महाव्रत निश्चय है, वह तो अन्तर स्वरूप से है। वह बात तो नियमसार में आ गयी है। पंच महाव्रत निश्चय है, वह तो आत्मा में रमणता है, आत्मा में रमणता, वह निश्चय पंच महाव्रत है और व्यवहार पंच महाव्रत, वह विकल्प है। उन व्यवहार पंच महाव्रत को पालते हुए **शुभक्रिया से कर्म का कर्ता कहलाता है।** जरा भाषा व्यवहार समकिती इसे भाषा ली है। **वह मूर्ख मोक्ष को तो चाहता है, परन्तु निश्चयसम्यक्त्व बिना संसारसमुद्र से पार नहीं उतरता।** यह १९९ कलश का अर्थ किया है। **सामान्य (लौकिक) जनों की भाँति उनकी भी मुक्ति नहीं होती।** अब गाथा।

गाथा - ३२१-३२३

लोयस्स कुणदि विण्हू सुरणारयतिरियमाणुसे सत्ते।
समणाणं पि य अप्पा जदि कुव्वदि छव्विहे काए।।३२१।।

लोयसमणाणमेयं सिद्धंतं जइ ण दीसदि विसेसो।
लोयस्स कुणइ विण्हू समणाण वि अप्पओ कुणदि।।३२२।।

एवं ण को वि मोक्खो दीसदि लोयसमणाण दोण्हं पि।
णिच्चं कुव्वंताणं सदेव-मणुयासुरे लोए।।३२३।।

लोकस्य करोति विष्णुः सुरनारकतिर्यङ्मानुषान् सत्त्वान्।
श्रमणानामपि चात्मा यदि करोति षड्विधान् कायान्।।३२१।।

लोकश्रमणानामेकः सिद्धान्तो यदि न दृश्यते विशेषः।
लोकस्य करोति विष्णुः श्रमणानामप्यात्मा करोति।।३२२।।

एवं न कोऽपि मोक्षो दृश्यते लोकश्रमणानां द्वयेषामपि।
नित्यं कुर्वतां सदेव-मनुजासुरान् लोकान्।।३२३।।

ये त्वात्मानं कर्तारमेव पश्यन्ति ते लोकोत्तरिका अपि न लौकिकतामतिवर्तन्ते; लौकिकानां परमात्मा विष्णुः सुरनारकादिकार्याणि करोति, तेषां तु स्वात्मा तानि करोतीत्य-पसिद्धान्तस्य समत्वात्। ततस्तेषा-मात्मनो नित्यकर्तृत्वाभ्युपगमात् लौकिकानामिव लोकोत्तरिकाणामपि नास्ति मोक्षः।।३२१-३२३।।

अब, इसी अर्थ को गाथा द्वारा कहते हैं-

ज्यों लोक माने 'देव, नारक आदि जीव विष्णु करे'।
त्यों श्रमण भी माने कभी, 'षट्काय को आत्मा करे'।।३२१।।

तो लोक-मुनि सिद्धांत एक हि, भेद इसमें नहिं दिखे।
विष्णु करे ज्यों लोकमत में, श्रमणमत आत्मा करे।।३२२।।

इस भाँति लोक मुनी उभय का मोक्ष कोई नहिं दिखे।
जो देव, मानव, असुर के त्रयलोक को नित्यहि करे।।३२३।।

गाथार्थ : [लोकस्य] लोक के (लौकिक जनों के) मत में [सुरनारकतिर्यङ्-मानुषान् सत्त्वान्] देव, नारकी, तिर्यंच, मनुष्य-प्राणियों को [विष्णुः] विष्णु [करोति] करता है; [च] और [यदि] यदि [श्रमणानाम् अपि] श्रमणों (मुनियों) के मन्तव्य में भी [षड्विधान् कायान्] छह काय के जीवों को [आत्मा] आत्मा [करोति] करता हो [यदि लोकश्रमणानाम्] तो लोक और श्रमणों का [एकः सिद्धान्तः] एक ही सिद्धान्त हो गया, [विशेषः न दृश्यते] उनमें कोई अन्तर दिखायी नहीं देता; (क्योंकि) [लोकस्य] लोक के मत में [विष्णुः] विष्णु [करोति] करता है [श्रमणानाम् अपि] और श्रमणों के मत में भी [आत्मा] आत्मा [करोति] करता है। (इसलिए कर्तृत्व की मान्यता में दोनों समान हुए)। [एवं] इस प्रकार, [सदेवमनुजासुरान् लोकान्] देव, मनुष्य और असुर लोक को [नित्यं कुर्वताम्] सदा करते हुए (अर्थात् तीनों लोक के कर्ताभाव से निरन्तर प्रवर्तमान) ऐसे [लोकश्रमणानां द्वेषाम् अपि] वे लोक और श्रमण-दोनों का भी [कोऽपि मोक्षः] कोई मोक्ष [न दृश्यते] दिखायी नहीं देता।

टीका : जो आत्मा को कर्ता ही देखते-मानते हैं, वे लोकोत्तर हों तो भी लौकिकता को अतिक्रमण नहीं करते; क्योंकि, लौकिकजनों के मत में परमात्मा विष्णु देवनारकादि कार्य करता है, और उन (लोकोत्तर भी मुनियों) के मत में अपना आत्मा वे कार्य करता है- इस प्रकार (दोनों में) *अपसिद्धान्त की समानता है। इसलिए आत्मा के नित्य कर्तृत्व की उनकी मान्यता के कारण, लौकिकजनों की भाँति, लोकोत्तर पुरुषों (मुनियों) का भी मोक्ष नहीं होता।

भावार्थ : जो आत्मा को कर्ता मानते हैं, वे भले ही मुनि हो गये हों, तथापि वे लौकिकजन जैसे ही हैं; क्योंकि, लोक ईश्वर को कर्ता मानता है और उन मुनियों ने आत्मा को कर्ता माना है - इस प्रकार दोनों की मान्यता समान हुई। इसलिए जैसे लौकिकजनों को मोक्ष नहीं होती। उसी प्रकार उन मुनियों भी मुक्ति नहीं है। जो कर्ता होगा, वह कार्य के फल को भी अवश्य भोगेगा और जो फल को भोगेगा, उसकी मुक्ति कैसी?

---

* अपसिद्धान्त=मिथ्या अर्थात् भूल भरा सिद्धान्त।

गाथा -३२१-३२३ पर प्रवचन

लोयस्स कुणदि विण्हू सुरणारयतिरियमाणुसे सत्ते।
समणाणं पि य अप्पा जदि कुव्वदि छव्विहे काए।।३२१।।

लोयसमणाणमेयं सिद्धंतं जइ ण दीसदि विसेसो।
लोयस्स कुणइ विण्हू समणाण वि अप्पओ कुणदि।।३२२।।

एवं ण को वि मोक्खो दीसदि लोयसमणाण दोण्हं पि।
णिच्चं कुव्वंताणं सदेव-मणुयासुरे लोए।।३२३।।

ज्यों लोक माने 'देव, नारक आदि जीव विष्णु करे'।
त्यों श्रमण भी माने कभी, 'षट्काय को आत्मा करे'।।३२१।।

टीका में नहीं आता। टीका में समुच्चय लिया है। छह काय नाम नहीं दिये। और यह तो खास छह काय की दया पालता है, छह काय की रक्षा करता है। पर की रक्षा करता है, यह तो ईश्वरकर्ता है—ऐसा तू कर्ता हुआ। आहाहा! जैसे ईश्वर पर को रखता है, बनाता है; वैसे छह काय के जीव की तूने रक्षा की, दया पालन की और रखा, (ऐसा मानता है तो) मिथ्यादृष्टि है। ईश्वर कर्ता माननेवाले की भाँति तू भी उनके जैसा मिथ्यात्वी है। भले व्यवहार से तुझे देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा बाहर से हो, व्यवहारचारित्र शुभ क्रिया (हो) परन्तु भावचारित्र के बिना अन्तर सम्यग्दर्शन निश्चय स्वभाव की दृष्टि, अनुभव, तदुपरान्त स्वरूप की रमणता, ऐसे निश्चयचारित्र के बिना मुक्ति तीन काल में किसी को नहीं होती।

ज्यों लोक माने 'देव, नारक आदि जीव विष्णु करे'।
त्यों श्रमण भी माने कभी, 'षट्काय को आत्मा करे'।।३२१।।

लोयसमणाणमेयं सिद्धंतं जइ ण दीसदि विसेसो।
लोयस्स कुणइ विण्हू समणाण वि अप्पओ कुणदि।।३२२।।

एवं ण को वि मोक्खो दीसदि लोयसमणाण दोण्हं पि।
णिच्चं कुव्वंताणं सदेव-मणुयासुरे लोए।।३२३।।

इसी प्रकार यहाँ

तो लोक-मुनि सिद्धांत एक हि, भेद इसमें नहिं दिखे।
विष्णु करे ज्यों लोकमत में, श्रमणमत आत्मा करे।।३२२।।
इस भाँति लोक मुनी उभय का मोक्ष कोई नहिं दिखे।
जो देव, मानव, असुर के त्रयलोक को नित्यहि करे।।३२३।।

आहाहा! **जो आत्मा को कर्ता ही देखते हैं,...** छह काय के नाम इसमें नहीं दिये। सिद्धान्तकार का आशय तो छह काय की दया पर है। यह जगत के प्राणी छह काय की दया... पत्र में लिखते थे। तुम्हारे संवत्सरी (के बाद) जब एक-दूसरे को लिखते न? छह काय के पीयर, छह काय के रक्षक। खबर है? पत्र में लिखते। संवत्सरी के दिन एक-दूसरे के प्रति क्षमापना का पत्र लिखते हैं न? छह काय के रक्षक, छह काय के पीयर, ऐसा साधु को भी लिखते हैं। वे छह काय के पीयर और रक्षक जैसे अन्य कर्ता ईश्वर मानते हैं, वैसे यह तू भी उनकी रक्षा करनेवाला, वह पूरे लोक का कर्ता है, ऐसा मिथ्यादृष्टि है। आहाहा!

मुमुक्षु : ऐसा लिखे पत्र में कि तू मिथ्यादृष्टि है।

पूज्य गुरुदेवश्री : मिथ्यादृष्टि है ही, वह कहीं लिखते हैं? यह तो लिखे, छह काय के पीयर और छह काय के रक्षक। यह तो ऐसा लिखते थे स्थानकवासी में, श्वेताम्बर में दूसरी बात।

जो आत्मा को कर्ता ही देखते हैं, कर्ता 'ही' देखते हैं,... आहाहा! **मानते हैं, वे लोकोत्तर हों...** लोकोत्तर अर्थात् जैन के साधु हो। लौकिकपना सब छोड़ दिया हो, जैन के साधु होकर जैन के श्रद्धा-ज्ञान और जैन की व्यवहारचारित्र की क्रिया बराबर पालते हों। इससे उसे कहा लोकोत्तर हो, लोकोत्तर हो। लोक से उसकी जाति अलग (हो)। छह काय की दया पाले, व्रत चुस्त पाले, तथापि उसकी दया पालता हूँ—ऐसा भाव (रखता है)। **तो भी लौकिकता को अतिक्रमण नहीं करते;...** जैसे लौकिक ईश्वर को कर्ता मानते हैं, वैसे यह जैन के साधु होकर भी छह काय के जीव को पाल सकता हूँ, दया पाल सकता हूँ, रक्षा कर सकता हूँ, तो जो मिथ्यादृष्टि सामान्य हैं, वैसे **लौकिकता को अतिक्रमण नहीं करते;...** लौकिक जैसे यह मानते हैं, वैसे यह माननेवाले एक ही हैं, दोनों में कुछ अन्तर नहीं है।

भारी कठिन पड़े। कहो, पहले नहीं लिखा जाता था? गुलाबचन्दभाई! छह काय के पीयर लिखा जाता था, छह काय के रक्षक। आहाहा! साधु को लिखे तो ऐसा लिखते। आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि यह कर्ता माने वह लोकोत्तर हो। कहा न अपने समयसार? व्यवहार क्रियाकाण्ड हो, बराबर चुस्त व्यवहार समकित हो, ऐसा कहते हैं। निश्चय बिना तो नहीं परन्तु उसे यहाँ कहा है। देव-गुरु-शास्त्र की बराबर श्रद्धा (होवे)। उसके लिये सिर काटे, देह टूटे तो भी अन्दर दूसरा न माने परन्तु यह सब बाहर के परद्रव्य की प्रतीति, अन्दर स्वद्रव्य की नहीं। आहाहा!

स्वद्रव्य जो अन्दर (है, वह) राग के विकल्प से भी पार है। ऐसे आत्मा को माने बिना उसके कर्तापने की बुद्धि नहीं जाती और कर्तापने के कारण... आहाहा! वह लोकोत्तर हो, जैन के साधु हो... आहाहा! दिगम्बर हो, पंच महाव्रत पालते हों... आहाहा! **तो भी लौकिकता को अतिक्रमण नहीं करते;...** लोक ईश्वर को कर्ता मानता है, वैसे यह छह काय का कर्ता मानता है। उस छह काय का (कर्ता) माने, वह पूरे लोक का कर्ता मानता है। एक भी पर को कर्ता माननेवाला है, उसकी बुद्धि में तो पूरे लोक का कर्तापना खड़ा है। आहाहा! कठिन बात है। आहाहा!

लौकिकता को अतिक्रमण नहीं करते; क्योंकि, लौकिकजनों के मत में परमात्मा विष्णु देवनारकादि कार्य करता है,... नारकी ईश्वर बनावे, ईश्वर के बिना पत्ता भी नहीं हिलता, ऐसा कहे। आहाहा! यह सुना हुआ है। एक बार गढडा में गये थे, (संवत्) १९६८ की बात है। गढडा में मन्दिर देखने अन्दर गये थे, वहाँ बाबा नहाते थे। वहाँ आगे देखने सब गये थे। उसे खबर थी कि यह साधु होनेवाला है। इसलिए वह साधु बोला, धोता था— वस्त्र धोता था, ईश्वर बिना कहीं पत्ता हिलेगा नहीं। पत्ता भले ईश्वर के बिना हिलेगा नहीं, ऐसा सुनाया। मैंने कहा अपने कहाँ इसकी बात करनी। गढडा का मन्दिर बहुत बड़ा है। बाबा बहुत रहते हैं।

यहाँ कहते हैं कि **लौकिकता को अतिक्रमण नहीं करते; क्योंकि, लौकिकजनों के मत में परमात्मा विष्णु देवनारकादि (चार गति) कार्य करता है, और उन (लोकोत्तर भी मुनियों) के मत में अपना आत्मा वे कार्य करता है...** यह छह काय शब्द जो पाठ में है, वह यहाँ नहीं डाला। उसका अर्थ इतना वह सबका कर्ता है। करनेयोग्य, छह काय के जीव

की दया पालनेयोग्य है, (ऐसा मानता है)। आहाहा! यह तो सब फेरफार पड़ जाता है। छह काय की रक्षा (करनेवाला) माने तो भी मिथ्यादृष्टि है। क्योंकि ईश्वर कर्ता कहे, यह पर को रखने की रक्षा को कहे, उनकी रक्षा कर सकता हूँ। आहाहा! ये दोनों समान कर्ता हुए। छह काय की रक्षा के करनेवालो, एकेन्द्रिय की रक्षा करनेवाले, त्रस की रक्षा करनेवाले, हम उनकी रक्षा करते हैं, वह पूरे लोक का कर्तापना (आता है)। क्योंकि उस प्रसंग में उसे उनका कर्ता माना, दूसरा प्रसंग हो तो भी पर का कर्ता है तो वहाँ भी उसका कर्ता मानेगा। इसलिए पूरे लोक का कर्ता यह मानता है। आहाहा! रामजीभाई! उसमें विष्णु कर्ता माने। रामजीभाई पटेल है, तुम्हारे राजकोट के। आहाहा! जगत को कठिन पड़ता है।

स्वतन्त्र चीज़ है, उसमें करे कौन? कर्ता मानना, वह महा मिथ्यात्व है, कहते हैं। आहाहा! यह हाथ हिले, उसका कर्ता होना, यह भी मिथ्यात्व है। क्योंकि वह परद्रव्य है। परद्रव्य की पर्याय परद्रव्य से होती है। आहाहा! आत्मा से नहीं। आहा! बोलने की यह भाषा भी आत्मा से (होती) नहीं। आहाहा! जो छह काय की जीव की रक्षा का करनेवाला माने, वह सब पदार्थ की पर्याय का कर्ता मानता है। आहाहा! कठिन बात... 'दया वह सुख की बेलड़ी, अरु दया वह सुख की खान, अनन्त जीव मुक्ति गये, दया के प्रमाण।' परन्तु किसकी दया? पर की दया पाल सकता नहीं, फिर प्रश्न कहाँ? यह मिथ्यादृष्टि व्यवहार चारित्र चुस्त हो, क्रियाकाण्ड बराबर करता हो, शुभभाव रखता हो, देव-गुरु-शास्त्र की श्रद्धा रखता हो परन्तु परजीव को मैं रख सकता हूँ—ऐसी मान्यता, वह ईश्वर को कर्ता माननेवाले की जैसी ही दोनों की समान मान्यता है। दोनों चार गति में कुपंथ में भटकनेवाले हैं। आहाहा!

मुमुक्षु : कर्ता न बनना, निमित्त होकर रहना।

पूज्य गुरुदेवश्री : निमित्त है, निमित्त तो तुम निमित्त होकर रहना, ऐसा नहीं। जहाँ होता हो, तब वहाँ निमित्त मैं हूँ, इतना। क्या कहा यह? जहाँ होता हो, उसकी रक्षा उसके कारण से वहाँ (होती हो) वहाँ मैं एक निमित्त हूँ, इतना माने। उसकी मैंने रक्षा की, इतना नहीं। बन्ध अधिकार में आता है कि मैं तो निमित्तमात्र हूँ। निमित्तमात्र का अर्थ वहाँ तो हुआ ही है। उसकी रक्षा तो उसके लिए हुई है परन्तु मैं तो निमित्तमात्र हूँ। निमित्त हूँ, इसलिए वहाँ रक्षा हुई है, तब तो दोनों एक हो गये। आहाहा! मैं निमित्त हूँ, इसलिए वहाँ रक्षा हुई,

यह तो वह का वही कर्ता हुआ। किन्तु जिस समय उसकी रक्षा उसके कारण से हुई, तब ज्ञानी मानता है कि मैं तो निमित्तमात्र हूँ। आहाहा! निमित्तकर्ता मानना, यह भी मिथ्यात्व है। निमित्तमात्र। उस काल में उसकी पर्याय होती है, उसकी उपस्थिति में मेरी उपस्थिति है, इसलिए मैं निमित्त कहलाता हूँ। बाकी मुझसे वहाँ हुआ है, ऐसा तीन काल में है नहीं तथा मैं उसका करनेवाला हूँ—ऐसा तीन काल में नहीं है। आहाहा!

(लोकोत्तर भी मुनियों) के मत में अपना आत्मा वे कार्य करता है–इस प्रकार अपसिद्धान्त... खोटा भूलयुक्त सिद्धान्त **(दोनों में) समानता है।** दोनों की एक समान बात है। आहाहा! छह काय के जीव ही जैन में है, अन्यत्र कहीं है नहीं। छह काय के जीव जैन में ही कहे, दूसरे में कहीं है नहीं। अब इन छह काय के जीव को मैं पाल सकता हूँ... आहाहा! वह मिथ्यादृष्टि है। विष्णु कर्ता की भाँति वह स्वयं ही विष्णु कर्ता है। आहाहा! दुनिया से कठिन लगे। इसने और जरा व्यवहार समकिती को रखा है। देव-गुरु-शास्त्र लिये हैं, व्यवहार बराबर पालता है, पंच महाव्रत की क्रिया बराबर करता है परन्तु मैं पर की रक्षा कर सकता हूँ, इस अभिप्राय से मिथ्यादृष्टि है। आहाहा!

इसलिए आत्मा के नित्य कर्तृत्व की उनकी मान्यता के कारण, लौकिकजनों की भाँति,... ईश्वर को, विष्णु को कर्ता माननेवाले की भाँति **लोकोत्तर पुरुषों का...** भाषा तो लोकोत्तर रखी। व्यवहार कहा है। इसलिए वे... लोकोत्तर, लोकोत्तर अर्थात् लोक से दूसरा पृथक् पड़ा हुआ, ऐसा लोकोत्तर में पुरुष, **वह (मुनियों) का भी मोक्ष नहीं होता।** वह भी कर्ता मानता है, तब तक मिथ्यादृष्टि है। आहाहा!

मुमुक्षु : मुनि की दया पालना या नहीं पालना?

पूज्य गुरुदेवश्री : पाल कहाँ सकता है (कि) वह पालना या नहीं पालना? वीतरागभाव करना, बस! यह करना, वह भी पर्याय से करना, द्रव्य से नहीं होता, पर्याय से। द्रव्य से होगा? द्रव्य तो ध्रुव है। यह कठिन बात है, भाई! वीतरागी पर्याय, रागरहित पर्याय, मिथ्यात्वरहित पर्याय स्वय करे, परिणमे, उस पर्याय का कर्ता व्यवहार से कहलाता है। पर्याय, पर्याय की कर्ता। निर्मल पर्याय, हों! आहाहा! मलिन पर्याय वहाँ नहीं है। आहाहा! मलिन पर्याय का कर्ता होवे तो वह तो वह की वही बात है। आहाहा! छह काय

की रक्षा करे, ईश्वर कर्ता माने या मलिन पर्याय का कर्ता माने, वह पूरी दुनिया का राग का कर्ता माननेवाला है। ऐसी बात है।

लौकिकजनों की भाँति, लोकोत्तर पुरुषों... भाषा तो (ऐसी है), हों! उसे लोकोत्तर पुरुष तो कहा। व्यवहार कहा न, इसलिए इन्होंने डाला न? व्यवहार समकिती डाला। क्रिया व्यवहार की बराबर करे, नग्नपना, दिगम्बरपना, पंच महाव्रत, पाँच समिति, तीन गुप्ति आचरण बराबर करे, तथापि कर्ता माने कि इस एकेन्द्रिय जीव को मैंने बचाया, मैंने बचाया, मुझसे यह रहा, रक्षा (हुई) तो वह मिथ्यादृष्टि है। कठिन काम है।

मुमुक्षु : भेदज्ञान का काम है।

पूज्य गुरुदेवश्री : वही वस्तु का स्वरूप है। यह कोई पक्ष-पन्थ नहीं है। वस्तु ऐसी है कि एक चीज़ दूसरी चीज़ को करे नहीं, ऐसी वस्तुस्थिति है, वह ऐसे, इस प्रकार से आचार्य कहते हैं। यह कोई पक्ष और पन्थ की बात नहीं है। चीज़ अनन्त है तो अनन्त में अनन्तरूप से कब रहे? कि एक चीज़ को दूसरी चीज़ स्पर्श नहीं करे और एक चीज़ दूसरी चीज़ को कुछ करे नहीं। आहाहा! समझ में आया इसमें?

भगवान ने जब अनन्त पदार्थ कहे तो अनन्त पदार्थ की व्याख्या इतनी, कि अनन्त हैं, वे अपने-अपने कारण से वह अनन्तपना रहा है। एक के कारण से दूसरा और दूसरे के कारण से तीसरा (होवे) तो अनन्त नहीं रह सकेंगे। यह तो पदार्थ के स्वभाव की यह बात है, यह कोई पक्ष की बात नहीं है। अनन्त परमाणु और अनन्त आत्मा है या नहीं? तो है तो एक जीव दूसरे जीव का क्या करे? वह जीव, वह भी अस्ति है या नहीं? आहाहा! एक जीव की पर्याय, दूसरे जीव की पर्याय, (पर्याय) बिना का वह जीव है? कोई द्रव्य निकम्मा है? निकम्मा अर्थात् कामरहित है, कामरहित अर्थात् पर्याय बिना का है? आहाहा! कोई द्रव्य वर्तमान में निकम्मा है? कोई भी ऐसा वर्तमान में, कोई भी वर्तमान में, अनन्त काल में कोई पदार्थ निकम्मा है? निकम्मा अर्थात् दूसरे को काम आवे ऐसा? ऐसा निकम्मा अर्थात् कि उसकी पर्याय के काम और कार्यरहित है? अनन्त पदार्थ जब अपनी पर्याय के कार्य का कर्ता है तो अनन्त-अनन्त रूप से स्वतन्त्र रहते हैं। आहाहा! परन्तु एक जीव छहकाय की रक्षा को पाल सकता हूँ, ऐसा माननेवाला अनन्त पदार्थ को अपने

कर्तारूप से मानता है। स्वयं ज्ञाता-दृष्टा है, ज्ञान-दर्शन मेरा स्वरूप है। यह ज्ञान-दर्शन करे क्या? आहाहा!

जाननेवाला-देखनेवाला करे क्या? यह अपने आ गया है पहले, इसके पहले। जैसे नेत्र दृश्य पदार्थ से भिन्न है, वह नेत्र भिन्न पदार्थ को, अग्नि को सुलगाता नहीं और अग्नि को बुझाता नहीं। आहाहा! ऐसे अग्नि को अनुभव नहीं करता। नेत्र से वह दूर पदार्थ है। उसी प्रकार इस ज्ञान से अनन्त पदार्थ दूर है। उस ज्ञान को दूर पदार्थ स्पर्श भी नहीं करते। आहाहा! जो पदार्थ दूर हैं, अपने अस्तित्व में नहीं हैं और उनके अस्तित्व में हैं, स्वयं के अस्तित्व से वे भिन्न अस्तित्व हैं, तो भिन्न अस्तित्व की किसी भी पर्याय को दूसरा भिन्न करे, (ऐसा नहीं होता।) ज्ञानचन्दजी! ऐसा है यह, कठिन काम है। आहाहा! फिर लोग एकान्त है, ऐसा कहकर (निकाल डालते हैं)। चाहे जैसे मानो, बापू! मार्ग यह है। आहाहा!

एक तो, एक पदार्थ दूसरे को स्पर्श नहीं करता—एक सिद्धान्त। तीसरी गाथा। एक पदार्थ दूसरे पदार्थ को स्पर्श नहीं करता। कर्म जीव को स्पर्श नहीं करते, जीव कर्म को स्पर्श नहीं करते। तो जीव कर्म को करे और कर्म जीव को विकार करावे, ऐसा वस्तु के स्वरूप में नहीं है। आहाहा! भारी कठिन काम। तथा एक जीव दूसरे अस्तित्ववाले तत्त्वों को, सत्ता रखनेवाले तत्त्वों को... तो सत्ता के तो तीन प्रकार—उत्पाद-व्यय और ध्रुव, अतः दूसरे पदार्थ भी सत्ता से, सत् से उत्पाद-व्यय और ध्रुव से हैं। उनका उत्पाद, दूसरा आत्मा उनका उत्पाद करे तो पर्याय को करे तो वह पर्याय बिना का सिद्ध हुआ, उसका कर्ता यह हुआ। आहाहा! घीया! बहुत सूक्ष्म बाते हैं। आहाहा! पर की पर्याय स्वयं करे, तब वह पर्याय बिना का था तो की? काल तो एक है। पर्याय बिना का, उत्पाद-व्यय और ध्रुव बिना का वह तत्त्व हो ही नहीं सकता। कोई भी परमाणु और जीव अपनी सत्ता के उत्पाद-व्यय और ध्रुव के सत्त्व से टिक रहे हैं। उनके उत्पाद-व्यय के लिये दूसरी सत्ता की आवश्यकता नहीं है। आहाहा!

मुमुक्षु : एक द्रव्य को दूसरे द्रव्य की आवश्यकता पड़ती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : बिल्कुल नहीं पड़ती। आवश्यकता नहीं पड़ती, कहा न कि उसकी सत्ता में उत्पाद-व्यय और ध्रुव तो उसका सत्त्व रखा है। प्रत्येक द्रव्य ने उत्पाद-व्यय-ध्रुव सत् रखा है। सत् द्रव्य लक्षणम्, उत्पाद-व्यय-ध्रुव उसका स्वरूप। तब उत्पाद-

व्यय... और ध्रुव तो भले कायम रहा परन्तु उत्पाद-व्यय बिना का कोई द्रव्य नहीं तो दूसरा द्रव्य उसके उत्पाद-व्यय को करे, यह पूरे लोक के उत्पाद-व्यय को करने का अभिमान है। आहाहा!

मुमुक्षु : उत्पाद न करे परन्तु उत्पाद में फेरफार करे।

पूज्य गुरुदेवश्री : फेरफार करे तो भी मिथ्यादृष्टि। फेरफार एक समय में फिरता नहीं। जिस समय में जिसका उत्पाद होना है, वह होना है, उल्टा-सीधा नहीं होता, उसका भी और तेरा (भी)। जिस समय पर्याय होनी है, वह बाद में हो और बाद की पहले हो— ऐसा तीन काल में नहीं है। जिस समय में जो पर्याय होनी है, उस समय में होनी है, उसके उत्पाद के कारण (होनी है)। आहाहा!

इसलिए ऐसा कहते हैं, **लौकिकजनों की भाँति, लोकोत्तर पुरुषों (मुनियों) का...** मोक्ष नहीं होता।

दो बात—सिद्धान्त के रहस्य की दो मुख्य बातें। एक तो एक तत्त्व दूसरे तत्त्व को स्पर्श नहीं करता और एक तत्त्व दूसरे की पर्याय को नहीं करता। क्योंकि पर्याय बिना का कोई द्रव्य तीन काल में नहीं है। यदि पर्याय बिना का नहीं है तो फिर किस पर्याय को करे? यह वस्तु का स्वरूप ही ऐसा है। यह कहीं पक्ष और पन्थ की बात नहीं है। आहाहा! जैनधर्म, वह कोई पक्ष नहीं, वाड़ा नहीं, पन्थ नहीं; वह तो वस्तुस्थिति जिस (प्रकार से) है, उस प्रकार से बताते हैं। वस्तु की स्थिति जिस प्रकार से है, उस प्रकार से बताते हैं। आहाहा! ऐसा सुना नहीं हो, उसे तो कठिन लगता है। ऐसे पूरे दिन हम यह करते हैं न! क्या करते हैं? भाई!

मुमुक्षु : वकालत कर-करके थक गये, आप कहते हो कुछ कर नहीं सकता।

पूज्य गुरुदेवश्री : मानता है (कि) करते हैं, वकालत हम करते हैं, भाषा-सलाह देते हैं। सलाह नहीं देते थे रामजीभाई? ढेबरभाई और सब आवे, तब सलाह देते थे। फिर एक महीने कैद में जाना पड़ा न?

मुमुक्षु : क्रिया फल बिना की होगी?

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु उसके कारण गये, ऐसा भी नहीं है। जिस पर्याय में परमाणु

परिणमे हैं, उस समय के काल में वे ही परमाणु उसके कर्ता हैं। उसका फल वापस कैद में जाना, वह उसका फल नहीं है। आहाहा! ऐसी बात है। जगत से अलग प्रकार है, बापू! ऐसा कि ऐसा गुनाह किया, इसलिए उस गुनाह के फलरूप से उसे आयेगा, उस गुनाह के रूप से उसका फल आयेगा—ऐसा नहीं है। उस समय में उसकी वैसी पर्याय होनी है, उस प्रकार से उसकी पर्याय होगी। गुनाह किया, इसलिए ऐसी पर्याय हुई—ऐसा भी नहीं है। आहाहा!

मुमुक्षु : उसका स्वकाल था इसलिए है।

पूज्य गुरुदेवश्री : सर्वत्र स्वकाल में ही उसकी पर्याय होती है। आहाहा!

मुमुक्षु : जैसी गति करे, वैसा उसे फल ही।

पूज्य गुरुदेवश्री : वह पर्याय करे, वैसी पर्याय हो, फल मिले—ऐसी बात यहाँ नहीं है। फल मिले, उस समय की पर्याय उसकी भिन्न-भिन्न है। इस पर्याय के कारण वह पर्याय हुई है—ऐसा नहीं है। क्या कहा? भाई! यहाँ शुभभाव से पंच महाव्रत पालन किये, इसलिए उसे देवगति मिली। देवगति की पर्याय हुई। (तो कहते हैं) नहीं। देवगति की पर्याय काल में वह पर्याय होनेवाली थी। आहाहा! ऐसी बात है। फल किसका? फल तो उस समय में है। एक गाथा में अपने आ गया है, भाई! १०२ गाथा। जिस समय में कर्ता है, उस समय में स्वयं भोक्ता-वेदता है। करता है, तब वेदता है। १०२ गाथा। भाई! कर्ता और वेदता। वस्तुस्थिति ऐसी है। आहाहा!

जिस समय में जो पर्याय कर्तारूप से हुई, वह स्वयं परिणमन की कर्ता। उस समय में उसका फल वेदन भी उसी समय में है। वेदन बाद में आवे, वह बाद की पर्याय, इसके कारण नहीं है। ज्ञानचन्दजी! ऐसी कठिन बात है, भाई!

मुमुक्षु : पुण्य करे तो पैसे मिलते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : उसके कारण धूल भी नहीं मिलते। आहाहा! वह तो पैसे के परमाणुओं के उस समय की उत्पाद की पर्याय यहाँ, यहाँ तक आनेवाली थी, वह आयी है। उसके कारण से आयी है, यह नहीं—पुण्य के कारण से आयी है, ऐसा नहीं। पूर्व का पुण्य है, इसलिए आयी है—ऐसा भी नहीं। आहाहा! बहुत अन्तर। पूरा जीवन बदल जाए।

यह तो पूरे जीवन को परिवर्तन करने की बात है। आहाहा! एकाध दो बात पकड़कर मान बैठे कि हम जैन हैं, बापू! यह जैनपना कोई वस्तु है।

'जिन सो ही आत्मा, अन्य सो ही कर्म, कर्म कटे जिन वचन से यही जिन वचन का मर्म।' आहाहा! यह भी समझ में आया, तब ऐसा कहा। बाकी कर्म का नाश हो, वह भी आत्मा से नहीं। कर्म नाश अर्थात्? कर्म की पर्याय अकर्मरूप परिणमे, उसे कर्म का नाश हुआ—ऐसा कहने में आता है। क्या कहा यह? आत्मा ने कर्म का नाश किया, ऐसा कभी बनता नहीं। नाश का अर्थ क्या? कि जो पर्याय कर्मरूप थी, वह कर्म स्वयं पलटकर अकर्मरूप होनी थी, वह अकर्मरूप होती है। आहाहा! सूक्ष्म बात है, प्रभु! आहाहा! प्रभु का मार्ग अलौकिक है। उसके पत्ते के मूल, उसका हृदय-पाताल जब तक नहीं ले, तब तक सत् (हाथ) नहीं आता। आहाहा! और सत् बिना उसे संसार नहीं मिटता। आहाहा!

यह यहाँ कहते हैं। **लौकिकजनों की भाँति, लोकोत्तर पुरुषों...** उसे लोकोत्तर तो कहा। भले मिथ्यादृष्टि है, पर का कर्ता मानता है, भटकनेवाला है परन्तु लोकोत्तर पुरुष कहा। किस अपेक्षा से? कि जैन के नाम का लोकोत्तर पुरुष जैन है। उनका साधु है, पंच महाव्रत पालता है, शुभ क्रिया करता है और... आहाहा! नंगे पैर चलता है, लोंच कराता है, इस अपेक्षा से उसे लोकोत्तर कहने में आया है, परन्तु है मिथ्यादृष्टि। आहाहा! यह लोंच की क्रिया भी मैं करता हूँ। अभी तो मेला इकट्ठा करते हैं लोंच करना हो तो परन्तु यह अंगुलियाँ मेरी (उनसे) ऐसे-ऐसे मैं करता हूँ, बाल को स्पर्श करती है, ऐसा भी नहीं और बाल निकलते हैं तो भी अंगुलियों से निकलते हैं, यह भी नहीं। भाई! ऐसा है, बापू! वस्तु ऐसी है। आहाहा! यह भी उसने कर्ता माना।

मुमुक्षु : शरीर में खुजली आवे तो खुजलाना या नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह स्पर्श नहीं करता न! यह हाथ उसे ऐसे स्पर्श नहीं करते। तेल लगावे, तेल शरीर को स्पर्श नहीं करता। आहाहा! ऐसी बातें। मार्ग भाई! कठिन है, भाई! और जिसका फल... आहाहा! भले उसका फल उसके काल में आवे, परन्तु उसका फल अनन्त आनन्द। आहाहा! मोक्ष अर्थात् अनन्त आनन्द। सहजानन्द की मूर्ति प्रभु, ऐसा जिसका फल, उसका कारण भी कैसा होगा! आहाहा! उसे कारण कहा जाता है। कारण से वह कार्य हुआ है, यह व्यवहार है, यह भी व्यवहार है। आहाहा! उस पर्याय का काल

ही था, जन्मक्षण (था)। उस पर्याय का जन्मक्षण उत्पाद, ध्रुव के कारण भी नहीं। आहाहा! प्रभु.. प्रभु.. प्रभु! इस जीव की रक्षा हुई, वह उत्पाद हुआ। वह उत्पाद दूसरे से तो नहीं परन्तु वह उत्पाद उसके ध्रुव से भी नहीं। ज्ञानचन्दजी! ऐसी बातें हैं, भगवान! आहाहा! मार्ग कठिन लगे। उसकी जो उत्पाद की पर्याय है, उसे ध्रुव की अपेक्षा नहीं है, उसे व्यय की अपेक्षा नहीं है। क्योंकि उत्पाद-व्यय और ध्रुव तीन सत् हैं। जैसे पर सत् है, उसे दूसरा नहीं करता, ऐसे तीनों ही सत् हैं, उसमें एक सत् दूसरे का नहीं करता। आहाहा! कहाँ तक ले गये! समझ में आया?

यह सत्—उत्पाद-व्यय और ध्रुव, ऐसा सत्। वह सत् भी अपने उत्पाद और ध्रुव की अपेक्षा नहीं रखता, उसे व्यय की अपेक्षा नहीं है, व्यय को उत्पाद की अपेक्षा नहीं है। उत्पाद को ध्रुव की और ध्रुव को उत्पाद की अपेक्षा नहीं है। तीनों सत्... सत्... सत्... सत्... सत्... आहाहा! एक-एक द्रव्य में एक समय में तीनों सत् हैं। सत् को कोई हेतु नहीं होता। आहाहा! कठिन काम है, प्रभु! ओहोहो! कहाँ का कहाँ ले गये!

यहाँ छह काय के (जीव की बात चलती है)। आहाहा! सत् है, और जिस समय का जिस पर्याय का सत् है, उस पर्याय का उसके सत् को दूसरा करे, उस पर्याय को उसके ध्रुव का भी आश्रय नहीं तो दूसरा उसके उत्पाद को करे, (यह तीन काल में है नहीं)। आहाहा! कितनों ने तो ऐसी बात सुनी भी नहीं होगी। वाडा में पड़े हों। जिस प्रकार की बात सुनकर मानी हो, वाडा पूरा करके चले जाएंगे। आहाहा!

भगवान तो यहाँ ऐसा कहते हैं, लोकोत्तर पुरुष भले हो। ऐसे जैन का साधु वह कैसा? ऐसे देखकर चले, देखकर निर्दोष आहार ले, पंच महाव्रत निरतिचार पाले, निरतिचार पाले। आहाहा! जिसका व्यवहार चुस्त, जिसे व्यवहार समकिती भी कहा। यहाँ लोकोत्तर कहा। आहाहा! परन्तु जो एक जीव दूसरे जीव की दया पाल सकूँ, यह स्त्री का आत्मा लड़के को बड़ा कर सकूँ, पाल सकूँ। नहीं? तो अपने आप बड़ा होगा बेचारा? छोटा लड़का हो, लो!

मुमुक्षु : मूल तत्त्व में अपवाद होवे तो अच्छा।

पूज्य गुरुदेवश्री : अपवाद तो निन्दा कहलाती है। अपवाद नहीं होता।

यहाँ तो एक ही सत्ता की सत् बात, सत् है। आहाहा! यहाँ अटका है कहाँ?

लोकोत्तर पुरुष... भाई! यहाँ (शब्द) प्रयोग किया है। आहाहा! '**परद्रव्यात्म-तत्त्वयोः कर्तृकर्मत्वसम्बन्धाभावे तत्कर्तृता कुतः।**' इसकी व्याख्या की। आहाहा! यह अँगुली भी ऐसे जो ऐसी होती है, उसकी जो यह पर्याय है, उसका कर्ता आत्मा तो नहीं परन्तु वह पर्याय उसके ध्रुव से, परमाणु का जो ध्रुव है, उससे पर्याय नहीं है; पर्याय, पर्याय से हुई है। आहाहा! दूसरों को कठिन लगे, क्या हो? परमात्मा का सत् ही ऐसा कोई है। उसमें एकान्त खींच जाए। किया जा सकता है, यह करते हैं।

एक बार यह तो वहाँ हुआ था। यह किया, लो! यह किया। ऐसा बोला था। चीमन चकु! है न अभी? चीमन चकु, मुम्बई, स्थानकवासी में। तुम कहते हो कि हाथ फिरा (नहीं सकता) यह हाथ घुमाया, लो! यहाँ बैठे थे और यहाँ बात हुई थी। ऐसे उसके स्थानकवासी के प्रमुख हैं। कहा, बापू! यह हाथ है, उसके परमाणु ऊँचे हुए हैं, वे आत्मा से नहीं। आत्मा, आत्मा की पर्याय से ऊँचा हुआ और यह शरीर, शरीर की पर्याय से ऊँचा हुआ। आहा! उसके बदले कहे, लो! हमने हाथ घुमाया। यहाँ बैठा था और कहा। वह इस मन्दिर के वर्ष (संवत) १९९७, ९६-९७। अरे रे! कठिन बात, प्रभु!

तेरा एक समय का जो सत् है, वह दूसरे समय में नहीं है। यह दूसरे समय में उसके कारण से नहीं है। आहाहा! एक समय की पर्याय का सत् है, वह उसके कारण से है। दूसरी पर्याय का सत् नहीं परन्तु वह पर्याय ध्रुव के कारण नहीं। आहाहा! गजब बात है। ज्ञानचन्दजी! ऐसी बात है, बापू! आहाहा! दूसरों को कठिन लगे।

उसमें तो बहुत लिखा है। उन्होंने कुछ कुपन्थ, ऐसी भाषा लिखी है। (समयसार नाटक, सर्वविशुद्धि द्वार, श्लोक-१०) **हृदय का अन्धा...** यह गाथा का अर्थ किया। **अज्ञानी जीव मिथ्यात्व से व्याकुल होकर मन में अनेक प्रकार के झूठे विकल्प उत्पन्न करता है...** आहाहा! कल्पनाएँ करता है (कि) उसका ऐसा करूँ और उसका ऐसा करूँ और इसका ऐसा हो... आहाहा! **झूठे विकल्प उत्पन्न करता है और एकान्त पक्ष ग्रहण करके आत्मा को कर्म का कर्ता मानकर नीच गति का पन्थ पकड़ता है।** आहाहा! नरक और निगोद की गति में जाएगा। अर..र..र..!

वह व्यवहारसम्यक्त्वी... यहाँ लोकोत्तर कहा। **भावचारित्र के बिना...** अन्तर वीतरागता बिना। उसमें तो राग की क्रिया का कर्ता और पर की क्रिया का कर्ता माने।

वीतराग चारित्र बिना, आहाहा! वीतरागी सम्यग्दर्शन और वीतरागी चारित्र के बिना **बाह्य चारित्र स्वीकार करके शुभ क्रिया से कर्म का कर्ता कहलाता है।** शुभ क्रिया का कर्ता मैं हूँ, महाव्रत का पालनेवाला मैं हूँ, इस राग का कर्ता माने, वह भी मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! **वह मूर्ख मोक्ष को तो चाहता है परन्तु निश्चय सम्यक्त्व के बिना संसार समुद्र से नहीं तिरता।** आहाहा! यह तो समयसार की टीका करनेवाले ने ऐसा कहा। आहाहा!

भावार्थ :– जो आत्मा को कर्ता मानते हैं,... इसमें अभी पर की पर्याय की बात है, अपनी पर्याय का कर्ता नहीं, यह बात अभी नहीं है। उसका अधिकार चले, तब उसका चले। अपनी पर्याय का भी कर्ता नहीं, यह ३२० गाथा, ३२० में आ गया न कल, परसों? मोक्ष को भी आत्मा नहीं करता, बन्ध को नहीं करता, उदय को नहीं करता, निर्जरा को नहीं करता। आहाहा!

मुमुक्षु : आत्मा तो अपने सन्मुख होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : सन्मुख होता है, वह स्वतन्त्र अपनी पर्याय से होता है। आहाहा! कठिन बात है। बहुत सरस बात है, बहुत अच्छी बात है। ज्ञानचन्दजी! बराबर आये हैं और बात अच्छी आयी। भाग्यशाली को तो कान में पड़े, ऐसी बात आयी है। आहाहा! ऐसी बात है, बापू! अरे! सत् सुनने को मिलता नहीं, उसका विचार और मन्थन कब करे? आहाहा!

जो आत्मा को कर्ता मानते हैं, वे भले ही मुनि हो गये हों... साधु दिगम्बर सन्त हुए हों। श्वेताम्बर के उनको तो जैन में मुनि कहा ही नहीं जाता। श्वेताम्बर के साधु, स्थानकवासी साधु, वे तो अन्यमति हैं, जैनमति नहीं। कठिन बात है, प्रभु!

मुमुक्षु : उनमें भी आचार्य तो होते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : आचार्य मिथ्यादृष्टि। सब पूरा पन्थ मिथ्यादृष्टि है। भगवान ने ऐसा कहा है न! हमारे स्वभाव की बात से विरुद्ध जिसने किया है, सब विरुद्ध किया है। वस्त्र रखना और स्त्री में मुक्ति और... आहाहा! भगवान को रोग और... आहाहा!

मुमुक्षु : दवा तो लेनी चाहिए न।

पूज्य गुरुदेवश्री : दवा ले, रोग हो, रोग की दवा ले—यह सब कल्पना है। यहाँ तो

मुनि हो, उसे रोग होवे तो आहार देनेवाले आहार में इकट्ठी मिलाकर देते हैं। मुनि को अलग उन्हें दवा नहीं होती। दूसरे काल में (नहीं होती)। आहार अभी किया और बाद में दवा दूसरे समय में, दूसरे काल में लेना... बापू! (ऐसा नहीं होता)।

मुमुक्षु : ....

पूज्य गुरुदेवश्री : यह सब डॉक्टर भी... यहाँ तो सबकी सत् का उघाड़ है। पोल निकले, ऐसा है। आहाहा!

यहाँ तो भले मुनि हो, ऐसा कहा, फिर प्रश्न कहाँ? जैन का **मुनि हो गये हों, तथापि वे लौकिकजन जैसे ही हैं;...** आहाहा! **क्योंकि, लोक ईश्वर को कर्ता मानता है और उन मुनियों ने आत्मा को कर्ता माना है...** आहाहा! मूल पाठ—कुन्दकुन्दाचार्य का पाठ तो छह काय का है। एकेन्द्रिय, दोइन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चौइन्द्रिय, पंचेन्द्रिय। इन पाँचों इन्द्रियवाले एकेन्द्रिय से, उसकी किसी भी पर्याय को दूसरा कर सकता है, (ऐसा मानता है) वह मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! पंचेन्द्रिय की पर्याय को भी उसकी है। लड़का और बालक खड़ा होता है, वह पंचेन्द्रिय की पर्याय से (खड़ा होता है)। उसे उसकी माँ कहती है कि मैंने इसे बड़ा किया। भ्रमणा मिथ्यात्व है। अर..र..! सब ऐसा होगा? पूरी दुनिया (ऐसा मानती है)। भाई! उसका शरीर अलग, उसका आत्मा अलग। उसका आत्मा सत् है और उसके शरीर के रजकण भी सत् हैं, उनकी पर्याय जिस समय में होनेवाली है, वह उससे होती है। उसके बदले दूसरा कहे कि मुझसे होती है, वह अज्ञान है, मिथ्यात्व है। आहाहा! ऐसा मानेगा तो कोई किसी का करेगा नहीं। परन्तु कौन कर सकता था, वह करेगा नहीं? मात्र मान्यता में अन्तर है। बाकी तो जिस समय में जो पर्याय पर की और स्व की होनेवाली है, वह होती ही है। आहाहा!

यह तो इसमें एक भाव नाम का गुण है, इसी प्रकार परमाणु में भी एक भाव नाम का गुण है। जो गुणी का लक्ष्य करने से उस गुण के कारण से उसकी पर्याय वर्तमान में होती, होती और होती ही है। ४७ गुण में भाव गुण है। समयसार में पीछे ४७ शक्तियाँ हैं न? उसमें एक भाव गुण है। भाव नाम का गुण वह वर्तमान पर्याय बिना नहीं होता। यह ऐसा कहना (कि) वह भी गुण से पर्याय हुई—यह भी व्यवहार है। परन्तु वह पर्याय उस काल में वह स्वयं से हुई है। आहाहा! इसके अतिरिक्त आगे-पीछे एक समयमात्र बदलती

नहीं। आहाहा! कहो, देवीलालजी! आहाहा! पानी उतर जाए ऐसा है। अभिमान... जहाँ-तहाँ मैं करूँ, मैं करूँ, 'मैं करूँ, मैं करूँ यही अज्ञान है, गाड़ी का भार ज्यों श्वान खींचे।' गाड़ी के नीचे कुत्ते को ठूँठ स्पर्शा हो। गाड़ी चलते चलती हो तो मानो इस गाड़ी को मैं चलाता हूँ।

मुमुक्षु : यह तो भगवान करे, ऐसा बताते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : भगवान करे... यह तो कहा नहीं? ईश्वर के बिना पत्ता नहीं हिलता। वह स्वामी नारायण का साधु था। वहाँ हम देखने गये थे। मैं और मकनभाई साथ में थे, मकनभाई! अन्दर देखा नहीं था, इसलिए देखने गये। मुझे देखकर (बोला), ईश्वर के बिना (पत्ता नहीं हिलता)। तब छोटी उम्र—२२-२३ वर्ष की उम्र, (मुझे) देखकर कहा कि, ईश्वर के बिना पत्ता नहीं हिलता। अब उसे कहाँ कहना? कहा। आहाहा! प्रत्येक आत्मा ईश्वर। परमाणु भी ईश्वर, जड़ेश्वर है। परमाणु जड़ेश्वर है, भगवान चैतन्य ईश्वर है। आहाहा! किसी के कारण किसी का कुछ हो, ऐसा है नहीं। आहाहा!

और उन मुनियों ने आत्मा को कर्ता माना है – इस प्रकार दोनों की मान्यता समान हुई। ईश्वर कर्ता माननेवाले और यह पर्याय को कर्ता माननेवाले। आहाहा! **इसलिए जैसे लौकिकजनों को मोक्ष नहीं होती। उसी प्रकार उन मुनियों भी मुक्ति नहीं है।** आहाहा! **जो कर्ता होगा वह कार्य के फल को भी अवश्य भोगेगा...** कार्य के फल को भोगेगा, यहाँ तो यह कहा। ऐसी ही पर्याय आयेगी। आहाहा! जो कर्तापने की बुद्धि में रहा, उसकी पर्याय भविष्य में भी दुःखरूप की पर्याय होगी, ऐसा ही आयेगा, दुःखरूप की ही पर्याय आयेगी। ऐसा होगा। आहाहा!

कार्य के फल को भी अवश्य भोगेगा और जो फल को भोगेगा उसकी मुक्ति कैसी? संसार की क्रिया का फल। यह कर्ता होवे तो यह कर्ता मिथ्यात्व है और उस मिथ्यात्व का फल दुःख की दशा भविष्य में आयेगी। दुःख की दशा (आयेगी)। दुःख तो अभी भी है। जो विपरीत श्रद्धा है, वह स्वयं दुःख है परन्तु वह दुःख लम्बायेगा। आहाहा! बाद में भी दुःख में आयेगा। प्रतिकूल संयोग आयेंगे और उसमें—दुःख में जाएगा। यह बात कहना चाहते हैं। नारकी के संयोग प्रतिकूल है। बाकी आयेगा तो उस समय की पर्याय के काल में, परन्तु उपदेश देने में क्या दे? आहाहा! **कार्य के फल को भी अवश्य भोगेगा और जो फल को भोगेगा उसकी मुक्ति कैसी?** आहाहा!

कलश - २००

अब, आगे श्लोक में यह कहते हैं कि- 'परद्रव्य और आत्मा का कोई भी सम्बन्ध नहीं है? इसलिए उनमें कर्ता-कर्म सम्बन्ध भी नहीं है'-

(अनुष्टुप्)

नास्ति सर्वोऽपि सम्बन्धः परद्रव्यात्म-तत्त्वयोः।
कर्तृ-कर्मत्व-सम्बन्धाभावे तत्कर्तृता कुतः ॥२००॥

श्लोकार्थ : [परद्रव्य-आत्मतत्त्वयोः सर्वः अपि सम्बन्धः नास्ति] परद्रव्य और आत्मतत्त्व का (कोई भी) सम्बन्ध नहीं है; [कर्तृ-कर्मत्व-सम्बन्ध-अभावे] इस प्रकार कर्तृत्व-कर्मत्व के सम्बन्ध का अभाव होने से [तत्कर्तृता कुतः] आत्मा के परद्रव्य का कर्तृत्व कहाँ से हो सकता है?

भावार्थ : परद्रव्य और आत्मा का कोई भी सम्बन्ध नहीं है, तब फिर उनमें कर्ताकर्म सम्बन्ध कैसे हो सकता है? इस प्रकार जहाँ कर्ताकर्म सम्बन्ध नहीं है, वहाँ आत्मा के परद्रव्य का कर्तृत्व कैसे हो सकता है?॥२००॥

कलश - २०० पर प्रवचन

अब, परद्रव्य और आत्मा का कोई भी सम्बन्ध नहीं है? किसी द्रव्य को किसी से कुछ सम्बन्ध नहीं है, परन्तु यहाँ तो एक आत्मा को और परद्रव्य को, इतना लेना है। बाकी तो किसी द्रव्य को दूसरे द्रव्य के साथ कुछ सम्बन्ध नहीं है। आत्मा को दूसरे आत्मा के साथ कुछ सम्बन्ध नहीं है।

मुमुक्षु : अत्यन्त अभाव है।

पूज्य गुरुदेवश्री : दोनों के बीच में अभाव है। यह अँगुली, अँगुली को स्पर्श नहीं करती। आहाहा! एक-दूसरे का अभाव है, ऐसी बात है, भाई! सूक्ष्म पड़े परन्तु सत्य (यह है)।

परद्रव्य और आत्मा का कोई भी सम्बन्ध नहीं है। अथवा एक द्रव्य को और दूसरे को कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। **इसलिए उनमें कर्ता-कर्म सम्बन्ध भी नहीं है...** जब एक द्रव्य को दूसरे द्रव्य के साथ में कुछ सम्बन्ध नहीं तो कर्ताकर्म सम्बन्ध भी नहीं है। यह श्लोक में कहेंगे। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ३९४, श्लोक - २००, गाथा - ३२४ से ३२७ सोमवार, ज्येष्ठ शुक्ल ११
दिनाङ्क - २६-०५-१९८०

---

२०० कलश, २०० कलश। **अब, 'परद्रव्य और आत्मा का कोई भी सम्बन्ध नहीं है? इसलिए उनमें कर्ता-कर्म सम्बन्ध भी नहीं है'-** ऐसा। इसलिए कर्ताकर्म सम्बन्ध भी नहीं है। एक आत्मा पर का कुछ कर नहीं सकता, उसका कारण कि एक द्रव्य को और दूसरे द्रव्य को कुछ सम्बन्ध नहीं है। सम्बन्ध नहीं, वह कर्ता कैसे बन सकता है? आहाहा! गाथा (कलश)।

नास्ति सर्वोऽपि सम्बन्धः परद्रव्यात्म-तत्त्वयोः।
कर्तृ-कर्मत्व-सम्बन्धाभावे तत्कर्तृता कुतः॥२००॥

'**परद्रव्य-आत्मतत्त्वयोः सर्वः अपि सम्बन्धः नास्ति**' परद्रव्य शरीर, कर्म, वाणी, मन, स्त्री का शरीर, कुटुम्ब, कबीला के जड़ शरीर, उनके आत्मा भी पर, उस **परद्रव्य और आत्मतत्त्व का (कोई भी) सम्बन्ध नहीं है;...** आहाहा! शरीर का कोई अवयव दूसरे के शरीर के अवयव को स्पर्श करे, ऐसा नहीं होता। आहाहा! शरीर एक-दूसरे को स्पर्श नहीं करता तो शरीर के अवयव, कोई भी अवयव दूसरे के शरीर के अवयव को और उसके आत्मा को दोनों को कुछ सम्बन्ध नहीं है। दोनों परमाणु के साथ (कुछ सम्बन्ध नहीं है)। आहाहा! **परद्रव्य और आत्मतत्त्व का...** परद्रव्य अर्थात् फिर शरीर, वाणी, मन, बाहर की चीज़ें, पैसा, पानी, मकान इन किसी चीज़ को, आत्मा को और उन्हें कुछ सम्बन्ध नहीं है। आहाहा!

मुमुक्षु : कब ऐसा सम्बन्ध नहीं है?

पूज्य गुरुदेवश्री : सदा ही सम्बन्ध नहीं है, त्रिकाल सम्बन्ध नहीं है। सूक्ष्म बात है। कहा न पहले? कि इस शरीर का कोई भी अवयव (उसे) दूसरे के शरीर के अवयव के साथ कुछ सम्बन्ध नहीं है। वह तो परद्रव्य के साथ परद्रव्य का सम्बन्ध (कहा)। यह तो आत्मा को परद्रव्य के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है, ऐसा यहाँ सिद्ध करना है।

मुमुक्षु : ज्ञानी होने के बाद न?

पूज्य गुरुदेवश्री : माने, न माने उसमें कहाँ? अज्ञानी को परद्रव्य के साथ सम्बन्ध नहीं है। वह माने चाहे जिस प्रकार। अज्ञानी को भी परद्रव्य के साथ कुछ सम्बन्ध नहीं है। आहाहा

मुमुक्षु : पैसे का सम्बन्ध तो है।

पूज्य गुरुदेवश्री : पैसा-बैसा धूल में कहाँ था। वह धूल का है। यह आत्मा उसे स्पर्श करता है? आहाहा! कुछ सम्बन्ध जरा भी नहीं है।

मुमुक्षु : सगे-सम्बन्धियों और पैसे के साथ सम्बन्ध है न!

पूज्य गुरुदेवश्री : यह सब बातें हैं। कहीं किसी के साथ सम्बन्ध (नहीं है)। यह शरीर के रजकण हैं, यह अवयव सब शरीर के हैं। उन अवयवों के साथ आत्मा को कुछ सम्बन्ध नहीं है। आहाहा! यह तो निकट है। शरीर के सब अवयव, पाँच जड़ इन्द्रियाँ, अभी यहाँ भावेन्द्रिय नहीं लेनी। यहाँ तो परद्रव्य लिया है। इसलिए जो पाँच इन्द्रियाँ यह जो जड़ है, उनका कोई भी अवयव, उनका कोई भी भाग—आत्मा को और उसे कुछ सम्बन्ध नहीं है। आहाहा!

मुमुक्षु : दुनिया के सब काम अटक जाए।

पूज्य गुरुदेवश्री : सब काम हुआ ही करते हैं, अटके कहाँ से? काम रहित परमाणु नहीं है। यह तो कहा था। कोई भी पदार्थ निकम्मा अर्थात् अपनी पर्याय के कार्य बिना कोई पदार्थ है नहीं। इस जगत में जितने पदार्थ हैं, वे सब प्रत्येक समय में अपनी पर्यायरूपी—अवस्थारूपी कार्य के कर्ता हैं। वे पर्याय बिना के नहीं तो दूसरा उनका करने का करे क्या? आहाहा! कठिन बात है। यह श्लोक बहुत ऊँचा है।

'**सर्वः अपि सम्बन्धः नास्ति**' '**सर्वः अपि सम्बन्धः नास्ति**' आहाहा! प्रभु! तू तो ज्ञानस्वरूप है न!

मुमुक्षु : निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध तो है।

पूज्य गुरुदेवश्री : निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध अर्थात् एक-दूसरे को करे, ऐसा कुछ नहीं। निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध बोला जाता है, परन्तु वह ऐसी वस्तु नहीं है। सम्बन्ध का ही अभाव है, एक-दूसरे में तो सम्बन्ध क्या? एक चीज़ और दूसरी चीज़ के बीच अभाव है। शरीर के अवयव और आत्मा, दो के बीच अत्यन्त अभाव है। आहाहा! कठिन बात है, भाई! शरीर के अवयवों से मैं काम ले सकता हूँ। हाथ अच्छे हों, पैर अच्छे हों, शरीर लट्ठ जैसा हो, उसके अवयव भी ऐसे तो हों... आहाहा! वह तो जड़ है, मिट्टी है, धूल है। धूल के साथ आत्मा को कोई सम्बन्ध नहीं है। आहाहा! '**सर्वः अपि सम्बन्धः**' यहाँ तो भाषा पाठ है। सर्व सम्बन्ध। आहाहा!

मुमुक्षु : ज्ञाता-ज्ञेय का सम्बन्ध...

पूज्य गुरुदेवश्री : यह ज्ञाता-ज्ञेय तो जानने की अपेक्षा से बात है। यह व्यवहार है। यह ज्ञाता और यह परज्ञेय, वह भी व्यवहार है। निश्चय से तो स्वयं ही ज्ञाता और स्वयं ही ज्ञेय और स्वयं ही ज्ञान है। पर के साथ सम्बन्ध क्या है? आहाहा! पर का कर्ता तो नहीं, पर के साथ सम्बन्ध तो नहीं परन्तु पर को जानता भी नहीं। आहाहा! जानने के काल में अपनी ज्ञान की पर्याय को जानता है। उसमें वह वस्तु उसे ज्ञात हो जाती है। उस वस्तु के कारण नहीं, उस ज्ञान की पर्याय के सामर्थ्य के कारण स्व और पर अपने द्वारा, अपने से ज्ञात हो जाते हैं। आहाहा! अरे! जगत को कठिन पड़ता है।

'**सर्वः अपि सम्बन्धः**' कहा न यहाँ? परद्रव्य को और आत्मतत्त्व को... आहाहा! आँख की पलक को और काले गोले को या जीभ को या अँगुली के अवयव और दूसरे भी उसे और आत्मा को कोई सम्बन्ध नहीं है, जरा भी सम्बन्ध नहीं है। परमाणु अपनी पर्याय से परिणमते हुए टिक रहे हैं। प्रत्येक परमाणु, प्रत्येक समय में अपनी पर्याय से परिणमते टिक रहे हैं। उनके साथ दूसरे द्रव्य का (या) आत्मा का सम्बन्ध जरा भी नहीं है। आहाहा!

मुमुक्षु : किसी के पास से रुपये लाकर न देना, तो क्या होगा?

पूज्य गुरुदेवश्री : रुपये लिये थे कब? लिये हैं यह माना है। वह मिथ्या है। परमाणु के पैसे, वह आत्मा ले और पर को दे, इस बात में माल कुछ नहीं है। आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई! यहाँ तो परद्रव्य के साथ कुछ सम्बन्ध नहीं में दाल, भात, रोटियाँ और सबेरे चाय तथा दूध, उन्हें और आत्मा को कुछ सम्बन्ध नहीं है। आहाहा!

मुमुक्षु : मेहमान को रोकना और फिर कहना कि रोकने को और हमारे कुछ सम्बन्ध नहीं है।

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु कौन मेहमान है कहाँ?

मुमुक्षु : फिर कहना कि आहार...

पूज्य गुरुदेवश्री : आहार दे कौन? आहार जड़ मिट्टी है। उसका ऊँचा होना, नीचा होना, क्षेत्र परिवर्तन होना, उसके ग्रास होना, टुकड़े होना; आत्मा को और उसे कुछ सम्बन्ध नहीं है। आहाहा! ऐसी बात है। यह बहुत ऊँचा श्लोक है।

'**सर्वः अपि सम्बन्धः नास्ति**' बस! इतना। समाप्त हो गया। किसके साथ? '**परद्रव्य-आत्मतत्त्वयोः**' अभी यही बात है। आत्मतत्त्व को और परद्रव्य को '**सर्वः अपि नास्ति**' कुछ सम्बन्ध नहीं है। आहाहा! उसके बदले यहाँ हमारे प्रिय है और यह रिश्तेदार हैं और यह हमारे दामाद होते हैं और मामा होते हैं और धूल होते हैं... कुछ सम्बन्ध नहीं है। आत्मा वस्तु भिन्न है। दूसरी वस्तु, यह शरीर के सब रजकण भी भिन्न है। इन रजकण को और आत्मा को कुछ सम्बन्ध नहीं है। आहाहा! ऐसा माने यथार्थ—जैसा है, वैसा वह माने कि कोई द्रव्य आत्मा को स्पर्श नहीं करता। आत्मा (के साथ) कुछ सम्बन्ध नहीं है। सम्बन्ध नहीं है तो कर्ता कैसे हो सकता है? यह सिद्ध करना है। जब आत्मा को और पर को सम्बन्ध नहीं तो फिर कर्ता किस प्रकार हो सकता है?

मुमुक्षु : पण्डितजी ने इतने-इतने अनुवाद किये।

पूज्य गुरुदेवश्री : अनुवाद कौन करे? अन्दर अभिमान करे कि यह मैं करता हूँ और बाहर प्रसिद्ध हो और लोग जाने। यह तो गहरा मिथ्यात्व भाव है। आहाहा! सूक्ष्म बात

है, भाई! आहाहा! दुनिया से तो मर जाए, मरे, तब चंगा हो ऐसा है। दुनिया से मरे तो चंगा हो ऐसा है। अर्थात् क्या कहा? परचीज़ से मरे। मुझे और उसे कुछ सम्बन्ध नहीं है। तो वह जीवित हो, ऐसा है; नहीं तो मर जाता है। पर के सम्बन्ध को गिने... आहाहा! मेरे अक्षर अच्छे हैं, इसलिए लिखूँ।

मुमुक्षु : मोती के दाने जैसे।

पूज्य गुरुदेवश्री : हाँ, हमारे भाई थे न? बड़े भाई खुशालभाई। उनका नाम स्वयं लिखते। घर का, हों! परन्तु मोती के दाने जैसे अक्षर। सहज ऐसा था, सहज। यह कुँवरजीभाई और दूसरे बहियाँ नहीं लिखते, लिखे स्वयं खुशालभाई मोती के दाने जैसे अक्षर पड़े ऐसे। आहाहा! वह तो अक्षर की पर्याय उस काल में, उस अनुसार परिणमित होने की थी। आत्मा को और अक्षर को कुछ सम्बन्ध नहीं है। ऐसा आया इसमें?

'**नास्ति सर्वः अपि सम्बन्धः परद्रव्य-आत्मतत्त्वयोः**' आत्मा को और परद्रव्य के तत्त्व को कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। फिर यह खेड़-बेड़ करे या नहीं? रामजीभाई! खेती न करे? कुछ नहीं कर सकता। आहाहा! बहुत सूक्ष्म बात है, बापू! आहाहा! एक यह २०० श्लोक है, एक तो अंक भी पूरा हो गया है २०० और बात भी ऐसी ही है। आहाहा! '**नास्ति सर्वः अपि सम्बन्धः**' किसके साथ? कि आत्मा और परद्रव्य के साथ। आहाहा! अभी यह लेना है। नहीं तो परद्रव्य में भी दूसरे-दूसरे द्रव्य के साथ कुछ सम्बन्ध नहीं है। एक परमाणु को दूसरे परमाणु के साथ कुछ सम्बन्ध नहीं है। प्रत्येक द्रव्य अपनी वर्तमान पर्याय से परिणमते हुए टिक रहा है। परन्तु सुना कब है? और खबर कब? जैन में जन्मे हों, तो भी मजदूरी कर-करके जिन्दगी पूरी करता है। यह मजदूरी करता है। भले फिर पाँच, दस लाख पैदा करे परन्तु बड़ा मजदूर। राग और द्वेष विकार के कर्ता बड़े मजदूर हैं। ऐई बलुभाई! सेठियों को मजदूर कहना! भगवान कहते हैं, मजदूर नहीं परन्तु भिखारी है। क्योंकि अपनी ऋद्धि यहाँ अन्दर है, उसकी तो साज-सम्हाल करता नहीं और जो अपनी नहीं और जिसमें यह स्वयं नहीं, उसकी सम्हाल करने में रुकता (है, वह) भिखारी है। आहाहा! कहो, टोलियाजी! ऐसी बातें हैं। यह दुकान में सब धन्धा चलता है। लड़के करते हैं न! ये भी करते थे न! आहाहा!

यहाँ कहते हैं, प्रभु! अमृतचन्द्राचार्य महा सन्त, महा महात्मा, आहाहा! वे महात्मा ऐसा कहते हैं कि प्रभु ऐसा कहते हैं, प्रभु ऐसा कहते हैं, कि '**सर्वः अपि सम्बन्धः**' नहीं है। किसके साथ? आत्मा और परद्रव्य शरीर के साथ। आत्मा और शरीर के साथ, आत्मा और वाणी के साथ, वाणी आत्मा करे, शरीर की सम्हाल ध्यान रखे आत्मा, खुराक-बुराक का ध्यान रखे तो शरीर ठीक रहे। आहाहा!

मुमुक्षु : डॉक्टर कहे, शरीर का ध्यान रखना, ऐसा सब कहते हैं, आप ना कहते हो।

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु ध्यान रखकर किसका? ध्यान की पर्याय तो इसके अपने में रही। ध्यान रखनेवाले की पर्याय तो ध्यान करनेवाले में रही। वह पर्याय पर में कहाँ गई, वह पर का कुछ करे?

मुमुक्षु : पिता को पुत्र कहे, शरीर का ध्यान रखना।

पूज्य गुरुदेवश्री : पुत्र-बुत्र सुमनभाई कुछ करता नहीं। आ करके के पैर दबावे, लो! आहाहा! उस पैर को हाथ स्पर्श नहीं करता। (श्रोता—आपकी रु-ब-रु में पैर को हाथ स्पर्शा था) और पैर को और आत्मा को कुछ स्पर्श नहीं करता। आहाहा! वह वहाँ कसरत कराता था न? वह तो जड़ की क्रिया है, बापू! आहाहा! परमाणु की क्रिया वह होती है। उसे होने का वह काल हो, तब वह निमित्त दिखता है। परन्तु निमित्त से वहाँ कुछ हुआ है, (ऐसा नहीं है)। अन्दर कुछ नहीं, अन्दर नहीं। आहाहा! अरेरे! निन्दा-प्रशंसा के शब्द, वे जड़ हैं, आत्मा को और उन्हें कुछ सम्बन्ध नहीं है। यह तो आयेगा इसमें। आहाहा! कोई तेरी प्रशंसा करे और तुझे ऐसा लगे कि यह मेरी प्रशंसा करता है तो तेरे आत्मा को और प्रशंसा जड़ को सम्बन्ध हुआ यह तो। आहाहा! यहाँ तो आत्मा और परमाणु द्रव्य को, पर के साथ कुछ सम्बन्ध नहीं है। आहाहा!

मुमुक्षु : अमुक कहते हैं कि मुम्बई में कितने रुपये दिये, ऐसा प्रसिद्ध करते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह कल दिया नहीं? डॉक्टर को मुम्बई की ओर से दिया है। एक हजार रुपये का चाँदी का... बलुभाई लाये। यह तो वे परमाणु वहाँ जानेवाले हों, जाते हैं, जिस जगह रहना हो, वहाँ रहते हैं और जो पर्याय होनेवाली हो, वह होती है। आहाहा! जिस क्षेत्र में रहना हो, वह रहे और उस क्षेत्र में भी अपनी पर्याय जो होनेवाली थी, वह

होकर रहे। पर के साथ कुछ सम्बन्ध नहीं है, भाई! आहाहा! ऐसी बात सुनना मुश्किल पड़े। कभी सुनी न हो और सिरपच्ची (की)। जगत की मजदूरियाँ पूरे दिन की। यह किया और यह किया, और यह किया। और उसमें पाँच-दस हजार का मासिक वेतन हो, बस! प्याला फट जाता है (अभिमान चढ़ जाता है)। यह दलीचंदभाई के लड़के को है न? एक को पन्द्रह हजार का वेतन, मुम्बई। मोरबीवाले दलीचन्दभाई। और (दूसरे को) आठ हजार का वेतन। कल आये थे न! अडवाणी। अडवाणी के अन्दर में है। ऐसे आठ-आठ हजार, दस-दस हजार का एक महीने में वेतन। परन्तु उससे क्या हुआ? उसके परमाणु को और आत्मा को सम्बन्ध क्या है? आहाहा! कभी कान में भी बात पड़ी न हो। विचार करने को समय मिलता न हो और पूरे दिन मजदूरी में रुक जाता है। ए... गुणवन्तभाई! यह सब मजदूरी करते हैं, ऐसा यहाँ तो कहते हैं। राग की मजदूरी, हों! पर शरीर की नहीं। यह मैंने किया और मैंने यह किया और मैंने यह बिगाड़ा और मैंने सुधारा और दोनों इकट्ठे होकर यह काम लिया। अकेले से नहीं होता। दोनों इकट्ठे होकर हमने यह कार्य लिया। आहाहा! भ्रमणा, यह भ्रमणा सब सेवन करते हैं। आहाहा!

मुमुक्षु : आज दिन तक भ्रमणा का ही धन्धा किया लगता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : भ्रमणा का ही यह जगत खड़ा हुआ है। आहाहा! जगत जगत में है परन्तु स्वयं ने खड़ा किया, यह मेरे... मेरे... मेरे... ऐसा करके स्वयं का खड़ा किया, वह भ्रमणा से है। यह मेरा मकान है और मेरे पुत्र हैं और यह पुत्र की बहू है। आहाहा!

मुमुक्षु : इन सबसे तो हम शोभा पाते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : धूल भी नहीं शोभा। आहाहा! लड़के की बहू को अच्छी साड़ी पहनायी हो, पाँच हजार की। पाँच-पाँच हजार की साड़ियाँ आती हैं। उस पल्लू में सोने का भरा हो, और इसलिए ऐसे पल्लू में रखते हैं। साड़ी पहनकर फिर पल्लू ऐसे रखे, इसलिए सोने का भरा हुआ दिखाई दे। पाँच-पाँच हजार, दस-दस हजार के आते हैं। बड़े गृहस्थ हों, और लाखों रुपये का एक-एक। लाखों रुपये का बड़ा करोड़ों-अरबोंपति के लाखों का एक-एक मकान हो। आहाहा! अभिमान में मर गये ऐसे और ऐसे। अपना स्वरूप चैतन्य जाननहार है। उसे करनेवाला नहीं, उसे तोड़नेवाला नहीं, उसे रखनेवाला नहीं, उसकी

व्यवस्था करनेवाला नहीं। तथापि मैं व्यवस्था को रखनेवाला, करनेवाला हूँ—उसने आत्मा को मार डाला है। आत्मा ज्ञानस्वरूप है, (ऐसा कहते हैं तो कहता है) कि नहीं, नहीं तू नहीं। मैं तो यह करनेवाला, वह मैं। ज्ञान स्वरूप को मार डाला। आहाहा!

मुमुक्षु : कोई किसी को नहीं मार सकता।

पूज्य गुरुदेवश्री : कहा, स्वयं को मार डाला। दूसरे को कहाँ मारा इसने? दूसरे के काम में सब होशियारी मैंने की और उसका अभिमान चढ़ा, उसमें आत्मा मर गया। अर्थात् कि आत्मा ज्ञाता-दृष्टा नहीं रहा। आहाहा! जीव का स्वरूप तो ज्ञाता-दृष्टा है। वह जाने और देखे, यह उसका स्वरूप है। तदुपरान्त कोई भी चीज़ उसके लिये डाले तो उसका अनादर करने से, वह नहीं है। उसे मरणतुल्य कर डाला। आता है न अपने? कलश में आता है। मरणतुल्य कर डाला। आहाहा! बातें कठिन। इच्छामि पडिकमणु आता है न? इरिया विरिया गमणा गमणे जीवया जीवरवीया तस्स मिच्छामि दुक्कडम्। किसके जीवत्व के जीव? अरे! भाई! मार्ग कोई अलग, बापू!

तीन लोक के नाथ तीर्थंकरदेव सर्वज्ञ परमात्मा साक्षात् महाविदेह में विराजते हैं, उनकी यह वाणी है। साक्षात् प्रभु विराजते हैं, सभा में उपदेश चलता है। सर्वज्ञ हैं, परमात्मा हैं, अरिहन्त हैं, वे णमो अरिहन्ताणं में हैं। अभी चार कर्म बाकी है, इसलिए वे चार कर्म जाएंगे तो (सिद्ध होंगे)। यह महावीर भगवान आदि तो सिद्ध हो गये, वे अरिहन्त में नहीं रहे। आठों ही कर्मों का नाश होकर सिद्ध हो गये। आठों कर्मों का नाश, यह भी कहते हैं कि आत्मा नहीं कर सकता। आहाहा! कर्म जड़ है, उसे आत्मा रखे और डाले, ऐसा कैसे बने? ओहोहो! भाषा कुछ, कथन में कुछ और मान्यता में कुछ, ऐसा कहते हैं। ज्ञानी भी कथन में तो ऐसा ही बोलते हैं कि यह हमारा गाँव है, यह हमारा पुत्र है, ऐसा ही बोले। इस कथन में ऐसा है, श्रद्धा में बिल्कुल झूठ है। आहाहा!

मुमुक्षु : इरादापूर्वक जानकर मिथ्या बोलते हैं।

पूज्य गुरुदेवश्री : सब खोटा। आहाहा!

परद्रव्य और आत्मतत्त्व का (कोई भी) सम्बन्ध... जरा किंचित्मात्र भी, आहाहा! परद्रव्य के साथ, परवस्तु के साथ आत्मा को कुछ रंचमात्र भी सम्बन्ध नहीं है।

आहाहा! थोड़ी सी... थोड़ी सी कुछ लगी, उसके कारण कुछ सम्बन्ध है इतना... (ऐसा नहीं है)। आहाहा!

'कर्तृ-कर्मत्व-सम्बन्ध-अभावे' इस प्रकार कर्तृत्व-कर्मत्व के सम्बन्ध का अभाव होने से... जब भगवान आत्मा और परवस्तु स्वतन्त्र है, उसे तथा इसे कुछ सम्बन्ध नहीं है। आहाहा! अच्छा गहना आवे और अच्छे कपड़े पहनकर छोटा लड़का आवे, वहाँ ऐसे आलिंगन करे, मानो लड़के को ऐसा जाने, ओहोहो! क्या करेगा? अच्छे कपड़े-बपड़े दिये हो न ऊँचे, पहनकर बैठा हो। ओहोहो! अरे..! प्रभु! तू तो अकेला ज्ञानस्वरूपी है न, प्रभु! ज्ञानस्वरूपी करे क्या? होवे, उसे जाने, यह भी व्यवहार। इतना व्यवहार कहलाता है। आहाहा! बाकी तो उस समय में वह अपने को ही जानता है। आहाहा! अरे..रे..! कलश बहुत ऊँचा है।

ऐसा सम्बन्ध नहीं तो पति-पत्नी को सम्बन्ध है या नहीं? पुत्र को और पिता को सम्बन्ध है या नहीं? आहाहा! (श्रोता :- तो फिर पिता का नाम क्या लिखाना परन्तु वहाँ।) पूज्य पिताश्री, ऐसा नाम देकर जहाँ लिखते हैं, वहाँ प्रसन्न-प्रसन्न हो जाए। आहाहा! पूज्य पिताश्री आपके प्रताप से मुझे अभी व्यापार ठीक है। आपका प्रताप है, ऐसा लिखते हैं। शिरछत्र है। आपके लिये मुझे बहुमान है परन्तु मैं बहुत दूर रह गया। आपके प्रताप से यहाँ मुझे ठीक है। आहाहा! किसका प्रताप और किसकी बातें? यह सब क्या है यह? मोह की मदिरा पी है, कहते हैं। यह सब मोह की मदिरा पी है। आहाहा!

कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। 'समस्त' शब्द है न? 'समस्त ही सम्बन्ध' अर्थात् सर्व। सर्व सम्बन्ध। सर्व का अर्थ समस्त किया और समस्त का अर्थ कुछ भी नहीं, जरा भी आत्मा को और जड़ को सम्बन्ध नहीं है। आहाहा! इसी प्रकार यह पैसे मेरे और मैंने दिये और वहाँ मेरा नाम रखना, हों! एक लाख दे रुपये दिये हैं, उसमें (नाम रखना)। आहाहा! ऐसा का ऐसा जीव मोह में खिंच गया है, मिथ्याश्रद्धा में जिन्दगी चली जाती है। आहाहा! ऐसी बात महँगी है।

सम्बन्ध नहीं है; इस प्रकार कर्तृत्व-कर्मत्व के सम्बन्ध का अभाव होने से... जब कुछ सम्बन्ध नहीं तो फिर आत्मा कर्ता और परमाणु का उसका कार्य, वह तो

कुछ है नहीं, वह तो बन सकता नहीं। **कर्तृत्व-कर्मत्व के सम्बन्ध का अभाव होने से आत्मा के परद्रव्य का कर्तृत्व कहाँ से हो सकता है?** आहाहा! नदी में से पानी का कलश उठाकर आवे। बहिनें पानी (न लावे तो) पीना किस प्रकार?...

मुमुक्षु : अब तो नल हो गये न?

पूज्य गुरुदेवश्री : नल हुए, अभी नल के पास से उघाड़ने तो जाना पड़े न? वहाँ यह मेरी अंगुली है और उससे मैंने बराबर ऐसा किया, ऐसा किया, ऐसा किया। आहाहा! जड़ से तो शून्य है। भगवान आत्मा जड़ से शून्य है, स्वरूप से भरपूर भगवान है। आहाहा! ज्ञान-दर्शन और आनन्द के भाव से सर्वांग भरपूर तत्त्व है और परद्रव्य के साथ कहीं कुछ एक किंचित्मात्र भी सम्बन्ध नहीं है। जरा सी लार गिरे तो उतना यहाँ सम्बन्ध (नहीं है)। आहाहा! इसलिए **कर्तृत्व-कर्मत्व के सम्बन्ध का अभाव होने से आत्मा के परद्रव्य का कर्तृत्व कहाँ से हो सकता है?** आहाहा!

भावार्थ :- परद्रव्य और आत्मा का कोई भी सम्बन्ध नहीं है, तब फिर उनमें कर्ताकर्म सम्बन्ध कैसे हो सकता है? आहाहा! **इस प्रकार जहाँ कर्ताकर्म सम्बन्ध नहीं है, वहाँ आत्मा के परद्रव्य का कर्तृत्व कैसे हो सकता है?** आहाहा! परद्रव्य के लिये आत्मा पंगु है, अपने स्वभाव को प्रगट करने के लिये महा पराक्रमी क्षत्रिय है, महा पराक्रमी राजा क्षत्रिय स्वयं है। आहाहा! अपने में पुरुषार्थ करने के लिये आनन्द और ज्ञान को प्रगट करने को महा पराक्रमी पुरुषार्थी है। आहाहा! पर का करने के लिये पंगु है। आहाहा! ऐसी बात कहाँ है? सुनने को कभी मिलती हो बेचारे को। उसमें युवक तो पूरे दिन बेचारे दुकान में और नौकरी में फँस गये होते हैं। समय भी नहीं मिलता हो, कान में अच्छा सुनने को मिलता नहीं। आहाहा! फिर भले वेतन पाँच हजार का हो या दस हजार का हो। आहाहा! पन्द्रह हजार का वेतन है न? यह दलिचन्दभाई का पुत्र। एक पुत्र को महीने में पन्द्रह हजार का वेतन है, मुम्बई। इन सुमनभाई को आठ हजार का, लो न! रामजीभाई के (पुत्र हैं)। परन्तु यह क्या पैसा? धूल। आहाहा! **इस प्रकार जहाँ कर्ताकर्म सम्बन्ध नहीं है, वहाँ आत्मा के परद्रव्य का कर्तृत्व कैसे हो सकता है?** अब गाथा।

गाथा - ३२४ से ३२७

ववहारभासिदेण दु परदव्वं मम भणंति अविदिदत्था।
जाणंति णिच्छएण दु ण य मह परमाणुमित्तमवि किंचि।।३२४।।

जह को वि णरो जंपदि अम्हं गामविसयणयररट्ठं।
ण य होंति तस्स ताणि दु भणदि य मोहेण सो अप्पा।।३२५।।

एमेव मिच्छदिट्ठी णाणी णिस्संसयं हवदि एसो।
जो परदव्वं मम इदि जाणंतो अप्पयं कुणदि।।३२६।।

तम्हा ण मे त्ति णच्चा दोण्ह वि एदाण कत्तविवसायं।
परदव्वे जाणंतो जाणेज्जो दिट्ठि-रहिदाणं।।३२७।।

व्यवहारभाषितेन तु परद्रव्यं मम भणन्त्यविदितार्थाः।
जानन्ति निश्चयेन तु न च मम परमाणुमात्रमपि किञ्चित्।।३२४।।

यथा कोऽपि नरो जल्पति अस्माकं ग्रामविषयनगरराष्ट्रम्।
न च भवन्ति तस्य तानि तु भणति च मोहेन स आत्मा।।३२५।।

एवमेव मिथ्यादृष्टिर्ज्ञानी निःसंशयं भवत्येषः।
यः पर-द्रव्यं ममेति जानन्नात्मानं करोति।।३२६।।

तस्मान्न मे इति ज्ञात्वा द्वयेषामप्येतेषां कर्तृव्यवसायम्।
परद्रव्ये जानन् जानीयान् दृष्टि-रहितानाम्।।३२७।।

अज्ञानिन एव व्यवहारविमूढाः परद्रव्यं ममेदमिति पश्यन्ति। ज्ञानिनस्तु निश्चयप्रतिबुद्धाः परद्रव्यकणिकामात्रमपि न ममेदमिति पश्यन्ति।

ततो यथात्र लोके कश्चिद् व्यवहारविमूढः परकीयग्रामवासी ममायं ग्राम इति पश्यन् मिथ्यादृष्टिः, तथा यदि ज्ञान्यपि कथञ्चिद् व्यवहारविमूढो भूत्वा परद्रव्यं ममेदमिति पश्येत् तदा सोऽपि निस्संशयं परद्रव्यमात्मानं कुर्वाणो मिथ्यादृष्टिरेव स्यात्।

अतस्तत्त्वं जानन् पुरुषः सर्वमेव परद्रव्यं न ममेति ज्ञात्वा लोकश्रमणानां द्वयेषामपि योऽयं परद्रव्ये कर्तृव्यवसायः स तेषां सम्यग्दर्शनरहितत्वादेव भवति इति सुनिश्चितं जानीयात् ।।३२४-३२७।।

अब, ''जो व्यवहारनय के कथन को ग्रहण करके यह कहते हैं कि 'परद्रव्य मेरा है,' और इस प्रकार व्यवहार को ही निश्चय मानकर आत्मा को परद्रव्य का कर्ता मानते हैं, वे मिथ्यादृष्टि हैं,'' इत्यादि अर्थ की सूचक गाथायें दृष्टान्तसहित कहते हैं:-

व्यवहारमूढ़ अतत्त्वविद् परद्रव्य को मेरा कहे।
'अणुमात्र भी मेरा न' ज्ञानी जानता निश्चय हि से।।३२४।।

ज्यों पुरुष कोई कहे 'हमारा ग्राम, पुर अरु देश है'।
पर वो नहीं उसको अरे! जीव मोह से 'मेरा' कहे।।३२५।।

इस रीत ही जो ज्ञानि भी 'मुझ' जानता परद्रव्य को।
वो जरूर मिथ्यात्वी बने, निजरूप करता अन्य को।।३२६।।

इससे 'न मेरा' जान जीव, परद्रव्य में इन उभय की।
कर्तृत्वबुद्धी जानता, जाने सुदृष्टीरहित की।।३२७।।

गाथार्थ : [अविदितार्थाः] जिन्होंने पदार्थ के स्वरूप को नहीं जाना है, ऐसे पुरुष [व्यवहारभाषितेन तु] व्यवहार के वचनों को ग्रहण करके [परद्रव्यं मम] 'परद्रव्य मेरा है' [भणंति] ऐसा कहते हैं, [तु] परन्तु ज्ञानी जन [निश्चयेन जानंति] निश्चय से जानते हैं कि [किंचित्] 'कोई [परमाणुमात्रम् अपि] परमाणुमात्र भी [न च मम] मेरा नहीं है।'

[यथा] जैसे [कः अपि नरः] कोई मनुष्य [अस्माकं ग्रामविषयनगरराष्ट्रम्] 'हमारा ग्राम, हमारा देश, हमारा नगर, हमारा राष्ट्र' [जल्पति] इस प्रकार कहता है, [तु] किन्तु [तानि] वे [तस्य] उसके [न च भवंति] नहीं हैं, [मोहेन च] मोह से [सः आत्मा] वह आत्मा [भणति] 'मेरे हैं' इस प्रकार कहता है; [एवम् एव] इसी प्रकार [यः ज्ञानी] जो ज्ञानी भी [परद्रव्यं मम] 'परद्रव्य मेरा है' [इति जानन्] ऐसा जानता हुआ [आत्मानं करोति] परद्रव्य को निजरूप करता है, [एषः] वह [निःसंशयं] निःसंशय अर्थात् निश्चयतः [मिथ्यादृष्टिः] मिथ्यादृष्टि [भवति] होता है।

[तस्मात्] इसलिए तत्त्वज्ञ [न मे इति ज्ञात्वा] 'परद्रव्य मेरा नहीं है' यह जानकर,

[एतेषां द्वयेषाम् अपि] इन दोनों का (लोक का और श्रमण का)-[परद्रव्ये] परद्रव्य में [कर्तृव्यवसायं जानन्] कर्तृत्व के व्यवसाय को जानते हुए, [जानीयात्] यह जानते हैं कि [दृष्टिरहितानाम्] यह व्यवसाय सम्यग्दर्शन से रहित पुरुषों का है।

टीका : अज्ञानीजन ही व्यवहारविमूढ़ (व्यवहार में ही विमूढ़) होने से परद्रव्य को ऐसा देखते-मानते हैं कि 'यह मेरा है'? और ज्ञानीजन निश्चयप्रतिबुद्ध (निश्चय के ज्ञाता) होने से परद्रव्य की कणिकामात्र को भी 'यह मेरा है' ऐसा नहीं देखते-मानते। इसलिए, जैसे इस जगत में कोई व्यवहारविमूढ़ ऐसा दूसरे के गाँव में रहनेवाला मनुष्य 'यह ग्राम मेरा है' इस प्रकार देखता-मानता हुआ मिथ्यादृष्टि (विपरीत दृष्टिवाला) है, उसी प्रकार ज्ञानी भी किसी प्रकार से व्यवहारविमूढ़ होकर परद्रव्य के 'यह मेरा है' इस प्रकार देखे-माने तो उस समय वह भी निःसंशयतः अर्थात् निश्चयतः, परद्रव्य को निजरूप करता हुआ, मिथ्यादृष्टि ही होता है। इसलिए तत्त्वज्ञ पुरुष 'समस्त परद्रव्य मेरा नहीं है' यह जानकर, यह सुनिश्चिततया जानता है कि-'लोक और श्रमण-दोनों के जो यह परद्रव्य में कर्तृत्व का व्यवसाय है, वह उनकी सम्यग्दर्शनरहितता के कारण ही है'।

भावार्थ : जो व्यवहार से मोही होकर परद्रव्य के कर्तृत्व को मानते हैं, वे-लौकिकजन हों या मुनिजन हों-मिथ्यादृष्टि ही हैं। यदि ज्ञानी भी व्यवहारमूढ़ होकर परद्रव्य को 'अपना' मानता है, तो वह मिथ्यादृष्टि ही होता है।

गाथा - ३२४ से ३२७ पर प्रवचन

अब, जो व्यवहारनय के कथन को ग्रहण करके... अब क्या कहते हैं? बोलने में तो ऐसा आवे, तुम्हारा गाँव कहाँ? राजकोट। राजकोट कहाँ था उसके बाप का? इसका कहाँ था और इसके बाप का कहाँ था?

ववहारभासिदेण दु परदव्वं मम भणंति अविदिदत्था।
जाणंति णिच्छएण दु ण य मह परमाणुमित्तमवि किंचि॥३२४॥

जह को वि णरो जंपदि अम्हं गामविसयणयररट्ठं।
ण य होंति तस्स ताणि दु भणदि य मोहेण सो अप्पा॥३२५॥

एमेव मिच्छदिट्ठी णाणी णिस्संसयं हवदि एसो।
जो परदव्वं मम इदि जाणंतो अप्पयं कुणदि।।३२६।।

तम्हा ण मे त्ति णच्चा दोण्ह वि एदाण कत्तविवसायं।
परदव्वे जाणंतो जाणेज्जो दिट्ठि-रहिदाणं।।३२७।।

नीचे हरिगीत।

व्यवहारमूढ़ अतत्त्वविद् परद्रव्य को मेरा कहे।
'अणुमात्र भी मेरा न' ज्ञानी जानता निश्चय हि से।।३२४।।

ज्यों पुरुष कोई कहे 'हमारा ग्राम, पुर अरु देश है'।
पर वो नहीं उसको अरे! जीव मोह से 'मेरा' कहे।।३२५।।

इस रीत ही जो ज्ञानि भी 'मुझ' जानता परद्रव्य को।
वो जरूर मिथ्यात्वी बने, निजरूप करता अन्य को।।३२६।।

इससे 'न मेरा' जान जीव, परद्रव्य में इन उभय की।
कर्तृत्वबुद्धी जानता, जाने सुदृष्टीरहित की।।३२७।।

टीका :- अज्ञानीजन ही व्यवहारविमूढ़ (व्यवहार में ही विमूढ़) होने से... अज्ञानी ही व्यवहारविमूढ़ होने से, व्यवहार में मूढ़ है। खबर नहीं कुछ कि यह क्या है। आहाहा! **परद्रव्य को ऐसा देखते हैं कि 'यह मेरा है'...** यह देश मेरा, यह गाँव मेरा, यह मकान मेरा। आहाहा! पाँच सौ मकान ऐसे खड़े हों अब यह खड़े हों तो पाँच सौ तो वास्तव में जानने में है। उसमें जानने में आवे तो कहे, यह मेरा मकान। चलो चलो यहाँ। पाँच सौ के एक साथ जानता है, जानने में कहाँ अन्तर पड़ा? वहाँ और मेरा कहाँ से हो गया यह? आहाहा!

अज्ञानीजन ही व्यवहारविमूढ़ (व्यवहार में ही विमूढ़) होने से परद्रव्य को ऐसा देखते-मानते हैं कि 'यह मेरा है'? और ज्ञानीजन निश्चयप्रतिबुद्ध (निश्चय के ज्ञाता) होने से... धर्मी तो उसे कहते हैं कि जो जाननेवाला और देखनेवाला, वह मैं; ज्ञात होता है, वह मैं नहीं, परवस्तु ज्ञात होती है, वह मैं नहीं। मैं तो मेरे स्वरूप में जानने-देखनेवाला वह मैं। आहाहा! जिसे जानता है, वह मैं नहीं। जिसमें ज्ञात होता है, वह मैं।

उसमें भले पर और स्व दोनों ज्ञात हों, परन्तु वह ज्ञात होता है, वह मैं। ऐसा **निश्चयप्रतिबुद्ध (निश्चय के ज्ञाता) होने से परद्रव्य की कणिकामात्र को भी...** आहाहा! **परद्रव्य की कणिकामात्र को भी...** आहाहा! रेत की एक बारीक कणिका मैं उठायी और मैंने ली और यहाँ रखी, यह ज्ञानी नहीं मानता। आहाहा!

श्रीमद् तो कहते हैं एक तिनके के दो टुकड़े करने को हम समर्थ नहीं हैं। एक तिनके के दो टुकड़े (करने को) हम समर्थ नहीं हैं। इसका अर्थ कि क्रिया उससे होती है, उसमें हमारे क्या? आहाहा! अब ऐसी दृष्टि की खबर नहीं और व्रत और तप और अपवास और यह... धमाधम पाप की सब क्रियायें हैं धमाधम। आहाहा! तत्त्व की तो खबर नहीं होती। अंक रहित शून्य ऊपर लिखते जाता है। आहाहा!

वस्तु यह है। ज्ञानी **परद्रव्य की कणिकामात्र...** देखा? एक रजकण और राग का अंश वास्तव में तो। आहाहा! उसे **भी 'यह मेरा है' ऐसा नहीं देखते।** आहाहा! यह तो सब उत्साह उड़ जाए। वह तो लड़का कुछ पाँच-दस लाख पैसे (रुपये) लेकर आया हो, और बड़ी दुकान करनी है, अब ऐसा है और वैसा है। उत्साह... उत्साह... उत्साह... हर्ष का पार नहीं होता। बनाओ आज लापसी। आहाहा! क्या करता हूँ, इसकी खबर नहीं होती। यह आत्मा अपने ज्ञान और आनन्द के अतिरिक्त पर के द्रव्य के रजकण को भी कुछ स्पर्श नहीं कर सकता। स्पर्श नहीं कर सकता तो कर कहाँ से सकता है? आहाहा! आत्मा परद्रव्य के शरीर को स्पर्श भी नहीं करता, शरीर को आत्मा स्पर्श नहीं करता। कर्म ने आत्मा को स्पर्श नहीं किया, आत्मा ने कर्म को स्पर्श नहीं किया, कर्म परद्रव्य है।

मुमुक्षु : एक क्षेत्रावगाह तो है।

पूज्य गुरुदेवश्री : एक क्षेत्र में रहे हुए वह तो लाख-करोड़ सब चीज़ होती हैं। एक आकाश के प्रदेश में अनन्त परमाणु हैं। एक जगह होने से कहीं एक चीज़ हो जाती है? आहाहा! एक थाली में रतन और केला रखा हो तो दोनों एक दिखाई दें, इसलिए दोनों एक हो जाते हैं? केला और रतन। आहाहा! एक जगह हो, इसलिए एक हो जाए—ऐसी चीज़ कहाँ है? आहाहा! एक प्रदेश, आकाश के एक प्रदेश में आत्मा के असंख्य प्रदेश हैं। ऐसे असंख्य प्रदेश असंख्य आकाश प्रदेश को रोकते हैं। यह भी निमित्त व्यवहार कहलाता है।

यह तो स्वयं अपने से ही वहाँ अवगाहन में रहा है। और उसके उस क्षेत्र में दूसरे अनन्त परमाणु और अनन्त जीव भी हैं। आहाहा!

इतना यह अँगुली जितना क्षेत्र है, देखो! एक क्षेत्र में एक आत्मा व्याप्त है, ऐसे अनन्त आत्मा हैं। आहाहा! और अनन्त आत्मा के साथ उसके अनन्त कर्म हैं और अनन्त कार्मण तथा तैजसशरीर है। इतने भाग में, हों! अन्दर। आहाहा! कहाँ बात है? त्रिलोकनाथ सर्वज्ञदेव परमात्मा वीतराग परमेश्वर का यह फरमान है। भगवान की सीधी यह वाणी है। लोगों को मिली नहीं, लोग सुनें तो यह करो और यह करो और यह करो, दया करो, व्रत करो, करो और मरो। दूसरा क्या? आहाहा! यहाँ तो कहे, करना वह तो मरना है। क्योंकि वह तो ज्ञानस्वरूपी प्रभु है न! एक अक्षर को भी कैसे करे? आहाहा! एक अक्षर भी अनन्त परमाणु से बना हुआ है। उसमें भी अक्षर के अनन्त परमाणु में एक-एक परमाणु अपनी पर्याय से रहा हुआ है। दूसरे परमाणु की पर्याय से इकट्ठे होकर अक्षर हुआ है, ऐसा भी नहीं है। आहाहा! इसमें क्या करना यह? यह तो दुनिया छोड़कर बैठ जाए तो हो, लोग ऐसा कहें। दुनिया पृथक् पड़ी ही है, छोड़ी हुई ही पड़ी है। तेरी मान्यता में अन्तर है। बाकी सब छूटा हुआ ही पड़ा है, कहीं तेरे पास वहाँ अन्दर नहीं घुस गया है। आहाहा!

मान्यता... यह कहा न? '**मोहेण**' आया था न। गाथा में आया था। '**मोहेण सो अप्पा**' ३२५। '**ण य होंति तस्स ताणि दु भणदि य मोहेण सो अप्पा**' गाथा ३२५। उसका कुछ होता नहीं परन्तु मोह से मानता है। मोह। ३२५ गाथा का अन्तिम पद। आहाहा! **परद्रव्य की कणिकामात्र को भी...** एक राई को भी आत्मा बदल सके या राई का ऐसा चूरा कर सके, (ऐसा नहीं है)। चक्रवर्ती की एक दासी होती है। जब चक्रवर्ती गद्दी पर बैठता है, ऐसी एक दासी, (कि) वह उत्कृष्ट हीरा होता है हीरा, उस हीरा को ऐसे करे (हाथ में मसले) वहाँ चूरा हो जाता है। उससे तिलक करती है। ऐसी दासी एक होती है। पुण्यवाली हो और शरीर मजबूत, ऐसा कुछ पूर्व का लेकर आये हो। सिद्धान्त में लेख है। चक्रवर्ती गद्दी पर बैठे, तब उसकी एक दासी हीरा का चूरा करके तिलक करती है। आहाहा! यह कहते हैं, हीरा का चूरा अंगुली से हुआ नहीं है। और यह तिलक वहाँ हुआ, वह आत्मा ने नहीं किया। अरे..रे..! यह बात कहाँ? आहाहा!

परद्रव्य की कणिका, कणिकामात्र भी। आहाहा! एक रजकण और एक राग का

अंश वास्तव में तो, वह यह मेरा है—ऐसा मानकर अज्ञानी (वस्तुस्थिति) नहीं देखते और ज्ञानी **परद्रव्य की कणिकामात्र को भी 'यह मेरा है' ऐसा नहीं देखते।** आहाहा! **इसलिए, जैसे इस जगत में कोई व्यवहारविमूढ़ ऐसा दूसरे के गाँव में रहनेवाला...** पर का गाँव अर्थात् गाँव कहाँ इसका है? किसी गरासिया का हो तो ऐसा व्यवहार से बाहर में कहा जाता है। पर के गाँव में... यहाँ पर का गाँव कहा। समझाना है तो क्या समझावे? पर का गाँव भी कहाँ है? राजकोट दरबार का गाँव है। उसे ऐसा कहे कि तुम्हारा गाँव कौन सा? राजकोट। वहाँ रहने का घर भी होता नहीं। हमारा गाँव, हमारी राजधानी का गाँव, हम वहाँ मुख्य व्यक्ति हैं। आहाहा!

कोई व्यवहारविमूढ़ ऐसा दूसरे के गाँव में रहनेवाला मनुष्य 'यह ग्राम मेरा है'... आहाहा! हम हमारे गाँव में रहते हैं। परन्तु गाँव ही कहाँ तेरा है? आहाहा! **इस प्रकार देखता-मानता हुआ मिथ्यादृष्टि (विपरीत दृष्टिवाला) है,...** ऐसा मानता है वह। यह मेरा गाँव है। आहाहा! गाँव तो किसी का हो। गाँव की जगह कहाँ इसके पिता की थी? गरासिया की, ऐसा व्यवहार से कहा जाता है। आहाहा! **उसी प्रकार ज्ञानी भी किसी प्रकार से...** किसी भी प्रकार से...अनेक प्रकार हैं अभिमान के, व्यवहारमूढ़ता के। आहाहा! किसी भी प्रकार से अर्थात् व्यवहारमूढ़ता के बहुत प्रकार हैं, उनमें से **किसी प्रकार से व्यवहारविमूढ़ होकर...** आहाहा! व्यवहार की क्रिया में मूढ़-विमूढ़ होकर। आहाहा! बोलने में तो भाषा यह आवे, भाई! तथापि अन्तर में भिन्नता करना, वह तो अपनी ज्ञान गुण का भान हो, वह करे।

श्रीमद् तो ऐसा कहते थे, अमारो यह कोट और अमारो यह। अमारो कोट अर्थात् कि हमारा नहीं। अमारी टोपी लाना, अमारी टोपी लाना। अर्थात् कि अ-मेरी, यह टोपी मेरी नहीं है, ऐसा बोलते थे। परन्तु यह तो बोला जाए भाषा तो संसार की है, तत्प्रमाण ज्ञानी ही बोलते हैं, उसमें क्या? यह किसकी पुत्री है? कि मेरी पुत्री। किसका पुत्र? (मेरा पुत्र है)। ऐसा ही कहे। भाषा कथनी और करनी में अन्तर है। कथन वाणी की आवाज है, श्रद्धा अन्दर की चीज़ है। आहाहा! बहुत कठिन काम, भाई! आहाहा! जवान व्यक्ति है परन्तु पन्द्रह-पन्द्रह, बीस-बीस वर्ष के मनुष्य चले जाते हैं, देखो न! जरा सा कुछ हुआ तो यह हुआ। यह उड़ गया। अब यह कहाँ जाए? ऐसी ममता की हो। अमारा... अमारा...

अमारा... अमारा... अमारा... वह मरकर ढोर में-पशु में उपजे कहीं। आहाहा! अरे! यह अवतार। जो कुछ करने का है वह किया नहीं, नहीं करने का अभिमान किया। अभिमान किया। कर नहीं सकता।

व्यवहारविमूढ़ होकर परद्रव्य के 'यह मेरा है' इस प्रकार देखे-माने तो उस समय वह भी नि:संशयत: अर्थात् निश्चयत:, परद्रव्य को निजरूप करता हुआ, मिथ्यादृष्टि ही होता है। आहाहा! मिथ्यादृष्टि होता है। कदाचित् ज्ञानी हो और यदि यह मेरा है, ऐसा करे तो वह मिथ्यादृष्टि होता है, ऐसा कहते हैं। मिथ्यादृष्टिवाला तो माने, परन्तु ज्ञानी होकर किसी समय यह हम करते हैं और यह मेरे कर्तव्य हैं, (ऐसा माने तो वह भी नि:संशयरूप से मिथ्यादृष्टि होता है)। आहाहा! परद्रव्य का आत्मा का कर्तव्य है, परद्रव्य को और हमारे सम्बन्ध है। बहुत पूर्व का कुछ सम्बन्ध होगा, इसलिए इसके साथ मुझे सम्बन्ध है। सम्बन्ध कौन किसका? किसके तत्त्व को, अरे! किसका सम्बन्ध? आहाहा!

नि:संशयत:... ज्ञानी होने पर भी यदि यह मेरा परद्रव्य को किसी जगह माने तो **निश्चयत:, परद्रव्य को निजरूप करता हुआ, मिथ्यादृष्टि ही होता है। इसलिए तत्त्वज्ञ पुरुष 'समस्त परद्रव्य मेरा नहीं है'...** आहाहा! कर्म भी मेरा नहीं, राग भी मेरा नहीं। आहाहा! दया का राग उठे, वह भी मेरा नहीं। आहाहा! **यह जानकर, 'लोक और श्रमण-दोनों के...** लोक अर्थात् जो ईश्वर को कर्ता मानता है, ऐसी जिसकी मान्यता है और यह श्रमण की मान्यता ऐसी है, कि हम दूसरे का कुछ कर सकते हैं, कुछ भी कणिकामात्र का कर सकते हैं। तो वह **'लोक और श्रमण-दोनों के जो यह परद्रव्य में कर्तृत्व का व्यवसाय है,...** आहाहा! परद्रव्य में कर्तापने का व्यवसाय-व्यापार है, **वह उनकी सम्यग्दर्शनरहितता के कारण ही है'।** आहाहा! **वह उनकी सम्यग्दर्शनरहितता के कारण ही है'। यह सुनिश्चिततया जानता है।** आहाहा! ज्ञानी तथापि, यदि पर में यह मेरा है, ऐसा आया (तो) सुनिश्चितरूप से वह मूढ़ है, वह अज्ञानी है। आहाहा!

एक दियासलाई को भी सुलगाना, घिसना आत्मा नहीं कर सकता। आहाहा! संधुक्षण रखते हैं न चूल्हे में? कण्डे का चूरा। कितने तो चूल्हे में अग्नि दबाकर रखते हैं। यह भी सब देखा है न! कितने ही दबाकर रखते हैं। वह अग्नि दूसरे दिन खोलकर कण्डा

डालकर दाल-भात, रोटी बनाते हैं और कितने ही नयी करते हैं, चूरा (डालते हैं, इसलिए) भड... भड... भड... (अग्नि सुलगती है)। यह हमने किया यह देखो! देखो! यह उसके ऊपर पूडिया कीं, देखो! यह किया और हमने यह किया। बहिनें पूडियाँ बनाती है न? क्या कहलाती है वह? वड़ी... वड़ी... होशियार महिला हो वह वड़ी अच्छी बनावे और सेव बनावे। खोट होती है न खाट? उसके पीछे के भाग में पट्टा डाले और फिर यहाँ बैठे। देखा है न सब। फिर ऐसा करे। मानो मस्तिष्क का प्याला फट गया हो। हम मानो अभी क्या करते हैं! आहाहा! तू करता है मिथ्यात्व को। विमूढ़पने को करता है। आहाहा! खाट के पिछले भाग में पट्टा डालकर फिर बैठे, खाट पर बैठे। उसके पावर का मुँह देखा हो तो... आहाहा! अभिमान... अभिमान। बहुत देखा है न! मुँह पर पावर चढ़ गया हो। आहाहा!

यहाँ तो कहते हैं, अज्ञानी तो ठीक परन्तु ज्ञानी भी एक कणिकामात्र को भी अपनी माने तो दोनों व्यक्ति—लोक ईश्वर को कर्ता माने, यह स्वयं आत्मा को कर्ता माने। कर्तापने में दोनों समान हैं। **श्रमण-दोनों के जो यह परद्रव्य में कर्तृत्व का व्यवसाय है, वह उनकी सम्यग्दर्शनरहितता के कारण ही है'।** लो! आहाहा!

भावार्थ :- जो व्यवहार से मोही होकर... मूल पाठ में है, इसलिए लिया। **व्यवहार से मोही होकर परद्रव्य के कर्तृत्व को मानते हैं,...** आहाहा! परद्रव्य का कर्तापना वह मानता है, ऐसा कहते हैं, होता नहीं। आहाहा! परद्रव्य का कर्ता हो नहीं सकता। परन्तु **परद्रव्य के कर्तृत्व को मानते हैं, वे-लौकिकजन हों...** ईश्वर कर्ता माननेवाले लौकिक हो **या मुनिजन हों...** आहाहा! जैन के साधु व्यवहार समकिती, क्रिया बहुत करे, उत्कृष्ट क्रिया (करे), चार-चार दिन के अन्तर से आहार करे, ऐसी तपस्या करे परन्तु वह मूढ़ है। आहाहा! लोगों के कठिन (पड़ता है)। **मुनिजन हों-मिथ्यादृष्टि ही हैं। यदि ज्ञानी भी...** देखा? वापस यह आया। **यदि ज्ञानी भी व्यवहारमूढ़ होकर...** आहाहा! **परद्रव्य को 'अपना' मानता है,...** आहाहा! यह पुस्तक हम बनाते हैं, यह हम लिखते हैं और छपावे हमारा नाम। आहाहा! यह भी कहते हैं कि मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! सबका पानी उतर जाए ऐसा है। **ज्ञानी भी व्यवहारमूढ़ होकर परद्रव्य को 'अपना' मानता है, तो वह मिथ्यादृष्टि ही होता है।** इस अर्थ का कलश कहेंगे। (**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ३९५, श्लोक - २०१, २०२, गाथा - ३२८ से ३२९ मंगलवार, ज्येष्ठ शुक्ल १२
दिनाङ्क - २७-०५-१९८०

भावार्थ है न? **जो व्यवहार से मोही होकर...** गाथा ३२७ के बाद है। उसकी टीका के बाद। ३२७ गाथा की टीका के बाद भावार्थ है। **जो व्यवहार से मोही होकर परद्रव्य के कर्तृत्व को मानते हैं,...** परद्रव्य को मैं कर सकता हूँ, परद्रव्य की पर्याय मुझसे होती है—ऐसा जो मानता है, वह मिथ्यादृष्टि **लौकिकजन हों या मुनिजन हों...** जैन हो या अन्य हो। समयसार नहीं?

मुमुक्षु : अनजाने चोपड़ा है।

पूज्य गुरुदेवश्री : अनजाना चोपड़ा है। है तो अन्दर वस्तु भगवान प्रगट प्रसिद्ध है, उसका यह कथन है। आहाहा! और उसकी प्रसिद्धि बिना यह दुनिया है—ऐसा प्रसिद्ध करेगा कौन? आहाहा! उसकी चैतन्य की प्रसिद्धि, चैतन्यस्वरूप की प्रसिद्धि बिना यह है, यह प्रसिद्ध कौन करेगा? यह परद्रव्य जड़, शरीर कुछ प्रसिद्ध नहीं करते। आहाहा! इससे यहाँ कहते हैं कि **व्यवहार से मोही (मूढ़) होकर परद्रव्य के कर्तृत्व को मानते हैं, वे-लौकिकजन हों...** ईश्वर कर्ता माननेवाले लौकिक जन हो **या मुनिजन हों-मिथ्यादृष्टि ही हैं।** आहाहा! मैं पर की कुछ दया पाल सकता हूँ, पर को मार सकता हूँ, दुकान का काम कर सकता हूँ, पूरे दिन दुकान में बैठा हो सवेरे से शाम तक, वह ऐसे धमाल चले। हमारे देखी है न। हमारे दुकान थी न बड़ी, बड़ी दुकान थी। 'कुँवरजी जादवजी।' अभी दुकान बड़ी है। अभी तो बड़ी हो गयी, उस दिन छोटी थी। वह दुकान चलती परन्तु था अभिमान, यह हम दुकान चलाते हैं, यह हम दुकान चलाते हैं। लड़के नरम हैं। तीन लड़के हैं। भागीदार सब गुजर गये। यहाँ तो ९१ वर्ष हुए, इसलिए कुछ गुजर गये, कुछ समाप्त हो गये, लड़के रहे हैं। अभी दुकान चलाते हैं, पैसा चालीस लाख है, अभी दुकान की चार लाख की आमदनी है, चलाते हैं। मन्दिर बनाया है, पूजा करे, भक्ति करे, वाँचन करे, फिर दुकान में जाते हैं। अब भाई! इस धूल में अनन्त बार गये। करने का है वह कर न।

यहाँ कहते हैं कि व्यवहार से मोही को लौकिक जन हो ईश्वर कर्ता माननेवाले

अथवा मुनिजन जैन साधु हो परन्तु यदि पर का कर्ता (होकर) पर की दया पाल सकता हूँ, ऐसा कर्ता माने तो मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! कठिन बात है। **मुनिजन हों–मिथ्यादृष्टि ही हैं।** 'ही' है। कहा? **यदि ज्ञानी भी व्यवहारमूढ़**... देखा वापस आया। पहले धर्मी भी ज्ञानी होने के बाद भी यदि व्यवहार मूढ़ होकर परद्रव्य को मेरा माने... आहाहा! वह परद्रव्य की जो क्रिया—हिंसा की, दया की, भाषा झूठ बोलने की ऐसी भाषा, सत्य बोलने की (भाषा) वह क्रिया या लिखने की वह क्रिया मेरी है और वह क्रिया मैं करता हूँ, ऐसा ज्ञानी होवे तो वह मिथ्यादृष्टि है। आहाहा!

ज्ञानी भी यदि व्यवहारमूढ़ होकर बाहर पर में ही मूढ़ होकर... आहाहा! **परद्रव्य को 'अपना' मानता है, तो वह मिथ्यादृष्टि ही होता है।** ज्ञानी हुआ परन्तु यदि पर का कर्तापना माने तो। वैसे तो समकिती हो और छियानवें हजार स्त्रियाँ हों, छियानवें करोड़ सैनिक हों, राज हो, राग है, द्वेष है परन्तु वह मेरा कर्तव्य है—ऐसा नहीं मानता। वह होता है, कमजोरी के कारण आ गया, उसका वह जाननेवाला रहता है। आहाहा! कहो, बलुभाई! क्या यह सब? यह दवाखाना किया था न बड़ा?

उसका श्लोक कहते हैं। २०१ श्लोक।

कलश - २०१

अब, इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं–

(वसंततिलका)

एकस्य वस्तुन इहान्यतरेण सार्धं,
सम्बन्ध एव सकलोऽपि यतो निषिद्धः।
तत्कर्तृ–कर्म–घटनास्ति न वस्तु–भेदे,
पश्यन्त्वकर्तृ मुनयश्च जनाश्च तत्त्वम्॥२०१॥

श्लोकार्थ : [यतः] क्योंकि [इह] इस लोक में [एकस्य वस्तुनः अन्यतरेण सार्धं सकलः अपि सम्बन्धः एव निषिद्धः] एक वस्तु का अन्य वस्तु के साथ सम्पूर्ण सम्बन्ध ही

निषेध किया गया है, [तत्] इसलिए [वस्तुभेदे] जहाँ वस्तुभेद है अर्थात् भिन्न वस्तुएँ हैं, वहाँ [कर्तृकर्मघटना अस्ति न] कर्ताकर्म घटना नहीं होती–[मुनयः च जनाः च] इस प्रकार मुनिजन और लौकिकजन [तत्त्वम् अकर्तृपश्यन्तु] तत्त्व को (वस्तु के यथार्थ स्वरूप को) अकर्ता देखो, (यह श्रद्धा में लाओ कि–कोई किसी का कर्ता नहीं है, परद्रव्य पर का अकर्ता ही है)।।२०१।।

कलश - २०१ पर प्रवचन

एकस्य वस्तुन इहान्यतरेण सार्धं,
सम्बन्ध एव सकलोऽपि यतो निषिद्धः।
तत्कर्तृ–कर्म–घटनास्ति न वस्तु–भेदे,
पश्यन्त्वकर्तृ मुनयश्च जनाश्च तत्त्वम्।।२०१।।

क्योंकि इस लोक में... 'एकस्य वस्तुनः अन्यतरेण सार्धं' आहाहा! **एक वस्तु का अन्य वस्तु के साथ सम्पूर्ण सम्बन्ध ही निषेध किया गया है,...** आहाहा! गजब बात है।

मुमुक्षु : पिता-पुत्र को कुछ सम्बन्ध नहीं है।

पूज्य गुरुदेवश्री : पिता कौन है और पुत्र कौन? सुमन कौन? सुमन वहाँ भटकता है। उसे कितने पैसे पाप के दिये तो भी नौकरी वहाँ करता है और इन्हें यहाँ कोई पकावे, उसकी रोटियाँ खानी पड़ती है। पाप करके पैसे (कमाये और) विवाह किया और क्या किया? पढ़ाया। अब वह वहाँ रहता है और यहाँ रोटियाँ घर की खायी जाती है। कौन किसका करे। यह दृष्टान्त, यह तो घर का दृष्टान्त दिया। आहाहा! लड़के कौन करे? पिता किसका करे? पुत्र किसका करे? पुत्री किसका करे? आहाहा!

एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को कुछ भी कर नहीं सकता। आहाहा! पहला तो सिद्धान्त यह आ गया कि एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को छूता नहीं, स्पर्श नहीं करता। प्रत्येक द्रव्य—वस्तु अपने में रही हुई शक्ति और अवस्था अपना जो धर्म; धर्म अर्थात् स्वभाव। गुण और पर्याय स्वभाव, उसे चुम्बन करता है, स्पर्श करता है, प्रत्येक द्रव्य। परन्तु दूसरे द्रव्य के गुण-पर्याय

को छूता नहीं। यह बात बैठना। आहाहा! यह अँगुली इस अँगुली को स्पर्श नहीं करती। यह अँगुली, यह वस्त्र, यह ऐसे ऊँचा हो, उसे छूती नहीं और अपने आप यह ऊँचा होता है, उसे यह अँगुली स्पर्श नहीं करती। कौन माने? पागल ही कहे या नहीं? यह अँगुली स्पर्श किये बिना यह कागज ऊँचा होता है। उसे उसी काल में ऊँचा होने की उस पर्याय का कर्ता वे परमाणु हैं, अँगुली नहीं। आहाहा! यह कहा न?

क्योंकि इस लोक में एक वस्तु का अन्य वस्तु के साथ... आहाहा! किसी भी एक चीज़ परमाणु या आत्मा, उसे दूसरे परमाणु या आत्मा के साथ **अन्य वस्तु के साथ सम्पूर्ण सम्बन्ध ही निषेध किया गया है,...** समस्त सम्बन्ध ही, है। **'सम्बन्धः एव'** आहाहा! है न? **'सम्बन्धः एव निषिद्धः' सम्पूर्ण सम्बन्ध ही निषेध किया गया है,...** आहाहा! यह मेरी दुकान और मेरी दुकान चलती है, अच्छी है और नौकर अच्छे हैं, ऐसा ज्ञानी भी यदि कदाचित् उसे मेरेरूप माने तो वह भी मिथ्यादृष्टि है। आहाहा! कठिन बात है।

एक वस्तु का अन्य वस्तु के साथ सम्पूर्ण सम्बन्ध ही निषेध किया गया है, इसलिए जहाँ वस्तुभेद है... जहाँ चीज़ अलग-अलग है, वस्तुएँ अलग-अलग हैं **अर्थात् भिन्न वस्तुएँ हैं वहाँ... 'कर्तृकर्मघटना अस्ति न' वहाँ कर्ताकर्म घटना नहीं होती...** भिन्न चीज़ आत्मा कर्ता और परमाणु का कार्य करे, शरीर को हिलावे और शरीर को बोलने की क्रिया करे; (ऐसा) वह अन्य द्रव्य, अन्य द्रव्य का कर्ता कभी है नहीं। आहाहा! आत्मा अन्य द्रव्य है और वाणी, शरीर, मन, कर्म और संयोगी चीज़ सब अन्य है। तो कहते हैं कि एक चीज़ का अन्य वस्तु के साथ... आहाहा! **सम्पूर्ण सम्बन्ध ही निषेध किया गया है,...** समस्त ही सम्बन्ध। यहाँ तो निमित्त-निमित्त सम्बन्ध भी निषेध किया गया है, ऐसा कहते हैं। जानने के लिये बोले इतना। आहाहा! आवे जानने के लिये, ज्ञायक और ज्ञेय। यह भी व्यवहार है। आहाहा! वीतराग मार्ग भारी सूक्ष्म, भाई! आहाहा!

एक अँगुली दूसरी अँगुली को छूती नहीं, एक अँगुली इस कागज को स्पर्श नहीं करती और यह कागज ऊँचा होता है। यह स्पर्श नहीं करती। अब यह कौन माने, कौन यह? आहा! यह मुँह की चीज़ जो यह हिलती है, यह होंठ हिलते हैं, भाषा होती है, वह आत्मा से भिन्न चीज़ है, आत्मा से अन्य चीज़ है। उस अन्य चीज़ का आत्मा कुछ कर्ता है

नहीं। आहाहा! वे लोग चिल्लाहट मचाते। पचास पण्डित इन्दौर में एकत्रित हुए थे, ऐसा सुना था कि परद्रव्य का कर्ता न माने, वह दिगम्बर नहीं है। ऐसा सुना था। कोई कहता था।

मुमुक्षु : इन्दौर में ऐसा कहा था।

पूज्य गुरुदेवश्री : यह इन्दौर की बात करता हूँ। ऐसा सुना है, इन्दौर में पचास पण्डित इकट्ठे हुए। पश्चात् चर्चा करते हुए (निश्चित किया कि) कोई परद्रव्य का कर्ता न माने तो वह दिगम्बर जैन नहीं है। क्योंकि यह परद्रव्य का कर्ता नहीं माननेवाले हम यहाँ, (ऐसा सामने निर्णय किया)। आहाहा! कर्ता माने, वह सम्यग्दृष्टि है। अर..र..र..! प्रभु! दूसरे को मिथ्या करने को इतनी बात की जवाबदारी उल्टी लेना। अरे! प्रभु! कहाँ जाना है? आहाहा!

कोई शरण नहीं है, देह छूटे कोई शरण नहीं है। आहाहा! देह में रहा, कोई शरण नहीं है। आहाहा! घड़ीक में देह में कुछ हो जाए, कुछ खबर नहीं पड़ती, क्या होगा? आहाहा! गला बन्द हो जाए, ऐसे श्वास अटक जाए। आहा! उल्टी हो जाए, कान में से कुछ खून बहता रहे, शरीर फटकर खून निकले। वह तो एक जड़ है, बापू! उसकी कुछ भी अवस्था को आत्मा कर नहीं सकता। आहाहा! उसका ध्यान रखे तो शरीर अच्छा रहे, ऐसा नहीं है।

मुमुक्षु : खाना-पीना तो चाहिए न।

पूज्य गुरुदेवश्री : खाने-पीने का भी वह ध्यान रखे, इसलिए शरीर अच्छा रहे। खाने-पीने की क्रिया ही कर नहीं सकता। ममता करता है उस समय कि यह खाता हूँ, पीता हूँ। ज्ञानी को विकल्प आवे परन्तु विकल्प का कर्ता नहीं है। और यह तो विकल्प और उस क्रिया का कर्ता दोनों का कर्ता होता है। आहाहा! सूक्ष्म बात है, भाई! आहाहा! बड़े प्लेन चलाते हैं। छह घण्टे में तीन हजार मील, छह घण्टे में तीन हजार मील तय करते हैं। ओहोहो! एक घण्टे में कितना हुआ? ५०० (मील) एक समय में। भावनगर से वह नैरोबी अफ्रीका हम गये थे न। बैठे थे छह घण्टे। तथापि उसकी उस क्रिया का कर्ता वह है न? इंजन करनेवाला नहीं। आहाहा!

एक बार तो अपने बैठे तो न बहुत लोग अपने थे। फिर उनके लोग कि आनेवालों

को देखने गये थे, अन्दर गये थे। खबर है ? एक बार अन्दर गये थे। अपने लोग अधिक थे। आहाहा! (तब कहा), चलो, देखो हमारे यन्त्र इस प्रकार चलते हैं, (देखो)। और वहाँ हम बैठे हों, तब पाँच, छह घण्टे बैठे। इसलिए वह आहार-पानी लावे। अमुक, अमुक, माँसवाले को माँस दिया, रोटी, दाल और सब्जी और सब (दिया)। यहाँ हम एक भी लें नहीं, एक भी नहीं। इसलिए उसे ऐसा कुछ नवीन प्रकार का... रोटी क्या, कुछ नहीं, यहाँ की चीज़ कुछ नहीं। मात्र आये हैं और बैठे हैं। छह घण्टे तक कुछ नहीं। वह वस्तु पर है, उसके लिये तुझे समता रखनी चाहिए। पर के कारण मैं सुखी हूँ और मेरे कारण वह सुखी है अथवा मैं पर को दुःखी कर सकता हूँ, यह सब कर्ताभाव मिथ्यादृष्टि का है। आहाहा! **यदि ज्ञानी भी व्यवहारमूढ़ होकर...** आहाहा! आत्मज्ञानी भी... आहाहा! व्यवहार में मूढ़ होकर... आहाहा! परद्रव्य को मेरा माने, वह मिथ्यादृष्टि होता है। आहाहा!

अब, इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं-

एकस्य वस्तुन इहान्यतरेण सार्धं,
सम्बन्ध एव सकलोऽपि यतो निषिद्धः।
तत्कर्तृ-कर्म-घटनास्ति न वस्तु-भेदे,
पश्यन्त्वकर्तृ मुनयश्च जनाश्च तत्त्वम्॥२०१॥

क्योंकि इस लोक में... 'एकस्य वस्तुनः अन्यतरेण सार्धं सकलः अपि सम्बन्धः एव निषिद्धः' एक वस्तु का अन्य वस्तु के साथ सम्पूर्ण सम्बन्ध ही... भगवान त्रिलोकनाथ केवलज्ञानी परमात्मा से **निषेध किया गया है,...** आहाहा! परमेश्वर त्रिलोकनाथ तीर्थंकर, जिन्होंने तीन काल-तीन लोक जाने—देखे, उनसे यह निषेध किया गया है। आहाहा! **एक वस्तु का अन्य वस्तु के साथ सम्पूर्ण सम्बन्ध ही निषेध किया गया है,...** आहाहा! शरीर के अवयवों को और आत्मा को कुछ सम्बन्ध नहीं है, कहते हैं। आहाहा! इस शरीर के जो सब अवयव हैं, उन्हें और आत्मा को कुछ सम्बन्ध नहीं है। आहाहा! तो इस शरीर के अवयव दूसरे के शरीर को स्पर्श करे... अर..र..र..! यह कभी नहीं होता। (स्पर्श करता है, ऐसा) मानता है, अज्ञानरूप से मानता है। आहाहा!

एक वस्तु का अन्य वस्तु के साथ सम्पूर्ण सम्बन्ध ही... वापस यह देखा ?

'**सम्बन्धः एव**' निषेध किया गया है। आहाहा! '**सम्बन्धः एव निषिद्धः**' समस्त सम्बन्ध ही निषेध है। किसी प्रकार का कोई सम्बन्ध। (नहीं), इतना हमारे साथ सम्बन्ध है और यह हमारे मित्र हैं, साथ में पढ़े थे, इसलिए यह हमारे मित्र हैं, ऐसा मित्र, मित्र का सम्बन्ध है। धूल भी नहीं, कहते हैं। आहाहा! हम साथ में गये थे लन्दन में और वहाँ आठ वर्ष साथ में पढ़े हैं और एक मैस में हम भोजन करते थे और हमारे बहुत सम्बन्ध है। आहाहा! चलता है न ऐसा? यह सब गप्प है, कहते हैं। आहाहा!

कोई किसी का कुछ भी सम्बन्ध करे, वह सम्बन्ध निषेध किया गया है। **इसलिए जहाँ वस्तुभेद है**...जहाँ वस्तु अलग-अलग है, ऐसा कहते हैं। आत्मा, परमाणु, परमाणु भी अलग-अलग है। आहाहा! एक आत्मा और दूसरा आत्मा भिन्न, एक आत्मा दूसरे आत्मा का और एक आत्मा परमाणु का, परमाणु परमाणु का और परमाणु आत्मा का यह वस्तु भेद से... आहाहा! जहाँ वस्तु भेद है, वस्तु की जहाँ भिन्नता है... आहाहा! भिन्न वस्तुएँ हैं, वहाँ '**कर्तृकर्मघटना अस्ति न**' **कर्ताकर्म घटना नहीं होती**... भिन्न पदार्थ की अवस्था भिन्न पदार्थ कर नहीं सकता। प्रत्येक के द्रव्य-गुण तो ध्रुव है। परमाणु के और आत्मा के द्रव्य और गुण तो ध्रुव है। अब उनकी पर्याय है, उसे कर नहीं सकता। आहाहा!

मुमुक्षु : बहुत परमाणु इकट्ठे मिलें तो भाषा निकलती है।

पूज्य गुरुदेवश्री : कोई इकट्ठे होते ही नहीं न कोई। इस स्कन्ध में भी यह परमाणु तो पृथक् भिन्न अपने काम अवस्था का कर रहा है। यह स्कन्ध के कारण पर्याय इसमें रही है ऐसा भी नहीं है। इसमें एक परमाणु है, वह अपना काम कर रहा है, पर के साथ उसे कुछ सम्बन्ध नहीं है। आहाहा!

मुमुक्षु : शब्द निकलते हैं, उन्हें शब्दवर्गणा के साथ कुछ सम्बन्ध नहीं?

पूज्य गुरुदेवश्री : कुछ वर्गणा (सम्बन्ध) नहीं है। शब्दवर्गणा, भाषावर्गणा। इस आटा की रोटी बनाना और आटा का यह पापड़ बनाना और यह वडी बनाना और पूड़ी बनाना... कुछ कर नहीं सकता। यह तो भिन्न वस्तु में भिन्न-भिन्न चीज़ में भिन्न चीज़ कुछ स्पर्श नहीं करती। फिर स्पर्श करता नहीं और (उसका) करे, यह कहाँ से आया? कहते हैं। आहाहा!

मुमुक्षु : पराक्रम क्या ?

पूज्य गुरुदेवश्री : पराक्रम उसका उसमें। पर के साथ क्या सम्बन्ध है ? उसका पराक्रम उसके अपने में रहा। पर के साथ क्या सम्बन्ध है ? बहुत पराक्रमी हो तो ऐसे मारे, ऐसे बन्दूक ठीक से ऐसे मारे और जोर से मारे और ऐसा करे, लकड़ी का प्रहार करे। उस लकड़ी को अँगुली स्पर्श भी नहीं करती, वह प्रहार करे ? आहाहा!

यह **कर्ताकर्म घटना नहीं होती–इस प्रकार मुनिजन...** आहाहा! हे सन्तों! तुम ऐसा मानो **और लौकिकजन...** जो ईश्वर (कर्ता) माननेवाले। दोनों की बात की है। उसमें मुनिजन इतना अर्थ किया है, उसमें—कलश टीका में। 'मुनिजन' शब्द है न ? आहाहा! '**मुनय: च जना: च**' भाषा तो दोनों अलग है, '**मुनय: च जना: च**' मुनिजन अर्थात् साधु और लौकिकजन पर का कुछ कर नहीं सकते। वस्तु भेद में।

तत्त्व को (वस्तु के यथार्थ स्वरूप को) अकर्ता देखो,... आहाहा! तब एक व्यक्ति कहे कि ऐसे मुट्ठी मारे। वह मुट्ठी तो जड़ से मारी जाती है, मुझसे कहाँ मारी जाती है ? ऐसा बोले तो ? परन्तु वह भाव किसका है ? भाव था या नहीं ? क्रिया तो उससे हुई है परन्तु भाव—मारने का भाव तेरा था या नहीं ? तेरे परिणाम भावकर्म विकार में और तू फिर विकार के परिणाम करके उसका कर्ता हो, यह तो मूढ़ है। आहाहा! आहाहा! बहुत अन्तर। पूरे दिन यह करो, यह करो, यह करो—ऐसा चले। यहाँ करने का निषेध करे (कि) कोई किसी का कर्ता नहीं है।

(वस्तु के यथार्थ स्वरूप को) अकर्ता देखो, (यह श्रद्धा में लाओ कि–कोई किसी का कर्ता नहीं है, परद्रव्य पर का अकर्ता ही है)। बोलने में आवे कहते हैं परन्तु श्रद्धा में लाओ। बोलने में आवे, सब्जी ले आये ? कि हाँ। किसकी लाये ? तोरिया, लौकी। लड़के को पूछे। भाषा तो ज्ञानी ऐसी बोले, पूछे। परन्तु उसकी श्रद्धा में ऐसा नहीं है। यह वाणी और यह सब क्रिया पर है। आहाहा! उसका कर्ता आत्मा नहीं है। बहुत कठिन, दुनिया को। पूरे दिन पर शरीर आदि के साथ रहना, पूरे दिन स्त्री, पुत्र, कुटुम्ब, व्यापार, धन्धा या ग्राहक, ग्राहक के साथ रहना और कहे, कुछ सम्बन्ध नहीं! आहाहा!

दृष्टि में से पहले विकार (में) एकत्वबुद्धि है, उसे निकाल डाल। वह क्रिया तो

होगी, होनेवाली होगी वह, परन्तु एकत्वबुद्धि—हम करते हैं और हम करेंगे... आहाहा! इससे हमारी बात बाहर आयेगी, हम कुछ अच्छा करेंगे तो हमारी बात बाहर आयेगी, यह रहने दे। यह मिथ्यात्वभाव है। आहाहा! समझ में आया? आहाहा! परद्रव्य का परद्रव्य अकर्ता ही है, ऐसा श्रद्धा में लाओ। आहाहा!

कलश - २०२

''जो पुरुष ऐसा वस्तुस्वभाव का नियम नहीं जानते, वे अज्ञानी होते हुए कर्म को करते हैं; इस प्रकार भावकर्म का कर्ता अज्ञान से चेतन ही होता है।''–इस अर्थ का, एवं आगामी गाथाओं का सूचक कलशरूप काव्य कहते हैं–

(वसंततिलका)

ये तु स्वभावनियमं कलयन्ति नेम-
मज्ञान-मग्न-महसो बत ते वराकाः।
कुर्वन्ति कर्म तत एव हि भाव-कर्म,
कर्ता स्वयं भवति चेतन एव नान्यः ।।२०२।।

श्लोकार्थ : (आचार्यदेव खेदपूर्वक कहते हैं किः) [बत] अरे! [ये तु इमम् स्वभावनियमं न कलयन्ति] जो इस वस्तुस्वभाव से नियम को नहीं जानते [ते वराकाः] वे बेचारे, [अज्ञानमग्नमहसः] जिनका (पुरुषार्थरूप-पराक्रमरूप) तेज अज्ञान में डूब गया है ऐसे, [कर्म कुर्वन्ति] कर्म को करते हैं; [ततः एव हि] इसलिए [भावकर्मकर्ता चेतनः एव स्वयं भवति] भावकर्म का कर्ता चेतन ही स्वयं होता है, [अन्यः न] अन्य कोई नहीं।

भावार्थ : वस्तु के स्वरूप के नियम को नहीं जानता, इसलिए परद्रव्य कर्ता होता हुआ अज्ञानी (मिथ्यादृष्टि) जीव स्वयं ही अज्ञानभाव में परिणमित होता है; इस प्रकार अपने भावकर्म का कर्ता अज्ञानी स्वयं ही है, अन्य नहीं।।२०२।।

कलश - २०२ पर प्रवचन

जो पुरुष ऐसा वस्तुस्वभाव का नियम नहीं जानते... जो कोई पुरुष। पुरुष अर्थात् आत्माएँ, अकेले पुरुष ही नहीं। जो कोई आत्मा **ऐसा वस्तुस्वभाव का नियम, वस्तुस्वभाव का नियम नहीं जानते, वे अज्ञानी होते हुए कर्म को करते हैं;...** अर्थात् पर के कार्य मैं कर सकता हूँ, ऐसा माने, माने। पर के कार्य मैं कर सकता हूँ, ऐसा माने। आहाहा! **इस प्रकार भावकर्म का कर्ता अज्ञान से चेतन ही होता है।** पर का कर्ता तो है ही नहीं।

भावकर्म जो विकल्प उठा है, वह शुभराग या अशुभराग, उसका कर्ता वह अज्ञान से चेतन होता है। **अज्ञान से चेतन ही होता है।** वह पर के कारण नहीं। आहाहा! परद्रव्य पर का अकर्ता ही है, ऐसा श्रद्धा में लाओ, यह आ गया। **अज्ञानी होते हुए कर्म को करते हैं; इस प्रकार भावकर्म का कर्ता अज्ञान से चेतन ही होता है।** भावकर्म अर्थात् पुण्य और पाप के असंख्य प्रकार, उन सबका कर्ता जीव चैतन्य अज्ञानी है। आहाहा! **इस अर्थ का, एवं आगामी गाथाओं का सूचक कलशरूप काव्य कहते हैं–**

ये तु स्वभावनियमं कलयन्ति नेम–
मज्ञान–मग्न–महसो बत ते वराकाः।
कुर्वन्ति कर्म तत एव हि भाव–कर्म,
कर्ता स्वयं भवति चेतन एव नान्यः ।।२०२।।

(आचार्यदेव खेदपूर्वक कहते हैं कि:) अरे रे! यह क्या हुआ यह ? एक दूसरे का कर सके नहीं, तथापि हुआ क्या यह ? आहाहा! **खेदपूर्वक कहते हैं कि : अरे! जो इस वस्तुस्वभाव से नियम को नहीं जानते... 'ते वराकाः' वे बेचारे,...** आहाहा! लो न, यह सब अरबोंपति बड़े हों राजा और देव, सबको वरांका कहा। पर का कुछ भी कर सकता हूँ, वह मेरा कर्तव्य है और मेरे कर्तव्य से मैं बाहर आऊँगा, लोग मुझे पहचानेंगे। आहाहा! अच्छे कपड़े पहनाऊँ तो मुझे मेरे लड़के को पहिचानेंगे, स्त्री को अच्छे कपड़े पहनाऊँ, गहने पहनाऊँ तो लोग पहचानेंगे कि यह गृहस्थी लगता है। आहाहा!

खेदपूर्वक कहते हैं कि : अरे! जो इस वस्तुस्वभाव से नियम को... वस्तु का नियम है कि एक रजकण आत्मा को स्पर्श नहीं करता, आत्मा रजकण को स्पर्श नहीं करता, आत्मा रजकण को करता नहीं, रजकण आत्मा को कुछ करता नहीं। कर्म आत्मा को करता नहीं कुछ। अरे! यह बात कैसे (बैठे)? आहाहा! जैनदर्शन में तो यह बड़ा कर्म... कर्म... कर्म... जहाँ हो, वहाँ कर्म। उनको ईश्वर, इसको कर्म। (इसको) जड़, उनको चैतन्य। उनको ईश्वर कर्ता, इसको कर्म कर्ता, जहाँ हो वहाँ। कर्म के कारण राग हुआ, कर्म के कारण यह हुआ, कर्म के कारण यह हुआ। आहाहा! दोनों को जड़ के कारण हुआ। एक को चैतन्य के कारण हुआ और इसे जड़ के कारण सब हुआ। आहाहा!

जो इस वस्तुस्वभाव से नियम को नहीं जानते, वे बेचारे,... आहाहा! भले बड़े इन्द्र हों तो भी उन्हें यहाँ तो बेचारा कहा है। आहाहा! बड़े अरबोंपति सेठिया हो। हम यह सब कर सकते हैं। आहाहा! रतिलाल है अरबपति। कितनी जगह कारखाना। नैरोबी में एक श्वेताम्बर है। अरब रुपये। दो बार आया था। वहाँ आया था, वापस मैं मुम्बई आया वहाँ आया था। कितनी जगह कारखाने। लाख-लाख, पाँच-पाँच, दो-दो लाख ऐसे कितनी जगह डाले हुए हैं। सौ करोड़ रुपये। वे रुपये फिर रखने कहाँ? और बहुत मशीनें खड़ी की। नौकर रखकर मशीनें कितनी चारों ओर डाली। सर्वत्र जाँच करने जाता है। महाजन है, हों! तुम्हारा। आहाहा! अरे..रे..! सहज एक ही रह गया उसका बड़ा भाई था, वह मर गया। स्वयं छोटा एक ही रह गया और अरब की पूँजी। उसे मैं करूँ, यह करूँ और यह करूँ और यह करूँ... मुझे उसने चिट्ठी में लिखकर पूछा कि यह दिगम्बर मुमुक्षु मण्डल के लोग श्वेताम्बर के मन्दिर में आते नहीं, दर्शन करते नहीं, छवि को स्पर्श नहीं करते। उसका क्या? कहा, इसे परदेश में क्या कहना? कहा भाई! तत्त्वदृष्टि होने के बाद व्यवहार कैसा होता है, यह खबर पड़ेगी। इसके बिना खबर नहीं पड़ेगी। तत्त्वज्ञान सम्यग्दर्शन होने के बाद उसे व्यवहार कैसा होता है और किसका होता है, इसकी खबर पड़ेगी; तत्त्वज्ञान के बिना खबर नहीं पड़ेगी। उसे ऐसा कैसे कहना कि यह मार्ग ही तेरा सब मिथ्या है। देवीलालजी समझे? क्योंकि प्रदेश में बेचारे मुश्किल से आते हों और ऐसा कहे कि, तेरी सब बात ही खोटी है। कहा, तत्त्वज्ञान होने के बाद व्यवहार कैसा होता है, इसकी खबर पड़ती है। आहाहा! सम्यग्दर्शन होगा तो खबर पड़ेगी कि

व्यवहार कैसा होता है, ऐसा व्यवहार नहीं होता फिर उसे। वस्त्रवाले साधु और गहनेवाले भगवान की प्रतिमा को, वह फिर पूजनीक नहीं मानता। वह तत्त्वदृष्टिवाला व्यवहार को बराबर पहिचानेगा। तत्त्वदृष्टि बिना व्यवहार की खबर नहीं पड़ती। ऐसा कहा। अफ्रीका में बेचारा मुश्किल से आया हो, इसे कहीं ऐसा कहा जाता है कि तुम्हारा श्वेताम्बर धर्म ही सच्चा नहीं है ? आहाहा!

वस्तुस्वभाव से नियम को नहीं जानते वे बेचारे, जिनका (पुरुषार्थरूप-पराक्रमरूप) तेज अज्ञान में डूब गया है ऐसे,... आहाहा! परन्तु करता हूँ, पर का करता हूँ, उसका पुरुषार्थ अज्ञान में डूब गया है। आहाहा! यह महिलाएँ पूरे दिन दाल, भात, सब्जी, रोटियाँ बनावे, पापड़, पूड़ी, पूड़ी, पापड़, वडी... आहाहा! सेव, सेव, पूड़ियाँ, सेव पूरे दिन बनावे और यह कहे कि बनाती नहीं। आहाहा! वह सब जड़ की क्रिया जड़ के काल में, जड़ के कारण से होती है। साथ में महिला खड़ी है, इसलिए उसने ऐसे तेल डाला और यह पूड़ियाँ ऐसे बनायी और फिर ऊपर डाले। तेल और घी पूड़ियों में अन्दर जाए, पूड़ियाँ अच्छी हों। आहाहा!

बाहर के व्यापार के अभिमानियों को यह बात बैठना कठिन पड़ती है। आहाहा! हमें व्यापार आता है और हमने बराबर चलाया है, हमारी दुकान जब से चली, तब से बढ़ती ही है। आहाहा! यह सब क्षयोपशम का, हमारे क्षयोपशम का फल है। क्षयोपशम का फल धूल भी नहीं है। भाई! तुझे खबर नहीं, बापू! आहाहा!

कर्म को करते हैं;... (पुरुषार्थरूप-पराक्रमरूप) तेज अज्ञान में डूब गया है... क्या कहा ? इसका वीर्य मैं पर को करता हूँ, वह कर नहीं सकता परन्तु अज्ञान में उसका पराक्रम डूब गया है। आहाहा! पर का कर नहीं सकता परन्तु पर का करने के अवसर पर में उसका अज्ञान, उसका पुरुषार्थ अज्ञान में डूब गया है। इस पुरुषार्थ से पर को कुछ किया नहीं है। आहाहा! **ऐसे, कर्म को करते हैं; इसलिए 'भावकर्मकर्ता चेतनः एव स्वयं भवति' भावकर्म का कर्ता चेतन ही स्वयं होता है, अन्य कोई नहीं।** लो! भावकर्म अर्थात् पुण्य और पाप, दया और दान, व्रत और भक्ति, काम और क्रोध, विषय की वासना आदि का कर्ता जीव होता है, जड़ नहीं। आहाहा!

जयसेनाचार्य की टीका में दो गाथाएँ आती हैं, कि दो होकर राग करते हैं। यह तो एक समझाया है, दूसरी चीज़ साथ में थी। कर्म और आत्मा होकर विकार होता है, अकेले से नहीं। यहाँ कहते हैं, अकेले से होता है। (वह तो) निमित्त का ज्ञान कराया है, दूसरा क्या है? निमित्त से जरा भी हुआ नहीं, निमित्त स्पर्श नहीं करता, करे किसको? और निमित्त के पास जो वस्तु है, वह पर्यायरहित है? पर्यायरहित है कि उसकी पर्याय निमित्त कर दे? आहाहा!

भावकर्म का कर्ता चेतन ही स्वयं होता है,... आहाहा! समयसार में बहुत जगह यह आता है, विकार और कर्म का-जड़ का कर्ता आत्मा नहीं है। समकिती को आस्रव नहीं, समकिती को बन्ध नहीं। अब वहाँ पकड़े। किस अपेक्षा से है? जितनी अस्थिरता है, उसे नहीं गिनी और श्रद्धा, ज्ञान और अनुभव की मुख्यता गिनकर ऐसा कहा है। वापस यहाँ तो कहा कि राग जितना जो कोई करता है, वह उसका कर्ता वही है। १८९ गाथा, प्रवचनसार, वहाँ तो स्पष्ट बात की है। चाहे जो राग-द्वेष, वह जीव स्वयं ही अज्ञानी या ज्ञानी स्वयं ही करता है। स्वयं में होते है और स्वयं करता है। आहाहा! कर्म के कारण होते हैं, ऐसा बहुत कथन आता है। ज्ञानी को नहीं, कर्म के कारण होते हैं, यह तो निमित्त का कथन है। बाकी ज्ञानी को जो राग आता है, राग होता है, वह अपने पुरुषार्थ की कमजोरी से होता है। चेतन ही कहा है न?

कर्ता चेतन ही स्वयं होता है, अन्य कोई नहीं। साथ में चीज़ उसे जरा भी राग करने में मदद करे, द्वेष करने में, यह है नहीं। आहाहा! विषय की वासना करने में भी कर्म का कुछ नहीं है। उसका अपना ही आत्मा उस वासना में किया हुआ कर्ता होता है। आहाहा! पूरी दुनिया से फेरफार है।

भावार्थ :- वस्तु के स्वरूप के नियम को नहीं जानता, इसलिए परद्रव्य कर्ता होता हुआ... आहाहा! **अज्ञानी (मिथ्यादृष्टि) जीव स्वयं ही अज्ञानभाव में परिणमित होता है;...** पर के कारण से नहीं और पर में नहीं, स्वयं अज्ञानभाव से अपने में परिणमता है। आहाहा! यह करता हूँ, मैं पर का करता हूँ—ऐसा मानकर स्वयं अज्ञानरूप परिणमता है। पर का कर नहीं सकता। आहाहा! और **इस प्रकार अपने भावकर्म का**

कर्ता... अपने भावकर्म अर्थात् राग-द्वेष, पुण्य-पाप का **कर्ता अज्ञानी स्वयं ही है, अन्य नहीं।** आहाहा! कर्म का जोर आया, इसलिए उसे विकार हुआ। कर्म का कोई ऐसा प्रकार, पूर्व का उदय आया, उसके कारण यह सब मस्तिष्क घूम गया और परिणाम समतौल नहीं रहे, ऐसा नहीं है। उस काल में अपने अज्ञान से विकार भाव को स्वयं करके कर्ता होता है। आहाहा! परन्तु पर का कर्ता तो है ही नहीं। अज्ञानी अपने भाव के अज्ञान को करे, परन्तु अज्ञानी भी परद्रव्य का तो कुछ करता ही नहीं। आहाहा!

ज्ञानी परद्रव्य का तो करता नहीं परन्तु राग आवे, उसका वह वास्तव में कर्ता नहीं होता। परिणमन है, इसलिए कर्ता जाने। परिणमन है न? आता है न? ४७ नय आये हैं न? ज्ञानी राग का कर्ता है, यह परिणमन की अपेक्षा से (बात है)। ४७ नय में आता है। एकदम निकाल डाले कि आत्मा को कुछ नहीं होता। यहाँ तो कर्ता है और भोक्ता तू है। इस राग का, दुःख का भोक्ता तू है। ज्ञानी को कहते हैं कि राग का कर्ता और राग का दुःख, उसका भोक्ता तू है। तुझमें होता है, पर में नहीं होता और पर के कारण नहीं होता। आहाहा!

मुमुक्षु : ज्ञानी तो राग का ज्ञाता है, कर्ता नहीं।

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु ज्ञाता, तो भी वेदन किसका है? वेदन है न? यह तो वेदन की अपेक्षा जब निकाल डालनी हो तो कि कर्ता और भोक्ता नहीं, ऐसा भी कहते हैं। सम्यग्दृष्टि पर के भाव का... आ गया न? कर्म, कर्ता और भोक्ता का उसमें अभाव है। यह आ गया। यह दृष्टि की मुख्यता से बात की है। परन्तु पर्याय, पर्याय की बात जब चलती है तो उस ज्ञानी को अपनी उस समय की वह पर्याय अपने उल्टे पुरुषार्थ से होती है। आहाहा! एक ओर कहते हैं कि ज्ञानी आस्रव से, बन्ध से रहित है। दूसरी ओर कहते हैं कि अभी दसवें गुणस्थान तक आस्रव है, छह कर्म आते हैं। आहाहा! क्या हो? पूरा रास्ता बदल गया, पूरा फेरफार हो गया।

वस्तु के स्वरूप के नियम को नहीं जानता, इसलिए परद्रव्य कर्ता... देखो! नहीं जानने से। वस्तु यह दूसरी है, मैं नहीं—ऐसा जानता नहीं, इसलिए **अज्ञानी (मिथ्यादृष्टि) जीव स्वयं ही अज्ञानभाव में परिणमित होता है;...** आहाहा! **इस प्रकार अपने भावकर्म का कर्ता...** कहो! जयसेनाचार्य की टीका में ऐसा कहा कि

अकेला कर्ता होता ही नहीं। आत्मा और कर्म दो होकर राग करे, ऐसा पाठ है। यह कर्म का निमित्त था, उसका ज्ञान कराया है। आचार्य की टीका है। एक कर सकता नहीं, दो होकर करते हैं। जैसे पुत्र एक होता है, अकेली माँ या बाप से नहीं होता, ऐसा दृष्टान्त दिया है। माता-पिता दोनों से एक पुत्र होता है, ऐसे कर्म और आत्मा दोनों से राग होता है। क्या अपेक्षा है, वह अपेक्षा जाननी चाहिए न! दोनों लक्ष्य में तो रखना चाहिए न! आहाहा! यह तो उस समय कोई दूसरा कर्म के अतिरिक्त निमित्त नहीं होता, यह बताने को (कहा है)। नोकर्म दूसरे ऐसे कि विकार में निमित्त होवे तो वह कर्म ही है, इतना बतलाने को यह कहा है। आहाहा! वापस दृष्टान्त यह दिया है कि भाई! लड़के का पिता अकेला कहीं होता है? माँ और पिता दो होते हैं तो पुत्र होता है। उसी प्रकार आत्मा और कर्म दो होंवे तो कर्म—भावकर्म होता है। ऐसा है अन्दर। फिर लोग उलझ जाए आगे-पीछे मिलान करते हुए। वस्तुस्वरूप ही ऐसा है, बापू! आहाहा!

मुमुक्षु : लिखा है ऐसा ही कि हल्दी और चूना इकट्ठे मिलकर लाल रंग होता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : अपनी दृष्टि में है न, कमजोरी है न उसकी। कर्म है, इसलिए होता है राग, ऐसा नहीं है। यहाँ होता है, तब किसे निमित्त कहना? कि दूसरी चीज़ें निमित्त नहीं हैं। कर्म को निमित्त कहना, इसलिए दो से होता है—ऐसा कहा। दूसरी चीज़ों का इसमें—इस निमित्तपने में अभाव है। आहाहा! यहाँ तो कहते हैं कि चेतन अकेला ही करता है। आहाहा! **इस प्रकार अपने भावकर्म का कर्ता अज्ञानी स्वयं ही है, अन्य नहीं।**

गाथा - ३२८ से ३३१

मिच्छत्तं जदि पयडी मिच्छादिट्ठी करेदि अप्पाणं।
तम्हा अचेदणा ते पयडी णणु कारगो पत्तो॥३२८॥

अहवा एसो जीवो पोग्गलदव्वस्स कुणदि मिच्छत्तं।
तम्हा पोग्गलदव्वं मिच्छादिट्ठी ण पुण जीवो॥३२९॥

अह जीवो पयडी तह पोग्गलदव्वं कुणंति मिच्छत्तं।
तम्हा दोहिं कदं तं दोण्णि वि भुंजंति तस्स फलं॥३३०॥

अह ण पयडी ण जीवो पोग्गलदव्वं करेदि मिच्छत्तं।
तम्हा पोग्गलदव्वं मिच्छत्तं तं तु ण हु मिच्छा॥३३१॥

मिथ्यात्वं यदि प्रकृतिर्मिथ्यादृष्टिं करोत्यात्मानम्।
तस्मादचेतना ते प्रकृतिर्ननु कारका प्राप्ता॥३२८॥

अथवैष जीवः पुद्गलद्रव्यस्य करोति मिथ्यात्वम्।
तस्मात्पुद्गलद्रव्यं मिथ्यादृष्टिर्न पुनर्जीवः॥३२९॥

अथ जीवः प्रकृतिस्तथा पुद्गलद्रव्यं कुरुतः मिथ्यात्वम्।
तस्मात् द्वाभ्यां कृतं तत् द्वावपि भुञ्जाते तस्य फलम्॥३३०॥

अथ न प्रकृतिर्न जीवः पुद्गलद्रव्यं करोति मिथ्यात्वम्।
तस्मात्पुद्गलद्रव्यं मिथ्यात्वं तत्तु न खलु मिथ्या॥३३१॥

जीव एव मिथ्यात्वादिभावकर्मणः कर्ता, तस्याचेतनप्रकृतिकार्यत्वेऽचेतनत्वानुषङ्गात्।

स्वस्यैव जीवो मिथ्यात्वादिभावकर्मणः कर्ता, जीवेन पुद्गलद्रव्यस्य मिथ्यात्वादिभावकर्मणि क्रियमाणे पुद्गलद्रव्यस्य चेतनानुषङ्गात्।

न च जीवः प्रकृतिश्च मिथ्यात्वादिभावकर्मणो द्वौ कर्तारौ, जीववदचेतनायाः प्रकृतेरपि तत्फलभोगानुषङ्गात्।

न च जीवः प्रकृतिश्च मिथ्यात्वादिभावकर्मणो द्वावप्यकर्तारौ, स्वभावत एव पुद्गलद्रव्यस्य मिथ्यात्वादिभावानुषङ्गात्।

ततो जीवः कर्ता, स्वस्य कर्म कार्यमिति सिद्धम्॥३२८-३३१॥

अब, '(जीव के) जो मिथ्यात्वभाव होता है, उसका कर्ता कौन है?'-इस बात की भलीभाँति चर्चा करके, 'भावकर्म का कर्ता (अज्ञानी) जीव ही है' यह युक्तिपूर्वक सिद्ध करते हैं-

मिथ्यात्व प्रकृति ही अगर, मिथ्यात्वि जो जीव को करे।
तो तो अचेतन प्रकृति ही कारक बने तुझे मतविषे!॥३२८॥

अथवा करे जो जीव पुद्गलद्रव्य के मिथ्यात्व को।
तो तो बने मिथ्यात्वि पुद्गलद्रव्य आत्मा नहिं बने॥३२९॥

जो जीव अरु प्रकृति करे मिथ्यात्व पुद्गलद्रव्य को।
तो उभयकृत जो होय तत्फल भोग भी हो उभय को॥३३०॥

जो प्रकृति नहिं नहिं जीव करे मिथ्यात्व पुद्गलद्रव्य को।
पुद्गलदरव मिथ्यात्व अकृत, क्या न यह मिथ्या कहो?॥३३१॥

गाथार्थ : [यदि] यदि [मिथ्यात्वं प्रकृतिः] मिथ्यात्व नामक (मोहनीय कर्म की) प्रकृति [आत्मानम्] आत्मा को [मिथ्यादृष्टिं] मिथ्यादृष्टि [करोति] करती है, ऐसा माना जाये, [तस्मात्] तो [ते] तुम्हारे मत में [अचेतना प्रकृतिः] अचेतन प्रकृति [ननु कारका प्राप्ता] (मिथ्यात्वभाव की) कर्ता हो गई! (इसलिए मिथ्यात्वभाव अचेतन सिद्ध हुआ!)

[अथवा] अथवा, [एषः जीवः] यह जीव [पुद्गलद्रव्यस्य] पुद्गलद्रव्य के [मिथ्यात्वम्] मिथ्यात्व को [करोति] करता है, ऐसा माना जाए, [तस्मात्] तो [पुद्गलद्रव्यं मिथ्यादृष्टिः] पुद्गलद्रव्य मिथ्यादृष्टि सिद्ध होगा!-[न पुनः जीवः] जीव नहीं!

[अथ] अथवा यदि [जीवः तथा प्रकृतिः] जीव और प्रकृति दोनों [पुद्गलद्रव्यं] पुद्गलद्रव्य को [मिथ्यात्वम्] मिथ्यात्वभावरूप [कुरुते] करते हैं, ऐसा माना जाए, [तस्मात्] तो [द्वाभ्यां कृतं तत्] जो दोनों के द्वारा किया, [तस्य फलम्] उसका फल [द्वौ अपि भुंजाते] दोनों भोगेंगे!

[अथ] अथवा यदि [पुद्गलद्रव्यं] पुद्गलद्रव्य को [मिथ्यात्वम्] मिथ्यात्वभावरूप

[न प्रकृतिः कुरुते] न तो प्रकृति करती है [न जीवः] और न जीव करता है (दोनों में से कोई नहीं करता), ऐसा माना जाए, [तस्मात्] तो [पुद्गलद्रव्यं मिथ्यात्वं] पुद्गलद्रव्य स्वभाव से ही मिथ्यात्वभावरूप सिद्ध होगा, [तत् तु न खलु मिथ्या] क्या यह वास्तव में मिथ्या नहीं है?

(इससे यह सिद्ध होता है कि अपने मिथ्यात्वभाव का–भावकर्म का–कर्ता जीव ही है।)

टीका : जीव ही मिथ्यात्वादि भावकर्म का कर्ता है; क्योंकि यदि वह (भावकर्म) अचेतन प्रकृति का कार्य हो तो उसे (भावकर्म की) अचेतनत्व का प्रसंग आ जाएगा। जीव अपने ही मिथ्यात्वादि भावकर्म का कर्ता है; क्योंकि यदि जीव पुद्गलद्रव्य के मिथ्यात्वादि भावकर्म को करे तो पुद्गलद्रव्य को चेतनत्व का प्रसंग आ जाएगा। और जीव तथा प्रकृति दोनों मिथ्यात्वादि भावकर्म के कर्ता हैं, ऐसा भी नहीं है; क्योंकि यदि वे दोनों कर्ता हों तो जीव की भाँति अचेतन प्रकृति को भी उस (भावकर्म) का फल भोगने का प्रसंग आ जाएगा। और जीव तथा प्रकृति दोनों मिथ्यात्वादि भावकर्म के अकर्ता हों, सो ऐसा भी नहीं है, क्योंकि यदि वे दोनों अकर्ता हों तो स्वभाव से ही पुद्गलद्रव्य को मिथ्यात्वादि भाव का प्रसंग आ जाएगा। इससे यह सिद्ध हुआ कि–जीव कर्ता है और अपना कर्म कार्य है (अर्थात् जीव अपने मिथ्यात्वादि भावकर्म का कर्ता है और अपना भावकर्म अपना कार्य है)।

भावार्थ : इन गाथाओं में यह सिद्ध किया है कि भावकर्म का कर्ता जीव ही है। यहाँ यह जानना चाहिए कि–परमार्थ से अन्य द्रव्य अन्य द्रव्य के भाव का कर्ता नहीं होता, इसलिए जो चेतन के भाव हैं, उनका कर्ता चेतन ही हो सकता है। इस जीव के अज्ञान से जो मिथ्यात्वादि भावरूप जो परिणाम हैं, वे चेतन हैं, जड़ नहीं; अशुद्धनिश्चयनय से उन्हें चिदाभास भी कहा जाता है। इस प्रकार वे परिणाम चेतन हैं, इसलिए उनका कर्ता भी चेतन ही है; क्योंकि चेतनकर्म का कर्ता चेतन ही होता है – यह परमार्थ है। अभेददृष्टि में तो जीव शुद्धचेतनामात्र ही है, किन्तु जब वह कर्म के निमित्त से परिणमित होता है, तब वह उन–उन परिणामों से युक्त होता है और तब परिणाम–परिणामी की भेददृष्टि में अपने अज्ञानभावरूप परिणामों का कर्ता जीव ही है। अभेददृष्टि में तो कर्ताकर्मभाव ही नहीं है, शुद्धचेतनामात्र जीववस्तु है। इस प्रकार यथार्थतया समझना चाहिए कि चेतनकर्म का कर्ता चेतन ही है।

गाथा - ३२८ से ३३१ पर प्रवचन

अब, '(जीव के) जो मिथ्यात्वभाव होता है, उसका कर्ता कौन है?'–इस बात की भलीभाँति चर्चा करके, 'भावकर्म का कर्ता (अज्ञानी) जीव ही है' यह युक्तिपूर्वक सिद्ध करते हैं–

मिच्छत्तं जदि पयडी मिच्छादिट्ठी करेदि अप्पाणं।
तम्हा अचेदणा ते पयडी णणु कारगो पत्तो।।३२८।।

अहवा एसो जीवो पोग्गलदव्वस्स कुणदि मिच्छत्तं।
तम्हा पोग्गलदव्वं मिच्छादिट्ठी ण पुण जीवो।।३२९।।

अह जीवो पयडी तह पोग्गलदव्वं कुणंति मिच्छत्तं।
तम्हा दोहिं कदं तं दोण्णि वि भुंजंति तस्स फलं।।३३०।।

अह ण पयडी ण जीवो पोग्गलदव्वं करेदि मिच्छत्तं।
तम्हा पोग्गलदव्वं मिच्छत्तं तं तु ण हु मिच्छा।।३३१।।

नीचे हरिगीत।

मिथ्यात्व प्रकृति ही अगर, मिथ्यात्वि जो जीव को करे।
तो तो अचेतन प्रकृति ही कारक बने तुझे मतविषे!।।३२८।।

अथवा करे जो जीव पुद्गलद्रव्य के मिथ्यात्व को।
तो तो बने मिथ्यात्वि पुद्गलद्रव्य आत्मा नहिं बने।।३२९।।

जो जीव अरु प्रकृति करे मिथ्यात्व पुद्गलद्रव्य को।
तो उभयकृत जो होय तत्फल भोग भी हो उभय को।।३३०।।

जो प्रकृति नहिं नहिं जीव करे मिथ्यात्व पुद्गलद्रव्य को।
पुद्गलदरव मिथ्यात्व अकृत, क्या न यह मिथ्या कहो?।।३३१।।

जड़ को कोई भोगवटा होता नहीं, ऐसा कहना है; इसलिए आत्मा ही कर्ता है। प्रकृति नहीं करती, जीव नहीं करे और ऐसा मिथ्यात्व पुद्गल में आवे। बिना कहे मिथ्यात्व पुद्गल में प्रकृति, यह तेरी बात मिथ्या नहीं? आहाहा!

टीका :- ऊपर कोष्ठक में है। **(इससे यह सिद्ध होता है कि अपने मिथ्यात्वभाव का-भावकर्म का-कर्ता जीव ही है।)**

टीका :- जीव ही मिथ्यात्वादि भावकर्म का कर्ता है;... लो! मिथ्याश्रद्धा राग-द्वेष आदि वह जीव ही (कर्ता है)। नियम कहा, 'ही' (कहकर) एकान्त कहा। आहाहा! **जीव ही मिथ्यात्वादि भावकर्म का कर्ता है;...** भावकर्म अर्थात् पुण्य, पाप, दया, दान, व्रत, काम, क्रोध, मान, माया, लोभ, वासना, विषय आदि। आहाहा! इन आदि भावकर्म का कर्ता जीव है, दूसरा कोई कर्ता है नहीं। कर्म से यह हुआ नहीं, इनका कर्ता कर्म है नहीं। आहाहा!

क्योंकि यदि वह (भवकर्म) अचेतन प्रकृति का कार्य हो तो उसे (भावकर्म की) अचेतनत्व का प्रसंग आ जाएगा। आहाहा! क्योंकि राग-द्वेष, वे तो चेतन है और यदि जड़ उनको करे तो अचेतन है, उसे चेतन का प्रसंग आवे। क्या कहा समझ में आया? आहाहा! कि यदि वह करे, पुण्य और पाप, दया, दान मिथ्यात्व भाव, वह जीव की पर्याय और जीव में है, वह चेतन है, भले चेतनाभास है परन्तु वह चेतन में है। उसे यदि दूसरा कर्म करे तो उसको चेतनपना आवे। कर्म जड़ है। वह इन विकारों को करे तो उसे चेतनपना आवे। आहाहा! क्यों?—कि पुण्य और पाप आदि विकारी मिथ्यात्व भाव, वह जीव है, जीव की पर्याय है, वह चेतन है। भले चेतनाभास परन्तु वह चेतन है और यदि जड़ कर्म करे तो वह चेतन हो जाए। आहाहा! अचेतनपने को चेतन का प्रसंग आवे। है? **(भावकर्म की) अचेतनत्व का प्रसंग आ जाएगा। जीव अपने ही मिथ्यात्वादि भावकर्म का कर्ता है;...** आहाहा! मिथ्याश्रद्धा, मिथ्याज्ञान, अव्रत, प्रमाद, कषाय आदि भावकर्म का जीव कर्ता है। आहाहा!

क्योंकि यदि जीव पुद्गलद्रव्य के मिथ्यात्वादि भावकर्म को करे... क्या कहते हैं अब? **यदि जीव पुद्गलद्रव्य के मिथ्यात्वादि भावकर्म को...** उसकी पर्याय को। जड़ पुद्गल की मिथ्यात्व की पर्याय को जीव करे। वह मिथ्यात्व प्रकृति है न, जड़ की? आहाहा! **यदि जीव पुद्गलद्रव्य के मिथ्यात्वादि भावकर्म को करे तो पुद्गलद्रव्य को चेतनत्व का प्रसंग आ जाएगा।** न्याय है। जो राग और पुण्य-पाप के भाव कर्म करे तो कर्म अचेतन है और यह तो चेतन है। आहाहा!

एक जगह इन्हें—पुण्य-पाप को जड़ कहकर कर्म के हैं, (ऐसा) कहकर निकाल डालते हैं। यह स्वभाव की दृष्टिवन्त की अपेक्षा से। आहाहा! ७५-७६-७७ गाथा। राग-द्वेष आत्मा के बिल्कुल नहीं हैं। यह राग-द्वेष कर्म के हैं। कर्म व्यापक है और विकार उसका व्याप्य—कार्य है, ऐसा वहाँ कहा है। यह दृष्टि के स्वभाव की अपेक्षा से। यह तो वस्तु स्थिति कैसी है, उसकी यह बात है। आहाहा!

और जीव तथा प्रकृति दोनों मिथ्यात्वादि भावकर्म के कर्ता हैं, ऐसा भी नहीं है;... देखो! लो! जयसेनाचार्य ने कहा है, दो करते हैं। यहाँ इनकार करते हैं। इसलिए जयसेनाचार्य की टीका लोगों को ठीक पड़ती है न! यह अमृतचन्द्राचार्य की टीका कठिन पड़ती है। **जीव तथा प्रकृति दोनों मिथ्यात्वादि भावकर्म के कर्ता हैं, ऐसा भी नहीं है;...** जीव मिथ्यात्व को करे और पुद्गल मिथ्यात्व को करे, दोनों होकर मिथ्यात्व को करे—ऐसा भी नहीं है। आहाहा!

क्योंकि यदि वे दोनों कर्ता हों तो जीव की भाँति अचेतन प्रकृति को भी उस (भावकर्म) का फल भोगने का प्रसंग आ जाएगा। इस जड़ को राग-द्वेष का फल (भोगना पड़े) तो जड़ में तो भोगने का है नहीं। इन राग-द्वेष का भोगना, हों! उसकी पर्याय को भोगे वह अलग, परन्तु यह राग-द्वेष, पुण्य-पाप को यदि वह करे, राग-द्वेष के फल को भोगना, वह तो इस चेतन के भाव हैं। उस भाव को किस प्रकार भोग सकेगा? आहाहा!

एक ओर ऐसा कहे कि आत्मा चैतन्यस्वरूप है, राग के अंश को भी कर नहीं सकता। यह तो स्वभाव की दृष्टि लाने को यह बात की है। यहाँ कहते हैं कि परन्तु अभी पहली पर्याय में विकार हो, वह कर्म के कारण होता है या दोनों के कारण होता है—इस भूल में पड़ा है, उसे फिर स्वभाव का अनुभव कहाँ से होगा? उसे स्वभाव की दृष्टि कहाँ से होगी? ऐसा कहते हैं। आहाहा!

भावकर्म के कर्ता हैं, ऐसा भी नहीं है; क्योंकि यदि वे दोनों कर्ता हों तो जीव की भाँति अचेतन प्रकृति को भी उस (भावकर्म) का फल भोगने का प्रसंग आ जाएगा। जीव ने किये राग-द्वेष, जीव ने किये पुण्य-पाप, उनका फल जड़ को भोगना पड़े, दोनों इकट्ठे होकर करें तो। जीव तो उनका फल भोगे, वह तो स्वयं का किया हुआ है। इस संयोग

के लिये भले कालभेद है और अपने लिये तो जिस समय करता है, उसी समय भोगता है। अज्ञानी जिस समय राग-द्वेष करता है, उसी समय वेदता है, परन्तु वह वेदन जीव का है। वह यदि जड़ का हो या यदि जड़ उसका कर्ता हो तो उस राग के वेदन को जड़ का करना पड़े। जड़ तो राग को वेद नहीं सकता। आहाहा!

और जीव तथा प्रकृति दोनों मिथ्यात्वादि भावकर्म के अकर्ता हों, सो ऐसा भी नहीं है, क्योंकि यदि वे दोनों अकर्ता हों तो स्वभाव से ही पुद्गलद्रव्य को मिथ्यात्वादि भाव का प्रसंग आ जाएगा। अर्थात् क्या कहते हैं? तब तो पुद्गल अकेला मिथ्यात्वरूप से स्वतन्त्र परिणमता है, ऐसा आवे। अतः मिथ्यात्वरूप परिणमे, ऐसा पुद्गल, ऐसा कहाँ से हो? यहाँ विकारी जीव का निमित्त न हो तो मिथ्यात्व की प्रकृति का परिणमना और उसका जड़ में कहाँ से हो? यदि जीव विकारीरूप बिल्कुल न हो और प्रकृति अकेली कर्म मिथ्यात्वरूप हो तो जड़ को मिथ्यात्व हुआ, उस आत्मा को कुछ नहीं हुआ। थोड़ी सूक्ष्म बात है। आहाहा!

दोनों अकर्ता हों तो स्वभाव से ही पुद्गलद्रव्य को मिथ्यात्वादि भाव का प्रसंग आ जाएगा। इससे यह सिद्ध हुआ कि-जीव कर्ता है और अपना कर्म कार्य है (अर्थात् जीव अपने मिथ्यात्वादि भावकर्म का कर्ता है और अपना भावकर्म अपना कार्य है)। यह कार्य जड़ का और कर्म का है, (ऐसे) दोनों को होवे तो चेतना का भाव... राग-द्वेष, पुण्य-पाप चेतन का भाव है, उसका उसे वेदन (होना चाहिए)। जड़ को क्या वेदन होगा? इस चेतन के भाव का वेदन। अर्थात् जीव उसका कर्ता है परन्तु जड़कर्म नहीं। विशेष कहेंगे....

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)

प्रवचन नं. ३९६, श्लोक - २०३, गाथा - ३२८ से ३४४ गुरुवार, ज्येष्ठ शुक्ल १५
दिनाङ्क - २९-०५-१९८०

भावार्थ। चार गाथायें हैं न? ३२८ से ३३१, उनका भावार्थ। यहाँ पृष्ठ ४९१ है न? **भावकर्म का कर्ता जीव ही है।** क्या कहते हैं? - कि जो कुछ यह पुण्य और पाप; दया, दान, व्रत, भक्ति, काम, क्रोध विकल्प होते हैं, वे आत्मा की पर्याय में स्वतन्त्र होते हैं। वह पर्याय स्वतन्त्र कर्ता होकर करती है। इससे भावकर्म का कर्ता जीव ही है। यहाँ जीव सिद्ध करना है। आहाहा! **इन गाथाओं में यह सिद्ध किया है... यहाँ यह जानना चाहिए कि-परमार्थ से अन्य द्रव्य अन्य द्रव्य के भाव का कर्ता नहीं होता...** प्रत्येक द्रव्य परिणमनशील है-बदलते स्वभाववाला है तो दूसरा उसे बदलावे - ऐसा होता नहीं।

मुमुक्षु : मदद तो करे?

पूज्य गुरुदेवश्री : जरा भी मदद करे नहीं। वह पदार्थ अस्ति है या नहीं? और है तो उसमें उत्पाद-व्यय ऐसी पर्याय का धर्म है या नहीं? और उत्पाद-व्यय का पर्याय का धर्म उस-उस समय स्वयं से होता है। अभी तो विकार जीव का है, ऐसा सिद्ध करना है; वरना वास्तव में तो जैसे दीपक है, दीपक... यह आ गया अपने, दीपक के पास चाहे जितनी घट-पट दूसरी चीज़ें हों, वह घट को जानता नहीं वास्तव में! वह तो दीपक का प्रकाश स्वयं का है, उसे प्रकाशता है। उस-उस चीज़ को वह प्रकाशता है, ऐसा प्रकाशकपने का स्वभाव उसका और स्वयं का है, उसे वह जानता है, ऐसा है। वास्तविक स्वरूप तो यह है।

यह तो अभी भावकर्म पर्याय में दूसरे के कारण होता है, (ऐसा) माने, वह झूठ है। भावकर्म होता है अपनी पर्याय में, परन्तु धर्मी को जैसे दीपक के आगे चाहे जो चीज़ें आवें-

जायें, उन्हें वह दीपक करता नहीं है; वैसे वे चाहे जितनी आये-जायें, उनका दीपक का प्रकाश, वह करता नहीं है। समझ में आया? आहाहा!

इसी प्रकार यह चैतन्य दीपक, भगवान चैतन्य दीपक; वह इन शरीर, वाणी, मन अनेक प्रकार के हों, बदलें, उन्हें यह ज्ञान जानता है। जानता है, वह भी इन्हें नहीं जानता; वास्तव में वह जानने की पर्याय का, स्वयं को जानने का और उन्हें जानने का पर्याय का स्वभाव है; इसलिए स्वयं परिणमता है। समझ में आया? चैतन्य दीपक। जैसे दीपक है, वह है। पदार्थ आवे-जावे, वैसा ही प्रकाशित करता है,तथापि वह प्रकाश का स्वभाव ही, वे पदार्थ जाए-आवें, उनके कारण नहीं है। वह तो स्वयं के कारण है और जो पदार्थ जाएँ-आयें, वे स्वयं के कारण जाते-आते हैं। आहाहा!

मुमुक्षु : पैसे आते हैं, वे हमारी मेहनत से नहीं?

पूज्य गुरुदेवश्री : वे पैसे आनेवाले थे, वहाँ ज्ञान ने जाना है, वे पैसे आये, उन्हें नहीं; वह ज्ञानरूपी दीपक अपने को और पर को प्रकाशित करता है। उस-उस समय में वही पर्याय पैसे को जानने की होनेवाली थी, उस प्रकार से हुई है। पैसा लाया नहीं, पैसा इसका नहीं, पैसा यह खर्च नहीं कर सकता। बलुभाई! यह सब... आहाहा!

चाहे जैसा दीपक हो, वह तो अपने स्वभाव से प्रकाशित करता है। उसके साथ दूसरे पदार्थ आवें-जावें, इसलिए उसमें कुछ विकृत होता है और आवें-जावें, उनके कारण यहाँ प्रकाशित करता है और यहाँ उन्हें और स्वयं को स्वयं से प्रकाशित करता है, इसलिए वह वस्तु आती-जाती है? आहाहा! देवीलालजी! समझ में आया? बात तो मुद्दे की बात यह है।

यहाँ तो कर्ता इसे सिद्ध करना है, क्योंकि कर्ता पर्याय कहीं जड़ में नहीं होती; होती है इसमें (जीव में) इसके पुरुषार्थ के कारण से और उसके काल में, परन्तु तो भी वास्तव में तो जहाँ दृष्टि जहाँ आत्मा की हुई है कि मैं तो ज्ञानस्वरूप ही हूँ - ऐसा जहाँ ज्ञान हुआ, उस समय का राग, उसका यहाँ ज्ञान, राग है; इसलिए होता है - ऐसा भी नहीं है तथा यहाँ ज्ञान का बदलना होता है, वह राग के कारण नहीं। राग को जानने का ज्ञान, उस राग के

कारण नहीं तथा यहाँ राग का जानना हुआ, इसलिए राग आया - ऐसा भी नहीं। आहाहा! ऐसा सूक्ष्म है।

यहाँ तो भावकर्म; भावकर्म विकारी पर्याय है। आहाहा! पर तो कर्ता नहीं, परन्तु इसकी पर्याय में—आत्मा की पर्याय में पुण्य-पाप आदि असंख्य प्रकार (का) विकार हो, बस! इतना यहाँ सिद्ध करना है। **इन गाथाओं में यह सिद्ध किया है... यहाँ यह जानना चाहिए कि-परमार्थ से अन्य द्रव्य अन्य द्रव्य के भाव का कर्ता नहीं होता...** आहाहा! दीपक उस चीज़ को लावे या छोड़े-ऐसा नहीं होता, तथा दीपक में प्रकाश होता है, उन चीज़ों को मानो प्रकाश जानता है, इसलिए उनके कारण प्रकाश होता है - ऐसा भी नहीं है।

इसी प्रकार चैतन्य दीपक, भगवान चैतन्य दीपक अन्दर, उसे उस काल में जो चीज़ रागादि हों, उन्हें वास्तव में तो जानने के स्वभाव के कारण (जानता है)। राग है; इसलिए जानता है-ऐसा भी नहीं। आहाहा! उसका अपना उस प्रकार के स्व-पर प्रकाशक स्वभाव स्वतः है। पर को प्रकाशित करता है-(ऐसा) नहीं है। पर से प्रकाशित नहीं करता, पर को प्रकाशित नहीं करता। आहाहा! और पर के कारण प्रकाशित नहीं करता। आहाहा! इसमें क्या समझना?

एक द्रव्य दूसरे द्रव्य के भाव का कर्ता नहीं होता, पर्याय कहाँ से करे? क्योंकि प्रत्येक द्रव्य उस समय में उत्पाद-व्यय की पर्याय के कार्यरहित द्रव्य है नहीं। कार्यरहित द्रव्य नहीं है। आहाहा! उत्पाद-व्ययरहित कोई द्रव्य नहीं है; इसलिए उत्पाद-व्यय का कार्य कोई दूसरा करे-ऐसा नहीं होता। आहाहा! अभी तो इतने से कठिन पड़ता है, इससे आगे अब ले जाएँगे।

परमार्थ से अन्य द्रव्य अन्य द्रव्य के भाव का कर्ता नहीं होता; इसलिए जो चेतन के भाव हैं,... अभी रागादि, हों! **उनका कर्ता चेतन ही हो सकता है।** विकल्प की क्रिया का कर्ता, यह चेतन है। परिणमता है न, यह? इसलिए प्रवचनसार में ४७ नय में लिया है न? कि परिणमता है, इसलिए कर्ता स्वयं है। आहा! करनेयोग्य है या नहीं - यह प्रश्न यहाँ नहीं है। मात्र परिणमन करता है; इसलिए आत्मा उनका कर्ता है। आहाहा!

किनका ?-रागादि का। पर का नहीं। राग हुआ, इसलिए यह हाथ हिलता है, वाणी बोली जाती है, शरीर चलता है या रोटी का चूरा होता है या लड्डूओं का चूरा होता है; पूरा है, उसके टुकड़े होते हैं; कपड़ा है, उसे फाड़े... (ऐसा नहीं)।...

मुमुक्षु : रोटी का टुकड़ा दाल में तो डुबोवे न ?

पूज्य गुरुदेवश्री : कोई डुबोवे और कौन डुबोवे ? आहाहा ! यह वस्त्र ऐसे फटता है, वह फाड़नेवाला फाड़ता तो नहीं। एकदम.. ! वह तो उसकी पर्याय उस समय अलग होने की थी।

मुमुक्षु : ये वस्त्र बलुभाई ने नहीं किये

पूज्य गुरुदेवश्री : कुछ किया नहीं, धूल भी किया नहीं।

मुमुक्षु : बलुभाई ने वस्त्र पहिना नहीं ?

पूज्य गुरुदेवश्री : पहिना भी नहीं, पहिने कौन ? जड़ ? आहाहा ! वह तो इसके क्षेत्र में वहाँ आने की पर्याय की स्थिति है, तदनुसार आकर रहा है। आहाहा ! ऐसी बात है। समझ में आया इसमें ?

एक तो यहाँ यह सिद्ध किया कि भगवान आत्मा तो ज्ञानस्वरूपी आनन्दमूर्ति प्रभु है, परन्तु उसकी पर्याय में यह विकार होता है। इससे कोई ऐसा कहे कि उसके गुण का स्वभाव तो विकार का है नहीं; द्रव्य का विकार (करने का स्वभाव) नहीं है; इसलिए विकार किसी पर से होता है (तो) ऐसा नहीं है। वह विकार भी उस समय की ऊपर से पर्याय है, ऊपर-ऊपर। गुण और द्रव्य तो शुद्ध है, परन्तु ऊपर-ऊपर विकृत जो होता है, उसका कर्ता अर्थात् रचनेवाला, अर्थात् परिणमन करनेवाला आत्मा है। आहाहा !

मुमुक्षु : हमें क्या करना - यह बताओ ?

पूज्य गुरुदेवश्री : यह करना-ऐसा कहते हैं। राग होता है, वह अपनी पर्याय में है - ऐसा जानकर उससे (अपने को) भिन्न जानना। और भिन्न जानने में राग है, इसलिए जानने में भिन्न आया और यहाँ जानने में आया, इसलिए राग वहाँ आया है-ऐसा नहीं है। ऐसा,

बलुभाई! यह कहाँ तुम्हारा वर्षीतप रहा इसमें? आहाहा! प्रभु का मार्ग सूक्ष्म है, प्रभु! ऊपर-ऊपर से मान ले, वह वस्तु नहीं। आहाहा!

चेतन के भाव हैं, उनका कर्ता चेतन ही हो सकता है। देखा? दया, दान, व्रत, भक्ति आदि पर के कारण से नहीं है। अपनी पर्याय में उस काल में उत्पाद-व्यय होने का स्वभाव है, इसलिए वे चेतन के भाव चेतन करता है। आहाहा! **इस जीव के अज्ञान से जो...** अब आया, यह विकार का कर्तापना लिया, परन्तु वह अज्ञान से है। आहाहा! **इस जीव के अज्ञान से जो मिथ्यात्वादि भावरूप जो परिणाम हैं, वे चेतन हैं,...** आहाहा! ये मिथ्यात्व के परिणाम चेतन के हैं। कर्म के कारण से नहीं, कर्म से नहीं, कर्म का जोर आया, इसलिए मिथ्यात्व का भाव हुआ - ऐसा नहीं। आहाहा! उस समय मिथ्याश्रद्धा का भाव होने का स्वयं के काल में (था), उसका कर्ता चेतन है। इसे और पर को कोई सम्बन्ध नहीं है। यह तो आ गया न पहले? **'सर्वः अपि सम्बन्ध नास्ति।'** (कलश, २००) आहाहा!

जड़ नहीं;... वे परिणाम चेतन के हैं। मिथ्यात्व (अर्थात्) पर में सुख है, जहाँ खाने में ठीक सब्जी आयी, वहाँ इसे ठीक पड़ता है - ऐसा जो भाव मिथ्यात्व का, वह मिथ्यात्व का भाव है। आहाहा! कपड़ा एक अच्छा पहिना हो, तो मैं अच्छा दिखता हूँ, ऐसी मान्यता, वह मिथ्यात्व है। आहाहा!

मुमुक्षु : खराब कपड़ा पहिने तो अच्छा दिखे?

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन दिखे अच्छा? धूल। वह कपड़े, कपड़े में रहे; शरीर में शरीर रहा; आत्मा, आत्मा में रहा; कर्म, कर्म में रहे! आत्मा, आत्मा में रहा; कर्म, कर्म में रहा; शरीर, शरीर में रहा; कपड़ा, कपड़े में रहा। आहाहा! ऐसी बात है।

मुमुक्षु : सबने कपड़े पहिने हुए नहीं हैं?

पूज्य गुरुदेवश्री : कौन पहिने और कौन छोड़े? आहाहा! गजब बात है। वस्तु की स्थिति ही ऐसी है। परमात्मा ने कहा है, ऐसे नहीं; वस्तु का स्वभाव ही ऐसा है, वैसा भगवान ने जाना और वैसा कहा है। आहाहा! तुझमें तुझे विकृत अवस्था होती है, वह तुझसे, तुझमें (तेरे कारण से होती है)।

अशुद्धनिश्चयनय से उन्हें चिदाभास भी कहा जाता है। अर्थात् चेतन नहीं, परन्तु चेतनाभास। है इसके, कर्म के नहीं, कर्म के कारण नहीं। आहाहा! **इस प्रकार वे परिणाम चेतन हैं, इसलिए उनका कर्ता भी चेतन ही है;...** परिणाम मिथ्यात्व और राग चेतन है; चेतन हैं, इसलिए उनका कर्ता चेतन है; वे कोई जड़ नहीं हैं। आहाहा! अभी यह सिद्ध करना है। **परिणाम चेतन हैं,...** आहाहा! **उनका कर्ता भी चेतन ही है;...** आहाहा! **क्योंकि चेतनकर्म का कर्ता चेतन ही होता है – यह परमार्थ है।** और देखा? अशुद्ध निश्चयनय से, परन्तु वह परमार्थ है। बात बराबर है-ऐसा कहते हैं। भले अशुद्ध निश्चय से कहा, परिणाम अशुद्ध निश्चय से कहते हैं, परन्तु वह अशुद्धनय से इसका है, यह परमार्थ है। आहाहा!

एक ओर कहे कि विकार के परिणाम हुए, इससे यहाँ ज्ञान को बाधा आयी कुछ, (ऐसा) बिलकुल नहीं। चैतन्य, चैतन्यरूप से स्व-पररूप से प्रकाशता ही है। वह वास्तव में पर को प्रकाशित करता है, ऐसा कहना भी व्यवहार है। अपने में स्व-पर प्रकाशक की पर्याय उस काल में चाहे जो पदार्थ आये-जाये, टूटे-फूटे, उसका उसी प्रकार से यहाँ जानना होता है और यह जानना होता है, वह उसके कारण से; टूटे-फूटे उसके कारण से नहीं। अरे! जानना हो, उसमें जरा ठीक दूसरी चीज़ टूटी, उसमें द्वेष आया! इसे (स्वयं के) कारण उसका जानपना होता है, उसके (पदार्थ के) कारण से नहीं। आहाहा! ऐसी बातें हैं। लोगों ने जैनधर्म को बाहर में बिगाड़ दिया, वह कुछ बिगड़ा नहीं, जैनधर्म बिगड़ता नहीं। लोगों ने स्वयं को बिगाड़कर जैनधर्म माना, बिगाड़कर जैनधर्म माना। जैनधर्म बिगड़ता नहीं; जैनधर्म तो उज्ज्वल (ही रहता है)। आहाहा!

चैतन्यस्वरूप भगवान आत्मा चेतन के विकार का कर्ता चेतन है। उसका कर्ता (चेतन) है। ज्यों? **चेतनकर्म का कर्ता चेतन ही होता है – यह परमार्थ है।** देखा? यहाँ परमार्थ है-कहा। आहाहा! उस विकार का कर्ता आत्मा है, यह परमार्थ है-ऐसा कहते हैं। परमार्थ अर्थात् सत्य बात है। वह कर्म के कारण विकार हुआ है-ऐसा बिल्कुल नहीं है। आहाहा! जैसे सब लोग घर के, परिवार के एकत्रित हुए और इसे यह प्रसंग करने पड़े, इसके लिए इसे राग आता है, ऐसा भी नहीं। आहा! पुत्र का विवाह करना पड़े, पुत्री

का विवाह करना पड़े, उसके वस्त्र लाने का—यह बिल्कुल कर सकता नहीं। यह तो उस समय होता है, तब कर्ता राग का होता है और ज्ञानी तो राग का भी कर्ता नहीं; उसका—राग का—जाननेवाला है। उसके चैतन्य के प्रकाश के समक्ष चाहे जितनी चीज़ें आयें-जायें; राग, दूसरी चीज़ें (आयें-जायें), वे तो स्वयं अपने परिणमनरूप से, चैतन्यरूप से, स्व-परप्रकाशकरूप से परिणमता ही है। राग को जानता है और उन्हें जानता है। राग और उन्हें जानता है, ऐसा भी नहीं। राग और उस चीज़ की और का जो ज्ञान अपना है, वह अपने को स्वयं जानता है। आहाहा! ऐसा सूक्ष्म। आहाहा!

यह परमार्थ है। यहाँ कहा न? एक ओर कहा, विकार का कर्ता जीव है, यह परमार्थ है। परमार्थ अर्थात् सत्य बात है। वह कहीं विकार कोई कर्म कराता है और वे चीज़ें कराती हैं, बाहर की चीज़ों के संग से और प्रसंग से विकार होता है, ऐसा नहीं है। आहाहा!

श्रोता : राग का कर्ता हो तो आत्मा का स्वभाव हो जाए।

पूज्य गुरुदेवश्री : कर्ता, पर्याय का स्वभाव है, पर्याय का स्वभाव है, पर्याय का स्वभाव है। पर्याय कर्ता है। आहाहा! द्रव्य के गुण तो सब निर्मल हैं, सब—अनन्त गुण निर्मल हैं। आहाहा! बात सूक्ष्म है, बापू! वीतराग का मार्ग कोई अलौकिक है। आहाहा!

श्रोता : वीतराग अलौकिक हैं तो उनका मार्ग भी अलौकिक ही होगा न!

पूज्य गुरुदेवश्री : अलौकिक है। आहाहा!

इस आत्मा के समीप में जो चीज़ें शरीर, वाणी, कर्म, पुत्र-पुत्री सब दिखायी दें, बड़े हों, छोटे हों, यह सब उनके विवाह (हों), आत्मा उनके प्रति राग करे। यह राग करे, उसमें वे कारण नहीं हैं। राग स्वयं करता है और वास्तव में तो यदि ज्ञानी होवे तो राग को भी जानता है; वह राग के कारण नहीं (जानता)। आहाहा! धर्मी जीव तो अपने आत्मा की पर्याय को-धर्म को, उसका ज्ञान और पर का ज्ञान, वह तो अपना ज्ञान है। आहाहा! उसे स्वयं जानता है; पर को नहीं। आहाहा! समझ में आया?

मुमुक्षु : पर को तो व्यवहार से जानता है।

पूज्य गुरुदेवश्री : व्यवहार खोटा, व्यवहार खोटा। व्यवहार का कथन ही खोटा है। आहाहा! इस आत्मा में पुण्य और पाप का जो विकार होता है तो कोई घर के लोग हैं या उनके कारण होता है-ऐसा नहीं है। आहाहा!

अब, **अभेददृष्टि में तो...** देखो! अब आया। **जीव शुद्धचेतनामात्र ही है,...** आहाहा! यह तो भेददृष्टि से कथन किया कि विकार जितना विषय का, भोग का, राग का, लेने का, देने का, खाने का, पीने का जो राग होता है, वह जीव करता है और जीव की पर्याय में परमार्थ से है। यह भेद की दृष्टि से बात की। क्योंकि जो त्रिकाली आत्मा, उसकी यह पर्याय तो भेद पड़ा। यह पर्याय उसकी है, इतना भेद पाड़कर कहा कि परमार्थ से उसका कर्ता है। आहाहा! बहुत सूक्ष्म बात, बापू!

अभेददृष्टि में तो... आहाहा! **जीव शुद्धचेतनामात्र ही है,...** यह क्या कहा? तीन लोक के नाथ तीर्थंकरदेव फरमाते हैं कि अभेददृष्टि में जो राग हुआ और राग के कारण संयोगी कोई स्वतन्त्र चीज़ हो, उसे मात्र चेतन जानता ही है। वह यह चीज़ है; इसलिए उसे जानता है-ऐसा नहीं है। उस चीज़ सम्बन्धी का और अपने सम्बन्धी का चैतन्य का परिणमन स्वयं स्वतन्त्र स्वयं करता है। आहाहा! ऐसी बात अब। सामायिक करो, प्रौषध करो, प्रतिक्रमण करो, धर्म हो गया! धर्म कहीं नहीं है, बापू! धर्म सूक्ष्म चीज़ है, भाई! भव चला जाता है और यह चीज़ हाथ में नहीं आवे तो कहाँ जायेगा? आहाहा! उसका इसे विचार करना पड़ेगा! आहाहा! ऐसा अवसर कब मिलेगा?

कहते हैं, दोनों बातें डाली हैं कि जो-जो आत्मा पुण्य और पाप के भाव करता है, वे स्त्री के कारण नहीं, पुत्र के कारण नहीं, व्यापार के कारण नहीं। अपने विकार के परिणाम स्वयं अपने से करता है। आहाहा! अब यदि अभेददृष्टि से देखें तो यह राग का भी कर्ता नहीं है। आहाहा!

अभेददृष्टि में तो जीव शुद्धचेतनामात्र ही है,... राग भी नहीं। आहाहा! चैतन्यस्वरूप भगवान के प्रकाश के समक्ष राग या दूसरी चीज़ चाहे जितनी आये-जाये, इससे ज्ञान को विकृत कर डाले या उसके कारण यहाँ ज्ञान हो, ऐसा नहीं है। आहाहा! बलुभाई! कभी सुना नहीं होगा वहाँ। आहाहा! ऐसी बात है।

कहते हैं, दो बातें की। एक बात तो तू पर के कारण तुझमें विकार होता है, यह बात छोड़ दे। विकार तेरा तेरे कारण पर्याय में, पर्याय में विकार होता है, एक बात। अब दूसरी बात—इससे कहीं कल्याण नहीं है। अब उस भेद को छोड़कर अभेददृष्टि। अखण्डानन्द प्रभु आत्मा की दृष्टि में; यह राग होता है, उसे भी राग है; इसलिए जानता है - ऐसा नहीं है। यह चैतन्य का उस समय का परिणमन, वह स्वयं को और पर को जाने, उस प्रकार से उत्पन्न होता है। अभेददृष्टि में राग का कर्ता आत्मा नहीं है। राग का कर्ता तो नहीं, परन्तु राग से यहाँ ज्ञान होता है, ऐसा भी नहीं है। (यदि ऐसा होवे) तो राग कर्ता और ज्ञान कार्य हुआ। (परन्तु) ऐसा भी नहीं है। आहाहा! सूक्ष्म बातें बहुत, बापू! वीतराग सर्वज्ञदेव त्रिलोकनाथ के कथन ठेठ आत्मा को स्पर्शकर हैं। आहाहा!

अभेददृष्टि में तो जीव शुद्धचेतनामात्र ही है,... यहाँ ऐसा कहा। क्या? यह राग भी नहीं, ऐसा। विकार भी उसका नहीं। वह तो पहले विकार सिद्ध किया कि पर से विकार नहीं; विकार तेरा तुझमें है। इतना अशुद्धनय का परमार्थ से अर्थात् सत्य बात है, यह सिद्ध किया। परन्तु उतने से अब रुका नहीं। यहाँ तो अभेददृष्टि में जीव शुद्धचेतनामात्र है, राग भी नहीं। आहाहा! चैतन्य की ही अभेददृष्टि करने से, सम्यग्दर्शन करने से, वह राग जो होता है, उसका यह कर्ता भी नहीं है। राग हो, उसे जानता है—ऐसा कहना, वह व्यवहार है। जाननेवाला, जाननेवाले को जानते हुए राग का ज्ञान हो जाता है, उसे राग का ज्ञान है—ऐसा व्यवहार से कहा जाता है। आहाहा! ऐसा किस प्रकार का धर्म, मार्ग! आहाहा!

किन्तु जब वह कर्म के निमित्त से परिणमित होता है,... निमित्त से परिणमित होता है इसका अर्थ (यह कि) कर्म के कारण परिणमता है, ऐसा नहीं। निमित्त पर लक्ष्य करता है; इसलिए वह निमित्त से परिणमता है, ऐसा कहने में आया है। कर्म के निमित्त से अर्थात् कर्म के लक्ष्य से। करनेवाला स्वयं, स्वयं से विकार करता है। आहाहा! समझ में आया? **कर्म के निमित्त से परिणमित होता है,...** कर्म के निमित्त से परिणमित होता है—ऐसा जहाँ आवे, वहाँ ऐसा कहे कि कर्म के कारण विकार होता है (तो) ऐसा नहीं है। मात्र स्वयं स्वसन्मुख का लक्ष्य छोड़कर, चैतन्य आनन्द का नाथ प्रभु,

उसका लक्ष्य छोड़कर पर का लक्ष्य करता है; इसलिए उसे निमित्त कहा गया है। उस निमित्त के लक्ष्य से जो विकार होता है, वह कर्म के निमित्त से परिणमता है, ऐसा कहा गया है। आहाहा! विकार होता है, उसमें उसका लक्ष्य पर के ऊपर है, विकार की दशा की दिशा पर के ऊपर है। इससे बताया कि निमित्त, इसकी दिशा है। निमित्त उसकी दशा कराता है, ऐसा नहीं है। आहाहा! समझ में आया?

कर्म के निमित्त से परिणमित होता है,... इसलिए यहाँ से ऐसा ले कि कर्म के कारण परिणमता है। वह कर्म के कारण बात ही नहीं है। कर्म पर, जड़, परपदार्थ है; तू परपदार्थ। कर्म तुझे स्पर्श ही नहीं करते, तू उन्हें स्पर्श नहीं करता और तुझे विकार करावे कर्म? जैन में यह सब चला है। बस, कर्म के कारण होता है, कर्म के कारण होता है।

यहाँ कहते हैं **कर्म के निमित्त से परिणमित होता है, तब वह उन-उन परिणामों से युक्त होता है...** है तो अभेद शुद्धचेतनामात्र ही है। आहाहा! शुद्धचेतनामात्र ही आत्मा है। यह शुद्ध चैतन्यवस्तु आनन्दस्वरूप अतीन्द्रिय आनन्द की मूर्ति प्रभु आत्मा है। आहाहा! परन्तु उसे भूलकर अज्ञानभाव से परिणमता है। आहाहा! **तब वह उन-उन परिणामों से युक्त होता है...** परिणमता है, इसलिए परिणाम से युक्त होता है। परिणामसहित होता है। आहाहा! क्या कहा यह? - कि उन परिणामसहित होना, यह इसका द्रव्य-गुण का स्वरूप नहीं है, परन्तु पर्याय में विकार होने से उन परिणाम से युक्त है। पर के कारण युक्त होता है, ऐसा नहीं है। आहा! स्वयं के कारण से परिणाम युक्त होता है। मिथ्यात्व और राग-द्वेष परिणाम स्वयं के कारण से युक्त होता है। पर के कारण कुछ नहीं होता। आहाहा! कितना याद रखना इसमें?

और तब परिणाम-परिणामी की भेददृष्टि में... देखो! **अपने अज्ञानभावरूप परिणामों का कर्ता जीव ही है।** तब परिणाम जो विकार हुए और परिणामी द्रव्य की भेददृष्टि हुई। उसमें **अपने अज्ञानभावरूप परिणामों का कर्ता जीव ही है।** आहाहा! एक तो सबसे भिन्न निकालकर और विकार होता है, वह भी तुझसे होता है, दूसरे से नहीं, यहाँ तक लाये। दूसरी चीज़ें निकाल डालीं। एक-एक चीज़। मेरा देश और मेरी स्त्री और

मेरा पुत्र... सब बातें खोटी की खोटी। सब गप्प ही गप्प। किसी का पुत्र नहीं, किसी की स्त्री नहीं। सब के सब तत्त्व भिन्न हैं। आहाहा!

यह एक तो सबके तत्त्व सब हैं, इसलिए उनके कारण जीव में विकार होता है, ऐसा नहीं है। इसलिए विकार होता है, वह भेददृष्टि से परिणाम, परिणामी का है। परिणामी अर्थात् द्रव्य, उसका परिणाम है। ऐसी बात की है। आहाहा! **अभेददृष्टि में...** आहाहा! गजब मार्ग! **अभेददृष्टि में तो कर्ताकर्मभाव ही नहीं है,...** देखा? आहाहा! चैतन्य अभेद और पूर्ण है, ऐसी जहाँ दृष्टि हुई, पश्चात् पर्याय में जो राग हो, उसका वह कर्ता नहीं है; उसका वह जाननेवाला भी नहीं। जाननेवाला है—ऐसा कहना, वह व्यवहार है। आहाहा! कर्ता तो नहीं परन्तु उसका जाननेवाला है—ऐसा कहना, वह व्यवहार है परन्तु उस समय में उन रागादि का ज्ञान अपने में हुआ है, इसलिए स्वयं राग का कर्ता नहीं, परन्तु ज्ञान का कर्ता है। आहाहा! यह पढ़ा भी नहीं होगा। बलुभाई! पढ़े तो कुछ समझ पड़े, ऐसा नहीं है। आहाहा! ऐसी बात है, बापू!

मुमुक्षु : हमारे पढ़ना नहीं क्योंकि समझ में नहीं आता, ऐसा आपके कहने का फल आया।

पूज्य गुरुदेवश्री : परन्तु पढ़े तो खबर पड़े कि नहीं पढ़ा जाता-नहीं समझ में आता। पढ़े तब खबर पड़े कि यह समझ में नहीं आता।

मुमुक्षु : पढ़कर समझ में नहीं आता....

पूज्य गुरुदेवश्री : भले समझ में नहीं आता, परन्तु पढ़े तब, खबर पड़े न कि समझ में नहीं आता। पढ़े बिना अध्धर से (कहे कि) हमें समझ में नहीं आता। अर्थात् क्या? कहते थे न? हमारा मास्टर ऐसा था, पिचहत्तर वर्ष पहले की बात है, पिचहत्तर वर्ष पहले की बात है। मास्टर ऐसा था, विद्यालय में जो दो, चार, पाँच होशियार लड़के हों, उन्हें घर में बुलावे। स्त्री नहीं थी (इसलिए) स्वयं पकाते थे। पकाने का पकावे और बड़े-बड़े लड़कों को बुलावे, उन्हें सिखावे परन्तु उन्हें पहले ऐसा कहे कि यह पाठ पढ़कर लाना, पढ़कर यहाँ लाना, फिर तुम क्या समझे और मैं क्या उसका अर्थ करता हूँ, तब तुम्हें अन्तर ख्याल में आयेगा।

वे नरोत्तम मास्टर थे। दो, चार लड़के होशियार हों, उन्हें बुलावे। स्वयं पकाते जायें रोटी, दाल और बीच में बोलते जायें, ये बात समझाते जायें। देखो, इसका अर्थ ऐसा है। यह मैंने पढ़ा, तब मुझे ख्याल में नहीं आया था। परन्तु पढ़े, तब खबर पड़े न कि यह ख्याल नहीं आया। जहाँ पढ़ने की ही दरकार नहीं... आहाहा!

अब यहाँ कहते हैं कि शुभ-अशुभभाव, हिंसा, झूठ, चोरी, विषय, दया, दान, काम, क्रोध, परिणाम जीव करता है। वह सब विकार है। वह पर्याय में द्रव्य-गुण के आश्रय बिना एक समय की पर्याय में स्वतन्त्र होता है; वह द्रव्य-गुण के कारण नहीं, परवस्तु के कारण नहीं। आहाहा! इसलिए वह परमार्थ है, यथावत बात है, ऐसा। विकार वह कर्ता है, यह बात भेददृष्टि में बराबर है।

अब **अभेददृष्टि में...** आहाहा! **तो कर्ताकर्मभाव ही नहीं है,...** आहाहा! भगवान चेतनस्वरूप को रागादि चाहे जो चीज़ें बाहर की आवे-जावे या राग में तीव्र-मन्द हो, उसे आत्मा अपने से, अपने में, अपने द्वारा जानता है। आहाहा! राग के कारण नहीं। **अभेददृष्टि में...** है न? **कर्ताकर्मभाव ही नहीं है, शुद्धचेतनामात्र जीववस्तु है।** आहाहा! भगवान आत्मा शुद्ध पवित्र चेतनामात्र तत्त्व अन्दर है। उस पर दृष्टि नहीं और पर्याय पर दृष्टि है और बाहर पर दृष्टि है; इसलिए चौरासी के अवतार में भटक मरता है। आहाहा! यहाँ अरबोंपति बनिया हो, मरकर ढ़ोर होता है। धर्म नहीं, पुण्य नहीं, पुण्य का ठिकाना नहीं। आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि भेददृष्टि में तो तुझे समझाया कि विकार है, वह तुझमें-पर्याय में है। पर्याय में यह भेद पड़ा न? पर्याय। द्रव्य-गुण रहे नहीं, पर्याय में विकार किया। विकार तेरा, तुझसे, तुझमें, तेरे कारण होता है। अब अभेददृष्टि से देखें तो... आहाहा! पर्यायदृष्टि छोड़ दी। वस्तु की दृष्टि से देखें तो **शुद्धचेतनामात्र जीववस्तु है।** शुद्धचेतना, हों! वापस अकेली चेतना नहीं। शुद्धचेतना अर्थात् राग आवे, उसे वह अपने में रहकर अपने से जानता है। आहाहा! संयोग आवे, उन्हें भी अपने में रहकर अपने से जानता है। यह संयोग का होता नहीं, वह राग का होता नहीं; राग और संयोग से यहाँ ज्ञान हो, ऐसा भी नहीं। आहाहा! ऐसी सूक्ष्म बात है।

व्यापारी को धन्धे के कारण निवृत्ति नहीं मिलती। पूरे दिन पाप का धन्धा। उसमें दुकान की पैढ़ी में बैठा हो तो मानो ओहोहो! उसमें प्रतिदिन की आमदनी पाँच सौ, हजार की हो तो लवलीन हो जाये वह तो तुम्हारे। हमारे कुँवरजीभाई थे न, पालेज में हमारी दुकान थी न? है न दुकान वहाँ? अभी वर्तमान में बड़ी दुकान है। दुकान पर बैठे तो मानो ऐसे.. ऐसे, ओहोहो (मानो) क्या किया और क्या करते हैं! मेरे द्वारा कहा गया था। (संवत्) १९६४ के वर्ष की बात है। ६४... ६४। १८ वर्ष की उम्र थी। अभी ९१ चलते हैं। ९१। तब मैंने उन्हें कहा था, यह क्या है परन्तु यह? पूरे दिन यह जंजाल, यह किया, यह किया। कुछ निवृत्ति ही (नहीं मिलती) गाँव में साधु आवे तो फुरसत नहीं मिलती। उस समय तो उन स्थानकवासी साधु को मानते थे न! स्थानकवासी थे न (मैंने कहा) मरकर ढोर होगा, कहा। याद रखना। दो-दो लाख की आमदनी थी। अभी अधिक है। बड़ी दुकान है। चार लाख की आमदनी है। वही दुकान है। मरकर ढोर होगा, कहा। ऐसा कहा था, हों! बोले नहीं मेरे सामने। आहाहा! कुँवरजीभाई को (कहा था) हँसने लगते। भगत है कुछ कहता है। भगत है, सुनो, बस! क्या है परन्तु यह? पूरे दिन दुकान.. दुकान.. दुकान.. दुकान। आत्मा क्या? साधु गाँव में आये, वह सुनने, सुनने को फुरसत नहीं मिलती। पूरे दिन सामने न देखे। रात्रि को आठ बजे जाये। बहियों में नामा लिखकर आठ बजे जाये। वह साधु दिन के नौ बजे आया हो, यह (रात्रि में) आठ बजे जाये। आहाहा! यह धन्धा जगत का, पाप का पूरे दिन।

यहाँ कहते हैं कि तुझे धन्धे के कारण राग नहीं हुआ। तुझे राग हुआ है तेरे पुरुषार्थ की कमजोरी के कारण। वह भी हम भेददृष्टि से कथन करते हैं। पर्याय का भेद पड़ा न! परन्तु अभेददृष्टि से देखें तो... आहाहा! तो चेतनमात्र, शुद्ध चेतनमात्र परिणामों का कर्ता जीव ही है। आहाहा!

शुद्धचेतनामात्र जीववस्तु है। आहाहा! वह तो जलहल दीपक, दीपक है। दीपक के पास चाहे जो चीज़ आती-जाती हो, (वह) कहीं दीपक को विकृत नहीं करती और दीपक को वह जनवाती भी नहीं। आहाहा! इसी प्रकार यह चैतन्य दीपक, संयोगी चीज़ें अनेक प्रकार से साथ में बने, उनके कारण यह चैतन्य दीपक विकृत नहीं हुआ, तथा

वह हुआ, उनके कारण जानता नहीं परन्तु अपना स्व-पर को जानने का स्वभाव है, इसलिए उस काल में जानता है। आहाहा! इसमें समझ में आया कुछ? सूक्ष्म बात है। आहाहा!

अभेददृष्टि में तो कर्ताकर्मभाव ही नहीं है,... देखा? विकार का कर्ता और विकार कार्य, यह तो मिथ्यादृष्टि में, भेददृष्टि में है; वह भी पर के कारण नहीं। अब अभेददृष्टि में तो उस विकार का कर्ता और कर्म वह है ही नहीं। क्योंकि दृष्टि पड़ी है आत्मा पर। आत्मा तो शुद्धचैतन्यमूर्ति है, इसलिए वह राग का और विकार जो होता है, उसका वह शुद्ध चेतनामात्र वस्तु कर्ता नहीं है। आहाहा! इतने सब पहुँचना और निवृत्ति नहीं होती। दुनिया का कितना काम करना? अफ्रीका का कितना काम किया बलुभाई ने! कितनों की टिकिट और कितनों का आहार, अमुक, अमुक.. आहाहा!

मुमुक्षु : आप इनकार करते हो कि कर नहीं सकता।

पूज्य गुरुदेवश्री : माना था कि करता है। वह क्रिया कर नहीं सकता। आहाहा!

शुद्धचेतनामात्र जीववस्तु है। यह भगवान जो आत्मा अन्दर है, वह तो शुद्ध पवित्र आत्मा है। उसमें तो दया, दान के भाव का विकार भी नहीं है। आहाहा! कठिन काम बहुत, भाई! जन्म-मरणरहित होने का पंथ कठिन है। अशक्य नहीं, अपूर्व है। आहाहा! अपूर्व इसका मार्ग है। आहाहा!

शुद्धचेतनामात्र जीववस्तु है। इस प्रकार यथार्थतया... इस प्रकार (अर्थात्) पर्याय में विकार उससे होता है और शुद्धचेतनामात्र के कारण वह नहीं, ऐसा। (वह) **यथार्थतया समझना चाहिए कि चेतनकर्म का कर्ता चेतन ही है।** व्यवहार से; परमार्थ से नहीं। परमार्थ अर्थात् द्रव्यस्वभाव की दृष्टि से नहीं, अभेददृष्टि से नहीं। भेददृष्टि से कर्ता उसका वही है; कर्म के कारण जरा भी नहीं। टीका में यह आता है, जयसेनाचार्य की टीका में (आता है) कि जैसे पुत्र एक को नहीं होता। पति-पत्नी दो हों तो पुत्र होता है। इसी प्रकार विकार अकेले को नहीं होता। कर्म और आत्मा दो हों तो होता है, ऐसा है। यहाँ इनकार करते है। वहाँ तो यह निमित्त का ज्ञान कराया है। लोगों को वह टीका बहुत

अच्छी लगती है। साधक और साध्य। व्यवहार साधन बताया है न, इसलिए प्रसन्न हो जाते हैं। आहाहा!

यहाँ कहते हैं कि इस प्रकार विकार होता है, वह तुझसे, तुझमें, तेरे कारण (होता है); पर के कारण नहीं। यह तो भेददृष्टि का कथन है। अभेददृष्टि में तो विकार का भी कर्ता तू नहीं है, उसका जाननेवाला और देखनेवाला है। आहाहा! उस जानने-देखनेवाले के पास चाहे जैसा राग और चाहे जैसे संयोग आवे-जावें, तथापि यहाँ फेरफार नहीं होता। यहाँ तो जाननहार.. जाननहार.. जाननहार.. जाननहार.. जाननहार.. जाननहार.. रहता है। आहाहा! **चेतनकर्म का कर्ता चेतन ही है।**

कलश - २०३

अब इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं-

(शार्दूलविक्रीडित)

कार्यत्वा-दकृतं न कर्म न च तज्जीव-प्रकृत्योर्द्वयो-
रज्ञायाः प्रकृतेः स्वकार्य-फलभुग्भावानुषङ्गात्कृतिः।
नैकस्याः प्रकृते-रचित्त्वलसनाज्जीवोऽस्य कर्ता ततो,
जीवस्यैव च कर्म तच्चिदनुगं ज्ञाता न यत्पुद्गलः।।२०३।।

श्लोकार्थ : [कर्म कार्यत्वात् अकृतं न] जो कर्म (अर्थात् भावकर्म) है, वह कार्य है; इसलिए वह अकृत नहीं हो सकता अर्थात् किसी के द्वारा किये बिना नहीं हो सकता। [च] और [तत् जीव-प्रकृत्योः द्वयोः कृतिः न] ऐसा भी नहीं है कि वह (भावकर्म) जीव और प्रकृति दोनों की कृति हो, [अज्ञायाः प्रकृतेः स्व-कार्य-फल-भुग्-भाव-अनुषंगात्] क्योंकि यदि वह दोनों का कार्य हो तो ज्ञानरहित (जड़) प्रकृति को भी अपने

कार्य का फल भोगने का प्रसंग आ जायेगा। [एकस्याः प्रकृतेः न] और वह (भावकर्म) एक प्रकृति की कृति (अकेली प्रकृति का कार्य) भी नहीं है, [अचित्त्वलसनात्] क्योंकि प्रकृति का तो अचेनत्व प्रगट है अर्थात् प्रकृति तो अचेतन है और भावकर्म चेतन है)। [ततः] इसलिए [अस्य कर्त्ता जीवः] उस भावकर्म का कर्ता जीव ही है [चिद्-अनुगं] और चेतन का अनुसरण करनेवाला अर्थात् चेतन के साथ अन्वयरूप (चेतन के परिणामरूप) ऐसा [तत्] वह भावकर्म [जीवस्य एव कर्म] जीव का ही कर्म है [यत्] क्योंकि [पुद्गलः ज्ञाता न] पुद्गल तो ज्ञाता नहीं है, (इसलिए वह भावकर्म पुद्गल का कर्म नहीं हो सकता)।

भावार्थ : चेतनकर्म चेतन के ही होता है; पुद्गल जड़ है, इसलिए उसके चेतनकर्म कैसे हो सकता है।।२०३।।

कलश - २०३ पर प्रवचन

अब इस अर्थ का कलशरूप काव्य कहते हैं-

कार्यत्वा-दकृतं न कर्म न च तज्जीव-प्रकृत्योर्द्वयो-
रज्ञायाः प्रकृतेः स्वकार्य-फलभुग्भावानुषङ्गात्कृतिः।
नैकस्याः प्रकृते-रचित्त्वलसनाज्जीवोऽस्य कर्ता ततो,
जीवस्यैव च कर्म तच्चिदनुगं ज्ञाता न यत्पुद्गलः।।२०३।।

'**कर्म कार्यत्वात् अकृतं न**' क्या कहते हैं? पुण्य और पाप, दया और दान, विषय और भोग के भाव, वे स्वयं कर्म हैं अर्थात् कार्य हैं। कार्य है, वह '**कार्यत्वात् अकृतं**' वह तो कार्य किये बिना नहीं होता। **कर्म (अर्थात् भावकर्म) है, वह कार्य है, इसलिए वह अकृत नहीं हो सकता अर्थात् किसी के द्वारा किये बिना नहीं हो सकता।** आहाहा! विकारभाव जो होता है, वह कुछ किये बिना नहीं होता, अकृत नहीं है। **किसी के द्वारा किये बिना नहीं हो सकता 'तत् जीव-प्रकृत्योः द्वयोः कृतिः न'** किये बिना नहीं होता और दो मिलकर करते नहीं। जीव और कर्म दो मिलकर विकार करते नहीं। आहाहा!

इसमें भी धर्म क्या करना? वह धर्म ही यह है। प्रकृति के कारण विकार नहीं। ऐसा विकार संसार है, पर्याय में संसार है, उसे जानना। जानकर उसकी दृष्टि छोड़कर द्रव्यदृष्टि करना। द्रव्यदृष्टि करने से उस विकार का भी कर्ता नहीं, वह इसे करना है। आहाहा! क्या हो? कितनों को तो अनजाना लगता है कि यह क्या बात करते हैं? पूरे दिन करते हैं और करते नहीं? पूरा दिन अभिमान करता है, हों! यह किया.. यह किया.. यह किया.. यह किया... आहाहा!

क्योंकि यदि वह दोनों का कार्य हो तो ज्ञानरहित (जड़) प्रकृति को भी अपने कार्य का फल भोगने का प्रसंग आ जायेगा। आहाहा! एक तो यह कहा कि यह विकार है, वह कार्य है। कार्य किये बिना नहीं होता; और आत्मा तथा प्रकृति दो मिलकर कर्म नहीं करते। दो मिलकर करें तो दो को फल भोगना पड़ेगा। राग का फल जड़ को भोगना पड़ेगा। राग का फल.. आहाहा! राग और द्वेष का फल दुःख, वह जड़ को तो कुछ है नहीं। जड़ को भोगना पड़े, ऐसा है नहीं। इसलिए जड़ कहीं राग का कर्ता, शामिल होकर करता है, ऐसा है नहीं। आहाहा! **क्योंकि यदि वह दोनों का कार्य हो...** आत्मा और कर्म दोनों का। यह विकार राग, द्वेष, पुण्य-पाप, दया। **ज्ञानरहित (जड़) प्रकृति को भी अपने कार्य का फल भोगने का प्रसंग आ जायेगा।** वह तो ज्ञानरहित है। उसे अपने राग का फल, राग का फल क्या परन्तु उसे? आहाहा! इस जीव को तो राग का फल दुःख परन्तु उसे-जड़ को क्या? आहाहा! इसलिए जड़ और आत्मा दो इकट्ठे होकर राग नहीं करते। आहाहा!

और वह (भावकर्म) एक प्रकृति की कृति (अकेली प्रकृति का कार्य) भी नहीं है,... दो बात। तीसरी बात, विकार है, वह कार्य है; कार्य है, वह कर्ता के बिना नहीं होता, एक बात। अब, दो होकर कर्ता हों तो दूसरे को-जड़ को राग का फल भोगना पड़े। वह नहीं है। अब अकेली जड़ प्रकृति करे, राग को अकेली जड़ प्रकृति करे। आहाहा! **(भावकर्म) एक प्रकृति...** कर्ता भी नहीं, क्योंकि प्रकृति को तो अचेतनपना है, और वे राग-द्वेष तो चेतन हैं। आहा! समझ में आया? राग-द्वेष के परिणाम हैं तो चेतन के (हैं)। वह प्रकृति करे तो प्रकृति तो अचेतन है। उसे कहाँ से चेतन होगा। आहाहा!

(अकेली प्रकृति का कार्य) भी नहीं है, क्योंकि प्रकृति का तो अचेनत्व प्रगट है अर्थात् प्रकृति तो अचेतन है और भावकर्म चेतन है। आहाहा! यह पुण्य और पाप, दया और दान, व्रत और भक्ति, काम और क्रोध, कमाना और भोगना, ये परिणाम प्रकृति के नहीं हैं; भावकर्म चेतन है। आहाहा! वह दुःखरूप दशा चेतन की है। आहाहा! उसे दुःख भासित नहीं है। भगवान तो आनन्द है। अन्दर आनन्दस्वरूप है। राग तो दुःखरूप है। प्रकृति का फल, वह दुःख है। वह कहीं जड़ को नहीं भोगा जाता। वह तो चेतन को होता है। एक चेतन ही उसका कर्ता है। दो मिलकर राग हुआ है, ऐसा नहीं है। आहाहा!

इसलिए उस भावकर्म का कर्ता जीव ही है और चेतन का अनुसरण करनेवाला अर्थात् चेतन के साथ अन्वयरूप... 'तत् चिद्-अनुगं' चेतन के साथ अन्वयरूप... चेतन के साथ सम्बन्धवाला। **(चेतन के परिणामरूप) ऐसा वह भावकर्म...** अर्थात् विकारी भाव। हिंसा, झूठ, चोरी, विषयभोग, वासना। अरे! सत्य अहिंसा, सत्य अचौर्य, ब्रह्मचर्य का भाव, वह सब विकार है। आहाहा! वह **चेतन का अनुसरण करनेवाला अर्थात् चेतन के साथ अन्वयरूप (चेतन के परिणामरूप) ऐसा वह भावकर्म जीव का ही कर्म है...** कर्म अर्थात् कार्य। आहाहा! विकारी परिणाम जीव के ही हैं, कर्म के नहीं। आहाहा!

यह बड़ी चर्चा चली थी न वहाँ? (संवत्) २०१३ के साल। वह वर्णीजी के साथ। (वे कहें) 'नहीं', निमित्त से भी होता है, यदि कर्म से नहीं होता तो विकार स्वभाव हो जाता है।' वह तो पर्याय का स्वभाव है। उसका विकृत होने का वह स्वभाव है। षट्कारकरूप से परिणमता है। पंचास्तिकाय ६२ गाथा। विकार स्वयं एक समय में षट्कारकरूप से स्वतन्त्र परिणमता है। नहीं उसे किसी कर्म के कारक की अपेक्षा, नहीं उसे द्रव्य-गुण की अपेक्षा। पर्याय स्वतन्त्ररूप से, षट्कारकरूप से परिणमती है। आहाहा! (उन्हें) नहीं जँचा, विरुद्ध पड़ा। अरे! यह महाराज ठगाये गये हैं। (उन्हें) ऐसा हो गया। आहाहा! नयी बात! यह क्या कहते हैं? विकार स्वयं अपने से करता है। प्रकृति से बिल्कुल नहीं। आहाहा! और पंचास्तिकाय की ६२वीं गाथा में स्पष्ट लिखा है। षट्कारकरूप से पर्याय में

विकार जीव करता है, उसे कर्म कारक नहीं है, कर्म उसका कारक नहीं है-ऐसा पाठ है। आहाहा!

मुमुक्षु : विकार सर्वथा निरपेक्ष है।

पूज्य गुरुदेवश्री : निरपेक्ष है। प्रत्येक सत् है, वह निरपेक्ष ही है। उत्पाद-व्यय-ध्रुव तीनों सत् है न? विकार उत्पाद है या नहीं? वह उत्पाद स्वयं से होता है। पर की अपेक्षा है ही नहीं। आहाहा! ऐसा सब बनिये को दुनिया के धन्धे के कारण याद कब रखना? आहाहा! **इस प्रकार यथार्थरूप से समझना कि चेतन कर्म का कर्ता चेतन ही है।** लो! उसके अतिरिक्त दूसरा है नहीं। फिर कलश कहेंगे।

(**श्रोता :** प्रमाण वचन गुरुदेव!)